62

मृच्छकटिक-समीक्षा

लेखकः—श्री कान्तानाथ शास्त्री तेलङ्ग एम० ए०
संस्कृताध्यापक—हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

संस्कृत साहित्य विश्व का बहुत प्राचीन साहित्य है। इसमें अनेक ग्रन्थरत्न ऐसे हैं जिनके कर्ता और काल का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। 'मृच्छकटिक' भी एक ऐसा ही ग्रन्थ है। न इसके कर्ता का ठीक पता चलता है, न काल का।

मृच्छकटिक के कर्ता कौन ?

'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना में राजा शूद्रक को इस नाटक का कर्ता कहा गया है। परन्तु ये किस देश के राजा थे और इनका आविर्भाव कब हुआ इस विषय का वहाँ कोई संकेत नहीं है। प्रस्तावना में कहा गया है कि राजा शूद्रक जाति के द्विज थे। विद्वानों ने यहाँ 'द्विज' का अर्थ 'क्षत्रिय' किया है। आगे इनके विषय में कहा है कि ये देखने में बड़े सुन्दर थे। ये बड़े विद्वान् थे। ये ऋग्वेद, सामवेद, गणित, वेश्याओं की कला अथवा अग्निवेशकृत चतुःषष्टि कला और हस्तिशास्त्र के पण्डित थे। इन्हें शङ्करजी की कृपा से परम तत्त्व का ज्ञान प्राप्त हुआ था। ये उत्तम कवि थे। इतना ही नहीं ये बड़े बली और पराक्रमी भी थे। इन्हें बड़े-बड़े शत्रुओं से अथवा बड़े-बड़े हाथियों से बाहुयुद्ध करने का शौक था। ये प्रमादशून्य और तपोनिष्ठ थे। इन्होंने अश्वमेध यज्ञ भी किया था। इन्होंने दस दिन अधिक सौ वर्ष की लम्बी आयु पाई थी। अन्त में इन्होंने अपने पुत्र को राज्य देकर अग्नि में प्रवेश किया।

'मृच्छकटिक' के कर्ता के विषय पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ ऐतिहासिक प्रस्तावना में जो कुछ कहा है उस पर विश्वास नहीं करते। वे शूद्रक को कल्पित पुरुष मानते हैं। उनके अनुसार मृच्छकटिक के कर्ता कोई अन्य कवि थे। कुछ विद्वान् मृच्छकटिक के शूद्रक को इतिहास-सिद्ध किसी राजा या कवि से अभिन्न मानते हैं। कुछ विद्वान् शूद्रक को इतिहास-सिद्ध प्राणी तो मानते हैं पर उन्हें 'मृच्छकटिक' का कर्ता नहीं मानते। कुछ ऐसे भी पण्डित हैं जो शूद्रक को इतिहास-सिद्ध पुरुष और 'मृच्छकटिक' का कर्ता भी मानते हैं। इस प्रकार मतभेद के कारण, निश्चित प्रमाणों के अभाव में विद्वानों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार कल्पनाएँ की हैं।

'स्कन्दपुराण' के कुमारिकाखण्ड में किसी राजा शूद्रक का उल्लेख है। कुछ ऐतिहासिक इन्हें ही 'मृच्छकटिक' के कर्ता शूद्रक मानते हैं। इतना ही नहीं, वे इन्हें आन्ध्रवंश के प्रथम राजा सिमुक (सिशुक या सिप्रक) से अभिन्न व्यक्ति मानते हैं। यदि यह कल्पना मानी जाय तो शूद्रक कालिदास और भास दोनों से प्राचीन हो जायेंगे। डा० स्मिथ के अनुसार सिमुक का काल ई० पू० २४० के करीब है। किसी भी विद्वान् के अनुसार कालिदास का काल* ई० पू० १०० से आगे नहीं ले जाया जा सकता। भास कालिदास से प्राचीन थे। जो लोग कालिदास का काल ई० पू० १०० मानते हैं उनके अनुसार भास का काल ई० पू० २०० होगा। तब तो यह कहना पड़ेगा कि भास ने ही शूद्रक के मृच्छकटिक से कथा चुराकर 'दरिद्रचारुदत्त' की रचना की है। परन्तु 'मृच्छकटिक' और 'दरिद्रचारुदत्त' की तुलना करने पर ऐसा नहीं प्रतीत होता। भाषा और कला की दृष्टि से 'दरिद्रचारुदत्त' पुराना मालूम पड़ता है। शूद्रक को कालिदास से भी प्राचीन नहीं माना जा सकता। यदि शूद्रक कालिदास से प्राचीन होते तो कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना में भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि प्रसिद्ध नाटककारों के साथ उनका भी उल्लेख किया होता। शूद्रक के विषय में कालिदास की चुप्पी यह सूचित करती है कि शूद्रक कालिदास से परवर्त्ती हैं। मृच्छकटिककार को न भास से ही प्रचीन कहा जा सकता है, न कालिदास से ही। अतः शूद्रक को सिमुक से अभिन्न व्यक्ति मानने की कल्पना ठीक नहीं है।

प्रो० कोनो के अनुसार आभीर वंश के राजा शिवदत्त का ही दूसरा नाम शूद्रक था। डा० फ़्लीट के अनुसार इसी शिवदत्त ने अथवा इसके पुत्र ईश्वरसेन ने आन्ध्रवंश के अन्तिम राजा का नाश किया था। अत: शिवदत्त का काल ई० अ० २४८ के करीब है। यह कल्पना भी ठीक नहीं प्रतीत होती। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि शिवदत्त का दूसरा नाम शूद्रक क्यों पड़ा और 'मृच्छकटिक' के साथ उसका असली नाम 'शिवदत्त' न सबद्ध होकर 'शूद्रक' क्यों संबद्ध हुआ? यदि यह कहा जाय कि वह आभीर होने के कारण शूद्र था इसलिये उसका नाम 'शूद्रक' पड़ा, तब तो यह मानना पड़ेगा कि यह नाम अपमानकारक है। कोई भी कवि अपने ग्रन्थ की प्रस्तावना में अपना परामर्श ऐसे नाम से नहीं कर

*महाकवि कालिदास के काल, जीवनवृत्त, ग्रन्थशैली आदि के विषय में 'कुमारसंभव' की भूमिका में लिखा जा चुका है—लेखक।

सकता। यदि कहा जाय कि प्रस्तावना के श्लोक दूसरे के बनाए हुए प्रक्षिप्त हैं, तो भी गुत्थी नहीं सुलझती। प्रस्तावना देखने से यह नहीं झलकता कि श्लोक-निर्माता नाटककार की निन्दा कर रहा है। वह तो स्परूपष्ट से उसकी स्तुति करता है। ऐसी स्थिति में उसने नाटककार के असली नाम को छोड़ कर निन्दाव्यञ्जक नाम का क्यों प्रयोग किया ? आभीर राजा शिवदत्त को शूद्रक मानने की कल्पना को पुष्ट करने के लिए 'मृच्छकटिक' के गोपालदारक आर्यक में आभीर राजा शिवदत्त को देखना भी व्यर्थ है। गोपाल और पालक ये नाम तो संस्कृत में बड़े पुराने हैं। भास ने अपने 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में उज्जयिनी के राजा प्रद्योत (ई० पू० ५००) के पुत्रों के रूप में भी गोपाल और पालक का उल्लेख किया है। भास के इस गोपाल को 'मृच्छकटिक' के गोपाल से अभिन्न मान कर और उसमें ही शूद्रक का दर्शन करके 'मृच्छकटिक' को ई० पू० ५०० में नहीं ढकेला जा सकता। ऐसी कल्पनाएँ इतिहास को हँसी का विषय बना देंगी।

पं० चन्द्रबली पांडेजी ने शूद्रक को आन्ध्रवंश का वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि माना है। आपका कहना यह है कि 'अवन्तिसुन्दरीकथासार' में इन्द्राणिगुप्त का दूसरा नाम शूद्रक बताया गया है। वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि ही इन्द्राणिगुप्त है। अतः पुलुमावि ही शूद्रक हैं। यह शूद्रक ही 'मृच्छकटिक' का कर्ता है। शूद्रक पुलुमावि का उपनाम है। श्री पाण्डे जी की सारी कल्पना पुलुमावि की इन्द्राणिगुप्त से अभिन्नता पर अवलम्बन करती है। इसे सिद्ध करने के लिए श्री पाण्डे जी ने जो तर्क दिया है उसे हम उन्ही के शब्दों में उद्धृत करते हैं। आप कहते हैं— "और यदि शब्द के अर्थ को समझें और दण्डी के 'इन्द्राणिगुप्त' को 'पुलुमावि' मान लें तो इसमें दोष क्या ? 'इन्द्र' का 'पुलुमावि' नहीं तो 'पुलोमारि' होना तो प्रसिद्ध ही है, फिर इसमें दूर की कोई उड़ान नहीं। 'हाँ' दुराव की पकड़ अवश्य है। पुलुमावि को इन्द्राणिगुप्त सिद्ध करने के लिए दी हुई इस युक्ति को पढ़ते समय हमें श्री उदयनाचार्य की यह बात याद आ जाती है जो उन्होंने अपोहवाद का खण्डन करते समय 'आत्मतत्त्वविवेक' में कही है। (ततः प्रतीतावितरेतराश्रयत्वमुक्तं सङ्केते सञ्चार्य यत् परिहृतं ज्ञानश्रिया, तदेतद् प्राग्यजनघन्धीकरणं गोलकादिवत् स्थानान्तरसञ्चारात्)। कहाँ पुलुमावि, कहाँ पुलोमारि और कहां इन्द्राणिगुप्त !

डा० देवस्थली का कहना है कि–'हमारा इतिहास का ज्ञान अपूर्ण होने के कारण हम शूद्रक के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहने में असमर्थ हैं । आज हम प्राचीन भारत के किसी राजा से शूद्रक की अभिन्नता नहीं सिद्ध कर सकते । परन्तु वे हमारी ही तरह इस जगत के प्राणी थे और 'मृच्छकटिक' उन्हीं की रचना है । जब तक इस बात का सप्रमाण खण्डन नहीं किया जाता तब तक हम यही मानते हैं ।' डा० देवस्थली ने अपने मत के समर्थन के लिये कोई प्रमाण नहीं दिया है । उनका मत अविच्छिन्न परम्परा पर ही स्थित प्रतीत होता है । परस्पर-विरोधी प्रमाणों से बुद्धि कुण्ठित हो जाने के कारण उन्होंने परम्परा के सामने घुटने टेक दिये हैं । वे इस बात को मानते हैं कि प्रस्तावना के पद्य संभवत शूद्रक के किये हुए नहीं हैं । फिर भी उन्हें उनमें कहीं हुई बातों पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं दिखाई देता । परम्परा की इस भक्ति पर क्या कहा जाय ? यदि कोई तर्क दिया होता तो उसे विचार की कसौटी पर परखा जाता ।

श्री पिशेल साहब 'मृच्छकटिक' का कर्ता दण्डी को मानते हैं । उनका कहना है कि दण्डी के तीन प्रबन्ध माने गए हैं । उनमें से 'दशकुमारचरित' और 'काव्यादर्श' केवल दो का पता है । तीसरा अज्ञात है । वह तीसरा 'मृच्छकटिक' है । **श्रीनेरूरकर** भास को 'मृच्छकटिक' का कर्ता बताते हैं । ये दोनों कल्पनायें भी ठीक नहीं प्रतीत होतीं । यहाँ यह प्रश्न उठता है कि 'मृच्छकटिक' के साथ दण्डी या भास के असली नाम क्यों नहीं प्रचलित हुए ? 'शूद्रक' नाम क्यों प्रसिद्ध हुआ ? इसके अतिरिक्त उन दोनों कवियों की अन्य कृतियों के साथ भी 'शूद्रक' नाम क्यों नहीं प्रसिद्ध हुआ ? इस संबन्ध में एक बात और है । 'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना में शूद्रक को राजा कहा है । इधर न दण्डी ही राजा हैं, न भास ही । अतः इन कल्पनाओं को भी नहीं स्वीकार किया जा सकता ।

डा० सिलवॉलेवी का मत है कि 'मृच्छकटिक' शूद्रक की कृति नहीं है । उनका कहना है कि किसी कवि ने 'मृच्छकटिक' बनाकर शूद्रक के नाम पर चला दिया है । जिस कवि ने इसे रचकर शूद्रक के नाम पर चलाया उसका आशय यह था कि इसमें प्राचीनता का रंग आ जाय । डा० लेवी ने अपनी कल्पना का समर्थन करने के लिये जो युक्ति दी है वह पुष्ट नहीं है । जो कवि परिश्रम से ग्रन्थ तैयार करेगा उसका श्रेय वह स्वयं लेगा । जब तक लाचरी न हो तब तक वह अपने ग्रन्थ को दूसरे के नाम पर क्यों चलावेगा ? नाटक प्राचीन

सिद्ध होने से कवि को क्या लाभ ? यदि कृति अच्छी है तो लोग उसे पढ़ेंगे ही, चाहे वह पुरानी हो या नई ।

डा० कीथ भी डा० लेवी की तरह शूद्रक को 'मृच्छकटिक' का कर्ता नहीं मानते । वे शूद्रक को कल्पना का पुरुष मानते हैं । उनका कहना है कि 'शूद्रक' एक अजीब नाम है । सामान्यतः ऐसा नाम राजाओं का नहीं होता । यह नाम भी इस बात का समर्थन करता है कि शूद्रक काल्पनिक पुरुष है । 'मृच्छकटिक' भास के बाद का नाटक है । किसी कवि ने भास के 'दरिद्रचारुदत्त' के साथ आर्यक के विद्रोह की कथा मिलाकर मृच्छकटिक खड़ा किया और अपना नाम गुप्त रखकर इसे शूद्रक के नाम पर चला दिया । डा० कीथ ने अपने मत के पोषण के लिये कोई तर्क नहीं दिया है ।

डा० कीथ के मत के दो अंश हैं—एक तो यह कि शूद्रक काल्पनिक पुरुष है दूसरा यह कि मृच्छकटिक का कर्ता शूद्रक नहीं कोई दूसरा कवि है । हम इनके मत के पहिले अंश से सहमत नहीं हैं । शूद्रक का नाम संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में आया है । सर्वत्र उनका उल्लेख संसार के एक जीते-जागते पुरुष के रूप में किया गया-सा प्रतीत होता है । राजशेखर का कहना है कि रामिल और सोमिल ने 'शूद्रककथा' नाम का ग्रंथ लिखा था । बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' में शूद्रक का उल्लेख किया है । दण्डी ने 'दशकुमार-चरित' और 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में शूद्रक का नाम लिया है । सोमदेव ने 'कथासारित्सागर' में और कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में शूद्रक के विषय में लिखा है । 'वेतालपञ्चविंशति' में भी शूद्रक का नाम आया है । इसके अतिरिक्त 'शूद्रकवध' 'विक्रान्तशूद्रक' और 'शूद्रकचरित' नाम के ग्रन्थों का भी शूद्रक से स्पष्ट सम्बन्ध मालूम पड़ता है । ये ग्रन्थ प्राप्य नहीं हैं, परन्तु अन्य उपलब्ध ग्रन्थों में इनका परामर्श है । सम्भव है 'कादम्बरी' का शूद्रक कल्पना की सृष्टि हो । यह भी सम्भव है कि बाणभट्ट ने अतिप्राचीन इतिहास-सिद्ध ही किसी राजा का नाम अपने पात्र को दिया हो । परन्तु अन्य ग्रन्थों में शूद्रक के विषय में जो कुछ लिखा है उसे पढ़ने से ऐसा नहीं प्रतीत होता कि यह वृत्तान्त काल्पनिक है । जिस व्यक्ति का इतने ग्रन्थों में उल्लेख हो उसे सहसा काल्पनिक व्यक्ति कहना ठीक नहीं ।

डा० कीथ के मत के दूसरे अंश से हम सहमत हैं । हमारे विचार से भी शूद्रक 'मृच्छकटिक' के कर्ता नहीं हैं । इसके कर्ता कोई दूसरे ही कवि हैं । ऐसा

प्रतीत होता है कि किसी कवि ने भास का 'दरिद्रचारुदत्त' देखा। उन्हें वह अपूर्ण प्रतीत हुआ। उन पर उसे पूर्ण करने की धुन सवार हुई। उन्होंने आवश्यकता और अपनी रुचि के अनुसार 'दरिद्रचारुदत्त' में परिवर्तन किये। उसकी कथा के साथ अपनी कल्पना से रची हुई अथवा गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' से ली हुई गोपालदारक आर्यक के विद्रोह की कथा बट दी। इस प्रकार मृच्छकटिक तैयार हुआ। कवि ने अपना नाम जान बूझकर छिपाया। प्रस्तावना में 'शूद्रक' के साथ 'किल' का प्रयोग यही सूचित करता है। कवि ने इस शब्द का प्रयोग जान बूझकर किया है। यह भी एक दो बार नहीं, चार-चार बार। तीन बार तो इसका प्रयोग 'शूद्रक' के साथ किया गया है और एक बार चारुदत्त के। प्रस्तावना में शूद्रक का नाम बताने वाले पद्य देने के पहिले ही कवि ने लिखा है—एतत् कविः किल'। इसके बाद पुनः पाँचवें पद्य में 'शूद्रक' के साथ 'किल' आया है। इस अव्यय का प्रयोग प्रायः 'ऐतिह्य' 'अलीकता' या 'संभावना' सूचन करने के लिए किया जाता है। यह अधिकतर अनिश्चय व्यक्त करता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यहाँ इसका प्रयोग 'इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः' की तरह ऐतिह्यादि अर्थों से भिन्न अर्थ का ज्ञान कराने के लिए किया गया है। 'लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं' 'शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः' 'बभूव' और 'चकार' के प्रकाश में यहां 'किल' शब्द 'ऐतिह्य' आदि अर्थों का ही बोध कराता है। कवि को अपनी आयु का निश्चित प्रमाण कैसे मालूम हो सकता है। वह यह कैसे जान सकता है कि आगे चलकर उसकी मृत्यु कैसे और कब होगी। 'बभूव' और 'चकार' का लिट् लकार भी परोक्षभूत का बोधक होने के कारण 'ऐतिह्य' आदि अर्थों का ही समर्थन करता है। वस्तुतः 'इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः' में भी 'किल' शब्द 'अरुचि' व्यक्त करता है। 'किलेत्यरुचौ। 'किल संभाव्यवार्तयोः। हेत्वरुच्योरलीके च' इति हैमः—राघवभट्ट। यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि नाटक तो शूद्रक का है। केवल प्रस्तावना के श्लोक दूसरे कवि के द्वारा प्रक्षिप्त हैं। ऐसा मानने का अर्थ यह होगा कि शूद्रक ने अपना नाटक बिना अपना नाम डाले ही चला दिया। इसके अतिरिक्त 'चकार' और 'बभूव' के प्रकाश में यह भी मानना पड़ेगा कि शूद्रक के मरने के बहुत काल बाद प्रस्तावना के श्लोक डाले गये। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठेगा कि आखिर शूद्रक ने अपना नाटक बिना अपना नाम दिए ही क्यों चला दिया?

वह तो राजा था। उसे किसी का डर तो था नहीं। इसके अतिरिक्त बहुत दीर्घकाल तक किसी को उसका नाम डालने की क्यों नहीं सूझी ? बहुत लम्बे काल के बाद यह प्रश्न क्यों खड़ा हुआ ? इन प्रश्नों का कोई सन्तोष-प्रद उत्तर नहीं मिलता। हमारे विचार से यदि ये श्लोक प्रक्षिप्त होते तो इनका स्वरूप ही दूसरा होता। यदि सच्चे दिल से केवल कवि का नाम स्थायी बनाने तथा उसका परिचय देने के लिए ही ये श्लोक प्रक्षिप्त किये गए होते तो इनमें सन्देह उत्पन्न करने वाली विचित्र बातें तथा परोक्ष भूत की क्रिया न रखी गई होती। जिस प्रकार अन्य प्रसिद्ध नाटकों के कवि अपना परिचय देते हैं वैसे ही सच मालूम होने वाले श्लोक बनाकर मेल मिला दिया गया होता। अत: हम तो यही मानना श्रेयस्कर समझते है कि यह नाटक शूद्रक का नहीं है। किसी दूसरे कवि ने इसे रचकर शूद्रक के नाम पर चला दिया है। शूद्रक इतिहास-सिद्ध व्यक्ति थे या नहीं इससे कोई मतलब नहीं।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और है। उस पर भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रश्न यह है कि जिस कवि ने भी यह नाटक बनाकर शूद्रक के नाम पर चलाया, उसने ऐसा क्यों किया। उसने नाटक के साथ अपना ही नाम क्यों नहीं प्रसिद्ध किया ? जो भी आदमी परिश्रम से कोई ग्रन्थ तैयार करेगा उसका श्रेय वह स्वयं लेगा। उसका श्रेय वह दूसरे को क्यों देगा ? हमारे विचार से इसके दो कारण हैं। पहिला तो यह कि जिस कवि ने भी यह नाटक तैयार किया होगा उसने यह सोचा होगा कि इसका आधा भाग तो भास का किया हुआ है। केवल आधा ही मेरा है। ऐसी स्थिति में समूचे नाटक को मैं अपना कैसे कहूँ ? यदि मैं ऐसा करूँगा तो लोग मुझे चोर कहेंगे। सभ्य पुरुषों के मन में ऐसे विचार आना असंभव नहीं। दूसरा यह कि इस नाटक में कवि ने जो घटना चक्र दिखलाया है वह उस समय के सामाजिक नियमों और विचार धारा के सर्वथा प्रतिकूल है। भास ने तो वसन्तसेना को चारुदत्त के घर जाने के लिए तैयार करके ही नाटक समाप्त किया। परन्तु मृच्छकटिक के कर्ता ने तो चारुदत्त और शर्विलक दो-दो ब्राह्मणों का वेश्याओं के साथ विवाह कराकर छोड़ा। क्या इस नाटक को पढ़ने पर ऐसा भास नहीं होता कि नाटककार अप्रत्यक्ष रूप से ऐसी घटनाओं को अपना समर्थन दे रहा है ? यह तो क्रान्तिकारी विचारों की पराकाष्ठा हुई। कवि ने ब्राह्मणों को चोर, जुआड़ी और मुजरावाज दिखाया है

एक उच्च कोटि के और एक नीच कोटि के ब्राह्मण द्वारा ऐसा कराकर उसने यह दिखाया है कि नीचे से ऊपर तक समूचा, ब्राह्मण समाज भ्रष्ट हो गया है। यह तो 'आदिरन्त्येन सहेता' हुआ। कवि ने क्षत्रियों को भी नीचा दिखाया है। राजा पालक को क्रूर और दुराचारी दिखाया है कि वह 'मनुस्मृति' आदि धर्मशास्त्र के उच्च ग्रन्थों की अवहेलना करने वाला था। शकार (काणेलीमात) के साथ उसका सम्बन्ध जोड़कर उसे नीच जाति की रखेली रखने वाला सिद्ध किया है। अन्त में उसे गोपाल के हाथ से मरवाया है। राज्य के उच्च पदों पर वीरक और चन्दनक जैसे शूद्रों को अधिष्ठित दिखाया है। इतना ही नहीं बौद्ध, गोपाल और चाण्डालों तक को सत्पुरुषों के रूप में चित्रित किया है। ऐसा कवि यदि अपने नाटक के साथ अपना नाम प्रसिद्ध करता तो उस समय का समाज और राजा उसकी क्या गति करते इसे सोचिए। इसी में मृच्छकटिक के कर्ता के रूप प्रसिद्ध कराने के लिए 'शूद्रक' नाम चुनने का भी रहस्य मिल जाता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि नाटककार कोई बौद्ध था शूद्र था। नान्दी के पद्यों से प्रतीत होता है कि वह शंकर का उपासक था। संभवतः वह योगाभ्यासी था। भरतवाक्य से यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि वर्णाश्रम व्यवस्था में उसकी आस्था थी। उसके मन में ब्राह्मण और क्षत्रियों के प्रति आदर था। वह कहता है 'संततमभिमता ब्राह्मणाः सन्तु सन्तः' तथा 'श्रीमन्तः पान्तु पृथ्वीं प्रशमितरिपवो धर्मनिष्ठाश्च भूपाः'। आज के जगत में ये घटनाएँ भले ही असामान्य न प्रतीत होती हों, परन्तु उस समय की भावनाओं के प्रकाश में इन पर विचार कीजिए तो कवि का अपना नाम प्रकट न करने का कारण मिल जायगा।

घटनाचक्र इतना क्रान्तिकारी होने पर भी नाटक कला की दृष्टि से उत्तम होने के कारण पढ़ने-पढ़ाने में चल पड़ा।

मृच्छकटिक के कर्ता की जीवनसम्बन्धी कुछ बातें

मृच्छकटिक के कर्ता दाक्षिणात्य प्रतीत होते हैं। मृच्छकटिक के द्वितीय अंक में इन्होंने 'खुण्टमोडक' शब्द का प्रयोग किया है। कर्णपूरक वसन्तसेना से कहता है—'शृणोत्वार्या। यः स आर्यायाः खुण्टमोडको नाम दुष्टहस्ती' इत्यादि। दशम अंक में इन्होंने सह्यवासिनी देवी का 'स्मरण किया है। चारुदत्त को मारते समय हाथ से खड्ग गिर जाने पर चाण्डाल कहता है 'भगवती सह्यवासिनी,'

प्रसीद प्रसीद' इत्यादि। षष्ठ अंक में इन्होने वीरक और चन्दनक के झगड़े के अवसर पर 'दाक्षिणात्य' और 'कर्नाटकलह' शब्दों का प्रयोग किया है। चन्दनक कहता है—'वयं दाक्षिणात्या अव्यक्तभाषिणः' इत्यादि। वहीं पर वह दक्षिण की कई भाषाओं के नाम भी लेता है। आगे वह कहता है—'तत्कोऽत्रोपायः ? (विचिन्त्य) कर्नाटकलहप्रयोगं करोमि' इत्यादि। प्रथम अंक में इन्होंने पैसे के अर्थ में नाणक शब्द का प्रयोग किया है। शकार कहता है—'एषा नाणकमोषिका' इत्यादि। ये बातें मृच्छकटिककार का दाक्षिणात्यों में भी संभवतः महाराष्ट्र होना सूचित करती हैं।

मृच्छकटिक की रचना करने वाले कवि बड़े विद्वान् थे। इनकी विद्वत्ता इनके नाटक से ही स्पष्ट हो जाती है। इन्हें संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का प्रौढ ज्ञान था। जितनी भाषाओं का प्रयोग इनके नाटक में मिलता है उतनी भाषाओं का अन्य नाटकों में नहीं मिलता। ये छन्द और अलङ्कारों के भी पण्डित थे। इनका नाट्य-कला सम्बन्धी ज्ञान इनकी कथावस्तु की रचना से ही स्पष्ट हो जाता है। इन्हें ज्योतिष और धर्मशास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था। नवम अङ्क में अधिकरणिक के मुंह से कहलाया हुआ 'अङ्गारकविरुद्धस्य' इत्यादि श्लोक तथा न्यायालय का दृश्य इस बात के प्रमाण हैं।

मृच्छकटिक के कर्ता शिवजी के भक्त थे। यह बात नान्दी के पद्यों से प्रतीत होती है। ये योगाभ्यासी भी थे। वेदान्त के ब्रह्म-तत्त्व में इनका विश्वास था। भरतवाक्य से मालूम होता है कि ये वर्ण-व्यवस्था मानते थे। ये गौ के भी भक्त थे।

कहा जाता है कि इन्होंने 'पद्म प्राभृतक' नाम का एक भाण भी रचा था। यह भाण हाल ही में मिला है। अभी इसके याथार्थ्य के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

मृच्छकटिक का काल

किसी भी ग्रन्थ का काल स्थिर करने के दो मार्ग हैं। एक तो यह कि ग्रन्थ-कर्ता का काल निश्चित कर के उसे ही ग्रन्थ का काल मानना। जहाँ यह भी संभव न हो वहाँ आभ्यन्तर और बाह्य प्रमाणों के आधार पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ का काल स्थिर किया जाता है। मृच्छकटिक के कर्ता के काल का पता नहीं है। अतः इस नाटक का काल आभ्यन्तर और बाह्य प्रमाणों के आधार पर स्वतन्त्र रूप से निश्चित करना चाहिए।

अब विद्वान् यह मानने लग गए हैं कि भास का 'दरिद्रचारुदत्त' 'मृच्छकटिक' की अपेक्षा प्राचीन है। 'मृच्छकटिक' का निर्माण भास के 'दरिद्रचारुदत्त' के आधार पर हुआ है। यह मान लेने से भास का काल 'मृच्छकटिक' की ऊपरी सीमा सिद्ध होता है। भास का काल[1] कालिदास के काल पर अवलम्बन करता है। कालिदास का काल अभी स्थिर नहीं हुआ है। इनके विषय में निश्चित रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ये ई० पू० १०० से लेकर ई० अ०६०० के बीच हुए थे। इस लम्बे काल में कुछ विद्वान् इन्हें ई० पू० १०० और कुछ विद्वान् ई० अ० ४०० में मानते हैं। जो विद्वान् इन्हें ई० पू० १०० में मानते हैं उनके अनुसार भास का काल ई० पू० २०० के करीब होगा। जो विद्वान् कालिदास का ई० अ० ४०० में मानते हैं उनके अनुसार भास का काल ई० अ० ३०० के करीब होगा। इस प्रकार ई० पू० २०० या ई. अ० ३०० 'मृच्छकटिक' की उपरितम सीमा हुई। अब नीचे की सीमा पर आइये। वामन ने अपनी 'काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति' में 'मृच्छकटिक' का उल्लेख किया है। वामन का काल ई० अ० ८०० माना जाता है। यह 'मृच्छकटिक' के काल की निश्चित निम्नतम सीमा है। इसे कुछ ऊपर भी ढकेला जा सकता है। पूज्यपाद पं बलदेव उपाध्याय जी का कहना है कि दण्डी ने 'काव्यादर्श' में 'मृच्छकटिक' के लिम्पतीव तमोऽङ्गानि, इत्यादि पद्यांश को उद्धृत किया है। दण्डी को विद्वान् ई. अ० ७०० में मानते हैं। डा० देवस्थली का कहना है कि 'पञ्चतन्त्र' में 'मृच्छकटिक' के दो श्लोक तथा एक पंक्ति मिलती है। उन्होंने 'पञ्चतन्त्र' का काल ई. अ० ५०० माना है। परन्तु हमारे विचार से अभी 'पञ्चतन्त्र' का काल निश्चित नहीं हुआ है। अतः अभी इस प्रमाण को स्वीकार न करना चाहिये। अभी दण्डी (ई० अ० ७००) को ही मृच्छकटिक को निम्नतम सीमा मानना ठीक है। इस प्रकार कालिदास के काल को ध्यान में रखते हुए 'मृच्छकटिक' का काल ई० पू० २०० से लेकर ई० अ० ७०० तक अथवा ई० अ० ३०० से लेकर ई० अ० ७०० तक होता है।

इस विस्तृत काल को संकुचित करने के लिये अनेक प्रयत्न किये गए हैं। परन्तु वे सफल नहीं हुए हैं। कहा जाता है कि नवम अंक में अधिकरणिक के द्वारा कहे हुए 'अङ्गारकविरुद्धस्य' इत्यादि श्लोक में वृहस्पति को मंगल का

१—कविवर भास का काल तथा जीवनवृत्त आदि 'प्रतिमानाटक' की प्रस्तावना में विस्तृत रूप से दिया गया है—प्रकाशक।

शत्रुग्रह माना गया है। यह सिद्धान्त वराहमिहिर के पहिले चलता था। वराहमिहिर ने बृहस्पति को मंगल का मित्र माना है। अतः 'मृच्छकटिक' वराहमिहिर के पहिले का है। विद्वानों ने वराहमिहिर का काल ई० अ० षष्ठ शतक माना है। अतः 'मृच्छकटिक' ई. अ० षष्ठ शतक के पहिले का नाटक है। परन्तु 'अङ्गारकविरुद्धस्य' इत्यादि श्लोक का कुछ विद्वान् दूसरा अर्थ मानते हैं। उनके अनुसार इस श्लोक का तात्पर्य केवल इतना ही है कि 'जिस पुरुष का मंगल ग्रह विरुद्ध है तथा जिसका बृहस्पति भी क्षीण है उसके पास धूमकेतु की तरह इस अन्य ग्रह का उदय हुआ,। इस अर्थ में मंगल और बृहस्पति के परस्पर शत्रुत्व की कोई बात नहीं है। अतः इस श्लोक पर आश्रित कल्पना के आधार पर 'मृच्छकटिक' के काल के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

कुछ विद्वान् 'मृच्छकटिक' के नवमअंक के 'अयं हि पातकी विप्रो' इत्यादि श्लोक में प्रयुक्त 'मनु' का नाम देखकर कहते हैं कि 'मृच्छकटिक' 'मनुस्मृति' के बाद रचा गया है। विद्वानों ने ई० पू० २०० को मनु का काल माना है। इस प्रकार ई० पू० २०० 'मृच्छकटिक' की उपरितम सीमा निश्चित होती है। परन्तु इस कल्पना से कोई नई बात तो नहीं प्राप्त होती। ई० पू० २०० की सीमा भास से ही प्राप्त हो जाती है। यदि यह कहा जाय कि भास का काल निश्चित नहीं है। तो फिर 'मनुस्मृति' का ही काल कहाँ निश्चित है? जो हो भास और 'मनुस्मृति' दोनों के आधार पर ई० पू० २०० ही उपरितम सीमा निश्चित होती है। सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं होता।

कुछ लोगों ने भाषा-विधान और नाटक रचने की कला के आधार पर 'मृच्छकटिक' का काल स्थिर करने का प्रयत्न किया है। परन्तु इन कल्पनाओं से भी कोई नई बात नहीं मिलती। हाँ, 'मृच्छकटिक' की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था गुप्तसाम्राज्य के पतन के बाद और हर्ष के साम्राज्य के उदय के पूर्व की अवस्था से मिलती है। इस काल में कोई प्रभावशाली सम्राट् न होने के कारण देश में अनियन्त्रित अवस्था थी। अतः इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'मृच्छकटिक' का काल ई० अ० पञ्चम संभवतः षष्ठ शतक है।

मृच्छकटिक की कथा का मूल

संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में 'मृच्छकटिक' के घटनाचक्र के समान घटनाचक्र पाया जाता है। ऐसे ग्रन्थों में भास के 'दरिद्रचारुदत्त' दण्डी के

'दशकुमारचरित' और सोमदेव 'के कथासारित्सागर' का नाम लिया जा सकता है। कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' और विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' में भी कुछ घटनाएँ ऐसी हैं जो 'मृच्छकटिक' की घटनाओं के समान हैं। इन्हीं बातों पर विचार करके यह स्थिर करना है कि 'मृच्छकटिक' की कथावस्तु किस ग्रन्थ के अधार पर रची गई है।

कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में शकुन्तला और दुष्यन्त एक दूसरे को प्रेम करते हैं। शकुन्तला दुर्वासा को क्रुद्ध करके कष्ट भोगती है*। इसके अतिरिक्त इस नाटक में नायक और नायिका का मिलन दो बार होता है। 'मृच्छकटिक' में भी वसन्तसेना और चारुदत्त एक दूसरे को प्रेम करते हैं। वसन्तसेना शकार को क्रुद्ध करके अनेक कष्ट भोगती है। इस नाटक में भी नायक और नायिका का मिलन दो बार होता है। 'शाकुन्तल' के पञ्चम अंक का राजा के दरबार का दृश्य भी 'मृच्छकटिक' के न्यायालय के दृश्य के समान है। इस प्रकार दोनों नाटकों में मुख्य घटना की दृष्टि से साम्य है। परन्तु इतने साम्य के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि 'मृच्छकटिक' 'शाकुन्तल' के आधार पर रचा गया है या एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ा है। ऐसे साधारण साम्य तो ग्रन्थों में हो ही जाया करते हैं। वस्तुतः दोनों ग्रन्थों की कथा में अन्तर बहुत अधिक है। एक स्पष्ट अन्तर तो यही दिखाई देता है कि 'शाकुन्तल' में मिलन का प्रयत्न पहिले नायक करता है फिर नायिका। अन्त में दैव योग से स्थायी मिलन होता है। 'मृच्छकटिक' में आदि-से अन्त तक मिलन के लिये सारा प्रयत्न वसन्तसेना (नायिका) ही करती है।

विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' में भी कई दृश्य ऐसे हैं जो 'मृच्छकटिक' के दृश्यों से मिलते हैं। 'मुद्राराक्षस' के पंचम अङ्क के अन्त का वह दृश्य जिसमें मलयकेतु राक्षस को दगाबाजी का अपराधी ठहराता है 'मृच्छकटिक' के न्यायालय के दृश्य के समान है। 'मुद्राराक्षस' के सप्तम अङ्क का वह दृश्य जिसमें चाण्डाल चन्दनदास को शूली पर चढ़ाने वध्यस्थान ले जाते हैं 'मृच्छकटिक' के उस दृश्य के समान है जिसमें चाण्डाल चारुदत्त को वध्यस्थान ले जाते हैं। घटनाओं का यह साम्य भी इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है कि

* 'शाकुन्तलसमीक्षा' में संपूर्ण शाकुन्तल नाटक का इतिवृत्त छप चुका है—लेखक।

'मृच्छकटिक' पर 'मुद्राराक्षस' का प्रभाव पड़ा है। अधिक विद्वान 'मुद्राराक्षस' को 'मृच्छकटिक' की अपेक्षा अर्वाचीन ही मानते हैं।

सोमदेव के 'कथासरित्सागर' और दण्डी के 'दशकुमारचरित' को भी 'मृच्छकटिक' का उपजीव्य नहीं माना जा सकता। 'कथासरित्सागर' में रूपणिका और एक गरीब ब्राह्मण, लोहजङ्घा के प्रणय की कथा है। 'दशकुमारचरित' में रागमञ्जरी की एक ब्राह्मण के साथ प्रेम-लीला का वर्णन है। परन्तु इन कथाओं को 'मृच्छकटिक' की कथा का मूल नहीं कहा जा सकता। सोमदेव ई० अ० ग्यारहवें शतक में थे। दण्डी सप्तम शतक में थे। पूज्यपाद पं० बलदेव उपाध्याय जी का कहना है कि दण्डी ने 'काव्यादर्श' में 'मृच्छकटिक' का एक पद्य उद्धृत किया है। यह बात हम 'मृच्छकटिक' के काल पर विचार करते समय कह चुके हैं। ऐसी स्थिति में 'दशकुमारचरित' को 'मृच्छकटिक' का उपजीव्य कैसे कहा जाय? 'मृच्छकटिक' के कर्ता सोमदेव और दण्डी दोनों से पुराने हैं। हां, गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' को मृच्छकटिक का उपजीव्य कहा जाय तो संभव हो सकता है। भूतभाषा में लिखा हुआ वह अति प्राचीन ग्रन्थ 'कथासरित्सागर' का आधार है। अतः उसमें भी ऐसी कथायें रही होंगी। परन्तु हम तो भास के 'दरिद्र-चारुदत्त' को 'मृच्छकटिक' का आधार मानना उचित समझते हैं।

भास के नाटकों के प्रकाश में आ जाने से 'मृच्छकटिक' के मूल के सम्बन्ध में विद्वानों का मत बदल गया है। अब लोग भास के 'दरिद्रचारुदत्त' को 'मृच्छकटिक' की कथा का मूल मानते हैं। भास का नाटक चार अङ्कों में विभक्त है। चतुर्थ अङ्क के अन्त में वसन्तसेना मदनिका को सज्जलक (मृच्छकटिक का शर्विलक) के साथ विदा करती है। इसके बाद वह अपनी चेटी को बुलाकर कहती है—'हञ्जे! पश्य जाग्रत्या माया स्वप्नो दृष्ट एवम्।' इस पर चेटी उत्तर देती है—'प्रियं मे, अमृताङ्कं नाटकं संवृत्तम्'। इसके बाद बसन्तसेना आभूषणों के साथ चारुदत्त के घर अभिसरण का प्रस्ताव करती है। चेटी तैयार हो जाती है। वह कहती है—'अज्जुके! तथा। एतत् पुनरभिसारिकास-हायभूतं दुर्दिनमुन्नमितम्'। तब वसन्तसेना हँसी में डाँट कर उसे कहती है—'हताशे! मा खलु वर्धय'। इस पर चेटी कहती है—'एत्वेत्वज्जुका'। यही नाटक समाप्त होता है।

भास के 'चारुदत्त' की हस्तलिखित प्रतियों में से एक में चतुर्थ अङ्क के अन्त में लिखा है अवसितं चारुदत्तम्'। इसके आधार पर कुछ विद्वान् 'चारुदत्त' को जहाँ वह समाप्त होता है वहीं पूर्ण मानते हैं। अन्य विद्वान् इस नाटक को अपूर्ण मानते हैं। उनका कहना है कि इसमें कम से कम एक अङ्क और रहा होगा। जो हो, हमारे विचार से 'चारुदत्त' 'मृच्छकटिक' की कथा का मूल है। उसकी कथा में मृच्छकटिककार ने अपनी कल्पना से रची अथवा 'बृहत्कथा' से ली हुई राज्य-विप्लव की कथा बट दी है। ऐसा करने से 'चारुदत्त' की कथा में नया रंग आ गया है।

मृच्छकटिक की कथा

प्रथम अङ्क

नान्दी पाठ के बाद प्रस्तावना आरम्भ होती है । सूत्रधार अपने घर में असाधारण तैयारी देख कर चकित होता है । पूछने पर नटी से उसे मालूम होता है कि वह तैयारी 'अभिरूपपति' नाम के व्रत के लिये की गई है । वह इस पर कुछ खिजलाता है । परन्तु नटी के समझाने पर शान्त हो जाता है । नटी उसे किसी ब्राह्मण को निमन्त्रित करने के लिये कहती है । वह ब्राह्मण की तलाश में निकलता है । सहसा उसे मैत्रेय (विदूषक) दिखाई देता है । वह उसे निमन्त्रित करता है । मैत्रेय भोजन के लिये जाने से इनकार कर देता है । सूत्रधार उसे उत्तम सिद्ध भोजन और दक्षिणा का प्रलोभन देता है । पर मैत्रेय फिर इनकार करता है । इस पर सूत्रधार दूसरा ब्राह्मण खोजने चला जाता है । यहीं प्रस्तावना समाप्त होती है ।

प्रथम अङ्क के प्रथम दृश्य के आरंभ में मैत्रेय (विदूषक) मञ्च पर आता है । वह जूर्णवृद्ध का दिया हुआ जातीकुसुम-वासित दुपट्टा लेकर चारुदत्त के घर जाता है । चारुदत्त उसका स्वागत करता है । विदूषक उसे जूर्णवृद्ध का दिया हुआ दुपट्टा देता है । चारुदत्त विदूषक को मातृ-देवियों को बलि अर्पण करने के लिये चौराहे पर जाने को कहता है । विदूषक प्रदोष समय राजपथ पर जाने में भय व्यक्त करता है । चारुदत्त उसे ठहरने के लिये कह कर समाधि सम्पन्न करने चला जाता है ।

प्रथम अङ्क के द्वितीय दृश्य में शकार, विट और चेट वसन्तसेना का पीछा करते हुए दिखाई देते हैं । शकार की उक्ति से वसन्तसेना को मालूम होता है कि पास ही बाईं ओर चारुदत्त का घर है । वह अन्धकार में टटोलती है । अचानक उसका हाथ चारुदत्त के मकान के पक्षद्वार पर पड़ता है । वह उसे बन्द पाती है ।

प्रथम अङ्क के तृतीय दृश्य में चारुदत्त और विदूषक सामने आते हैं । चारुदत्त जप (समाधि) समाप्त करके विदूषक से मातृकाओं को बलि अर्पण करने के लिए बाहर जाने को कहता है । कुछ हिचकिचाहट के बाद विदूषक जाने को तैयार होता है । रदनिका भी उसके साथ जाती है । विदूषक द्वार खोलता

है । बाहर खड़ी वसन्तसेना आँचल से हवा मार कर रदनिका के हाथ का दीपक बुझा देती है । विदूषक रदनिका को बाहर चलने के लिये कह कर स्वयं फिर दीपक जलाने अन्दर जाता है । वसन्तसेना भी अंधेरे में भीतर घुस जाती है । बाहर शकार वसन्तसेना समझ कर अंधेरे में रदनिका को पकड़ता है । वह प्रतिवाद करती है । इतने में विदूषक दीपक लेकर बाहर आता है । वह क्रुद्ध होकर मारने दौड़ता है । विट उसके पैरों पर गिर कर उसे समझाता है । विदूषक शान्त होता है । विट शकार से चलने के लिये कहता है । परन्तु शकार बिना वसन्तसेना को लिये जाने से इनकार करता है । इस पर विट चला जाता है । शकार भी विदूषक से कुछ देर बादविवाद के बाद वसन्तसेना को न लौटाने पर मरणान्तिक वैर की धमकी देकर चेट के साथ चला जाता है । विदूषक और रदनिका अन्दर जाते हैं ।

प्रथम अङ्क के चतुर्थ दृश्य में चारुदत्त वसन्तसेना को रदनिका समझ कर बालक रोहसेन को अन्दर ले जाने के लिये कहता है । वह उसे ओढ़ाने के लिये अपना जातीकुसुमवासित दुपट्टा भी उस पर फेंकता है । वसन्तसेना चुपचाप खड़ी रहती है । इतने में विदूषक और रदनिका अन्दर आते हैं । तब चारुदत्त वसन्तसेना को पहिचानता है । विदूषक रदनिका के अपमान की घटना को छोड़ कर बाकी सारा वृत्तान्त चारुदत्त को बता देता है । घर जाने के पहिले वसन्तसेना अपने आभूषण धरोहर के रूप में चारुदत्त को देती है । चारुदत्त और विदूषक वसन्तसेना को उसके घर पहुँचा आते हैं । चारुदत्त आभूषणों की रक्षा का भार दिन में वर्द्धमानक को और रात में विदूषक को सौंपता है ।

द्वितीय अङ्क

द्वितीय अङ्क के प्रथम दृश्य में वसन्तसेना और मदनिका मञ्च पर आती हैं । एक चेटी आकर वसन्तसेना से स्नान, पूजन आदि करने को कहती है । परन्तु, वसन्तसेना नित्यकृत्य करने जाने से इनकार कर देती है । चेटी चली जाती है । मदनिका वसन्तसेना से उसकी उदासी और उद्विग्नताका कारण पूछती है । वसन्तसेना चारुदत्त के सबन्ध में अपना प्रेम व्यक्त करती है । मदनिका चारुदत्त की गरीबी की तरफ उसका ध्यान दिलाती है । परन्तु उससे उसका प्रेम कम नहीं होता ।

द्वितीय अंक के द्वितीय दृश्य में जूए में हारा हुआ संवाहक किसी शून्य देवालय में शरण लेता है । माथुर और द्यूतकर उसे खोजते हुए वहाँ पहुँचते हैं । वे

उस स्थान को निर्जन देख कर वहीं जूआ खेलने लगते हैं। संवाहक उन्हें खेलते देख अपनी प्रवृत्ति को रोकने में असमर्थ होता है। वह भी उनसे जा मिलता है। माथुर और द्यूतकर उसे देखते ही पकड़ कर बाहर ले जाते हैं। वे उससे अपना रुपया माँगते हैं और न देने पर उसे मारते हैं। इसी बीच दर्दुरक वहाँ आता है। वह संवाहक को छुड़ाता है। माथुर और दर्दुरक में झगड़ा होता है। अवसर पाकर दर्दुरक माथुर की आँख में धूल झोंक देता है। माथुर आँख मलने लगता है। दर्दुरक और संवाहक भाग जाते हैं।

द्वितीय अंक के तृतीय दृश्य में माथुर और द्यूतकर के डर से भागा हुआ संवाहक वसन्तसेना के घर में शरण लेता है। वे दोनों भी उसका पीछा करते वहाँ आते हैं। संवाहक चारुदत्त का पुराना भृत्य है यह जानकर वसन्तसेना बड़ी प्रसन्न होती है। वह संवाहक से उसके भय का कारण पूछती है। जब उसे यह मालूम होता है कि वह जुए में हार कर भागा है और जीते हुए जुआड़ी उसका पीछा कर रहे हैं तो वह रुपयों के बदले अपना हस्ताभरण भेजवा देती है। माथुर और द्यूतकर सन्तुष्ट होकर चले जाते हैं। संवाहक भी विरक्त होकर शाक्यश्रमण होने की इच्छा प्रकट करके चला जाता है।

द्वितीय अंक के चतुर्थ दृश्य में कर्णपूरक प्रवेश करता है। वह वसन्तसेना को उसके खुण्टमोडक नाम के मतवाले हाथी के उत्पात और परिव्राजक को बचाने में किये अपने पराक्रम का वृत्तान्त सुनाता है। वह चारुदत्त से पारितोषिक के रूप में मिला प्रवारक वसन्तसेना को देता है। वसन्तसेना उसे पहिचान कर बड़ी प्रसन्नता से ओढ लेती है। वह चारुदत्त को देखने के लिए अपनी चेटी के साथ अपने महल की सब से ऊँची छत परजाती है।

तृतीय अङ्क

तृतीय अंक के प्रथम दृश्य में चारुदत्त का चेट मंच पर आता है। मध्यरात्रि का समय है। अभी तक चारुदत्त घर नहीं लौटा है। अतः चेट चिन्ता व्यक्त करता है।

तृतीय अङ्क के द्वितीय दृश्य में चारुदत्त और विदूषक मंच पर आते हैं। वे रेभिल के घर से गीत सुनकर लौटते हुए दिखाई देते हैं। चारुदत्त संगीत की तारीफ करते जाता है। घर पहुँच कर विदूषक चेट को पुकारता है। चेट दरवाजा खोलता है। चारुदत्त और विदूषक भीतर जाते हैं। दोनों पैर धोकर

सोने की तैयारी करते हैं। रात को सुवर्णभांड की रक्षा का भार विदूषक पर होने के कारण चेट विदूषक को सुवर्ण भांड देता है। चारुदत्त सो जाता है। विदूषक भी सुवर्ण भांड हाथ में लिए हुए सो जाता है।

तृतीय अङ्क में तृतीय दृश्य में शर्विलक प्रवेश करता है। वह सेंध लगाकर चारुदत्त के घर में घुसता है। विदूषक निद्रा में बर्राता है। चोरी जाने के भय से वह स्वप्न में ही चारुदत्त को पुकार कर स्वर्ण भांड देता है। शर्विलक आगे बढ़ कर उसके हाथ से ले लेता है। इतने में रदनिका जागती है। शर्विलक भाग जाता है। शर्विलक यह चोरी वसन्तसेना की दासी मदनिका के प्रेम में फँस कर उसे दास्य से मुक्त करने के लिये करता है।

तृतीय अङ्क के चतुर्थ दृश्य में रदनिका शोर मचाती है। चारुदत्त और विदूषक जागते हैं। चारुदत्त सेंध के आकार की तारीफ करता है। विदूषक उससे कहता है कि अच्छा हुआ मैंने पहिले ही सुवर्ण भांड तुम्हें दे दिया था। यह सुनकर चारुदत्त चकित होता है, परन्तु प्रतिवाद नहीं करता। उसे इस बात की खुशी होती है कि चोर उसके घर से निराश नहीं गया। परन्तु उसे इस बात की चिन्ता भी होती है कि लोग चोरी के वृत्तान्त पर विश्वास न करके उसे ही बदनाम करेंगे। इस बीच चारुदत्त की भार्या धूता को यह वृत्तान्त मालूम होता है। वह अपने पति को कलंक से बचाने के लिए अपनी रत्नमाला विदूषक के हाथ भेजती है। चारुदत्त सुवर्ण भांड के बदले रत्नमाला देने के लिये विदूषक को वसन्तसेना के घर भेजता है। वह वर्धमानक को सेंध बन्द करने का आदेश देकर स्वयं सन्ध्योपासन करने चला जाता है।

चतुर्थ अङ्क

चतुर्थ अङ्क के प्रथम दृश्य में वसन्तसेना और मदनिका चारुदत्त का चित्र देखती हुई प्रवेश करती हैं। इसी बीच एक चेटी आकर वसन्तसेना की माता का आदेश सुनाती है। वह कहती है कि राजश्याल संस्थानक (शकार) की गाड़ी आई है। माता की आज्ञा है कि तुम जाओ। इस पर वसन्तसेना बिगड़ जाती है। वह जाने से इनकार करती है।

चतुर्थ अङ्क के द्वितीय दृश्य में वसन्तसेना मदनिका को पलंग पर चारुदत्त का चित्र रख कर तालवृन्त लाने के लिये भेजती है। इसी बीच शर्विलक वसन्त-सेना के घर में प्रवेश करता है। उसकी मदनिका से भेंट होती है। वह उसे

चुरा कर लाया हुआ अलङ्कार देता है। वह उसे चारुदत्त के घर चोरी की बात भी बतलाता है। उसकी बात पूरी होने के पहिले ही मदनिका अलङ्कार पहिचान लेती है। वह उसे वसन्तसेना के पास जाकर अलङ्कार अर्पण करने की सलाह देती है। शर्विलक कुछ आनाकानी के बाद उसकी बात मान लेता है। यह सब वृत्तान्त वसन्तसेना छिप कर सुनती है। शर्विलक चारुदत्त के आदमी के रूप में वसन्तसेना के पास जाकर उसे अलङ्कार सौंपता है। वसन्तसेना बदले में मदनिका को उसकी वधू बना देती है। वह दोनों को अपनी गाड़ी में बैठा कर बिदा करती है।

चतुर्थ अङ्क के तृतीय दृश्य में शर्विलक राजा पालक के द्वारा गोपालदारक के कैद किये जाने की घोषणा सुनता है। वह चेट के साथ मदनिका को सार्थवाह रेभिल के घर भेज देता है। वह स्वयं अपने मित्र गोपालदारक को बन्धन से मुक्त करने के लिये प्रस्थान करता है।

चतुर्थ अङ्क के चतुर्थ दृश्य में एक चेटी वसन्तसेना को चारुदत्त के घर से एक ब्राह्मण के आने की सूचना देती है। वसन्तसेना उसे शीघ्र अन्दर लाने को आज्ञा देती है। चेटी विदूषक को लेकर अन्दर आती है। विदूषक वसन्तसेना से कहता है कि चारुदत्त तुम्हारा सुवर्ण भांड जूए में हार गया है। उसने उसके बदले यह रत्नमाला भेजी है। यह कह कर वह वसन्तसेना को रत्नमाला देता है। वसन्तसेना रत्नमाला लेकर विदूषक को बिदा करती है। वह विदूषक के द्वारा चारुदत्त को यह सन्देश भेजती है कि मैं सायंकाल तुमसे मिलने आऊंगी। इसके बाद वह अपनी चेटी के साथ चारुदत्त से मिलने जाती है।

पञ्चम अङ्क

प्रथम अङ्क के प्रथम दृश्य में विदूषक चारुदत्त के पास आकर उसे वसन्तसेना द्वारा सुवर्ण भांड के बदले रत्नावली स्वीकार किये जाने तथा सायंकाल उसके स्वयं चारुदत्त से मिलने आने का समाचार देता है।

पञ्चम अङ्क के द्वितीय दृश्य में वसन्तसेना का चेट आकर चारुदत्त को वसन्तसेना के आने की सूचना देता है।

पञ्चम अङ्क के तृतीय दृश्य में विट और वसन्तसेना चारुदत्त के घर जाते हुए दिखाई देते हैं। मार्ग में मेघ बरसता रहता है। विट और वसन्तसेना वर्षाऋतु का वर्णन करते हुए जाते हैं। जब वे चारुदत्त की वाटिका के पास

पहुँचते हैं, चारुदत्त आवाज सुनकर विदूषक को पता लगाने बाहर भेजता है। बाहर आने पर बिदूषक की वसन्तसेना से भेंट होती है। वाटिका में प्रवेश करने के पहिले वसन्तसेना विट को बिदा कर देती है।

पञ्चम अङ्क के चतुर्थ दृश्य में विदूषक और वसन्तसेना वाटिका में प्रवेश करते हैं। चारुदत्त वसन्तसेना का स्वागत करता है। विदूषक वसन्तसेना से आगमन का कारण पूछता है। वसन्तसेना की चेटी कहती है कि हमारी मालकिन यह पूछने आई हैं कि आपकी रत्नावली का मूल्य क्या है। वह उसे अपनी समझ कर जूए में हार गई हैं। इसके बदले यह सुवर्ण भांड लीजिये। यह कह कर वह सुवर्ण भांड देती है। चारुदत्त और विदूषक उसे देख कर आश्चर्य में पड़ जाते हैं। इसके बाद चेटी सुवर्ण भांडकी प्राप्ति का सारा वृत्तान्त विदूषक के कान में कह देती है। विदूषक चारुदत्त को सब बता देता है। सब लोग आनन्द मग्न हो जातें हैं। अन्त में चारुदत्त और वसन्तसेना घर में चले जाते हैं। वसन्तसेना रात भर चारुदत्त के ही घर रह जाती है।

षष्ठ अङ्क

षष्ठ अङ्क के प्रथम दृश्य में चेटी वसन्तसेना को जगाती है। वह उसे बतलाती है कि चारुदत्त पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान गए हैं। जाते समय वे कह गए हैं कि गाड़ी को तैयार करके वसन्तसेना को भी उद्यान ले आओ। इस पर वसन्तसेना प्रसन्न होती है। वह अपने को महल के अन्दर पाकर चकित होती है। वह चेटी के हाथ रत्नावली धूता के पास भेजती है। धूता उसे स्वीकार नहीं करती। वह उसे वसन्तसेना को लौटा देती है।

षष्ठ अङ्क के द्वितीय दृश्य में रदनिका चारुदत्त के पुत्र को गोद में लिये आती है। वह उसे खेलने के लिये मिट्टी की गाड़ी देती है। परन्तु वह उसे नहीं लेता। वह सोने की गाड़ी माँगता है। न मिलने पर रोता है। वसन्तसेना बच्चे को सोने की गाड़ी बनवाने के लिये अपने आभूषण देती है।

षष्ठ अङ्क के तृतीय दृश्य में चारुदत्त का चेट वर्धमानक गाड़ी लेकर आता है। रदनिका वसन्तसेना को इसकी सूचना देती है। बसन्तसेना जाने की तैयारी करती है। इसी बीच वर्धमानक गाड़ी लेकर उसमें बिछाने के लिये कुछ बिछावन लेने अपने घर चला जाता है। इतने में शकार का चेट स्थावरक शकार की गाड़ी लेकर पुष्पकरण्डक उद्यान जाते हुए मार्ग में गाड़ियों की भीड़ के कारण [illegible]

की वाटिका के पक्षद्वार पर अपनी गाड़ी रोक देता है। वह उतर कर दूसरी गाड़ी के फँसे पहिये को निकालने में मदद करने चला जाता है। इधर वसन्तसेना द्वार पर खड़ी गाड़ी को चारुदत्त की गाड़ी समझ कर उसमें बैठ जाती है। स्थावरक आकर गाड़ी बढ़ा ले जाता है। इतने में कारागार से भागा हुआ आर्यक घूमता हुआ वहाँ आता है। वह राजपुरुषों की निगाह से बचने के लिये चारुदत्त की वाटिका के पक्षद्वार में घुस कर छिप जाता है। उधर से वर्धमानक आकर वसन्तसेना के लिये द्वार पर गाड़ी रोक देता है। आर्यक पीछे से गाड़ी में बैठ जाता है। वर्धमानक, यह समझ कर कि वसन्तसेना गाड़ी में बैठ गई, गाड़ी पुष्पकरण्डक उद्यान की तरफ बढ़ाता है।

षष्ठ अङ्क के चतुर्थ दृश्य में राजपुरुष वीरक और चन्दनक वर्धमानक की गाड़ी को मार्ग में रोकते हैं। चन्दनक गाड़ी पर चढ़कर भीतर देखता है। आर्यक उससे रक्षा की याचना करता है। चन्दनक उसे अभय देता है। वह गाड़ी से उतर कर वीरक को बतलाता है कि वसन्तसेना जा रही है। वीरक उसका विश्वास नहीं करता। दोनों आपस में लड़ते हैं। चन्दनक वीरक को पटक कर मारता है। चन्दनक का इशारा पाकर वर्धमानक गाड़ी बढ़ाता है। चन्दनक आर्यक को तलवार देता है। आर्यक राजा होने पर चन्दनक का स्मरण रखने का वादा करता है।

सप्तम अङ्क

सप्तम अङ्क में चारुदत्त और विदूषक वसन्तसेना को लाने वाली गाड़ी की प्रतीक्षा करते दिखाई देते हैं। इतने में गाड़ी आती है। विदूषक परदा हटाकर भीतर देखता है। वह चिल्लाकर कहता है कि गाड़ी में कोई पुरुष है। इस पर चारुदत्त स्वयं जाकर देखता है। आर्यक उससे शरण माँगता है। चारुदत्त उसे अभय दान देता है। वह उसके बन्धन कटवा कर उसे विदा करता है। चारुदत्त और विदूषक भी राजा के डर से शीघ्र वहाँ से चले जाते हैं।

अष्टम अङ्क

अष्टम अङ्क के प्रथम दृश्य में आर्द्र चीवर हाथ में लिये एक भिक्षु प्रवेश करता है। शकार और विट भी वहाँ आते हैं। शकार उद्यान की पुष्करिणी में चीवर धोने का तथा जन्म से ही प्रव्रजित न होने का अपराध लगाकर भिक्षु को

मारता है। विट उसे बचाता है। भिक्षु शकार की स्तुति करता हुआ अपना प्राण

बचाकर वहाँ से खिसक जाता है। शकार और विट स्थवरक चेट की प्रतीक्षा करते वहीं ठहरते हैं।

अष्टम अङ्क के द्वितीय दृश्य में चेट गाड़ी लेकर आता है। शकार गाड़ी पर चढ़ता है। वह वसन्तसेना को देखकर डर से बाहर भागता है। वह विट से कहता है कि गाड़ी में कोई स्त्री बैठी है। विट गाड़ी में घुसकर देखता है। वह वसन्तसेना को देखकर आश्चर्य में पड़ जाता है। वसन्तसेना उससे रक्षा की याचना करती है। विट उसे ढाढ़स देता है। वह बाहर निकल कर शकार से कहता है कि सचमुच गाड़ी में राक्षसी है। वह शकार को पैदल नगर जाने की सलाह देता है। परन्तु शकार राजी नहीं होता। तब विट उसे बतलाता है कि गाड़ी में वसन्तसेना है। शकार विट से वसन्तसेना को मारने को कहता है। विट वैसा करने से इनकार करता है। तब शकार चेट से वसन्तसेना को मारने को कहता है। वह भी वैसा करने से इनकार कर देता है। इस पर क्रुद्ध होकर शकार चेट को मारता है वह उसे वहाँ से हटकर आड़ में बैठने को कहता है चेट वहाँ से चला जाता है। शकार विट को भी वहां से भगाने का बहाना निकालता है। वह उससे कहता है कि वसन्तसेना तुम्हारे सामने मुझे स्वीकार करने में लजाती है। अतः तुम भी यहाँ से जाओ और चेट को खोज लाओ मेरे हाथों मार खाने के कारण नाराज होकर वह कहीं भाग न जाय। इस पर विट भी वहाँ से चला जाता है। शकार वसन्तसेना से प्रणय-प्रार्थना करता है। वसन्तसेना उसकी बात नहीं मानती। क्रुद्ध होकर शकार उसका गला दबाता है। वसन्तसेना मूर्च्छित होकर गिर जाती है।

अष्टम अंक के तृतीय दृश्य में चेट के साथ विट प्रवेश करता है। विट के पूछने पर कि वसन्तसेना कहाँ गई, शकार कहता है कि मैंने उसे मार डाला। वह विट को वसन्तसेना का मूर्च्छित शरीर दिखलाता है। विट बहुत दुःखी होता है। वह शकार का साथ छोड़कर शर्विलक आदि से मिलने चला जाता है। शकार चेट को घर भेज देता है। वह वसन्तसेना के शरीर को सूखे पत्तों से ढककर छोड़ देता है और स्वयं चारुदत्त के विरुद्ध हत्या का मुकदमा चलाने न्यायालय जाता है।

अंक के चतुर्थ दृश्य में भिक्षु प्रवेश करता है। वह अपना चीवर फैलाने के वास्ते स्थान खोजता है। इतने में होश में आकर वसन्तसेना हाथ दिखलाती

है। भिक्षु पत्ते हटाकर वसन्तसेना को पहिचानता है। वसन्तसेना लता का सहारा लेकर उठ खड़ी होती है। भिक्षु वसन्तसेना को विश्राम कराने के लिये विहार ले जाता है।

नवम अङ्क

नवम अङ्क में शकार अधिकरणमण्डप में जाता है। वहाँ वह सूचना देता है कि पुष्करण्डक उद्यान में किसी ने धन के लोभ से वसन्तसेना को बाहुपाश-बलात्कार से मार डाला है। इस पर यह जानने के लिये कि वसन्तसेना किसके साथ गई थी, अधिकरणिक वसन्तसेना की माँ को बुलवाते हैं। वह आकर कहती है कि वसन्तसेना चारुदत्त के घर गई थी। इस पर अधिकरणिक चारुदत्त को बुलवाते हैं। चारुदत्त कुछ हिचकिचाहट के बाद वसन्तसेना के साथ अपनी मैत्री की बात स्वीकार करता है। वह कहता है कि वसन्तसेना अपने घर गई। वह यह बतलाने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है कि वह पैदल गई या गाड़ी में। इतने में क्रोध में भरा वीरक वहाँ आता है। वह चन्दनक के साथ हुए झगड़े की सूचना देता है। वह यह भी कहता है कि चारुदत्त की गाड़ी में बैठ कर वसन्तसेना पुष्पकरण्डक उद्यान जा रही थी। इस पर अधिकरणिक वीरक को उद्यान जाकर यह देख आने के लिये भेजते हैं कि वहाँ कोई स्त्री मरी पड़ी है या नहीं। वीरक जाकर देख आता है। वह वहाँ एक स्त्री के मृत शरीर के पड़े रहने की बात का समर्थन करता है। इसी बीच विदूषक वसन्तसेना के आभरण लिये वहाँ आ टपकता है। उसका शकार से झगड़ा हो जाता है। मारपीट में विदूषक की बगल से वसन्तसेना के आभरण पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। शकार उन्हें उठाकर सब को दिखाता है। वह कहता है कि इसी के लिये चारुदत्त ने वसन्तसेना को मारा है। चारुदत्त यह स्वीकार करता है कि आभरण वसन्तसेना के हैं। परन्तु वह यह बतलाने में असमर्थता व्यक्त करता है कि वसन्तसेना से वियुक्त कैसे हुए? हां, वह यह स्वीकार करता है कि वे उसके घर से लाए गए हैं। अधिकरणिक अभियोग सिद्ध मान लेते हैं। वे अपना निर्णय लिखकर राजा पालक के पास भेजते हैं। राजा चारुदत्त को प्राणदण्ड की आज्ञा देता है। अधिकरणिक चाण्डालों को आदेश देने के लिये कहकर चले जाते हैं।

दशम अङ्क

दशम अङ्क के प्रथम दृश्य में चारुदत्त को वधस्थान ले जाते हुए चाण्डाल दिखाई देते हैं। विदूषक चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को लेकर वहाँ आता है।

विदूषक और रोहसेन चाण्डालों से चारुदत्त को छोड़ने की प्रार्थना करते हैं। वे कहते हैं कि चारुदत्त के स्थान पर हमारा वध करो। इतने में शकार के महल में बँधा स्थावरक चिल्लाकर कहता है कि वसन्तसेना को चारुदत्त ने नहीं शकार ने मारा है। परन्तु उसकी बात किसी के कान तक नहीं पहुँचती। तब वह एक गवाक्ष से कूदकर चाण्डालों के पास आता है और पुनः वही बात कहता है। इसी समय शकार वहाँ आता है। वह कहता है कि स्थावरक झूठ कह रहा है। इसने मेरा सोना चुराया था। अतः मैंने इसे मारकर बाँध रखा था। उसी का बदला लेने के लिए यह मुझ पर आरोप लगा रहा है। चाण्डाल शकार की बात को सच मान लेते हैं। शकार स्थावरक को मारकर भगा देता है। वह चाण्डालों से चारुदत्त को शीघ्र मारने के लिये बार बार कहता है।

दशम अङ्क के द्वितीय दृश्य में भिक्षु और वसन्तसेना चारुदत्त के घर जाते दिखाई देते हैं। मार्ग में भीड़ देखकर वसन्तसेना भिक्षु को पता लगाने के लिये कहती है। इतने में चाण्डाल पुनः चारुदत्त के अपराध और उसे मिले दण्ड की घोषणा करते हैं। भिक्षु घबड़ाया हुआ आता है और सारा-वृत्तान्त वसन्तसेना से कहता है। वे दोनों तेजी से वधस्थान की तरफ जाते हैं। उनके पहुँचने के पहिले ही एक चाण्डाल चारुदत्त पर खड्ग चलाता है। परन्तु खड्ग उसके हाथ से छूट कर अलग गिरता है। तब चाण्डाल चारुदत्त को शूल पर चढ़ाना चाहते हैं। इसी समय भिक्षु और वसन्तसेना वहाँ पहुँचते हैं। वसन्तसेना को देख चाण्डाल चारुदत्त को छोड़कर राजा को समाचार देने चले जाते हैं। वसन्तसेना को देख कर शकार भी वहाँ से भाग जाता है। चारुदत्त वसन्तसेना और भिक्षु को पहिचान कर आनन्दमग्न हो जाता है।

दशम अंक के तृतीय दृश्य में शर्विलक प्रवेश करता है। वह चारु दत्त को आर्यक के द्वारा राजा पालक के मारे जाने का समाचार देता है। इसी समय कुछ लोग शकार को पकड़ कर वहाँ लाते हैं। शकार चारुदत्त की शरण जाता है। चारुदत्त उसे अभय दान देता है।

दशम अङ्क के चतुर्थ दृश्य में चन्दनक आ कर सूचना देता है कि चारुदत्त के वध के समाचार से दुःख-सन्तप्त हो कर उसकी स्त्री धूता प्राण-त्याग कर रही है यह समाचार सुन कर सब लोग शीघ्र वहाँ जाते हैं, जहाँ धूता चिता लगा कर

मरने का प्रयत्न कर रही थी। चारुदत्त आगे बढ़ कर उसे मना करता है। धूता चारुदत्त का स्वर पहिचान कर प्रसन्न होती है। धूता और वसन्तसेना एक दूसरे को आलिङ्गन करती हैं। शर्विलक वसन्तसेना से कहता है कि राजा तुम्हें वधू शब्द से अनुगृहीत करते हैं। वसन्तसेना इस अनुग्रह से अपने को कृतार्थ समझती है। चारुदत्त की इच्छानुसार भिक्षु पृथ्वी पर सब विहारों का कुलपति बना दिया जाता है। स्थावरक को शकार के दास्य से मुक्त करके स्वतन्त्र नागरिक बना दिया जाता है। दोनों चाण्डाल सब चाण्डालों के अधिपति बना दिए जाते हैं। चन्दनक को पृथ्वीदण्डपालक का पद दिया जाता है। शकार का भी अधिकार अस्थायी रूप से पूर्ववत् बना रहने दिया जाता है।

मृच्छकटिक नाम क्यों पड़ा ?

मृच्छकटिक के षष्ठ अङ्क में रदनिका रोहसेन को खेलने के लिए मिट्टी की गाड़ी देती है। वह उसे नहीं लेता। वह जैसी सोने की गाड़ी पड़ोस के घर में देख आया है वैसी चाहता है। सोने की गाड़ी न मिलने पर वह रोता और छैलाता है। इसी समय उसे गोद में लिये रदनिका वसन्तसेना के पास पहुँचती है। जब वसन्तसेना को रोहसेन के रोने का कारण मालूम होता है तो वह अपने आभूषण उतार कर सोने की गाड़ी बनाने के लिए उसे देती है। इस घटना में आई मिट्टी की गाड़ी पर ही इस नाटक का नाम 'मृच्छकटिक' रखा गया है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ऊपर लिखी घटना में तो मिट्टी की और सोने की दोनों गाड़ियों का उल्लेख है। ऐसी स्थिति में इस नाटक का नाम मिट्टी की गाड़ी पर 'मृच्छकटिक' ही क्यों रखा गया? इसे 'सुवर्णशकटिक' नाम क्यों नहीं दिया गया? इसके अतिरिक्त इसे 'वसन्तसेनाचारुदत्तम्' नाम भी तो दिया जा सकता है? क्योंकि नाटक का नाम गर्भित अर्थ को प्रकट करने वाला होना चाहिए। **'नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशकम्'** (साहित्य दर्पण षष्ठ परिच्छेद)। ऐसा होते हुए भी इस नाटक का नाम 'मृच्छकटिकम्' ही क्यों रखा गया? इस नाम से कौन सा गर्भित अर्थ प्रकट होता है?

विचार करने पर इस प्रश्न का पहिला समाधान यह प्रतीत होता है कि कवि ने इस नाटक में व्यवहारदुष्टता, खलस्वभाव, भवितव्यता आदि के साथ असन्तोष का क्या फल होता है यह भी दिखलाया है। इस संसार में जो लोग अपनी परिस्थिति से असन्तुष्ट हो कर दूसरों से ईर्ष्या करते हैं, उन्हें जीवन में अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। सद्गुणों द्वारा अपनी उन्नति के लिये प्रयत्न करना बुरा नहीं है। परन्तु अपनी परिस्थिति से असन्तोष और दूसरों की उन्नत अवस्था से ईर्ष्या करना दोष है। जो लोग इन दोषों के शिकार होते हैं उन्हें जीवन में अवश्य कष्ट का सामना करना पड़ता है। अतः मनुष्य को अपनी परिस्थिति से सन्तुष्ट रहना चाहिए और दूसरों की उन्नति पर हर्ष प्रकट करना चाहिए। प्रकृति अन्धी है। वह बच्चे और बूढ़े में कोई अन्तर नहीं देखती। जो भी अपने हृदय में उपर्युक्त दोषों को स्थान देता है प्रकृति उसे दण्ड देती है। रोहसेन अपनी मिट्टी की गाड़ी से सन्तुष्ट नहीं है। वह पड़ोसी के पुत्र की सोने की गाड़ी जैसी गाड़ी चाहता है। यह उसका दोष है। इसी के फलस्वरूप वह अपने और अपने पिता

के ऊपर अनेक आपत्तियों का कारण बन जाता है। यहाँ असन्तोषरूपी दोष प्रधान है। वह मिट्टी की गाड़ी के सम्बन्ध में है। अतः यहाँ सोने की गाड़ी की अपेक्षा मिट्टी की गाड़ी को अधिक महत्व प्राप्त है। यही कारण है कि इस नाटक का नाम 'सुवर्णशकटिकम्' न रखकर 'मृच्छकटिकम्' रखा गया है। इस असन्तोषरूपी दोष की झलक इस नाटक के अन्य मुख्य पात्रों में भी दिखाई देती है। वसन्तसेना सुलभ शकार को नहीं चाहती। वह सर्वगुणसम्पन्न दुष्प्राप्य चारुदत्त ब्राह्मण को चाहती है। चारुदत्त अपनी विवाहिता स्त्री धूता से तृप्त नहीं है। वह सुन्दरी वसन्तसेना गणिका को चाहता है। इस असन्तोष का जो फल वसन्तसेना और चारुदत्त को भोगना पड़ा वह कथानक से स्पष्ट है। रोहसेन का मिट्टी की गाड़ी को न चाहना इस सर्वव्यापी असन्तोष का मुख्य प्रतीक है। इसलिये मिट्टी की गाड़ी के नाम पर ही इस नाटक का नाम 'मृच्छकटिकम्' रखा गया है।

इस प्रश्न का एक और समाधान है। नियति मनुष्य-जीवन में आगे आनेवाली इष्ट या अनिष्ट घटनाओं की किसी न किसी रूप में सूचना दे देती है। इस नाटक के षष्ठ अङ्क में प्रवहण परिवर्तन के कारण वसन्तसेना चारुदत्त के पास पहुँचने के बदले शकार के पास पहुँच जाती है। यह घटना इस नाटक की एक बहुत ही महत्वपूर्ण घटना है। रोहसेन के द्वारा मिट्टी की गाड़ी की सोने की गाड़ी से अदला-बदली की घटना प्रवहण परिवर्तन की घटना के पहिले घटती है। देखने में यह एक अत्यन्त तुच्छ घटना प्रतीत होती है। परन्तु वस्तुतः यह नियति के द्वारा घटाई हुई घटना है। यह आगे आने वाली प्रवहण परिवर्तनरूपी महत्वपूर्ण घटना की सूचना देती है। अतएव मिट्टी की गाड़ी की अदला बदली की घटना भी एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस घटना में मिट्टी की गाड़ी का नाम पहिले आता है। मिट्टी की गाड़ी के परित्याग के कारण ही अनेक दुःखों का सामना करना पड़ता है। इसलिये इस घटना में सुवर्ण की गाड़ी की अपेक्षा मिट्टी की गाड़ी अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है, यही कारण है कि इस नाटक का नाम मिट्टी की गाड़ी पर 'मृच्छकटिकम्' रखा गया है। इसके अतिरिक्त यह घटना इस बात की भी शिक्षा देती है कि दुनिया में किसी भी पदार्थ को उसके बाह्य रूप के आधार पर ही हेय या उपादेय नहीं समझना चाहिये। प्रत्येक पदार्थ के गुण और दोषों की परीक्षा करके उसका मूल्य स्थिर करना चाहिए। ऐसा न करने वालों को धोखा खाना पड़ता है। यह शिक्षा देने के लिये भी 'सुवर्णशकटिकम्' की अपेक्षा 'मृच्छकटिकम्' नाम अधिक उपयुक्त है।

नाम सम्बन्धी शङ्का का तीसरा समाधान भी सम्भव है। भास का 'चारुदत्त' 'मृच्छकटिक' का मूल है। वर्तमान 'चारुदत्त' में केवल चार अङ्क हैं। उसकी कथा 'मृच्छकटिक' के चतुर्थ अङ्क की कथा तक है। वसन्तसेना अपने घर से चारुदत्त से मिलने रवाना होती है। यहीं कथा समाप्त हो जाती है। कुछ विद्वान् इस नाटक को यहीं तक पूर्ण मानते हैं। उनका कथन है कि इस नाटक के अन्त में आने वाली चेटी की उक्ति—'प्रियं मे' अमृताङ्कनाटकं संवृत्तम्' तथा गणिका वसन्तसेना की उक्ति—'हताशे ? मा खलु वर्धय, इस नाटक की समाप्ति की सूचना देती है। इस नाटक की प्राप्त हस्त-लिखित प्रति के अन्त में लिखा हुआ—'अवसितं चारुदत्तम्' वाक्य भी नाटक की समाप्ति के मत का समर्थन करता है। कुछ विद्वान् इस नाटक को अपूर्ण मानते हैं। उनका कथन है कि जहाँ यह नाटक समाप्त होता है वहाँ इसका समाप्त होना अस्वाभाविक प्रतीत होता है। इसमें कम से कम एक अङ्क और रहा होगा। इसकी कथा 'मृच्छकटिक' के पञ्चम अङ्क की कथा तक अवश्य रही होगी। विद्वानों का एक तीसरा दल भी है। इस दल के विद्वानों का कहना है कि 'चारुदत्त' की कथा 'मृच्छकटिक' की कथा के बराबर रही। वे अपने मत के पोषण के लिये सागरनन्दी के 'नाटकलक्षण रत्नकोश' से एक श्लोक उद्धृत करते हैं। सागरनन्दी ने एक जगह लिखा है—'यथा चारुदत्तः-शुष्कद्रुमगतो रौति आदित्याभिमुखं स्थितः। कथयत्यनिमित्तं मे वायसो ज्ञानपण्डितः'। यह श्लोक न वर्तमान 'चारुदत्त' में मिलता है न 'मृच्छकटिक' में। हाँ, इसके समान अर्थ वाला—शुष्कवृक्षस्थितो ध्वांक्ष आदित्याभिमुखस्तथा। मयि चोदयते वामं चक्षुर्घोरमसंशयम्' श्लोक 'मृच्छकटिक' के नवम अङ्क में अधिकरण के दृश्य में मिलता है। इसके आधार पर तृतीय दल के विद्वानों का कथन है कि—'शुष्कद्रुमगतो रौति' इत्यादि श्लोक भी 'चारुदत्त' के अधिकरण के दृश्य में ही आया होगा। अधिकरण का दृश्य नाटक के अन्त में है। अतः दोनों नाटकों में कथा और अङ्कों की संख्या बराबर ही रही होगी। परन्तु यह तर्क सब विद्वानों को मान्य नहीं है। सम्भव है—'शुष्कद्रुमगतो रौति' इत्यादि श्लोक 'चारुदत्त' में न्यायाधिकरण के दृश्य में न आकर कहीं अन्यत्र आया हो। इसलिये यह कहना ठीक नहीं प्रतीत होता कि 'चारुदत्त' और 'मृच्छकटिक' में कथा और अङ्कों की संख्या बराबर थी।

जो भी कुछ हो अधिकांश विद्वानों का इस विषय पर मत एक है कि वर्तमान 'चारुदत्त' अपूर्ण है। इसमें कम से कम एक अङ्क और रहा होगा। इसकी कथा 'मृच्छकटिक' के पञ्चम अङ्क तक की कथा के बराबर अवश्य रही होगी। वसन्तसेना के चारुदत्त के घर पहुँचने पर ही कथा की समाप्ति रही होगी।

यदि उपर्युक्त मत ठीक है तो 'मृच्छकटिक' दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहिला भाग प्रथम अंक से पञ्चम अंक तक का है। यह भाग 'मृच्छकटिक' के कर्ता ने भास के 'चारुदत्त' से लिया है। दूसरा भाग षष्ठ अंक से दशम अंक तक का है। यह कवि ने अपनी कल्पना से रचा है। उसने इन दोनों भागों को जोड़कर 'मृच्छकटिक' खड़ा किया है। रोहसेन के द्वारा मिट्टी की गाड़ी को न लेने की घटना कवि द्वारा रचित नये भाग के आरम्भ में ही आती है। कवि ने इसी मिट्टी की गाड़ी के नाम पर नाटक को 'मृच्छकटिक' नाम दिया है। उसने जान बूझ कर ऐसा किया है। उसका आशय यह है कि पाठक नाम से ही जान जायँ कि इस नाटक का मिट्टी की गाड़ी की अदला-बदली की घटना से पूर्व का भाग पुराना और इस घटना के बाद का भाग नया है।

कथावस्तु की पाँच अर्थप्रकृतियाँ

भारतीय आचार्यों के अनुसार कथावस्तु की बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य नाम की पांच अर्थप्रकृतियां होती हैं। कथा के द्वन्द्व और अन्तिम फल के मूल कारण को बीज कहते हैं। अवान्तर घटनाओं से विच्छिन्न मूल कथा को पुनः जोड़ने वाली उक्ति या घटना को बिन्दु कहते हैं। मूल कथा के अन्तर्गत किसी बड़े प्रासंगिक इतिवृत्त को पताका कहते हैं। मूल कथा के अन्तर्गत किसी छोटे प्रासंगिक इतिवृत्त को प्रकरी कहते हैं। कथा में साध्य विषय को कार्य कहते हैं।

'मृच्छकटिक' के प्रथम अंक में वसन्तसेना का पीछा करते शकार की **'भाव! भाव! एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानात् प्रभृति तस्य दरिद्रचारुदत्तस्य अनुरक्ता, न मा कामयते, (पृ. ५२)** इत्यादि उक्ति इस नाटक का बीज है। द्वितीय अंक के आरंभ में वसन्तसेना और मदनिका के संवाद में (पृ. ९८–९९) इसी बात का पुनः उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता हैं कि इस नाटक की कथा का आरंभ होने के पहिले ही किसी दिन नगर के कामदेवायतनोद्यान में वसन्तसेना और चारुदत्त की पहिली देखा देखी हुई। उसी दिन से दोनों एक दूसरे को प्रेम करने लग गए। चारुदत्त की अपेक्षा वसन्तसेना अधिक आतुर हुई। यही कारण हैं कि इस कथा में स्थायी समागम की प्राप्ति का अधिक प्रयत्न वसन्तसेना की तरफ से होता है।

इस नाटक की कथावस्तु के बीज के सम्बन्ध में एक बात का स्पष्ट पता नहीं चलता। द्वितीय अंक के आरम्भ में मदनिका वसन्तसेना के साथ बातचीत के सिलसिले में कहती है—**ज्ञातम्। किं स एव ? येन आर्या शरणागता अभ्युपपन्ना, (पृ. ९८)**। इस उक्ति का क्या अर्थ है ? वसन्तसेना क्यों चारुदत्त की शरण गई और चारुदत्त ने उसे कैसे शरण दी ? इस उक्ति के दो अर्थ हो सकते हैं। पहिला तो यह कि वसन्तसेना पर कामदेवायतनोद्यान में किसी प्रकार की भौतिक आफत आई और वह उससे अपना बचाव करने के लिये चारुदत्त की शरण गई। चारुदत्त ने उसकी रक्षा कीं। उसी दिन से दोनों एक दूसरे को प्रेम करने लग गए। दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि वसन्तसेना चारुदत्त को देखकर काम पीड़ा से व्यथित हुई। वह उस व्यथा से मुक्ति पाने के लिये

चारुदत्त की शरण में गई। चारुदत्त ने उसकी प्रणय-याचना स्वीकार कर उसकी रक्षा की। उसी दिन से दोनों के हृदय में एक दूसरे के प्रति प्रेम का अंकुर उत्पन्न हो गया। जो हो यह घटना घटी इस नाटक की कथा आरम्भ होने के पहिले ही। इस नाटक में इस घटना का उल्लेख मात्र है। यह उल्लेख सर्व-प्रथम प्रथम अंक में शकार की उक्ति में है (पृ. ५२)। अतः शकार की इस उक्ति में इस नाटक का बीज है।

द्वितीय अंक में जुआड़ियों के झगड़े से मूल कथा विच्छिन्न हो जाती है। इसके बाद कर्णपूरक का दृश्य आता है। इस दृश्य में कर्णपूरक वसन्तसेना को चारुदत्त से प्राप्त जाती कुसुमवासित प्रावारक देता है। वसन्तसेना उसे पहिचान कर बहुत प्रसन्न होती है। यहीं से पुनः मूल कथा चल पड़ती है। अतः कर्णपूरक के दृश्य को इस कथा का बिन्दु कहना चाहिये।

तृतीय अङ्क में सन्धिच्छेद की घटना घटती है। यहाँ से शर्विलक का चरित्र आरम्भ होता है। पहिले तो शर्विलक चारुदत्त के घर चोरी करता है। परन्तु पीछे वह चारुदत्त का सहायक बन जाता है। शर्विलक की कथा का मदनिका-प्राप्तिरूपी फल चतुर्थ अङ्क में ही प्राप्त हो जाता है। तथापि यह वृत्तान्त मूल कथा के अन्त तक चला जाता है। अन्त में शर्विलक ही इस बात की घोषणा करता है कि राजा ने वसन्तसेना को चारुदत्त की वधू मान लिया है। शर्विलक का वृत्तान्त 'मृच्छकटिक' की कथा का व्यापि प्रासङ्गिक वृत्त, है। अतः इसे मूल कथा की पताका मानना चाहिये।

अष्टम् अङ्क में परिव्राजक भिक्षु की कथा आरम्भ होती है। यह भिक्षु संवा-हक के रूप में द्वितीय अंक में ही हमारे सामने आता है। मालूम नहीं यह ही वह परिव्राजक है जिसे कर्णपूरक हाथी से बचाता है या दूसरा। संवाहक के रूप में यह कुछ दिनों तक चारुदत्त का भृत्य रहा। परिव्राजक हो जाने पर भी यह वसन्तसेना और चारुदत्त का सहायक बना रहता है। इसकी कथा मूल कथा के अन्त तक चली जाती है। अन्त में इसे पृथ्वी पर सब विहारों का कुलपति बना दिया जाता है। इस भिक्षु का वृत्तान्त 'मृच्छकटिक' की कथा की प्रकरी है। इसके अतरिक्त चन्दनक के वृत्तान्त को भी मूल कथा की प्रकरी माना जा सकता है। यह राजा पालक का सेवक होने पर भी शर्विलक का मित्र और चारुदत्त का प्रशंसक है।

आपाततः ऐसा मालूम पड़ता है कि चारुदत्त को वसन्त-सेना की प्राप्ति अथवा वसन्तसेना को चारुदत्त की प्राप्ति 'मृच्छकटिक' का मुख्य कार्य है। परन्तु विचार करने पर यह बात ठीक नहीं मालूम पड़ती, वसन्तसेना गणिका है। वह स्वतन्त्र है। वह चारुदत्त को चाहती है और चारुदत्त भी उसे चाहता है। ऐसी स्थिति में दोनों का समागम दुर्लभ वस्तु नहीं है। दोनों जब चाहें एक दूसरे से मिल सकते हैं। सच बात तो यह है कि अनेक अवसरों पर दोनों का मिलन सुलभ होने पर भी वसन्तसेना उसे टाल देती है। प्रथम अङ्क के अन्त में चारुदत्त के साथ बातें करते समय वह अपने मन में स्वगतम् (पृ. ८८) जो कुछ कहती है उससे मालूम पड़ता है कि उसके लिये चारुदत्त के साथ रात भर निवास करना सम्भव है। परन्तु वह उस अवसर को टाल देती है। वह अपना अलंकार धरोहर रख कर चली जाती है। द्वितीय अङ्क के आरम्भ में भी मदनिका के साथ उसके वार्तालाप से (पृ. १००-१०१) यह बात स्पष्ट है कि चारुदत्त के साथ उसके मिलन में कोई बाधा नहीं है। वह यदि चाहे तो दूती भेज कर चारुदत्त को बुलवा सकती है। परन्तु वह जानबूझ कर वैसा नहीं करती। पञ्चम अङ्क में तो वह खुले आम चारुदत्त के घर पहुँच जाती है। और एक रात उसके साथ निवास भी करती है। यदि केवल वसन्तसेना और चारुदत्त का मिलन ही इस नाटक का मुख्य कार्य होता तो पञ्चम अङ्क के बाद नाटक समाप्त हो जाना चाहिए। परन्तु वैसा नहीं होता। कवि कथानक आगे बढ़ा देता है। इससे मालूम होता है कि वसन्तसेना और चारुदत्त का मिलन मात्र इस नाटक का मुख्य कार्य नहीं है। इस नाटक के कार्य का पता दशम अङ्क में लगता है। शर्विलक इस बात की घोषणा करता है कि राजा आर्यक ने वसन्तसेना को चारुदत्त की वधू स्वीकार कर लिया है। यह इस नाटक का रहस्य है। द्वितीय अङ्क में वसन्तसेना चारुदत्त को दूती भेज कर नहीं बुलवाती क्योंकि वह डरती है कि कहीं अपनी हीन आर्थिक दशा से लज्जित होकर अपना मुँह छिपाने के लिए चारुदत्त किसी अज्ञात स्थान में न चला जाय (पृ० १०१)। यदि ऐसा हुआ तो स्थायी समागम असम्भव हो जायेगा। षष्ठ अङ्क के आरम्भ में वह अपने को चारुदत्त के महल के अभ्यन्तर चतुःशालक में पाकर आनन्दमिश्रित आश्चर्य में पड़ जाती है। उसके मन में यह भाव उत्पन्न हुआ सा मालूम पड़ता है कि चारुदत्त के हृदय में मेरे लिए गणिका की अपेक्षा ऊँचा स्थान है क्योंकि उस

काल के नियमों के अनुसार गणिका उच्च वर्ण के पुरुष के महल के अभ्यन्तर चतु:शालक में नहीं जा सकती थी। इसी अवसर पर चेटी के साथ वार्तालाप के प्रसंग में जब उसे मालूम होता है कि चारुदत्त के घर से उसके चले जाने पर घर के लोगों को बड़ा सन्ताप होगा तो वह कहती है कि यहाँ से जाने के पहिले मैं स्वयं बहुत सन्तप्त होऊँगी। यह उक्ति इस बात को झलकाती है कि वह चारुदत्त के घर से जाना नहीं चाहती, उसकी वधू बनकर वहीं रहना चाहती है। वह चारुदत्त की भार्या धूता के साथ बहिन का रिश्ता जोड़ती है और अपने को चारुदत्त और धूता की गुणनिर्जिता दासी कहती है (पृ. ३१५–३१७)। इसी अङ्क में आगे वह चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को 'पुत्रक' शब्द से सम्बोधन करती है। जब रोहसेन उसे अलंकृत होने के कारण अपनी माँ स्वीकार नहीं करता तो वह उसकी सच्ची माँ बनने के लिए झट पट अपने आभूषण उतार कर उसे सुवर्णशकटिका बनवाने के लिए दे देती है (३१९–३२१)। ये सब बातें इसी तथ्य का समर्थन करती हैं कि वसन्तसेना के मन में चारुदत्त की वधू बनने की अभिलाषा है। यह अभिलाषा ही इस नाटक का मुख्य कार्य है। इसकी सिद्धि दशम अङ्क के अन्त में होती है।

कथावस्तु के कार्य की पाँच अवस्थाएँ

भारतीय आचार्यों के अनुसार कथावस्तु के कार्य की पाँच अवस्थायें होती हैं। उनके नाम हैं—आरंभ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम, 'मृच्छकटिक' के प्रथम अङ्क में शकार अपने साथियों के साथ रात के अंधेरे में वसन्तसेना का पीछा करते हुए चारुदत्त के घर के पास पहुँचता है। इसी समय विदूषक रदनिका के साथ बाहर आने के लिए घर का दरवाजा खोलता है। वसन्तसेना मौका पाकर अपने अञ्चल की हवा से रदनिका के हाथ का दीपक बुझा देती है और चुपके से भीतर घुस जाती है। चारुदत्त वसन्तसेना को रदनिका समझ कर उसे रोहसेन को भीतर ले जाने के लिए कहता है। वह रोहसेन को ओढ़ाने के लिए अपना प्रावारक वसन्तसेना पर फेंकता है। वसन्तसेना प्रावारक की सुगन्ध से मस्त होकर मन ही मन चारुदत्त के यौवन की सराहना करती है। इससे वसन्तसेना का औत्सुक्य प्रकट होता है। इसी समय विदूषक और रदनिका बाहर से लौट आते हैं। विदूषक

चारुदत्त को बतलाता है कि जिसे तुम रदनिका समझ रहे हो वह वसन्तसेन। है। चारुदत्त वसन्तसेना को पहिचान कर उसके सौन्दर्य और यौवन की सराहना करता है। इससे चारुदत्त का औत्सुक्य व्यक्त होता है। इस औत्सुक्य की पराकाष्ठा चारुदत्त की 'तिष्ठतु प्रणयः' (पृ० ८८) उक्ति में होती है। इस उक्ति का वाच्यार्थ तो है 'प्रेम बना रहे'। परन्तु इस उक्ति के बाद वसन्तसेना जो कुछ अपने मन में (स्वगतम्) कहती है उससे प्रतीत होता है कि वह इस उक्ति को चारुदत्त की तरफ से आई हुई संभोग प्रार्थना समझती है। इस प्रकार प्रथम अङ्क में वसन्तसेना की—'अहो ! जातीकुसुमवासितः प्रावारकः' (पृ० ८२) इत्यादि उक्ति से उसी की 'चतुरो मधुरश्चायमुपन्यासः' (पृ० ८८) इत्यादि उक्ति तक के कथांश में वसन्तसेना और चारुदत्त का परस्पर के लिए प्रथम औत्सुक्य प्रकट होता है। अतः इस अंश को नाटक का आरम्भ कहना चाहिए।

प्रथम अङ्क में यद्यपि वसन्तसेना 'तिष्ठतु प्रणयः' से व्यक्त होने वाली चारुदत्त की संभोग प्रार्थना स्वीकार नहीं करती तथापि उसके घर आने-जाने की लसी लगाये रखने के लिये उसके घर अपने आभूषण छोड़ जाती है। चारुदत्त को प्रेम-पाश में फँसाने की दिशा में वसन्तसेना का यह प्रथम प्रयास है। द्वितीय अङ्क में मदनिका के साथ वसन्तसेना के वार्तालाप (पृ० १०१) से भी इसी बात की पुष्टि होती है। अतः प्रथम अङ्क के अन्त में वसन्तसेना की 'भवतु एवं तावत् भणिष्यामि' (पृ० ८८) इत्यादि उक्ति से अङ्क के अन्त तक अलंकारन्यास की घटना को इस नाटक की यत्नावस्था का आरम्भ कहना चाहिये। यह अवस्था पंचम अङ्क के अन्त तक चली जाती है। द्वितीय अङ्क में कथा एक पग भी आगे नहीं बढ़ती। तृतीय अङ्क में चारुदत्त के घर से अलंकार चोरी चले जाते हैं। चतुर्थ अङ्क में वे वसन्तसेना के हाथ आ पड़ते हैं। इसी अङ्क में चारुदत्त के द्वारा अलंकारों के बदले भेजी हुई रत्नावली भी उसे मिलती है। पञ्चम अङ्क में वसन्तसेना अलंकार और रत्नावली लेकर चारुदत्त के घर जाती है। वहाँ उसकी चेटी यह कह कर अलंकार देती है कि मेरी स्वामिनी आपकी भेजी हुई रत्नावली जूए में हार गई हैं। उसके बदले यह अलंकार लीजिए। चारुदत्त को फँसाने के लिए वसन्तसेना का यह दूसरा प्रयत्न

कहा जा सकता है। अतः प्रथम अङ्क की अलंकारन्यास की घटना से लेकर पञ्चम अङ्क के अन्त तक मुख्य कथा का कार्य यत्न की अवस्था में मानना चाहिये।

षष्ठ अङ्क के आरम्भ से लेकर दशम अङ्क के उस भाग तक जहाँ चारुदत्त को मारते समय चाण्डाल के हाथ से खड्ग छटक जाता है और वसन्तसेना आकर कहती है—'आर्योः ! एषा अहं मन्दभागिनी यस्याः कारणादेष व्यापाद्यते'- इस कथा की प्राप्त्याशा है। कथा के इस भाग में फल-प्राप्ति आशा और निराशा की अवस्था में रहती है। षष्ठ अङ्क के आरम्भ में वसन्तसेना को चेटी से यह जान कर कि चारुदत्त पुष्पकरण्डक उद्यान गया है और उसे भी वहाँ भेजने को कह गया है, चारुदत्त के मिलने की आशा हो जाती है। परन्तु प्रवहण परिवर्तन होकर जब वह शकार के पास पहुँचती है तो उसकी आशा निराशा में बदल जाती है। इसी प्रकार चारुदत्त को भी उद्यान में यह आशा रहती है कि वसन्त-सेना गाड़ी में बैठकर उससे मिलने आवेगी। परन्तु जब गाड़ी में आर्यक गोपाल-दारक आता है और चारुदत्त को न्यायालय में फाँसी की सजा हो जाती है तो उसकी आशा निराशा में परिणत हो जाती है। अन्त में चाण्डाल के हाथ से खड्ग छटक जाता है और वसन्तसेना भिक्षु के साथ वहाँ आ धमकती है तो पुनः दोनों को आशा हो जाती है।

दशम अङ्क में चाण्डाल की—'त्वरितं का पुनरेषा अंसपतता चिकुर-भारेण' इत्यादि उक्ति से शकार की—'आश्चर्य ! प्रत्युज्जीवितोऽस्मि' उक्ति तक का कार्य नियताप्ति की अवस्था में रहता है। वसन्तसेना के आ पहुँचने पर चारु-दत्त की प्राणरक्षा और नायकनायिका का मिलन निश्चितप्राय हो जाता है। आगे शर्विलक के मुख से आर्यक के द्वारा चारुदत्त को फाँसी की सजा देने वाले दुष्ट राजा पालक के मारे जाने का समाचार सुनकर नायक-नायिका के मन में कार्य-सिद्धि की आशा और दृढ़ हो जाती है। वसन्तसेना के जीवित आ जाने तथा राजा पालक के मारे जाने से शकार भी शक्तिहीन होकर चारुदत्त की शरण आता है। इस प्रकार एक-एक कर सभी कंटक निकल जाने से कथा के उपर्युक्त अंश में मुख्य कार्य अधिकाधिक नियताप्ति की अवस्था में बढ़ता जाता है।

दशम अङ्क के अन्त में चारुदत्त समय पर पहुँच कर धूता को अग्नि में कूदने से बचा लेता है। इसी समय शर्विलक नये राजा आर्यक द्वारा वसन्तसेना को चारुदत्त की वधू स्वीकार किये जाने की घोषणा करता है। यह कथा का फलागम है।

कथावस्तु की पाँच सन्धियाँ

भारतीय सिद्धान्तों के अनुसार नाटकों की कथावस्तु में पाँच सन्धियाँ होती है। उनके नाम हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। ये कथावस्तु के स्थूल खण्ड कहे जा सकते हैं। बीज और आरम्भ को मिला कर मुखसन्धि होती है। बिन्दु और यत्न को मिला कर प्रतिमुख सन्धि होती है। गर्भसन्धि में पताका और प्राप्त्याशा होती है। इस सन्धि में पताका का होना अनिवार्य नहीं है। विमर्शसन्धि में प्रकरी और नियताप्ति होती है। इस सन्धि में भी प्रकरी का होना अनिवार्य नहीं है। निर्वहणसन्धि में कार्य और फलागम होते हैं।

'मृच्छकटिक' में प्रथम अङ्क से लेकर वसन्तसेना की 'चतुरो मधुरश्चायमुपन्यासः'—इत्यादि स्वगतम् की उक्ति तक मुखसन्धि है। उसी अङ्क में वसन्तसेना की—'आर्य ! यद्येवमहमार्यस्य अनुग्राह्या'—इत्यादि 'प्रकाश' की उक्ति से पंचम अङ्क के अन्त तक प्रतिमुखसन्धि है। षष्ठ अङ्क में चाण्डाल के हाथ से खड्ग छटक जाने पर वसन्तसेना की—'आर्याः ! एषा अहं मन्दभागिनी यस्याः कारणादेष व्यापाद्यते'—उक्ति तक गर्भसन्धि है। दशम अंक में ही चाण्डाल की—'त्वरितं का पुनरेषा'—इत्यादि उक्ति से शकार की 'आश्चर्य ! प्रत्युज्जीवितोऽस्मि'—उक्ति तक विमर्शसन्धि है। इसी अंक में 'नेपथ्ये कलकलः'—इत्यादि से अंक के अन्त तक निर्वहणसन्धि है।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार नाटक की कथावस्तु के पाँच भाग होते हैं। उनके नाम हैं—आरम्भ, आरोह, केन्द्र, अवरोह और परिणाम। आरम्भ उस भाग को कहते हैं जहाँ द्वन्द्व की उत्पत्ति होती है। आरोह कथा के उस भाग को कहते हैं जिसमें उलझन बढ़ती ही चली जाती है। केन्द्र उस बिन्दु को कहते हैं जहाँ उलझनें अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती हैं। इसके आगे कथा का उतार आरम्भ हो जाता है। अवरोह कथा के उस भाग को कहते हैं जिसमें उलझनें एक-एक कर सुलझने लगती हैं और कथा तेजी से परिणाम की तरफ अग्रसर होती है। फलोदय को परिणाम कहते हैं। यह फल इष्ट या अनिष्ट दो प्रकार का हो सकता है। क्योंकि पाश्चात्य देशों में कथावस्तु सुखान्त या दुःखान्त दो प्रकार की होती है। भारत में कथावस्तु केवल सुखान्त होती है। अतः यहाँ सदा इष्ट-प्राप्ति ही परिणाम होता है।

मृच्छकटिक के प्रथम अंक के आरम्भ से लेकर चारुदत्त की–'भवतु, तिष्ठतु, प्रणयः' उक्ति तक कथा का आरम्भ है वसन्तसेना की—'(स्वगतम्) चतुरो मधुरश्चायमुपन्यासः' इत्यादि उक्ति से दशम अंक में चाण्डाल की— 'आर्य–चारुदत्त ! स्वामिनियोगोऽपराध्यति, तत् स्मर यत् स्मर्त्तव्यम्' उक्ति के बाद चारुदत्त की—'किं बहुना' इत्यादि उक्ति तक कथा का आरोह है। दशम अंक में ही चाण्डाल की–'(खड्गमाकृष्य) आर्य-चारुदत्त ! उत्तानो भूत्वा समं तिष्ठ' इत्यादि उक्ति से—'प्रथमः—भवतु, एवं कुर्वः । (इत्युभौ चारुदत्तं शूले समारोपयितुमिच्छतः)। चारुदत्तः—('प्रभवति'–इत्यादि पुनः पठति) तक कथा का केन्द्र है। उसी अंक में भिक्षु और वसन्तसेना की—'आर्याः ! मा तावत् मा तावत्' उक्ति से शकार की—'आश्चर्य ! प्रत्युज्जीवितोऽस्मि' उक्ति तक कथा का अवरोह है। इसके आगे—(नेपथ्ये कलकलः)—से दशम अंक के अन्त तक कथा का परिणाम है।

कथा का स्थान

'मृच्छकटिक' की कथा का स्थान उज्जयिनी नगरी है। प्रथम अङ्क की कथा राजमार्ग और चारुदत्त के घर पर होती है। द्वितीय अङ्क की कथा का स्थान राजमार्ग और वसन्तसेना का घर है। तृतीय अङ्क की कथा चारुदत्त के घर पर होती है। चतुर्थ अङ्क की कथा का स्थान पुनः वसन्तसेना का घर है। पञ्चम और षष्ठ अङ्कों की कथा राजमार्ग और चारुदत्त के घर पर होती है। सप्तम और अष्टम अङ्कों की कथा का स्थान पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान है। नवम अङ्क की कथा न्यायालय में होती है। दशम अङ्क की कथा का स्थान राजमार्ग और वधस्थान है। उसी अंक के अन्त में धूता के अग्नि-प्रवेश के दृश्य का स्थान राज-प्रासाद के दक्षिण का मैदान है।

कथा का काल

प्रथम अंक में शकार कहता है—'भाव ! भाव ! एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानात् प्रभृति'—इत्यादि (पृ० ५२)। यह कामदेव का उत्सव प्रथम अंक की कथा के पूर्व हुआ था। प्रथम अङ्क में इसका उल्लेख मात्र है। यह उत्सव अवश्य ही वसन्त ऋतु में हुआ होगा। यहाँ प्रयुक्त 'प्रभृति' शब्द सूचित करता है कि कामदेव के उत्सव और प्रथम अङ्क की कथा में कुछ ही दिनों का अन्तर है। ... ऐसा नहीं प्रतीत होता कि दोनों घटनाओं में

बहुत लम्बा अन्तर हो । अतः यह कहा जा सकता है 'मृच्छकटिक' की कथा का आरम्भ वसन्त के अन्त और ग्रीष्म के आरम्भ में, सम्भवतः वैशाख मास में होता है । पूरे नाटक का घटनाचक्र घटने के लिये, जैसा कि हम आगे देखेंगे, तीन सप्ताह से अधिक समय नहीं लगता । अतः यह कहा जा सकता है कि 'मृच्छकटिक' के सारे घटनाचक्र का काल वैशाख मास है ।

'मृच्छकटिक' का आरम्भ 'अभिरूपपति' नाम के उपवास से होता है । प्रस्तावना में सूत्रधार के यह पूछने पर कि तुमने किस नाम का उपवास लिया है, नटी कहती है—'अभिरूपपतिर्नाम' (पृ० १६) । आगे चलकर तृतीय अङ्क में धूता कहती है—'अहं खलु रत्नषष्ठीमुपोषिता आसम्'—इत्यादि (पृ० १८४) । इन दोनों उपवासों का धर्मशास्त्र के प्रचलित ग्रन्थों में कहीं उल्लेख नहीं मिलता । सम्भव है ये कवि की कल्पना के फल हों । जो हो, इन उपवासों से 'मृच्छकटिक' की कथा का काल निश्चित करने में कोई सहायता नहीं मिलती ।

इस नाटक के प्रथम अंक के अन्त में चारुदत्त चन्द्रोदय का वर्णन करता है । वह कहता है—'मैत्रेय ! भवतु । कृतं प्रदीपिकाभिः । पश्य—उदयति हि शशाङ्कः कामिनीगण्डपाण्डुः'—इत्यादि (पृ. ९१) । इससे यह स्पस्ट है कि नाटक का आरम्भ कृष्णपक्ष में होता है । कृष्णपक्ष में ही चन्द्र के उदय का महत्व होता है ।

इस नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है—'अनेन चिरसङ्गीतोपासनेन'— इत्यादि (पृ. १०) । इस उक्ति में 'चिर' शब्द दिन के किस भाग का सूचक है, यह स्पष्ट नहीं है । हाँ, सारी उक्ति पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि सूत्रधार को बहुत तेज भूख लगी है । वह गाने के रङ्ग में कलेवा करना भो भूल गया था । कलेवे के समय से बहुत देर बाद उसे होश आता है । यदि प्रातः आठ बजे कलेवे का समय माना जाय तो कहा जा सकता है कि 'चिरसङ्गीतोपासनेन' में 'चिर' शब्द पूर्वाह्न में करीब दस, ग्यारह बजे के समय का सूचक है । आगे सूत्रधार घर जाकर देखता है तो उसे भोजन की तैयारी दिखाई देती है । उसकी पत्नी उसे एक ब्राह्मण बुला लाने को कहती है । वह ब्राह्मण की तलाश में बाहर निकलता है तो उसे सामने से आता हुआ चारुदत्त का मित्र मैत्रेय (विदूषक) दिखाई देता है । इस समय तक [illegible] मध्याह्न [illegible] बारह बजे का समय मानना पड़ेगा ।

विदूषक सूत्रधार का निमन्त्रण अस्वीकार करके चारुदत्त के घर जाता है। 'चारुदत्त उसे मातृ-देवियों को बलि अर्पण करने के लिये चौराहे पर जाने को कहता है। उस समय विदूषक कहता है—'एतस्यां प्रदोषवेलायां'—इत्यादि (पृ. ३४)। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब विदूषक सूत्रधार के घर के पास रहता है उस समय मध्याह्न बारह बजे का समय रहता है। वहाँ से वह सीधे चारुदत्त के घर आता है। यहाँ उसे प्रदोष समय हो जाता है। यह बात कैसी ? वैशाख मास में करीब साढ़े छ बजे प्रदोष काल होता है। सूत्रधार के घर से चारुदत्त के घर तक आने में तथा चारुदत्त से कुछ बातचीत करने में विदूषक को अधिक से अधिक एक या डेढ़ घण्टा लग सकता है। फिर बाकी चार घण्टे का समय कहाँ गया ? यह काल की असङ्गति प्रतीत होती है। इस असङ्गति को दूर करने के लिये यह कल्पना करनी पड़ती है कि सम्भवतः कवि ने 'अभिरूपपति' नाम के उपवास के दिन नक्त भोजन की कल्पना मन में रखी हो। ऐसी कल्पना करने से 'चिरसङ्गीतोपासनेन,में 'चिर' शब्द अपराह्ण चार, पाँच बजे का सूचक होगा। जिस समय सूत्रधार ब्राह्मण खोजने निकलता है उस समय करीब छः बजे का समय होगा। अब जिस समय विदूषक चारुदत्त से बातें करता है उस समय प्रदोष काल हो सकता है। आगे चारुदत्त विदूषक को ठहरने के लिये कह कर समाधि से निवृत्त होने चला जाता है। यहाँ से लेकर जब चारुदत्त वसन्तसेना को उसके घर पहुँचाने जाता है, उस समय तक के घटनाचक्र को होने के लिये करीब तीन, चार [illegible] समय चाहिये। इस समय तक रात्रि के दस, ग्यारह का समय हो जाता है। इसी समय चारुदत्त चन्द्रोदय का वर्णन करता है। रात्रि में दस या ग्यारह बजे चन्द्रोदय वैशाख मास में कृष्णपक्ष की पञ्चमी या षष्ठी को होता है। वसन्तसेना को पहुँचा कर वापस आने में चारुदत्त को करीब एक घण्टा लग सकता है। इस समय मध्य रात्रि हो जाती है।

इस विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रस्तावना और प्रथम अंक का घटनाचक्र कृष्णपक्ष की पञ्चमी या षष्ठी तिथि को अपराह्ण चार, पाँच बजे से लेकर रात्रि के बारह बजे तक घटता है।

द्वितीय अंक की कथा किस दिन होती है इसका स्पष्ट पता नहीं चलता। सम्भव है द्वितीय अंक का घटनाचक्र प्रथम अंक के दूसरे ही दिन का हो। आरम्भ

के दृश्य में वसन्तसेना और मदनिका में वार्तालाप होता है। इससे पता चलता

कि वसन्तसेना का मन चारुदत्त पर स्थिर हो गया है। वह उसे प्राप्त करने के लिये आतुर है। यह अवस्था प्रथम अंक में चारुदत्त के साथ मिलन का परिणाम है। उसका मन पूर्व रात्रि की घटना के प्रभाव में दिखाई देता है। जो हो, यह अंक प्रातःकाल आठ बजे के करीब प्रारम्भ होता है। प्रथमा चेटी वसन्तसेना से कहती है।—'आर्ये! माता आदिशति-स्नातो भूत्वा देवतानां पूजां निर्वर्तयेति' (पृ. ९५)। इस पूरे अंक के घटनाचक्र को होने के लिये करीब चार घण्टे का समय चाहिये। अतः यह कहा जा सकता है कि द्वितीय अंक प्रातः करीब आठ बजे प्रारम्भ होकर मध्याह्न में करीब बारह बजे समाप्त होता है।

तृतीय अंक और प्रथम अंक की कथा में प्रायः एक पक्ष का अन्तर दिखाई देता है। प्रथम अंक में चन्द्रोदय का वर्णन है (पृ. ९१) तो तृतीय अंक में चन्द्रास्त का। शर्विलक कहता है—'अये! कथमस्तमुपगच्छति स भगवान् मृगाङ्कः'— इत्यादि (पृ. १५६)। प्रथम अंक की कथा कृष्णपक्ष की है तो तृतीय अंक की कथा शुक्लपक्ष की। इस अंक की कथा मध्यरात्रि में आरम्भ होती है। अंक के आरम्भ में चेट कहता है—'कापि वेला आर्यचारुदत्तस्य गान्धर्वं श्रोतुं गतस्य। अतिक्रामति अर्धरजनी' इत्यादि (पृ. १४७)। इसी समय चारुदत्त आता है। चारुदत्त विदूषक आदि के सो जाने पर शर्विलक प्रवेश करता है। इस समय वह चन्द्रास्त का वर्णन करता है। यह समय रात के एक बजे का कहा जा सकता है। करीब रात के एक बजे चन्द्रास्त शुक्लपक्ष की अष्टमी को होता है। अतः इस घटना की तिथि शुक्ल पक्ष की अष्टमी है। इस अंक की कथा प्रातःकाल तक चलती है। अंक के अन्त में चारुदत्त वर्धमानक से कहता है कि सन्धि को शीघ्र ईंटों से बन्द कर दो। मैं चाहता हूँ कि दिन में इसे कोई देखे न (पृ. १८८)। यह बात प्रभात में कही जा सकती है।

चतुर्थ अंक की कथा तृतीय अंक की कथा के दूसरे दिन (शुक्ल पक्ष की नवमी को) होती है। शर्विलक रात को चारुदत्त के घर चोरी करके भोर में ही मदनिका को गुलामी से मुक्ति दिलाने के लिये सीधे वसन्तसेना के घर जाता है। यह कथा अपराह्ण में करीब चार बजे समाप्त होती है। अंक के अन्त में वसन्तसेना विदूषक से कहती है —'आर्य! विज्ञापय तं द्यूतकरं मम वचनेन आर्यचारुदत्तम्—अहमपि प्रदोषे आर्यंप्रेक्षितुमागच्छामीति'—(पृ. २५३) इससे स्पष्ट है कि प्रदोष से कुछ पहिले यह अंक समाप्त होता है।

पञ्चम अंक की कथा भी चतुर्थ अंक की कथा के दिन ही (शुक्ल पक्ष की नवमी को) अपराह्ण में चार, पाँच बजे आरम्भ होती है और प्रदोष समय के उपरान्त समाप्त हो जाती है। इसी दिन वसन्तसेना चारुदत्त के घर पहिली वार रात को निवास करती है।

षष्ठ, सप्तम और अष्टम अंकों का घटनाचक्र पञ्चम अंक की कथा के दूसरे दिन (शुक्ल पक्ष की दशमी को) घटता है। षष्ठ अंक भोर में आरम्भ होता है। अंक के आरम्भ में चेटी वसन्तसेना को निद्रा से जगाती है। वह कहती है—'उत्तिष्ठतु, उत्तिष्ठतु आर्या ! प्रभातं संवृत्तम्'। सम्भवतः यह अंक दिन में दस बजे समाप्त होता है। इस अक में जितना घटनाचक्र घटता है उसके लिये करीब चार घण्टे का समय चाहिये। सप्तम अंक सम्भवतः दिन में दस बजे प्रारम्भ होकर ग्यारह बजे तक समाप्त हो जाता है। षष्ठ अंक की प्रवहण की तलाशी की घटना के बाद वीरक चारुदत्त की गाड़ी में जीर्णोद्यान पहुँचता है। इस अंक में वीरक की मुक्ति की एक मात्र घटना है। इसके लिये एक घण्टे का समय बहुत है। अष्टम अंक प्रायः ग्यारह बजे प्रारम्भ होता है। भिक्षु के दृश्य के बाद एक स्थान पर शकार कहता है—'मध्याह्ने न शक्यते पादाभ्यां गन्तुम्'—(पृ. २८६) इससे यह स्पष्ट है कि यह अंक मध्याह्न के कुछ पहिले प्रारम्भ होता है। यह अंक करीव चार बजे समाप्त होता है।

सम्भवतः पुष्पकरण्डक उद्यान बहुत बड़ा उद्यान है। उसके एक कोने में चारुदत्त वसन्तसेना की प्रतीक्षा करता है और दूसरे में शकार अपने चेट की। यहाँ एक बात अवश्य विचारणीय है। वसन्तसेना चारुदत्त के घर से शकार की गाड़ी में बैठ कर जीर्णोद्यान के लिये पहिले रवाना होती है। बाद उसी स्थान से चारुदत्त की गाड़ी में जीर्णोद्यान के लिये ही आर्यक रवाना होता है। मार्ग में उसकी गाड़ी तलाशी के लिये रोक भी ली जाती है। वसन्तसेना तो शकार की गाड़ी में थी। वह तो तलाशी के लिये रोकी न गई होगी। क्योंकि उसे तो सब राजकर्मचारी पहिचानते होंगे। तथापि आर्यक पहिले (सप्तम अंक में) पहुँच जाता है और वसन्तसेना बाद (अष्टम अंक में)। ऐसा क्यों ? यह एक असंगति है। इसे दूर करने के लिये ऐसी कल्पना करनी चाहिये कि उद्यान का वह भाग जहाँ चारुदत्त वसन्तसेना की प्रतीक्षा करता है उसके घर के पास है। और वह भाग जहाँ

शकार चेट की प्रतीक्षा करता है, वहाँ से बहुत दूर है । इसके अतरिक्त मार्ग में चाहे शकार की गाड़ी की तलाशी न भई हो तथापि आगे चलने वाली बहुत सी गाड़ियों की तलाशी के कारण उसे देर हो सकती है ।

नवम और दशम अंक की कथा एक ही दिन होती है । इन अकों का घटना-चक्र षष्ठ अंक से अष्टम अंक तक की कथा के दूसरे दिन (शुक्लपक्ष की एकादशी को) घटता है । न्यायालय के दृश्य में वीरक कहता है—'पादप्रहारपरिभवविमाननाबद्धगुरुकवैरस्य । अनुशोचत इयं कथमपि रात्रिः प्रभाता मे'- (पृ. ४९१) । नवम अंक में ही चारुदत्त को मृत्यु-दण्ड सुनाया जाता है और उसे चाण्डालों को सौंप दिया जाता है । दशम अंक में चाण्डाल चारुदत्त को लेकर वधस्थान की तरफ जाते हुए दिखाई देते हैं । अत: दोनों अंकों की कथा लगातार एक ही दिन होती है । नवम अंक संभवत: प्रातः सात, आठ बजे आरम्भ होकर करीब मध्याह्न बारह बजे तक समाप्त होता है । दशम अंक दिन में करीब बारह बजे आरंभ होकर अपराह्ण में चार, पाँच बजे तक समाप्त होता है ।

यहाँ एक बात और विचारणीय है नवम अंक में वीरक की—'पादप्रहार-परिभव'– (पृ. ४९१) उक्ति से तो यह प्रतीत होता है कि न्यायालय की घटना षष्ठ अंक से अष्टम अंक की कथा के दूसरे दिन घटती है । परन्तु बौद्ध भिक्षु की उक्तिसे इसका स्पष्ट समर्थन नहीं होता । अष्टम अंक के अन्त में भिक्षु वसन्तसेना को बिहार ले जाता है । वह कहता है, 'विहार में मेरी बहिन है । वहाँ चलकर आराम करो । स्वस्थ होकर घर जाना, (पृ. ४४९) । आगे दशम अंक में जब चाण्डाल चारुदत्त को वधस्थान ले जाते हैं । उस समय मार्ग में भिक्षु और वसन्त-सेना सहसा प्रवेश करते हैं । यहाँ भिक्षु कहता है—अस्थानपरिश्रान्तां समाश्वास्य वसन्तसेनां नयन्ननुगृहीतोऽस्मि प्रव्रज्यया—' इत्यादि (पृ. ५६३) भिक्षु की इस उक्ति से यह नहीं प्रतीत होता की वसन्तसेना ने विहार में रात भर विश्राम किया हो । यहाँ 'अस्थानपरिश्रान्तां' के स्थान पर 'ह्यः अस्थान-परिश्रान्तां' होता तो सब स्पष्ट हो जाता ।

मुख्य पात्रों का चरित्र

चारुदत्त

चारुदत्त जन्मना द्विज है। प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है—'अवन्तिपुर्यां द्विजसार्थवाहः' इत्यादि (पृ. ७)। 'द्विज' शब्द का अर्थ टीकाकारों ने 'ब्राह्मण' किया है। दशम अंक में स्वयं चारुदत्त भी अपने को ब्राह्मण कहता है। अपने पुत्र को दाय के रूप में अपना यज्ञोपवीत देते समय वह कहता है—'अमौक्तिकमसौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम्' इत्यादि (पृ. ५३५)। वह कर्मणा ब्राह्मण नहीं है। वह कर्मणा वैश्य है। वह सार्थवाह (व्यापारियों के काफिले का नेता) है। इसी कारण से द्वितीय अंक में जब चेटी वसन्तसेना से पूछती है कि 'क्या तुम किसी ब्राह्मण युवक से प्रेम करती हो, तो वह उत्तर देती हैं—पूजनीयो मे ब्राह्मणजनः' अर्थात् नहीं (पृ. ९७)। फिर भी वह ब्राह्मण युवक चारुदत्त से प्रेम करती है इसका तात्पर्य यह है कि वह किसी ऐसे, ब्राह्मण से प्रेम नहीं करती जो जन्मना और कर्मणा दोनों प्रकार से ब्राह्मण है। वह ऐसे पुरुष से प्रेम करती है जो जन्मना ब्राह्मण है परन्तु कर्मणा वैश्य। वह एक सुन्दर युवक है। द्वितीय अंक में वसन्तसेना को चारुदत्त का परिचय देते हुए संवाहक कहता है—'यस्तादृशः प्रियदर्शनः' इत्यादि (पृ. १२८)। सप्तम अंक में आर्यक भी उसके बाह्य व्यक्तित्व की सराहना करता है। वह कहता है—'न केवलं श्रुतिरमणः दृष्टिरमणीयोऽपि (पृ. ३६४)। उसकी उज्जयिनी में बड़ी प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा है। वसन्तसेना से बातें करते समय संवाहक कहता है—'आर्ये ! क इदानीं तस्य भूतलमृगाङ्कस्य नाम न जानाति' इत्यादि (पृ. १२९)। सप्तम अंक में चन्दनक भी कहता है—'अरे ! आर्यं चारुदत्तं न जानासि ?' इत्यादि (पृ. ३४०)। न्यायालय में न्यायाधीश उसे आसन देते हैं। वह तारीफ करता है। वह कला-प्रेमी है। उसका कला-प्रेम यहाँ तक बढ़ा है कि वह अपने घर लगी नकब की भी सराहना करता है (पृ. १६५) वह शरणागत की रक्षा करने वाला है (पृ. ३६६)।

चारुदत्त पहले धनिक था। अब वह अपनी अत्यधिक उदारता के कारण गरीब हो गया है। इतना गरीब हो गया है कि वह अपने घर की आवश्यक सफाई भी नहीं करवा सकता। उसकी देहली पर लम्बी लम्बी घास उग आई है

(पृ. २४) । उसे अपनी दरिद्रता पर दुःख होता है । इसलिये दुःख होता है कि वह अतिथियों का सत्कार नहीं कर सकता, दूसरों की सेवा नहीं कर सकता (पृ. २८) । उसके मित्र और परिजन उसे छोड़कर अलग हो गए हैं (पृ. २९–३०) वह दारिद्रय से इतना ऊब गया है कि धनहीन जीवन की अपेक्षा मरना पसंद करता है । (पृ. २७) । गरीब होने पर भी उसे अपनी कीर्ति की बड़ी चिन्ता है (पृ. १८०) । वह सत्यनिष्ठ है । वह दूसरों को धोखा देने की बात कभी नहीं सोचता (पृ. १८१) । हाँ, कभी कभी अपनी कीर्ति की रक्षा करने, दूसरों की भलाई करने तथा अपने को दूसरों की दया का पात्र बनने से बचाने के लिये झूठ बोलता है । वह विदूषक के द्वारा वसन्तसेना को कहलाता है कि मैं तुम्हारे आभूषण अपने समझ कर जूए में हार गया हूँ । उनके बदले यह रत्नावली लो । यह झूठ है । परन्तु यह दूसरों की हानि करने वाला झूठ नहीं है । यह अपनी कीर्ति की रक्षा करने, वसन्तसेना को व्यर्थ की नुकसानो से बचाने तथा अपने को वसन्तसेना की दया का पात्र बनने से बचाने के लिये बोला गया झूठ है । वह यह समझता है कि यदि वह चोरी की बात कह देगा तो वसन्तसेना दण्ड के रूप में रत्नावली न लेगी । इसके अतिरिक्त दुनिया उसका विश्वास न करेगी । लोग कहेंगे दरिद्र चारुदत्त ने आभूषण हड़प कर लिया है और चोरी का बहाना करके बदनामी से बचना चाहता है ।

चारुदत्त स्वभाव से उदार और गंभीर है । जब भी कोई उसे अच्छा समाचार देता है या अच्छी सेवा करता है तो वह उसे पारितोषिक देना चाहता है । द्वितीय अंक में संवाहक उसके उदारता आदि गुणों की भूरि भूरि प्रशंसा करता है (पृ. १२८) । यह समझ कर कि चोर उसके घर से निराश गया उसे बड़ा दुखः होता है । परन्तु जब उसे यह मालूम होता है कि चोर सुवर्ण-भांड ले गया तो उसे बड़ी प्रसन्नता होती है (पृ. १७६–१७९) । पञ्चम अंक में विदूषक चारुदत्त को कहता है कि रत्नावली पाकर वसन्तसेना सन्तुष्ट नहीं है वह और कुछ माँगने के लिये आज सांयकाल आयेगी । इस पर चारुदत्त कहता है— 'आगच्छतु, परितुष्टा यास्यति' (पृ. २६६) । जब दुर्दिन में वसन्तसेना उसके घर पहुँचती है तो वह उससे यह नहीं पूछता कि तुम क्यों आई हो और तुम्हें यह सुवर्णभाण्ड कहाँ मिला । वह समझता है कि इन प्रश्नों से कृपणता व्यक्त होगी । वह उसके आगमन पर प्रसन्नता व्यक्त करता है और उसका स्वागत करता है । चारुदत्त

गरीबी में भी मित्रों को देखकर प्रसन्न होता है और उनका स्वागत करता है। वह मित्रों के असत्य भाषण या गलतियों पर खिझलाता नहीं। विदूषक चोरी का उत्तरदायित्व उसी के सिर पर मढ़ता है (पृ. १७८)। नवम अंक में विदूषक की ही गलती से आभूषण प्रकाश में आते हैं और चारुदत्त पर अभियोग सिद्ध हो जाता है (पृ. ५०५)। परन्तु चारुदत्त उस पर नाराज नहीं होता। दशम अंक में जब शकार उसकी शरण जाता है तो वह उसके अपराध क्षमा कर देता है। उसमें बदला लेने की प्रकृति नहीं है। यह भी उसकी उदारता का परिणाम है। चारुदत्त निर्भीक भी है। वह शकार की धमकी से डरता नहीं। जब विदूषक उसे बतलाता है कि शकार मरणान्तिक बैर की धमकी दे गया है तो वह अवज्ञा से कहता है—'अज्ञोऽसौ' (पृ. ८६)। सप्तम अंक में वह अपनी गाड़ी में वसन्तसेना के स्थान पर अचानक विशाल-काय आर्यक को देख कर डरता नहीं (पृ. ३६४)।

चारुदत्त धार्मिक प्रवृत्ति का मनुष्य हैं। वह नित्य देवपूजन करता है और समाधि लगाता है। जब विदूषक देवपूजा में अश्रद्धा व्यक्त करता है तो वह कहता है–'वयस्य ! मा मैवम्। गृहस्थस्य नित्योऽयं विधिः'–इत्यादि (पृ. ३३)। वह दैववादी है। प्रथम अंक में विदूषक से बातें करते समय वह कहता है कि धन भाग्यानुसार आता और जाता रहता है (पृ. २९)। सप्तम अंक में आर्यक कृतज्ञता प्रकट करते हुए चारुदत्त से कहता है कि 'तुमने मेरी रक्षा की है' तो चारुदत्त कहता है—'स्वैर्भाग्यैः परिरक्षितोऽसि'—(पृ. ३६९)। वह अविकत्थन भी है। किसी पर उपकार करके उस बात को अपने मुख से दुहराता नहीं। दशम अंक में शर्विलक आर्यक का परिचय देते हुए चारुदत्त से कहता है–'त्वद्यानं यः समारुह्य'—इत्यादि (पृ. ५८२)। इस पर चारुदत्त झट बात का प्रवाह बदल कर आर्यक की मुक्ति का श्रेय शर्विलक को देता है, स्वयं नहीं लेता।

चारुदत कुछ विलासी स्वभाव का है। उसकी एक विवाहिता पत्नी होने पर भी वह रूपयौवनवती वसन्तसेना को चाहता है। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि वह वसन्तसेना पर मुग्ध होने पर भी अपने गार्हस्थ्य धर्म को नहीं भूलता। वह अपनी भार्या और पुत्र को भी प्रेम करता है। उसको धूता जैसी

भार्या का गर्व है। विदूषक के द्वारा भेजी हुई धूता की रत्नावली पाकर वह कहता है।—'नाहं दरिद्रः। यस्य मम—विभवानुगता भार्या'—इत्यादि (पृ. १८६)। दशम अंक में जब चाण्डाल प्राणदण्ड देने ले जाते हैं तो वह उनसे पुत्रदर्शन की अन्तिम अभिलाषा व्यक्त करता है। रोहसेन के आने पर वह उसे दाय के रूप में अपना यज्ञोपवीत देता है (पृ. ५३५)। इससे मालूम पड़ जाता है कि उसका अपने पुत्र के प्रति कितना प्रेम है। विलासी होने पर भी चारुदत्त नैतिक नियमों का सदा ध्यान रखता है। जब उसे यह मालूम होता है कि जिस स्त्री को वह रदनिका समझ रहा था वस्तुतः वह रदनिका नहीं है तो वह चकपका जाता है। वह कहता है—'इयं सा रदनिका। इयमपरा का ? अविज्ञाता-वसक्तेन………… । न युक्तं परकलत्रदर्शनम्।' (पृ. ८४)। यदि वह गिरा हुआ विलासी होता तो ये शब्द उसके मुख से न निकलते। वसन्तसेना गणिका होने के कारण साधारणी स्त्री है। वह किसी की विवाहिता भार्या नहीं। साधारणी स्त्री और कन्या से प्रेम करना निषिद्ध नहीं माना गया है। चारुदत्त यह जानता है कि वसन्तसेना भी उसेसे प्रेम करती है। विदूषक वसन्तसेना के सामने ही उससे कहता है—'एषा वसन्तसेना कामदेवायतनोद्यानात् प्रभृति भवन्त-मनुरक्ता' (पृ. ८४)। वसन्तसेना इस बात का प्रतिवाद नहीं करती। ऐसा होने पर भी धनाभाव के कारण उसे प्राप्त करने में वह बहुत उत्साह नहीं दिखाता वह कहता है—'यया मे जनितः कामः क्षीणे विभवविस्तरे' इत्यादि (पृ.८५). चारुदत्त एक चतुर नागरिक है। वह यह जानता है कि अपनी प्रियतमा का अनुनय कैसे करना चाहिए। यह पता चलने पर कि जिसे वह रदनिका समझ रहा था वस्तुतः वह वसन्तसेना है, वह उससे कहता है—'भवति ! वसन्तसेने ! अनेनाविज्ञानादपरिज्ञातपरिजनोपचारेण अपराद्धोऽस्मि । शिरसा भवतीमनुनयामि' (पृ. ८७)। उसकी प्रणय-प्रार्थना भी गूढव्यङ्ग्य के रूप में आती है। वह कहता है—'तिष्ठतु प्रणयः' (पृ. ८८)। बस वसन्तसेना उसका आशय समझ जाती है। प्रथम अंक के अन्त में वह स्वयं रात्रि के अन्धकार में वसन्तसेना को उसके घर पहुँचाने जाता है। पञ्चम अंक में जब वसन्त-सेना उसके घर आती है तो वह खड़ा होकर उसका स्वागत करता है। उसे वर्षा के जल से लथपथ देख बदलने के लिए दूसरे कपड़े देता है (पृ. २९८)। जब वसन्तसेना उसे आलिङ्गन करती है तो उसके आनन्द की सीमा नहीं रहती

है। वह मेघ के भयङ्कर गर्जन-तर्जन को भी उसका प्रसाद मानता है और अपने को धन्य समझता है (पृ. ३१०–३११)।

चारुदत्त का चरित्र प्रायः सभी मुख्य-मुख्य गुणों से भरा है। तथापि एक जगह उसका व्यवहार खटकता है। न्यायालय के दृश्य में जब न्यायाधीश उससे पूछते हैं कि 'क्या तुम्हारी वसन्तसेना से मित्रता है' तो वह टालमटोल का उत्तर देता है (पृ. ४८१)। यह वसन्तसेना के साथ अन्याय है।

वसन्तसेना

वसन्तसेना उज्जयिनी की एक गणिका है। वह बहुत धनी है। चतुर्थ अंक में वसन्तसेना का वैभव देखकर विदूषक उसकी चेटी से कहता है—'एवं वसन्तसेनाया बहुवृत्तान्तमष्टप्रकोष्ठं भवनं प्रेक्ष्य यत्सत्यं जानामि, एकस्थमिव त्रिविष्टपं दृष्टम्। प्रशंसितुं नास्ति मे वाग्विभवः। किं तावद्गणिकागृहम् अथवा कुबेरभवनपरिच्छेद इति'—(पृ. २४७)। उसे विश्वास है कि धन से टाले जाने वाली आपत्तियों को टालने के लिए जितनी भी धन आवश्यक हो उसे वह खर्च कर सकती है। जब द्वितीय अंक में संवाहक उसके घर शरण लेता है तब पहिले तो वह अपने महल का फाटक बन्द करवा देती है। परन्तु बाद में यह मालूम होने पर कि संवाहक धमिक के डर से शरण लेने आया है तो वह फाटक खुलवा देती है। (पृ. १२४)। वह तरुण वय की एक सुशिक्षित चतुर स्त्री है। वह यद्यपि प्राकृत भाषा में बोलती है तथापि वह संस्कृत भी जानती है। वह चतुर्थ अंक में विदूषक से संस्कृत में बोलती है। (पृ. २४९)। वह यह जानती है कि अपने प्रियतम के विनय भरे व्यवहार का कैसे उत्तर देना चाहिये। प्रथम अंक में जब चारुदत्त उससे उसके साथ भूल से परिजन का सा व्यवहार करने के अपराध की क्षमा चाहता है तो वह भी अपने अपराध की क्षमा याचना करती हुई कहती है—'एतेनानुचित-भूमिकारोहणेनापराद्धार्यं शीर्षेण प्रणम्य प्रसादयामि' (पृ. ८७)। वह चारुदत्त की गूढ़ व्यङ्ग्य भरी प्रणय-प्रार्थना का आशय झट समझ जाती है (पृ. ८८)। वह वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित रहती है। वह अपने बालों को फूलों से प्रसाधित रखती है। वह चित्र कला और कविता बनाना भी जानती है। चतुर्थ अंक में सम्भवतः वह अपना बनाया हुआ ही चारुदत्त का

चित्र मदनिका को दिखाती है (पृ. १९०)। पञ्चम अंक में वह स्वनिर्मित पद्यों से वर्षा का वर्णन करती है। संभवतः वसन्तसेना जाति की बंगालिन है। शकार उसे मछली खाने वाली (मत्स्याशिका) कहता है (पृ. ४०)। वेश्या होने पर भी वह धार्मिक है। वह रोज देवपूजन करती है (पृ. ९५)। उसकी तर्कशक्ति भी प्रबल है। द्वितीय अंक में कर्णपूरक को हँसता हुआ देखकर वह समझ जाती है कि कुछ नई बात है (पृ. १३८)। चतुर्थ अंक में शर्विलक को पश्चात्ताप करता देख वह समझ जाती है कि उसने सब बातें न जानने के कारण भूल से चारुदत्त के घर चोरी की (पृ. २१४)। उसी अंक में विदूषक भी उसकी तर्कशक्ति की सराहना करता है। वह कहता है—'सुष्ठूपलक्षितं दुष्टविलासिन्या' (पृ. १११)।

वसन्तसेना चारुदत्त पर आसक्त है। यह बात प्रथम अंक में शकार की उक्ति से ही स्पष्ट हो जाती है (पृ. ५२)। जब विदूषक वसन्तसेना की उपस्थिति में ही चारुदत्त को बतलाता है कि वसन्तसेना कामदेवायतनोद्यान के दिन से उसे प्रेम करती है तो वह प्रतिवाद नहीं करती (पृ. ८५)। संवाहक के चारुदत्त का नाम लेने पर वह उसका विशेष आदर करती है (पृ. १२९-१३०)। चतुर्थ अंक में वह विदूषक का खड़ी होकर स्वागत करती है (पृ. २४९)। ये दोनों बातें भी उसका चारुदत्त के प्रति अनुराग व्यक्त करती हैं। अनुरक्ता नितम्बिनी का वर्णन करते हुए दर्पणकार ने कहा है—'आह्लादयति वागाद्यैः प्रियस्य परिचारकान्। विश्वसित्यस्य मित्रेषु बहुमानं करोति च' (तृ. प.)। वह चारुदत्त के गुणों पर मुग्ध है। जातीकुसुम-वासित प्रावारक की सुगन्ध से झलकने वाला चारुदत्त का अनुदासीन यौवन उसकी आसक्ति को दृढ़ कर देता है। चारुदत्त के प्रति उसका प्रेम इतना बढ़ा हुआ है कि पञ्चम अंक में चारुदत्त के घर पहुँचने पर वह स्वयं उसे पहिले आलिंगन करती है (पृ. ३१०)। उसे धन का लोभ नहीं है। वह सुवर्णदशसाहस्रिक अलंकार के साथ आये हुए शकार के आमन्त्रण को अस्वीकार कर देती है। वह जानती है कि चारुदत्त दरिद्र है। फिर भी वह उससे प्रेम करती है। क्योंकि उसका अन्य वेश्याओं की तरह धन के लिये बनावटी प्रेम नहीं है। वह तो उसके गुण और यौवन पर मुग्ध है। वह जानती है कि दरिद्र को प्रेम करने से लोक में

उसकी बदनामी न होगी (पृ. ९९) । उसकी इच्छा चारुदत्त से केवल एक बार मिलने की नहीं है । द्वितीय अंक में मदनिका वसन्तसेना से पूछती है कि यदि तुम चारुदत्त को चाहती हो तो उसे अपने घर क्यों नहीं बुलवा लेती ? इस पर वह उत्तर देती है कि ऐसा करने से दरिद्रता के कारण अपने को प्रत्युपकार करने में असमर्थ पाकर कहीं वह फिर मिलना छोड़ न दे । इससे यह स्पष्ट है कि वह उससे स्थायी सम्बन्ध जोड़ना चाहती है । वेश्या होने के कारण समाज में वसन्तसेना का स्थान बहुत नीचा है । वह भी स्वयं इस बात को जानती है । इसीलिये चारुदत्त के कहने पर भी वह रोहसेन को लेकर महल के अन्दर नहीं जाती (पृ. ८३) । उसी अंक में आगे वह कहती है—'एतेनानुचितभूमिकारोहणेन'-इत्यादि । (पृ. ८७) । फिर भी एक ब्राह्मण से स्थायी संबंध जोड़ने की आकांक्षा रखती है । षष्ठ अंक में अपने को अभ्यन्तर चतुःशालक में पाकर वह प्रसन्न होती है । उसे यह आशा होती जाती है कि मेरा स्वप्न पूरा होगा (पृ. ३१५–३१६) ।

वसन्तसेना स्वभाव से उदार है । उसमें कृपणता का लेश भी नहीं है । संवाहक उससे सर्वथा अपरिचित है । तथापि वह शरण जाता है तो वह उसे तुरन्त अभय वचन दे देती है । वह यह जानने के लिए भी नहीं रुकती कि आखिर इस पर कौन सी आफत आई है । वह संवाहक का कर्ज चुकाने के लिए अपना सोने का कड़ा भेजती है । सो भी यह कहकर कि यह संवाहक ने ही भेजा है । वह अपने कार्य का इतना भी श्रेय नहीं चाहती कि लोग उसका नाम जानें । वह उपकार के बदले में कुछ भी नहीं चाहती । संवाहक कहता है कि मैं मालिश की कला जानता हूँ । इसे तुम अपने किसी नौकर को सिखवा लो । इस पर वसन्तसेना कहती है—नहीं, जिसकी सेवा करने के लिये तुमने यह कला सीखी है, इससे उसी की सेवा करो । जब उसे यह पता चलता है कि शर्विलक सचमुच मदनिका को प्रेम करता है तो वह उसे गुलामी से मुक्त करके शर्विलक को सौंप देती है । वह सुवर्णभाण्ड धरोहर रखकर पन्द्रहियों चारुदत्त के घर नहीं जाती । संभव है वह समझती है कि ऐसा करना कृपणता व्यक्त करेगा । जब भाण्ड के बदले चारुदत्त के घर से रत्नावली आ जाती है तब वह उससे मिलने जाती है । चारुदत्त का आदर करने के लिए उसकी भेजी रत्नावली वह रख लेती है । परन्तु यह बात उसे खटकती है ।

वह समझती है कि चारुदत्त उसे कृपण समझता होगा। इसीलिए पञ्चम अंक में जब वह उससे मिलती है तो रत्नावली भेजने के लिए उलाहना देती है (पृ. ३०६)। वह चारुदत्त के पुत्र की गाड़ी बनवाने के लिए अपने आभूषण देने में नहीं हिचकती। वह उसकी माता बनने के लिये सब कुछ करने को तैयार है। वह धूता के साथ बहिन का नाता जोड़ती है (पृ. ३१६)। यह भी उसकी उदारता का द्योतक है।

शर्विलक

शर्विलक जाति का ब्राह्मण है (पृ. १६९)। वह चतुर्वेदी, प्रतिग्रह न करने वाले किसी ब्राह्मण का पुत्र है। वह चोरी करने में निष्णात है। उसने योगाचार्य नाम के किसी आचार्य से चोरी की कला सीखी है। वह चोरी करने के लिए आवश्यक सभी उपकरणों से सुसज्जित होकर चोरी करने जाता है। संभवतः वह उज्जयिनी का रहने वाला नहीं है। वह कहीं बाहर से आकर उज्जयिनी में रेभिल के घर ठहरा है। वह जानता है कि चोरी करना बुरा है। परन्तु वह मदनिका के प्रेम में फँसा है। मदनिका वसन्तसेना की दासी है। उसे गुलामी से छुड़ाने के लिए धन की आवश्यकता है। शर्विलक स्वयं दरिद्र है। अतः वह धन के लिए चोरी करता है (पृ. १६९)। वह चोरी में भी कार्याकार्य का विचार करता है (पृ. २०२)। वह स्वतन्त्रता-प्रेमी है। वह कहता है—'**स्वाधीना वचनीयताऽपि हि वरं बद्धो न सेवाञ्जलिः**' (पृ. १५८)। वह प्रत्युत्पन्नमति है। मानसूत्र के अभाव में वह झटपट यज्ञोपवीत से ही मानसूत्र का काम लेने लगता है। वह शूर और साहसी है। वह स्त्रियों पर वार नहीं करता (पृ. १७४)। वह समझदार है। मदनिका के द्वारा समझाए जाने पर चोरी करके लाए आभूषणों को लौटा देने का औचित्य मान लेता है। वह गुणग्राहक है। वसन्तसेना के घर चारुदत्त की तारीफ करते हुए वह कहता है—'**साधु आर्य चारुदत्त ! साधु। गुणेष्वेव हि कर्तव्यः प्रयत्नः पुरुषैः सदा**' इत्यादि (पृ. २२१)। वह अपने मित्र को बहुत प्रेम करता है। मदनिका के साथ वसन्तसेना के घर के बाहर निकलते ही उसे राजा पालक के द्वारा आर्यक के कैद किये जाने का समाचार मिलता है। आर्यक उसका मित्र है। वह तुरत गाड़ी से उतर पड़ता है। मदनिका को चेट के साथ रेभिल के

घर भेज कर स्वयं अपने मित्र आर्यक को छुड़ाने के लिए निकल पड़ता है। शर्विलक षड्यन्त्र करने में भी पटु है (पृ. २२६)। वह दशम अंक में राजा आर्यक के प्रतिनिधि के रूप में सामने आता है।

मदनिका

मदनिका वसन्तसेना की दासो है। मदनिका और वसन्तसेना एक दूसरे को बहुत प्रेम करती हैं। मदनिका वसन्तसेना की विश्वासपात्र दासो है। वसन्तसेना चारुदत्त के साथ अपने प्रणय का रहस्य मदनिका को बतलाती है। मदनिका का शर्विलक से गुप्त प्रेम है। चतुर्थ अंक में मदनिका और शर्विलक की बातों से पता चलता है कि वह उनकी पहिली भेट नहीं है। मदनिका वेश्या की दासी होने पर भी सत् स्वभाव की है। जब शर्विलक चोरी के आभूषणों के साथ उससे मिलता है तो वह उसे सत्परामर्श देती है। वह उसे आभूषण लौटा देने को कहती है। मदनिका को अवसर के अनुसार कार्य करने की सूझ है। वह शर्विलक से कहती है कि चारुदत्त का आत्मीय बनकर वसन्तसेना को आभूषण लौटा दो। मदनिका शूर और कर्मठ पुरुष की भार्या होने योग्य स्त्री है। वह शर्विलक के कार्यों में बाधा नहीं डालती। वह जानती है कि शूर पुरुष घर में तो बैठे रहेंगे नहीं। पाणिग्रहण करके वसन्तसेना के घर के बाहर निकलते ही शर्विलक आर्यक को कैद से छुड़ाने जाना चाहता है। मदनिका उसे रोकती नहीं। वह केवल इतना ही कहती है कि पहिले मुझे गुरु-जनों के पास सुरक्षित पहुँचा दो। वह उसे अपने कार्य में अप्रमत्त होने के लिये भी कहती है।

विदूषक

विदूषक का नाम मैत्रेय है। वह जाति का ब्राह्मण है। हाथ में एक टेढ़ी लकड़ी लिये रहता है। वह चारुदत्त का घनिष्ठ मित्र है। उसका प्रधान सहायक भी है। जब चारुदत्त धनी था उस समय वह उसके घर खूब खाता-पीता था। जब से चारुदत्त निर्धन हो गया तब से वह इधर-उधर भोजन करके केवल निवास के लिए उसके घर जाता है (पृ.२१-२२)। वह उसका साथ नहीं छोड़ता। चारुदत्त भी उससे प्रेम करता है। प्रथम अंक में वह कहता है-'अये! सर्वकाल-मित्रं मैत्रेयः प्राप्तः' इत्यादि (पृ.२५)। विदूषक सदा चारुदत्त की ऋद्धि की कामना करता है (पृ.७७)। वह किसी प्रकार भी चारुदत्त को दुखी नहीं करता।

चाहता। वह रदनिका के अपमान का समाचार उसको नहीं बतलाता। वह समझता है कि ऐसा करने से उसे मानसिक कष्ट होगा। वह चारुदत्त की बदनामी नहीं चाहता। प्रथम अंक में दीपक जलाने के तेल के अभाव की बात वह चारुदत्त के कान में कहता है (पृ.९१)। वह नहीं चाहता कि वसन्तसेना यह जाने कि चारुदत्त दरिद्र है। वह चारुदत्त को इतना प्रेम करता है कि उसके मरने पर स्वयं भी जीवित रहना नहीं चाहता (पृ.५५५)।

विदूषक कट्टर धार्मिक नहीं है। उसका देवी-देवताओं में विश्वास नहीं है। क्योंकि वे पूजा करने पर भी फल नहीं देते (पृ.३३)। वह झूठ बोलने में भी नहीं हिचकिचाता आभूषणों के चोरी जाने पर वह कहता है कि घबड़ाने की कोई बात नहीं मैं कह दूँगा कि वसन्तसेना ने आभूषण हमारे घर नहीं रखे थे। यदि रखे थे तो कौन साक्षी है (पृ.१८१)। वह आभूषणों के बदले रत्नावली देने से मना करता है।

विदूषक बड़ा डरपोक है। वह अंधेरे में चतुष्पथ पर जाने से इनकार कर देता है। जब रदनिका जाती है तब कहीं स्वयं भी जाना स्वीकार करता है (पृ.६१)। प्रथम अंक के अन्त में चारुदत्त उसे वसन्तसेना को पहुँचाने के लिये जाने को कहता है। उस अवसर पर भी वह जाने से इनकार कर देता है। जब चारुदत्त स्वयं जाता है तब कहीं वह भी जाने को तैयार होता है। वह पेटू भी है। जब वह आभूषणों के बदले रत्नावली देने जाता है तब वसन्तसेना उसे कोरा मौखिक सत्कार करके विदा कर देती है। इस पर वह कुढ़ जाता है। वह कहता है—'एतावत्या ऋद्धया न तया अहं भणितः—आर्य मैत्रेय ! विश्रम्यताम् मल्लकेन पानीयमपि पीत्वा गम्यताम्' इत्यादि (पृ.१६१)। वह मजाकिया भी है। कभी-कभी ऐसी बातें कहता है कि हँसी आ जाती है। प्रथम अंक में जब चारुदत्त और वसन्तसेना अपने-अपने अपराधों के लिये एक दूसरे से क्षमा प्रार्थना करते हैं उस समय वह कहता है—'भोः!-द्वावपियुवां सुखं प्रणम्य कलमकेदारौ' इत्यादि (पृ.८७)। पञ्चम अंक में जब वसन्तसेना अपनी चेटी के साथ चारुदत्त के घर पहुँचती है तो वह पूछता है कि इस अँधेरी रात में जब वृष्टि हो रही है, आप किसलिये आई हैं (पृ.२९९)।

विदूषक क्रोधी भी है। परन्तु उसे जितनी जल्दी क्रोध आता है उतनी ही जल्दी शान्त भी हो जाता है। कभी-कभी उसके शीघ्र क्रुद्ध होने के स्वभाव का बुरा परिणाम होता है। प्रथम अंक में रदनिका के अपमान से क्रुद्ध होकर वह शकार और विट को मारने दौड़ता है। परन्तु जब विट उसके पैरों पर गिर कर गिड़गिड़ाने लगता है तो उसका क्रोध एक दम शान्त हो जाता है (पृ.६९-७०)। नवम अंक में न्यायालय के दृश्य में वह शकार पर क्रुद्ध हो जाता है। दोनों में मार-पीट हो जाती है। यहाँ उसके क्रोध का परिणाम बुरा होता है। मारपीट में उसकी बगल से वसन्तसेना के आभूषण गिर पड़ते हैं और चारुदत्त पर अभियोग सिद्ध हो जाता है। विदूषक को गणिका प्रसंग अच्छा नहीं लगता। वह जानता है कि वेश्याओं का हृदय कुटिल होता है। वह वसन्तसेना को भी उसी श्रेणी की गणिका समझता है। उसके विचार में वह 'दुष्टविलासिनी' है (पृ.२५०)। वह उसे भी अविश्वास की दृष्टि से देखता है। जब वसन्तसेना कहती है कि मैं प्रदोष समय चारुदत्त से मिलने आऊँगी तो वह समझता है कि वह रत्नावली से सन्तुष्ट नहीं है। चारुदत्त से कुछ और लेना चाहती है। विदूषक कुछ बुद्धू भी है। पञ्चम अंक में वह चेट के सामान्य प्रश्नों का भी उत्तर नहीं दे पाता। हर बार चारुदत्त से पूछने जाता है।

भिक्षु

भिक्षु शाक्यश्रमण होने के पहिले संवाहक के रूप में हमारे सामने आता है। द्वितीय अंक में इसके वसन्तसेना के साथ वार्तालाप से इसका पूर्ण परिचय मिलता है (पृ.१२७–२८)। यह पाटलिपुत्र का रहने वाला था। यह यहाँ के एक गृहस्थ का लड़का था। देश देखने के कौतूहल से उज्जयिनी आया। यहाँ इसने आर्य चारुदत्त के घर नौकरी कर ली। इसने कला समझ कर संवाहक का काम सीखा। बाद में यह कला इसकी आजीविका हो गयी। चारुदत्त के गरीब हो जाने पर इसने जूआ खेल कर पेट पालना शुरू किया। एक दिन यह जूए में दश सुवर्ण हारा। विजयी खेलाड़ियों के भय से इसने वसन्तसेना के घर शरण ली। वसन्तसेना ने इसे रुपया देकर छुड़ाया। इस अपमान से निर्विण्ण होकर इसने प्रव्रज्या ग्रहण की। आगे यह बेहोश पड़ी वसन्तसेना को होश में लाता है और उसे चारुदत्त से मिलाता है।

भिक्षु संवाहक की अवस्था में भी सच्चा पुरुष दिखायी देता है। यह अपने शरीर को बेच कर भी जुए में हारा रुपया अदा करना चाहता है (पृ.११२)। यह वसन्तसेना से भी जुए में हारे रुपये की बात साफ साफ कह देता है (पृ.१३२)। यह गुणों का आदर करने वाला है। जब यह देखता है कि चारुदत्त का नाम लेने से वसन्तसेना के घर इसका बहुत आदर होता है तो यह चारुदत्त के गुणों की सराहना करता है (पृ.१३०)। यह कृतघ्न नहीं है। उपकार को समझता है और उसके बदले प्रत्युपकार करना चाहता है। वसन्तसेना इसका कर्ज अदा करके इसे बन्धन से मुक्त करती है। इस उपकार के बदले यह उसके नौकरों को अपनी संवाहन की कला देना चाहता है (पृ.१३५)। यह दृढनिश्चयी है। जब यह प्रव्रज्या ग्रहण करने की बात कहता है तो वसन्तसेना इसे मना करती है। परन्तु यह अपने निश्चय पर अटल रहता है (पृ. १३६)। भिक्षु बड़ा सहनशील है। शकार इसे अपमानित करता है। परन्तु यह क्रुद्ध नहीं होता (पृ. ३७२–३८३)। यह अपने संप्रदाय के सिद्धान्तों का कड़ाई से पालन करता है। बौद्धसंप्रदाय में भिक्षुओं के लिए स्त्रियों को छूना मना है। यह भी इस सिद्धान्त का पूर्ण रूप से पालन करता है। अष्टम अंक में यह वसन्तसेना को हाथ का सहारा देकर नहीं खड़ी करता। यह एक लता झुका देता है और वसन्तसेना से कहता है कि इसका सहारा लेकर खड़ी हो जाओ।

धूता

धूता चारुदत्त की विवाहिता पत्नी है। यह एक पतिव्रता स्त्री के रूप में हमारे सामने आती है। यह चारुदत्त के दुःख में दुखी और सुख में सुखी रहती है। शर्विलक के द्वारा सुवर्णभाण्ड की चोरी का समाचार मिलने पर इसे बड़ा दुःख होता है। यह सोचती है कि लोग कहेंगे कि निर्धन चारुदत्त ने आभूषण हड़प लिए हैं और चोरी की झूठी अफवाह उड़ा दी है। इसे चारुदत्त के शरीर और धन की अपेक्षा उसकी कीर्ति की अधिक चिन्ता है। यह चोरी गए आभूषणों के बदले में देने के लिए अपनी रत्नावली भेजती है। परन्तु इस बात को यह अपने मुख से कहती नहीं। इसे यह मालूम है कि ऐसा कह कर रत्नावली भेजने से चारुदत्त को दुःख होगा और वह लेगा नहीं। अतः रत्नषष्ठी के दान के बहाने भेजती है। चारुदत्त की तरह यह भी धार्मिक प्रवृत्ति की है। रत्नषष्ठी

का दान इस बात का प्रमाण है। धूता के मन में लोभ जरा भी नहीं है। चोरी गए आभूषणों के मिल जाने का समाचार पञ्चम अंक में ही मालूम हो जाता है। षष्ठ अंक में वसन्तसेना रत्नावली को धूता के पास भेजवा देती है। परन्तु धूता उसे नही लेती। वह उसे पुनः वसन्तसेना को लौटा देती है। वह सोचती है कि जो पदार्थ पति ने अपनी प्रेयसी को दिया उसे वापस लेना उचित नहीं। धूता चारुदत्त को इतना अधिक प्रेम करती है कि उसकी मृत्यु का समाचार पाने के पहिले ही चिता में कूद कर मर जाना चाहती है (पृ. ५९३)। वह अपने पातिव्रत्य धर्म के आगे पुत्र का भी ख्याल नहीं करती। धूता अत्यन्त उदार स्वभाव की स्त्री है। पञ्चम अङ्क में वसन्तसेना रात भर चारुदत्त के साथ रहती है। परन्तु धूता इसका विरोध नहीं करती। वह वसन्तसेना के साथ बहिन का सा व्यवहार करती है (पृ. ५९८)। धूता उत्तम कोटि की भारतीय गृहिणी का नमूना है।

शकार

शकार इस नाटक का प्रतिनायक है। यह किसी व्यभिचारिणी स्त्री का पुत्र है। प्रथम अंक में विट इसे 'काणेलीमातः' कह कर संबोधित करता है। 'काणेली' शब्द का कुछ टीकाकारों ने 'अविवाहिता' या 'व्यभिचारिणी' अर्थ किया है। यह राजा पालक का साला है। इसकी बहिन राजा की रखेली है। इस संबन्ध से इसे राजा का साला (राजश्याल) कहते हैं। इसे राजा के साथ अपने सम्बन्ध का बड़ा घमंड है। नवम अंक में जब न्यायाधीश इसका मुकदमा सुनने से इनकार करते हैं तो यह उनको यह कह कर धमकाता है कि मैं अपने बहनोई राजा से कह कर तुम्हें निकलवा कर दूसरे न्यायाधीश को नियुक्त करवाऊँगा। इसे अपने धन का भी बड़ा घमण्ड है। यह अशिक्षित है। इसे बात करने की भी तमीज नहीं है। इसने पुराणों की कथा सुनी है। परन्तु इसका ज्ञान उलटा सीधा है। यह वसन्तसेना को चाहता है। परन्तु वह इसे नहीं चाहती। यह बल और धन से उसे वश में लाना चाहता है। परन्तु इसे सफलता नहीं मिलती। यह डरपोक है। अष्टम अंक में वसन्तसेना को अपनी गाड़ी में देख डर जाता है (पृ. ३९६–३९७)। यह जिद्दी है, परन्तु दृढ़निश्चयी नही है। प्रथम अंक में यह विट से कहता है कि मैं वसन्तसेना को लिये बिना चारुदत्त के दरवाजे से न हटूँगा। परन्तु विट के चले जाने पर स्वयं भी वहाँ

से चला जाता है। यह भिक्षुओं का कट्टर शत्रु है (पृ. ३७५)। यह अपने मित्रों को न प्रेम करता है और न उनमें विश्वास रखता है। इसके नौकर भी इससे प्रसन्न नहीं दिखाई देते (पृ. ३९४)। यह कपटी है। वसन्तसेना को स्वयं मार कर चारुदत्त का नाम लगाता है। यह चारुदत्त का जानी दुश्मन है। उसे फाँसी पर चढ़ा देखना चाहता है (पृ. ५६२)। यह अति क्रूर है। चाण्डालों से कहता है कि चारुदत्त को उसके पुत्र के सहित मार डालो (पृ.-५५५)। यह कायर है। इसे अपने प्राण बहुत प्यारे हैं (पृ. ५८९)।

मृच्छकटिक में रस

पाश्चात्य साहित्य में नाटक दो प्रकार के होते हैं—दुःखान्त और सुखान्त। संस्कृत साहित्य में नाटक केवल सुखान्त ही होते है। 'मृच्छकटिक' भी एक सुखान्त नाटक है। इसके अन्त में नायक–नायिका का मिलन होता है।

'मृच्छकटिक' का अङ्गी रस शृङ्गार है। शृङ्गार भी दो प्रकार का होता है। संभोग शृङ्गार और विप्रलंभ शृङ्गार। 'मृच्छकटिक' में संभोग शृङ्गार अङ्गी रस है। अन्य रस अङ्ग के रूप में आते हैं।

प्रस्तावना में हास्य रस का पुट है। प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में विदूषक और चारुदत्त बातें करते हैं। यहाँ चिन्तारूप संचारी का आस्वाद होता है। प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य में शकार और उसके साथी वसन्तसेना का पीछा करते हैं। इस दृश्य में शृङ्गाराभास है। प्रथम अंक के तृतीय दृश्य में शकार वसन्तसेना समझ कर रदनिका को पकड़ता है। विदूषक का शकार से झगड़ा होता है। इस दृश्य में शृङ्गारभास, क्रोध, दैन्य, क्रोधशान्ति आदि भावों का आस्वाद होता है। प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य में नायक-नायिका प्रथम बार एक दूसरे से मिलते हैं। इस दृश्य में संयोग शृङ्गार का उदय होता है।

द्वितीय अङ्क के प्रथम दृश्य में वसन्तसेना और मदनिका का वार्तालाप है। इस दृश्य में विप्रलम्भ शृङ्गार की झलक है। द्वितीय अङ्क के द्वितीय दृश्य में जुआड़ियों का झगड़ा है। इस दृश्य में हास्य रस का आस्वाद होता है। द्वितीय अङ्क के तृतीय दृश्य में वसन्तसेना संवाहक को कर्ज से मुक्त करती है और संवा-

हक अपना परिचय देता है। इस दृश्य में वसन्तसेना का औदार्य और चारुदत्त के प्रति उसका प्रेम व्यक्त होता है। द्वितीय अंक के चतुर्थ दृश्य में कर्णपूरक का वृत्तान्त है। इस दृश्य में कर्णपूरक के द्वारा मतवाले हाथी के चाङ्गुल से परिव्राजक का बचाया जाना अद्भुत मालूम पड़ता है।

तृतीय अङ्क के प्रथम दृश्य में चारुदत्त का चेट घर आने में अपने मालिक के देर करने पर चिन्ता प्रकट करता है। तृतीय अंक के द्वितीय दृश्य में चारुदत्त वगैरह निश्चिन्त सोते हैं। तृतीय अंक के तृतीय दृश्य में शर्विलक चोरी करता है। यहाँ प्रेक्षकों को शर्विलक के कार्य पर आश्चर्य होता है और विदूषक की वेवकूफी पर हँसी आती है। तृतीय अंक के चतुर्थ दृश्य में चारुदत्त और धूता की उदारता और अपनी कीर्ति के लिए चिन्ता व्यक्त होती हैं।

चतुर्थ अङ्क के प्रथम दृश्य में वसन्तसेना और मदनिका चारुदत्त के चित्र पर बातें करतीं हैं इस दृश्य में विप्रलंभ शृङ्गार की झलक हैं। चतुर्थ अंक के द्वितीय दृश्य में मदनिका और शर्विलक का वार्तालाप हैं। इस दृश्य में मदनिका शर्विलक को सदुपदेश देती है। दोनों की बातचीत से शृङ्गार भाव भी झलकता है। चतुर्थ अंक के तृतीय दृश्य में शर्विलक को मदनिका प्राप्त होती है। इस दृश्य में वसन्तसेना की उदारता और शर्विलक की कृतार्थता व्यक्त होती है। दृश्य के अन्त में अपने मित्र की सहायता के लिए शर्विलक के उत्साह का आस्वाद होता है। चतुर्थ अंक के दृश्य में विदूषक वसन्तसेना को रत्नावली अर्पण करता है। इस दृश्य में अद्भुत और हास्य का मिश्रित आस्वाद होता है।

पञ्चम अङ्क के प्रथम दृश्य में विदूषक चारुदत्त को वसन्तसेना द्वारा रत्नावली की स्वीकृति का समाचार देता है और गणिका प्रसङ्ग छोड़ने की प्रार्थना करता है। दृश्य में वसन्तसेना द्वारा रत्नावली स्वीकार की जाने पर चारुदत्त का सन्तोष और उसका वसन्तसेना के लिए बढ़ा हुआ औत्सुक्य व्यक्त होता है। पञ्चम अङ्क के द्वितीय दृश्य में चेट और विदूषक के संवाद से हास्य रस का आस्वाद होता है। पञ्चम अंक के तृतीय दृश्य में विट और वसन्तसेना दुर्दिन का वर्णन करते हुए चारुदत्त के घर पहुँचते हैं। इस दृश्य में शृङ्गार का आस्वाद होता है। यह शृङ्गार अगले दृश्य के शृङ्गार की पृष्ठभूमि है। पञ्चम अंक के चतुर्थ दृश्य में चारुदत्त और वसन्तसेना दूसरी बार मिलते हैं। इस दृश्य में संभोग शृङ्गार का पूर्ण रूपेण आस्वाद होता है।

षष्ठ अङ्क के प्रथम दृश्य में चेटी और वसन्तसेना का संवाद है। इस दृश्य में चारुदत्त से पुनः मिलने के लिये वसन्तसेना की उत्सुकता, अभ्यन्तर चतुःशालक में अपने प्रवेश पर वसन्तसेना का आश्चर्य मिश्रित आनन्द, और धूता की उदारता तथा पतिभक्ति व्यक्त होते हैं। षष्ठ अंक के द्वितीय दृश्य में वसन्तसेना रोहसेन को सोने की गाड़ी बनवाने के लिये अपने आभूषण देती है। इस दृश्य में वसन्तसेना की उदारता और चारुदत्त के प्रति उसका प्रेम व्यक्त होता है। षष्ठ अंक के तृतीय दृश्य में वसन्तसेना को शकार की गाड़ी पर चढ़ते देख प्रेक्षकों को घबराहट होती है। षष्ठ अंक के चतुर्थ दृश्य में वीरक और चन्दनक के झगड़े से हास्य रस का आस्वाद होता है।

सप्तम अङ्क में चारुदत्त आर्यक को बन्धन से मुक्त करता है। इस अंक में चारुदत्त की उदारता और आर्यक की कृतज्ञता प्रकट होती है।

अष्टम अङ्क के प्रथम दृश्य में शकार भिक्षु को सताता है। इस दृश्य में पेक्षकों की सहानुभूति भिक्षु के साथ रहती है। अतः इस दृश्य में भय का उदय होता है। अष्टम अंक के द्वितीय दृश्य में शकार वसन्तसेना से प्रणय प्रार्थना करता है। उसके अस्वीकार करने पर क्रुद्ध होकर उसका गला दबाता है। वसन्तसेना मूर्च्छित हो जाती है। इस दृश्य में उग्रता का आभास और बीभत्स है। अष्टम अंक के तृतीय दृश्य में वसन्तसेना को मरी समझ कर विट विलाप करता है और शकार के कुकर्म से निर्विण्ण होकर उसका साथ छोड़ देता है। इस दृश्य में विषाद और निर्वेद का आस्वाद होता है। अष्टम अंक के चतुर्थ दृश्य में भिक्षु वसन्तसेना को होश में लाता है। इस दृश्य में भिक्षु की दयालुता और वसन्तसेना की ग्लानि का अनुभव होता है।

नवम अङ्क में शकार न्यायालय में चारुदत्त पर वसन्तसेना की हत्या का अभियोग लगता है। इस अंक के चारों दृश्यों में अभियोग अधिकाधिक सिद्ध होता चला जाता है। अन्त में चारुदत्त को प्राणदण्ड होता है। चारुदत्त पुत्र के भविष्य के लिए चिन्तित होता है। वह पुत्र के पालन-पोषण का कार्य विदूषक को सौंपता है। इसे अंक में चिन्ता और करुणा का आस्वाद होता है। वीरक की 'इष्टं मया स्त्रीकलेवरं' इत्यादि उक्ति से (पृ. ४९४) बीभत्स का भी अनुभव होता है।

दशमअङ्क के प्रथम दृश्य में चाण्डाल चारुदत्त को वधस्थान ले जाते हैं। इस दृश्य में करुण रस की दीप्ति होती है। अंक के द्वितीय दृश्य में अचानक

वसन्तसेना के आ जाने से चारुदत्त के प्राण बच जाते हैं। शर्विलक आ कर राज्यपरिवर्तन की सूचना देता है। इस दृश्य में विस्मय और हर्ष का आस्वाद होता है। इस अंक के तृतीय दृश्य में धूता अग्नि में कूद कर प्राण देने का प्रयत्न करती है। यहाँ करुण रस का आस्वाद होता है। इस अंक के चतुर्थ दृश्य में फलागम है। यहाँ हर्ष का आस्वाद होता है। चारुदत्त की 'प्राप्ता भूयः प्रियेयम्'—उक्ति से (पृ. ६०१) सम्भोग शृङ्गार का भी अनुभव होता है।

ऊपर के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि इस नाटक में शृङ्गार अङ्गी रस है। वह आरम्भ में सम्भोग बाद विप्रलम्भ पुनः सम्भोग फिर विप्रलम्भ और अन्त में पुनः सम्भोग का रूप ग्रहण करता है। करुण, भय, अद्भुत, बीभत्स और हास्य अंग रस हैं। शर्विलक और आर्यक की उक्तियों से कहीं-कहीं वीर रस की झलक आ जाती है। बीच-बीच में चिन्ता, ग्लानि, निर्वेद आदि सञ्चारी भावों का भी आस्वाद होता है।

'मृच्छकटिक' नाटक है या प्रकरण

भारतीय आचार्यों ने काव्यों को श्रव्य-काव्य और दृश्य-काव्य नाम के दो वर्गों में रखा है। श्रव्य काव्यों के प्रकार चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, से प्रकाशित कुमारसम्भव की प्रस्तावना में दिखा दिये गए हैं। यहाँ हमें केवल दृश्य काव्यों से मतलब है। दृश्य काव्य दो प्रकार के होते हैं—रूपक और उपरूपक। रूपक दस प्रकार के माने गए हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक और ईहामृग। उपरूपक अठारह प्रकार के कहे गए हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश और भाणिका।

नाटक का वृत्तान्त लोकविख्यात होना चाहिए। इसका नायक धीरोदात्त लक्षण वाला प्रख्यात वंश का राजा अथवा कोई दिव्य-पुरुष होना चाहिए। इसमें शृङ्गार और वीर में से कोई एक रस अङ्गी (प्रधान) होता है। अन्य रस अङ्ग होते हैं। कुछ लोगों के मत में करुण और शान्त रस भी नाटक में अङ्गी हो सकते हैं। इसमें नाटकों की पाँचों सन्धियाँ होती हैं। इसमें कम से कम पाँच और अधिक से अधिक दस अंक होते हैं।

प्रकरण में कविकल्पित लौकिक वृत्तान्त होता है। इसका नायक धीर प्रशान्त लक्षण वाला कोई विप्र, अमात्य अथवा वणिक् होता है। इसमें नायिका कुलजा स्त्री और वेश्या में से कोई एक अथवा दोनों होती हैं। इस प्रकार नायिका के आधार पर प्रकरण तीन प्रकार के होते हैं। जिस प्रकरण में दोनों प्रकार की नायिका होती हैं उसमें कितव (धूर्त), द्यूतकर सभिक, विट, चेट आदि भी मञ्च पर आते हैं।

ऊपर के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मृच्छकटिक' प्रकरण है। इसमें प्रकरण के सब लक्षण मिलते हैं। इसमें नाटक के कई लक्षण नहीं मिलते। अतः इसे नाटक नहीं कहा जा सकता। दशरूपककार और दर्पणकार ने भी इसे प्रकरण ही माना है।

देश की अवस्था पर प्रकाश

'मृच्छकटिक' के समय भारतीय समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार भागों में विभक्त था। संभवतः चाण्डालों का पञ्चम वर्ग माना जाता था। ब्राह्मणों का काम अध्ययन, अध्यापन करना था। ये अपने ज्ञान के कारण सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। द्वितीय अंक में मदनिका-वसन्तसेना से पूछती है—'**विद्याविशेषालङ्कृतः किं कोऽपि ब्राह्मणयुवाकाम्यते ?**' इस पर वसन्तसेना उत्तर देती है—'**पूजनीयो मे ब्राह्मणजनः**' (पृ. ९७)। यह बात अवश्य है कि उस समय भी सभी ब्राह्मण विद्वान ही नहीं होते थे। कुछ ब्राह्मण चोरी आदि दुष्कर्म भी करते थे। शर्विलक इसका प्रमाण है। पौरोहित्य करना और दान दक्षिणा लेना भी ब्राह्मणों का काम था। नटी सूत्रधार से किसी ब्राह्मण को भोजन के लिये निमन्त्रित करने को कहता है (पृ. १८)। तृतीय अंक में धूता विदूषक को रत्नावली दान देती है (पृ. १८४)। दशम अंक में विदूषक धूता से कहता है–'**समहितसिद्धये ब्राह्मणः अग्रतःकर्तव्यः**' (पृ. ५९४)। कुछ ब्राह्मण अपने वर्ण का काम छोड़कर व्यापार आदि भी करते थे। चारुदत्त स्वयं इसका निदर्शन है। वह सार्थवाह का पुत्र और स्वयं भी सार्थवाह है। वैश्य व्यापार के सिलसिले में परदेश जाते थे। फाँसी देने का कार्य चाण्डलों का माना जाता था। प्राकृत पुरुषों को वेदार्थ कहने का अधिकार नहीं था। यहाँ 'प्राकृत'

'पुरुष' शूद्र का वाचक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को तो वेदों का अधिकार अनादि काल से प्राप्त है। सभ्य पुरुषों के नाम के आगे कोई आदर सूचक शब्द लगाये बिना उन्हें पुकारना अनुचित समझा जाता था (पृ. ५३५)।

संभवतः 'मृच्छकटिक' के समय नगरों में जाति-जाति के अथवा एक पेशा करने वालों के अलग-अलग मोहल्ले होते थे। द्वितीय अंक में चारुदत्त का परिचय देते हुए संवाहक कहता है—'स खलु श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति' (पृ. १२९)। नगरों में 'राजमार्ग' अर्थात् बड़ी-बड़ी सड़कें होती थीं। रात में सड़कों पर अन्धेरा रहता था। रात में पहरा देने के लिये पहरेदार रखे जाते थे (पृ. ९२)। फिर भी सड़कों पर अन्धेरे में गणिका, विट, चेट आदि घूमते थे (पृ. ३४)। दुर्बलों के लिये रात को सड़कों पर निकलना खतरनाक समझा जाता था (पृ. ९०)। लोग सड़कों पर खुलेआम मारपीट करते थे (पृ. १०९, १२२)। सवारी के रूप में बैलगाड़ियों का अधिक चलन था। कभी-कभी घोड़ों का भी उपयोग किया जाता था। नवम अंक में अधिकरणिक वीरक को घोड़े पर जीर्णोद्यान जाने को कहते हैं (पृ. ४९३)। धनिक लोग सवारी के लिये हाथीं भी रखते थे। वसन्तसेना के पास भी एक हाथी था। उसका नाम 'खुण्टमोड़क हस्ती' था (पृ. १३८)। बैलगाड़ियो में परदे लगे रहते थे (पृ. ३३८)। परन्तु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय परदे की प्रथा थी। गाड़ी में लगे परदे को गाड़ी का अलंकार कह सकते हैं। लम्बो सफर में लोग गाड़ियों में सोकर भी जाते होंगे। उन्हें सड़क पर की घूम-धाम से शान्ति की आवश्यकता पड़ती ही होगी। संभव है इस उद्देश्य से गाड़ियों में परदे लगे रहते हों। यदि परदा प्रथा होती तो दशम अङ्क में धूता सब के सामने कैसे आती (पृ. ५९२-५९८)।

विवाह मनुष्य-जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। 'मृच्छकटिक' से तत्कालीन विवाह-पद्धति पर भी प्रकाश पड़ता है। उस समय लोग प्रायः सवर्ण स्त्री से विवाह करते थे। परन्तु असवर्ण स्त्री से विवाह करना निषिद्ध नहीं था। संभवतः मनु के कथनानुसार उस समय ब्राह्मण चारों वर्णों की स्त्रियों से विवाह कर सकते थे। चारुदत्त और शर्विलक ने क्रम से वसन्तसेना और मदनिका को अपनी वधू बनाया। गणिका भी अपना पेशा छोड़ने पर वधू हो

सकती थी। सती की प्रथा प्रचलित थी। दशम अंक में धूता सती हो जाने का प्रयत्न करती है।

समाज में वेश्याओं की सत्ता बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। 'मृच्छकटिक' के समय भी वेश्याएँ होती थीं। संभवतः वेश्याओं के दो वर्ग होते थे—वेश्या और गणिका। वेश्याएँ अपने रूप यौवन द्वारा धन कमाती थीं। गणिकाओं का काम विशेष रूप से नाचना, गाना होता था। इस विषय पर विशेष प्रकाश 'दशरूपक' में अवलोककार ने डाला है। वे कहते हैं—'वेशो भृतिः, सोऽस्या जीवनमिति वेश्या। तद्विशेषो गणिका' (दशरू ३ प्र०)। गणिकाओं का स्थान वेश्याओं की अपेक्षा ऊँचा होता था। वसन्तसेना गणिका थी। 'मृच्छकटिक' में उसके लिए अधिकतर गणिका शब्द का प्रयोग किया गया है। कुछ ही स्थानों पर उसे वेश्या कहा गया है। 'मृच्छकटिक' के समय कुछ ऐसे लोग भी वेश्याओं से सम्बन्ध रखते थे जो समाज में प्रतिष्ठित समझें जाते थे। चारुदत्त स्वयं इसका उदाहरण है। परन्तु समाज की दृष्टि में यह काम खराब था। दशम अंक में जब न्यायाधीश चारुदत्त से पूछते हैं कि तुम्हारा वसंन्तसेना से सम्बन्ध है या नहीं तो वह समाज के डर से स्पष्ट उत्तर देने में शरमाता है। कुछ लोग रखेलियाँ भी रखते थे। शकार के लिए 'काणेलीमाता' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'काणेलीमाता' का अर्थ है अविवाहिता स्त्री का लड़का। इसके अतिरिक्त शकार को राजा पालक का साला कहा गया है। इससे भी व्यक्त होता है कि शकार की बहिन राजा पालक की रखेली थी।

स्त्रियाँ स्वभाव से आभूषणप्रिय होती हैं। 'मृच्छकटिक' के समय स्त्रियाँ नूपुर, हस्ताभरण और करधनी आदि आभूषण पहिनती थीं। फूलों से वेणी अलङ्कृत करती थीं। मुख में किसी प्रकार का पाउडर भी लगाती थीं। संभवतः कुछ पुरुष भी केश रखते थे।

'मृच्छकटिक' से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय जूए के खेल का बहुत प्रचार था। निम्न वर्ग के लोग खुलेआम जूआ खेलते थे। जूए में हारे रुपयों का हिसाब रखने के लिए बहीखाते होते थे। हिसाब लिखने वाले को लेखक कहते थे। जुआ फेंकाने वाला मुखिया समिक कहलाता था। द्यूतकारों की मण्डली होती थी। बेइमानी करने वाले को कड़ी सजा दी जाती थी। जूए का खेल वैध माना जाता था। यदि कोई हारकर रुपया न दे तो

उस पर न्यायालय में दावा करके रुपया वसूल किया जाता था। द्वितीय अंक में संवाहक के भाग जाने पर द्यूतकार माथुर से कहता है—'राजकुलं गत्वा निवेदयावः'—(पृ. १२६)। कुछ लोग तो जूआ खेल कर ही अपनी रोटी कमाते थे। द्वितीय अंक में संवाहक वसन्तसेना से कहता है—चारित्र्यावशेषे च तस्मिन् द्यूतोपजीवी अस्मि संवृत्तः'—(पृ. १३२)। उस जमाने में कुछ लोग शराब भी पीते थे। अष्टम अंक में शकार भिक्षु से कहता है—'आपानकमध्यप्रविष्टस्येव रक्तमूलकस्य शीर्षं ते भङ्क्ष्यामि'—(पृ. ३७६)। 'यहाँ आपानक' का अर्थ है 'पानगोष्ठी'।

प्राचीन काल में संसार में दास प्रथा थी। चौपायों की तरह मनुष्य भी बेचे और खरीदे जाते थे। खरीदे हुए मनुष्य दास कहलाते थे। ये अपने मालिक की संपत्ति होते थे। 'मृच्छकटिक' के काल में भारत में भी दास प्रथा थी। मदनिका वसन्तसेना की दासी थी। उसे गुलामी से छुड़ाने के लिए ही शर्विलक ने चोरी की थी। चारुदत्त और शकार के चेट भी उन लोगों के गुलाम थे। मालिक को रुपया दे कर गुलामों को स्वतन्त्र नागरिक बनाया जा सकता था। कभी-कभी राजाज्ञा से भी दास गुलामी से मुक्त हो जाते थे। दशम अंक के अन्त में चारुदत्त स्थावरक चेट के विषय में कहता है—'सुवृत्त. अदासो भवतु—' (पृ. ६००)।

प्राचीन काल में भारतवर्ष में कलाएँ उन्नत अवस्था में थीं। 'मृच्छकटिक' से तत्कालीन कलाओं पर काफी प्रकाश पड़ता है। उस समय संगीत कला बहुत उन्नत अवस्था में थी लोग संगीत के शौकीन थे। तृतीय अंक में चारुदत्त भाव रेभिल के घर से गाना सुनकर रात के बारह बजे अपने घर लौटता है। वह मार्ग में वीणा की बड़ी तारीफ करता है। वह कहता है—वीणा हि नाम असमुद्रोत्थितं रत्नम्—(पृ. १४७)। उस समय वीणा लोकप्रिय बाजा था। वीणा के अतिरिक्त बाँसुरी, मृदङ्ग, दर्दुर और पणव का भी मृच्छकटिक में उल्लेख मिलता है। (पृ. १४७, १६७)। वाद्य संगीत के अतिरिक्त मौखिक संगीत भी उन्नत अवस्था में था। तृतीय अंक में चारुदत्त भाव रेभिल के गाने की तारीफ करता है (पृ. १४९)। भाव रेभिल का स्वर स्त्रियों के स्वर के समान मीठा है। चारुदत्त कहता है 'अन्तर्हिता यदि भवेत् वानतात सत्ये'—(पृ. १४९)—तं तस्य स्वरसंक्रमं'—इत्यादि (पृ. १५०)।

संभवतः भाव रेभिल भी उज्जयिनी का एक सार्थवाह था। वह संगीत में अतिनिपुण था। उसके घर प्रायः गाना बजाना हुआ करता था। उज्जयिनी के नागरिक वहाँ गाना सुनने जाया करते थे। कदाचित् वह किसी धर्मशाला या सराय का भी मालिक था। परदेशी लोग उज्जयिनी आकर उसके घर ठहरा करते थे। शर्विलक भी उसी के घर ठहरा था। चतुर्थ अंक में मदनिका को लेकर वसन्तसेना के घर से निकलते ही वह राजा पालक द्वारा गोपाल दारक आर्यक के कैद किये जाने का समाचार सुनता है। वह अपने मित्र आर्यक की सहायता के लिये जाना चाहता है। परन्तु ऐसा करने के पहिले वह मदनिका को घर पहुँचा देना चाहता है। इस अवसर पर वह चेट से कहता है—भद्र ! जानीषे रेभिलस्य सार्थवाहस्य उदवसितम्.—(पृ. २२५)। जब चेट कहता है—'हाँ जानता हूँ'—तो शर्विलक कहता है—'तत्र प्रापय प्रियाम्'—(पृ. २२६)। इससे स्पष्ट है कि शर्विलक भी रेभिल के घर रहता है। अब यह तो नहीं कहा जा सकता कि शर्विलक उज्जयिनी का स्थायी नागरिक रेभिल का किरायेदार है। यदि ऐसा होता तो वह दरिद्र चारुदत्त के घर में सेंध क्यों लगाता ? बात तो यह है कि शर्विलक परदेशी है। उज्जयिनी में आने पर उसे धन की आवश्यकता हुई। चारुदत्त का बड़ा महल देख कर उसने समझा कि यह कोई धनिक है। इसीलिये उसने उसके घर में सेंध लगाई। जिस प्रकार शर्विलक रेभिल के घर ठहरा है उसी प्रकार अन्य परदेशी भी उसकी सराय में ठहरते होंगे।

सङ्गीत कला के अतिरिक्त देश में चित्रकला का भी बहुत प्रचार था। स्त्रियाँ भी अच्छे चित्र बना लेती थीं। चतुर्थ अङ्क में वसन्तसेना अपना बनाया चारुदत्त का एक चित्र मदनिका को दिखाती है (पृ. १९०) संवाहन कला और प्रतिमा निर्माण कला भी उन्नत अवस्था में थी। संवाहक संवाहन कला का पण्डित है। द्वितीय अंक में काष्ठमयी प्रतिमा और शैल प्रतिमा का उल्लेख है (पृ. १०६)। वसन्तसेना के महल के वर्णन में भी अनेक कलाओं का नाम आता है। कहाँ तक कहा जाय उस समय चौर्य भी एक कला मानी जाती थी। इसका अपना एक शास्त्र था। इस शास्त्र के आचार्यों के भी नाम 'मृच्छकटिक' के तृतीय अंक में मिलते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय देश की आर्थिक अवस्था अच्छी थी। कुछ लोग इतने धनी होते थे कि वे अपने बच्चों को खेलने के लिये सोने के खिलौने देते थे। चारुदत्त के पड़ोसी का लड़का सोने की गाड़ी से खेलता है। चारुदत्त भी बिगड़ा हुआ रईस है। दरिद्रावस्था में भी चोरी गए आभूषणों के बदले देने के लिये उसकी स्त्री चतुःसमुद्रसारभूता रत्नमाला अपने गले से उतार कर देती है। वसन्तसेना के वैभव का वर्णन भी देश की अच्छी आर्थिक स्थिति का समर्थन करता है। यदि देश सघन नहीं था तो वेश्या के पास इतनी सम्पत्ति कहाँ से आती थी ?

इस नाटक से देश की धार्मिक स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है। उस समय देश में वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म दोनों का प्रचार था। संभवतः वैदिक धर्म के अनुयायी अधिक थे। राजधर्म भी वही था। बौद्ध धर्म लड़खड़ाती हालत में था। नागरिक पूजा, पाठ, समाधि और पञ्चमहायज्ञ (पाठ, होम, अतिथिसपर्या, तर्पण और बलि) करते थे। प्रथम अंक में चारुदत्त देवकार्य करके गृहदेवताओं को बलि अर्पण करने के लिये बाहर आता दिखाई देता है (पृ. २३)। गरीब होने के कारण उसके घर अतिथि नहीं आते इसलिये उसे दुःख होता है (पृ. २८)। वह विदूषक से मातृदेवियों को बलि अर्पण करने के लिये जाने को कहता है (पृ. ३३)। वह विदूषक को ठहरने के लिये कह कर समाधि सम्पन्न करने जाता है (पृ. ३४)। सभ्य नागरिकों का देवी देवताओं में अटूट विश्वास था। उनकी पूजा से उन्हें फल मिले या न मिले, वे उनकी पूजा करना अपना नित्य कर्तव्य समझते थे (पृ. ३३)। वे व्रत और उपवास करते थे। ऐसे अवसरों पर वे ब्राह्मणों को दान देते थे और भोजन कराते थे। चोर भी अपना कार्य आरम्भ करने के पहिले अपने पेशे के देवता का स्मरण करते थे (पृ. १६२)। चाण्डालों का भी देवताओं में विश्वास था। चारुदत्त को मारते समय हाथ से खड्ग छटक जाने पर चाण्डाल कहता है—'भगवति सह्यवासिनि ! प्रसीद प्रसीद'—इत्यादि (पृ. ५६७)।

हम पहिले कह आए हैं कि 'मृच्छकटिक' के समय बौद्ध धर्म लड़खड़ाती अवस्था में था। देश में बौद्ध धर्म के अनुयायी कम थे। जो लोग सांसारिक जीवन से ऊब जाते थे वे बौद्ध संन्यासी हो जाते थे। इस नाटक में संवाहक जीवन में होने वाले दुःखों और अपमानों से ऊब कर शाक्यश्रमण हो जाता है

(पृ. १३६)। बौद्ध संन्यासियों को शाक्यश्रमण, परिव्राजक या भिक्षु कहते थे। भिक्षु काषाय वस्त्र पहिनते थे। कुछ भिक्षु त्यागी, इन्द्रियनिग्रही और लोक-सेवक होते थे। ऐसा होने पर भी समाज में उनका आदर नहीं के बराबर था। शाक्यश्रमण का दर्शन अनाभ्युदयिक माना जाता था। आर्यक को मुक्त करके जीर्णोद्यान से जाते समय चारुदत्त के सामने भिक्षु आता है। उस ससय चारुदत्त कहता है—कथमभिमुखमनाभ्युदयिकं श्रमणकदर्शनम्' (पृ. ३७१)। कुछ भिक्षु दुराचारी भी होते थे। वे सिर मुड़ा कर दिखाने के लिये संन्यासी बने रहते थे। सांसारिक वासनाओं से उनका मन मुक्त नहीं होता था। ऐसे ही संन्यासियों को लक्ष्य करके भिक्षु कहता है—'शिरोमुण्डितं तुण्डं मुण्डितं चित्तं न मुण्डितं किं मुण्डितम्' इत्यादि (पृ. ३७४)। सम्भवतः उस समय लोग भिक्षुओं के कार्यों को शंका भरी दृष्टि से देखते थे। उन्हें लम्पट समझते थे। इसीलिये वसन्तसेना को होश में लाकर उसे अपने साथ ले जाते समय भिक्षु अपनी सफाई देने के लिये कहता है—'अपसरत। एषा स्त्री, एष भिक्षु-रिति शुद्धो मम एष धर्मः' इत्यादि (पृ. ४४९)। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय देश में बौद्धों के बहुत से विहार थे। दशम अंक में चारुदत्त कहता है—'सखे ! दृढोऽस्य निश्चयः। तत् पृथिव्यां सर्वविहारेषु कुलपतिरयं क्रियताम्'–(पृ. ५९९)। विहारों में बौद्ध भिक्षु रहते थे। वहाँ कुछ भिक्षु-णियाँ भी रहती थीं। अष्टम अंक के अन्त में वसन्तसेना को अपने साथ विहार ले जाते समय भिक्षु उससे कहता है—'एतस्मिन् विहारे मम धर्मभगिनो तिष्ठति। तस्मिन् समाश्वस्तमना भूत्वा उपासिका गेहं गमिष्यति'—(पृ.४४९) यह धर्मभगिनी भिक्षु की सगी बहिन तो है नहीं। यह कोई भिक्षुणी है।

देश की राजनीतिक अवस्था विचित्र थी। सम्भवतः 'मृच्छकटिक' के समय देश में सार्वभौम सम्राट् नहीं था। देश बहुत छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था। राजा शक्तिहीन थे। उनका शासन प्रबन्ध भी अच्छा नहीं था। राजा के कर्म-चारी जरा-जरा सी बात पर आपस में लड़ जाते थे। प्रत्येक को अपने-अपने पद का घमण्ड होता था। वे जब चाहे अपना नियोग छोड़ कर भाग जाते थे। चोरक और चन्दनक के दृश्य से राजा के कर्मचारियों की अवस्था पर काफी

प्रकाश पड़ता है। शासन-प्रबन्ध शिथिल होने के कारण षड्यन्त्रकारियों को अच्छा अवसर मिलता था। षड्यंत्र करके राज्य उलटना सहज था। षड्यन्त्र-कारी देश के आवारों को एकत्र करके उनकी सहायता से षड्यन्त्र करते थे। चतुर्थ अंक में शर्विलक कहता है—'ज्ञातीन्विटान्स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान्' इत्यादि (पृ.२२६)। षड्यन्त्र का सन्देह होने पर किसी भी पुरुष को पकड़ कर अनिश्चित काल के लिये जेल में डाल दिया जाता था। इस नाटक में राजा पालक ने आर्यक को ऐसे ही जेल में डाल दिया है। राजनीतिक कैदियों को बेड़ियाँ पहनाई जाती थीं। आर्यक बेड़ियों से जकड़ा हुआ हमारे सामने आता है (पृ.३२७)। अपराधियों को पकड़ने के लिये मुख्य-मुख्य मार्गों पर पहरा बैठा दिया जाता था। आने-जाने वाली गाड़ियों की तलाशी लेने की भी प्रथा थी। राजकुल में खुशियाली होने पर या राज्य परिवर्तन होने पर कैदी छोड़ दिये जाते थे। दशम अंकमें चाण्डाल कहता है–'कदाऽपि कोऽपि साधुरर्थं दत्त्वा' इत्यादि (पृ. ५५९)।

'मृच्छकटिक' के समय मुकदमों का फैसला करने के लिये न्यायालय होते थे। न्यायालयों में एक न्यायाधीश, एक श्रेष्ठी और एक कायस्थ मिल कर न्याय करते थे। न्यायाधीश वेतन पाने वाला राजा का स्थायी नौकर होता था। उसे राजा जब चाहे निकाल दे सकता था। नवम अंक में शकार न्यायाधीश को धमकाता है कि यदि मेरा मुकदमा न सुना गया तो राजा से कह कर तुम्हें निकलवा दूँगा (पृ.४६१)। वह आजकल के जज के समान होता था। श्रेष्ठी वर्तमान न्यायालयों के 'जूरर' या 'असेसर' के समान कहा जा सकता है। कायस्था सम्भवतः न्यायालय का पेशकार होता था। सभ्य पुरुषों को न्यायालय में आसन दिया जाता था। 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त को न्यायालय पहुँचने पर आसन दिया गया है (पृ.४८०)। वादी और प्रतिवादी के बयान लिये जाते थे। गवाहों की गवाहियाँ ली जाती थीं। चाहे जिसे गवाही के लिये तुरत बुला लिया जाता था। न्याय 'मनुस्मृति' के अनुसार होता था। मुकदमों का फैसला करने में बहुत समय नहीं लगता था। फाँसी के मुकदमों में न्यायालयों का निर्णय अन्तिम स्वीकृति के लिये राजा के पास भेज दिया था। राजा चाहे तो न्यायालयों के निर्णय को उलट दे सकता था। राजा की आज्ञा सर्वोपरि न्याय मानी जाती था।

'मृच्छकटिक' के समय दण्डविधान आजकल की अपेक्षा भिन्न था। अपराधों के लिये कड़ी सजा दी जाती थी। अपराधियों को सत्य न बताने पर कोड़े लगवाए जाते थे। नवम अंक में अधिकरणिक चारुदत्त से कहता है—'इदानीं सुकुमारेऽस्मिन् निःशङ्कं कर्कशाः कशाः'—इत्यादि (पृ.५१२)। खून के अपराध के लिये खड्ग से गरदन उड़ाने, शूल पर चढ़ाने, कुत्तों से नुचवाने और आरे से चिरवाने की सजा दी जाती थी। प्राणदण्ड देने का काम चाण्डाल करते थे। प्राणदण्ड श्मशान पर दिया जाता था। ब्राह्मणों को प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था। खून के अपराधी को रक्तचन्दन और करवीर की माला से सजाया जाता था। उसे शूल स्वयं अपने कन्धे पर लेकर जाना पड़ता था। चाण्डाल वध्यपटह बजाते हुए उसे श्मशान ले जाते थे। वे मार्ग में अपराधी का परिचय देकर उसके अपराध और दण्ड की घोषणा करते जाते थे। वे अन्य लोगों को वैसा न करने की चेतावनी भी देते जाते थे।

भाषाओं का प्रयोग

'मृच्छकटिक' भाषाओं के प्रयोग की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण नाटक है। जितनी भाषाओं का प्रयोग इस नाटक में किया गया है उतनी भाषाओं का अन्य किसी नाटक में नहीं।

प्राचीन भारतीय भाषाऐं तीन वर्गों में रखी जाती हैं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश। यहाँ प्राकृत भाषाओं का विवरण 'मृच्छकटिक' के टीकाकार पृथ्वीधर के मतानुसार दिया जाता है। प्राकृत भाषाओं में सात मुख्य हैं—मागधी, अवन्तिका, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या (महाराष्ट्री)। अपभ्रंशों में भी सात मुख्य हैं—शकारी, आभीरी, चाण्डाली, शावरी, द्राविडी, उड्रजा और वनेचरों की भाषा ढक्की। प्राकृत भाषाओं के वर्गीकरण का एक और भी प्रकार है। प्राकृतभाषाएँ भाषा और विभाषा भेद से दो प्रकार की मानी जाती हैं। ऊपर लिखे सात प्रकार प्राकृत भाषा के और सात प्रकार अपभ्रंश विभाषा के कहलाते हैं।

शौरसेनी, अवन्तिका और प्राच्या में 'श' 'ष' और 'स' तीनों के स्थान पर केवल 'स' का प्रयोग होता है। जैसे संस्कृत के 'प्रविशामि' के स्थान पर शौरसेनी के 'पविसामि' (पृ. ११) में तालव्य शकार के स्थान पर दन्त्य सकार हो गया है। संस्कृत के 'कृतविशेषका' के स्थान पर शौरसेनी के 'किद विसेसआ'

पृ. ११) में तालव्य और मूर्धन्य के स्थान पर दन्त्य सकार हो गया है। संस्कृत के 'सर्वम्' के स्थान पर शौरसेनी के 'सव्वं' में दन्त्य सकार पूर्ववत् बना है। पृथ्वीधर ने अवन्तिका और प्राच्या की और भी विशेषताएँ बतलाई हैं। अवन्तिका रेफवती और लोकोक्तिबहुला होती है। यहाँ 'रेफवती' का क्या अर्थ है ठीक समझ में नहीं आता। यदि यह कहा जाय कि इस भाषा में 'ल' के स्थान पर 'र' हो जाता है तो यह बात 'मृच्छकटिक' में नहीं दिखाई देती। 'मृच्छकटिक' में वीरक और चन्दनक अवन्ति भाषा पाठक हैं। परन्तु इनकी भाषा में 'ल' के स्थान पर 'र' का प्रयोग नहीं दिखाई देता। 'पदोलीदुआरे' (पृ. ३३४), 'अवलोइदो' (पृ. ३३९), 'तन्तिलो' (पृ. ३४३) इत्यादि पदों में संस्कृत का 'ल' ज्यों का त्यों बना है। प्रत्युत इस भाषा में 'र' के स्थान पर 'ल' का प्रयोग दिखाई देता है। 'आरूढा' (पृ. ३३९) और 'आलूढा' (पृ.३३९) दोनों प्रयोग मिलते हैं। पहिले शब्द में संस्कृत का 'र' पूर्ववत् बना है। दूसरे में 'र' के स्थान पर 'ल' हो गया है। यह मागधी भाषा का चिह्न है। यह कहा जा सकता है कि इस भाषा के बोलने वाले लोग 'रे' और 'अरे' से संबोधन करते हैं। इन संबोधनों का प्रयोग इस भाषा में बहुत अधिक होता है। इसलिए इस भाषा को रेफवती कहते हैं। यह भाषा लोकोक्तिबहुला है—यह बात वीरक और चन्दनक के भाषण से स्पष्ट हो जाती है। 'पत्ते अ राअकज्जे पिदरं पि अहं ण जाणामि' (पृ. ३४१) 'जाणन्ती वि हु जादि···किं हि कइत्थेण भग्गेण' (पृ. ३५०), 'ता सुणु रे! अहिअरणमज्झे जइ दे चउरङ्गं ण कप्पावेमि, तदो ण होमि वीरओ' (पृ. ३५३) 'किं तुए सुणअ सरिसेण' (पृ. ३५३) इत्यादि लोकोक्तियाँ हैं। पृथ्वीधर के अनुसार प्राच्या स्वार्थिक ककार बहुला होती है। यह बात भी 'मृच्छकटिक' में नहीं दिखाई देती। प्राच्य भाषा पाठक विदूषक है। परन्तु उसकी भाषा में स्वार्थिक ककार का बाहुल्य नहीं दिखाई देता।

मागधी, शकारी और चाण्डाली भाषाओं में 'श' 'ष' 'स' के स्थान पर 'श' का प्रयोग होता है। इन भाषाओं में 'र' के स्थान पर 'ल' हो जाता है। जैसे संस्कृत के 'शाखायां का मागधी में 'शाहाए' (पृ. ४४५) हो जाता है। यहां तालव्य 'श' ज्यों का त्यों रह गया है। संस्कृत के 'धूलिदोषः' का मागधी

में 'धूलिदोशे' (पृ. ४४५) हो जाता है। यहां मूर्धन्य 'ष' का तालव्य 'श' हो गया है। संस्कृत के 'प्रसार्य' का मागधी में 'पशालिअ' हो जाता है। यहाँ दन्त्य 'स' का तालव्य 'श' हो गया है। संस्कृत के 'प्रसारयिष्यामि' का मागधी में 'पशालइश्शम्' हो जाता है। यहाँ 'र' का 'ल' हो गया है। संस्कृत के 'प्रकाशयिष्यति' 'आर्यपुरुषः' और 'सार्थवाहः' का शकारी में क्रम से 'पआशइश्शदि' (पृ. ४४४), 'अज्जपुलिशे' (पृ. ४४२), और 'शत्थवाह' (पृ. ४४२) हो जाता है। प्रथम उदाहरण में तालव्य 'श' ज्यों का त्यों है। दूसरे उदाहरण में मूर्धन्य 'ष' का तालव्य 'श' और 'र' का 'ल' हो गया है। तीसरे उदाहरण में दन्त्य 'स' का तालव्य 'श' हो गया है। इसी प्रकार संस्कृत के 'शोभनं' 'एष' और 'सागरदत्तस्य' का चाण्डाली में क्रम से 'शोहणं' (पृ. ५५१) 'एशे' (पृ. ५५०) और 'शाअलदत्तश्श' (पृ. ५२८) हो जाता है। यहाँ प्रथम उदाहरण में 'श' ज्यों का त्यों रह गया है। दूसरे उदाहरण में 'स' का 'श' और 'र' का 'ल' हो गया है।

पृथ्वीधर के अनुसार ढक्क विभाषा वकारप्राय होती है। यदि यह संस्कृतप्राय हो तो इसमें 'स' और 'श' दोनों का प्रयोग होता है। 'वकारप्राया ढक्कविभाषा। संस्कृतप्रायत्वे दन्त्यतालव्यसशकारद्वययुक्ता च'। परन्तु यह बात 'मृच्छकटिक' की ढक्क विभाषा में नहीं मिलती। 'मृच्छटिक' की ढक्क विभाषा 'उ' कार प्राय है। शब्दों के अन्त में प्रायः 'उ' आ जाता है। जैसे 'लुद्धु जूदकरु पपलीणु पपलीणु' (पृ. १०१)। आगे देखिए 'विप्पदीवु पादु' 'पडिमा शुण्णु देउलु' (पृ. १०५), 'णहु णहु' (पृ. १०६), 'को दोसु' (पृ. ११०), 'माथुरु अहं णिउणु' (पृ. १११), 'तुए दशसुवण्णु कल्लवत्तु, मए एसु विहवु' (पृ. १२०) इत्यादि। इन सब उदाहरणों में शब्द के अन्त में 'उ' दिखाई देता है। 'व' का आधिक्य नहीं दिखाई देता। ऐसा प्रतीत होता है कि या तो पृथ्वीधर ने गलती की है या टीका छापने वालों ने 'उ' को 'व' पढ़ लिया है। आगे 'संस्कृतप्रायत्वे' का क्या आशय है। यदि भाषा संस्कृतप्राय न हुई तो क्या होगा? हमें तो यहाँ भी भूल मालूम पड़ती है। हमारे विचार से 'संस्कृप्रायत्वे' के स्थान पर 'संस्कृतप्रायत्वेन' होना चाहिए। ढक्कविभाषा में 'स' और 'श' दोनों का प्रयोग होता है। जैसे

संस्कृत के 'दशसुवर्ण' के स्थान पर ढक्क विभाषा में 'दशसुवण्णु' हो जाता है। इस उदाहरण में 'स' और 'श' दोनों का प्रयोग है। इसका तात्पर्य यह न समझना चाहिए कि संस्कृत में जहाँ 'श' और 'स' आता है वहाँ ढक्की में भी क्रमशः 'श' और 'स' ही आता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ढक्की में 'श' और 'स' दोनों वर्णों का प्रयोग होता है।

'मृच्छकटिक' में शौरसेनी, अवन्ति, प्राच्या, मागधी, शकारी, चाण्डाली और ढक्की—सात भाषाओं का प्रयोग किया गया। सूत्रधार, नटी, रदनिका, मदनिका, वसन्तसेना, वसन्तसेना की माता, चेटी, कर्णपूरक, चारुदत्त की ब्राह्मणी (धूता), शोधनक और श्रेष्ठी—ये ग्यारह पात्र शौरसेनी भाषा बोलते हैं। वीरक और चन्दनक अवन्ति भाषा बोलते हैं। विदूषक प्राच्य भाषा बोलता है। शकार, वसन्तसेना और चारुदत्त—इन तीनों के चेट, भिक्षु, चारुदत्त का पुत्र (रोहसेन) और संवाहक मागधी भाषा बोलते हैं। शकार शकारी भाषा बोलता है। दोनों चाण्डाल चाण्डाली भाषा बोलते हैं। माथुर और द्यूतकर ढक्क विभाषा बोलते हैं।

उपसंहार

भारतीय विद्वानों में 'मृच्छकटिक' उत्तम कोटि का नाटक माना जाता है। परन्तु विचार करने पर कथावस्तु को छोड़कर और कोई भी बात इस नाटक में ऐसी नहीं मिलती जिसके कारण इस नाटक को उत्तम कोटि का कहा जाय। इस नाटक के कर्ता को चरित्र-चित्रण में उतनी सफलता नहीं मिली है जितनी अभिज्ञानशाकुन्तल में कालिदास को। इस नाटक का नायक बहुत अधिक आदर्शवादी और सुस्त है। संसार में शायद ही कोई पुरुष ऐसा होगा जो अपने घर से चोर के खाली हाथ जाने के कारण दुःखी हो और उसके सफल मनोरथ जाने का पता लगाने पर प्रसन्न हो। इसके अतिरिक्त जो नायक अपनी प्रेमिका को प्राप्त करने के लिए जरा भी प्रयत्न नहीं करता उसकी कथा से क्या रसास्वाद होगा। वसन्तसेना एक आदर्श गणिका भले ही हो, परन्तु वह भी शकुन्तला की तरह सब काल और सब देशों का पात्र नहीं है। माथुरक, चन्दनक आदि निम्न कोटि के पात्र प्रायः ठीक उतरे हैं। रस की दृष्टि से भी पञ्चम अंक के अन्तिम दृश्य को छोड़कर और किसी भी दृश्य में किसी भी रस का पूर्ण परिपाक

नहीं है। प्रकृति वर्णन तो इस नाटक में नहीं के बराबर है। कवि को नगर के जीवन से अधिक प्रेम दिखाई देता है। सप्तम और अष्टम अंकों में प्रकृति वर्णन के अवसर थे (पृ. ३५८ और ३८४)। परन्तु कवि ने ये अवसर खो दिये। एक, दो श्लोकों में पुष्पकरण्डक उद्यान का जो वर्णन किया भी उसमें भी नगर के पदार्थों की उपमा देकर ध्यान प्रकृति की तरफ से नगर की तरफ फेर दिया। आखिर पुष्पकरण्डक उद्यान जीर्णोद्यान ही तो ठहरा। हाँ, शकार के **'पनसफलानीव वानरा ललन्ति'** में कुछ आनन्द अवश्य है। इस नाटक में मुख्य पदार्थ कथा-वस्तु है। इसकी कथा फड़कते हुए घटनाचक्र से भरी है। इसी के कारण यह नाटक इतना लोकप्रिय है। सूक्ष्मविचार करने पर कथा भी निर्दोष नहीं दिखाई देती। षष्ठ अंक का प्रथम दृश्य पञ्चम अंक तक की कथा को आगे के कथा भाग से जोड़ने वाली शिथिल और अस्वाभाविक कड़ी है। चारुदत्त वसन्तसेना को सोती छोड़कर कुछ रात रहते ही उद्यान चला जाता है। यह घटना अस्वाभाविक मालूम पड़ती है। वसन्तसेना कहती है कि मैंने रात में चारुदत्त का मुख अच्छी तरह नहीं देखा। आज उद्यान जाकर प्रकाश में चित्त भर कर देखूगी (पृ. १३५)। यह उक्ति भी कथा को आगे बढ़ानेवाली शिथिल कड़ी है। प्रथम अंक में प्रदोष काल में ही इतना अंधेरा हो जाता है कि शकार, विट आदि वसन्तसेना को मार्ग में देख नहीं पाते। सो भी तब तक कि वह जोर जोर से उनके साथ बातें करती जाती है। अष्टम अंक के अन्त में शकार **'साम्प्रतं अधिकरणं गत्वा व्यवहारं लेखयामि'** कह कर उद्यान से निकलता है। परन्तु न्यायालय जाता है दूसरे दिन। ये बातें कथा के मूल्य को घटा देती हैं। हमारे विचार से 'मृच्छकटिक' द्वितीय श्रेणी के नाटकों में श्रेष्ठ नाटक है। इस नाटक का कर्ता असार संसारवादी नहीं है उसने दारिद्रय की अपेक्षा मृत्यु को अच्छा कहकर (पृ. २७) अप्रत्यक्ष रूप से सम्पन्न जीवन की उपादेयता झलकाई है। उसके मत में सत्य, प्रेम और त्याग का अन्त अच्छा होता है। यदि ये गुण हों तो इस संसार में भी सुख मिल सकता है। नाटक के अन्त में गणिका वसन्तसेना और चारुदत्त का मिलन इसी बात का समर्थन करता है। कवि ने भरतवाक्य में **'मोदन्तां जन्मभाज'** के द्वारा विश्वमंगल की कामना के साथ नाटक समाप्त किया है। शुभम्।

पात्र-परिचय

पुरुष पात्र

प्रस्ता० सूत्रधार···प्रधान नट

१ अंक चारुदत्त ··· दरिद्र द्विजसार्थवाह, नायक।

मैत्रेय···चारुदत्त का मित्र विदूषक

शकार···राजा पालक का श्यालक, प्रतिनायक

विट···शकार का सहचर

चेट···शकार का दास

वर्धमानक···चारुदत्त का दास

२ अं० संवाहक···चारुदत्त का भूतपूर्व भृत्य, जूए में सर्वस्व खोकर निर्वेद से पश्चात् भिक्षु

माथुर···सभिक

द्यूतकर, दर्दुरक···जुआड़ी,

कर्णपूरक···वसन्तसेना का भृत्य

३ अं० शर्विलक···मदनिका का प्रेमी ब्राह्मण चोर

४ अं० चेट···वसन्तसेना का दास

बन्धुल···वेश्यापुत्र

५ अं.कुम्भीलक चेट-वसन्तसेना का दास

विट···वसन्तसेना का परिचारक

६ अ० रोहसेन···चारुदत्त का पुत्र

स्थावरक चेट···शकार का दास

आर्यक···गोपाल-बालक, राजा पालक का कैदी, पश्चात् राजा

वीरक···राजा पालक का सेनापति

चन्दनक···राजा पालक का बलपति

(दोनों राजा पालक के नगर रक्षक हैं)

८ अं० भिक्षु···बौद्ध संन्यासी, पूर्व आश्रम का संवाहक

९ अं० शोधनक···न्यायालय में काम करनेवाला नौकर

अधिकरणिक···न्यायाधीश

श्रेष्ठी···नगर का प्रतिष्ठित पुरुष, न्यायकरने में अधिकरणिक का सहायक

कायस्थ···न्यायालय का लेखक (पेशकार)

१०अं० चाण्डाल···फाँसी देने वाले जल्लाद

स्त्री पात्र

प्र० नटी···सूत्रधार की स्त्री

१ अं०वसन्तसेना···गणिका, नायिका

रदनिका···चारुदत्त की दासी

२ अं. चेटी···वसन्तसेना की दासी

मदनिका···दूसरी दासी
शर्विलक की प्रेयसी

३ अं० धूता···चारुदत्त की भार्या

४ अं० चेटी···वसन्तसेना की दासी

५ अं० छत्रधारिणी··· वसन्तसेना की दासी

६ अं० चेटी···चारुदत्त की दासी

९ अं० वृद्धा···वसन्तसेना की माता

॥ श्रीः ॥

मृच्छकटिकम्

'प्रबोधिनी' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमोऽङ्कः

नान्दी—

पर्यङ्कग्रन्थिबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेषसंवीतजानो-
रन्तःप्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानरुद्धेन्द्रियस्य ।
आत्मन्यात्मानमेव व्यपगतकरणं पश्यतस्तत्त्वदृष्ट्या
शम्भोर्वः पातु शून्येक्षणघटितलयब्रह्मलग्नः समाधिः ॥ १ ॥

ध्यात्वा गुरुपदाम्भोजं स्मृत्वा तद्वचनं शुभम् ।
टीकां मृच्छकटिकस्य व्यातनोमि सविस्तरम् ॥

पर्यङ्केति—पर्यङ्कस्य=योगपट्टस्य=आसनविशेषस्य वा, ग्रन्थौ = संधिस्थले यो बन्धः तत्करणाय द्विगुणितो यो भुजगः = द्विगुणतां प्राप्तः सर्पः तस्य आश्लेषेण = परिवेष्टनेन संवीते=बद्धे जानुनी=जानुद्वयं यस्य तस्य । बद्धपद्मासनस्येति भावः । अन्तः=देहाभ्यन्तरे प्राणानां=प्राणापानसमानोदानव्यानानाम् अवरोधेन = निरोधेन व्युपरतं=विशेषेण निवृत्तं सकलं ज्ञानं–बाह्यविषयकावबोधो यत्र कर्मणि तत् यथा-स्यात्तथा–यस्येति वेत्युभयविधव्युत्पत्तिः अत एव रुद्धानि=वशीकृतानि इन्द्रियाणि श्रवणादीनि येन तस्य एवं तत्त्वदृष्ट्या = सम्यग् ज्ञानेन आत्मनि = स्वविषये एव व्यपगतं=निवृतं करणं शरीरम्–इन्द्रियादिकं वा यस्य तं शरीरनिवृत्तिकथनान्निरा-कारता इन्द्रियादेर्निर्व्यापारवर्णनान्निर्गुणता च व्यज्यते इन्द्रियव्यापाराणां गुणहेतु-कत्वस्य सांख्यशास्त्रादौ प्रदर्शितत्वात्=आत्मानं = विशुद्धचैतन्यम् एव पश्यतः = भावनाविषयीकुर्वतः–जीवात्मपरमात्मनोरैक्यमाकलयत इति भावः शम्भोः=शिवस्य

जिसकी जंघाएँ पलंग की रस्सी के समान द्विगुणित सर्प से कस कर बाँधी गई हैं, (अर्थात् शंकरजी की पीठ तथा जंघाओं में सर्प दो बार इस प्रकार लिपट गया है कि मानो समाधि योग्य स्थिर पद्मासन लग गया हो), जिसकी

अपिच,—

पातु वो नीलकण्ठस्य कण्ठः श्यामाम्बुदोपमः ।
गौरीभुजलता यत्र विद्युल्लेखेव राजते ॥ २ ॥

शून्यस्य = गगनवन्निराकारस्य ब्रह्मणः ईक्षणेन = दर्शनेन घटितः = निष्पादितः लयः = लीनता यस्मिन् स चासौ ब्रह्मलग्नः = परब्रह्मविषयकः समाधिः = एकतानतया ब्रह्मचिन्तनम् वः युष्मान् = सामाजिकान् पातु = रक्षतु । स्रग्धरा-वृत्तम्—म्रौ भ्नौ यौ य् त्रिसप्तकाः (पि० सू०) ॥ १ ॥

पातु व इति—श्यामो जलाधिक्यान्नीलवर्णः अम्बुदो मेघ एव उपमा सादृश्यं यस्य स नीलः निपीतकालकूटविषसम्पर्कान्नीलवर्णः कण्ठो यस्य तस्य शिवस्य—एतद्विशेषणेन भक्ताधीनत्वं शम्भौ सूच्यते कण्ठः गलप्रदेशः वो=युष्मान् पातु पालयतु । यत्र गलप्रदेशे गौर्याः=भवान्याः भुजा एव लता 'वेष्टनसाधर्म्याद् भुजे लतात्वारोपः' विद्युतः=तडितो लेखा=पङ्क्तिरिव राजते=शोभते । 'शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रत' इति लक्षणात् नीलकण्ठस्य कण्ठ इति लाटानुप्रासः । 'आर्थी तुल्यसमानाद्या तुल्यार्थो यत्र वा वतिः' इति साहित्यदर्पणोक्तदिशा श्यामाम्बुदोपम इति आर्थी समासगतोपमा । भुज एव लता भुजलतेति विवक्षायां रूपकम् 'विद्युल्लेखेव' श्रौती समासगतोपमा चेति रूपकानुप्राणितोपमालंकारः । गौरीभुजयोरभेदेन लतात्वारोपे बाधकाभावाद् भुजलतेति लुप्तोपमा न रूपकमिति कस्यचिदुक्तिरविचारितरमणीयेति विभावनीयम् । अत्रालंकाराणां परस्परानपेक्षतया संसृष्टिः । 'मिथोऽनपेक्षतयैतेषां स्थितः संसृष्टिरुच्यते' इति विश्वनाथोक्तलक्षणात् । अत्र पथ्यावक्त्रं वृत्तम्--'युजोर्जेन सरिद्भर्तुः पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्' इत्युक्तेः ॥ २ ॥

इन्द्रियाँ, शरीरके भीतर प्राणादि वायुओं के रोक लेने से व्यापार शून्य हो रही हैं, तथा जो तत्त्वज्ञान के द्वारा अपने हृदय में परब्रह्म का अनुभव कर रहा है, उस शंकर की प्रलयोन्मुख, परमात्मा में लगी हुई निर्विकल्पक समाधि आप लोगों की रक्षा करे ॥ १ ॥

और भी

काले बादलों के समान शंकर जी का कण्ठ जिसमें बिजली के समान पार्वती जी की बाहु-लता सुशोभित हो रही है—आप लोगों की रक्षा करे ॥ २ ॥

नान्द्यन्ते सूत्रधारः।

सूत्र—अलमनेन परिषत्कुतूहलविमर्दकारिणा परिश्रमेण। एवमहमार्यमिश्रान् प्रणिपत्य विज्ञापयामि, यदिदं वयं मृच्छकटिकं नाम प्रकरणं प्रयोक्तुं व्यवसिताः।

नान्द्यन्ते इति—नान्द्या-अष्टपदात्मिकाया आशीर्वादरूपाया पूर्वोक्ताया अन्ते अवसाने इति भावः देवद्विजनृपादीनां स्तुत्याशीरन्यतरपरं वचः नान्दी भवति। तथा चोक्तं भरतमुनिना—'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते। देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता' इति सा च द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैर्युक्ता भवति उक्ते च पद्ये पार्वतीपरमेश्वरयोरभिधानात् माङ्गल्यबोधकत्वम्। अष्टानां पदानां सत्त्वाच्चाष्टपदत्वञ्चाकलनीयम्।

सूत्रधारेति—सूत्रधारः = प्रधाननटः—'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते। सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते।' इति लक्षणात्। 'सूत्रधारः पठेन्नान्दीम्' इति नियमात्, वक्तीत्यादियोग्यक्रियाध्याहारो विधेयः।

परिषदिति—परिषीदन्तीति व्युत्पत्त्या परिषच्छब्दोऽत्र सभ्यार्थकः। परिषदां सभ्यानां यत् कुतूहलं अभिनवाभिनयदर्शनचाञ्चल्यं त्वरा इति यावत् तस्य विमर्दकारिणा = समयातिपातात् व्यवधानविधायिना अनेन = नान्दीपाठादिरूपेण परिश्रमेण = विपुलायासेन अलम् = व्यर्थम् उक्तरूपाष्टपदनान्दीप्रयोगादेवावसितायां कर्तव्यतायामेतदधिकद्वादशपदात्मकनान्द्यादिप्रयोगे श्रमाधिक्यं परिषदः कालविलम्बमात्राञ्च एतद् द्वयमपि निरर्थकमित्याडम्बरेण विरम्यत इत्यभिप्रायः।

आर्यमिति—आर्यान् = मान्यान् मिश्रान् = विविधशास्त्राभिज्ञान् अथवा आर्येषु = श्रेष्ठेषु मिश्राः = मुख्यास्तान् प्रणिपत्य = प्रणम्य विज्ञापयामि = विनिवेदयामि वयं मृच्छकटिकं मृदो = मृत्तिकायाः शकटिका = चारुदत्तपुत्ररोहसेन क्रीडनार्थं षष्ठेऽङ्के वर्णितम् मृन्मयं क्षुद्रशकटं यस्मिन्निति मृच्छकटिकं नाम = अन्वितार्थनामकं यदिदं प्रकरम् 'यत्र कविरात्मबुद्ध्या वस्तुशरीरं नायकं चैव। औत्पत्तिकं प्रकुरुते प्रकरणमिति तद् बुधैर्ज्ञेयम्' इति भरतोक्तलक्षणलक्ष्यं रूपकविशेषं तत्प्रयोक्तुम् = अभिनयं

नान्दीपाठ के अनन्तर सूत्रधार—

सूत्रधार—उपस्थित सज्जनों की नाट्य-दर्शन रूप उत्सुकता को भंग करने वाले इस मंगल-पाठ में अधिक समय लगाना व्यर्थ है। इस प्रकार सभ्यजनों को प्रणाम कर मैं सूचित करता हूँ कि हमलोग मृच्छकटिक नामक प्रकरण का अभिनय करने जा रहे हैं।

एतत्कविः किल—

द्विरदेन्द्रगतिश्चकोरनेत्रः परिपूर्णेन्दुमुखः सुविग्रहश्च ।
द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः शूद्रक इत्यगाधसत्त्वः ॥ ३ ॥

कर्तुं व्यवसिताः=समुद्यताः । एतस्य=पूर्वोपदर्शितस्य रूपकविशेषस्य कविः रचयिता किल=किलेति वार्तायाम् 'वार्ता सम्भाव्योः किले' इत्यमरः, आर्यलक्षणन्तु 'कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन् । तिष्ठति प्रकृताचारे स वै आर्य इति स्मृतः' इति तत्प्रयोगनियमस्तु 'राजन्नित्यृषिभिर्वाच्यो सोऽपत्यप्रत्ययेन च । स्वेच्छया नामभिर्विप्रैर्विप्र आर्येति चेतरैः ॥ वाच्यौ नटीसूत्रधारावार्यनाम्ना परस्परमि'ति साहित्यदर्पणोक्तदिशाऽवगन्तव्यः ।

प्रकरणेति—प्रक्रियते प्रस्तूयते यदिति व्युत्पत्त्या प्रकरणं रूपकभेदः प्रोक्तञ्च 'भवेत् प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम् । शृंगारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक् ।' 'सापायधर्मकामार्थ-परो धीरप्रशान्तकः । नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्' इति । 'तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्रभेदस्तृतीयकः । कितवद्यूतकारादि-विटचेटक-सङ्कुलः' इति । अत्र नायकः चारुदत्तः ब्राह्मणः धीरप्रशान्तः तल्लक्षणञ्च 'सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात्' वसन्तसेनानाम्नी वेश्यानायिका, चारुदत्तब्राह्मणी धूता कुलजा प्रतिनायिका, शृंगाररसोऽङ्गी । कुलजावेश्ययोरुभयोरपि नायिकयोस्सत्त्वात् कितवादिसंकुलत्वाच्चास्य प्रकरणस्य तृतीये भेदेऽन्तःपात इति ध्येयम् ।

द्विरदेन्द्रेति—द्विरदेन्द्रस्य=गजपतेः गतिरिव गतिर्गमनं यस्य सः, गजराज इव मन्दगमन इति भावः, चकोरः=स्वाभिधेयप्रसिद्धपक्षिविशेषस्तस्य नेत्रे इव नेत्रे यस्य सः, चकोरसदृशसुखदनयन इत्यर्थः, परिपूर्णः सकलकलायुतः इन्दुः शशी तस्य मुखमिव मुखं यस्य सः पूर्णचन्द्रसमसुन्दरवदनः, सुष्ठु-शोभनो विग्रहः कायो यस्य सः, सुन्दरशरीरः, द्विजमुख्यतमः=द्विजेषु क्षत्रियेषु मुख्यतमः क्षात्रधर्मरतत्वात् श्रेष्ठतमः (त्रयो वर्णा द्विजातयः) इति वचनात् क्षत्रियस्यापि द्विजत्वोपपत्तेः । न च ब्राह्मणक्षत्रियवैश्येषु, द्विजेषु ब्राह्मणस्यैव वेदादिषु श्रेष्ठत्वकथनादत्र मुख्यतमः ब्राह्मण एवेति वाच्यम् 'समरव्यसनी' 'क्षितिपाल' इत्यादि क्षत्रियोचितविशेषणबलेन क्षत्रियत्वस्यैव नियन्त्रितत्वात् । अगाधम्=निःसीमं सत्त्वं=बलं गुणो वा यस्य सः, महाबलः=गम्भीरस्वभावो वा सूदते शत्रुनिति व्युत्पत्त्या शूद्रकः=शत्रु-

---

इसके रचयिता—

गजराज के समान मन्दगतिवाले, चकोर के समान नयनवाले, पूर्णचन्द्र के

अपि च—

ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां
ज्ञात्वा शर्वप्रसादात् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य ।

सूदनः इत्यन्वितार्थनामकः, प्रथितः प्रसिद्धः कविः=काव्यनिर्माणकुशलः, बभूव= अभवत् । शूद्रक इति पृषोदरादीनि यथोपदिष्टमिति पाणिनीयसूत्रेण सिद्धयति ।

द्विरदेन्द्रगतिः, चकोरनेत्रः परिपूर्णेन्दुमुखः, इति स्थलत्रये परस्परनिरपेक्षतया लुप्तोपमानामवस्थानात्संसृष्टिरलङ्कारः । मालभारिणीवृत्तं—'विषमे स-स-जा यदा गुरू चेत्-स-भ-रा येन तु मालभारिणीयम्' इति लक्षणात् । कुत्रचित् 'कालभारिणीयम्' इत्यपि पाठो दृश्यते एतदौचित्यानौचित्ये विद्वांसो विवेचयन्तु, मन्मते तु मालभारिणीयमिति युक्तः प्रतिभाति, मालपदप्रक्षेपापेक्षया कालपदप्रक्षेपस्य दुःश्रवदोष-दूषितत्वात् ।

सरलार्थः—गजेन्द्रवत् मन्दगमनः चकोरतुल्यविशुद्धनयनः पूर्णचन्द्रसमसुन्दर मुखः कमनीयगात्रः राजमान्यः गम्भीरस्वभावः सुप्रसिद्धः शूद्रकाभिधेयः कविरभवत् जन्मसाफल्यं कवेरिति प्रतिपिपादयिषया अन्यान् विशिष्टगुणान् वर्णयति 'अपि च' इत्यादिना ॥ ३ ॥

ऋग्वेदमिति । शूद्रकः=एतद्ग्रन्थप्रणेता कविः, ऋग्वेदं, सामवेदं गणितम्, ज्यौतिषम्, कलां=चतुःषष्टिसंख्याकां नृत्यगीतादिरूपाम् विद्यां, वैशिकीं=विशो वैश्यस्येयमिति व्युत्पत्त्या वैश्यसम्बधिनीं कृषिवाणिज्यरूपां, किं वा 'वेशो वेश्याजनाश्रय' इति कोषात् वेश्याजनविषयिकां कलामित्यनेन पूर्वेणान्वितम् वैशिकीमिति पदम् यद्वा नामैकदेशग्रहणे नाम्नो ग्रहणमिति नियमात् वेशोऽग्निवेशो नाम कश्चिन्नृपतिस्तेन प्रणीतम् कलाप्रतिपादकबन्धरूपम् कामशास्त्रम्, हस्तिशिक्षां=गजचालनपालननैपुण्यम् अत एव 'परवारणबाहुयुद्धलुब्ध' इति वक्ष्यमाणविशेषणपि साधु संगच्छते ज्ञात्वा=गुरुमुखात्सम्यगधिगत्य शर्वस्य=शिवस्य प्रसादात्=कृपातः व्यपगतः सर्वथा निवृत्तः तिमिरः=अज्ञानान्धकारः रोगविशेषो वा ययोस्ते चक्षुषी=

समान मनोहर मुखवाले सुन्दर शरीरवाले एवं महाशक्तिशाली क्षत्रियों में श्रेष्ठ शूद्रक नामक विख्यात कवि हुए ॥ ३ ॥

ऋग्वेद, सामवेद, अङ्कगणित, नृत्यगीतादिक चौंसठ कलाओं, व्यपार-नियम तथा गजपालनादि विद्याओं में निपुण तथा शङ्करजी की कृपा से अज्ञानरूप अंधकार के नाश होने से दिव्य दृष्टिलाभ कर, इसी प्रकार अपने पुत्र को राज्य-

राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः ॥ ४ ॥

नेत्रे-ज्ञाननेत्रे रोगमुक्ते वा नयने उपलभ्य=सम्प्राप्य पुत्रं=स्वसुतं, राजानं=नृपासनासीनं वीक्ष्य=अवलोक्य; परमः सर्वाधिकः समुदयः=समुन्नतिः यस्मात् यत्र, यस्येति वा तेन अश्वमेधेन=तदाख्येन यागविशेषेण 'धान्येन धनवानि'तिवदभेदे तृतीया, इष्ट्वा यागं सम्पाद्य, दशदिनसहितं=दशदिनाधिकं शताब्दं=शतवर्षपरिमितं, आयुः=जीवनं, लब्ध्वा=प्राप्य, अग्निं=वह्निं प्रविष्टः स्वेच्छया निविष्टः। एतेनास्य मरणमपि स्वेच्छाधीनन्न तु कालपारवश्यमिति सूच्यते। स्रग्धरावृत्तम्—अत्र किञ्चिद् विचार्यते यत् 'नराश्वमेधौ मद्यञ्च कलौ वर्ज्या द्विजातिभिः' इति ब्रह्मपुराणवचनात् 'दीर्घकालं ब्रह्मचर्यं नरमेधाश्वमेधकौ' इति नारदीयपुराणोक्तेश्च कलावश्वमेधनिषेधश्रवणात् कर्तव्यपरायणस्य शूद्रकभूपतेरश्वमेधयागानुष्ठानमनुचितमिति वाच्यम्, सन्दिग्धशक्तिकस्य पुंसः तादृशाश्वमेधानुष्ठानेनानर्थपातसम्भावनया निषेधविषयत्वेऽपि सर्वसाधनसम्पन्नस्य निश्चितशक्तिकस्य भूपतेर्निषेधविषयबहिर्भूतत्वेन न कश्चिद्दोषलेश इति ध्येयम्। ननु मङ्गलाचरणमारभ्याऽऽसमाप्तेः सर्वविषयस्य वर्णनं कविनैव विधेयमिति शिष्टाचारपरम्परया निर्णीतत्वेन मृतस्य कवेः कर्तुमशक्यत्वाजीवतस्तु त्रिकालज्ञत्वाभावात् 'लब्ध्वा चायुः शताब्दम्' इति स्वायुष्यकालस्य निरूपयितुमशक्यत्वात्तद्वर्णनमसङ्गतमिति चेन्न मृते शूद्रके तत्तनयात् प्रेप्सितधनलोभात्—कश्चित् कविवरः स्वकीर्तिमनालोच्य मृच्छकटिकं नाम प्रकरणं विधाय शूद्रकनिर्मिततया प्रख्याप्य च शूद्रकात्मजाय प्रददौ। धावकोनामाऽपि कविः स्वरत्नावलीं लक्षमुद्रामाप्य श्रीहर्षाय नृपायाऽर्पयामास इति कविसम्प्रदायः उक्तमपि काव्यप्रकाशे 'काव्यं यशसेऽर्थकृते' इत्यादि। इत्थञ्चान्येन तदायुष्यवर्णनसम्भावनायां न कश्चिद्विरोधः। यद्वा—ज्योतिषज्ञानाधिक्यात्स्वेनैव स्वायुष्यवर्णने न क्षतिरपीति विज्ञेयम्। एतत्पक्षे च प्रविष्ट इति आगामिनि काले क्तप्रत्यय इति बोध्यम्। केचित्तु परप्रक्षिप्तमित्याकलयन्तीति विविधपक्षेषु विद्वांस एव प्रमाणमिति।

सरलार्थः—ऋग्वेदं, सामवेदं, गणितम् अथ कामशास्त्रादिरूपां चतुःषष्टिकलां गजशास्त्रानुशीलनञ्च गुरुमुखात् सम्पाद्य शिवप्रसादान्नेत्ररोगं दूरीकृत्य प्रदीप्तज्ञानाग्निर्वा स्वतनयं राज्याधिकारे नियुज्याश्वमेधयागञ्च विधाय पूर्णायुः शूद्रको मृतः ॥ ४ ॥

सिंहासन पर आरूढ़कर, महान् उद्योग के द्वारा अश्वमेध यज्ञ की पूर्ति कर, सौ वर्ष दस दिन की आयु प्राप्त कर राजा शूद्रक अग्नि में प्रविष्ट हो गए ॥ ४ ॥

अपि च—

समरव्यसनी प्रमादशून्यः ककुदो वेदविदां तपोधनश्च ।
परवारणबाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव ॥ ५ ॥

अस्याञ्च तत्कृतौ—

अवन्तिपुर्यां द्विजसार्थवाहो युवा दरिद्रः किल चारुदत्तः ।

पुनरपि प्रकारान्तरेण शूद्रकं विशेषयति—समरव्यसनीति--शूद्रको नाम क्षितिपालः=राजा समरव्यसनी=सततयुद्धोद्यतः (एतेनासाधारणयुद्धपाटवं व्यज्यते) प्रमादशून्यः-सावहितः 'प्रमादोऽनवधानता' इत्यमरः, वेदविदां = श्रुत्यभिज्ञानां, ककुदं=प्रधानः 'प्राधान्ये राजलिंगे च वृषांगे ककुदोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः, तपोधनः=तप एव धनं यस्य सः तपस्यारतः, परवारणबाहुयुद्धलुब्धः=परवारणैः शत्रुगजैः सह बाहुयुद्धे = मल्लयुद्धे, लुब्धः = साभिलाषः, बभूव = अभवत्, किलेति प्रसिद्धौ । मालभारिणीवृत्तम् ॥

सरलार्थः—सततयुद्धोद्यतः, सावहितः वेदवेत्ता, तपस्वी, युद्धरसिकः शूद्रको नामाभवत् इत्यर्थः ॥ ५ ॥

तत्कृतौ = शूद्रकविरचितमृच्छकटिके ।

कवेः स्वरूपमभिधायैतत्प्रकरणस्थनायकस्वरूपवर्णनमुपक्रमते—अवन्तिपुर्यामिति । अवन्तिपुर्याम् = उज्जयिन्याम्, सार्थं = वणिक्--समूहं वहतीति सार्थवाहो वणिक् 'सार्थो वणिक्-समूहे स्यादपि सङ्घातमात्रके' इति मेदिनी द्विजश्चासौ सार्थवाहश्चेति द्विजसार्थवाहो वाणिज्यलग्नब्राह्मणः किञ्च द्विजानां=ब्राह्मणादीनां सार्थं=संघातं वहति=अन्नादिना पालयति, अथवा द्विजसार्थान् दानप्रियत्वात्सर्वथा चालयति—'इत्यर्थो वा, स चासौ द्विजसार्थवाह इति दरिद्रः=निःस्वः, चारुदत्त = एतन्नाम्ना प्रसिद्धः, युवा=तारुण्यमुपगतः, किल=निश्चयः, आसीदिति योजनीयम् यस्य=चारुदत्तस्य, वसन्तस्य = मदनमित्रस्य ऋतोः शोभा = कान्तिरिव, वसन्तसेना=तन्नामिका काचित्, गणिका = वारस्त्री 'वारस्त्री गणिका वेश्या' इत्यमरः,

---

और भी—

संग्राम में कुशल, जागरूक, वैदिकों में श्रेष्ठ, तपोनिष्ठ तथा शत्रुओं के हाथी से मल्लयुद्ध करने के अभिलाषी शूद्रक नाम के राजा हुए ॥ ५ ॥

शूद्रक रचित इस प्रकरण में—

उज्जयिनी नगरी में व्यापारी—ब्राह्मण, निर्धन युवक चारुदत्त रहता था ।

गुणानुरक्ता गणिका च यस्य वसन्तशोभेव वसन्तसेना ॥ ६ ॥
तयोरिदं सत्सुरतोत्सवाश्रयं, नयप्रचारं, व्यवहारदुष्टताम् ।
खलस्वभावं भवितव्यतां तथा चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः ॥ ७ ॥

वेश्याकन्यकात्वेन वेश्या न तु चरित्रेणेति स्फुटीभविष्यति । गुणानुरक्ता = गुणैः सौन्दर्यादिभिः, अनुरक्ता = वशङ्गता बभूवेति शेषः । उपेन्द्रवज्रावृत्तम्—'उपेन्द्र-वज्रा प्रथमे लघौ सा' इति तल्लक्षणम् । अत्र श्रौती उपमा--'श्रौती यथेव वा शब्दा' इति दर्पणोक्तेः ॥

सरलार्थः—उज्जयिन्यां वणिक्कर्मनिरतः, निर्धनः, युवा, चारुदत्तनाम्ना प्रसिद्धः ब्राह्मणः, आसीत्, यस्मिन् गुणलुब्धा वसंतसेनानाम्नी वेश्यासुताऽनुरक्ता बभूव ॥

साम्प्रतं प्रकरणस्यास्य संक्षेपेण वक्तव्यविषयान् निर्दिशति-तयोरिदमित्या-दिना । इदं=मृच्छकटिकसंज्ञकं प्रकरणं तयोः = वसन्तसेनाचारुदत्तयोः सत् = समी-चीनं, यत् सुरतं=कामकेलिः तदेव उत्सवः=प्रमोदः स आश्रयः = निरूपणीयविषयः यस्य तत्, शूद्रको नृपः=तन्नामा नृपतिः, नयस्य=नीतेः प्रचारं=ख्यातिं, व्यवहार-दुष्टतां=व्यवहारः = अष्टादशप्रकाराणि विवादविषयाणि तेषां तेषु वा दुष्टतां अथवा व्यवहारस्य=चारुदत्तशकारयोर्विरोधविचारस्य, दुष्टतां = मृतनारीमपरीक्ष्यैव सम्पा-दितत्वादसमीचीनताम्, खलानां=दुष्टानां शकारादीनां स्वभावं=प्रकृतिम्, तथा-भवितव्यताम्=अघटितघटनाघटितां नियतिम्, एतत् सर्वं चकार=निर्ममौ, किलेति प्रसिद्धौ । अत्रेति पदाभावान्न्यूनपदत्वदोषोऽस्मिन् पद्ये । 'शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृता । ते च स्वा चैवराज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ।।' इति स्मृतिवचनात् ब्राह्मणस्य चारुदत्तस्याऽसवर्णया वसन्तसेनया सह परिणयो दोषमुद्व-हतीति मैवं गान्धर्वविवाहादौ तन्नियमाभावात्, परम्परानुरागप्रयोज्यत्वाच्च सुरतोत्सवस्यौचित्यान्नात्र संशयजनकत्वमिति वा बोध्यम् । वंशस्थविलं वृत्तम्-'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ' इति तल्लक्षणम् ।।

सरलार्थः—वसन्तसेनाचारुदत्तयोः कामक्रीडादिवर्णनं नीतिप्रदर्शनं खलानां चरित्रं, व्यवहारहीनतां, भवितव्यताञ्च सर्वं स्वमनसैव परिकल्प्य शूद्रको व्यर-चयत् ॥ ७ ॥

वसन्तकालीन शोभा के समान वसन्तसेना नाम की वेश्या उसके (चारुदत्त के) गुणों से आकर्षित हो गई थी ।। ६ ॥

कवि ने इस प्रकरण में उन दोनों (चारुदत्त तथा वसन्तसेना) के आनन्द विलास, नीति की गति, दुष्ट-व्यवहार, दुर्जनों का चरित्र तथा होनहार—इन सबों का वर्णन किया है ॥ ७ ॥

[परिक्रम्यावलोक्य च] अये ! शून्येयमस्मत्सङ्गीतशाला !! क्व नु गताः कुशीलवाः भविष्यन्ति ? [विचिन्त्य] आं ज्ञातम् ।

शून्यमपुत्रस्य गृहं, चिरशून्यं नास्ति यस्य सन्मित्रम् ।
मूर्खस्य दिशः शून्याः, सर्वं शून्यं दरिद्रस्य ॥ ८ ॥

परीति । परिक्रम्य=नटान्वेषणार्थं कियन्तं पादविन्यासं विधाय, अवलोक्य च=परितो दृष्टिं प्रसार्य च, अये=विषादसूचकमव्ययपदम् । 'अये क्रोधे विषादे चे'ति मेदिनी, कुशीलवाः=नटाः 'नटाश्चारणाश्च कुशीलवाः' इत्यमरः, कुत्सितम् शीलमेषामिति कुशीलवाः 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम्' इति केशादित्वाद्वप्रत्ययः केशव इतिवत् । क्व नु गताः=कुत्र गताः भविष्यन्ति=भूधातोर्लृटि प्रथमपुरुषबहुवचने रूपम् इयं=वर्तमाना, अस्मत्सङ्गीतशाला=अस्मदभिनयसभा शून्या=जनसम्मर्दरहिता, विचिन्त्य=मनसि कृत्वा, आं ज्ञातम्=पूर्वं विस्मृतमधुना स्मर्यते । 'आं स्मृतौ चावधारणे' इति विश्वः ।

अकस्मात् कुशीलवानामनुपस्थितेः कारणमनुपलभ्य स्वदीनतैव तद्धेतुत्वेन निश्चिनोति—

शून्यमिति । अपुत्रस्य=सत्पुत्रहीनस्य, गृहं=निकेतनं, शून्यं=शून्यसन्निभम्, सत्यपि सर्वपदार्थे तद्धीनतायां शून्यत्वप्रतीतेरिति भावः, यस्य=पुरुषस्य सन्मित्रं=नैसर्गिकसखा, नास्ति=न वर्तते तस्य पुत्रादिसमवधानेऽपि चिरशून्यं=चिराय=बहुकालाय शून्यं, यावज्जीवं दुःखकरम् इति भावः, मूर्खस्य दिशः=आशाः 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः, सर्वा एवेति शेषः, शून्याः=मूर्खस्य सर्वविधयोग्यताविरहेण निष्फलमनोरथत्वात् दुःखादः, इति भावः, दरिद्रस्य=निर्धनस्य तु सर्वं=गृहं दिशादिकञ्च, शून्यम्=निर्धनत्वेन न किमपि स्वाधीनम् अशनवसनादिकमपि परायत्तमेवेति गूढाभिसन्धिः, अत्र पद्ये प्रस्तुतस्य दरिद्रस्याप्रस्तुतस्यापुत्रादेः शून्यतारूपैकगुणनिर्देशात् दीपकालङ्कारः, क्रमशः अपुत्राऽपेक्षयाऽसन्मित्रे तदपेक्षया मूर्खे तदपेक्षया च दरिद्रे शून्यताव्याप्तेराधिक्यवर्णनात् 'उपमानापेक्षया उपमेयस्याधिक्ये व्यतिरेकः' इति लक्षणलक्षितव्यतिरेकालङ्कारः, द्वयोर्मिथोऽनपेक्षतयाऽवस्थानात्संसृष्टिः । किञ्च यतो दरिद्रस्य सर्वं शून्यम्, अत एव निःश्रीकस्य मम सङ्गीतशाला शून्या इत्यप्रस्तुतात् प्रस्तुतकार्यवर्णनाद-

---

(घूमकर और देखकर) अरे ! हम लोगों का संगीत-भवन निस्तब्ध है । कुशीलव (नट और चारण) न मालूम कहाँ चले गए ? (विचार कर) अच्छा, समझ गया—

उसका घर सूना प्रतीत होता है जो पुत्रहीन है, जिसे हार्दिक मित्र नहीं है

कृतञ्च सङ्गीतकं मया। अनेन चिरसङ्गीतोपासनेन ग्रीष्मसमये प्रचण्डदिनकरकिरणोच्छुष्कपुष्करबीजमिव प्रचलिततारके क्षुधा ममाक्षिणी खटखटायेते; तत् यावत् गृहिणीमाहूय पृच्छामि, अस्ति किञ्चित्, प्रातराशो न वेति। एषोऽस्मि भोः! कार्य्यवशात् प्रयोगवशाच्च प्राकृतभाषी संवृत्तः—

प्रस्तुतप्रशंसा, अपुत्रादेर्गृहादिशून्यमिव दरिद्रस्य सर्वशून्यमिति बिम्बप्रतिबिम्बभावकल्पनायां निदर्शनाऽपि सम्भाव्यत इत्यलम्। आर्यावृत्तम्—'यस्याःपादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽर्या' इति लक्षणम्।

सरलार्थः। अपुत्रस्य गृहं शून्यं सन्मित्ररहितस्यापि पुंसः सर्वथा दुःखमेव, मूर्खाणां कृते तु दिङ्मात्रमेव शून्यम्, दरिद्रस्य तु गृहपरिवारादिजगन्मात्रं दुःखकरमित्यर्थः॥ ८॥

मया = सूत्रधारेण, सङ्गीतकम् = प्रसङ्गानुगुणं गानं कृतम् = विहितम् चिरं बहुकालं सङ्गीतस्य=गानस्य उपासनेन = विधानेन तज्जन्याऽऽयासेन प्रचण्डश्चासौ दिनकरः मध्याह्नमार्तण्डस्तस्य किरणैः=रश्मिभिस्तैः उच्छुष्कं=नितान्तोपजातशोषं पुष्करस्य = कमलस्य 'पुष्कराम्भोरुहाणि चे'त्यमरः, तस्य बीजमिव प्रचलिते = चाञ्चल्यमुपगते तारके=कनीनिके 'तारकाक्ष्णः कनीनिके' इत्यमरः, ययोस्ते मम सूत्रधारस्य अक्षिणी = नयने क्षुधा = बुभुक्षया खटखटायेते=खटखटेत्यव्यक्त शब्दं कुरुतः क्यङन्तादात्मनेपदीयप्रथमपुरुषद्विवचने रूपम्। शब्दशून्येऽपि नेत्रे शब्दसम्भावनादुत्प्रेक्षा, सा च पुष्करबीजमिवेत्युपमानुगणिततयाऽधिकचमत्कारकारिणीति ध्येयम्। तद्यावत् गृहिणीम्=स्वप्रियां आहूय=सम्बोध्य पृच्छामि = जिज्ञासे, प्रातः अश्यते इति प्रातराशः=प्रातःकालीनभक्ष्यम् 'कर्मणि घञ्' पूर्वाह्णसिद्धान्नस्य मध्याह्नभोजनेनैव समाहृत्वादधुना यामार्द्धव्यतीतायां रात्रौ पाकसम्भावनाया अपि कर्त्तुमशक्यत्वात् क्षुन्निवृत्त्यर्थमामान्नमप्यस्ति नवेति तदीयतात्पर्यमिति भावः।

एषोऽस्मि = ऐषोऽहमस्मीत्यहमिति कर्तृबोधकपदमध्याहार्यम्।

भो इति सामाजिकानां सम्बोधनम् कार्यवशात्=स्त्रिया सह सम्भाषणरूपप्रयोजनपारतन्त्र्यात् 'स्त्रीषु नाप्राकृतं वदेत्' इति नियमादिति भावः 'कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः' इत्यालङ्कारिकसम्प्रदायानुरोधात् प्रयोगवशाच्च = अनायासावबोधयोग्यत्वाच्च प्राकृतभाषी=असंस्कृत भाषाप्रयोक्ता, संवृत्तः सञ्जातः।

उसका घर सदा से सूना है, मूर्खों के लिए दशों दिशाएँ सूनी हैं और निधन के लिए तो हर प्रकार से सब कुछ सूना है॥ ८॥

संगीत का अभिनय हो चुका। इस प्रकार अधिक समय तक संगीत में लगे

अबिद अबिद भोः ! चिरसंगीदोबासणेण सुक्खपोक्खरणालाइं बिअ मे बुभुक्खाए मिलाणाइं अंगाइं, ता जाव गेहं गदुअ आणामि, अत्थि किंपि कटुंबिणीए उबबादिदं ण वेत्ति। [परिक्रम्यावलोक्य च] एदं तं अम्हाणं गेहं, ता पविसामि। [प्रविश्यावलोक्य च] हीमाणहे ! किं णु क्खु अम्हाणं गेहे अबरं विअ संबिहाणअं बट्टदि !! आआमितंडुलोदअप्पबाहा रच्छा, लोहकड़ाहपरिबत्तणकसणसारा किदिविसेसआ बिअ जुअदो अहिचदरं सोहदि भूमी, सिणिद्धेण गंघेण उद्दीवत्ती विअ अहिअं बाधेदि मं बुभुक्खा; ता किं पुब्बबिहिदं णिहाणं उवबण्णं [उब्बण्णं] भवे ? आदु अहं ज्जेब बुभुक्खादो ओद्दणमअं जीअलोअं पेक्खामि !! णत्थि किल पादरासो अम्हाणं गेहे, पाणाच्चअं [पाणाधिअं] बाधेदि मं वुभुक्खा, इध सब्बं णबं बिअ संबिहाणअं बट्ठदि, एक्का बण्णअं पीसेदि, अबरा सुमणाइं गुंफेदि। [विचिन्त्य] किं ण्णेदं ? भोदु, कटुंबिणीं सद्दाबिअ परमत्थं जाणिस्सं। [नेपथ्याभिमुखमवलोक्य] अज्जे ! इदो दाव। (अविद अविद भोः ! चिरसङ्गीतोपासनेन शुष्कपुष्करनालानीव मे बुभुक्षया म्लानानि अङ्गानि, तत् यावत् गृहं गत्वा जानामि, अस्ति किमपि कुटुम्बिन्या उपपादितं न वेति। इदं तदस्माकं गृहं, तत् प्रविशामि। आश्चर्यम् ! किं न

अविदेति—खेदाश्चर्यबोधकमव्ययम्ः तदाधिक्यसूचनाय द्विरुच्चारणम् 'अदृष्टाश्रुतसम्प्राप्तावविदाविदभोः पदम्' इति समुदितस्यैव तादृशार्थो न तु केवलस्याविदशब्दस्येति प्राचीनाः कथयन्ति। चिरसङ्गीतोपासनेन=चिरकालगानकरणप्रयासेन, शुष्कं=नीरसं यत् पुष्करं=कमलं तस्य नालानि=दण्डानि इव=सदृशानि मे=मम सूत्रधारस्य=बुभुक्षया क्षुधया अङ्गानि=गात्राणि म्लानानि=शैथिल्यमुपगतानि, तद् यावत्=यस्मात् किञ्चित्कालं गृहं भवनं गत्वा=प्रविश्य जानामि=पृच्छामि कुटुम्बिन्या=जायया 'भार्या जायाऽथ पुंभूम्नि दाराः स्यात्तु कुटुम्बिनी' इत्यमरः, उपपादितम्=विरचितम् किमपि भक्ष्यमस्ति न वेति भावः।

रहने से—गर्मी के दिन में तीक्ष्ण सूर्य की किरणों से अत्यन्त सूखे हुए कमल बीज के समान चंचल पुतलीवाली मेरी आँखें भूख से विलचित हो रही हैं। तब तक मैं अपनी स्त्री को बुलाकर पूछता हूँ कि कुछ जलपान है कि नहीं। यह मैं प्रयोजनवश एवं प्रयोग सरलता के कारण प्राकृत बोलनेवाला हो जाता हूँ।

खेद का विषय है कि बहुत देर तक संगीत में श्रम करने से सूखे कमल

खलु अस्माकं गृहे अपरमिव संविधानकं वर्त्तते !! आयामितण्डुलोदकप्रवाहा रथ्या, लौहकटाहपरिवर्तनकृष्णसारा कृतविशेषका इव युवती अधिकतरं शोभते भूमिः, स्निग्धेन गन्धेन उद्दीप्यमानमेव अधिकं बाधते मां बुभुक्षा; तत् किं पूर्वविहितं निधानम् उपपन्नम् ['उववण्णं' इति पाठे 'उत्पन्नम्' इति सं] भवेत् ? अथवा, अहमेव बुभुक्षातः ओदनमयं जीवलोकं प्रेक्षे !! नास्ति किल प्रातराशोऽस्माकं गृहे, प्राणात्ययं ['पाणाधिअं' इति पाठान्तरे 'प्राणाधिकम्' इति सं] बाधते मां बुभुक्षा; इह सर्वं नवमिव संविधानकं वर्त्तते; एका वर्णकं पिनष्टि, अपरा

अपरमिव = अन्यदिव संविधानकम् = आयोजनम् आयामिनः = अतिदीर्घाः तण्डुलोदकानां=तण्डुलप्रक्षालनजलानां प्रवाहाः प्रसाराः यस्यां तथाभूताः रथ्याः- लघुमार्गाः (गली इति भाषा) लौहस्य कटाहः = अयःकटाहः (कड़ाह इति भाषा) तस्य परिवर्तनेन=विनिमयेन (इतस्ततः स्थापनेनेति यावत्) कृष्णसारः = कृष्ण-वर्णप्रधानः अत एव कृतविशेषकाः=कृतकृष्णतिलका युवतिः इव अधिकतरं=विशेष-तरं भूमिः=पृथ्वी शोभते=विभाति । अत्रोपमालङ्कारः । स्निग्धेन=रुचिसम्पादकेन गन्धेन=सौरभेण उद्दीप्यमानेव = वृद्धिङ्गतेव बुभुक्षा = भोजनेच्छा अधिकं = विपुलं बाधते=पीडयति ।

पूर्वविहितं=मत्पूर्वजैरर्जितम् निधानं = सङ्गोप्य भूगर्तस्थापितधनं (भारते पूर्वमेतादृशी परम्परा आसीदित्यनुमीयते) तदेव उपपन्नं = लब्धं भवेत् किम् = पदाभ्यामाभ्याम् जिज्ञासा विषयीभूता सम्भावना सूच्यन्ते, अन्यथा धनालाभे कथ-मेतावान्, महोत्सव इति भावः । अथवा—बुभुक्षितोऽहमेव जीवलोकं=संसारं ओदनमयं = सिद्धान्नमयं, प्रेक्षे = पश्यामि ।

प्रातराशः=प्रातः अश्यत इति प्रातराशः=कर्मणि घञ् प्रभातभोज्यम् (जलपान) इति भाषायाम् प्राणात्ययं=प्राणानामत्ययो=विनाशो यस्मिन् कर्मणि तत् प्राणाप-हारिणीति यावत् बुभुक्षा = क्षुधा मां = सूत्रधारं बाधते = दुःखाकरोति इह = अत्र नवमिव=नूतनमिव=संविधानकम्=आयोजनं वर्तते । एका=काचित् स्त्री वर्णकं= कस्तूर्यादिकं हरिदादिरञ्जकद्रव्यं वा पिनष्टि=चूर्णयति । अपरा=तदन्या काचि-न्नारी सुमनसः=पुष्पाणि गुम्फति=ग्रथ्नाति ।

दण्ड के समान मेरे अङ्ग भूख से विवर्ण हो गए हैं। अब तक घर जाकर पता लगाता हूँ कि स्त्री ने कुछ (भोजन के लिए) तैयार किया है या नहीं (घूमकर और देखकर) यह मेरा घर है ! इसमें प्रवेश करता हूँ। (अन्दर जाकर और देखकर) आश्चर्य है ! मेरे घर में तो कुछ दूसरा ही आयोजन हो रहा है। धोए हुए चावल के जल से गली व्याप्त है। लोहे की कड़ाही की रगड़ से चिह्नित

सुमनसो गुम्फति । किं नु इदम् ? भवतु, कुटुम्बिनीं शब्दायित्वा परमार्थं ज्ञास्यामि । आर्ये ! इतस्तावत् ।)

नटी—[प्रविश्य] अज्ज ! इअंम्हि (आर्य ! इयमस्मि ।)

सूत्र—अज्जे ! साअदं दे । (आर्ये ! स्वागतं ते ।)

नटी—आणावेदु अज्जो, को णिओओ अणुचिट्ठीअदु त्ति ? (आज्ञापयतु आर्यः, भवतः को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति ।

सूत्र—अज्जे ! चिरसंगीदोवासणेण—[इत्यादि पठित्वा] अत्थि किंपि अम्हाणं गेहे असिदव्वं ण वेत्ति ? (आर्ये । चिरसङ्गीतोपासनेन अस्ति किमपि अस्माकं गेहे अशितव्यं न वेति ?)

किन्तु इदम्=आश्चर्यद्योतकमेतत् कुटुम्बिनीं=स्वप्रियां शब्दायित्वा=सम्बोध्य परमार्थं=सत्यवार्तां ज्ञास्यामि=वेत्स्यामि । आर्य्ये=सूत्रधारोक्तं सम्बोधनम्. इतस्तावत्=इहागम्यताम् (त्वयेति शेषः) तावदिति वाक्याऽलङ्कारे ।

प्रविश्य=प्रवेशं कृत्वा इयम् अहम् अस्मि=उपस्थिताऽस्मीति यावत् ।

आर्ये ! स्वागतम्=शोभनमागमनम् ते=तव (आदरप्रदर्शनमेतत्) ।

भवतः=तव को नियोगः=काऽऽज्ञा मया अनुष्ठीयताम्=परिपाल्यताम् इति भवान् विज्ञापयतु ।

अस्माकं गृहे अशितव्यम्=खाद्यम् किमपि भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यान्यतमेषु—एकमपि अस्ति न वेति प्रश्नाशयः ।

भूमि—बिन्दी आदि की रचनाओं से सजी हुई युवती के समान अधिक सुशोभित हो रही है । उठती हुई (पकवान की) मनोहर सुगन्ध मेरी भूख को और भी बढ़ा रही है । तो क्या पूर्वजों का संचित गड़ा हुआ धन मिल गया है ? अथवा मैं ही भूख के कारण सारे संसार को भातमय देख रहा हूं । हमारे घर में कुछ भी प्रातःभोजन नहीं है । भूख के कारण मेरा प्राण निकलना चाहता है । यहां तो सब नवीन ही आयोजन हो रहा है । कोई स्त्री मसाला पीस रही है और कोई पुष्पों की माला गूँथ रही है ! (सोचकर) यह क्या है ! अच्छा, गृहिणी को बुलाकर इसका अभिप्राय पूछूं । (नेपथ्य की ओर देखकर) आर्ये ! इधर आओ ।

नटी—(आकर) आर्यपुत्र ! यह आई ।

सूत्रधार—आर्ये ! तुम्हारा स्वागत करता हूं ।

नटी—आर्य ! आज्ञा दीजिए, कौन सा कार्य करना चाहिए ?

सूत्रधार—आर्ये ! (अधिक समय तक संगीत में श्रम करने से इत्यादि

नटी—अज्ज । सब्बं अस्थि । (आर्य ! सर्वमस्ति ।)

सूत्र—किं किं अत्थि ? (किं किमस्ति !)

नटी—तं जधा,—गुड़ोदणं, घिअं, दहीं, तंडुलाइं, अज्जेण अत्तब्वं रसाअणं सब्बं अस्थि त्ति; एब्वं दे देबा आसासेदु । (तत् यथा—गुडौदनं, घृतं, दधि, तण्डुलाः, आर्येण अत्तव्यं रसायनं सर्वमस्तीति; एवं ते देवा आशंसन्ताम्)

सूत्र—किं अम्हाणं गेहे सब्बं अस्थि ? आदु परिहससि ? (किम् ! अस्माकं गेहे सर्वमस्ति ? अथवा परिहससि ?)

नटी—[स्वगतम्] परिहसिस्सं दाव । [प्रकाशम्] अज्ज अस्थि आवणे । (परिहसिष्यामि तावत् । आर्य ! अस्ति आपणे ।)

सूत्र—[सक्रोधम्] आः अणज्जे । एब्ब दे आसा छिज्जिस्सदि, अभाव अ गमिस्ससि, जंदाणि अहं बरंडलंबुओ बिअ दूरं उक्खिबिअ पाडिदो ।

गुडमिश्रितमोदनम् = पायसम् अत्तव्यम् = भवितुं योग्यं रसायनम् = रसानां अयनम् आश्रयभूतं पूर्वोक्तं दध्यादिरूपं सर्वं वर्तत इति भावः, एवं ते = तव देवाः सर्वपदार्थसत्तायै अनेन प्रकारेण आशासन्ताम् = आशीर्वादविषयीकुर्वन्ताम् । अयमभिप्रायो—यत् साम्प्रतन्नास्ति किन्तु देवानां प्रसादात् कदाचित् ते ते पदार्था मिलिष्यन्तीति सन्देहोपस्थानम् ।

कुत्रचित् आशंसन्तु इति पाठस्तत्पक्षे च आङुपसर्गकशंसु-स्तुताविति धातोर्लोटि प्रथमपुरुषबहुवचने रूपम् आसमन्तात् शंसन्तु = स्तुतिङ्कुर्वन्त्वित्यर्थः । व्यङ्ग्योक्तिरियम् । सन्देहप्रयोजकतद्वाक्यं श्रुत्वा सूत्रधारः पृच्छति किं परिहासं करोषि । परिहासवशादेव सर्वमस्तीत्युक्तमन्यथा आपणे = पण्यवीथ्यामित्युक्तिरेव संगता तस्माद् गृहे नास्तीति व्यज्यते ।

पूर्वोक्त वाक्य कहकर) हमारे घर में कुछ खाने के लिए है कि नहीं ?

नटी—आर्य ! सब कुछ है ।

सूत्रधार—क्या-क्या है ?

नटी—'गुड़ से सना हुआ अन्न, घृत, दही, भात—आर्य के भोजन-योग्य सभी सरस पदार्थ हैं' इस प्रकार आप के देवगण कहते हैं ।

सूत्रधार—क्या हमारे घर में सब कुछ है अथवा परिहास करती है ।

नटी—(अपने मन में) परिहास करूंगी । (प्रकट) आर्य ! बाजार में ।

सूत्रधार—(क्रोध के साथ) री दुष्टे ! यदि इस समय में बांस (वंशधनुष)

(आः !! अनार्ये ! एवं ते आशा छेत्स्यति, अभावञ्च गमिष्यसि, यदिदानीमहं वरण्डलम्बुक इव दूरमुत्क्षिप्य पातितः ।)

नटी—मरिसेदु मरिसेदु अज्जो; परिहासो क्खु मए किदो । (मृष्यतु मृष्यत्वार्यः, परिहासः खलु मया कृतः ।)

सूत्र—ता किं उण इदं णवं विअ संविहाणअं वट्टदि ? एक्का वण्णअं पीसेदि, अवरा सुमणाइं गुंफेदि, इअं अ पंचवण्णकुसुमोवहारसोहिदा भूमि । (तत् किं पुनरिदं नवमिव संविधानकं वर्तते ? एका वर्णकं पिनष्टि, अपरा सुमनसो गुम्फति, इयञ्च पञ्चवर्णकुसुमोपहारशोभिता भूमिः ।)

नटी—अज्ज ! उववासो गहिदो । (आर्य उपवासो गृहीतः ।)

सूत्र—किं-णामहेओ अअं उववसो ? (किं नामधेयोऽयमुपवासः ?)

एवं=अनेन प्रकारेण ते=तव आशा=अभिलाषा छेत्स्यति=भग्ना भविष्यति अभावञ्च गमिष्यसि=अभिलषितद्रव्याणां क्षयं प्राप्स्यसि यत्=यस्मात् कारणात् अहं=सूत्रधारः, इदानीम्=अधुना वरण्डलम्बुकः=वरण्डः=दीर्घकाष्ठं तस्य लम्बुकः= तत्प्रान्तनिबद्धो मृत्तिकास्थूणः स हि द्रोण्यां जलोद्धारार्थं दूरमुत्थाप्याधः पात्यते अथवा वरण्डलम्बुकः=बालक्रीडार्थं गुटिकाविशेषः, यो हि क्रीडाक्रमेण आकाशे दूर-मुत्थाप्याधः पात्यते एवमेव त्वयाऽपि आशां दत्त्वा निराशः कृत इति तात्पर्यम् ।

मृष्यतु=क्षमताम् ।

चकितः स पृच्छति तत् किं संविधानकम्=आयोजनम्, पञ्चवर्णानाम्=नील-पीत–रक्त–कृष्ण शुभ्राणाम् कुसुमानाम्=पुष्पाणाम्–उपहारेण–इतस्ततः निक्षेपेण

के ढेले के समान ऊपर उठाकर गिराया गया हूँ, तो तेरी भी आशा इसी प्रकार भंग होगी और साथ ही तेरा नाश भी होगा ।

नटी—आर्य प्रसन्न हों, मैंने परिहास किया है ।

सूत्रधार—तो फिर क्यों यह नया आयोजन हो रहा है ? एक स्त्री मसाला पीस, रही हैं, दूसरी माला गूँथ रही है । और यह भूमि पाँच (लाल, नीले, पीले, काले तथा उजले) रंग के पुष्पोपहार से सुशोभित हो रही है ।

नटी—आर्य ! उपवास किया है ।

सूत्रधार—यह कौन सा उपवास है ?

नटी—अहिरूववदी णाम। (अभिरूपपतिर्नाम।)

सूत्र—अज्जे ! इहलोइओ, आदु पारलोइओ ? (आर्ये ! इहलौकिकः, अथवा पारलौकिकः ?)

नटी—अज्ज ! पारलोइओ। (आर्य ! पारलौकिकः।)

सूत्र—[सरोषम्] पेक्खंतु पेक्खंतु अज्जमिस्सा ! मइएण भत्तपरिव्वएण पारलोइओ भत्ता अण्णेसीअदि !! (प्रेक्षन्तां प्रेक्षन्ताम् आर्यमिश्राः। मदीयेन भक्तपरिव्ययेन पारलौकिको भर्ता अन्विष्यते !!)

नटी—अज्ज ! पसीद पसीद; तुमं ज्जेव मम जम्मंतरेवि भत्ता भविस्ससि त्ति उववसिदम्हि (आर्य ! प्रसीद प्रसीद। त्वमेव मम जन्मान्तरेऽपि भर्ता भविष्यसि इत्युपोषिताऽस्मि।)

अभिरूपपतिर्नाम=अभिरूपः=सुन्दरः पतिर्यस्मात्, तन्नामकं उपवासात्मकं व्रतम् अनेन व्रतेन पतिः सुन्दरो भवतीति भावः एतदुक्त्या सूत्रधारे कुरूपता सूचिता। उपोष्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्याऽधिकरणे घञि कृते उपवासशब्दनिष्पत्तिः।

इह लोके भव इति विग्रहे, अध्यात्मादेरिति ठञि इकादेशेऽनुशतिकादित्व‌द्‌दुभयपदवृद्धौ प्राप्तायां लक्ष्यानुसारात्परपदस्यैव वृद्धिः, वर्तमानपतावेव सुन्दरताप्रयोजकः परलोके भव इत्यर्थे पूर्ववदेव ठञि अनुशतिकादीनाञ्चेत्युभयपदवृद्धौ पारलौकिक इति सिद्ध्यति जन्मान्तरीयपत्यन्तरे सुन्दरतासम्पादक इति तात्पर्यम्।

आर्यमिश्राः=सभ्याः, भक्तपरिव्ययेन=ओदनवितरणेन 'भक्तमन्ने तत्परे च' इति हेमचन्द्रः, अन्नं मदीयम् उपकारेच्छा मदन्यस्य इत्यन्याय्यं यदीयं द्रव्यं तस्योपकारकरणन्तु युक्तं किन्त्वनया मदीयभक्तव्ययेन लोकान्तरीयपत्यन्तरस्योपकारोऽभिलष्यत इत्यनुचितमिति भावः।

प्रसीद प्रसीद=प्रसन्नो भव आदरे द्विरुक्ति, जन्मातरे लोकान्तरे त्वमेव=भवानेव भर्त्ता पतिः भविष्यसीतीच्छयोपवासः उक्तञ्च 'पूर्वजन्मनि या विद्या पूर्वजन्मनि

नटी—अनुरूप पति पानेवाला उपवास है।

सूत्रधार—आर्ये ! इस लोक के लिए अथवा परलोक के लिए ?

नटी—आर्य ! परलोक के लिए।

सूत्रधार—(क्रोध के साथ) सज्जनगण ! आप लोग देखें ! मेरे अन्न के व्यय से दूसरे लोक के लिए पति खोजा जा रहा है।

नटी—आर्य ! प्रसन्न हों, मैं इसलिए व्रत कर रही हूँ कि दूसरे जन्म में भी आप ही मुझे पतिरूप में मिलें।

सूत्र—अअं उववासो केण दे उवदिट्ठो ? (अयमुपवासः केन ते उपदिष्टः ?)

नटी—अज्जस्स ज्जेव पिअवअस्सेण चुण्णवुड्ढेण। आर्यस्यैव प्रियवयस्येन चूर्णवृद्धेन।

सूत्र—[सकोपम्।] आः दासीए पुत्रा चुण्णवुड्ढा ! कदा णु क्खु तुमं कुविदेण रण्ण पालएण णववहूकेसकलावं विअ सुअन्धंकपिज्जन्तं पेक्खिस्सम्। (आः दास्याः पुत्र ! चूर्णवृद्ध ! कदा नु खलु त्वां कुपितेन राज्ञा पालकेन नववधूकेशकलापमिव सुगन्धं छेद्यमानं प्रेक्षिष्ये !)

नटी—पसीददु अज्जो ! अज्जस्स ज्जेव पारलोइओ अअं उववासो। [इति पादयोः पतति।] (प्रसीदतु आर्यः। आर्यस्यैव पारलौकिकः अयमुपवासः।)

यद्धनम्। पूर्वजन्मनि या नारी अग्रे धावति धावति' इति। साम्प्रतं यत् कुरूपत्वा त्वयि तन्निवारणायाऽभिरूपतासम्पादनाय च मयाऽनुष्ठीयते—इति नानौचित्यम्।

आर्यस्यैव = तवैव न पुनर्मम, प्रियवयस्येन = अन्तरङ्गमित्रेण न तु रिपुणा, अतोऽत्र न शङ्काकलङ्कः। चूर्णवृद्धेन = इष्टकादिचूर्णक्रियाकरणेन चूर्णविक्रयेण वा वृद्धिमुन्नतिं गतः, इत्यन्वर्थसंज्ञकः चूर्णवृद्ध इति भावः।

आः इत्याक्षेपद्योतकमव्ययम्, दास्याः पुत्रः दास्यामुत्पन्नतनयः (एतदुक्त्या चूर्णवृद्धे चाञ्चल्यं व्यज्यते) कारणगुणपूर्वकत्वात्कार्यस्येति तात्पर्यम्। राज्ञा भूपतिना, पालकेन एतन्नामकेन, शोभनो गन्धो यस्य तं, नववध्वाः = नूतनस्त्रियः केशकलापमिव = केशसमूहमिव (कलापो भूषणे बर्हे तूणीरे संहतेऽपि च) इत्यमरः। छेद्यमानं, प्रेक्षिष्ये = अवलोकयिष्ये। आत्रायमभिसन्धिर्यत् यथा पालको राजा स्त्रीभ्यः क्रुद्धः नारीणां वधानर्हतया केशच्छेदनादिना ता विरूपा विधत्ते तथैव त्वदीया गतिर्भविष्यति।

अनेन चारुदत्तस्य संहाराङ्के निग्रह सूचितः। आर्यस्यैव = तवैव, पारलौकिकः = जन्मान्तरसौन्दर्यसम्पादकः।

सूत्रधार—अच्छा इस व्रत को किसने बताया है !

नटी—आपके ही प्रिय मित्र चूर्णवृद्ध ने।

सूत्रधार—(क्रोध के साथ) अरे ! अधमपुत्र चूर्णवृद्ध ! कब वह दिन आवेगा जब क्रुद्ध राजा पालक के द्वारा नववधू के सुगन्धित केशपाश के समान तुम्हें विदीर्ण होता हुआ मैं देखूँगा ?

नटी—आर्य प्रसन्न हों। यह पारलौकिक व्रत तो आप ही के लिए किया जा रहा है। (ऐसा कहकर चरणों पर गिर जाती है)।

सूत्र—अज्जे ! उट्ठेहि, कधेहि एत्थ उववासे केण कज्जं ? (आर्ये ! उत्तिष्ठ, कथय-अत्र उपवासे केन कार्यम् ?)

नटी—अम्हारिसजणजोग्गेण वम्हणेण उवणिमन्तिदेण (अस्मादृश-जनयोग्येन ब्राह्मणेन उपनिमन्त्रितेन ।)

सूत्र—तेण हि गच्छदु अज्जा । अहं पि अम्हारिसजणजोग्गं वम्हणं उपणिमन्तेमि । (तेन हि गच्छतु आर्या । अहमपि अस्मादृशजनयोग्यं ब्राह्मण-मुपनिमन्त्रयामि ।)

नटी—जं अज्जो आणवेदि । (इति निष्क्रान्ता) । (यदार्य आज्ञापयति ।)

सूत्र–(परिक्रम्य ।) हीमाणहे ! ता कधं मए एव्वं सुसमिद्धाए उज्जइणीए अम्हारिसजणजोग्गो वम्हणो अण्णेसितव्वो । (विलोक्य) । एसो चारुदत्तास्स मित्तं मित्तेओ इधो ज्जेव आअच्छति भोदु, पुच्छिस्सं दाव । अज्ज मित्तेअ ! अम्हाणं गेहे असिदुं अग्गणी भोदु अज्जो ! (आश्चर्यम् ? तत् कथं मया एवं

अत्र उपवासे=अस्मिन् व्रते, केन=कीदृशेन व्यक्तिविशेषेण, कार्यं=प्रयोजनम् ।

अस्मादृशस्य = निर्धनस्य, जनस्य = लोकस्य योग्येन = अप्रतिष्ठितेन (लोभ-शून्येन वा) उपनिमन्त्रितेन = भोजनार्थमाहूतेन, कार्यं वर्तत इति शेषः । ये समृद्धाः उत्कृष्टभोजिनो वा तेषां दरिद्रगृहे निकृष्टभोजनं दुःखायैव भवति तेन पुण्यापेक्षया पापाधिक्यमेवेति समृद्धिमतां निमन्त्रणं व्यर्थमेवेति भावः ।

स्वगृहे व्रतानुष्ठाननिमित्तकस्य ब्राह्मणभोजनस्यावश्यकत्वे तत्पूर्वं क्षुधार्तोऽप्यहं कथं भुञ्जीयेति सूत्रधारस्य ब्राह्मणान्वेषणे शीघ्रता । ब्राह्मणभोजनात्प्राक् स्वभोजने धर्मनीतिविरुद्धत्वादनौचित्यम्, भोजनाकरणे च क्षुधार्तत्वाद् दारुणयातना–इति विचार्य भोजनसामग्र्याः सज्जीकरणाय गच्छतु आर्येति स्त्रियमाज्ञापयति स्वयञ्च ब्राह्मणान्वेषणार्थं गच्छतीति प्रघट्टकार्थः ।

अहमपि = सूत्रधारोऽपि 'अस्मादृशजनयोग्यम् = निर्धनम्, ब्राह्मणम्=विप्रम्, उपनिमन्त्रयामि=उपनिमन्त्र्य आनयामि ।

आश्चर्यम्=सुसमृद्धजनसम्पन्नायामुज्जयिन्यां दरिद्रब्राह्मणो दुर्लभ इति भावः । 'शूद्रेषु दासगोपालकुलमित्रार्धसीरिणः । भोज्यान्ना नापितश्चैव यश्चात्मानं निवेदयेत्'।।

सूत्रधार—आर्ये ! उठो-उठो, कहो, यह व्रत किस प्रकार करना चाहिए ?

नटी—हम लोगों के योग्य ब्राह्मण को निमन्त्रण देकर ।

सूत्रधार—अच्छा तो आर्ये ! अपने काम पर जाओ । मैं भी अपने योग्य ब्राह्मण को निमन्त्रण दे आऊँ ।

नटी—जैसी आप की आज्ञा । (चली गई) ।

सूत्रधार—(घूमकर) आश्चर्य है कि किस प्रकार इस सम्परिसम्पन्न

सुसमृद्धायामुज्जयिन्याम् अस्मादृशजनयोग्यो ब्राह्मणः अन्वेष्टव्यः। एवं चारुदत्तस्य मित्रं मैत्रेय इत एव आगच्छति। भवतु, प्रक्ष्यामि तावत् आर्यं। मैत्रेय! अस्माकं गेहे अशितुमग्रणीर्भवतु आर्यः!)

नेपथ्ये भोः! अण्णं वम्हणं उवणितन्तेदु भवम्। वावुदो दाणिं अहम्। (भोः! अन्यं ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयतु भवान्! व्यापृत इदानीमहम्।)

सूत्र—अज्ज! सम्पण्णं भोअणं णोसवत्तंअ। अविअ दक्खिणा कावि दे भविस्सदि। (आर्यं! सम्पन्नं भोजनम् निःसम्पत्नञ्च। अपिच दक्षिणा कापि ते भविष्यति।)

इति स्मृतावचनानुरोधेन सूत्रधारस्य मैत्रेयकुलमित्रत्वात् चारुदत्तमित्रं मैत्रेयइत्युत्तमब्राह्मणत्वेऽपि स्वगृहे भोजनाय साधिकारमामन्त्यते यद् भवानेव अग्रणीः=अग्रगन्ता।

अग्रे नयतीत्यर्थे 'सत्सूद्विषद्रुहदुहे'त्यादिना क्विपि—'अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः' इति णत्वे साधुः। भवतु=प्रार्थनायां लोट्, एतेनान्येऽपि ब्राह्मणा भोजनार्थं निमन्त्रणीया इति सूचितम्।

नेपथ्ये=वेशपरिग्रहस्थाने, अन्तर्जवनिकामाहुर्नेपथ्यम्। केचित्तु मेदिनीकारानुरोधेन नेपथ्यं रङ्ग इत्यर्थमाहुः। भवतु=मैत्रेयः, इदानीम्=साम्प्रतम्, व्यापृतः=कार्यान्तरे व्यस्तः, अत एव विलम्बितुं न समर्थोऽस्मि, तेन हेतुना अन्यं ब्राह्मणम्=ब्राह्मणान्तरम्, भवान्=सूत्रधारः, उपनिमन्त्रयतु=भोजनार्थमानयतु। मैत्रेयोक्तिरियम्

भोजनम्=भुज्यते यत् तत् भोजनं=चतुर्विधखाद्यम्। भोज्यभक्ष्यलेह्यचूष्यभेदभिन्नमिति यावत्। सम्पन्नम्–प्रस्तुतम्, नात्र विलम्बेन कार्यातिपातसम्भावनेति भावः। निःसपत्नम्=निर्गताः सपत्नाः यस्य तत् निःसपत्नम्=निःशत्रुकम्–भोजकान्तरशून्यमिति यावत्। बहुभिः सार्द्धं भोजने विलम्बसम्भावना मम गृहे तु भवन्तं विना अन्यः कोऽपि भोजको नास्तीति बिलम्बशङ्का नात्र विधेयेति भावः। निमन्त्रणग्रहणेऽभिलाषवर्द्धनार्थं वक्ति अपि च दक्षिणेत्यादि—दक्षिणा=भोजनानन्तरं ब्राह्मणेभ्यो देयं द्रव्यम्, यथाशक्यं पणकम् वा मुद्रा वेत्यत्र नास्ति विशेषः।

उज्जयिनी नगरी में मैं अपने योग्य ब्राह्मण खोजूं? (देखकर) चारुदत्त का मित्र यह मैत्रेय इसी ओर आ रहा है। अच्छा इससे पूछूं। आर्य मैत्रेय! आज मेरे घर भोजन करने के लिए आप चलें।

नेपथ्य में—आप किसी दूसरे ब्राह्मण को निमंत्रण दें। इस समय मैं किसी अन्य कार्य में व्यस्त हूं?

सूत्रधार—आर्य! भोजन तैयार है और यहां कोई शत्रु भी नहीं है (अर्थात् भोजन में विलम्ब नहीं होगा)। अच्छा, आपकी दक्षिणा क्या होगी?

पुनर्नेपथ्ये—भोः यं दाणि पढमं ज्जेव पच्चादिट्ठोसि, ता को दाणि दे णिब्बन्धो पदे पदे मं अणुबन्धेदुम् । (भोः ! यदिदानीं प्रथममेव प्रत्यादिष्टोऽसि; तत् क इदानीं ते निबंन्धः पदे पदे मामनुबन्धुम् ।)

सूत्र—पच्चादिट्ठोह्मि एदिणा । भोदु, अण्ण वम्हणं उवणिमन्तेमि । (इति निष्क्रान्तः ।) (प्रत्यादिष्टोऽस्मि एतेन । भवतु अन्यं ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयामि ।)

इति आमुखम् ।

[प्रविश्य प्रावारहस्तो मैत्रेय। । 'अण्णं वम्हणम्' इति पूर्वोक्तं पठित्वा ।]

प्रथमम्=पूर्वम्–एव=निश्चितरूपेण प्रत्यादिष्टः=खण्डितः पदे पदे=पौनः-पुन्येन अनुसन्धातुम्=भोजनाय अनुरोद्धम्=निमन्त्रयितुमित्यर्थः । निबंन्धः= दुराग्रहः, एतेन=मैत्रेयेण, अन्यमित्यादि, अन्यथा ममापि भोजनं दुर्घटम्, तेन महती पीडा स्यादिति भावः । आ समन्ताद्भावेन मुखम्=आमुखम्–अभिनेयविषयस्य मुखस्थानीयम् प्रस्तावना 'विधेयंथैव संकल्पे मुखतां प्रतिपद्यते । प्रधानस्य प्रबन्धस्य तथा प्रस्तावना मता' तदुक्तञ्च साहित्यदर्पणे—

'नटी विदूषको वाऽपि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ।।
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा ।।'

अस्मिन्नभिनये परिगणितेष्वामुखभेदेषु प्रयोगातिशयो नाम वेदितव्यम्—तथाहि—'यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते । तेन पात्रप्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा ।।' तदानुकूल्येनात्र व्रतविषयकविचाररूपे प्रयोगे प्रस्तुते—एष चारुदत्तस्य मित्रमैत्रेयेत्यादि प्रयोगान्तरेण मैत्रेयरूपस्य पात्रस्य प्रवेशः । केचित्तु—'सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य वा । भवेत्पात्रप्रवेशश्चेत् कथोद्घातः स उच्यते ।।' इति लक्षणमनुसृत्य कथोद्घातरूपा प्रस्तावना, इत्याकलयन्ति ।

प्रविश्येति–प्रावृणोत्यनेन पूर्वकार्यमिति प्रावारः, करणे घञ् प्रावारः=उत्तरीयवस्त्र

पुनः नेपथ्यमें—अरे ! जब आपका निमंत्रण पहले ही अस्वीकृत कर दिया गया तो फिर क्यों व्यर्थ मुझे आग्रहपूर्वक निमन्त्रित करने का प्रयास कर रहे हैं ?

सूत्रधार—अब मैं आप की अस्वीकृत समझ गया । अच्छा, तो दूसरे ब्राह्मण को निमन्त्रित करता हूँ ।

प्रस्तावना समाप्त

[हाथ में उत्तरीय लिए मैत्रेय (विदूषक) का प्रवेश, 'दूसरे ब्राह्मण को निमन्त्रित कीजिए.......' इत्यादि पूर्वोक्त वाक्य को कहकर—]

विदू—अधवा मए वि मित्तेएण परस्स आमन्तणआइं भक्खिदव्वाइं। हा अवत्थे! तुलीअसि। जो णाम अहं तत्तभवो चारुदत्तस्स रिद्धीए अहोरत्तं पअतणसिद्धेहिं उग्गारसुरहि-गन्धेहि मोदकेहिं ज्जेव असिदो अब्भन्तरचदुस्सालदुआएउवविट्ठो मल्लक—सदपरिबुदो चित्तअरो विअ अङ्गुलीहिं छिविअ छिविअ अवणेमि णअरचत्तरवुसहो विअ रोमन्था-अमाणो चिट्ठामि, सो दाणिं अहं तस्स दलिद्दाए जहिं तहिं चरिअ गेहपारावदो विअ आवासणिमित्तं इध आअच्छामि। (अथवा मयापि मैत्रेयेण परस्य आमन्त्रणकानि भक्षितव्यानि। हा अवस्थे! तूलयसि। यो नामाहं तत्र भवतः चारुदत्तस्य ऋद्धया अहोरात्रं प्रयत्नसिद्धैः उद्गारसुरभि-गन्धैः मोदकैरेव अशितः अभ्यन्तरचतुःशालद्वारे उपविष्टः मल्लकशतपरिवृतश्चि-

---

तद्धस्ते यस्य स प्रावारहस्तः=करधृतोत्तरीयः 'द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ' इत्यमरः। 'अन्यं ब्राह्मणम्' इत्यादि पूर्वोक्तं पुनः पठित्वा।

प्रकारान्तरेण पक्षान्तरमाह—अथवेत्यादि—मयाऽपि=समृद्धचारुदत्तपरिजितेना-ऽपि परस्य=चारुदत्तव्यतिरिक्तस्य आमन्त्रणकानि=आमन्त्र्यते आकाल्यते येभ्य इत्यामन्त्रणकानि=आमन्त्रप्रस्तुतभोजनार्हद्रव्याणि 'कृत्यल्युटो बहुलमि'ति ल्युटि अनादेशो चामन्त्रणमिति सिद्धम्। कुत्सितानि आमन्त्रणानीति विग्रहे 'कुत्सिते' इति कप्रत्यये—आमन्त्रणकमित्यस्य सिद्धिः। हा अवस्थे=वर्तमानदारिद्र्यदशे! तूलयसि= तूलङ्करोषीति विग्रहे 'तत्करोति तदाचष्टे' इति तूलशब्दाण्णिच्, महान्तमपि जनं लघुं करोषि, दारिद्र्यस्य सर्वविधगौरवनाशकत्वादिति भावः। ऋद्धया=सम्पत्त्या प्रयत्नेन=अत्यादरेण सिद्धैर्निष्पन्नैः उद्गारेण=अशितद्रव्यस्य ऊर्ध्वगामिवायुवशादु-द्वमनेन सुरभिः=सुगन्धः गन्धो येषां मोदकादीनां तैः, न केवलं भोजनकाल एव सौरभोत्पत्तिः, अपि तु भोजनोत्तरमपि यावत् परिपाकमवस्थितिरिति भावः। मोदकैः=लड्डुकैः, अशितः=अशितमस्यास्तीति व्युत्पत्तौ 'अर्शआदिभ्यः' इत्यच् अशितः=भोजनेन तृप्तः, अभ्यन्तरे यत् चतुःशालम्=अन्योन्याभिमुखशालाचतुष्टयं गृहम्, तस्य द्वारे मल्लकाः=ह्रस्वाः मल्लाः—मल्लकाः=व्यञ्जनादिपूरितपात्राणि 'ह्रस्वे' इत्यनेन ह्रस्वार्थे कन् विविधव्यञ्जनपूर्णलघुपात्राणीति यावत्। यत्र व्यञ्ज-नानि नानाविधानि तत्र तावन्ति पात्राणि महान्ति स्थापयितुमशक्यानीति लघु-

---

विदूषक—अथवा मुझे मैत्रेय को भी निमंत्रण को वस्तुएँ खानी चाहिए? हाय रे समय! तूने मुझे रूई के समान हीन कर दिया। जो मैं उन चारुदत्त की समृद्धि से आदरपूर्वक प्राप्त सुरभित एवं मनोरम लड्डू से तृप्त था, अन्तः-

त्रकर इव अङ्गुलीभिः स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा अपनयामि, नगरचत्वरवृषभ इव रोम-न्थायमानस्तिष्ठामि। स इदानीमहं तस्य दरिद्रतया यस्मिन् तस्मिन् चरित्वा गेहपारावत इव आवासनिमित्तमत्र आगच्छामि।)

एसो अ अज्जचारुदत्तस्स पिअवअस्सेण चूणवुड्ढेण जादोकुसुमवा-सिदो पावारओ अणुप्पेसिदो सिद्धीकिददेवकज्जस्स अज्जचारुदत्तस्स उवणे-दव्वो त्ति। ता जाव अज्जचारुदत्तं पेक्खामि। [परिक्रम्य अवलोक्य च] एसो चारुदत्तो सिद्धीकिददेवकज्जो गिहदेवताणं बलिं हरेन्तो इदो ज्जेव आअ-च्छदि। (एष च आर्यचारुदत्तस्य प्रियवयस्येन चूर्णवृद्धेन जातीकुसुमवासितः

पात्राण्येव स्थाप्यन्त इति भावः। तेषां लघुपात्राणां शतेन=समूहेन परिवृतः=अभि-व्याप्तः चित्रकारः=रङ्गाजीवः 'रङ्गाजीवश्चित्रकर' इत्यमरः। इव=यथा अङ्गुलीभिः= हस्ताग्रभागैः स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा=पौनःपुन्येन स्पर्शं विधाय अपनयामि=त्यजामि, नाश्ना-मीति यावत्—अयं भावो यत् चित्रकारो यथा वर्णपात्रेभ्यः नानाविधान् वर्णाना-दाय मिश्रितवर्णञ्च कृत्वा तानि तानि पात्राणि त्यजति तद्वदहमपि भोजनबाहुल्ये-नातितृप्तत्वात् व्यञ्जनानामाधिक्यात् केवलं स्पृष्ट्वा अर्थात् किञ्चिदास्वाद गृहीत्वा त्यजामीति भावः। नगरस्य यत् चत्वरम्=अजिरम् 'अङ्गनं चत्वराजिरे' इत्यमरः। तस्य वृषभ इव=बलीवर्दसदृशः, रोमन्थायमानः=रोमन्थं वर्तयतीति विग्रहे 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरो' इति क्यङ् रोमन्थायते इति रोमन्थायमानः शानच् प्रत्ययः 'रोमन्थः स्यात्पशूद्गारो रोमन्थः कीटवर्तनम्।' इत्यनेकार्थध्वनिमञ्जरी। भोजनोत्तरं ताम्बूलादिचर्वणेन हनुदेशं भ्रामयन् तिष्ठामि, सोऽहमिदानीं तस्य चारु-दत्तस्य दरिद्रतायां सत्यां यस्मिन् तस्मिन् चरित्वा=एतेनानिश्चितजीविकात्वं व्यज्यते गेहपारावत इव=गृहपालितकपोतसन्निभः केवलम् आवासनिमित्तं=निवासहेतुकमेव अत्र चारुदत्तगृहे आगच्छामि।

एष च प्रियवयस्येन=प्रियमित्रेण चूर्णवृद्धेन=चूर्णवृद्धनाम्ना जातीकुसुमेन= मालतीपुष्पेण वासितः=सुरभीकृतः प्रावारकः=उत्तरीयवस्त्रम् अनुप्रेषितः। सिद्धी-

---

पुर के बैठक के द्वार पर बैठा हुआ सैकड़ों व्यञ्जन-पात्रों से घिरा हुआ चित्र-कार के समान उंगलियों से छू-छू कर उन्हें छोड़ता रहा, नगरप्राङ्गण के सांड़ के समान पागुर करता हुआ मैं स्थित रहा। इस समय वही मैं चारुदत्त की निर्धनता के कारण इधर-उधर से भोजन प्राप्त कर गृहकपोत के समान निवास करने के लिए यहाँ आया हूँ।

आर्य चारुदत्त के प्रियमित्र चूर्णवृद्ध ने जाती (चमेली) पुष्प से सुरभित इस

प्रावारकः अनुप्रेषितः सिद्धीकृतदेवकार्यस्य आर्यचारुदत्तस्य उपनेतव्य इति। तद् यावदार्यचारुदत्तं प्रेक्षे। एषा चारुदत्तः सिद्धीकृतदेवकार्यो गृहदेवतानां बलिं हरन् इत एवागच्छति।) [ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टश्चारुत्तो रदनिका च।]

चारु—(ऊर्ध्वमवलोक्य सनिर्वेदं निःश्वस्य)—

यासां बलिः सपदि मद्गृहदेहलीनां

कृतं=निष्पादित देवकार्यं=देवकृत्यं येन तस्य आर्यचारुदत्तस्य उपनेतव्यः= दातव्यः, इति आर्यचारुदत्तं प्रेक्षे=अवलोकयामि। चूर्णवृद्धनामा कश्चिच्चारुदत्तप्रियवयस्यः चारुदत्तोद्देश्येन वस्त्रं प्रेषितमिति चारुदत्तमन्विष्य तस्मै प्रदातव्यमितिविदूषकस्योक्तेरभिप्रायः। 'नासूचितं विशेत्पात्रम्' इति भरतोक्तनियमेन चारुदत्तप्रवेशसूचनायाह=पुनरेष इति। बलिं=देवपूजोपहारम् उपहरन्=ददत् इत एवागगच्छति। 'प्राच्या विदूषकादीनाम्' इति दर्पणोक्तेर्विदूषकस्येयं प्राच्या भाषा। भाषायाः सप्तविधत्वं नाट्यशास्त्रे वर्णितम्—'मागध्यवन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्धमागधी। बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः॥' अत्र वसन्तसेनाचारुदत्तयोरग्रे जनिष्यमाणसमागमरूपफलप्रथमहेतुभूतः परस्परानुरागो बीजं नामार्थप्रकृतिः। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च। अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि॥ अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यत्प्रसर्पति। फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते॥' इत्थञ्च भाविसमागमरूपप्रधानफलसिद्धये वसन्तसेनायाश्चारुदत्तहस्ते अलङ्कारनिक्षेपौत्सुक्यम् आरम्भो नामावस्था तल्लक्षणं तत्रैव। 'भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये।' एवञ्च 'यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा। प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम्॥'' इति लक्षणं संगच्छते। उपक्षेपादीनि द्वादशाङ्गानि यथास्थानं सलक्षणानि निर्देक्ष्यन्ते।

ततः=तदनन्तरं यथानिर्दिष्टः=गृहदेवताभ्यो बलिमुपाहरन् रदनिका=प्रशस्ता रदनाः सन्ति यस्य इति विग्रहे 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुवादयः॥'' इत्युक्तेः प्रशंसायम् 'अत इनिठनावि'ति ठनि तस्य 'ठस्येक' इतीकादेशे टापि तत्सिद्धिः, प्रशस्तदन्तशालिनी दासी रदनिकेति भावः।

सनिर्वेदम्=निर्वेदेन, दारिद्र्यजनितदुःखेन सहितमिति भावः।

यासामिति। यासाम् मद्गृहदेहलीनाम्=मम गृहाणि मद्गृहाणि तेषां या

उत्तरीयको भेजा है और कहा है कि देवकार्य-सम्पादित करनेवाले चारुदत्त के पास ले जाओ। अतः आर्य चारुदत्त को देखूँ। [घूमकर और देखकर] देवकार्य सम्पादित किए हुए यह आर्य चारुदत्त गृहदेवों की पूजा करते हुए इसी ओर आ रहे हैं। (इसके बाद निर्दिष्ट स्थान पर चारुदत्त और रदनिका का प्रवेश)

चारुदत्त—(ऊपर को देखकर और दुःख के साथ निःश्वास लेकर) कुछ

हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्तपूर्वः।
तास्वेव सम्प्रति विरूढतृणाङ्कुरासु
बीञ्जाजलिः पतति कोटमुखावलीढः ॥ ९ ॥

[इति मन्द मन्दं परिक्रम्योपविशति]

देहल्यः द्वारपिण्डिकाः बहिर्द्वारस्य काष्ठखण्डविशेषाः तासां 'गृहावग्रहणी देहली' इत्यमरः। बलिः=अक्षतादिपूजोपहारः सपदि=तत्क्षणे अर्पणसमये एवेति भावः। हंस =मरालैः च=पुनः सारसगणैश्च=सारसाख्यपक्षिविशेषश्च, विलुप्तपूर्वः=भक्षितपूर्वः सम्प्रति अधुना विरूढतृणाङ्कुरासु=विरूढाः=संस्काराभावादुत्पन्नाः तृणाङ्कुराः=दूर्वाद्यङ्कुराः यासु तासु गृहदेहलीषु, कीटमुखावलीढः—कीटमुखैः=कीटवदनैः अवलीढः= खण्डितः, अर्द्धभुक्त इति वा। बीजाञ्जलिः=अञ्जलिपरिमितधान्यादिः पतति, जीर्णभित्त्युपरिष्टादिति शेषः। अननुभूतपूर्वमिदं दारिद्रयदुःखमिति भावः। 'पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्। एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥' इति लक्षणलक्षितो हंससारसगणयोरप्रस्तुतयोरेकलोपक्रियाभिसम्बन्धात् तुल्ययोगितालङ्कारः। 'पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते' इतिलक्षणाद्दारिद्र्यरूपकारणस्य तृणाङ्कुरोत्पत्तिबीजाञ्जलिप्रपातरूपकार्येण स्पष्टबोधनात्पर्यायोक्तालङ्कारश्च। द्वयोः परस्परनिरपेक्षतयाऽवस्थानात्संसृष्टिरलङ्कारः। 'ज्ञेयं वसन्ततिलकं त-भ-जा-ज-गौ गः' इति लक्षणाद् वसन्ततिलकं 'नामवृत्तमिति ध्येयम्। पुरुषाणामनीचानां संस्कृतं स्यात्कृतात्मनामि'त्यभियुक्तोक्तेश्चारुदत्तवाग्व्यवहारस्य संस्कृतेनैवोचितत्वात्तथैवानुष्ठितमिति भावः। 'दद्याद्धात्रे विधात्रे च बलिं द्वारे गृहस्य चे'ति मार्कण्डेयपुराणवचनाद् गृहद्वारे बलिप्रदानवर्णनं भारतीयप्राचीनसभ्यतामावेदयति ॥

सरलार्थः—येषां मम गृहसम्मुखस्थानानां तण्डुलादिपूजोपहारः अर्पणसमय एव हंसैः सारसादिपक्षिगणैश्च भक्षितपूर्वः तत्रैव सम्प्रति दूर्वादिसंयुक्तासु गृहदेहलीषु कीटर्धभुक्तः जीर्णभित्त्युपरिदेशादञ्जलिपरिमितधान्यादिः पतति, अननुभूतपूर्वमिदं दुःखमिति भावः ॥ ९ ॥

दिन पहले हमारे जिस द्वार पर पूजा के समय गिराए द्रव्यों को हंस और सारस पक्षियाँ खाया करती थीं, (मनुष्यों के आवागमन के अभाव से) उसी तृण उगी हुई भूमि पर इस समय कीड़ों के मुख से खण्डित बीजों के समूह गिरते हैं ॥ ९ ॥ (इस प्रकार धीरे २ घूमकर बैठ जाते हैं।)

विदू—एसो अज्जचारुदत्तो ता जाव सम्पदं उपसप्पामि (उपसृत्य ।) सोत्थि भवदे । वड्ढदु भवं । (एष आर्यचारुदत्तः । तद्यावत् साम्प्रतमुपसर्पामि । स्वस्ति भवते । वर्द्धतां भवान् ।

चारु—अये ! सर्वकालिमित्रं मैत्रेयः प्राप्तः । सखे ! स्वागतम् आस्यताम् ।

विदू—जं भवं आणवेदि । (उपविश्य ।) भो वअस्स ! एसो दे वअस्सेण चूण्णवुड्ढेण जादीकुसुमवासिदो पावारओ अणुप्पेसिदो सिद्धीकिददेवकज्जस्स अज्जचारुदत्तस्स तुए उवणेदव्वो त्ति । (समर्पयति ।) (यद्भवान् आज्ञापयति । भो वयस्य ! एष ते वयस्येन चूर्णवृद्धेन जातीकुसुमवासितः प्रावारकः अनुप्रेषितः सिद्धीकृतदेवकार्यस्य आर्यचारुदत्तस्य त्वया उपनेतव्य इति ।)

चारु—(गृहीत्वा सचिन्तः स्थितः ।)

विदू—भो ! इदं किं चिन्तीअदि ? (भोः इदं किं चिन्त्यते ?)

चारु—वयस्य !

साम्प्रतमुपसर्पामि = इदानीं गच्छामि । स्वस्ति = कल्याणम् वर्द्धताम्, समृद्धयेति शेषः ।

अये = हर्षसम्भ्रमे 'अये क्रोधे विषादे च सम्भ्रमे स्मरणेऽपि च । सर्वेष्वेव हि कालेषु सम्पत्सु च विपत्सु च' इति विश्वः । मित्रं = सुहृत्, सर्वकालविशेषणेन मैत्रेयस्यात्यन्तापकारिता द्योत्यते । प्राप्तः = समागतः, आस्यताम् = स्थीयताम् ।

उपनेतव्यः = दातव्यः, इत्यादिश्य अनुप्रेषितः ।

भूतपूर्वसमृद्धस्य चारुदत्तस्याधुना दारिद्र्यात् परप्रेषिततुच्छोपहारावलोकनाद् शोकोदयेन चिन्तायुक्तत्वं ज्ञेयम् । सिद्धीकृतदेवकार्यस्येति चारुदत्तविशेषणम् सम्पादितदेवकृत्यस्येत्यर्थः । एतेन चारुदत्तस्य कर्तव्यपरायणता सूच्यते ।

विदूषक—यह आर्य चारुदत्त हैं । अब उनके पास चलूं । (पहुंच कर) श्रीमान् का प्रणाम है । आपकी वृद्धि हो ।

चारुदत्त—अरे ! सब समय के मित्र मैत्रेय आ गए । सखे ! स्वागत है । बैठिए ।

विदूषक—जैसी आप की आज्ञा । (बैठ कर) हे मित्र ! तुम्हारे मित्र चूर्ण वृद्ध ने जातीपुष्प से सौरभित उत्तरीय को भेजा है और मुझसे कहा है कि देवकार्य सम्पादित करने वाले आर्य चारुदत्त के पास ले जाओ । (समर्पण करता है)

चारुदत्त—(लेकर चिन्तित हो जाता है)

विदूषक—मित्र ! क्या चिन्ता करते हो ?

चारुदत्त—सखे !

सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम् ।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः स जीवति ॥१०॥

विदू—भो वअस्स ! मरणादो दालिद्दादो वा कदरं दे रोअदि ।
(भो वयस्य ! मरणात् दारिद्र्याद्वा कतरत् ते रोचते ?)

चारु—वयस्य !

विलासिजनोचितं कुसुमवासितं प्रावारकमुपलभ्य स्वीयवर्तमानदशाप्रातिकूल्यमुपदर्शयन्नाह-सुखमिति । घनाः=निबिडा ये अन्धकारास्तिमिराणि तैराच्छन्नेषु देशेषु दीपदर्शनमिव=प्रदीपप्रकाश इव दुःखानि=कष्टानि अनुभूय=विज्ञाय स्थितस्य जनस्य सुखं=प्राह्लादः, हि=निश्चयेन शोभते=राजते, तु=किन्तु यो नर=पुरुषविशेषः सुखात्=उत्पत्तिहेतुकसुखभोगात्, परकालमित्यर्थः । दरिद्रतां=निर्धनतां याति=दारिद्र्यनिबन्धनदुःखमाप्नोति स=नरः शरीरेण=देहेन धृतः=आश्रितः सन् मृतः=परलोकङ्गत एव जीवति=प्राणान् धारयति, तज्जीवनमकर्मण्यं सद्धेयमेव भवतीति तात्पर्यम् । अहमपि सम्पन्नावस्थातः परं दारिद्र्यदशोपनिबद्धो जीवन्मृत एवास्मीति विचार एव चिन्ताहेतुः । वंशस्थबिलं वृत्तम् ।

अप्रस्तुतनरसामान्यकथनात्प्रस्तुतचारुदत्तरूपव्यक्तिविशेषप्रतिपत्तेरप्रस्तुतप्रशंसा, पूर्वार्द्धे इवपदश्रवणात् श्रौती उपमा, उत्तरार्द्धे मृतो जीवति इति विरोधप्रतीतेः विरोधाभासश्च, तत्परिहारस्तु मृत इत्यस्य विशेषकर्मानिहं इत्यर्थकरणेन कार्यं इति ध्येयम् । मिथोऽलङ्काराणां गुणप्रधानभावादङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः । एककर्तृकत्वाभावे क्त्वाप्रत्ययस्यस्योत्पत्तुमनर्हत्वात् स्थितादिपदध्याहारस्यावश्यंकरणीयतया न्यूनपदत्वदोषः, मृत एवेति नियमानुक्तावनियमाख्यदोषः, उभौ च दोषौ प्रथमपादे 'सुखं हि दुःखानुभवात् परं वरम्' इति चतुर्थपादे च 'धृतः स तन्वा मृत एव जीवति' इति पाठविनिमयेन वारणीयौ ॥

सरलार्थं—निबिडान्धकारे दीपदर्शनं यथा सुखकरं भवति तथा दुःखान्तरं

घोर अन्धकार में जिस प्रकार दीपक का प्रकाश सुशोभित होता है उसी प्रकार दुःख का अनुभव कर लेने पर सुख का आगमन आनन्दप्रद होता है। किन्तु जो मनुष्य सुखकर लेने के पश्चात् निर्धन होता है वह शरीरधारी होते हुए भी मृतक के समान जीवित रहता है ॥ १० ॥

विदूषक—हे मित्र ! मृत्यु और दरिद्रता में से तुम्हें कौन अधिक पसन्द है ?

चारुदत्त—मित्र !

दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम् ।
अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम् ॥ ११ ॥

विदू—भो वअस्स ! अल सन्तावेण । पणइजणसंकामिदविहवस्स सुरलोअपीदसेसस्स विअ पड़िवच्चंदस्स परिक्खओ वि दे अहिअदरं रमणीओ । (भो वयस्य ! अलं सन्तापेन । प्रणयिजनसंक्रमितविभवस्य सुरलोकपीतशेषस्येव

सुख चमत्करोति यस्तु सुखानन्तरं दरिद्रतायां गच्छति स नरः शरीरेण धृतोऽपि मृतक इव जीवति ॥ १० ॥

दारिद्र्यमरणयोः कतरद्वरमिति जिज्ञासायां मरणस्यैव श्रेष्ठ्यमाह—दारिद्र्यादिति । दारिद्र्यात्=दैन्यात् मरणात्=परलोकगमनात् उभयत्राश्रित्यपदाध्याहारात्ल्यब्लोपे पञ्चमी, मम=चारुदत्तस्य सम्बन्धविवक्षया षष्ठी, अन्यथा 'रुच्यर्थानां प्रीयमाण' इति चतुर्थी स्यात्, मरणं=मृत्युरेव रोचते = प्रीणाति दारिद्र्यं=दैन्यं न रोचते इति शेषः । यतः मरणं = मृत्युः अल्पक्लेशम् = अल्पः क्लेशो यस्मिन् तत् तादृशं मरणं स्वल्पदुःखकरं स्वल्पसमयस्थायित्वादिति भावः । किन्तु दारिद्र्यं = दैन्यम् अनन्तकं = न विद्यते अन्तः समाप्तिर्यस्य तत् तादृशम्, आजीवनव्यापित्वाज्जीवनपर्यन्तदुःखदमिति तात्पर्यम् आर्या नाम वृत्तम् ।

अत्र नञा दारिद्र्यनिषेधात् शाब्दी परिसंख्या, 'प्रश्नादप्रश्नतो वाऽपि कथितात् वस्तुनो भवेत् । तादृगन्यव्यपोहश्च शाब्द आर्थोऽथवा तदा ॥' परिसंख्या इति लक्षणात् पूर्वार्द्धोक्तार्थम्प्रति परार्द्धवाक्यार्थस्य हेतुतया वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमि' त्युक्तेः ।

उपमानमरणापेक्षया उपमेयस्य दारिद्र्यस्याधिक्यवर्णनात् व्यतिरेकालङ्कारः, 'आधिक्यमुपमेयस्योपमानादि'ति दर्पणोक्तेः । पूर्ववदत्रापि मिथोऽलङ्काराणांगुणप्रधानभावात् अङ्गाङ्गिभावस्वीकरणेन सङ्करालङ्कारः । न च दारिद्र्यमरणशब्दयोरसकृदुपादानादनवीकृतत्वं कथितपदत्वं वा दोषः स्यादिति वाच्यम्, उपायान्तराभावे वोद्वेगाजनकत्वे वा दोषविषयत्वानङ्गीकारेणादोषात् ।

सरलार्थः—दारिद्र्यमरणयोर्मध्ये मम मरणमेव रुचिकरं किन्तु दारिद्र्यन्न यतः मरणे स्वल्पं दुःखं दारिद्र्यन्तु आजीवनदुःखकरमिति भावः ॥ ११ ॥

प्रणयिजनेषु = स्निग्धजनेषु संक्रमिताः=दयादिन सञ्चारिता विभवा=धनानि

मैं 'निर्धनता तथा मृत्यु'—इन दोनों के बीच मृत्यु अच्छी है निर्धनता नहीं ! मृत्यु में तो थोड़ी देर दुःख होता है किन्तु निर्धनता में अनन्तकाल तक दुःख रहता है ॥ ११ ॥

विदूषक—मित्र ! दुःख करना व्यर्थ है । याचकों को दान देने से क्षीण

प्रतिपच्चन्द्रस्य परिक्षयोऽपि ते अधिकतरं रमणीयः ।)

चारु—वयस्य ! न ममार्थान् प्रति दैन्यम् पश्य—

एतत्तु मां दहति यत् गृहमस्मदीयं
क्षीणार्थमित्यतिथयः परिवर्जयन्ति ।
संशुष्कसान्द्रमदलेखमिव भ्रमन्तः
कालात्यये मधुकराः करिणः कपोलम् ॥ १२ ॥

येन तस्य ते=तव, सुरलोकैः=पीताः शेषाः =अविशिष्टाः यस्य तस्य भुक्ताव-शिष्टस्येत्यर्थः । प्रतिपच्चन्द्रस्य इव शुक्लप्रतिपदि चन्द्रदर्शनाभावात् कृष्णचतुर्दशया उपलक्षकमेतत् । उक्तञ्च कामन्दके—'धर्मार्थं क्षीणकोषस्य क्षीणत्वमपि शोभते । सुरैः पीतावशेषस्य कृष्णपक्षे विधोरिव ॥' देवैः क्रमेणाल्पाल्पपीतं कृष्णपक्षोयक्षीणेन्दुं पूर्णेन्दुमपेक्ष्य सतृष्णं यथा जनः पश्यति, तत्तुल्यम्, याचकाधीनीकृताशेषधनमत एव निर्धनं त्वा लोकोऽधिकतरं संमनुते इति भावः अत्रोपमालङ्कारः ।

चारु इति । अर्थान् प्रति=अर्थनाशविषये दैन्यं=कष्टम् ।

दुःखस्यार्थाभावनिबन्धनत्वं विदूषकेणोक्तं निराकृत्य स्वमतेन निदानं वक्ति= एतदिति । भ्रमन्तः=मदजलपानार्थमितस्ततः गच्छन्तः मधुकराः=भ्रमराः कालात्यये= मदजलक्षरणसमयावसाने संशुष्काः=शोषङ्गताः सान्द्राः=घनाः मदलेखाः=दान-क्षरणरेखाः यस्मिन् तं तादृशं, करिणः=गजस्य कपोलं=गण्डदेशम् इव=यथा, न विद्यते तिथिः द्वितीया येषां ते अतिथयः=कथमप्यागताः अनिमन्त्रिता इत्यर्थः । क्षीणार्थं=वित्तहीनम्, इति ज्ञात्वा अस्मदीयम्=अस्माकमिदम् गृहं=भवनं परिवर्ज्य-यन्ति=परित्यज्यान्यत्र गच्छन्ति इति । एतत्=अतिथिपरिवर्ज्जनम् तु=एव मां= तव सखायं, दहति=परितापयति । अत्रोपमालङ्कारः, वसन्ततिलकं वृत्तम् ।

अस्मिन् पद्ये तच्छब्दसमानार्थकः एतच्छब्दो विधेयस्तस्य च 'उद्देश्यं प्रथमं वाच्यं विधेयं तदनन्तरमि'ति नियमात् पश्चान्निर्देष्टव्यतया पूर्वनिर्देशेन विधेयावि-मर्शदोषः, तस्मात् 'क्षोणार्थमित्यतिथयः परिवर्जयन्ति—यन्मे गृहं दहति मामिदमेव हन्त' इति पाठो युक्तः प्रतिभाति । वस्तुतस्तु नोलो घटः, घटो नीलः, पर्वतो वह्नि·

विभव, देवताओं के पा लेने पर अवशिष्ट प्रतिपदा की क्षोण चन्द्रकला के समान आप की सम्पत्ति शोभा और भी मनोरम हो जाती है ।

चारुदत्त—मित्र ! मुझे धन के लिये दुःख नहीं है । देखो—

मुझे तो यह भस्मसात् कर रहा है कि—जिस प्रकार मदजल पीने के लिए मँडराते हुए भ्रमर समय के फेर से शुष्क घने मदचिह्नवाले हाथी के कपोल पर घूमना छोड़ देते हैं, वैसे मेरे गृह को धनहीन समझ कर अतिथियों ने भी छोड़ दिया है ॥ १२ ॥

विदू—भो वअस्स ! एदे क्खु दासीए पुत्ता अत्थकल्लवत्ता वरडाभीदा विअ गोबालादारआ अरण्णे जहिं जहिं ण खज्जन्ति तहिं तहिं गच्छन्ति । (भो वयस्य ! एते खलु दास्याः पुत्रा अर्थकल्यवर्त्ताः, वरटाभीता इव गोपालदारका अरण्ये यस्मिन् न खाद्यन्ते तस्मिन् तस्मिन् गच्छन्ति ।)

चारु—वयस्य !

सत्यं न मे विभवनाशकृताऽस्ति चिन्ता
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति ।

मान्, वह्निमान् पर्वत इत्युभयविधप्रयोगस्य लोके शतशोऽनुभूयमानत्वादुद्देश्यविधेयवाचकपदनिर्देशे कामचार इत्यस्यैवाङ्गीकरणीयत्वाद्दोषदानं तन्निरासोपायचिन्तनञ्च काकदन्तपरीक्षावदिति विवेचकाः ॥

सरलार्थः—यथा हस्तिनः शुष्ककपोलदेशं मदस्रावात् भिन्नसमये भ्रमराः परित्यजन्ति तथैव अतिथयो मद्गृहं दरिद्रमिति मत्वा परित्यजन्ति एतदेव मां सन्तापयति न तु दैन्यमिति भावः ॥ १२ ॥

दास्याः पुत्राः = निन्दामात्रे अतिनीचा इति भावः कल्ये=प्रत्यूषे वर्तन्ते एभिरिति कल्यवर्ताः=प्रातराशाः, अर्थाश्च ते कल्यवर्ताश्चेति अर्थकल्यवर्ताः 'अग्निस्तोक' इतिवत् विशेषणस्य परनिपातः' अयं भावो यत् प्रातर्भोज्यानां पदार्थानां दिनादावेवावश्यकता न तु तदन्यक्षणावस्थायिता तद्वद्धनस्यापि न बहुकालस्थायित्वं किन्तु क्षणमात्रावस्थायित्वम्, एतेनार्थस्यातिहेयत्वं सूचितम् । वरटाः = दंशनकारिकीटविशेषाः 'गन्धोली वरटा द्वयोः' इत्यमरः । ताभ्यो भीताः=त्रस्ताः गोपालदारकाः= गोपबालका इव यस्मिन्=स्थाने यस्मिन् = गृहे वा न खाद्यन्ते=नोपभुज्यन्ते बालकपक्षे न दश्यन्ते तस्मिन् तस्मिन् = तत्र तत्र गच्छन्ति = यान्ति । उपभोगहीनानामतिकृपणानामेव गृहे धनानि गच्छन्ति, त्वन्तु दानादिक्रियानिपुणोऽतो धनाय शोको न विधेय इति प्रकरणार्थः । अत्र श्रौती उपमालंकारः ।

सत्यमिति—विभवनाशकृता = वित्तध्वंसोत्पन्ना चिन्ता=दैन्यं मे=मम नास्ति= न वर्तते कथमित्याशङ्कायामाह-भाग्यक्रमेण = अदृष्टानुसारेण भवन्ति = आयान्ति

विदूषक—हे सखे ! यह अधम क्षणभंगुर धन बर्रें से डरे गोप-बालक के समान उसी स्थान पर दृष्टिगोचर होता है जहाँ इसे कोई खा न सके। (अर्थात् धन कृपणों के यहाँ रहता है, दानियों का धन दान देते-देते समाप्त हो जाने में ही शोभा पाता है ।)

चारुदत्त—मित्र !

सच कहता हूँ, मुझे धननाश से उत्पन्न कोई चिन्ता नहीं है क्योंकि भाग्य के

एतत्तु मां दहति, नष्टधनाश्रयस्य
यत् सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति ॥ १३ ॥

अपि च—दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो
निस्तेजाः परिभूयते, परिभवान्निर्वेदमापद्यते।
निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते

यान्ति = विनश्यन्ति, तर्हि चिन्ताबीजकिमित्याह—एतदिति जनाः = लोकाः, नष्टः धनरूपः आश्रयः यस्य तादृशस्य क्षीणवित्तस्य यद्वा नष्टौ धनाश्रयौ अर्थालयौ यस्य निर्धनस्य निराश्रयस्य वा एतदर्थकरणेन दशायामतिकाठिन्यं भासते यतो लोके धनहीनस्यापि कश्चिद्यदि सहायको भवति तदा तादृशं न कष्टमत्र तु नापि धनं नापि सहायक इति महान् कष्टविषय इति भावः। सौहृदात् = बंधुभावात् अपि शिथिलीभवन्ति=अर्थवैकल्यप्रयुक्त बन्धुतामपि त्यजन्ति एतत्तु=एतदेव मां दहति-भृशं पीडयति। भवन्ति यान्तीत्याद्यनेकक्रियानिरूपितधनानीत्येककर्तृकारकत्वाद् दीपकम्, प्रस्तुतनिर्धनसामान्यात्प्रस्तुतचारुदत्तप्रत्यापनादप्रस्तुतप्रशंसा, अनयोः परस्परनिरपेक्षतयाऽवस्थानात्संसृष्टिः, प्रथमार्धे 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे' इत्यभियुक्तोक्तेः काव्यलिङ्गम्, धनरूपः आश्रयो यस्येति व्याख्यायां रूपकम्, द्वयोरङ्गाङ्गिभावस्वीकारे सङ्करोऽपि वक्तुं शक्यत एव। अत्र वाक्यगतविधेयाविमर्शदोषः, 'यत् सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति = क्षीणार्थकस्य बत मां गुरु तद् दुनोति' इति पाठपरिवर्तनेन कथञ्चित्परिहरणीयः। अत्र वसन्ततिलकावृत्तम् ॥

सरलार्थः—संसारस्येयं गतिः यद्भाग्यवशात् धनानि जायन्ते नश्यन्ति च अत एव धननाशकृता चिन्ता नास्तीति सत्यमेव किन्तु धनहीनस्य मित्राण्यपि परित्यजन्तीत्यत्यन्तखेदकरमिति भावः ॥ १३ ॥

दारिद्र्यादिति। लोके दारिद्र्यात्=निर्धनत्वात् ह्रियम्=लज्जाम् एति=याति समाजे स्वोचितामीष्टसम्पादनाशक्यत्वादिति बोध्यम्। ह्रीपरिगतः=लज्जितः पुरुष तेजसः=प्रतापात् प्रभ्रश्यते=प्रच्युतो भवति, तेजोरहितः=प्रतापशून्यः परिभूयते = जनैस्तिरस्क्रियते, भीतिकारणप्रतापविरहादिति भावः, परिभवात् = अवमानात् निर्वेदं=ग्लानिम् आपद्यते=आ समन्तात् गच्छति, निर्विण्णः=खेदयुक्तः शुचं=शोकम् एति=गच्छति, स्वीयावस्थां विलोक्य निरर्थकजीवनानुभवादिति ध्येयम्। शोकपि-

---

अनुसार धन आता या जाता है किन्तु मुझे दुःख इसी बात का है कि धनहीन हो जाने पर मित्र गण भी विमुख हो जाते हैं ॥ १३ ॥

· और भी—निर्धनता से लज्जा होती है, लज्जित मनुष्य तेजहीन हो जाता है, निस्तेज लोक से तिरस्कृत होता है, पुनः तिरस्कार के द्वारा विरक्त हो जाता है,

निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम् ॥ १४ ॥

विदू—भो वअस्स ! तं ज्जेव अत्थकल्लवत्तं सुमरिअ अलं सन्तप्पिदेण ।
(भो वयस्य ! तमेव अर्थकल्यवर्त्तं स्मृत्वा जलं सन्तापितेन ।)

चारु—वयस्य ! दारिद्र्यंहि पुरुषस्य—
निवासश्चिन्तायाः परिभवो वैरमपरं
जुगुप्सा मित्राणां स्वजनजनविद्वेषकरणम् ।
वनं गन्तुं बुद्धिर्भवति च कलत्रात् परिभवो

हित = शोकाविष्टः बुद्धया = विवेकेन परित्यज्यते = विहीयते निर्बुद्धिः = विगत विवेकः=बुद्धिशून्य इति यावत् । क्षयं=नाशनम् एति=प्राप्नोति । अत एवोक्तं नारायणेन गीतायां 'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति' इति । अहो=आश्चर्यद्योतकमव्ययम् । निर्धनता=दरिद्रता सर्वासामेवापदाम्=विपत्तीनाम् आस्पदम्=स्थानम्, हेतुभूतत्वात्प्रयोजिकेत्याशयः ॥

सरलार्थः—दारिद्र्याल्लज्जा भवति लज्जातः प्रभावहीनता प्रभावहीनतायां परिभवः परिभवाच्च आत्मावमाननं प्राप्नोति आत्मावमाननात् शोकं शोकाकुलितः बुद्धिहीनः बुद्धिहीनश्च जनः नाशं गच्छतीति निर्धनत्वं सर्वासां विपत्तीनां स्थानमिति भावः ॥

निर्धनत्वस्य सर्वापत्तिनिदानत्वं प्रकारान्तरेण वक्ति–निवास इति । चिन्तायाः= कथं व्ययो भविष्यति, परिवारपोषणङ्कथमित्यादिस्वरूपाया उद्वेगकारिण्याः निवासः = आश्रयः, चिताञ्जनकमित्यर्थः । परपरिभवः = परेषाम्=अन्येषां परिभवः= तिरस्कारकारणम्, अन्यकर्तृकापमानस्यानमित्यर्थः । अपरम्=अन्यत्, वैरं=शत्रुभावः अन्यस्य वैरं सहेतुकम्, दरिद्रं प्रति वैरन्तु निर्हेतुकमेव जायत इति भावः । मित्राणां= बन्धूनां जुगुप्सा=घृणा तज्जनकमित्यर्थः । प्रत्युपकारासामर्थ्यादकारणमेव सुहृदपि दरिद्रनिन्दनं करोतीत्यर्थः, । स्वजनानामात्मीयवर्गाणां जनानाम्=आत्मीयव्यतिरिक्तानां साधारणव्यक्तीनामित्यर्थः, विद्वेषकरणं=विरोधोत्पादकम्, सर्वं एव बिनाकारणं विद्विषन्तीति भावः । वनम्=अरण्यं, गन्तुं=यातुं, बुद्धिः=ज्ञानम्, बुद्धिः मतिरिति व्याख्यानं न युक्तम् यतो हि 'बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा । प्राज्ञां नवनोन्मेषशालिनीं प्रतिभा विदुः' ॥ इति सिद्धान्तविरोधात् । च=

वैराग्य होने पर शोक उत्पन्न होता है । शोकातुर होने से बुद्धि क्षीण हो जाती है, फिर बुद्धहीन होने पर सर्वनाश की अवस्था आ जाती है—अहो ! दरिद्रता सभी आपत्तियों की जड़ है ॥ १४ ॥

विदूषक—हे मित्र ! उसी क्षणभंगुर धन का स्मरण कर दुःख करना व्यर्थ है ।

चारुदत्त—सखे ! निर्धनता ही मनुष्यों की चिन्ता का आश्रय है ! मनुष्यों

हृदिस्थः शोकाग्निर्न च दहति सन्तापयति च ॥ १५ ॥

तद्वयस्य ! कृतो मया गृहदेवताभ्यो बलिः । गच्छ, त्वमपि चतुष्पथे मातृभ्यो बलिमुपहर ।

विदू—ण गमिस्सं । (न गमिष्यामि ।)

चारु—किमर्थम् ?

पुनः कलत्रात्=भार्यातः पारभवः=तिरस्कारः, वस्त्राभूषणादिप्रार्थितालाभात् कलत्रस्याप्यनुरागो न जायत इत्याशयः । तथा हृदिस्थः=हृदिस्थायी, शोकाग्निः=दुःखवह्निः, न च दहति=भस्मसात् न करोति, किन्तु चस्त्वर्थे सन्तापयति=भृशं तापमुत्पादयति, दारिद्र्यमिति योजनोयम् ।

'दारिद्र्यस्य चिन्तानिवासादिरूपेणानेकधोल्लेखादुल्लेखालङ्कारः हृदिस्थः शोकाग्निः' इति निरङ्गं केवलरूपकम्, अग्निरूपे कारणे दाहरूपकार्याभावाद् विशेषोक्तिः, दहति सन्तापयतोत्याद्यनेकक्रिययोः शोकाग्निरित्येककर्तृकारकत्वात्तद्दीपकम, सर्वेषामङ्गाङ्गिभावात् सङ्करालङ्कारः परिभवशब्दस्य वारद्वयपठनेन कथितपदत्वदोषः स च 'कलत्रात्तु निकृतिः' इति पाठेन परिहणीयः । शिखरिणीवृत्तम् ।

सरलार्थ—दारिद्र्ये सति चिन्ता जायते कारणं विनैव अन्यकर्तृकतिरस्कारो भवति दरिद्रस्य शत्रवोऽपि स्वभावाज्जायन्ते मित्रैरपि निन्दा क्रियते स्वजनैरपि विरुद्ध्यते भार्यातः तिरस्कारो भवतीत्येतत्सर्वं दृष्ट्वा एकान्तवासेच्छा जायते अतएव शोकाग्निः चित्तं व्याप्य तिष्ठति पौनः पुन्येन तापमुत्पादयति किन्तु दहति न दाहे सति मरणं स्यादेवेति भावः ॥ १५ ॥

तदिति-चतुष्पथे=शृङ्गाटके 'शृङ्गाटकचतुष्पथे' इत्यमरः । मातृभ्यः=ब्राह्मीप्रभृतिभ्यः, ताश्च 'ब्राह्मी माहेश्वरी चैन्द्री वाराही वैष्णवी तथा । कौमारी चैव चामुण्डा चर्चिकेत्यष्टमातरः ॥' इति बलिं=पूजोपहारद्रव्यम् उपहर=प्रतिनिधिर्भूत्वाप्रदेहि ।

के अपमान का स्थान, दूसरा शत्रु, मित्रों का घृणापात्र तथा आत्मीयजनोंके वैर का कारण है । दरिद्र को घर छोड़कर वन में चले जाने की इच्छा होती है । यहाँ तक कि उसे स्त्री का भी अपमान सहना पड़ता है । और कहाँ तक कहूँ हृदयस्थित शोकाग्नि एक बार ही जला नहीं डालती किन्तु घुला-घुलाकर मारती है ॥ १५ ॥

इसलिए हे मित्र ! मैं गृहदेवों की पूजा कर चुका, जाओ तुम भी चौराहे पर मातृ-देवियों को बलि चढ़ा आओ ।

विदूषक—नहीं जाऊँगा ।

चारुदत्त—किसलिए ?

विदू—जदो व्वं पूईज्जन्ता वि देवदा ण देपसीदन्ति ता को गुणो देवेसु अच्चिदेसु। (यत एवं पूज्यमाना अपि देवता न ते प्रसीदन्ति। तत् को गुणो देवेषु अर्चितेषु।)

चारु—वयस्य ! मा मैवम्। गृहस्थस्य नित्योऽयं विधिः।

तपसा मनसा वाग्भिः पूजिता बलिकर्मभिः।
तुष्यन्ति शमिनां नित्यं देवताः किं विचारितैः॥ १६॥

तद् गच्छ, मातृभ्यो बलिमुपहर।

विदू—भो ! ण गमिस्सं ! अण्णो को वि पउञ्जीअदु। मम उण वम्हणस्स सव्वां ज्जेव विपरीदं परिणमदि, आदंसगदा विअ छाआ, वामादो

यतः=यस्मात्, एवम्=अमुना प्रकारेण, पूज्यमानाः=समर्च्यमानाः, अपि देवता न ते=तव, प्रसीदन्ति=प्रसन्नाः भवन्ति, तत्=तस्मात्, को गुणः=किं फलं, देवेषु=देवतासु, अर्च्चितेषु=पूजितेषु। अयम्भावो यत् देवाराधनेनाभीष्टसिद्धिर्भवति यदि कृतेऽप्याराधने किमपि फलं नावाप्यते जनैस्तदा व्यर्थमेव तदिति विदूषकोक्तेरभिप्रायः।

चारु इति। नित्यः=अवश्यानुष्ठेयः तथा चोक्तं—'सायं प्रातर्वैश्वदेवः कर्तव्यो बलिकर्म च। अनश्नताऽपि सततमन्यथा किल्बिषी भवेत्'। इति धर्मशास्त्रोक्तेः।

विदूषकेणोपेक्षितस्य बलिकर्मणः अवश्यानुष्ठेयत्वं लाभकारित्वञ्च वर्णयति-तपसेति। देवताः=देवाः, तपसा=उपवासादितपस्यया, मनसा=ध्यानेन, वाग्भिः=स्तुतिपाठैः, बलिकर्म्मभिः=पूजाकार्य्यैश्च, नित्यं=सततं, पूजिताः=समर्च्चिताः, शमिनां=शान्तचित्तानां, तुष्यन्ति=तोषमायान्ति, तुष्टाः सन्तः सुखदं परलोकादिकं प्रयच्छन्तीति भावः। विचारितैः=मीमांसितैः,=किम्=न किमपि फलमिति भावः। नित्यादिविधीनां वेदबोधितत्वेन तद्विधानफलस्य शास्त्राच्छ्रुतत्वेन सफलं वा निष्फलं वेति विचारणा न कार्येति तात्पर्यम्॥ १६॥

विदूषक—जब इस प्रकार पूजा करने पर भी देवता आप पर प्रसन्न नहीं होते, तब देवताओं की पूजा करने से क्या लाभ ?

चारुदत्त—मित्र ! ऐसा मत कहो। गृहवासियों का यह दैनिक नियम है। तप, मन, वाणी एवं बलिकर्मों द्वारा पूजित देवता, शान्तचित वाले मनुष्य पर अवश्य प्रसन्न होते हैं। इसमें तर्क, वितर्क करने की आवश्यकता नहीं है॥

इसलिए जाइए, मातृ-देवियों पर बलि चढ़ा आइए।

विदूषक—अभी मैं नहीं जाऊँगा। इस काम के लिए किसी दूसरे को

दक्खिणा दक्खिणादो वामा। अण्णं अ, एदाये पदोसवेलाए इध राअमग्गे गणिआ विडा चेडा राअवल्लहाअ, पुरिसा सञ्चरन्ति ! ता मण्डुअलुद्धस्स कालसप्पस्स मूसिओ विअ अहिमुहाषदिदो वज्झोदाणिं भविस्सं। तुमं इध उववट्ठिो किं करिस्ससि ? (भोः ! न गमिष्यामि। अन्यः कोऽपि प्रयुज्यताम्, मम पुनर्ब्राह्मणस्य सर्वमेव विपरीतं परिणमति, आदर्शगता इव छाया, वामतो दक्षिणा, दक्षिणतो वामा। अन्यच्च, एतस्यां प्रदोषवेलायाम् इह राजमार्गे गणिका विटाश्चेटा राजवल्लभाश्च पुरुषाः सञ्चरन्ति। तत् मण्डूकलुब्धस्य कालसर्पस्य मूषिक इव अभिमुखापतितो वध्य इदानीं भविष्यामि। त्वमिह उपविष्टः किं करिष्यसि ?)

चारु—भवतु। तिष्ठ तावत्। अहं समाधिं निर्वर्त्तयामि।

अन्यः कोऽपि = अपरः कश्चित्पुरुषः, नियुज्यताम् = प्रयुज्यताम्, आदर्शगता= दर्पणप्राप्ता, छाया = कान्तिः, वामतः = वामभागतः, दिक्षणा, दक्षिणतः=दक्षिण-भागतः वामा, प्रतीयते इति शेषः। अन्यच्च = अपरञ्च, एतस्यां प्रदोषवेलायां = सन्ध्याकाल इति यावत्, इह राजमार्गे गणिकाः = वेश्याः, विटाः = वेश्या-तत्कामुकयोः परस्परं सन्देशवाहकाः, चेटाः = महाजनकिङ्कराः, राजवल्लभाः = नृपप्रियाः, अपि पुरुषाः = जनाः मण्डूकलुब्धस्य = मण्डूकभक्षणाभिलाषिणः, कालसर्पस्य = विषधरस्य साम्मुख्यं भजमानः मूषिक इव वध्यो भविष्यामि। गणिका इत्यनेन वसन्तसेनायाः, राजवल्लभाश्च इत्यनेन शकारादयः। सूचिताः 'नासूचितं विशेत् पात्रम्' इति भरतमुन्युक्तदिशा गणिकादिसञ्चारवर्णनेन एतस्मिन् काले मम गमनमनुचितमिति सूचयति। विटः = 'सम्भोगहीनसम्पद् विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः। वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम्'। शकारः, मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्य्यसंयुक्तः। 'सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः॥' चेटः = हीनजातीयदासः, इति लक्षणग्रन्थेषु वर्णितः।

चारु इति। समाधिं=सन्ध्याकालीनजपादिनियमं, निर्वर्तयामि=करोमि। तदनन्तरं गमिष्यामीति भावः।

भेजिए, मुझ ब्राह्मण की सभी क्रियाएं विपरीत ही प्रतिफलित होती हैं जैसे दर्पण मे प्रतिबिम्बित दाहिना अंग बायाँ हो जाता है और बायाँ दाहिना हो जाता है। और दूसरा कारण यह है कि इस सन्ध्या समय में सड़क पर वेश्या, विट, चेट तथा राजश्याल आदि घूम रहे हैं। इसलिए मेढ़क के लोभी कालसर्प के मुख में चूहे के समान गिरकर। वध्य हो जाऊँगा। तब तुम यहीं बैठे २ क्या करोगे ?

चारुदत्त—अच्छा, तब तक ठहरिए, मैं सायंकालीन जपादि से निवृत्त हो लूँ

नेपथ्ये—तिष्ठ, वसन्तसेने ! तिष्ठ ।

(ततः प्रविशति विट-शकार-चेटैरनुगम्यमाना वसन्तसेना ।)

विट—वसन्त-सेने ! तिष्ठ तिष्ठ ।

किं त्वं भयेन परिवर्त्तितसौकुमार्या नृत्यप्रयोगविशदौ चरणौ क्षिपन्ती ।
उद्विग्न-चञ्चल-कटाक्ष-विसृष्टदृष्टिर्व्याधानुसारचकिता हरिणीव यासि ? ॥

शकारः—चिट्ठ, वशन्तशेणिए ! (तिष्ठवसन्तसेनिके ! तिष्ठ ।)

नेपथ्ये=वेशरचनागृहे विटस्योक्तिरियम्, मृदुमन्दगामिनीं वसन्तसेनां भीतिविह्वलतया शीघ्रगामिनीं विलोक्य तदनुगामी विटः सम्हस्यमाह—किमिति-त्वं=वसन्तसेने । भयेन=भीत्या परिवर्तितं=द्रुततमगमनाय परित्यक्तं सौकुमार्यं=गमनमृदुता मन्थरगमनमिति यावत् यया सा, तथा नृत्यप्रयोगे=नर्तनकलायां, विशदौ=भूरिदक्षौ, निर्दोषनर्तनकलाभिज्ञौ इति यावत्, चरणौ=पादौ क्षिपन्ती = क्षिप्रं पातयन्ती, तथा उद्विग्नाः=अत्यन्तव्यग्राः, अतएव चञ्चलाः=चपलाः, कटाक्षाः=अपाङ्गदृष्टयो यस्यां क्रियायां तद् यथा स्यात्तथा 'कटाक्षोऽपाङ्गदर्शने' इत्यमरः विसृष्टाः=निक्षिप्ताः, प्रेरिता इति यावत्, यया सा तादृशी, कियद्दूरे पापिष्ठाः सन्तीत्याननमाषत् परावर्त्य वक्रनयनेन सभीतिमवलोकयन्तीति भावः । व्याधानुसारचकिता=व्याधस्य=लुब्धकस्य, अनुसारं=पश्चाद्धावनं, तेन चकिता = चञ्चला, हरिणीव=मृगीव, किं=कथं, यासि=गच्छसि, त्वत्प्रेमरज्जुनिबद्धान् अस्मान् दृष्ट्वा भीतिः नैव विधेयेति भावः । इवशब्दश्रवणात् श्रौती उपमालङ्कारः, हरिणी याति त्वन्तु यासीति पुरुषभेदात् भग्नप्रक्रमतादोषः सम्भाव्यते स च वर्तमानार्थकप्रत्ययान्तयाता इति पाठविनिमयेन समाधेयः । वसन्ततिलकं वृत्तम् तल्लक्षणन्तु पूर्वोक्तमेव ॥ १७ ॥

'शकारो राष्ट्रियः स्मृतः" इति वचनात् शकारस्य भाषा राष्ट्रिया विज्ञेया ।

नेपथ्य में—ठहर, वसन्तसेने ! ठहर ।

(इस के बाद बिट, शकार तथा चेटोंसे पोछा की जाती हुई वसन्तसेना आती है)

विट—वसन्तसेने ! ठहर, ठहर ।

भय के कारण सुकुमार मन्दगति को त्याग कर, नृत्यकला में निपुण चरणो को जल्दी २ आगे बढ़ाती हुई, अनुसरण करते हुए व्याध से डरी हुई हरिणी के समान क्यों जा रही हो ? ॥ १७ ॥

शकार—ठहर, वसन्तसेने ! ठहर ।

किं याशि, धावशि, पलाअशि, पक्खलन्ती
वाशू ! पशीद ण मलिश्शशि, चिट्ठ दाव ।
कामेण दज्झदि हु मे हृलके तवश्शी
अङ्गाललाशिपडिदे विअ मंशखण्डे ॥ १८ ॥

(किं यासि, धावसि, पलायसे, प्रस्खलन्ती
वासु ! प्रसीद, न मरिष्यसि, तिष्ठ तावत्
कामेन दह्यते खलु मे हृदयं तपस्वि
अङ्गारराशिपतितमिव मांसखण्डम् ॥ १८ ॥)

चेट—अज्जुके ! चिट्ठ चिट्ठ । (अज्जुके ! तिष्ठ तिष्ठ ।

विटवच्छकारोऽपि पलायनपरां तामनुसरन् तादृगेव कथयति—किमिति—हे वासु != बाले ! 'बाला स्याद्वासूः' इत्यमरः । त्वं प्रस्खलन्ती=स्खलितचरणा, किं=कथं, यासि धावसि, पलायसे इत्येषामेकार्थत्वेन शकारवचनत्वात् पौनरुक्त्यं न दोषाधायकम्, तदुक्तमभियुक्तैः—'अपार्थमक्रमं व्यर्थं पुनरुक्तं हतोपमम् । लोकन्यायविरुद्धञ्च शकार वचनं विदुः' । अपरञ्च, 'आगमलिङ्गविहीनं देशकालन्यायसमयविपरीतम् । व्यर्थैकार्थमपार्थं भवति हि वचनं शकरस्य' एवमेवोत्तरोत्तरमपि बोध्यम् । प्रसीद=मयि- प्रसन्ना भव, स्थितावपि न मरिष्यसि=जीवनाशो न भविष्यसि, तिष्ठ=द्रुतगमनात् विरता भव, तावदिति वाक्यालङ्कारे, किंवा यावत्काल वयं ब्रूमः तावदिति काल- निर्देशः, अङ्गारराशिपतितम्=अग्निपुञ्जनिक्षिप्तं, मांसखण्डमिव=पललपिण्डमिव, मे=मम, हृदयम्=अन्तःकरणम्, कामेन=मदनानलेन, दह्यते=सन्तप्यते, खल्विति निश्चये । उपमालङ्कारः 'शकाराणां शकादीनां शाकारीं सम्प्रयोजयेत्' इत्युक्तेः शाकारी भाषा, तालव्यशकारबहुलत्वादेव भाषाया अस्याः शाकारीति संज्ञा, वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १८ ॥

चेटस्योक्तौ अज्जुके सम्बोधनपदम् तदर्थस्तु गणिके इति तदुक्तममरकोषे= 'नाट्योक्तौ गणिकाऽज्जुका' इति ।

क्यों जाती है ? क्यों दौड़ती है ? क्यों गिरती हुई भागती है ? बाले ! प्रसन्न हो, मरने की शंका छोड़ दे । जरा ठहर, अग्निराशि में पड़े हुए मांस के समान मेरा क्षुद्र हृदय काम से जल रहा है ॥ १८ ॥

चेट—गणिके ! ठहर, ठहर ।

उत्त्राशिता गच्छशि अत्तिका मे शंपुण्णपुच्छा विअ गिम्हमोरी।
ओवग्गदी शामिअभट्ठके मे वण्णे गडे कुक्कुडशावके व्व ॥ १९ ॥
(उत्त्रासिता गच्छसि अत्तिका मे सम्पूर्णपक्षेव ग्रीष्ममयूरी।
अववल्गति स्वामी भट्टारको मे वने गतः कुक्कुटशावक इव ॥ १९ ॥

विट :—वसन्तसेने ! तिष्ठ तिष्ठ।

किं यासि बालकदलीव विकम्पमाना रक्तांशुकं पवनलोलदशं वहन्ती।
रक्तोत्पलप्रकरकुड्मलमुत्सृजन्ती टङ्कैर्मनःशिलगुहेव विदार्यमाणा ॥२०॥

विटश्शकारवच्चेटोऽपि तादृशीं तामनुसरन्नाह—उत्त्रासितेति। मे=मम, अत्तिका=ज्येष्ठा भगिनी, 'अत्तिका भगिनी ज्येष्ठा' इत्यमरः, ज्येष्ठभगिनीव मान्येतिभावः, कुत्रचित् अन्तिकादिति पञ्चम्यन्तपाठः, तत्पक्षे मम अन्तिकात् समीपात् गच्छसि इत्यर्थं वक्ति, त्वं सम्पूर्णपुच्छा=परिपूर्णपुच्छशोभिता, विविधवर्णखचितशाटीसंवृतगात्रत्वादिति भावः। ग्रीष्ममयूरीव=ग्रीष्मकालिकमयूरभार्येव, कामेन कृशगात्रत्वादिति भावः, ग्रीष्मतापेन मयूराः कृशतां व्रजन्तीति प्रसिद्धिः। उत्त्रासिता=अतीव भीता, अहेतुकमिदमिति भावः, गच्छसि=यासि, वने गतः=अरण्यस्थितः, कुक्कुटशावक इव=तन्नामख्यातपक्षिविशेषशिशुरिव, भट्टारकः=राजा, 'भट्टारको नृपे नाटचवाचा देवे तपोधने' इति मेदिनी। राजेव प्रभावसम्पन्नः, मम स्वामी=प्रभुः शकारः, अववल्गति=ससम्भ्रमं त्वदन्तिकमागच्छति। उपमालंकारः। इन्द्रवज्रावृत्तम्, 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' इति लक्षणात् ॥ १९ ॥

वसन्तसेनां सविनयमनुरुन्धन्नपि अपरावर्तमानामालोक्य विटः भूयोऽपि साग्रहं वक्ति-किमिति। टङ्कैः=पाषाणविदारणयन्त्रैः विदीर्यमाणा छिद्यमाना 'टङ्कः पाषाणदारणः' इत्यमरः, विदारणक्षणे रत्नानां निर्मला दीप्तिः प्रादुर्भवतीति भावः। मनःशिलानां=मनःशिला अस्याः अस्तीति विग्रहे अर्शआदित्वादचि स्त्रीत्वविवक्षायां टापि मनःशिलेति सिद्ध्यति सा चासौ गुहा चेति कर्मधारये पुंवद्भावात् मनःशिलगुहा, रक्तवर्णोत्पलकन्दरेव, खनिरिति यावत्, रक्तोत्पलानां=रक्तकमलानां प्रकराः, समूहाः

सुन्दर पूंछ वाली ग्रीष्म मयूरी के समान डरी हुई मेरी ज्येष्ठा बहन के तुल्य तू जा रही है। बन से गए हुए मुर्गे के बच्चे के समान मेरे मालिक शकार तुम्हारे पीछे लगे हुए हैं ॥ १९ ॥

विट—वसन्तसेने ! रुक जा।

अस्त्र द्वारा विदारित मनःशिला के समान लाल-कमल के समूहों को (पद पद्मों से) अंकित कर रही हो, वायु के द्वारा चंचल अंचल वाली हो

शकारः—चिट्ठ, वसन्तशेणिए ! चिट्ठ । (तिष्ठ, वसन्तसेनिके ! तिष्ठ ।)

मम मअणमणङ्गं मम्महं वड्ढअन्ती
णिशि अ शअणके मे णिद्दअं आक्खिवन्ती ।
पशलशि भअभीदा पक्खलन्ती खलन्ती
मम वशमणुजादा लावणश्शेव कुन्ती ॥ २१ ॥

(मम मदनमनङ्गं मन्मथं वर्द्धयन्ती, निशि च शयनके मे निद्रामाक्षिपन्ती । प्रसरति भयभीता प्रस्खलन्ती, स्खलन्ती, मम वशमनुजाता रावणस्येव कुन्ती ।२१।

तेषां कुड्मलं, मुकुलसमूहम्, उत्सृजन्ती = गमनप्रवाहेण क्षिपन्ती उत्प्रेक्षाद्योतकमिव शब्दमध्याहृत्य उत्सृजन्तीवेति व्याख्यायामुत्प्रेक्षा इति ध्येयम् तथा पवनेन = वातेन, लोला = चंचला, दशा = प्रान्तवृद्धिगतस्थूलसूत्राणि यस्य तत् तादृशम्, रक्तांशुकम् = लोहितवसनं, वहन्ती = धारयन्ती, अत एव विकम्पमाना = विधूयमाना, बालकदलीव = नूतनकदलीतरुरिव, किं = कथं, यासि = गच्छसि ? अत्रोत्प्रेक्षानुप्राणित उपमालङ्कारः, श्रोत्योरुपमयोर्मिथो निरपेक्षतया संसृष्टिरिति केचित्, वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २० ॥

ममेति । मम मदनं-कामवेगम्, वर्द्धयन्ती = दीपयन्ती, निशि = रात्रौ, शयनके = शय्यायां, मे = मम, निद्रां = शयनम्, आक्षिपन्ती = स्वचिन्ताद्वारा अपसारयन्ती, अधुना अस्मद्भीता, प्रस्खलन्ती = त्वरया स्खलितचरणा, प्रसरसि = परित्यज्यगच्छसि, तथापि रावणस्य कुन्तीव = पाण्डुपत्नीव, मम वशम् = अधीनतां, अनुयाता = प्राप्ता, नात्र कोऽपि संशय इति भावः ।

अत्र वास्तविकसादृश्याभावान्नोपमालङ्कृतिः, 'प्रस्खलन्ती स्खलन्ती' इत्यत्र पृथगर्थाभावाच्च न यमकम्; 'मअणमअङ्ग मम्मह' इत्यादौ विक्षिप्तवदुद्देश्याभावेन श्रोतुरुद्वेगाहेतुत्वेन रसापकर्षकत्वविरहात् अर्थगतपुनरुक्तदोषसम्भावनाऽपि न, यद्यप्यत्र 'रावणस्येव कुन्ती' इत्यादौ शास्त्रविरुद्धत्वेन हतोपमता प्रतीयते तथापि शकारवचनस्य तादृशमेवालङ्कारिकनियमनिबद्धत्वान्नात्र दोषशङ्का क्वापीति भावः । युक्तिरप्यस्मिन् विषये यत् शकारो नाम भूपतिभोग्यवनिताभ्राता, नृपश्याल इति यावत्, अत एवात्यन्तबर्बरेऽपि तस्मिन् विशदमेवादरं दर्शयति राजा, तेन महती-

---

प्रकार लाल वस्त्र धारण कर नवीन कले के समान क्यों काँपती हुई जा रही है ?॥।

शकार—रुक जा, वसन्तसेने ! रुक जा ।

मेरे काम (मदन, अनङ्ग, मन्मथ) को बढ़ाती हुई, रात्रि में मेरी शय्या पर आकर निद्रा भंग करती हुई और इस समय डरकर गिरती-पड़ती हुई भागी

विटः—वसन्तसेने !

किं त्वं पदैर्मम पदानि विशेषयन्ती
व्यालीव यासि पतगेन्द्रभयाभिभूता ।
वेगादहं प्रविसृतः पवनं निरुन्ध्यां
त्वन्निग्रहे तु वरगात्रि ! न मे प्रयत्नः ॥ २२ ॥

शकारः—भावे ! भावे ! (भाव ! भाव !)

मेव दाम्भिकतां बिभर्ति, अपरकर्तृकस्वभगिनीभोगमपि सुखेन सहते, युक्तमयुक्तं वेत्यपरिगणयन् यथा तथोन्मत्तवत्प्रलपति, स्वच्छन्दं व्यवहरति, आत्मनः प्रभुत्वं जनेषु प्रख्यापयति, जनोऽपि तं घृणाभीतिभ्यां पश्यति, एवं सर्वत्रैव बोध्यम् । मालिनीवृत्तम् 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणम् ॥ २१ ॥

तथापि वेगात्पलायमानां तां विलोक्य विटः पुनरपि वदति किमिति । त्वं पदैः =त्वरितपदविक्षेपैः, मम पदानि=पादविक्षेपान्, विशेषयन्ती=अतिक्रामन्ती, मदपेक्षया द्रुततरं पादविन्यासं कुर्वतीत्यर्थः, पतगेन्द्रात्=गरुडात्, भयेन=भीत्या, अभिभूता=आक्रान्ता, व्यालीव=सर्पी इव किं=कथं, यासि=गच्छसि ? हे वरगात्रि ! वरं=श्रेष्ठं गात्रं=शरीरं यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ, कोमलशरीरे इति भावः, अहं वेगात्=वेगमाश्रित्येत्यर्थः ल्यब्लोपे पञ्चमी, प्रविसृतः=प्रस्थितः पवनं=वायुमपि, निरुन्ध्याम्=निरोद्धुं शक्नुयाम्, कुत्रचित् न रुन्ध्यामिति पाठः, तत्र नकारः काक्वा, न रुन्ध्यामिति न किन्तु रुन्ध्याम् एव, तु=किन्तु त्वन्निग्रहे= बलपूर्वकातिक्रमणे, मे=मम, प्रयत्नः=प्रवृत्तिः. न=नास्ति, कोमलशरीरायां बलातिक्रमणं नोचितमिति स्वयमेव दयया मनोरथं पूरयेति भावः । पवननिरोधा-सम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिः, व्यालीवेति श्रौती उपमा, अनयोः परस्परनिरपेक्षत्वेनावस्थानात्संसृष्टिः, व्याली याति त्वन्तु यासि इति पुरुषभेदाद् भग्नप्रक्रमतादोषः सम्भाव्यते तथापि 'यातोरगीव पतगेन्द्रभयाभिभूता' इति पाठ-विनिमयेन समाधेयः । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ २२ ॥

शकार इति—भावयति चिन्तयति गूढतत्त्वमिति भावो विद्वान्, तत्सम्बोधने हे भाव=हे विद्वन्, 'भावो विद्वान्' इत्यमरः ।

जा रहा है । तू इस समय मेरे वश मे उसी प्रकार आ गई है, जिस प्रकार रावण के वश में कुन्ती हो गई थी । (शकार पुनरुक्त एवं अनर्गल बातें कहता ही है) ।

विट—वसन्तसेने ! गरुड से डरी हुई सर्पिणी के समान तुम क्यों मुझसे भी अधिक पैर बढ़ाती हुई भागी जा रही हो ? मैं और भी वेग से चलकर वायु को रोक सकता हूँ । किन्तु, हे सुन्दरि ! मैं जबर्दस्ती तुम्हें रोकना नहीं चाहता ॥

शकार—विद्वन् ! विद्वन् !!

एशा णाणक-मूशि-काम-काशिका, मच्छाशिका लाशिका,
णीण्णाशा, कुलणाशिका, अवशिका, कामश्श मञ्जूशिका।
एशा वेशबहू, शुवेशणिअला वेशङ्गणा वेशिआ,
एशे शे दशणामके मइ कले, अज्जावि मं णेच्छदि ॥ २३ ॥
(एषा नाणक-मोषि-काम-कशिका, मत्स्याशिका, लासिका,
निर्नाशा, कुलनाशिका, अवशिका कामस्य मञ्जूषिका।
एषा वेशवधूः, सुवेशनिलया, वेशाङ्गना, वेशिका,
एतान्यस्या दश नामकानि मया कृतानि, अद्यापि मां नेच्छति ॥ २३ ॥

एषेति—एषा=दृश्यमाना वसन्तसेना, नाणकं=बहुमूल्यं निष्कादिकं मुष्णातीति नाणकमोषी=तस्करः तस्य कामं=कामवेदनां कशति हिनस्ति=रत्या दूरीकरोति या सा नाणकमोषिकामकशिका=तस्करप्रिया वेश्येति भावः। उक्तञ्च 'तस्कराः पण्डका मूर्खाः सुखप्राप्तधनास्तथा। लिङ्गिनश्छन्नकामाद्या आसां प्रायेण वल्लभाः'। याज्ञवल्क्येनापि एवम्विधपुरुषे दण्डार्हत्वमुक्तम्। तथा हि 'तुलाशासनमानानां कूट-कृन्नाणकस्य च। एभिश्च व्यवहर्ता यः स दाप्यो दण्डमुत्तमम्'इति। चौरादीनामेव प्रायेण वेश्यावल्लभत्वादिति तथोक्तेः। वर्णितमेतदन्यत्र, 'भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरुषे किन्तेन मद्यम्विना, मद्यञ्चापि तव प्रियङ्कमहो वाराङ्गनाभिः सह। वेश्याप्यर्थरुचिः कुतस्तव धनं द्यूतेन चौर्येण वा, चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतां नष्टस्य कान्यागतिरिति मत्स्यान् अश्नाति खादतीति मत्स्याशिका=मत्स्यभोजिनी, वेश्यादीनां बाहुल्येन मत्स्यादिभक्षणदर्शनात्। लासिका=नृत्यशालिनी, निश्चयेन नाशो नरकगतिर्यस्याः सा निर्नाशा=नरकगमनार्हा, कुलं=स्ववंशं नायकवंशं वा पातकेन नाशयति या सा कुलनाशिका=वंशनाशिका, प्रायेण वेश्यासक्तानां स्वपत्नीषुस्नेहाभावादजातसन्ततितया वंशविच्छेददर्शनादिति भावः। अवशिका=प्रचुरधनदानेनापि वशतामनापन्ना, कामस्य=मदनस्य, मञ्जूषा एव मञ्जूषिका=पेटिका स्वार्थे कप्रत्ययः, यथा वस्त्राभूषणादिकं यथा पेटिकायां स्थाप्यते तद्वदेव कामव्यवहाराश्रयभूतेति भावः। वेशस्य=वेश्याजनाश्रयस्य जनस्य, 'वेशो वेश्याजनाश्रयः' इत्यमरः, 'वधूः=स्त्री, वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इति कोषात्। सुवेशानां=शोभनालङ्कारपरिधानानां निलया=आश्रयीभूता, वेशस्य=वेश्यालयस्य अङ्गना स्त्री वेश्याजनेषु अत्यन्तसुन्दरीति भावः। कामिनश्चित्तं विशतीति वेशिका=वेशवती, मया एतानि=पूर्वोपदर्शितानि; दश=दशसंख्याकानि, नामानि, कृतानि=रचितानि, अद्यापि=इदानीमपि, मां=

१. लम्पटों की काम-नाशका, २. मत्स्यप्रिया, ३. नृत्यशीला, ४. नाशकारिणी ५. वंशनाशिनी ६. किसी के वशीभूत न होने वाली, ७. काम की

विटः—प्रसरसि भयविक्लवा किमर्थं प्रचलितकुण्डलघृष्टगण्डपार्श्वा ।
विटजननखट्टितेव वीणाजलधर-गर्जित-भीत-सारसीव ॥ २४ ॥

शाकारः—झाणज्झणन्तबहुभूषणशद्दमिश्शं
कि दोवदी विअ पलाअशि लामभीदा
एशे हलामि शहशत्ति जधा हणूमे
विश्शावशुश्श वहिणिं विअ तं शुभद्दं ॥ २५ ॥

(झाणज्झणत्बहुभूषणशब्दमिश्रं किं द्रौपदीव पलायसे राममीता ।

शकार न इच्छति=अभिलषति । दशनामादिपाठे देवाङ्गनापि तुष्यति पाठपारायणस्य मनोरथञ्च पूरयति इयन्तु न तथेत्यनुचितमिति तात्पर्यम् । 'वेशवधूः' 'वेशाङ्गना' इत्यत्र पुनरुक्तदोषः समापतति, तथापि शकारोक्तत्वेन न दोषमागिति ध्येयम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २३ ।

विटस्तामनधिगच्छन् पुरप्याह—प्रसरसीति-प्रचलिताभ्यां चञ्चलाभ्यां शीघ्रतरगमनादिति भावः, कुण्डलाभ्यां कर्णभूषणाभ्यां घृष्टौ लब्धघर्षणौ गण्डयोः कपोलयोः पार्श्वौ यस्याः तादृशी अत एव विटजनस्य विलासप्रियलोकस्य नखैः अङ्गुल्यग्रैः घट्टिता सन्ताडिता घर्षितेति यावत् वीणा इव तथा जलधरस्य मेघस्य गर्जितेन गर्जनेन भीता त्रस्ता सारसी पक्षिणीव भयेन भीत्या विक्लवा विह्वला सती किमर्थं किंहेतुकं प्रसरसि गच्छसि । पुष्पिताग्रा वृत्तम्—'अयुजि न युगरेफतो यकारो युजि तु न जौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति लक्षणात् । 'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते' इति दर्पणोक्तेर्मालोपमालङ्कारः ।

सरलाऽर्थः—चञ्चलकुण्डलघृष्टकपालप्रान्ता वीणासदृशो विलासिजनमधुरा मेघगर्जितश्रवणत्रस्तसारसीव किमर्थं शीघ्र पलायसे ॥ २४ ॥

एतावत्प्रयत्नेनापि वसन्तसेनां स्ववशगां कर्त्तुमसमर्थः । शकारः पुनरुक्तवान्—झाणज्झणदिति । झाणज्झणदित्येवंरूपो यो बहुभूषणानां शब्दस्तेन मिश्रं मिलितं यथा स्यात्तथा झाणज्झणदित्यव्यक्तशब्दमित्यर्थः, कुर्वतीति शेषः , रामात् दशरथतनयात्

पेटारी, ८. वेश्यागामियों की वधू, ९. सुन्दर आभूषणों का स्थान तथा १०. वेशवती—इस प्रकार मैंने उसके दश नाम रक्खे है। फिर वह मुझे नहीं चाहती है ॥ २३ ॥

विट—शीघ्र भागने के कारण कुण्डल की रगड़ से कपोलों पर चिह्न पड़ गए जैसे विट जनों के नख से वाणो चिह्नित हो गई हो। इस प्रकार मेघ-गर्जन से भयभीत सारसी के समान डरी हुई तुम क्यों भागी जा रही हो ? ॥ २४ ॥

शकार—विविध आभूषणों की झंकार मिली हुई उस राम से डरी हुई

एष हरामि सहसेति यथा हनूमान विश्वावसोर्भगिनीमिव तां सुभद्राम् ॥ २५ ॥)

चेटः—लामेहि अ लाअवल्लहं तो क्खाहिशि मच्छमंशकं।

एदे हिं मच्छमंशकेहिं शुणआ मलअं ण शेवन्ति ॥ २६ ॥

(रमय च राजवल्लभं ततः खादिष्यसि मत्स्यमांसकम् ।

एताभ्यां मत्स्यमांसाभ्यां श्वानो मृतकं न सेवन्ते ॥ २६ ॥)

भीता कम्पिता द्रौपदीव द्रुपदात्मजेव कथं पलायसे द्रुतमन्यत्र गच्छसि? एषः त्वदनुसारी अहमित्यर्थः हनूमान् पवनात्मज इव यथा विश्वावसोः स्वनामप्रसिद्ध सिद्धजातीयराजविशेषस्य तां प्रसिद्धां भगिनीं सोदरां सुभद्राम् इव सहसा सपदि त्वां वसन्तसेनां हरामि अपनयामि। वाक्यद्वयेऽपि हतोपमालङ्कारः, पूर्ववाक्ये दुर्योधनभीता द्रौपदी, द्वितीय वाक्ये, अर्जुनापहारिता श्रीकृष्णभगिनी च सुभद्रेति पुराण-प्रसिद्धेः। पूर्वोक्तलक्षणलक्षितवसन्तलिका वृत्तम्।

सरलाऽर्थः—नानाविधालङ्कारशब्दसमन्वितं झाणज्झणशब्दं कुर्वती रामभीता द्रौपदी सदृशी त्वं कथं पलायसे, हे वसन्तसेने! विश्वावसुभगिनीं सुभद्रामिव हनूमान् सदृशोऽहं शकारस्त्वां चोरयामि ॥ २५ ॥

एवं चेटोऽप्यनुसरन् तामलभमानः पुनरुवाच—रमयेति। हे वसन्तसेने! त्वं राजवल्लभं श्यालत्वात् नृपतेर्बहुप्रियं शकारमित्यर्थः, रमणरतिदानेन आनन्दय कस्माद्धेतोरित्याह—तत इति तस्मात् तत्सत्कारात् मत्स्यमांसकं खादिष्यसि शकारे सन्तुष्टे विविधं सुस्वादु खाद्यं लप्स्यस इति भावः। एताभ्याम् अस्य गृहस्थिताभ्यां मत्स्यमांसाभ्यां श्वानः कुक्कुराः मृतकं शवशरीरं न सेवन्ते न भक्षयन्ति अत्यधिकानि मत्स्यमांसानि एतद्गृहे वर्तन्ते यत्परितुष्टाः श्वानोऽपि मृच्छरीरेषु अश्रद्धाशालिनः सन्तः पूर्णोदरा अन्यत्र कुक्कुरा न गच्छन्तीति भावः। उत्तरार्द्धवाक्यार्थेन पूर्वार्द्धार्थसाधनात् काव्यलिङ्गम्। आर्यावृत्तम्। पृथिवीधरमते तु मात्रासमकं छन्दस्तृतीय पादे षोडशमात्रत्वदर्शनेऽपि 'दे' 'के' इति एकारद्वयस्य लघुत्वस्वीकारात्सर्वत्र चतुर्दशमात्रत्वसिद्धिरिति भावः। तथा चोक्तं 'एओकारौ हलन्तस्थौ शुद्धौ वाप्यपदान्वितौ। दीर्घात्परौ लघू स्यातां छन्दोनिचितभाषया ॥' इति ॥

सरलाऽर्थः—हे वसन्तसेने! राजश्यालं शकारं त्वं रतिदानेन सन्तर्पय प्रसन्नेऽस्मिन्

द्रौपदी के समान क्यों भागती है? जिस प्रकार विश्वावसु की बहन को हनुमान् ने हरण किया था उसी प्रकार मैं सहसा तुम्हारा अपहरण करता हूँ ॥ २५ ॥

चेट—शकार के साथ भोग करो। ऐसा करने पर तुम मछली मांस खूब खावोगी। इनके घर मछली का इतना मांस है कि कुत्ते भी इन्हें छोड़कर किसी मृतक पर नहीं टूटते ॥ २६ ॥

विटः—भवति। वसन्तसेने।

किं त्वं कटीतटनिवेशितमुद्वहन्ती ताराविचित्ररुचिरं रशनाकलापम्।
वक्त्रेण निर्मथितचूर्णमनःशिलेन त्रस्ताऽद्भुतं नगरदैवतवत् प्रयासि॥

शकारः—अह्मेहि चण्डं अहिशलिअन्ती वण्णे शिआली विअकुक्कुलेहिं।
पलाशि शिग्घं तुलिदं शवेगं शवेण्टणं मे हलअं हलन्ती॥ २८॥
(अस्माभिश्चण्डमभिसार्यमाणा वने शृगालीव कुक्कुरैः।

नानाविधसुस्वादु खाद्यं प्राप्स्यसे यदि एतद्गृहे श्वानोऽपि मत्स्यमांसाभ्यां सन्तुष्टा भवन्ति तदा तस्य प्रियायां सम्पन्नायांत्वयि का कथा॥ २६॥

यथापूर्वं वसन्तसेनामनुसरन् विटः पूर्वोक्तरमणीयाकृतेः शीघ्रतरगमनजन्यमतिसौभगत्वं दर्शयन्नाह—किमिति। त्वं कटीतटे=श्रोणिप्रान्ते निवेशितं=समर्पितं ताराविचित्ररुचिरं ताराभिः=औज्ज्वल्यधर्मवत्त्वात् नक्षत्रसदृशैः विचित्रम्, अद्भुतम् अत एव रुचिरं सुन्दरं रसनाकलापं मेखलाभूषणं 'कलापे भूषणे बर्हे' इति विश्वः। 'स्त्रीकट्यां मेखलाकाञ्ची सप्तकी रशना तथे'त्यमरः। षोडश यष्टिमयी काञ्च्येव रसना, तदुक्तं 'एकयष्टिर्भवेत्काञ्ची मेखला त्वष्टयष्टिका। रशनाषोडश ज्ञेया कलापः पंचविंशकः'। इति उद्वहन्ती=धारयन्ती निर्मथिता=विलेपिता चूर्णा=चूर्णीकृतेति भावः। मनःशिला रक्तवर्णोपधातुविशेषो यत्र तथाभूतेन वक्त्रेण=मुखेन उपलक्षिता सती 'इत्थंभूतलक्षणे' इति तृतीया। त्वं नगरदैवतवत्=देव एव देवता, स्वार्थेतल् तस्माच्च प्रज्ञादिभ्यश्चेत्यण् तेन दैवतमिति सिद्धम्; नगराधिष्ठात्री देवीवत्, तुल्यार्थे वतिः किं केन हेतुना प्रयासि=प्रकर्षेण गच्छसि। वतिप्रत्ययश्रवणात् श्रौती उपमा, वसन्तसेनायां देवतात्वोत्प्रेक्षणाद् उत्प्रेक्षालङ्कारो वा। वसन्ततिलकं वृत्तम्।

सरलार्थः—हे वसन्तसेने मणिमयमेखलयोद्भासितारक्तकमलसन्निमानना नगराधिष्ठात्री देवतेव समयविस्मयं यथा तथा कथं गच्छसि इति भावः॥ २७॥

विपुलतर=प्रयासेनापि वशीकर्तुमक्षमः शकारो वसन्तसेनामुद्दिश्य पुनरप्याह—अस्माभिरिति—वने=अरण्ये कुक्कुरैः=श्वभिः चण्डं=द्रुतं यथा स्यात्तथा अभिसार्यमाणा=क्रियमाणानुगमना त्वं=वसन्तसेना शृगालीव=क्रोष्टीव सवेष्टनं=सावरणं धैर्यादिपूर्णमित्यर्थः, मम हृदयं मनः हरन्ती स्वाधीनीकुर्वन्ती शीघ्रं=

विट—कटिप्रदेश में उज्ज्वल, अद्भुत एवं मनोहर करधनी को धारण कर मनःशिला से अनुलिप्त सुगन्धित मुखवाली तुम नगर देवता के समान क्यों भयभीत भागी जाती हो?॥ २७॥

शकार—वन में कुत्ते से भगाई जाती हुई शृगाली की तरह हमलोगों से

पलायसे शीघ्रं त्वरितं सवेगं सवृन्तं मे हृदयं हरन्ती ॥ २८ ॥)

वसन्त—पल्लवआ ! पल्लवआ ! परहुदिए ! परहुदिए ! । (पल्लवक ! पल्लवक ! परिभृतिके ! परिभृतिके !)

शकारः (सभयम् !] भावे ! भावे ! मणुश्शे ! मणुश्शे ! । [भाव ! भाव ! मनुष्यो मनुष्यः ।]

विटः—न भेतव्यं न भेतव्यम् ।

वसन्त—माहविए ! माहविए ! । (माधविके ! माधविके !)

त्वरितं सवेगं=चञ्चलं यथा तथा पलायसे=गच्छसि अनावृतस्य वस्तुनोपहरणं सुकरं भवति मम तु धैर्यादिभिराच्छदितमपि हृदयं हृत्वा त्वं त्वरितं प्रयासीति महदद्भुतमिति भावः ! यद्यपि त्वरितं=शीघ्रं चण्डमित्यादोनामेकार्थपरतया पुनरुक्त्यादिदोषः सम्भाव्यते तथापि शकारस्य मूर्खत्वात् तदीयोक्तौ स दोषः सोढव्यः अत्रोपमालङ्कारः ! इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोर्लक्षणघटितत्वादुपजातिनाम वृत्तम् ।

सरलार्थः—अयि ! मुग्धेऽरण्ये कुक्कुरानुगतशृगालीव अस्माभिरनुगम्यमाना हृदयं हरन्ती त्वं शीघ्रं कथं गच्छसि ॥ २८ ॥

पल्लवं इति—पल्लव एव पल्लवकस्तत्सम्बुद्धौ हे पल्लवक ! नवीनकिसलयतुल्य रक्तवर्णशरीरत्वात् पूर्वोक्तनामधेयो वसन्तसेनाभृत्यः ! परभृतिका=सुमधुरकण्ठरवशालित्वात् परभृतिका नाम्नी दासी तत्सबोधने परभृतिक इति संज्ञायां कन्, इति सूत्रेणयत्रापि कन्प्रत्ययः !

भाव—पण्डितापरपर्यायः मनुष्य इति सम्बोधनं मनुष्यान्तरं दृष्ट्वा वसन्तसेनायाः पक्षपोषकमिति मत्वा परपुरुषकर्त्तृकमाक्रमणं स्वस्मिन्नाशंक्य शकारस्य भयन टनं बोध्यम् ।

माधविक इति—इयमपि वसन्तसेनायाः परिचारिका माधविका नाम माधवो वसन्तो यथा कामकलोपयिकसकलसाधनसाधकस्तथा इयमपि विषयसाधन—सौन्दर्यसम्पादनेन मनोहारिणी दासी अयं भावः—वसन्तसेनायाः पल्लवको दासः परभृतिका दासी माधविका च परिचारिका ! युक्तञ्चैतत्—वसन्तकाले नवपल्लवस्य

प्रचण्ड अनुसृत तू हमारे आच्छन्न हृदय को चुराकर वेग से भागी जाती है ॥ २८ ॥

वसन्तसेना—पल्लवक ! पल्लवक !! परभृतिके !! परभृतिके !!!

शकार—(भय के साथ) भाव ! भाव !! मनुष्य है मनुष्य ।

विट—मत डरो, मत डरो ।

वसन्त—माधविके ! माधविके !!

विट.—(सहासम् !) मूर्ख ? परिजनोऽन्विष्यते ।

शकारः—भावे ? भावे ? इत्थिआं अण्णेशदि ?। (भाव ! भाव ! स्त्रियमन्विष्यति ?)

विटः—अथ किम् ।

शकारः—इत्थिआणं शदं मालेमि शूले हगे ? (स्त्रीणां शतं मारयामि, शूरोऽहम् ।)

वसन्त —[शून्यमवलोक्य ।] हद्धी ? हद्धी ? कधं परिजणो वि परिब्भट्ठो । एत्थ मए अप्पा सअं ज्जेव रक्खिदव्वो । (हा धिक् हा धिक् ! कथं परिजनोऽपि परिभ्रष्टः । अत्र मया आत्मा स्वयमेव रक्षितव्यः ।)

विटः—अन्विष्यताम्, अन्विष्यताम् ।

शकारः—वशन्तशेणिए ? विलव विलव परहुदिअं वा पल्लवअं वा शव्वं वा वशन्तमाशं । मए अहिशालिअन्तीं तुमं को पलित्ताइश्शदि ?। [वसन्तसेनिके ! विलप विलप परिभृतिकां वा, पल्लवकं वा, सर्वं वा वसन्तमासम् । मया अभिसार्यमाणां त्वां कः परित्रास्यते ? ।]

दर्शनात् कोकिलस्योत्कर्षदर्शनात् माधविकायाः साक्षाद्वसन्तसेनामयत्वाच्च कवेरुक्तिवैचित्र्यादर्थान्तरध्वनिः ।

हा धिगिति । मम परिजनोऽपि=रक्षकोऽपि परिभ्रष्टः=पश्चादेव स्थितः, मम रक्षणं कः कुर्यादिति भावः, स्वयमेव स्वकीयां रक्षामहं कुर्याम् ।

शकार इति—खिन्नया वसन्तसेनया समाहूतायाः स्वपरिचाकायाः कोकिलापरपर्यायकं परिभृतिके'ति नाम श्रुत्वा परिभृतिकाशब्दं कोकिलार्थपरतया निवेशित-

---

विट—[हँसी के साथ] मूर्ख ! वह अपने परिजनों को खोज रही है ।

शकार—भाव ! भाव !! क्या स्त्री को खोज रही है ।

विट— ! ।

शकार—सैकड़ों स्त्रियों के मारने में मैं शूर हूँ ।

वसन्त—[शून्य देखकर] दुःख महादुःख । न मालूम कैसे परिजन भी विलग हो गए । अब अपनी रक्षा मुझे स्वयं करनी है ।

विट—[परिजनों को] खोजो, खोजो ।

शकार—क्षुद्र वसन्तसेने ! परिभृतिका, पल्लवक या सम्पूर्ण वसन्त मास

किं भीमशेणे जमदग्गिपुत्ते कुन्तीशुदे वा दशकन्धले वा।
एशे हगे गेण्हिअ केशहत्थे दुश्शाशणश्शाणुकिदिं कलेमि ।। २९ ।।
(किं भीमसेनो जमदग्निपुत्रः कुन्तीसुतो वा दशकन्धरो वा।
एषोऽहं गृहीत्वा केशहस्ते दुःशासनस्यानुकृतिं [करोमि ।। २९ ।।]
णं पेक्अ, णं पेक्ख ! [ननु प्रेक्षस्व ननु प्रेक्षस्व ।]
अशी शुतिक्खे, बलिदे अ मत्थके, कप्पेम शीशं उद मालएम वा।
अलं तवेदेण पलाइडेण मुमुक्खु जे होदि, ण शे क्खु जीअदि ।। ३० ।।

वान् इति वक्रोक्तिरलङ्कारः, मयि त्वामाक्रामति सति न कोऽपि त्वां रक्षितुं समर्थ इति सगर्वं वदन् ।

शकारः प्रसिद्धवीराणामपि रक्षणासामर्थ्यं प्रदर्शयति—किमिति । भीमसेनः= वृकोदरः किं त्वां रक्षिष्यतीति शेषः, सर्वत्रैव वाक्ये एतद्योजनीयम् जमदग्निपुत्रः= परशुरामः वा=अथवा कुन्तीपुत्रः कर्णोऽर्जुनो वा इत्यर्थः, तयोरेव धनुर्धरत्वेन प्रसिद्धत्वादिति भावः । कुत्रचित् युधिष्ठिर इति पर्यायोऽपि भवितुमर्हति युधिष्ठिरस्य धार्मिकत्वात् धार्मिकस्यैव पुंसः परस्त्रीरक्षणसम्भवात् दशकन्धरः=रावणो वा एषोऽहं केशहस्तं=केशसमूहमित्यर्थः 'पाश पक्षश्च हस्तश्च कलापार्थाः कचात्परे' इत्यमरः, तव इति शेषः, गृहीत्वा धृत्वा= आकृष्य इति यावत् दुःशासनस्य कनिष्ठस्य धृतराष्ट्रपुत्रस्य अनुकृतिम्=अनुकरण वस्त्रहरणादिना नग्नीकरणमिति यावत् । करोमि सम्पादयामि । अत्रोपमालङ्कारः । इन्द्रवज्रावृत्तम् 'स्यादिन्द्र वज्रा यदि तौ जगौ गः' इति तल्लणम् ।

सरलार्थः—अयि वसन्तसेने प्रसिद्धेषुधनुर्धरेषु न कोऽपि वीरो यस्त्वां रक्षिष्यति यथा दुःशासनेनाक्रान्ता द्रौपदी भीष्मादिना न रक्षिता तथैव त्वं भविष्यसि अतो मद्वशवर्तिनी भव ।। २९ ।।

प्रेक्षस्व=मनसा विचारय ।

का नाम लेकर विलाप कर । जब मैं तुम्हारा पीछा कर रहा हूँ तब तुम्हारी कौन रक्षा कर सकता है।

क्या भीमसेन रक्षा कर सकता है ? या परशुराम ! या अर्जुन ! अथवा रावण ! [कोई भी रक्षा नहीं कर सकता] यह मैं हाथ में केशपाश पकड़कर दुःशासन का अनुकरण करता हूँ ।। २९ ।।

देखो, देखो—मेरी तलवार तेज है, और यह भी तुम्हारा मस्तक भी पकड़

(असिः सुतीक्ष्णो वलितश्च मस्तकं कृन्तामः शीर्षम्, उत मारयामो वा।
अलं तवैतेन पलायितेन मुमूर्षुर्यो भवति, न स खलु जीवति ॥ ३० ॥)

वसन्त—अज्ज ! अबला क्खु अहं । (आर्य अबला खलु अहम् !)।

विटः—अत एव ध्रियसे ।

शकारः—अदो ज्जेवं मालीअशि । (अत एव न मार्यसे ।)

एतावता प्रयत्नेन तां केशेषु गृहीत्वा प्रहृष्टः शकारो भीषयन्नाह—असिरिति । सुतीक्ष्णः=निशितः असिः=कृपाणः मम हस्ते वर्तते इति शेषः, मस्तकं शिरश्च तव इति भावः । वलितं=सुन्दरमस्तीति शेषः, 'वलितं त्रिषु सुन्दरमिति' विश्वः, बलितमित्यस्य रक्षितमिति पर्याय इति श्री हरिदासभट्टाचार्याः, धृतमिति पर्यायः, श्री जीवानन्दमहाशयाः, किन्तु तादृशार्थकरणे को लाभ इति तावेव विजानीयाता-मिति प्रस्तुतलेखकाः, शीर्ष=मस्तकं कृन्तामः=छिन्द्मः उत अथवा मारयामः ते प्राणविनाशं कुर्मः अत एव तव एतेन कारणेन पलायितेन=पलायनेन अलं=व्यर्थं न किमपि फलं सेत्स्यतीति भावः। कुत इत्याह—मुमूर्षुरिति यो जनो मुमूर्षुरासन्न-मरणो भवति स जनो खलु=निश्चितं न जीवति प्राणान् धारयति अस्मद्धस्तगतत्वेन तव मरणस्य अनिवार्यतया पलायनं निरर्थकमिति भावः । वंशस्थविलोपेन्द्रवज्रा-वृत्ताभ्यां विजातीयोपजातीयवृत्तम् । अयम्भावः—प्रथमचतुर्थचरणे वंशस्थविलं द्वितीये तृतीये इन्द्रवज्रा तयोस्सम्मिश्रणाद् 'इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिस्त्विदमेव वृत्तम्, इति ।

सरलाऽर्थः—मम हस्ते तव शिरः कृपाणश्च वर्तते अतः यदि त्वं पलायितुमारब्धा भविष्यसि तदा मारयिष्यामि, मम वर्जनेऽपि त्वं तथैवाचरसीति हेतोरासन्नमरणे-स्यहं निश्चिनोमि ॥ ३० ॥

वसन्त इति—सदैवावध्यभावेन स्त्रियं बालञ्च भावयेदिति स्मृतिवचनात् न ग्रहीतव्येति भावः ।

विट इति । अत एव=स्त्रीत्वादेव ध्रियते प्राणैरिति शेषः, जीवसीति भावः ।

लिया गया । तुम्हारा सिर काट डालूं ? अथवा तुम्हें मार डालूं ! अब तुम्हारा भागना व्यर्थ है । जो मरणासन्न हो जाता है वह पुनर्जीवित नहीं रह सकता है ॥ ३० ॥

वसन्तसेना—आर्य ! मैं अनाथिनी हूं ।

विट—इसीलिए तुम हमलोगों से अभिनन्दित हो ।

शकार—इसीलिए तुम्हारी हत्या नहीं की गई ।

वसन्त (स्वगतम्।) कधं अणुणओ वि शे भअं उप्पादेदि। भोदु, एव्वं दाव। (प्रकाशम्।) अज्ज! इमादो किं पि अलङ्करणं तक्कीअदि?। (कथमनुनयोऽप्यस्य भयमुत्पादयति। भवतु एव तावत्। आर्य! अस्मात् किमप्यलङ्करणं तर्क्यते?।)

विटः—शान्तम् भवति! वसन्तसेने? न पुष्पमोषमर्हति उद्यानलता। तत् कृतमलङ्करणैः।

वसन्त—ता किं क्खु दाणिं? (तत् किं खलु इदानीम्?।)

शकारः—हगे देवपुलिशे मणुश्शे वासुदेवके कामइदव्वे। (अहं देवपुरुषो मनुष्यो वासुदेवः कामयितव्यः।)

वसन्त इति—स्वगतम्=आत्मगतम् अस्य=दुष्टद्वयस्येत्यर्थः, अनुनयोऽपि=अनुकूलताऽपि भवत्वेवं तावत् युक्त्यैवं कार्यं साधनीयमिति भावः, अस्मात्=मत्तः सकाशात् अलङ्करणं=भूषणं तर्क्यते ग्रहीतुमिष्यते इति यावत्।

विटः—शान्तं=विरतं भवतु, ईदृक् वाक्यं न वक्तव्यमित्यर्थः, पुष्पमोषं=कुसुमत्रोटनं नार्हति, उद्यानलता=वाटिकापरिरक्षिता वल्ली एतद्विशेषणेन वसन्तसेनाया सयत्नवर्धितलावण्यमङ्गविलासपाटवञ्च भणितं कृतमलमित्यर्थः, अयम्भावः—यथा कुसुमसमृद्धा लता पुष्पाहरणेन अशोभना सम्पद्यते तथैव तव गात्रात् अलङ्कारविमोचनेन शोभाहानिर्भविष्यति, अत्र प्रस्तुतवसन्तसेनावर्णनप्रस्तावेऽप्रस्तुतलतावर्णनेऽप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः।

वसन्त इति—तत् किं खलु प्रयोजनं मम निग्रहेण=मारणेन युवयोरिति शेषः।

शकार इति—मनुष्यरूपधारी साक्षाद्वासुदेवः त्वया कामयितव्योऽहमिति भावः।

वसन्तसेना—(अपने मन में) इनका विनय भी किसी प्रकार भय उत्पन्न कर रहा है? अच्छा, ऐसा ही हो। (प्रकट) आर्य! आप मुझसे किस आभूषण की इच्छा रखते हैं।

विट—ऐसा मत कहो। वसन्तसेने! उद्यानलता के फूलों की चोरी नहीं चाहता। अतः मुझे अलंकारों से कोई प्रयोजन नहीं है।

वसन्त—तो, इस समय आपका मुझसे क्या प्रयोजन है?

शकार—मुझे देवपुरुष, मनुष्य, वासुदेव की कामना करो।

वसन्त—(सक्रोधम्) शन्तं शन्तं । अवेहि, अणज्जं मन्तेशि । (शान्तं शान्तम् । अपेहि, अनार्य्यं मंत्रयसि !)

शकारः—(सहस्ततालं विहस्य ।) भावे ! भावे ! पेक्ख दाव । अन्तलेण शुशिणिद्धा एशा गणिआदालिआ णं । जेण मं भणादि, एहि शन्तेशि किलिन्तेशि त्ति । हगे ण गामन्तलं ण णगलन्तलं वा गड़े । अज्जके ! शवामि भावश्श शीशं अत्तणकेहिं । तव ज्जेव्व पश्चाणुपश्चिआए आहुडन्ते शन्ते किलिते ह्मि संवुत्ते । (भाव ! भाव ! प्रेक्षस्व तावत् । अन्तरेण सुस्निग्धा एषा गणिकादारिका ननु । येन मां भणति एहि, श्रान्तोऽसि, क्लान्तोऽसीति । अहं न ग्रामान्तरं न नगरान्तरं वा गतः । आर्यिके ! सपे भावस्य शीर्षम्, आत्मीयाभ्याम् पादाभ्याम् । तवैव पृष्ठानुपृष्ठिकया आहिण्डमानः, शान्तः क्लान्तोऽस्मि संवृत्तः ।)

वसन्त इति—शान्तं शान्तं तवेदृसी अनौचित्योक्तिरवाच्या, अपेहि = दूरं गच्छ अनार्यं = महदनुचितं मन्त्रयसि = कथयसि, इति सक्रोधं वक्ति ।

शकार इति–सहस्ततालं करतालिकां दत्वेति भावः, विहस्य=ईषद्धास्यं कृत्वा । भाव इति–आदरे द्विरुक्तिः अन्तरेण=हृदयेन सुस्निग्धा=अत्यनुरक्ता मयीति शेषः ।

आर्यिके = गणिके भावस्य = विटस्य शीर्षम् = उत्तमाङ्गं शिर इति यावत् । आत्मीयाभ्यां = स्वकीयाभ्याम् पदाभ्यां स्पृष्ट्वेति शेषः, शकारजनोचितमेवैतत् शपे = शपथं गृह्णामि हस्ताभ्यामिति वक्तव्ये पादाभ्यामिति यदुक्तं तत्सामाजिकानां परिहासाय शकारवचनत्वाल्लोकन्यायविरुद्धमिदं सोढव्यम् । 'पृष्ठानुपृष्ठिकया = पश्चात् पश्चादित्यर्थः, 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इति सूत्रेण । साधनीयमेतद् आहिण्डचमानः = त्वामनुसरन्नित्यर्थः, क्लान्त इति अग्रिमपदेन सम्बन्धः ।

वसंत—(क्रोध के साथ) नहीं सुनना चाहती, नहीं सुनना चाहती । दूर हटो । तुम अनार्य (अकथनीय) वाक्यों का उच्चारण कर रहे हो ।

शकार—(ताली बजाता हुआ हँसकर) भाव ! भाव !! जरा देखो तो । यह वेश्या-बाला हृदय से अत्यन्त प्रसन्न है । अतः मुझसे कहती है 'आओ' थक गए हो, विवर्ण हो गये हो' मैं न किसी दूसरे ग्राम में गया हूँ न किसी नगर में । गणिके ! मैं अपने पैरों से पूज्य विट का शिर-स्पर्श कर शपथ खाता हूँ, 'तुम्हारे ही पीछे पीछे दौड़ने के कारण मैं थक गया हूँ ।

विटः—(स्वगतम् ।) अये ! कथं शान्तमित्यभिहिते श्रान्त इत्यवगच्छति मूर्खः । (प्रकाशम् ।) वसन्तसेने ! वेशवासविरुद्धमभिहितं भवत्या । पश्य—

तरुणजनसहायश्चिन्त्यतां वेशवासो, विगणय गणिका त्वं मार्गजाता लतेव ।
वहसि हि धनहार्यं पण्यभूतं शरीरं, सममुपचर भद्रे ! सुप्रियं चाप्रियञ्च ॥

विट इति—वेशे = गणिकागृहे वासः = स्थितः तस्य विरुद्धं = प्रतिकूलं शन्तं शन्तमित्युक्तवचनमयम्भावः—यदि त्वं पातिव्रत्येन विशिष्टासि तर्हि गणिकागारे कथं निवससीति भावः । शकारकृतप्रस्तावं शान्तमित्यादिना वसन्तसेनया प्रत्याख्यातमाकर्ण्य तदुक्तेरनौचित्यं द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां कथयति ।

तरुणजनेति—वेशवासः = वेशे वेश्यालये वासः स्थितः 'वेशो वेश्याजनाश्रयः' इत्यमरः, तरुणजनसहायः = तरुणजनः = युवजनः सहायः = आश्रयो यस्य तादृशः चिन्त्यतां = निर्धार्यताम् विध्यर्थे लोट् । त्वं मार्गजाता = पथि समुत्पन्नासकलजनसंसर्गयोग्येति भावः, लता इव वल्लीव गणिका = वेश्या सर्वजनसाधारणीकृतेति विगणय = जानीहि आत्मानमिति भावः, हि = यतः पण्यभूतं=विक्रेयस्वरूपमत एव धनहार्यमर्थविनिमये क्रय्यं शरीरं=वपुः वहसि=धारयसि अतः सुप्रियं=स्वाभिमतमप्रियम् = अनभिमतञ्च जनमिति शेषः, समं तुल्यमुपचर = सेवस्व 'निर्गुणानपि न द्वेष्टि न रज्यति गुणिष्वपि । वित्तमात्रं समालोक्य सा रागं दर्शयेद्बहिः' ॥ इति वेश्यालक्षणप्रस्तावे आलङ्कारिकोक्तेः, अत्र वयमप्रिया अपि त्वया सेव्या इति प्रस्तुतार्थः, अप्रस्तुतेन गणिकात्वादिख्यापनेनावगम्यते इत्यप्रस्तुतप्रशंसा द्वितीये पादे उपमा शेषार्द्धे तु प्रियाप्रिययोर्तुल्यरूपेण सेवायां धनहार्यत्वरूपपदार्थस्य हेतुत्वोपन्यासात्काव्यलिङ्गमिति, एषामलङ्काराणां संसृष्टिः । मालिनीवृत्तम्—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति लक्षणात् ।

सरलाऽर्थः—यथा मार्गजाता लता अरक्षिता सती सर्वजनसम्पर्कयोग्या भवति तथा त्वं वेश्याकुलोत्पन्ना धनमात्राभिलाषिणी धनदानसमर्थं मामङ्गीकुरु न हि वेश्या पुरुषविशेषानुरागरक्ता भवतीति भावः ॥ ३१ ॥

विट—(अपने मन में) शान्त (घृणासूचक) शब्द कहे जाने पर कैसे यह मूर्ख श्रांत (थका हुआ) शब्द समझ लेता है ? (प्रकट) वसन्तसेने ! तुमने वेश्यालय के विरुद्ध वाक्यों का उच्चारण किया है । देखो—

युवकों से सेवित वेश्यालय को स्मरण करो । आर्ये ! पथ में उत्पन्न होनेवाली लता के समान तुम अपने को समझो । बाजार में धन देकर खरीदी जानेवाली

अपि च—

वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरो मूर्खोऽपि वर्णाधमः,
फुल्लं नाम्यति वायसोऽपि हि लतां या नामिता बर्हिणा।
ब्रह्मक्षत्रविशस्तरन्ति च यथा नावा तथैवेतरे,
त्वं वापीव लतेव नौरिव जनं वेश्यासि सर्वं भज ॥ ३२ ॥

साधकान्तरमाह—अपि चेति।

वाप्यामिति—विचक्षणः = कुशलो द्विजवरः = द्विजश्रेष्ठो ब्राह्मण इत्यर्थः, तथा मूर्खः = मूढो वर्णाधमः = सर्वजातिहीनः शूद्रोऽपीति यावत्। वाप्यां = दीर्घिकायाम् एकस्यामेवेति पूरणीयम् स्नाति = मज्जति या लता बर्हिणा = मयूरेण नामिता = अधरीकृता फुल्लां=विकसितां तां लतां नाम्यति = नमयति नमनं नामः भावे घञ् नामं करोतीत्यर्थे 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्, ततः क्विप् 'णेरनिटि' इति णिचो लोपेऽल्लोपे 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' इति यकि नाम्यतीति रूपं केचित्तु पूर्वोक्तविग्रहे 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति नियमात् शपि गुणमकृत्वा इकारस्य यकारे नाम्यतीति वदन्ति। पृथिवीधरस्तु सम्पदादिपाठमभ्युपेत्य क्विपि क्यचि च नाम्यतीतिं, कण्डवादिपाठात् यकि क्यचो लोपे नाम्यतीति रूपमित्याह तथा 'ब्रह्मक्षत्रविशः = ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः यया नावा = तरण्या तरन्ति पारं यान्ति तयैव नावा इतरे शूद्रादयोऽपि तरन्तीति शेषः, त्वं वेश्या = गणिका असि अतो वापीव = सरसीव लतेव=वल्लीव नौरिव=तरणिरिव सर्वं जनं=सकलं लोकम् प्रार्थयितारमिति शेषः, भज=सेवस्व सर्वसाधारणत्वात् त्वया क्वचिद् आदरः क्वचिद्वा अनादरो न विधेय इति भावः अस्मिन्नेवपद्यद्वये उपदिष्टं नाम नाट्यलक्षणम् तदुक्तं दर्पणे-'उपदिष्टं मनोहारि वाक्यं शास्त्रानुसारतः' इति। अत्र अप्रस्तुतयोर्द्विजवरवर्णाधमयोः स्नातीत्येकक्रियया कर्तृत्वेनान्वयात् एवमप्रस्तुतानां ब्रह्मक्षत्रविशां तदितरेषामिति तरन्तीत्येकक्रियया अन्वयाच्च तुल्ययोगिताद्वयम्। तदुक्तं साहित्यदर्पणे 'पदार्थानां प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा यदा भवेत्। एकधर्माभिसंबंधः स्यात्तदा तुल्ययोगिता' इति। एकस्योपमेयस्य वेश्यारूपस्य वाप्यादीनि बहूनि उपमानानि सन्ति तेन मालोपमा। सर्वं भज इत्यर्थं प्रति वेश्या असि, इत्यस्य हेतुत्वात्काव्यलिङ्गम्। परस्परमेषामंगांगिभावेन

वस्तु के समान तुम देह धारण करती हो। अतः रसिक और अरसिक, दोनों के साथ समान व्यवहार करो ॥ ३१ ॥

और भी—विद्वान्, ब्राह्मण तथा नीच-मूर्ख भी तालाब में स्नान करते हैं। जिस विकसित लता को मयूर ने झुकाया है उसीको कौआ भी झुकाता है। जिस

वसन्त—गुणो क्खु अणुराअस्स कालणं, ण उण बलाक्कारो। (गुणः खलु अनुरागस्य कारणम् न पुनर्बलात्कारः।)

शकारः—भावे! भावे! एशा गब्भदासी कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि ताह दलिद्दचालुदत्ताह अणुलत्ता ण मं कामेदि। वामदो तश्श घलं। जधा तव मम अ हत्थादो एशा ण पलिब्भंशदि, तधा कलेदु भावे। (भाव! भाव! एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानात् प्रभृति तस्य दरिद्रचारुदत्तस्य अनुरक्ता, न मां कामयते। वामतस्तस्य गृहम्, यथा तव मम च हस्तात् एषा न परिभ्रश्यति, तथा करोतु भावः।)

संकरालङ्कारः स्फुटः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। वाप्यादयो भजन्ते त्वन्तु भजेति लकारभेदात् भग्नप्रक्रमतादोषः।

सरलार्थः—यथा श्रेष्ठब्राह्मणः शूद्रो वा समानरूपेण वाप्यां स्नाति, एवं समीचीना लता मयूरेण काकेनापि स्पृश्यते एवमेवैकैव नौका सर्वान् वर्णान् पारयति तथैव हे वसन्तसेने! यस्तुभ्यं प्रचुरं द्रव्यं प्रयच्छेत्तमेव स्वीकुरु पुरुषविशेषे आस्थां त्यजेति भावः॥ ३२॥

वसन्त इति—बलात्कार=हठावेशेन प्रवृत्तिः युवयोर्विन यादिगुणाभावान्न ममानुरक्तिरिति हठेनालमिति भावः।

शकारः—इति—गर्भदासो=जन्मप्रभृतिचेटीत्यर्थः कामदेवस्य=मदनस्य आयतनं=स्थानं तन्नामकमुद्यानं पुष्पवाटिकेति यावत्। ततः प्रभृति तत्र प्रविश्य दृष्टस्य चारुदत्तस्य उपरि अनुरक्ता=आसक्तेयमिति भावः। अत्रोपदेशनन्नाम नाट्यालङ्कारस्तल्लक्षणं यथा दर्पणे—'शिक्षा स्यादुपदेशनमिति'।

नौका से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पार उतरते हैं उसीसे शूद्र आदि भी। तुम तालाब, लता तथा नौका के तुल्य वेश्या हो, अतएव प्रत्येक मनुष्य का तुम समान आदर करो॥ ३२॥

वसन्तसेना—प्रेम का कारण गुण है, बलात्कार नहीं।

शकारः—विद्वन्! विद्वन्!! जन्म से नीच-भोग्या यह वेश्या उस काम देवायतन-उद्यान से ही निर्धन चारुदत्त पर अनुरक्त है और मुझे नहीं चाहती है। बायीं ओर उसका घर है। ऐसा उपाय कीजिए कि जिससे यह हमारे और तुम्हारे हाथ से निकल न जाय।

विटः—(स्वगतम् ।) यदेव परिहर्त्तव्यं तदेवोदाहरति. मूर्खः । कथं वसन्तसेना आर्यचारुदत्तमनुरक्ता। सुष्ठु खल्विदमुच्यते—'रत्नं रत्नेन सङ्गच्छते' इति । तद्गच्छतु, किमनेन मूर्खेण ! (प्रकाशम् ।) काणेलीमातः ? वामतस्तस्य सार्थवाहस्य गृहम् ? ।

शकारः—अधहं, वामदो तश्श घलं । (अथ किम्, वामतस्तस्य गृहम् ।)

वसन्तः—(स्वगतम् ।) अम्हहे ! वामदो तस्स गेहं त्ति जं सच्चं, अवरज्झन्तेण वि दुज्जणेण उवकिदं । जेण पिअसङ्गमं पाविदं । (आश्चर्यम् ! वामतस्तस्य गृहमिति यत्सत्यम्, अपराध्यताऽपि दुर्जनेन उपकृतम् । येन प्रियसङ्गमः प्रापितः ।)

विट इति—स्वगतम् = आत्मगतम् परिहर्तव्यं = परित्यक्तव्यं चारुदत्तस्य गृहमतिनिकटे वर्तते इति वसन्तसेनायै वक्तुन्नोचितम् तदेव मूर्खः कथयति तेन कार्यहानिः स्यादिति भावः । काणेलीमातः = काणेली = अविवाहिता स्त्री व्यभिचारिणी वा माता यस्य तत्सम्बुद्धौ निन्दाजनकमिदम् । विश्वेश्वरीं विश्वमातां चण्डिकां त्वां नमाम्यहम्, इत्यादिस्थले आकारान्तोऽपि माताशब्दोऽस्ति तन्मते विसर्गरहित एव युक्तः पाठः ।

वसन्त इति—अम्हहे = आश्चर्यद्योतकमव्ययम्, अत्र आनन्दो नाम निर्वहणाङ्गं प्रदर्शितम्, यथा दर्पणे 'आनन्दो वाञ्छितागमः' इति । अपराध्यता = दुराचारं प्रार्थयमानेनेत्यर्थः प्रियस्य = चारुदत्तस्य सङ्गमः = मेलनं प्रापितः ।

विट—(अपने मन में) यह मूर्ख वही बात कहता है जो न कहनी चाहिए। क्या वसन्तसेना आर्य चारुदत्त में आसक्त है। ठीक ही कहा हुआ है कि रत्न का संयोग रत्न ही से होता है अर्थात् योग्य का योग्य से मेल होता है । तब वैसा ही हो, इस मूर्ख से क्या लाभ ? (प्रकट) काणेली पुत्र ! क्या चारुदत्त का घर बाँयी ओर है ?

शकार—हाँ, बाँयी ओर उसका घर है ।

वसन्त—(अपने मन में) अहो ! यदि सच में उसका घर बाँयीं ओर है तो अपकार करते हुए भी दुष्ट ने मेरा उपकार ही किया । जिससे प्रिय चारुदत्त का मिलन तो सम्भव हो गया ।

शकारः—भावे ! भावे ! वलिए क्ख अन्धआले माशलाशिपविट्टा विअ मशिगुड़िआ दीशन्दो ज्जेव पणट्टा वशन्तशेणिआ । (भाव ! भाव ! बलायसि खल्वन्धकारे माषराशिप्रविष्टेव मसीगुटिका दृश्यमानैव प्रनष्टा वसन्तसेना ।

विटः—अहो ! बलवानन्धकारः । तथाहि—

आलोकविशाला मे सहसा तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना ।
उन्मीलितापि दृष्टिर्निमीलितेवान्धकारेण ॥ ३३ ॥

अपि च—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।

शकार इति—माषस्य = अन्नविशेषस्य (उड़द इति भाषा) राशौ = समूहे प्रविष्टा = मिलिता मसीगुटिका = मसीवटिका (स्याही की गोली) इति भाषा । इव वसन्तसेना दृश्यमाना एव तिरोहिता ।

घनान्धकारनष्टदृष्टिर्विटः = किमपि द्रष्टुमसमर्थः स्त्रीयामवस्थां वर्णयन् प्राह—आलोकेति । आलोके = दर्शने विशाला = महती तीव्रदर्शनशक्तियुक्तेत्यर्थः । मे = मम दृष्टिः तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना = तिमिरे = अन्धकारे प्रवेशेन = निपातेन विच्छिन्ना = विनष्टा हीनसक्तिरिति यावत् । तिमिरस्य = अन्धकारस्य प्रवेशेन = आगमनेन विच्छिन्ना व्याहता दर्शनशक्तिरहितेति वार्थः अत एव उन्मीलिताऽपि वसन्तसेनावलोकनाय व्यापारिताऽपि अन्धकारेण = तिमिरेण हेतुना निमीलिता पुनः मुद्रिता इव जायत इति शेषः । अत्रोत्प्रेक्षालंकारः । आर्या नाम वृत्तम् ।

सरलार्थः—तीव्रतरदर्शनशक्तिसम्पन्ना दृष्टिः अन्धप्रकाशेन दर्शनशक्तिरहिता सती अवलोकनाय व्यापारिताऽपि द्रष्टुमसमर्था किमपि न पश्यति का कथा वसन्तसेनादर्शनस्येति भावः ॥ ३३ ॥

दृष्टिव्याघातकस्य तमसोऽतिगाढत्वं प्रकारान्तरेण वक्ति—अपि चेति ।

लिम्पतीति—तमः = अन्धकारम् अङ्गानि = शरीराणि लिम्पतीव = म्रक्षतीव नभः =

शकार—भाव ! भाव !! घोर अन्धकार में, उर्द की ढेर से गिरी हुई स्याही की टिकिया के समान—देखते ही देखते वसन्तसेना अदृश्य हो गई ।

विट—अरे ! कितना घोर अन्धकार है ? मानो देखने में तीव्र भी मेरी आँख सहसा अन्धकार के आवागमन से—आच्छन्न हो गई है । अँधेरे में अब आँख फाड़कर देखने पर भी कुछ नहीं सूझता ॥ ३१ ॥

और भी—

अंगों में अन्धकार व्याप्त हो रहा है, आकाश कज्जल की वर्षा कर रहा है,

असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥ ३४ ॥

शकारः—भावे ! भावे ! अणेशामि वशन्तशेणिअं ? । (भाव ! भाव ! अन्विष्यामि वसन्तसेनिकाम् ।)

विटः—काणेलीमातः ! अस्ति किञ्चिच्चिह्नम् ? यदुपलक्षयसि ।

आकाशम् अञ्जनं=कज्जलं वर्षतीव=पातयतीव दृष्टिः=नेत्रम् असत्पुरुषसेवेव=हीनजनपरिचर्येव विफलतां=फलशून्यतां गता=प्राप्ता, अत्र पूर्वार्धे, उत्प्रेक्षा, उत्तरार्धे, उपमा, इत्यनयोः संसृष्टिः । ननु इवशब्दस्य सादृश्यार्थकत्वे विरोधाभावात् पूर्वार्धप्रतिपादितोत्प्रेक्षा, उपमैव कुतो नेति चेदुच्यते—उपमायाम्, इवेन सह नित्यसमासाङ्गीकारात् प्रकृते समासस्यासम्भवात्, लिम्पतीत्यस्य आख्यातान्तत्वेन सुबन्तत्वाभावात् इवपदस्य संभावनापरत्वेऽपि पूर्वोक्तहेतोरेव न समासः । एवञ्च संभावनारूपेऽर्थे सादृश्यार्थे वा समासप्रसंगविरहात् समासं विनैव इवपदप्रयोगे बाधकाभावात् उपमैवेति केचित् ।

तत्त्वविदस्तु—उपमानसद्भावे एव उपमालङ्कारस्वीकारात् नात्रोपमाऽपितूत्प्रेक्षैव । अयम्भावः—अत्रोपमानं किं यदि तिङर्थः कर्त्ता तदा वैयाकरणमते तिङन्तस्थले व्यापारमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधस्य स्वीकारात् तिङर्थकर्त्तुश्च व्यापारे विशेषणीभूतत्वे इवार्थसादृश्ये स्वप्रतियोगित्वसम्बन्धेन तस्यान्वयासम्भवात् । अन्यविशेषणस्यान्यत्रान्वयायोगात् । नच लेपनमेवोपमानमस्त्विति वाच्यम् लेपनक्रियातमसोः साधारणधर्माभावत् लेपनस्यैव तद्धर्मत्वमिति न वाच्यं धर्मधर्मिभावस्य भेदनियतत्वात् पूर्वार्धे उत्प्रेक्षैवाङ्गीकरणीया । उत्तरार्धे उपमायां न कश्चिद् विवाद इति वदन्ति । अनुष्टुब्वृत्तम्

सरलार्थः—अङ्गानि, अन्धकारलिप्तानि नभः कज्जलं वर्षतीव इति वाक्यद्वयेनान्धकारस्य निविडमत्वं प्रतिपादितं भवति एवञ्च यथा असत्पुरुषसेवायाः किमपि फलन्न तथैव दृष्टिः प्रसारिताऽपि दर्शने विफलतां याति एवंविधान्धकारातिशयवर्णनेन तदानीन्तने राजपथे आधुनिकराजमार्गे इव प्रकाशप्रबन्धो नासीदित्यवगम्यते इति भावः ॥ ३४ ॥

असज्जनों की सेवा के समान मेरी दृष्टि निष्फल हो गई है ॥ ३४ ॥

शकार—भाव ! भाव !! दुष्टा वसन्तसेना को खोजता हूँ ।

विट—काणेली के पुत्र ! कोई चिह्न है, जिसके सहारे तुम उसका अन्वेषण करते हो ?

शकारः—भावे ! भावे ! किं बिअ ? (भाव ! भाव ! किमिव ?)
भूषणशब्दं सौरभ्यानुबिद्धं माल्यगन्धं वा ।

शकार—शुणामि मल्लगन्धं अन्धआलपूलिदाए उण णाशिआए शुव्वतं, उण ण पेक्खामि भूषणशद्दं ! (शृणामि माल्यगन्धम् अन्धकारपूरितया पुनर्नासिकया सुव्यक्तम्, पुनर्न प्रेक्षे भूषणशब्दम् ।)

(जनान्तिकम् ।) वसन्तसेने ?

कामं प्रदोषतिमिरेण न दृश्यसे त्वं
सौदामनीव जलदोदरसन्धिलीना ।

विट इति—'सुरभिर्घ्राणतर्पणः' इत्यमरः । तेनानुविद्धं=मिश्रितं माल्यसगन्ध वा ।

शकार इति—जिघ्रामि, इत्यभिप्रायेणैव शृणोमीति शब्दस्य प्रयोगः । शृणोमीत्यपार्थकमपि शकारस्योक्तित्वेनोचितमेव एवमेव न पश्यामि भूषमशब्दमित्यत्राप्यपार्थकत्वं परिहरणीयम् ।

जनान्तिकमिति—'त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तिराकथाम् । अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जानान्तिकम्' इत्युक्तलक्षणम्, 'पताके तु यदा वक्रा नामिकाल्वङ्गुलिर्भवेत् । त्रिपताकः स विज्ञेयः' इति भरतमुन्युक्तोऽवधार्यः ।

निबिडान्धकारविलीनां वसन्तसेनामुद्दिश्य अदर्शनेऽपि तस्या साल्यगन्धाद्यनुमेयतां प्रस्तौति—काममिति । हे भीरु=भीतिशीले त्वं जलदोदरसन्धिलीना=जलं ददातीति जलदः 'जातोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययस्तस्योदरमभ्यन्तरम्तत्र यः सन्धिः=ग्रन्थिलोभागः तत्र लीनोऽन्तर्हितः सौदामनी विद्युत् इव यथा जलोदरसन्धिलीनेति विशेषणदानस्यायमभिप्रायो यत् मेघसंघर्षणादेव विद्युदुत्पद्यते तथैव तत्रैव विलीयते अतः सुस्पष्टदर्शनाभाव इति प्रदोषतिमिरेण=प्रदोषस्य=सन्ध्याकालस्य तिमिरेण=तमसा लीना कामं पर्याप्तं यथा स्यात्तथा न दृश्यसंघर्षणा नावलोक्यसे तु=किन्तु माल्यसमुद्भवः=माल्य वनिसृतः अयम्=अनुभवगोचरः गन्धः सौरभस्त्वां

शकार—विद्वन् ! विद्वन् !! कैसे ?

विट—अलंकारों की झंकार से या सौरभित पुष्पों की सुगन्धि से ।

शकार—दृष्टि के अंधकार से व्याप्त होने पर भी नासिका के द्वारा स्पष्ट पुष्पों की सुगंधि सुन रहा हूँ, किन्तु अलंकारों की झंकार नहीं देख रहा हूँ ।

विट—(धीरे-धीरे) वसन्तसेने !

हे भयशीले ! जिस प्रकार मेघ के गर्भ में छिपी हुई बिजली दिखाई नहीं पड़ती उसी प्रकार रात्रि के घोर अंधकार के कारण तुम भी नहीं दिखलाई

त्वां सूचयिष्यति तु माल्यसमुद्भवोऽयं
गन्धश्च भीरु ! मुखराणि च नूपुराणि ॥ ३५ ॥

श्रुतं ? वसन्तसेने ! ।

वसन्त—(स्वगतम् ।) सुदं गहिदं अ । (नाट्येन भूषणान्युत्सार्य, माल्यानि चापनीय, किञ्चित् परिक्रम्य, हस्तेन परामृश्य ।) अम्हो ! भित्ति-परामरिससूइदं पक्खदुआरअं क्खु एदं । जाणामि अ संजोएण गेहस्स संवुदं पक्खदुआरअं । (श्रुतं गृहीतञ्च । अहो ! भित्तिपरामर्शसूचितं पक्ष-द्वारकं खल्वेतत् । जानामि च संयोगेन गेहस्य संवृतं पक्षद्वारकम् ।

सूचयिष्यति मुखराणि = वाचालानि नूपुराणि = पादभूषणानि (पाजेब इति भाषा) सूचयिष्यन्ति इति विभक्तिपरिवर्तनेनान्वयः । अत्र सौदामिनी इव इति श्रौती उपमा, सूचनरूपायामेकक्रियायां गन्धनपुरयोर्वचनव्यत्ययेनान्वयात् तुल्ययोगिता, तुल्ययोरथताप्रयोज्यचमत्कृतिवशेन गन्धनूपुरशब्दरूपहेतुभ्यां वसन्तसेनाकर्तृकस-त्तारूपसाध्यज्ञानेन अनुमानालङ्कारः सम्भाव्यते । द्वयोः निरपेक्षेणावस्थानात् संसृष्टिः, वसन्ततिलकं वृत्तम् ।

सरलार्थः—अयि भयशीले वसन्तसेने मेघमध्यगतविद्युदिव सन्ध्याकालिकान्ध-कारवशेन त्वं साम्प्रतन्न दृश्यसे तथापि तवाङ्गलग्नगन्धेन वाचालनूपुरशब्देन च तव ज्ञानमवश्यमेव भविष्यतीति तात्पर्यम् ॥ ३५ ॥

श्रुतमिति—श्रुतं वसन्तसेने अर्थात् श्रावयितुमेवैतत् कथयामि श्रुतन्न वेत्याशयः ।

वसन्त इति—श्रुतं त्वद्वाक्यमिति शेषः । वाक्यतात्पर्यं ज्ञातञ्च भित्तेः—कुड्यस्य परामर्शेन = करस्पर्शनेन सूचितं बोधितं पक्षद्वारकं (मुख्य द्वार के बगल का द्वार) संयोगेन परस्परमिलनेन अथवा योगेन = करस्पर्शेन स्पर्शनेन्द्रिय-संयोगजनितविज्ञानेनेत्यर्थः ।

नहीं पड़ती हो, किन्तु माला से निकली हुई सुगन्ध तथा शब्दायमान नूपुर तुम्हारा पता बता देगा ॥ ३५ ॥

सुना ? वसंतसेने !

वसंतसेना—(अपने मन में) सुना और मतलब भी समझा । (अभि-नय के साथ अलंकारों को ऊपर उठाकर, सुगन्धित मालाओं को दूर फेंक कर, कुछ घूमकर तथा हाथ से छूकर) अहो ! भित्ति के स्पर्श से पता चलता है कि ये दरवाजे के दो किवाड़े हैं । छूने से यह भी पता चलता है कि घर का दर-वाजा बन्द है ।

चारु—वयस्य ! समाप्तजपोऽस्मि । तत् साम्प्रतं गच्छ, मातृभ्यो बलिमुपहर ।

विदू—भो ! ण गमिस्सं । (भो ! न गमिष्यामि ।)

चारु—धिक् कष्टम् ।

> दारिद्र्यात् पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न सन्तिष्ठते;
> सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृदः, स्फारीभवन्त्यापदः ।
> सत्त्वं ह्रासमुपैति, शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते,
> पापं कर्म च यत् परैरपि कृतं तत्तस्य सम्भाव्यते ॥ ३६ ॥

विदूषकः—भो न गमिष्यामि, आज्ञाभङ्गं नाटयति ।

चारुदत्त इति—धिक् कष्टम् ।

विदूषकमुखात् स्वकीयाज्ञाभङ्गमवेक्ष्य अतिदुःखितः चारुदत्तो दैन्यमेवैतद्दुःख-निदानमिति सखेदं श्लोकत्रयेण प्रतिपादयति—दारिद्र्यादिति । बान्धवजनः = सुहृज्जनः 'सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वजनाः समाः' इत्यमरः । दारिद्र्यात्=धनाभावात् पुरुषस्य लोकस्य वाक्ये आज्ञायान्न संतिष्ठते वाक्यन्न पालयतीति भावः । 'समव-प्रविभ्यः स्थः' इत्यनेन सन्तिष्ठत इत्यत्रात्मनेपदम् । सुस्निग्धाः=अत्यनुरक्ताः=सुहृदः= मित्राणि विमुखीभवन्ति प्रातिकूल्यमाचरन्ति आपदः = विपत्तयः स्फारीभवन्ति= वृद्धिं गच्छन्ति सत्त्वं = बलं ह्रासं=क्षीणतामुपैति–प्राप्नोति शीलशशिनः=चारित्र्य-चन्द्रस्य कान्तिः=दीप्तिः परिम्लायते=सर्वतो ग्लानिं गच्छति परैः=अन्यैरपि कृतम्= आचरितम् यत् पापं=निन्दितं कर्मं चौर्यादिकमिति यावत् तत् पापजनकं=कुत्सितं कर्मं तस्य दरिद्रस्य सम्भाव्यते=अनुमीयते दरिद्रतया इदमनेनैव कृतमिति लोकैः निश्चीयत इति भावः । अत्र अप्रस्तुतजनसामान्यात् प्रस्तुतस्य चारुदत्तस्य प्रतीतेर-प्रस्तुतप्रशंसा हा धिक् कष्टमित्युपक्रम्यैतस्य पद्यस्याभिधानात् कष्टरूपैककार्यं प्रति अनेककारणानां कथनात् समुच्चयालङ्कारः—तदुक्तं दर्पणे 'समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके । खले कपोतिकान्यायात् तत्करः स्यात्परोऽपि चेति' शीले शशित्वारो

चारुदत्त—मित्र ! जप-पूजादिक कर चुका । इसलिए, अब जाओ और मातृदेवियों को बलि चढ़ा आओ ।

विदूषक—अजी, मैं नहीं जाऊँगा ।

चारुदत्त—अहो ! बड़ा दुःख है—

दरिद्रता के कारण मनुष्यों के बंधु-बांधव भी बात नहीं सुनते । अभिन्न मित्र विमुख हो जाते हैं, आपत्तियाँ बढ़ जाती हैं, बल क्षीण हो जाता है, शील-

अपि च—

> सङ्गं नैव हि कश्चिदस्य कुरुते, सम्भाषते नादरात्,
> सम्प्राप्तो गृहमुत्सवेषु धनिनां सावज्ञमालोक्यते ।
> दूरादेव महाजनस्य विहरत्यल्पच्छदो लज्जया,
> मन्ये निर्धनता प्रकाममपरं षष्ठं महापातकम् ॥ ३७ ॥

पात्, रूपकं सादृश्ये च उपमा इति शीलघर्षिन इति रूपकोपमयोः सन्देहसङ्करः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

सरलार्थः—दारिद्र्ये सति बान्धवजनः आज्ञां न पालयति मित्राणि विमुखीभवन्ति विपदो वर्धन्ते बलं क्षीयते चारित्र्येऽपि सन्देहः समापपति, अज्ञातमपि कुत्सितं कर्म तस्मिन्नेव जने आरोप्यते इति दारिद्र्यस्य अतिकष्टकरत्वम् इति सूच्यते ॥

सङ्गम् इति—हि = यतः कश्चित् जनः = पुरुषः अस्य = दरिद्रस्य सङ्गं = सम्पर्कं नैव कुरुते किञ्चिल्लाभाभावात् न संसज्जते आदरात् = स्नेहात् न सम्भाषते नालपति दरिद्रमिति शेषः, उत्सवेषु आनन्दजनककार्येषु धनिनां = विभवशालिनां गृहं = भवनं सम्प्राप्तः = समागतः अवज्ञया सहितं सावज्ञं = सावहेलनमालोक्यते दृश्यते सर्वजनैरिति शेषः, तथा अल्पच्छदः = वस्त्रहीनो लज्जया = त्रपया महाजनस्य = धनिकस्य दूरादेव विहरति = गच्छति हीनवस्त्रप्रयुक्तजुगुप्सया धनिकजनसाम्मुख्यन्न गच्छतीति भावः अतः निर्धनता = दारिद्र्यमपरं = भिन्नं षष्ठं ब्रह्महत्यादिपञ्चविधातिरिक्तम् प्रकामं = प्रवृद्धं महापातकमिति मन्ये = सम्भावयामि । मनुना महापातकानां पञ्चविधत्वं प्रतिपादितम् तथाहि 'ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः, महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह' इत्येतदव्यतिरिक्तं षष्ठं महापातकं दारिद्र्यम्, तत्समानं तदधिकं वा कष्टदायकमिति भावः अत्रापि अप्रस्तुताद् विशेषस्य चारुदत्तस्य प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा कष्टरूपमेकं प्रत्यनेककारणोपन्यासात् समुच्चयः पूर्वपादगतवाक्यार्थस्य चतुर्थवाक्यार्थं प्रति हेतुत्वात् काव्यलिङ्गम् । निरपेक्षतया एतेषामवस्थानात् संसृष्टिः । कुरुते इत्यादि कर्तृप्रत्ययमध्ये तद्विरुद्ध आलोक्यत इति कर्मप्रत्ययाभिधानात् भग्नप्रक्रमता एवमेव आत्मनेपदमुपक्रम्य परस्मै-

---

रूप चन्द्रमा की दीप्ति मलिन हो जाती है, इसी प्रकार जो पाप दूसरों ने किया है वह भी उस दरिद्र पर ही लागू हो जाता है ॥ ३६ ॥

और भी—

निर्धन का कोई संसर्ग भी नहीं चाहता । न आदर से कोई बोलता ही है ।
उत्सव में धनवान के घर निर्धन [illegible] जाता है तो वहाँ भी वह

अपि—

दारिद्र्य ! शोचामि भवन्तमेवमस्मच्छरीरे सुहृदित्युषित्वा
विपन्नदेहे मयि मन्दभाग्ये, ममेति चिन्ता क्व गमिष्यसि त्वम् ।। ३८ ।।

पदाभिधाने भग्नप्रक्रमता । तृतीयचरणे च चकारानुक्तेर्न्यूनपदतेति ध्येयम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

सरलार्थः—दरिद्रेण सह कश्चित्तत्सम्पर्कन्न करोति आदरात् न वक्तिधनिनां गृहे उत्सवेषु यदि गच्छति तदा अनाहृतो भवति महाजनं विलोक्य लज्जितो भवति अस्मात् कारणात् दारिद्र्यं महापातकादपि विपुलतरकष्टदायकमिति भावः ।। ३७ ।।

पुनरप्याह—अपि चेति ।

दारिद्र्येति—हे दारिद्र्य ? दैन्ये भवन्तं=त्वां शोचामि भविष्यद्दशामनुभावयन् दुःखी भवामीत्यर्थः यतस्त्वं सुहृदिति=ममातिप्रियत्वेन बन्धुरिति ज्ञात्वेति शेषः । अस्मच्छरीरे=मम वपुषि एवम्=अमुना प्रकारेण उषित्वा वासं विधाय मन्दभागे=हतभागे मयि विपन्नदेहे=त्यक्तकलेवरे मृते सतीति यावत् क्व=कुत्र गमिष्यसि=यास्यासीति मम चिन्ता=भावना अस्मत्सदृशः कोऽपि सार्वदिकः सुहृन्नास्ति यत्र भवान् स्थास्यति, इति चिन्ताकारणमिति भावः । दारिद्र्यशब्दस्तु नपुंसकत्वेन भवन्तमिति पुंस्त्वनिर्देशोऽनुचितः तन्न समीचीनं तादृशपाठादेव च्युतसंस्कारता दोषो भवति अथवा दारिद्र्यस्य धनाभावरूपार्थबोधकत्वात् पुंल्लिङ्गतेति केचित्, उक्तञ्च वररुचिना 'शब्दाभिधेये लिङ्गं स्यात्, शब्दलिङ्गमथापि वा । शोभनार्थे कलत्राय दारान् पश्यन्ति शोभनान्' तत्र भवन्तमेवेत्यस्य तं भवम्=उत्पत्ति शोचामि, इति केषाञ्चिद्व्याख्या त्याज्या भवच्छब्दस्य सर्वनामत्वेन प्राकृतपरामर्शित्वात् । इन्द्रोपेन्द्रवज्रयोः सम्मेलनादुपजातिर्नाम वृत्तम् ।

सरलार्थः—हे दारिद्र्य मां प्रियं मत्वा त्वंमदीयशरीरे बहुकालं स्थितवान् मयि मृते मम सदृशो न कोऽपि मन्दभाग्यो वर्तते यत्र त्वदीया स्थितिर्भविष्यतीति त्वां प्रतिक्षणं शोचामीति भावः ।। ३८ ।।

लोगो से अनादर की दृष्टि से देखा जाता है । लज्जा के कारण मलिनवेश धनिकों से दूर ही हटा रहता है । अतः मेरी समझ में दरिद्रता पंच, महापातकों के अतिरिक्त कोई छठा महापातक है ।। ३७ ।।

और भी—

निर्धनते ! तुमने मुझे मित्र जानकर मेरे शरीर में वास किया है । किन्तु मुझे चिन्ता इसी बात की है कि मेरे मरने पर तुम कहाँ जाओगी ?

विदू—(सवैलक्ष्यम् ।) भो वअस्स ! जइ मए गन्तव्वं, ता एसा वि मे सहाइणी रदणिआ भोदु । (भो वयस्य ! यदि मया गन्तव्यम् तदेषापि मम सहायिनी रदनिका भवतु ।)

चारु—रदनिके ! मैत्रेयमनुगच्छ !

चेटी—जं अज्जो आणवेदि । (यदार्य आज्ञापयति ।)

विदू—भोदि ! रदणिए । गेण्ह बलिं पदीवं अ । अहं अवावुदं पक्खदुआरअं करेमि । तथा करोति । (भवति ! रदनिके ! गृहाण बलिं प्रदीपञ्च । अहमपावृतं पक्षद्वारकं करोमि ।)

वसन्त—मम अब्भुववत्तिणिमित्तं विअ अवावुदं पक्खदुआरअं, ता जाव पविसामि । (दृष्ट्वा) हद्धी । हद्धी । कधं पदीवो । (पटान्तेन निर्वाप्य प्रविष्टा । (मम अभ्युपपत्तिनिमित्तमिव अपावृतं पक्षद्वारकम्, तद्यावत् प्रविशामि । हा धिक् ! हा धिक् ! कथं प्रदीपः ! ।

चारु—मैत्रेय ! किमेतत् ? ।

विदू—अवावुदपक्खदुआरएण पिण्डीकिदेण वादेण णिव्वाविदो

विदूषक इति—अपावृत्तम् = उद्घाटितम् !

वसन्त इति—अभ्युपपत्तिः = अनुग्रहः 'अभ्युपपत्तिनुग्रहः' इत्यमरः । तस्याः निमित्तं=कारणम् ।

विदूषक इति । अपावृत्तपक्षरूपेण पक्षद्वाररूपेणहेतुना पिण्डीकृतेन एकत्रीभूतेन ।

विदूषक—(खिन्न होकर) मित्र ! यदि मुझे जाना ही पड़ेगा तो मेरे साथ यह रदनिका भी चले ।

चारुदत्त—रदनिके ! मैत्रेय के साथ जाओ ।

चेटी—जैसी आप की आज्ञा ।

विदूषक—ऐ ! रदनिके लो, बलिदीप पकड़ो । मैं दरवाजे के किवाड़ें खोलता हूँ । (वैसा ही करता हैं)

वसन्तसेना—मुझे ग्रहण करने ही के लिए दरवाजा खुला है । तब तक मैं प्रवेश करूं । (देखकर) अरे रम-राम दीप जल रहा है । (अञ्चल से दीप बुझाकर भीतर प्रविष्ट हो जाती है)

चारुदत्त—मैत्रेय ! क्या बात है ?

विदूषक—दरवाजा खुलते ही वायु के झोंके से दीपक बुझ गया । अरी

पदीवो। भोदि ! रदणिए ! मक्किम तुमं पक्खदुआरएण। अहंपि अब्भन्तरचदुस्सालादो पदीवं पज्जालिअ आअच्चामि। इति निष्कान्तः। (अपावृतपक्षद्वारेण पिण्डीकृतेन वातेन निर्वापितः प्रदीपः। भवति ! रदनिके ! निष्क्राम त्वं पक्षद्वारकेण। अहमपि अभ्यन्तरचतुःशालातः प्रदीपं प्रज्वाल्य आगच्छामि।)

शकारः—भावे ! भावे ! अणेशामि वशन्शेणिअं ? (भाव ? भाव ! अन्विष्यामि वसन्तसेनिकाम् ?)

विटः—अन्विष्यताम् अन्विष्यताम्।

शकारः—(विटं धृत्वा।) भावे ! भावे ! गहिदा गहिदा। (भाव। भाव। गृहीता।)

विटः—मूर्ख। नन्वहम्।

शकारः—इदो दाव पच्छन्नो भविअ एअन्ते भावे चिटठ्दु। (पुनरन्विष्य चेट गृहीत्वा।) भावे ! भावे ! गहिदा गहिदा। (इतस्तावत् प्रच्छन्नो भूत्वा एकान्ते भावस्तिष्ठतु। भाव ! भाव। गृहीता गृहीता।)

चेटः—भट्टके ! चेडे हगे। (भट्टारक ! चेटोऽहम्।)

शकार इति—विटं धृत्वा=गाढान्धकारे करस्पर्शनमात्रेणान्वेष्यन् विटमेव धृत्वेति भावः।

शकार इति—इतः=अस्याम् दिशि प्रच्छन्नो भूत्वा=भावः=भवान् एकान्ते=एकस्मिन् पार्श्वे तिष्ठतु=स्थताम्। निबिडान्धकारे कञ्चित् गृहीत्वा शकार एतदेव विटं प्रति ख्यापयति।

रदनिके। तू दरवाजे से बाहर निकल जा, मैं अंतः पुर से दीपक जलाकर आता हूँ। (चला गया)

शकार—भाव। भाव। मैं क्षुद्र वसंतसेना खोजूंगा ?

विट—खोजो, खोजो।

शकार—(खोज कर) भाव। भाव॥ पकड़ लिया, पकड़ लिया।

विट—अरे मूर्ख। यह तो मैं हूँ।

शकार—इस ओर आप छिपकर एकांत में खड़े रहिए। (पुनः खोज कर और चेट को पकड़ कर) भाव। भाव॥ पकड़ लिया, पकड़ लिया।

चेट—स्वामिन। यह तो मैं (चेट) हूँ।

शकारः—इदो भावे, इदो चेड़े, भावे चड़े, चेड़े भावे। तुम्हे दाव एअन्ते चिट्ठ। (पुनरन्विष्य रदनिकां केशेषु गृहीत्वा) भावे! भावे! शंपदं गहिदा गहिदा वसंतशेणिआ। (इतो भावः, इतश्चेटः, भावश्चेटः, चेटो भावः। युवां तावत् एकान्ते तिष्ठतम् भाव! भाव! साम्प्रतं गृहीता गृहीता वसन्तसेनिका।)

अन्धआले पलाअन्ती मल्लगन्धेण शूहदा।
केशविन्दे पलामिट्टा चाणक्केणेव्व दोवदी॥ ३९॥
(अन्धकारे पलायमाना माल्यगन्धेन सूचिता।
केशवृन्दे परामृष्टा चाणक्येनेव द्रौपदी॥ ३९॥

विटः—एषासि वयसो दर्पात् कुलपुत्रानुसारिणी।
केशेषु कुसुमाढ्येषु सेवितव्येषु कर्शिता॥ ४०॥

अन्धकारे—इति अन्धकारे=तमसि पलायमाना प्रधावन्ती अपि त्वं वसन्तसेना माल्यगन्धेन=स्वकण्ठनिहितस्रक्सौरभेणसूचिता=संकेतिता इयं वसन्तसेनेति शेषः। चाणक्येन = स्वनामप्रसिद्धविदुषा द्रौपदी = द्रुपदात्मजा केशवृन्दे = कचसमूहे परामृष्टा = धृतेत्यर्थः। शकारवाक्ये, उपमाव्याघातः स ढव्यः। अनुष्टुप् वृत्तम्।

सरलार्थः—अन्धकारे प्रधावन्ती गन्धमाल्येनानुमिता वसन्तसेना चाणक्यधृतद्रौपदीव मया केशग्राहं गृहीतेति भावः॥ ३९॥

केशेषु गृहीता वसन्तसेनेति शकारवचनं श्रुत्वाऽतिखिन्नो विटस्तामेवानुशोचन् वक्ति—एषा इति—एषा = अन्धकारविलीनाऽपि शकारेण प्राप्ता वसन्तसेना त्वमिति शेषः। वयसः = यौवनावस्थायाः दर्पात् = अहम्भावात् कुलस्य=सद्वंशस्य पुत्रम् = अपत्यम् चारुदत्तमिति यावत्। अनुसारिणी = अनुगमनशीला सेवितव्येषु=सेवायोग्येषु कुसुमैः=पुष्पैः आढ्येषु=युक्तेषु केशेषु=कचेषु अवच्छेदः सप्तम्यर्थः केशावच्छेदेनेत्यर्थः कर्षिता=निर्दयमाकृष्टा असि शकारेणेति शेषः। अस्मान् अनादृत्य यदि

शकार—इधर विट, उधर चेट, विट-चेट, चेट-विट। आप दोनों तब तक एकान्त में ठहरें। (पुनः खोज कर और रदनिका का केश पकड़ कर) भाव! भाव!! अब वसन्तसेना पकड़ ली गई, पकड़ ली गई।

अन्धकार में भागती हुई तुम माला की सुगन्धि से पहचान ली गई। मैंने तुम्हारा केशपाश पकड़ लिया है, जिस प्रकार चाणक्य ने द्रौपदी का केश पकड़ा था॥ ३९॥

विट—री वसन्तसेने! यौवन के अहङ्कार से तुम सच्चरित्र चारुदत्त के पास जा रही थी। अतः तुम्हारा सुगन्धित केशपाश पकड़ कर खींचा जा रहा है॥४०॥

शकारः—
एशाशि वाशू ! शिलशि ग्गहीदा केशेशु बालेशु शिलोलुहेशु ।
अक्कोश विक्कोश लवाहिचण्डं शम्भुं शिवं शंकलमीश्शलं वा ॥४१॥
(एषासि वासु ! शिरसि गृहीता केशेषु बालेषु शिरोरुहेषु ।
आक्रोश विक्रोश लपाधिचण्डं शम्भुं शिव शंकरमीश्वरं वा ॥ ४१ ॥

रद—सभयम् । किं अज्जमिस्सेहिं ववसिदं । (किमार्य्यं मिश्रैर्व्यवसितम् ?)

विटः—काणेलीमातः ! अन्य एवैष स्वरसंमोगः ।

शकारः–भावे ! भावे ! जधा दहिच्छल्लि-पलिलुद्धाए मज्जलीआ शल-

चारुदत्तं न कामयिष्यसि तदा नेय तव दुर्दशा भविष्यतीति भावः । अनुष्टुप् वृत्तम् ।

सरलार्थः—अयि वसन्तसेने यौवनमदात् चारुदत्तानुरागिणी त्वन्न भवेस्तदा शा।रक्तावहेलना ते न स्यादिति तात्पर्यम् ॥ ४० ॥

एषाऽसीति—हे वासु = हे बाले 'बाला स्याद्वासुः' इत्यमरः शिरसि केशेषु= कचेषु=बालेषु=शिरोरुहेषु इत्यधिकं केशापरपर्यायत्वात् तथाहि—'चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुहः' इत्यमरः । एवमेवाग्रेऽपि शिवादिपदानामधिकपदत्वं बोध्यम् एषा त्वं गृहीता परामृष्टा असि अधुना आक्रोशं = शापं गालिं वा देहि 'आक्रोशमभिसङ्ग' इत्यमरः । विक्रोशः=पुरुषान्तरमाह्वय चण्डं=भीषणं क्रियाविशेषणमेतत् शम्भुं = शिवमीश्वरं विष्णुं वा अधि, उद्दिश्य लप = विलापं कुरु तेन न किमपि भयमस्माकमिति भावः । पूर्वक्षणलक्षितेन्द्रवज्रावृत्तम् ।

सरलार्थः हे बाले साम्प्रतं त्वं मया गृहीता यदि कश्चित् पुरुषो रक्षको पुरुषं वा स्वकीयामिष्टदेवं वा स्मर = आह्वय मद्धस्तात् तव मुक्तिर्नैव सम्भाव्यत इति भावः ॥ ४१ ॥

रद इति—आर्यमिश्रैः = पूज्यवर्गैः, व्यवसितं = प्रारब्धम् ।

विट इति—एषः = श्रूयमाणः स्वरसंयोगः अन्य एव अन्यदीय एव न तु वसन्तसेनाया अयं स्वर इति भावः ।

शकार इति—दध्नः शरो दधिशरो दध्युपरिभागेशरो दध्न उपरि भाग इति पृथिवी

शकार—रो बाले ! तुम्हारे शिर पर के बाल पकड़ा गए अब गाली दा या अपशब्द कहो अथवा शंकरजी का ही स्मरण करो ॥ ४१ ॥

रदनिका—(भय के साथ) क्या यह सभ्यजनों का व्यवहार है ?

बिट—काणेली के पुत्र ! यह तो किसी दूसरे का स्वर मालूम पड़ता है ।

शकार—भाव ! भाव ! जिस प्रकार दही की मक्खन की अभिलाषिणी

पलिवत्ते होदि, तथा दाशीए धीए शलपलिवत्तो कडे। (भाव ! भाव ! यथा दधिसरपरिलुब्धाया मार्जार्याः स्वरपरिवर्त्तो भवति, तथा दास्याः पुत्र्या स्वरपरिवर्त्तः कृतः ।)

विट—कथं स्वरपरिवर्त्तः कृतः । अहो चित्रम् । अथवा किमत्र चित्रम् ?

इयं रङ्गप्रवेशेन कलानां चोपशिक्षया ।
वञ्चनापण्डितत्वेन स्वरनैपुण्यमाश्रिता ॥ ४२ ॥

विदूषकः—[प्रविश्य] ही ही भो ! पदोसमन्दमारुदेण पसुबन्धोवणीदस्स विअ छाअलस्स हिअअं, फुरफुराअदि पदीवो । उपसृत्य रदनिकां दृष्ट्वा भो ! रदणिअ । (आश्चर्य्यम् ! भोः ! प्रदोषमन्दमारुतेन पशुबन्धोपनीतस्येव छागलस्य हृदयं फुरफुरायते प्रदीपः । भो रदनिके ! ।)

धरः । दन्त्यपाठे तु दध्नः सरे नवनीताख्ये सारपदार्थे । परिलुब्धायाः=सञ्जातलालसाया मार्जार्याः=मार्जारिकायाः मार्जारशब्दात् 'पुंयोगादाख्यायाम्, इति ङीष् विडाल्याः स्वरपरिवर्तः=भिन्नकण्ठध्वनिः ।

प्रथमं वसन्तसेनायाः स्वरपरिवृत्तरसम्भवत्वमाशंक्य पुनस्तदेव प्रकटयन् वक्ति इयमिति । इयं पूर्वोक्ता वसन्तसेना रङ्गप्रवेशेन नाट्यागारप्रवेशेन बहुविधवाचिकाभिनयसम्पादनेनेति भावः । कलानां=विविधगानभङ्गीनामुपशिक्षयाऽभ्यासेन वञ्चना =धूर्तता तत्र पण्डितत्वं तेन छलविद्यानिपुणेन स्वरनैपुण्यं=ध्वनिपरिवर्तनचातुर्यम् आश्रिता प्राप्ता स्वरेण अतथात्वेऽपि वसन्तसेनैवेयमिति भावः । निपुणशब्दात् 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति चकरात् भावे ष्यञि निपुणस्य भावो नैपुण्यमिति बोध्यम् ॥ ४२ ॥

प्रविश्येति । पशुर्बध्यतेऽस्मिन्निति पशुबन्धः = यूपकाष्ठं यज्ञादौ पशुबन्धनार्थं दारुनिर्मितो यूपो भवति तत्र उपनीतस्य बलिदानाय बद्धस्य छागलस्य = अजस्य

बिल्ली अपना स्वर बदल लेती है उसी प्रकार इस दुष्ट (वसन्तसेना) ने भी अपना स्वर बदल लिया ।

विट—स्वर-परिवर्त्तन कैसे कर लिया ? बड़ा आश्चर्य है, अथवा इसमें आश्चर्य ही क्या है ?—

नाट्यशाला में जाकर नृत्य गीतादिक कलाओं के अभ्यास से यह वसन्तसेना ठगने में निपुण हो गई है । अतः स्वर परिवर्तित करना भी सीख गई है ॥४२॥

विदूषक—(आकर) अरे आश्चर्य है ! यूपकाष्ठ में बाँधने के लिए लाए हुए

शकारः—भावे ! भावे ! मणुश्शे मणुश्ये । (भाव ! भाव ! मनुष्यो मनुष्यः ।)

विदू—जुत्तं णेदं, सरिसं णेदं, जं अज्जचारुदत्तस्स दलिद्ददाए सम्पदं परपुरिसा गेहं पविसन्ति । (युक्तं नेदम्, सदृशं नेदम्, यदार्य्यचारुदत्तस्य दरिद्रतया साम्प्रतं परपुरुषा गेहं प्रविशन्ति ।)

रद—अज्ज मित्तेअ ! पेक्ख मे परिभवं । (आर्य्य ! मैत्रेय ! प्रेक्षस्व मे परिभवम् ? ।

विदू—किं तव परिहवो ? आदु अम्हाणं ? । किं तव परिभवः ? अथवा अस्माकम् ?)

रद—णं तुम्हाणं ज्जेव । (ननु युष्माकमेव ।)

विदू—किं एसो बलक्कारो ? । (किमेष बलात्कारः ? ।)

रद—अधइं । (अथ किम् ।)

विदू—सच्चं ? (सत्यम् ? ।)

रद—सच्चं ? (सत्यम् ।)

फुरफुरायते फुर फुर इति अव्यक्तानुकरणं शब्दः स इवाचरतीति विग्रहे 'उपमानादाचारे' इति क्यङ् तद्वत्कम्पत इति भावः ।

विदूषक । इतिं । परिभवः=तिरस्कारः, दास्या अपमाने यत्स्वामिन एवापमानो भवतीति विचार्यैव पृच्छति किं तव परिभवोऽस्माकं वा ।

बकरे के समान यह दीपक फुर–फुर कर रहा है । (नजदीक आकर और रदनिका को देख कर) अरी रदनिके ?

शकार—भाव ! भाव !! मनुष्य मालूम पड़ता है, मनुष्य ।

विदूषक—यह उचित नहीं है यह शोभा नहीं देता कि आर्य चारुदत्त की दरद्रिता के कारण अब उनके घर में अन्य-जन प्रवेश करें ।

रदनिका—आर्य मैत्रेय ! मेरा अपमान तो देखो ।

विदूषक—क्या तुम्हारा अपमान ? अथवा हम लोगों का (अपमान) ।

रदनिका—हाँ आपही लोगों का ।

विदूषका—क्या यह अत्याचार ?

रदनिक—हाँ ।

विदूषक—सच ?

रदनिका—सच ।

विदू—सक्रोधं दण्डकाष्ठमुद्यम्य । मा दाव । भो ! सके गेहे कुक्कुरोऽवि दाव चण्डो भोदि, किं उण अहं वम्हणो ! त एदिणा अम्हारिण-जण-भाअधेअ-कुड़िलेण दण्डकट्ठेण दुट्ठस्स विअ सुक्खाण- वेणुअस्स मत्थअं दे पहारेहिं कुट्टइस्सं (मा तावत् । भोः ! स्वके गेहे कुक्कुरोऽपि तावत् चण्डो भवति, किं पुनरहं ब्राह्मणः । तदेतेन अस्मादृश-जन-भागधेय-कुटिलेन दण्डकाष्ठेन दुष्टस्येव शुष्कवेणुकस्य मस्तकं ते प्रहारैः कुट्टयिष्यामि ।)

विटः—महाब्राह्मण ! मर्षय मर्षय ।

विदू—विटं दृष्ट्वा । ण एत्थ एसो अवरज्झदि । शकारं दृष्ट्वा । एसो क्खु एत्थ अवरज्झदि । अरे रे राअसालअ । संट्ठाणअ । दुज्जण । दुम्मणुस्स । जुत्तं णेदं ? जइवि णाम तत्तभवं अज्जचारुदत्तो दलिद्दो संवुत्तो, ता किं तस्स गुणेहिं ण अलङ्किदा उज्जइणी ? जेण तस्स गेहं पविसिअ

विदूषक इति—मा तावत् = इत्थं त्वं मा विधेहीति भावः । स्वके=आत्मीये चण्डः=बलवान् अस्मादृशजनानां=मम सदृशपुरुषाणां भागधेयवत्=दैववत् दण्डकाष्ठेन = काष्ठमयेन दण्डेनेति यावत् दुष्टस्य मस्तकं = शिरः कुट्टयिष्यामि = चूर्णयिष्यामि ।

विट इति—महाब्राह्मणाधम 'असिजीवी मसीजीवी देवलो ग्रामयाचकः । धावकः पाचकश्चैतान् षड् विप्रान्नाभिवादत्' इति स्मृत्युक्तदिशा गर्हितकर्मानुविधायित्वान्महाब्राह्मणत्वेन सम्बोधनं परोपजीवित्वादिति हरिदासभट्टाचार्याः । वस्तुतस्तु शकारविषये काणेलीमातः इति सम्बोधनङ्कृतं तेन तस्य निन्दितत्वे नास्त्यशङ्का अत एव 'शंखे तैले तथा मांसे वैद्ये ज्योतिषिके द्विजे । यात्रायां पथि निद्रायां महच्छब्दो न दीयते' इत्युक्तेर्महच्छब्ददानात् महाब्राह्मणपदस्य नीचार्थप्रत्यायकत्वमिति बोध्यम् ।

विदूषक—(क्रोध के साथ काठ का दण्ड उठाकर) ऐसा मत कहो ! अपने घर में कुत्ता भी जबर्दस्त बन जाता है और मैं तो भला ब्राह्मण हूँ । तब हम लोगों के भाग्य (प्रतिकूल) के समान कुटिल इस मोटे दण्ड से सूखे बांस के समान तुम लोगों के मस्तकों को कूटता हूँ ।

विट—महाब्राह्मण ! क्षमा कीजिए, क्षमा कीजिए !

विदूषक—(विटों को देखकर) इसका अपराध नहीं है । (शकार को देखकर) यही अपराधी है । अरे राजा के शाला संस्थानक ! (शकार का नाम) दुष्ट ! अविनयी ? यह उचित नहीं है । यद्यपि इस समय आर्य चारुदत्त निर्धन

परिअणस्स ईरिसो उवमद्दो करीअदि। (नाम्र एषोऽपराध्यति। एष खल्वत्र अपराध्यति ! अरे रे राजश्यालक ! संस्थानक ! दुर्जन ! दुर्म्मनुष्य ! युक्तं नेदम्। यद्यपि नाम तत्रभवान् आर्य्यचारुदत्तो दरिद्रः संवृत्तः, तत् किं तस्य गुणैर्नालङ्कृता उज्जयिनी ? येन तस्य गृहं प्रविश्य परिजनस्य ईदृश उपमर्द्दः क्रियते।)

मा दुग्गदोत्ति परिहवो णत्थि कअन्तस्स दुग्गदो णाम।
चारित्तेण विहीणो अड्ढो विअ दुग्गदो होइ ॥ ४३ ॥
(मा दुर्गत इति परिभवो नास्ति कृतान्तस्य दुर्गतो नाम।
चारित्र्येण विहीन आढ्योऽपि च दुर्गतो भवति ॥ ४३ ॥)

विदूषकः—अरे रे नाच इति सम्बोधनं सङ्कीर्णं = दूषितं स्थानम् अस्य तत्सम्बुद्धौ संस्थानक = भगिनीजारोपतनजीविकावलम्बित्वात् कुत्सितजीवन, 'शेषाद्विभाषा' इति कप्रत्ययः संस्थानमस्यास्तीति संस्थानः, अर्श आदिभ्योऽच्' इत्यच् ततः कुत्सायां कप्रत्ययः इति केचित्। उपमर्दः = अवमानना शकारकृतमत्याचारं चारुदत्तस्य दारिद्र्यहेतुकं मत्वाऽतिखिन्नो विदूषकः सदुःखमाह—

मेति—दुर्गतः=दरिद्रः इति = अस्माद्धेतोः परिभवः=पराभवः मा = न विधातव्य इति शेषः। यतः कृतान्तस्य यमस्य प्रारब्धस्य वा 'कृतान्तयमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मसु' इति मेदिनी। समक्षे इति शेषः। दुर्गतः = निर्धनः नास्ति नाम सम्भावनायां निर्धन इति कृत्वा यमराजदण्डसम्भावना नास्तीत्यर्थः अपि च प्रत्युत आढ्यः = धनिकोऽपि दुर्गतः=दुःखितो भवति स क इति जिज्ञासायामाह- यः चारित्र्येण सद्वृत्तेन विहीनः = नष्टो भवति स इति शेषः। अयम्भावः दुश्चरित्रस्यैव दुर्गतसंज्ञा न तु सच्चरित्रस्येति। प्रथमपादस्य त्रयोदशमात्रात्मकत्वाद् गणभङ्गान्नात्र गाथालक्षणप्रवेशः स्यात्तस्मात् परिहव इत्यस्य स्थाने परिहू इति युक्तः पाठः परिभूस्तस्य संस्कृते भावे क्विप् तिरस्कारार्थक इति युक्तं प्रतिभाति। अत्र काव्यलिङ्गाप्रस्तुतप्रशंसयोर्निरपेक्षेणावस्थानात्संसृष्टिः। गाथा छन्दः।

सरलार्थः—विदूषकः शकारम्प्रति वक्ति यत् हे शकार चारुदत्तं साम्प्रतं निर्धनं इति मत्वा तिरस्कारं न कुरु अयं सुचरितो ब्राह्मणोऽस्यापमाने यमद्वारे तव यातना भविष्यतीति भावः ॥ ४३ ॥

हो गए हैं फिर भी क्या उज्जयिनी नगरी उनके गुणों से विभूषित नहीं है ? जो आप लोग उनके घर में घुसकर उनके परिजनों को मार रहे हैं।

निर्धन समझकर अनादर नहीं करना चाहिए। क्योंकि यमराज के यहाँ निर्धन ही नहीं धनिक भी यदि दुश्चरित्र होता है तो दुर्गति का पात्र बनता है ॥

विटः—सवैलक्ष्यम् । महाब्राह्मण ! मर्षय मर्षय । अन्यजनशङ्कया खल्विदमनुष्ठितम्, न दर्पात् । पश्य—

सकामाऽन्विष्यतेऽस्माभिः.................

विदू—किं इअं ? । (किमियम् ।)

विटः—शान्तं पापम् ।

..............................काचित् स्वाधीनयौवना ।
सा नष्टा शङ्कया तस्याः प्राप्तेयं शीलवञ्चना ॥ ४४ ॥

सर्वथा इदमनुनयसर्वस्वं गृह्यताम् । इति खड्गमुत्सृज्य कृताञ्जलिः पादयोः पतति ।

विट इति—सवैलक्ष्यं=अपोत्पन्नमन्दत्वं वैलक्ष्यं तेन सहितं सवैलक्ष्यम् । वसन्तसेनाशङ्कया रदनिकाया ग्रहणात् विदूषकतिरस्कृतो विट् स्वदोषं परिहरति=सकामेति । सकामा=सुरतोत्सुका स्वाधीनयौवना स्वेच्छानुचरितयौवनव्यवहारा न तु पत्यधीनेतिभावः । काचिद् रमणी सकामा स्वाधीनयौवनेति विशेषणद्वयेन सा वेश्येति निश्चीयतेऽतः तस्याः साधारण्यात् धारणन्न दोषकरमिति बोध्यम् । अस्माभिः=शकारादिभिः अन्विष्यते=निभाल्यते रन्तुमिति शेषः । सा=पूर्वोक्ता रमणी नष्टा अदर्शनं गता पलायितेति भावः । तस्या एव शङ्कया=भ्रान्त्या इयं रदनिकाग्रहणजनिता शीलवञ्चना सदाचारनष्टसम्भावना प्राप्ताऽस्माभिरिति शेषः । अतो वयं निर्दोषा एवेति भावः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।

सरलार्थः—विटः कथयति यत् भो विदूषक काचित् गणिका अत्र दृष्टा गाढान्धकारत्वात् भ्रान्त्येयं चारुदत्तदासी रदनिका गृहीता न तु ज्ञात्वेति भावः ॥ ४४ ॥

अनुनयस्य=आदरातिशयस्य सर्वस्वं=परमप्रधानमित्युक्त्वा पादयोः पतति ।

विट—(दुःखी होकर) महाब्राह्मण ! क्षमा कीजिए । किसी दूसरे व्यक्ति की आशंका से ऐसा अनुचित कार्य हो गया, अहंकार से नहीं । देखिए—

हमलोग एक कामिनी को खोज रहे थे—

विदूषक—क्या यही है ?

विट—नहीं ऐसा न कहिए ।

जो स्वतन्त्र एवं पूर्ण यौवना (वेश्या) है । किन्तु वह रमणी तो भाग गई । और उसी के भ्रम में यह सदाचार का उल्लंघन हो गया ॥ ४४ ॥

अब विनय सर्वस्व को ग्रहण कीजिए (ऐसा कह कर तलवार को हटा हाथ जोड़ कर चरणों पर गिर जाता है ।)

विदू—सप्पुरिस। उट्ठेहि उट्ठेहि। अआणन्तेण मए तुमं उवालद्धे, सम्पदं उण जाणन्तो अणुणेमि। (सत्पुरुष ! उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ। अजानता मया त्वमुपालब्धः, साम्प्रतं पुनर्जानन् अनुनयामि।)

विटः—ननु भवानेवात्रानुनेयः। तदुत्तिष्ठामि समयतः।

विदू—भणादु भवं। (भणतु भवान्।)

विटः—यदीमं वृत्तान्तमार्य्यचारुदत्तस्य नाख्यास्यसि।

विदू—ण कधइस्सं। (न कथयिष्यामि।)

विटः—एष ते प्रणयो विप्र ! शिरसा धार्य्यते मया।
गुणशस्त्रैर्वयं येन शस्त्रवन्तोऽपि निर्जिताः ॥ ४५ ॥

शकारः—अशूयम। किं णिमित्तं उण भावे एदश्श दुठ्ठवडुअश्श

विट इति—समयतः = कालवशात् सत्पथादिति भावः 'समयः सत्याचारः कालसिद्धान्तसम्पदः' इति विश्वः केचित्तु समयतः = शपथत इति व्याख्यां कुर्वन्ति तत्र मानं मृग्यमिति।

विटेनानुरुद्धो विदूषकः शकारकृतापराधं चारुदत्ताय न कथयिष्यति, इत्याकर्ण्य तमेवाभिनन्दयति एव इति। हे विप्र मया ते तव एष प्रणयः = प्रीतिः शिरसा = मस्तकेन धार्यते = गृह्यते येन हेतुना शस्त्रवन्त आयुधधारिणोऽपि गुणशस्त्रैः औदार्यादिगुणायुधैश्चारुदत्तस्येति शेषः। निर्जिताः पराजिताः गुणे शस्त्रत्वारोपाद्रूपकालङ्कारः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम्।

विदूषक—हे सदाचारी पुरुष उठिये-उठिये। बिना जाने मैंने आप की निन्दा की। अब तो जान लेने पर मैं आप से विनय करता हूँ।

विट—इस विषय में तो आप ही विनय के पात्र हैं। अच्छा तो मैं उठता हूँ किन्तु एक शर्त्त पर।

विदूषक—कहिए।

विट—यही कि इस घटना को आर्य चारुदत्त से न कहना।

विदूषक—नहीं कहूँगा।

विट—हे ब्राह्मण ! तुम्हारी इस सज्जनता को मैं शिरोधार्य समझता हूँ। इसी कारण हमलोग शस्त्रधारी होते हुए भी आपके गुणरूपी शस्त्र से हार गए।

शकार—(द्वेष के सहित) हे विद्वन् ! इस दुर्जन बालक से विनयी होकर क्यों आप उसके चरणों पर गिर पड़े ?

णिण मञ्जलि कदुअ पाएशु णिपड़िदे ?। (किं निमित्तं पुनर्भाव ! एतस्य दुष्टवटुकस्य विनयाञ्जलिं कृत्वा पादयोर्निपतितः ?।)

विटः—भीतोऽस्मि।

शकारः—कश्श तुनं भीदे ?। (कस्मात् त्वं भीतः ?।)

विटः—तस्य चारुदत्तस्य गुणेभ्यः।

शकारः—के तश्श गुणा ? जश्श गेहं पविशिअ अशिदव्वं वि णत्थि। (के तस्य गुणाः ! यस्य गेहं प्रविश्य अशितव्यमपि नास्ति।)

विटः—मा मैवम्।

सोऽस्मद्विधानां प्रणयैः कृशीकृतो न तेन कश्चिद्विभवैर्विमानितः।
निदाघकालेष्विव सोदको ह्रदो नृणां स तृष्णामपनीय शुष्कवान्॥४६॥

सरलार्थः—हे विप्र तव प्रीतिं शिरसा विभर्मि शस्त्रवन्तोऽपि वयं चारुदत्तस्यैव गुणैः जिताः॥४६॥

शकार इति—अशितव्यं=भक्षयितव्यम्। शकारमुखात् चारुदत्तस्य धनहीनताविषयकोपहासवचनं निशम्यातिखिन्नस्तस्य दारिद्र्यमपि श्लाघते।

स इति—स चारुदत्तः अस्मद्विधानां मादृशानां याचकानां प्रणयैः प्रार्थनाभिः कृशीकृतः दरिद्रीकृतः तेन चारुदत्तेन कश्चित् साधारणोऽपि विभवैः=धनैः न विमानितः=नापमानितः धनदानेन सर्व एव सन्तोषिता इति भावः। स चारुदत्तो निदाघकालेषु=ग्रीष्मसमयेषु सोदकः=जलपूर्णः ह्रदः, इव जलाशयसदृशः नृणां लोकानां पक्षे पिपासूनां जनानां तृष्णां=धनाभिलाषामपनीय=दूरीकृत्य शुष्कवान्=धनाभावमाप्तवान् अत्र पूर्णोपमालङ्कारः। उपजातिः वृत्तम्।

सरलार्थः—विटः कथयति यद् ऐ शकार यस्य-धनिकस्य धनं याचकार्थे व्ययी-

---

विट—डर गया हूँ।

शकार—आप किससे डर गये हैं !

विट—उस आर्य चारुदत्त के गुणों से।

शकार—कौन से उनके गुण हैं ? इनके घर में घुसने पर तो कुछ खाने को भी नहीं मिलता।

विट—ऐसा न कहो।

यह चारुदत्त हमलोग जैसे धन-याचकोंके चलते निर्धन हो गया है। उसने किसी को भी धन से अपमानित नहीं किया, अर्थात् सभी याचकों को मुंह मांगा

शकारः—[सामर्षम् ।] के शे गब्भदासीए पुत्ते ? । (कः स गर्भदास्याः पुत्र ? ।)

शूले विक्किन्ते पण्डवे ? शेदकेदू पुत्ते लाधाए ? लावणे इन्द्रपुत्ते ? ।
अहो कुन्तीए तेण लामेण जादे अश्शत्थामे ? धम्मपुत्ते जडाउ ॥ ४७ ॥
(शूरो विक्रान्तः पाण्डवः ? श्वेतकेतुः पुत्रो राधायाः ? रावण इन्द्रपुत्रः ? ।
आहो कुन्त्या तेन रामेण जातः अश्वत्थामा ? धर्मपुत्रो जटायुः ! ॥ ४७ ॥

भवति तस्य निर्धनताऽपि निदाघकाले जलाशय इव प्रतिष्ठैव भवति न तु तिरस्कारः तस्मात् चारुदत्तः प्रशस्यतरः न तु निन्द्य इति भावः ॥ ४६ ॥

शकार इति—सामर्षं=सक्रोधं गर्भदास्याः=प्रादुर्भावावधिदास्या एतेन जन्मत एव निर्धनत्वं सूचितम् । यद्गुणवशीभूतस्त्वम् ।

एवं नम्रः किमसौ प्रथितवीराणामन्यतम इत्याह—शूर इति । विक्रान्तः=पराक्रमशीलः शूरः=वीर इव कश्चित् वस्तुतस्तु शरनामा कश्चित् प्रतापसम्पन्नो राजा किमिति शेषः । पाण्डवः=पाण्डुपुत्रो भीमोऽर्जुनो वा श्वेतकेतुः=श्वेतः शुक्लवर्णः केतुः चिह्नं वाहनरूपं यस्य स श्वेतकेतुः एतस्य पाण्डवविशेषणता अर्जुनाश्वस्य श्वेतत्वप्रसिद्धेः यद्वा श्वेतकेतुः=औद्दालकिः दुर्वाससो मातुलोऽस्मिन् पक्षे वीराणामेव नामकीर्तनस्य प्रक्रान्तत्वात् ऋषिनामोच्चारणं प्रकरणविरुद्धमिति न भ्रमितव्यम् । शकारवचनत्वेन एवं विधदोषस्याकिञ्चित्करत्वात् । अथवा श्वेतकेतुः=राधापुत्रः कर्ण इति भावः । अत्रपुराणादौ कर्णस्य श्वेतकेतुरिति संज्ञा न कुत्रचित्प्रसिद्धा तथापि शकारवचनत्वात्पुराणविरोधः सोढव्यः । रावणः=लङ्काधिपतिः, इन्द्रपुत्रः=जयन्तः बालिनामकवानरराजो वा आहो=अथवा कुन्त्याम्=अर्जुनमातरि रामेण=दशरथात्मजेन जातः उत्पन्नः अश्वत्थामा=तन्नामकवीरः महाभारते द्रोणाचार्यपुत्रः अश्वत्थामेति प्रसिद्धः । तद्विरोधोऽपि शकारवचनत्वात् नाशङ्कनीयः धर्मपुत्रः=युधिष्ठिरः, जटायुः तन्नामा महाबलशीलः पक्षिविशेषः । केचित्तु धर्मपुत्र इति जटायुविशेषणं तन्मते युधिष्ठिरस्य धर्मपुत्रत्वेन प्रसिद्धेः अपार्थकता किन्तु शकारवचनत्वात् न दोषावह इति ध्येयम् । वैश्वदेवी वृत्तम् । 'बाणाश्वैश्छिन्ना वैश्वदेवी ममौ यौ' इति लक्षणात् ।

सरलार्थः—किं वा वीरोऽर्जुनः कर्णो रावणो वा जयन्तो वाऽश्वत्थामा यस्मिन् तवेदृशी नम्रतेति भावः ॥ ४७ ॥

धन देकर सन्तुष्ट किया । वह ग्रीष्म काल के जलपूर्ण तालाब के समान मनुष्यों की प्यास बुझाकर स्वयं सूख गया है ॥ ४६ ॥

शकार—(क्रोध के साथ) वह अधमपुत्र कौन है ? क्या शूर-पराक्रमी

विटः—मूर्ख ! आर्यचारुदत्तः खल्वसौ ।
दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः ।
सत्कर्त्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो
ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया या चोच्छ्वसन्तीव चान्ये ॥४८॥

शकार कृतं वचनं तिरस्कृत्य साम्प्रतं चारुदत्तस्य प्रस्तुतपरिचयदानाय तदीयगुणसमूहं वर्णयति—दीनानामिति । चारुदत्तो दीनानां=दुर्गतानां मनुष्याणां कल्पवृक्षः=कल्पद्रुमः तत्सदृशो वाञ्छितद इत्यर्थः । स्वगुणानां निजविनयादीनां फलैः परिपाकैः नतः=नम्रीभूतः सज्जनानां=सत्पुरुषाणां कुटुम्बी=बन्धुः तद्वत्परिपालनकर्तेति भावः । शिक्षितानां=पण्डितानाम् आदर्शः=दृष्टान्तभूतः सुचरितानां=चारित्र्यवतां निकषः=परीक्षास्थानं (कसौटीति भाषा) शीलं=स्वभावः 'शीले स्वभावे सद्वृत्ते:' । इति विश्वः । तदेव वेला=तटभूमिः 'वेलाकाले च जलधेस्तीरनीरविकारयोः' इति विश्वः । तत्र समुद्रः=सागर इव धीरो यथा समुद्रः स्वमर्यादान्नातिक्रामति तद्वदयमपि सद्वृत्तन्न त्यजतीति भावः । सत्कर्त्ता=सत्कारकारकः नावमन्ता=नापमानकारी पुरुषाणां=जनानां ये गुणाः दाक्षिण्यादयस्तेषां निधिः=आलयः तथा दक्षिणं=सरलम् 'दक्षिणः सरले दारौ' इत्यमरः उदारं=महत् 'उदारो दातृमहतोरित्यमरः' सत्त्वं स्वभावो यस्य तादृशः । 'सत्त्वं द्रव्ये गुणे चित्ते व्यवसायस्वभावयोः । पिशाचादावात्मभावे बले प्राणेषु जन्तुषु' इति हेमचन्द्रः । श्लाघ्यः=प्रशंसनीयः स चारुदत्त एकः=केवलो हि=निश्चितम् अधिकगुणतया विविधगुणाश्रयत्वेन जीवति स जन्मसार्थक्यं सम्पादयति अन्ये=अपरे गुणविहीना इति यावत् उच्छ्वसन्ति उच्छ्वासं कुर्वन्ति न तु तज्जीवनसाफल्यमिति भावः एकस्यैव चारुदत्तस्य विविधरूपेणोल्लेखनात् उल्लेखालङ्कारः । 'एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते ।' इति दर्पणे, चतुर्थचरणे क्रियोत्प्रेक्षा चारुदत्तस्य प्रस्तुताङ्गतया रूपके-

---

वह-पाण्डव भामार्जुन है ? या राधा का पुत्र श्वेतकेतु है ? या इन्द्र का सुत रावण है ? या राम तथा कुन्ती के संयोग से उत्पन्न अश्वत्थामा है ? अथवा धर्म का पुत्र जटायु है ! ॥४७॥

विट—अरे मूर्ख ! यह आर्य चारुदत्त हैं ।

जो दरिद्र मनुष्यों की वांछित पूर्ति के लिए कल्पपरु हैं । अपने ही दयादि गुणों से विनम्र, साधुओं के परिपोषक, विनीतों के आदर्श, चरित्रों की कसौटी, सदाचार रूपी मर्यादा के सागर, लोकोपकारी, किसी का भी अपमान न करने-

तदितो गच्छामः ।

शकारः—अगेण्हिअ वशन्तशेणिअं ? ! (अगृहीत्वा वसन्तसेनिकाम् ? ।)

विटः—नष्टा वसन्तसेना ।

शकारः—कधं विअ ? (कथमिव ? ।)

विटः—अन्धस्य दृष्टिरिव पुष्टिरिवातुरस्य
मूर्खस्य बुद्धिरिव सिद्धिरिवालसस्य ।
स्वल्पस्मृतेर्व्यसनिनः परमेव विद्या
त्वां प्राप्य सा रतिरिवारिजने प्रनष्टा ॥४९॥

णानुप्राणितोदात्तालङ्कारः स्वगुणफलनतः, इत्यत्र स्वपदमर्थकं 'गुणानां कीर्तनं यत्तु तदेव गुणकीर्तनम्' इति दर्पणोक्तेः गुणकीर्तन नाम नाट्यालङ्कारः । स्रग्धरा-वृत्तम् ।

सरलार्थः-अयं चारुदत्तो दरिद्राणां कल्पवृक्षो गुणेन नतः सज्जनानां सहायको विदुषां दृष्टान्तश्चारित्र्यशीलो लज्जावान् सत्कारकारी पुरुषगुणयुक्तः प्रशंसनीय; स्वीय-जन्मसाफल्यं तनुते एतद्व्यतिरिक्तानां समेषां निरर्थकं जीवनमिति भावः ॥ ४८ ॥

विट इति—नष्टा=पलायिता, अत्र नष्टेत्यमङ्गलव्यञ्जकत्वादमङ्गलाख्यो-ऽश्लीलदोषो बोध्यः ।

सहसा वसन्तसेनाया आदर्शनकारणं पृष्टो विटः शकारस्य अनुचितव्यवहारमेव तत्कारणत्वेन निर्धारयति—अन्धस्येति । सा वसन्तसेना अन्धस्य=दर्शनशक्तिहीनस्य दृष्टिः=दर्शनशक्तिरिव आतुरस्य=व्याधिग्रस्तस्य पुष्टिः शरीरबलमिव मूर्खस्य= अविवेकिनो विचारशक्तिरिव मन्दस्य=अलसस्य 'मन्दः तुन्दपरिमृजोऽलसः' इत्यमरः सिद्धिः=कार्यसाफल्यमिव स्वल्पा=क्षीणा स्मृतिः=स्मरणशक्तिः यस्य तस्य दुर्मेधस इति भावः । व्यसनिनः व्यसनं कामजातविकारः 'व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपजे' इत्यमरः तदस्यास्तीति व्यसनी तस्य 'मृगयाक्षो दिवा स्वप्नः

वाले, मानवों के गुणों के स्थान, तथा सरल एवं उदार चित्तवाले—अनेक गुणों से युक्त अकेले चारुदत्त का ही जीवन प्रशंसनीय है। और लोगों का जीवन तो व्यर्थ ही है ॥४८॥

इसलिए अब यहाँ से जाता हूँ ।

शकार—बिना वसन्तसेना को प्राप्त किए ही ?

विट—वसन्तसेना तो कही लुप्त हो गई ।

शकार—किस प्रकार ?

विट—अंधों की दृष्टि के समान, रोगियों के सामर्थ्य के तुल्य, मूर्खों की

शकारः—अगेण्हिअ वशन्तशेणिअं ण गमिश्शं। (अगृहीत्वा वसन्तसेनकां न गमिष्यामि।)

विटः—एतदपि न श्रुतं त्वया ?।

आलाने गृह्यते हस्ती बाली वल्गासु गृह्यते।
हृदये गृह्यते नारी यदिदं नास्ति गम्यताम् ॥५०॥

परीवादः स्त्रियो मदः। तौर्यत्रिकं वृथाटया च कामजो दशको गणः। पैशुन्यं साहसं द्रोहः ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्। वाग्दण्डजञ्च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः' इति मनुप्रतिपादितदोषविशिष्टो व्यसनी कथ्यत इति भावः। परमा=उत्कृष्टा विद्या इव=ज्ञानमिव तथाऽरिजने=शत्रुजने रतिः=अनुराग इव त्वां दुष्टं प्राप्य लब्ध्वा प्रनष्टा अदर्शनं जातेति भावः। अत्रोपमेयभूतायाः वसन्तसेनाया अनेकविधोपमानदर्शनाद् मालोपमालङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे—'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते' इति। वसन्ततिलका। वृत्तम्।

सरलार्थः—ऐ शकार अन्धदृष्टिरिव आतुरपुष्टिरिव मूर्ख—बुद्धिरिव अलससिद्धिरिव कामिन उत्कृष्टविद्येव शत्रुजने रतिरिव त्वाम् उद्दण्डं दृष्ट्वा सा पलायितेति भावः ॥४९॥

वसन्तसेनायाः प्राप्तिसाधनाभाववतस्तव पुनस्तद्ग्रहणाभिलाषः निरर्थक इत्याह—आलाने इति। हस्ती=करी आलाने=बन्धनस्तम्भे 'आलानं बन्धनस्तम्भः' इत्यमरः। गृह्यते=वशीक्रियते वाजी=अश्वः वल्गासु=मुखरज्जुषु गृह्यते=निरुध्यते नारी=रमणी हृदये=अन्तःकरणे प्रेम्णेति शेषः। गृह्यते=स्वाधीनीक्रियते न तु ताडनादिनेति भावः, यत्=यस्मात् कारणात् इदं=पूर्वोक्तरूपेण धारणाम्नास्ति तदा गम्यतां=चल्यतां तद्ग्रहणाशाया विफलत्वादतः प्रस्थानमेव वरमिति भावः अत्राप्रस्तुतयोः हस्तिवाजिनोः प्रस्तुतायाश्च कामिन्या एकया ग्रहणक्रिययाभिसम्बन्धाद्दीपकनामकालङ्कारः। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते' इति। अत्र (यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्तेनाभिप्रदर्शनत्। साध्यतेऽभिमतश्चार्थस्तदुदाहरणं मतम्)। इति दर्पणोक्तोदाहरणं नाम नाटयलक्षणम्, आलानादौ हस्त्यादिग्रहणमिव हृदये नारीग्रहणमिति बिम्बानुबिम्बभावे पर्यवसानात् निद-

---

बुद्धि के समान, आलस्यवानों की सिद्धि के समान, अल्पबुद्धिवाले कामुकों के उत्कृष्ट ज्ञान के समान तथा शत्रुओं के अनुराग के समान तुम्हें पाकर वह अदृश्य हो गई।

शकार—क्या वसन्तसेना को प्राप्त किए बिना ही चला जाऊँगा ?

विट—क्या तुमने यह भी नहीं सुना है ! कि—

हाथी बंधनस्तम्भ में बाँधकर वश में किया जाता है, घोड़ा लगाम के ओर

शकारः—जइ गच्छशि, गच्छ तुमं, हगे ण गमिश्शं। (यदि गच्छसि, गच्छ त्वम्, अहं न गमिष्यामि।)

विटः—एवं गच्छामि। (इति निष्क्रान्तः।)

शकारः—गड़े क्खु भावे अभावं। विदूषकमुद्दिश्य। अले काकपदशीशमत्थका दुट्टवड़ुका! उवविश उवविश। (गतः खलु भावः अभावम्। अरे काकपदशीर्षकमस्तक! दुष्टवटुक! उपविश उपविश।)

विदू—उववेसिदा ज्जेव अम्हे। (उपवेशिता एव वयम्।)

शकारः—केण?। (केन?।)

र्थनालङ्कारः। गृह्यत इत्यस्य पौनःपुन्येनोपादायात् हस्तिवाजीति पुंलिङ्गयोर्मध्ये नारीति स्त्रीलिङ्गनिर्देशाच्च अवनीकृततत्त्वभग्नप्रक्रमतादोषौ बोध्यौ। पथ्यावक्त्रं वृत्तम्।

सरलार्थः—विटो वक्ति यत्, हे शकार अश्वः वल्गासु हस्ती आलाने स्त्री हृदये गृह्यते किन्तु त्वया हस्ताभ्यां गृहीतेति व्यवहाराकुशलत्वेन त्वया लब्धा न भविष्यतीति प्राप्तीच्छां त्यक्त्वा गम्यताम् ॥५०॥

शकार इति—भावः = पण्डितः अभावं = वर्तमानताभावं गतः प्राप्तः, इतो निष्क्रान्त इति भावः। काकस्य पदवत् कुटिलं कृशश्च शीर्षं = मस्तकं च यस्य स तत्सम्बुद्धौ काकपदशीर्षमस्तक इति अथवा काकस्य पदवत् पञ्चधा विभक्तं यस्य तत्सम्बुद्धौ तदिति भावः।

से वश में होता है और स्त्री हृदय से अनुरक्त होने पर वशीभूत होती है। यदि ऐसी बात नहीं है तो (निराश होकर) जाइए ॥५०॥

शकार—यदि तुम जाते हो, जाओ; मैं नहीं जाऊंगा।

विट—मैं इस प्रकार जाता हूँ। (चला गया)

शकार—भाव का अभाव हो गया अर्थात् विट चला गया।

(विदूषक को लक्ष्य कर) अरे कौए के पैर के समान क्षीण मस्तकवाले दुष्ट बालक! बैठ जा, बैठ जा।

विदूषक—हमलोग तो बैठ ही दिए गए हैं।

शकार—किसके द्वारा?

विदू—कअन्तेण। (कृतान्तेन।)
शकारः—उट्ठेहि उट्ठेहि। (उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ।)
विदू—उट्ठिस्सामो। (उत्थास्यामः।)
शकारः—कदा? (कदा?)
विदू—जदा पुणो वि देव्वं अणुऊलं भविस्सदि। (यदा पुनरपि दैवमनुकूलं भविष्यति।)
शकारः—अले! लोद लोद। (अरे! रुदिहि रुदिहि।)
विदू—रोदाविदा ज्जेव अम्हे। (रोदिता एव वयम्।)
शकारः—केण? (केन?)
विदू—दुग्गदीए। (दुर्गत्या।)
शकारः—अले! हश हश। (अरे! हस हस।)
विदू—हसिस्सामो। (हसिष्यामः।)
शकारः—कदा? (कदा?।)
विदू—पुणोविऋद्धीएं अज्जचारुदत्तस्स। (पुनरपि ऋद्धया आर्यं चारुदत्तस्य)

विदू इति—कृतान्तेन = दैवेन।

विदूषक—दैव के द्वारा।
शकार—उठो = उठो।
विदूषक—उठेंगे।
शकार—कब?
विदूषक—जब फिर कभी भाग्य अनुकूल होगा।
शकार—अरे! रुदन करो, रुदन करो।
विदूषक—हम लोग रुलाए जा चुके।
शकार—किस से?
विदूषक—दुर्गति से।
शकार—अरे! हँसो, हँसो।
विदूषक—हँसेगे।
शकार—कब?
विदूषक—जब फिर कभी आर्य चारुदत्त समृद्धिशाली होंगे

शकारः—अले ले दुट्ठवड़का ! भणेशि मम अवणेण तं दलिद्दचालुदत्तकं एशा शशुवण्णा शहिलण्णा णव-णाड़अदंशणुट्ठिदा शुत्तधालिव्व वशन्तशेणा णाम गणिआदालिआ कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि तुमं अणुलत्ता, अन्हेहिं बलक्कालाणुणीअमाणा, तुह गेहं पविट्ठा। ता जइ मम हत्थे शअं ज्जेव पट्ठाविअ एणं शमप्पेशि, तदो अधिअलणे ववहालं विणा लहु णिज्जादमाणाह तव मए अणुवद्धा पीदौ हुविश्शदि। आदु अणिज्जादमाणाह आमलणान्तिके वेले हुविश्शदि। अविअ पेक्ख पेक्ख—(अरे रे दुष्टवटुक ! भणिष्यसि मम वचनेन तं दरिद्रचारुदत्तकम्। एषा ससुवर्णा-सहिरण्या नव-नाटक-दर्शनोत्थिता सूत्रधारीव वसन्तसेना नाम गणिकादारिका, कामदेवायतनोद्यानात् प्रभृति त्वामनुरक्ता अस्माभिर्बलात्कारानुनीयमाना तव गेहं प्रविष्टा। तद्यदि मम हस्ते स्वयमेव प्रस्थाप्य एनां समर्पयसि, ततोऽधिकरणे व्यवहारं विना शीघ्रं निर्यातयतस्तव मयानुबद्धा प्रीतिर्भविष्यति, अथवा अनिर्यातयत आमरणान्तकं वैरं भविष्यति। अपि च प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व।)

शकार इति—ससुवर्णा=सुष्ठु वर्णैः सह विद्यमाना वाक्चातुरीसहितेति भावः। अथवा सुवर्णैः=हिरण्यमयैर्भूषणैः वर्तमाना अथवा सुष्ठु श्रेष्ठवर्णैः द्विजैः सहिता ससुवर्णा नवनाटकस्य=नवीनाभिनयस्य दर्शनाय=प्रदर्शनाय उत्थिता=तत्परा सूत्रधारीव=सूत्रधारपत्नीव बलात्कारेण=हठेन अनुनीयमाना=आराध्यमाना अधिकरणे=न्यायालये व्यवहारं विवादं 'विवादो व्यवहारः स्यात्' इत्यमरः। निर्यातयतः=वसन्तसेनां समर्पयतः 'निर्यातनं वैरशुद्धौ दाने न्यासार्पणेऽपि च' इति हेमचन्द्रः मया सह अनुबद्धा=दृढीकृता प्रीतिः=अनुरागः अनिर्यातयतः=वसन्तसेनासमर्पयतः आमरणान्तं=मरणावधि वैरं=विरोधो भविष्यतीति निश्चितम्।

शकार—अरे दुष्ट ब्राह्मण ! मेरी वाणी से निर्धन चारुदत्त को कहो कि ! सोने के गहनों मे सजी हुई नवीन-नाटक के अभिनय के लिए आई हुई नटी के समान यह वसन्तसेना वेश्या, कामदेवायतन नामक उद्यान से ही तुम पर अनुरक्त है; हम लोगों के जबर्दस्ती-विनय करने पर भी वह तुम्हारे घर में चली गई। यदि मेरे हाथ में इसे तुम स्वयं अर्पित कर दोगे तो न्यायालय में अभियोग के बिना ही तुम जैसे दानी और हम में परस्पर चिरस्थायिनी प्रीति हो जायगी। अथवा (वसन्तसेना को) नहीं देने पर मरण पर्यन्त के लिए हमसे तुमसे शत्रुता हो जायगी। और देखो तो—

कक्कालुका गोच्छड़-लित्तवेण्टा, शाके अ शुक्खेतलिदे हु मांसे।
भत्ते अ हेमन्तिअ-लत्तिशिद्धे लीणे अ वेले ण हु होदि पूदी ॥ ५१ ॥
(कर्कारुको गोमयलिप्तवृन्तः शाकञ्च शुष्कं तलितं खलु मांसम्।
भक्तञ्च हैमन्तिकरात्रिसिद्धं लीनायाञ्च बेलायां न खलु भवति पूति ॥५१॥)

शोट्ठिकं भणेशि लहुकं भणेशि। तथा भणेशि, जधा हगे अत्तण-केलिकाए पासाद-बालग्ग-कवोद-वालिआए उवविट्ठे शुणामि। अण्णधा, जदि ण भणेशि, तधा कवाल-त्तल-पविट्ठ-कवित्थगुड़िअं विअ मत्थअं दे मड़मड़ाइश्शं। (स्वस्तिकं भणिष्यसि, लघुकं भणिष्यसि। तथा भणिष्यसि यथाऽ-

---

निर्विवादं वसन्तसेनायाःअसमर्पणे करिष्यमाणोपायं निर्दिशति—काकरुक इति। गोमयेन = गोपुरीषेण लिप्तम् = अनुवेष्टितं वृन्तं = फलबन्धस्थानं (भेंटीति भाषा) यस्य एवम्भूतः कर्कारुकः = कूष्माण्डः 'कूष्माण्डकस्तु कर्कारुः' इत्यमरः (कोहड़ा इति भाषा) शुष्कं = रसहीनं शाकं तलितं = घृतादिसम्भृष्टं मांसम्, उक्तं हि भाव-प्रकाशे 'शुद्धमांसविधानेन मांसं सम्यक् प्रसाधितम् पुनस्तत्सर्पिषाभृष्टं तलितं प्रोच्यते बुधैः' इति हैमन्तिक्यां = हेमन्तसम्बन्धिन्यां रात्रौ = निशायाम् सिद्धं = परिपक्वं भक्तम्=अन्नं 'भिस्सास्त्री भक्तमन्धोऽन्नम्' इत्यमरः एतत्सर्वं वेलायां=लीनायां बहु-काले व्यतीतेऽपि पूति=पर्युषितन्न खलु भवति किन्तु वसन्तसेनायां मह्यमप्रदत्तायां समयातिक्रमे शत्रुतारूपो दोषः स्यादेवेति भावः। अत्र तुल्ययोगितानामालङ्कारः। गोमयलिप्तकर्कारुकादीनां समयातिपातेऽपि पूतिगन्धत्वाभावरूपाप्रस्तुतेभ्यो वस-न्तसेनायाः शीघ्रतया असमर्पणे वैररूपदोषः प्रस्तुतः वैधर्म्येण प्रतीयत इत्यप्रस्तुत-प्रशंसालंकारः। इन्द्रवज्रा वृत्तम्।

सरलार्थः—गोमयलिप्तः कूष्माण्डः शुष्कं शाकं शुद्धं मांसं शीतकाले पक्वमक्तं काले व्यतीतेऽपि विकृतिन्न यातु किन्तु वसन्तसेनाया अप्राप्तौ मन्मनो विकृतं भविष्यत्येव ॥ ५१ ॥

स्वस्तिकम् = अनुकूलं यथा स्यात्तथा भणिष्यसि = कथयिष्यसि लघुकं=क्षिप्रं

गोबर से व्याप्त डाली वाला कूष्माण्ड, सूखा साग, तला हुआ मांस तथा हेमन्त की रात में पकाया हुआ भात—ये सब बहुत समय बीतने पर भी खराब नहीं होते। (अर्थात् यदि चारुदत्त स्वयं मुझे वसन्तसेना को दे दें तो हम दोनों की मैत्री भी कभी न छूटे) ॥ ५१ ॥

मेरे अनुकूल कहना; तथा शीघ्र कहना। इस प्रकार कहना कि मैं अपनी अट्टालिका की पासाद-बालाग्र-कपोत-पालिका पर बैठा हुआ उन बातों को सुन सकूँ और

हम आत्मीयायां प्रासाद-बालाग्र-कपात पालिकायामुपविष्टः शृणोमि; अन्यथा, यदि न भणिष्यसि, तदा कपाट-तल-प्रविष्टं कपित्थगुलिकमिव मस्तकं ते मड़म-ड़ायिष्यामि ।)

विदू—भणिस्सं । (भणिष्यामि ।)

शकारः—[अपवार्य ।] चेड़े ! गड़े शच्चकं ज्जेव भावे ? । (चेट ! गतः सत्यमेव भावः ?)

चेटः—अधइं । (अथ किम् ।)

शकारः—ता शिग्घं अवक्कमम्ह । (तत् शीघ्रमपक्रामावः ।)

चेटः—ता गेण्हदु भट्ठके अशि । (तत् गृह्णातु भट्टारकः असिम् ।)

शकारः—तव ज्जेव हत्थे चिट्ठदु । (तवैव हस्ते तिष्ठतु ।)

चेटः—एशे भट्टालके ! गेण्हदुणं भट्टके अशि ।

(एष भट्टारकः । गृह्णातु एनं भट्टारकः असित् ।)

'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः । आत्मीयायां=स्वकीयायां प्रासादस्य=हर्म्यस्य बालं=नवीनं यत् पालाग्रं=मत्तवारणं तत्र विद्यमाना कपोतपालिका विटङ्कं 'कपोतपालिकायान्तु विटङ्कं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः । तस्याम् उपविष्टः अन्यथा यदि न भणिष्यसीति वाक्येऽन्यथेत्यनेनैव गतार्थत्वात् भणिष्यसीत्यधिकं व्यर्थञ्च कपित्थस्य=फलविशेषस्य गुलिकं=गजभुक्तत्वादन्तःसारशून्यं गोलकमात्रावशिष्टं कपित्थ-फलमिवेति भावः । मणमणायिष्यामि=मणमण इवाचरिष्यामीति विग्रहे 'उपमाना-दाचारे' इति क्यच् चूर्णयिष्यामिति भावः ।

शकार इति—अपवार्य एतल्लक्षणन्तु 'रहस्यन्तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाशते तद्भवेदपवारितम्' इति दर्पणे ।

यदि नहीं कहोगे तो कपाट के बीच में रक्खी हुई कैथ के समान तुम्हारे मस्तक को मड़-मड़ ध्वनि के सहित पीस डालूँगा ।

विदूषक—कहूँगा ।

शकार—(खुले शब्दों में) चेट क्या भाव (विट) सचमुच चला गया ।

चेट—हाँ ।

शकार—तब हम लोग शीघ्र यहाँ से चले जांय ।

चेट—अतएव स्वामी इस तलवार को ग्रहण करें ।

शकार—तुम्हारे ही हाथ में रहे ।

चेट—यह प्रभु की तलवार है, अतः प्रभुस्थानापन्न आप ही इस तल-वार को लें ।

शकारः—(विपरीतं गृहीत्वा ।)

णिव्वक्कलं मूलकपेशिवण्णं खन्धेण घेत्तूण अ कोशशुत्तं ।
कुक्केहि कुक्कीहि अ वुक्कअन्ते जधा शिआले शलणं पलामि ॥५२॥
(निर्वल्कलं मूलकपेशिवर्णं स्कन्धेन गृहीत्वा च कोषसुप्तम् ।
कुक्कुरैः कुक्कुरीभिश्च वुक्कयमानो यथा शृगालः शरणं पलाये) ॥ ५२ ॥

(परिक्रम्य निष्क्रान्तौ)

विदू—भोदि ! रदणिए ! ण क्खु दे अअं अवमाणो तत्तभवदो चारुदत्तस्स णि वेदइदव्वो । दोग्गच्चपीड़िअस्स मण्णे दिउणदरा पीड़ा हुविस्सदि । (भवति ! रदनिके ! न खलु ते अयमपमानस्तत्रभवतश्चारुदत्तस्य निवेदयितव्यः । दौर्गत्यपीडितस्य मन्ये द्विगुणतरा पीडा भविष्यति ।)

निर्वल्कलमिति—वल्कलं=वृक्षत्वक् निर्गतं यस्मात्तं निर्वल्कलं त्वग्रहितमित्यर्थः । मूलकस्य पेशिस्त्वक् तद्वर्ण इव वर्णो यस्य शुभ्रोज्ज्वलमित्यर्थः । कोषसुप्तं=कोषनिहितम् असिमिति शेषः, तलवारंमिति तस्यार्थः, स्कन्धेन=गलप्रदेशेन धृत्वा गृहीत्वा कुक्कुरैः=श्वभिः कुक्कुरीभिः=शुनीभिश्च वुक्कयमानः=अनुशब्दायमानः बुक्क भषण इति धातोः तत्सिद्धिः भषणं श्वरवः कर्मणि तङ् ततः शानच् प्रत्यय इति बोध्यम् । शृगालः=जम्बूको यथा तथा अहमपि कुक्कुरतुल्येन विदूषकेण कुक्कुरीतुल्यया रदनिकया च शब्दायमानः शरणं=गृहं 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । पलाये=असहायः सन् वेगेन गृहं गच्छामि । अत्र श्रौतोपमालुप्तोपमयोः संसृष्टिः, उपजातिः वृत्तम् ।

सरलार्थः—शकारः कथयति यत् कोषरहितं खड्गम्=अत्यन्तशुभ्रवर्णं गलप्रदेशेन गृहीत्वा श्वभिः शुनीभिश्च अनुगम्यमानः शृगाल इव द्रुतं गृहं गच्छामि ॥ ५२ ॥

विदूषको भवतीति—निवेदयितव्यः=वक्तव्यो दुर्गतेर्भावो दौर्गत्यं=दारिद्र्ययं तेन पीडितस्य दुःखितस्य ।

शकार—उलटा लेकर—

कोष से रक्खी हुई निर्मल तथा रक्तवर्ण की तलवार को कन्धे पर रखकर—जिस प्रकार भूँकते हुए कुत्ते और कुत्तियों के पीछे लगने पर शृगाल शरण के लिए भागता है । उसी प्रकार मैं भी अपने घर की ओर भागता हूँ ॥ ५२ ॥

(घूम कर भाग गये)

विदूषक—रदनिके ! अपने इस अपमान को आर्य चारुदत्त से न कहना, क्योंकि दुरवस्था से पीड़ित वे और भी अधिक दुःखी हो जायेंगे ।

रद—अज्ज मित्तेअ ! रदणिआ क्खु अहं संजदमुही । (आर्य ! मैत्रेय ! रदनिका खल्वहं संयतमुखी ।)

विदू—एव्वं णेदं । (एवमिदम् ।)

चारु—[वसन्तसेनामुद्दिश्य ।] रदनिके ! मारुताभिलाषी प्रदोषसमय-शीतार्त्तो रोहसेनः । ततः प्रवेश्यतामभ्यन्तरमयम् । अनेन प्रावारकेण छादयैनम् । (इति प्रावारकं प्रयच्छति ।)

वसन्त—(स्वगतम्) कधं परिअणो त्ति मं अवगच्छदि ! (प्रावारकं गृहीत्वा समाघ्राय च स्वगतं सस्पृहम् ।) अम्महे ! जादीकुसुमवासिदो पावारओ । अणुदासीणं से जोव्वणं पड़िभासेदि । (अपवारितकेन प्रावृणोति ।) (कथं परिजन इति मामवगच्छति । अहो ! जातीकुसुमवासितः प्रावारकः, अनुदासीनमस्य यौवनं प्रतिभासते ।)

चारुदत्त इति—वसन्तसेनाद्दिश्य वसन्तसेनां प्रति रदनिकाबुद्धचेति शेषः । रोहतीति रोहा 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' इत्यच् ददन्ताट्टाप् उत्पद्यमानेत्यर्थः तादृशी सेना यस्य असौ रोहसेनः चारुदत्तबालकः मारुताभिलाषी = पवनसेवी प्रावारकेण = उत्तरीयवस्त्रेण ।

वसन्त इति—जातिकुसुमवासितः = मालतीपुष्पसुगन्धितां प्राह्वः 'सुमना मालती जातिः' इत्यमरः । अनुदासीनम् = आसक्तं यौवनं = तारुण्यम् अस्य = चारुदत्तस्य भासते विभाति सुगन्धिदुकूलेनायं विलासीति प्रतीयते 'नाकामी मण्डनप्रियः' इति प्रसिद्धेः । अपवारितकेन = स्वाच्छादनवस्त्रेण ।

रदनिका—आर्य मैत्रेय ! संयम पूर्वक बोलने वाली मैं रदनिका हूँ ।

विदूषक—हाँ, यह बात तो है ।

चारुदत्त—(वसन्तसेना के प्रति) रदनिके ! वायु सेवन करनेवाला रोहसेन (चारुदत्त का पुत्र) सायंकालीन शीत वायु से पीड़ित हो गया है । अतः इसे अन्दर ले आओ और इस उत्तरीय से इसे ढंक दो । (उत्तरीय देता है)

वसन्तसेना—(अपने मन में) क्या मुझे अपना परिजन समझते हैं ? उत्तरीय लेकर और सूंघकर; (मन ही मन प्रसन्न होकर) अहो । जाती-पुष्प से सौरभित यह उत्तरीय है । इनका यौवन अभी कामुक ही मालूम पड़ता है । (मुँह घुमाकर अपने को छिपाती है)

चारु—ननु रदनिके ! रोहसेनं गृहीत्वाऽभ्यन्तरं प्रविश ।

वसन्त—[स्वगतम् ।] अभाइणी क्खु अहं तुम्हे अब्भन्तरस्स ।
[अभागिनी खल्वहं तव अभ्यन्तरस्य ।]

चारु—ननु रदनिके ! प्रतिवचनमपि नास्ति ! कष्टम् !

यदा तु भाग्यक्षयपीडितां दशां नरः कृतान्तोपहितां प्रपद्यते ।
तदाऽस्य मित्राण्यपि यान्त्यमित्रतां चिरानुरक्तोऽपि विरज्यते जनः ॥५३॥

वसन्त इति—अभागिनी=हतभाग्येति यावत् तवाभ्यन्तरस्य=त्वदन्तःपुरस्य प्रवेशनाय कदा मम भाग्योदयो भविष्यति । गणिकात्वादित्थमाशङ्कते । अत्र चारुदत्तविषये वसन्तसेनाया अनुरागातिशयप्रतीत्या परिकरो नाम मुखसन्धेरङ्गम् उक्तञ्च दर्पणे 'समुपपन्नार्थबाहुल्यं ज्ञेयः परिकर इति' स्वाधिकारस्थां रदनिकां विज्ञाय किमप्युत्तरमनाकलयंश्चारुदत्तः स्वभाग्यपरिवर्तनस्यैवे सर्वदुःखबीजत्वमाह ।

यदेति—नरः मानवो यदा यस्मिन् समये कृतान्तेन दैवेन उपहितां प्रापिताम् भाग्यस्य शुभपुण्यस्य क्षयेण=नाशेन पीडितां दलितां दशां गर्हितावस्थां प्रपद्यते प्राप्नोति तदा तस्मिन् कालेऽस्य भाग्यहीनपुरुषस्य मित्राणि=सखायोऽपि अमित्रतां=वैरभावं यान्ति गच्छन्ति तथा चिरानुरक्तः=अतिदीर्घकालिकप्रीतियुक्तो जनो लोको विरज्यते=अपरक्तो भवति । अत्र मित्राणि=अमित्रतां यान्ति अनुरक्तोऽपि विरज्यते इत्युत्तरार्धे विरोधाभासोऽथवा 'स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनमिति' लक्षणात् स्वभावोक्तिरलङ्कारः विरोधाभासेन चमत्कृतेरभावात् । वस्तुतस्तु अप्रस्तुतात् प्रस्तुताया रदनिकायाः प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः । यान्ति क्रियामुपक्रम्य विरज्यत इति विरूपक्रियाप्रयोगात् भग्नप्रक्रमता दोषः । वंशस्थविलं वृत्तम् ।

सरलार्थः—यदा मनुष्योपरि दैवप्रयुक्ता कुत्सिता दशा समापतति तदा सुहृदोऽपि शत्रुतां यान्ति । अनुरक्तोऽपि विरक्ततां यातीति भावः ॥ ५३ ॥

चारुदत्त—ऐ रदनिके ! रोहसेन को लेकर भीतर चली आओ ।

वसन्त—(मन ही मन) तुम्हारे घर के अन्दर प्रवेश करने की मैं अधिकारिणी नहीं हूँ । (वेश्या होने के कारण)

चारुदत्त—ऐ रदनिके ! उत्तर भी नहीं देती ? कष्ट है :—दैववश मनुष्य के भाग्य की जब हीनावस्था दरिद्रता आ जाती है तब उसके मित्र भी शत्रु हो जाते हैं । यहाँ तक कि चिरकाल से अनुरक्त जन विरक्त हो जाता है ॥ ५३ ॥

विदू—[रदनिकामुपसृत्य ।] भो इअं सा रदणिआ ! (भोः ! इयं सा रदनिका ।]

चारु—इयं सा रदनिका ! इयमपरा का ?

अविज्ञातावसक्तेन दूषिता मम वाससा ।

वसन्त—[स्वगतम् ।] णं भूसिदा । (ननु भूषिता ।)

चारु—

छादिता शरदभ्रेण चन्द्रलेखेव दृश्यते ॥ ५४ ॥

अथवा, न युक्तं परकलत्रदर्शनम् ।

विद—भो अलं परकलत्तदंसणसङ्काए । एसा वसन्तसेणा कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि भवन्तमणुरत्ता । (भोः ! अलं परकलत्रदर्शनशङ्कया । एषा वसन्तसेना कामदेवायतनोद्यानात् प्रभृति भवन्तमनुरक्ता ।)

चारु—अये इयं वसन्तसेना ! । [स्वगतम् ।]

अविज्ञातेति—अवसक्तेन=शरीरस्पृष्टेन वाससा=वस्त्रेण दूषिता परपुरुषधृतवस्त्रस्पृष्टत्वादुत्पन्नदोषा अविज्ञाता केयमपरिचिता शरदभ्रेण=शरत्कालिकमेघेन छादिता=आवृत्ता चन्द्रलेखेव दृश्यते मयेति शेषः । उपमालङ्कारः पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।

सरलार्थः—इयमपरिचिता स्त्री मम वस्त्रसंलग्नेन दूषिता शरत्कालिकमेघसंस्पृष्टचन्द्रलेखेव मया अवलोक्यते ॥ ५४ ॥

वर्तमाननायिकायाः वसन्तसेनेति विदूषकात् प्राप्तपरिचयश्चारुदत्तः सखेदमाह—

विदूषक—(रदनिका के समीप जाकर) आर्य ! रदनिका तो यह है ।

चारुदत्त—यह रदनिका है । और यह दूसरी (स्त्री) कौन है ? 'अज्ञानावस्था में मेरे वस्त्र के स्पर्श से यह दूषित हो गई ।'

वसन्तसेना—अजी भूषित हो गई ।

चारुदत्त—'शरत्कालीन मेघ से ढकी हुई चन्द्रकला के समान दिखलाई पड़ती है' ॥ ५४ ॥

अथवा दूसरे की स्त्री को देखना उचित नहीं है ।

विदूषक—अरे दूसरे की स्त्री को देखने की शंका न कीजिये । यह वसन्तसेना कामदेवायतन-उद्यान से ही आप पर अनुरक्त है ।

चारुदत्त—अरे ! यह वसन्तसेना है । (मन ही मन) प्रचुर धन के नष्ट

यया मे जनितः कामः क्षीणे विभवविस्तरे।
क्रोधः कुपुरुषस्येव स्वगात्रेष्वेव सीदति ॥ ५५ ॥

विदू—भो वअस्स! एसो क्खु राअसालो भणादि। (भो! वयस्य! एष खलु राजश्यालो भणति।)

चारु—किम्?।

विदू—एसा ससुवण्णा सहिलण्णा णव-णाड़अ-दंशणुट्ठिदा सूत्ताधालिव्व वसन्तसेणा णाम गणिआदालिआ कामदेवाअदणुज्जादो पहुदि तुमं अणुलत्ता, अम्हेहिं बलक्काणुणीअमाणा तुह गेहं पविट्ठा?
(एषा ससुवर्णा-इत्यादि प्रागेवानूदितम्।)

वसन्त—[स्वगतम्।] बलाक्कालाणुणीअमाणेत्ति जं सच्चं अलङ्किदम्हि

ययेति। विभवविस्तरे=प्रचुरधने क्षीणे=विनष्टे यया=वसन्तसेनया जनितः=उत्पादितो मे=मम कामः=सम्भोगवासना कुपुरुषस्य=निन्दितजनस्य क्रोधः=रोष इव स्वगात्रेषु=स्वशरीरेषु सीदति=विनाशं गच्छति, करणीयशक्तेरभावात् यथा तस्य क्रोधः शत्रूणां कमप्यपकारन्न करोति किन्तु क्रोधकर्तुरेव हानिरिति भावः। अत्रोपमालङ्कारः। णमु भूसिदेसि वसन्तसेनोक्त्या यया मे जनित इत्यादिचारुदत्तोक्त्या चानयोरन्योन्यमनुरागातिशयनिष्पत्तिवर्णनात् 'तन्निष्पत्तिः परिन्यास' इति दर्पणोक्तेः परिन्यासो नाम मुखसन्धेरङ्गम्।

सरलाऽर्थः—विभवनष्टे मयि वसन्तसेनया यः काम उत्पादितः स कातरपुरुषक्रोध इव स्वशरीरे एव नष्टं याति न तस्य किमपि फलमिति भावः। उक्तञ्च 'उत्थायोत्थाय लीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः' इति ॥ ५५ ॥

हो जाने पर भी मुझ पर अनुरक्त वसन्तसेना का काम उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार अयोग्य जन का क्रोध अपने ही शरीर में विलीन हो जाता है ॥ ५५ ॥

विदूषक—हे मित्र! राजश्याल कहता है—

चारुदत्त—क्या कहता है!

विदूषक—कि, 'सोने के गहनों से सजी हुई नवीन-नाटक के अभिनय के लिए प्रस्तुत नटी के समान वसन्तसेना नाम की वेश्या—कामदेवतायतन उद्यान से ही तुम पर अनुरक्त है, हम लोगों के जबरदस्ती विनय करने पर भी व तुम्हारे घर में चली गई'।

वसन्त—'जबर्दस्ती विनय करने पर भी'—यदि सत्य है। तो इन अक्षरों से मैं विभूषित हो गई।

एदेहिं अक्खरेहिं। (बलात्कारानुनीयमानेति यत्सत्यम्। अलङ्कृताऽस्मि एतैरक्षरैः)

विदू—ता जइ मम हत्थे सअं ज्जेव पट्टाविअ एणं समप्पेसि, तदो अधिअलणे ववहालं विणा लहुं णिज्जादभाणाह तव मए अणुबद्धा पीदी हुविस्सदि। अण्णधा, आमलणान्तिके वेले हुयिस्सदि। (तद् यदि-इत्यादिकमपि प्रागनूदितम्।)

चारु—(सावज्ञम्।) अज्ञोऽसौ। [स्वगतम्।] अये ! कथं देवतोपस्थानयोग्या युवतिरियम्। तेन खलु तस्यां वेलायाम्।

प्रविश गृहमिति प्रतोद्यमाना न चलति भाग्यकृतां दशामवेक्ष्य।
पुरुषपरिचयेन च प्रगल्भं न वदति यद्यपि भाषते बहूनि ॥ ५६ ॥

चारु इति—सावज्ञं=सावमान 'रीढावमाननावज्ञा' इत्यमरः असौ=राजश्यालोऽज्ञो=मूर्खोऽस्तीति शेषः। देवतायाः=देवस्य उपस्थानं=पूजा तद्योग्या साक्षात् देवतेव पूज्येति भावः।

रोहसेनस्य गृहप्रवेशाज्ञासमयेऽस्याः सञ्जातां दशां वर्णयति—प्रविशेति। गृहं=भवनं प्रविश आगच्छ रोहसेनं गृहीत्वेति शेषः। इति प्रतोद्यमानः मया प्रेर्यमाणा भाग्यकृतां दुर्भाग्योपस्थापितां दशामवेक्ष्य=विचार्य न चलति अभ्यन्तरं न गतवतीति भावः। वर्तमानसामीप्येऽतीते लट्। स्वर्गीयसुखोपभागयोग्यायाः अस्याः प्रवेष्टुम योग्यमस्मद्गृहं यद्यपि बहूनि=अधिकानि भाषते=जल्पति गणिकास्वभावात्तथापि पुरुषपरिचयेन मां पुरुषमवगत्य प्रगल्भं धृष्टं यथा स्यात्तथा न वदति=न वक्ति, एतत्प्रकरणेन वसन्तसेनाया लोकोत्तरशीलता सौजन्यादिकञ्च व्यज्यते, परस्मैपदप्रक्रमे भाषते इति आत्मनेपदप्रयोगात् भग्नप्रक्रमता दोषः। पुष्पिताग्रा वृत्तम्। अयुजि न युगरेफतो यकारो युजि च न जौ जरगाश्च पुष्पिताग्रेति लक्षणात्।

विदूषक—'यदि मेरे हाथ मे तुम स्वयं समर्पित कर दोगे तो न्यायालय में अभियोग के विना ही अर्पित करनेवाले तुम्हारे और हमारे बीच चिरस्थायिनी सन्धि हो जायगी और न देने पर सदा के लिए शत्रुता हो जायगी।

चारुदत्त—(अन्यमनस्क होकर) वह (राजश्याल) मूर्ख है ! अहो ? कैसी देवता के समान उपासना योग्य यह युवती है ! कुछ समय पहले—

'गृह मे चली जाओ ऐसा व्यथापूर्ण वाक्य कहे जाने पर भी वह हमारी दयनीय दशा देख कर भीतर नहीं गई। यद्यपि वह बहुत बोलती है फिर भी पुरुषों के समक्ष धृष्टतापूर्वक नहीं बोलती है ॥ ५६ ॥

(प्रकाशम्) । भवति ! वसन्तसेने ! अनेनाविज्ञानादपरिज्ञातपरिजनोपचारेण अपराद्धोऽस्मि । शिरसा भवतीमनुनयामि ।

वसन्त--एदिणा अणुचिदभूमिआरोहणेण अवरज्झा अज्जं सीसेण पणमिअ पसादेमि । (एतेनानुचितभूमिकारोहणेन अपराद्धा आर्यं शीर्षेण प्रणम्य प्रसादयामि ।)

विदू--भो ! दुवेवि तुम्हें सुखं पणमिअ कलमकेदारा अण्णोण्णं सीसेण सीसं समाअदा । अहं पि इमिणा करहजाणुसरिसेण सीसेण दुवेवि तुम्हे पसादेमि । [इत्युत्तिष्ठति ।)

(भो ! द्वावपि युवां सुखं प्रणम्य कलमकेदारौ अन्योन्यं शीर्षेण शीर्षं समागतौ । अहमपि अमुना करभजानुसदृशेन शीर्षेण द्वावपि युवां प्रसादयामि ।)

सरलार्थः---मया प्रेर्यमाणाऽपि मदीयां दीनदशामियमवेक्ष्य मद्गृहं न गतवती यद्यपि बहुभाषणकर्त्री वेश्या तथापि मामप्रत्यल्पं वक्त्यहो शालीनतेति भावः ॥५६॥

प्रकाशमिति---अनेन पूर्वोक्तेनाविज्ञानादपरिचयात् अविज्ञातो यः परिजनोपचारो दासीबुद्धया आज्ञाप्रदानन्तेनापराद्धः कृतापराद्धः कृतापराधः ।

वसन्त इति--पक्षद्वारेण प्रवेशात् हेतोः गणिकात्वाच्चानुचितमेव भूमिकायां भवतां गृहे आगमनं केन हेतुनाऽहमेव अपरद्धा ।

विदू इति--कलमः=शालिः 'शालयः कलमाद्याश्च' इत्यमरः । केदारः=वप्रः 'वप्रः केदारः क्षेत्रम्' इत्यमरः । कलमकेदाराविव मिलिताविति यावत् । करभः= उष्ट्र-शावकः करिशावको वा तस्य जानुः=ऊरुजङ्घयोस्सन्धिभागस्तत्सदृशेन तत्तुल्येने-त्यर्थः अत्र करभपदेन उष्ट्रशावकस्यैव ग्रहणमुचितं करिशावकघान्वोः समवृत्तत्वेन

(प्रकट) मानिनि ! वसन्तसेने !! इस प्रकार अनजान में तुम्हारे साथ दासी का व्यवहार करने के कारण मैं अपराधी हूँ । अतः नम्र होकर तुमसे विनय करता हूँ ।

वसन्तसेना---अयोग्या मैं आप के मकान पर चढ़ आने से अपराधिनी हूं अतएव विनम्र होकर मैं आपको प्रसन्न करती हूँ ।

विदूषक---अहा ! आप दोनों के सुखपूर्वक प्रणाम करते समय विनम्र होने से कलम-केदार (धान विशेष-क्षेत्र) के समान परस्पर दोनों के शिर सिम्मलित हो गए । मैं भी ऊँट के बच्चे के समान ऊँचे-नीचे अपने मस्तक से आप दोनों को प्रणाम कर प्रसन्न करता हूँ । (यह कह कर उठता है)

चारु—भवतु, तिष्ठतु प्रणयः ।

वसन्त—[स्वगतम् ।] चदुरो मधुरो अ अअं उवण्णासो । ण जुत्तं अज्ज एरिसेण इध आअदाए मए पडिवसिदुं । भोदु, एव्वं दाव भणिस्सं । (प्रकाशम्) अज्ज ! जइ एव्वं अहं अज्जस्स अणुग्गेज्झा, ता इच्छे अहं इमं अलङ्कारअं अज्जस्स गेहे णिक्खिविदुं । अलङ्कारस्स णिमित्तं एदे पावा अणुसरन्ति । (चतुरो मधुरश्चायमुपन्यासः । न युक्तमद्य ईदृशेन इह आगतया मया प्रतिवस्तुम् । भवतु, एवं तावत् भणिष्यामि । आर्य ! यद्येवम् अहमार्यस्य अनुग्राह्या, तदिच्छाम्यहमिमलङ्कारकमार्यस्य गेहे निक्षेप्तुम् । अलाङ्कारस्य निमित्तमेते पाप अनुसरन्ति ।)

चारु—अयोग्यमिदं न्यासस्य गृहम् ।

प्रकृतानुपयोगित्वात् । उष्ट्रजान्वोश्च विषमत्वात्तत्सादृश्यप्रदानमुचितं विभातीति विवेचकः ।

। चारु इति—प्रणयः=स्नेह। तिष्ठतु=दूरे गच्छतु प्रणयानन्तरं जायमानोपभोगस्यापि सम्पाद्यत्वादिति' भावः, अतएव पृथिवीधरः प्रणयः=सम्भोगप्रार्थनेत्युक्तवान्, अत्र 'सम्प्रधारणमर्थानां युक्तिरिति' दर्पणोक्तेर्मुखसन्धेरङ्ग युक्तिर्नाम बोध्यम् ।

वसन्त इति—चतुरो=बुद्धिमान् अन्तर्हितभावेनोपभोगाभिप्रायप्रकाशक इति भावः । मधुरो मन्मनोऽनुकूलत्वात् सुधेव सरसः एवन्तर्हि कथन्न अत्र स्थित्वोपभोगतृष्णामुपशामयतीत्यत आह—न युक्तमित्यादि । प्रेमपरीक्षणार्थमेवोक्तिः न तु रन्तुमिति शेषः प्रतिवस्तूनि अवस्थातुम्, अलङ्कारकंभूषणं निक्षेप्तुं=न्यासीकर्तुं पापाः=शकारादय अलङ्कारनिमित्तमेव मामनुसरन्ति=मत्पश्चादनुधावन्ति ।

चारु इति—दृढतरकपाटाद्यभावात् परितः प्राकारपरिभ्रंशनेन रक्षपुरुषाभावाच्च न्यायसस्यायोग्यमिदमस्मद्गृहमित्याशयः ।

चारुदत्त—अजी, प्रणय रहने दीजिए ।

वसन्त—(मन ही मन) यह वाक्य-विन्यास कितना प्रौढ एवं मधुर है ! आज इस प्रकार यहाँ आकर मेरा रहना उचित नहीं है । अच्छा, यह कहती हूँ । (प्रकट) जब आर्य मुझे इस प्रकार अनुगृहीत करते हैं तो इन आभूषणों को आप के घर में रखना चाहती हूँ । इन आभूषणों के कारण ही पापी गण मेरा पीछे करते हैं ।

चारुदत्त—'धरोहर' रखने योग्य यह घर नहीं है ।

वसन्त—अज्ज ! अलीअं । पुरुसेसु णासा णिक्खिविअन्ति, ण उण गेहेसु ! (आर्य ! अलीकम् । पुरुषेषु न्यासा निक्षिप्यन्ते, न पुनर्गेहेषु ।)

चारु—मैत्रेय ! गृह्यतामयमलङ्कारः ।

वसन्त—अणुग्गहिदह्मि । [इत्यलङ्कारमर्पयति ।] (अनुगृहीतास्मि ।)

विदू—(गृहीत्वा ।) सोत्थि भोदिए । (स्वस्ति भवत्यै ।)

चारु—धिङ्मूर्ख ! न्यासः खल्वयम् !

विदू—[अपवार्य ।] जइ एव्वं, ता चोरेहिं अवहरीअदु । (यद्येवम्, तत् चौरैरपह्रियताम् ।)

चारु—अचिरेणैव कालेन ।

विदू—एसो से अम्हाणं विण्णासो ? । (एषः अस्या अस्माकं विन्यासः ?)

चारु—निर्यातयिष्ये ।

वसन्त इति—अलीकम् = अनृतम् 'अलीकन्त्वप्रियेऽनृते' इत्यमरः ।

विदू इति—स्वस्ति = मङ्गलमस्तीति शेषः । भवत्यै वसन्तसेनायै 'स्वस्तिकारेण गृह्णीयादिति' धर्मशास्त्रोक्तेः न्यासं ज्ञात्वाऽपि प्रतिग्रहसूचकस्वस्तिशब्दोक्तिः परिहासार्थं विदूषकस्य युज्यते एव । विदू इति—यद्येवं न्यासस्तदा चौरैरपह्रियताम् चोरयतु चोर इति भावः ।

चारु इति—अचिरेणैव कालेनेति चारुदत्तोक्तिमाक्षिप्यास्माकं भविष्यतीति विदूषकोक्तिः । अस्मिन् वाक्ये निर्यातयिष्ये, इत्यग्रिमवाक्येन सम्बन्धः । अमुष्यै पुनर्दास्यामीति तस्यार्थः ।

वसन्त—आर्य ! यह असत्य है । योग्य पुरुष के यहाँ धरोहर रक्खी जाती है, न कि योग्य घर में ।

चारुदत्त—मैत्रेय ! इस आभूषण को ले लो ।

वसन्त—अनुगृहीत हो गई । (अलङ्कार देती है)

विदूषक—(लेकर) श्रीमती का कल्याण हो ।

चारुदत्त—धिक्कार है मूर्ख ! अरे यह धरोहर है ।

विदूषक—यदि ऐसी बात है तो इसे चोर चुरा ले जायँ ।

चारुदत्त—बहुत शीघ्र ही ।

विदूषक—वसन्तसेना का यह आभूषण हम लोगों की विशेष धरोहर है ।

चारुदत्त—अरे ! पुनः इसे लौटा दूँगा ।

वसन्त—अज्ज ! इच्छे अहं इमिणा अज्जेण अणुगच्छिज्जन्ती सकं गेहं गन्तुं । (आर्य ! इच्छाम्यहम् अनेनार्येण अनुगम्यमाना स्वकं गेहं गन्तुम् ।)

चारु—मैत्रेय । अनुगच्छ तवभवतीम् ।

विदू—तुमं ज्जेव एदं कलहंसगामिणीं अणुगच्छन्तो राअहंसो विअ सोहसि । अहं उण वह्मणो जहिं तहिं जणेहिं चउप्पहोवणीदो उवहारो कुक्कुरेहिं विअ खज्जमाणो विवज्जिस्सं । (त्वमेव एतां कलहंसगामिनीम् अनुगच्छन् राजहंस इव शोभसे । अहं पुनर्ब्राह्मणः यस्मिन् तस्मिन् जनैः चतुष्पथोपनीतः उपहारः कुक्कुरैरिव खाद्यमानो विपत्स्ये ।)

चारु—एवं भवतु, स्वयमेवानुगच्छामि भत्रुभवतीम् । तद्राजमार्गविश्वासयोग्याः प्रज्वाल्यन्तां प्रदीपिकाः ।

विदू—वड्ढमाणअ ! पज्जालेहि पदीविआओ । (वर्द्धमानक ! प्रज्वालय प्रदीपिकाः ।)

वसन्त इति—अनुगम्यमाना = अनुस्रियमाणा ।

विदूषक इति—चारुदत्तस्य विदूषकम्प्रति सहगमनाज्ञानन्तरं विदूषकः कथयति । यत् कलहंसगामिनीं मन्थरगमनशीलामेतां वसन्तसेनामनुगच्छन् = पश्चाच्चलन् राजहंस इव शोभसे अनुरूपत्वादिति भावः । अहन्तु यस्मिन् तस्मिन् स्थाने जनैः धार्मिकलोकैः चतुष्पथे = चतुर्मुखमार्गे (चौक इति भाषा) उपनीतः = समर्पितः देवताभ्यः प्रदत्त इति भावः । बलिः = उपहारः, खाद्यमानः, कुक्कुरैरिव = श्वभिरिव विपत्स्येऽतः, वेश्यायाः पश्चात्त्वमेव गच्छ ब्राह्मणत्वान्नाहं वेश्यानुगमनयोग्य इति भावः ।

वसन्त—आर्य ! इन मैत्रेय के साथ मैं अपने घर जाना चाहती हूँ ।

चारुदत्त—मैत्रेय ! इसके साथ जाओ ।

विदूषक—इस हंसगामिनी के साथ चलने में आप राजहंस के समान सुशोभित होते हैं । और मैं ब्राह्मण जिस किसी मनुष्य के द्वारा चौराहे पर चढ़ाये हुए उपहार को कुत्ते के समान खाता हुआ विनष्ट हो जाऊँगा ।

चारुदत्त—ऐसा ही हो । श्रीमतीजी के साथ मैं स्वयं जाऊँगा । अतः राजपथ के विश्वास योग्य प्रकाशमान दीपकों को जलाओ ।

विदूषक—वर्द्धमान ! दीपक जलाओ ।

चेटः—[जनान्तिकम् ।] अले ! तेल्लेण विणा पदीविआओ पज्जालीअन्ति ? । (अरे ? । तैलेन विना प्रदीपिकाः, प्रज्वाल्यन्ते ? ।)

विदू—[जनान्तिकम् ।] भो ! ताओ क्खु अम्हाणं पदीविआओ अवमाणिद-णिद्धण-कामुआ विअ गणिआ णिस्सिणेहाओ दाणिं संवुत्ता । (भोः ! ताः खल्वस्माकं प्रदीपिकाः, अपमानित-निर्द्धन-कामुका इव गणिकाः, निःस्नेहा इदानीं संवृत्ताः ।) .

चारु—मैत्रेय ! भवतु ! कृतं प्रदीपिकाभिः । पश्य—

उदयति हि शशाङ्कः कामिनीगण्डपाण्डुर्ग्रहगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः ।

चेट इति—चारुदत्तस्य वर्धमानको नाम चेटः । जनान्तिकमिति—जनान्ते=पात्रगणमध्ये यदन्योन्यामन्त्रणं परस्परमालापस्तज्जनान्तिकं भवति; उक्तञ्च दर्पणे 'अन्योन्यामन्त्रणं यत् स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्' इति ।

तैलेन=स्नेहेन विना प्रदीपिकाः कथं प्रज्वाल्यन्ते 'स्नेहः स्यात्पुंसि तैलादिरसद्रव्ये सौहृदे' इति मेदिनी ।

विदूषक इति—अपमानितः=बहिष्कृतो निर्धनः=वित्तशून्यः कामुकः=कामीजनो याभिस्ता गणिकाः=वेश्या इव निःस्नेहाः निर्गततैलाः निर्गतानुरागाश्च संवृत्ताः=सञ्जाता इति भावः । निर्गतः स्नेहो याभ्यस्ता इति विग्रहे 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति समासः ।

चारु इति—कृतं=व्यर्थम् पर्याप्तमिति यावत्' 'युगपर्याप्तयोः कृतम्' इत्यमरः दीपस्य तैलाभावकृतं प्रज्वालनायोग्यत्वं वसन्तसेनामविवक्षुश्चारुदत्तः सम्प्रति प्रतिकूनिर्मितस्वतः सिद्धप्रकाशमयचन्द्रकिरणैरेव कार्यस्य सम्पादनीयत्वं वक्ति ।

उदयतीति—हि=यतः कामिन्याः=तरुण्याः गण्डवत् कपोलवत् पाण्डुः=श्वेतः 'हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः, इत्यमर, समुज्ज्वल इत्यर्थः, ग्रहाणां=सूर्यादीनां गणः=समूहः परिवारः=परितो वेष्टनकारकः, बान्धवो वा यस्य स राजमार्गस्य=साधारणपथस्य प्रदीपः=प्रकाशकः 'शशाङ्कः=चन्द्र, उदयति=उदेति यस्य चन्द्रस्य गौराः=शुक्लाः 'गौरः पीतेऽरुणे श्वेते चाभिधेयवत्' इति मेदिनी, रश्मयः=किरणाः 'किरणो-

---

चेट—(धीरे से) अरे तेल के बिना कहा दीपक जलाए जाते हैं ?

विदूषक—(धीरे से) अजी वे ही हम लोगों के दीपक हैं । जो अपमानित दरिद्र—कामुक वाली वेश्या के समान इस समय स्नेहहीन हो गए हैं ।

चारुदत्त—मैत्रेय ! रहने दो, दीपक जलाने की क्या आवश्यकता है । देखो-

तिमिरनिकरमध्ये रश्मयो यस्य गौराः स्रुतजल इव पङ्के क्षीरधाराः पतन्ति

(सानुरागम्) भवति! वसन्तसेने! इदं भवत्या गृहम्, प्रविशतु भवती।

(वसन्तसेना सानुरागमवलोकयन्ती निष्क्रान्ता।)

चारु—वयस्य! गता वसन्तसेना। तदेहि, गृहमेव गच्छावः।

राजमार्गो हि शून्योऽयं रक्षिणः सञ्चरन्ति च।
वञ्चना परिहर्त्तव्या बहुदोषा हि शर्वरी॥ ५८॥

स्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः' इत्यमरः स्रुतानि=निर्गतानि जलानि यस्मात् तादृशे पङ्के=कर्दमे 'पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ' इत्यमरः। क्षीराणां=दुग्धानां धारा इव तिमिरनिकरमध्ये=तमःसमूहमध्ये पतन्ति, अत्र कामिनीगण्डपाण्डुरिति लुप्तोपमा द्वितीये पादे रूपकम्, उत्तरार्द्धे श्रौती उपमा एषां परस्परनिरपेक्षेणावस्थानात्संसृष्टिः। मालिनी वृत्तम्। अत्रायमभिसन्धियंद् यथा क्षीरधाराप्रपातेन पङ्कस्य आर्द्रत्वमेव पकङ्कनिष्ठजलेन सह दुग्धसम्बन्धे जलाधिक्यात् पङ्कस्य विनश्वरत्वन्तथैव शशाङ्क किरणसम्बन्धादेव अन्धकारस्य झटिति विनश्वरत्वमगम्यत इति भावः।

सरलार्थः—चारुदत्तः कथयति यत् हे मैत्रेय दीपकप्रज्वालनेन व्यर्थं यतोऽस्मिन् समये शशाङ्क उदितः ग्रहसमूहैः राजमार्गे तमो विनाश्य प्रकाशो वर्तत इति प्राकृत-प्रकाशेनैव कार्यं चलिष्यतीति भावः॥ ५७॥

स्वगृहप्रविष्टायां वसन्तसेनायां झटिति गृहगमनमुचितमित्याह—राजमार्ग इति—अयं राजमार्गः=राजपथः शून्यः=जनरहितो वर्तत इति शेषः, रक्षिणः=प्रह-रिणः सञ्चरन्ति=इतस्ततः परिभ्रमन्ति वञ्चना=प्रतारणा परिहर्तव्या रक्षणेन निवा-रणीया हि यतः शर्वरी=रात्रिः बहुदोषा=चौरचाण्डालदुश्चरित्रादिकृतोपद्रवा भव-तीति शेषः वञ्चनापरिहर्तव्येति वाक्यं प्रति शून्यादेर्हेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः।

युवतियों को कपालस्थली के समान उज्ज्वल, नक्षत्रों से घिरा हुआ राज-पथ को प्रकाशित करने वाला चन्द्रमा उदति हो रहा है, । घोर अन्धकार में जिसकी श्वेत किरणें जलशून्य पङ्क में दुग्धधारा के समान गिर रही हैं॥ ५७॥

(प्रेम के साथ) वसन्तसेने! यह आपका घर है; चली जाएँ।

(प्रेमपूर्वक देखती हुई वसन्तसेना चली गई)

चारुदत्त—मित्र! वसन्तसेना चली गई, तब आओ हम दोनों भी घर की ओर चलें।

(अधिक रात बीत जाने के कारण) अब सड़क पर निर्जनता छा गई है

(परिक्रम्य ।) इदञ्च सुवर्णभाण्डं रक्षितव्यं त्वया रात्रौ, वर्द्धमानके-
नापि दिवा ।

विदू—जधा भवं आणवेदि । (यथा भवानाज्ञापयति ।)

इति निष्क्रान्तौ

इति मृच्छकटिके अलङ्कारन्यासो नाम प्रथमोऽङ्कः ।

सामान्येन बहुदोषेत्यादिवाक्येन विशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यासः उभयोरङ्गाङ्गित्वेन सङ्करः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।

सरलार्थः—रक्षिणो भ्रमन्ति राजमार्गश्च शून्य एतादृश्यामवस्थायां वञ्चना न विधेया, यतः रात्रिमध्ये बहुदोषसम्भावनाऽस्तीति भावः ॥ ५८ ॥

परिक्रम्येति—सुवर्णभाण्डं=कनकाभूषणमिति मृच्छकटिकेऽलङ्काराणां=भूष-णानां न्यासः=निक्षेपो यस्मिन्, अङ्के वर्णितः स प्रथमोऽङ्कः समाप्त इति । अत्रेति शब्दः समाप्तौ, इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु' इत्यमरोक्तेरिति शिवम् ।

इति प्रथमोऽङ्कः

अर्थात् मनुष्यों का आगमन बन्द हो गया है, केवल पहरा देनेवाले रक्षक इधर-उधर घूम रहे हैं । चोरी से बचना चाहिए (अर्थात् वसन्तसेनाके आभूषण को कहीं छिपाकर रखना चाहिए कि जिससे चोर न पा सकें) क्योंकि रात्रि दोष-वती होती है रात में ही प्रायः चोरी तथा अन्य प्रकार के अनर्थ हुआ करते हैं ॥ ५८ ॥

(घूमकर) रात्रि में इस सुवर्ण के आभूषण की रक्षा तुम (मैत्रेय) करना और दिन में इसकी रक्षा वर्द्धमानक करेगा ।

विदषक—जैसी आप की आज्ञा ।

(दोनों चले गये)

प्रथम अङ्क समाप्त ।

द्वितीयोऽङ्कः

चेटी—(प्रविश्य) अत्ताए अज्जआसआसं सन्देसेण पेसिदम्हि। ता जाव पविसिअ अज्जआसआसं गच्छामि। परिक्रम्यावलोक्य च। एसा अज्जआ हिअएण किंपि आलिहन्ती चिट्ठदि। ता जाव उपसप्पामि। (मात्रा आर्य्यासकाशं सन्देशेन प्रेषितास्मि। तद्यावत् प्रविश्य आर्यासकाशं गच्छामि। एषा आर्य्या हृदयेन किमप्यालिखन्ती तिष्ठति। तद्यावत् उपसर्पामि।)

(ततः प्रविशति आसनस्था सोत्कण्ठा वसन्तसेना मदनिका च।)

वसंत हञ्जे ! तदो तदो ?। (हञ्जे ! ततस्ततः ?)

चेटी—अज्जए ! ण किंपि मन्तेसि। किं तदो तदो ?। (आर्ये ! न किमपि मन्त्रयसि। किं ततस्ततः ?।)

प्रविश्येति—प्रविश्य सभ्यानां समक्षमात्मानमाविर्भाव्य मात्रा=वसन्तसेनायाः मात्रा आर्य्यायाः=वसन्तसेनाख्यायाः सकाशम्=समीपे सन्देशेन=वाचिकेन (सन्देशवाग् वाचिकं स्यादित्यमरः हेतुना, प्रेषिताऽस्मि तद्यावत् तस्माद्धेतोरिति भावः। प्रविश्य=प्रवेशं कृत्वा आर्य्यासकाशं=वसन्तसेनासमीपे गच्छामि= यामि। एषा आर्य्या=वसन्तसेना हृदयेन=चेतसा किमप्यालिखन्ती=किमपि चिन्तयन्तीति भावः। तिष्ठति। उपसर्पामि=गच्छामि।

ततः प्रविशति—प्रविशति=इत्यस्य सभ्यसमक्षमात्मानमाविर्भावयतीति भावः, विश् धातोः दृश्यकाव्ये दृष्टिगोचरत्वमेवार्थः।

वसन्त इति—हञ्जे=चेटा सम्बोधनम् (हे इति। तदो तदो) इत्युन्माददशा-रीत्युपन्यासः।

चेटीति—न किमपि मन्त्रयसि=कथयसि तथापि तदो तदो इति किं= कथं पृच्छसि।

चेटी—(आकर) माता (वसन्तसेना की माता) ने मुझे आर्या वसन्त-सेना के पास कुछ सन्देश कहने के लिए भेजा है। अतः प्रवेश कर वसन्तसेना के निकट चलती हूँ। यह आर्या कुछ सोचती हुई बैठी हैं। तब तक उनके समीप चलती हूँ।

(इसके बाद आसन पर बैठी हुई उत्कण्ठित वसंतसेना और मदनिका का प्रवेश)

वसन्तसेना—प्रिय दासी ! इसके बाद।

चेटी—आर्ये ! कुछ कहती तो हो नहीं, फिर 'इसके बाद' क्या ?

वसन्त—किं मए भणिदं ?। (किं मया भणितम् ?।)

चेटी—तदो तदो। (ततस्ततः ?।)

वसन्त—(सभ्रूक्षेपम्।) आं एव्व ?। (आं, एवम् ?।)

प्रथमा चेटी—(उपसृत्य) अज्जए ! अत्ता आदिसदि-ण्हादा भविअ देवदाणं पूअं णिव्वत्तेहि त्ति। (आर्ये ! माता आदिशति—स्नाता भूत्वा देवतानां पूजां निर्वर्त्तयेति।)

वसन्त—हञ्जे ! विण्णवेहि अत्तं, अज्ज ण ण्हाइस्सं ता वम्हणो ज्जेव पूअं णिव्वत्ते दु त्तिं। (हञ्जे ! विज्ञापय मातरम्, अद्य न स्नास्यामि ! तद् ब्राह्मण एव पूजां निवंर्तयतु इति।)

चेटी—जं अज्जआ आणवेदि। (इति निष्क्रान्ता।) (यदार्य्या आज्ञापयति।)

किमिति—भणितम् = उक्तम्।

चेटीति—तदो तदो इति उक्तम्।

वसन्त इति—आं=स्मरणार्थकमव्ययम्। एवम्=तदो तदो इति मया कथितम् ? (काकुः)

उपसृत्येति—उपसृत्य = समीपं गत्वा निर्वर्त्तय = विधेहि।

वसन्तसेना—मातरम् = जननीम् विज्ञापय = कथय ब्राह्मणाः = अर्चकविप्रः निर्वर्त्तयतु = पूजां करोत्वित्यर्थः।

वसन्त—मैंने क्या कहा ?

चेटी—'इसके बाद'।

वसन्त—(भृकुटी घुमाकर) अच्छा, इस प्रकार।

पहली चेटी—(समीप आकर) आर्ये ! माता जी की आज्ञा है कि स्नान करके आप देवताओं की पूजा सम्पादित कर दें।

वसन्त—प्रिय दासी ! माता जी से कहो कि आज मैं स्नान नहीं करूंगी। अतः ब्राह्मण ही पूजा कर ले।

चेटी—जैसी आप की आज्ञा।

मद—अज्जए ! सिणेहि पुच्छदि, ण पुरोभाइदाः, ता किं णेदं ?। (आर्ये ! स्नेहः पृच्छति, न पुरोभागिताः तत् किं न्विदम् ? ।)

वसन्त—मदणिए ! केरिसिं मं पेक्खसि ?। (मदनिके ! कीदृशीं मां प्रेक्षसे ? ।)

मद—अज्जआए सुण्णहिअअत्तणेण जाणामि-हिअअगदं कंपि अज्जआ अहिलसदि त्ति । (आर्य्यायाः शून्यहृदयत्वेन जानामि, हृदयगतं कमपि आर्य्या अभिलषतीति ।)

वसन्त—सुट्ठु, तुए जाणिदं । परहिअअग्गहणपण्डिआ मदणिआ क्खु तुमं । (सुष्ठु त्वया ज्ञातम् । परहृदयग्रहणपण्डिता मदनिका खलु त्वम् ।)

मद—पिअं मे पिअं । को क्खु णाम अज्ज अत्तभोदिए अणुग्गहिदो महूसवे तरुणजणो ता कधेदु अज्जआ, किं राआ राअवल्लहो वा

मद इति–पुरोभागिता=अवगुणैकदर्शिता ('दोषकदृक् पुरोभागी' इत्यमरः) अन्यमनस्कामिव त्वां दृष्ट्वा स्नेहेन पृच्छामि नतु दोषदृष्ट्या ।

मद इति—शून्यहृदयत्वेन=अन्यमनस्कतयेति भावः ।

वसन्त इति—ज्ञातम्=अवगतम् परस्य=अन्यस्य हृदयग्रहणे मानसिक-वृत्तिज्ञाने पण्डिता=चतुरा ।

मद इति—प्रियं मे प्रियं मे=त्वत्कर्तृकमिदमनुरागप्रकाशनमतिशयेन मम प्रीतिवर्द्धनम् अतिशायने द्विरुक्तिः अत्रभवत्या=पूज्यया ।

(चली गई)

मदनिका—आर्ये ! छिद्रान्वेषिता के भाव से नहीं बल्कि प्रेम से पूछती हूँ कि 'यह क्या बात है ?' (अर्थात् आप उद्विग्ना क्यों हैं ?)

वसन्त—मदनिके ! मुझे किस रूप में देखती हो ?

मदनिका—आप का सूना हृदय देखकर मैं समझती हूँ कि आप 'किसी' को हृदय से चाहती हैं ।

वसन्त—तुमने ठीक समझा । दूसरे की चित्तवृत्ति परखने में विदुषी तुम मदनिका हो न ।

मदनिका—बड़े आनन्द का विषय है । इस महोत्सव में कौन भाग्यशाली युवक आप से अनुगृहीत हुआ ? अच्छा, तो आप बतलावें कि कोई राजा अथवा राजवल्लभ सेवित हुआ है ?

सेवीअदि ? । (प्रियं मे प्रियम् । कः खलु नाम अद्य अत्र भवत्या अनुगृहीतो महोत्सवे तरुणजनः ? तत् कथयतु आर्य्या, किं राजा राजवल्लभो वा सेव्यते ?)

वसन्त—हञ्जे ! रमिदुमिच्छामि, ण सेविदुं । (हञ्जे ! रन्तुमिच्छामि, न सेवितुम् ।)

मद—विज्जाविसेसालङ्किदो किं कोवि वम्हणजुआ कामीअदि ? (विद्याविशेषालङ्कृतः किं कोऽपि ब्राह्मणयुवा काम्यते ?)

वसन्त—पूअणीओ मे वम्हणजणो ! (पूजनीयो मे ब्राह्मणजनः)

मद—किं अणेअ-णअराहिगमण-जणित्त-विहव-वित्थारो वणिअजुआ वा कामीअदि । (किम् अनेक-नगराभिगमन-जनित-विभवविस्तारो वाणिजयुवा वा काम्यते ?)

वसन्त इति—रन्तुमिच्छामि=कामोपभोगरसिकाऽस्मि, रमणं कर्तुमिच्छामि, न सेवितुम्=न तु द्रव्येच्छयैव शुश्रूषितुम् । एतेन चारुदत्तस्य दारिद्र्येऽपि तमेवालौकिकगुणवत्त्वेन मनोऽनुकूलतया कामये न तु द्रव्यलाभेन तदतिरिक्तमिति ध्वन्यते ।

मद इति—विद्याविशेषालङ्कृतः=ज्ञानविशेषविभूषितः, ब्राह्मणयुवा=ब्राह्मणतरुणः, काम्यते=अभिलष्यते ।

वसन्त इति—पूजनीयः=भोजनवस्त्रादिदानसम्मानाभ्यामर्हणीयः न तु कामोपभोगयोग्यः । अतः ब्राह्मणमहं न कामये इति भावः । पूजनीयाः विलासवैमुख्यं भजन्ते इत्याशयः ।

मद इति—अनेकेषु=बहुषु नगरेषु अभिगमनेन=व्यापारकरणार्थं गमनेन जनितः=उत्पादितः विभवस्य=धनस्य विस्तारः=आधिक्यम् यस्य सः । वाणिजः=वणिक् स चासौ युवा=तरुणः 'वैदेहकः सार्थवाहो नैगमो वाणिजो वणिक्' इत्यमरः ।

वसन्त—सखि ! रमण करना चाहती हूँ, सेवा करना नहीं ।

मदनिका—विद्या-भूषण से भूषित क्या युवक-ब्राह्मण की कामना करती हो ?

वसन्त—ब्राह्मणगण तो हमारे पूज्य हैं ।

मदनिका—अथवा अनेक नगरों में व्यापार करने से धनिक किसी युवक व्यापारी की कामना करती हो ?

वसन्त—हञ्जे ! उवारूडसिणेहं पि पणइजणं परिच्चइअ देसंतरगमणेण वाणिअजणो महन्तं विओअजं दुक्खं उप्पादेदि। (हञ्जे ! उपारूढस्नेहमपि प्रणयिजनं परित्यज्य देशान्तरगमनेन वाणिजजनो महत् वियोगजं दुःखमुत्पादयति)

मद—अज्जए ! ण राआ, ण राअवल्लहो, ण वम्हणो, ण वाणिअजणो ! ता को दाणि सो भट्टिदारिआए कामीअदि ? (आर्ये ! न राजा, न राजवल्लभः न ब्राह्मणः, न वाणिजजनः। तत् क इदानीं सः, भर्तृदारिकया काम्यते ?)

वसन्त—हञ्जे ! तुमं मए सह कामदेवाअदणुज्जाणं गदा आसि। (हञ्जे ! त्वं मया सह कामदेवायतनोद्यानं गता आसीः।)

मद—अज्जए ! गदह्मि। (आर्ये ! गतास्मि)

वसन्त—तहवि मं उदासीणा विअ पुच्छसि ? (तथापि मामुदासीनेव पृच्छसि ?)

जाणिदं। किं सो ज्जेव ? जेण अज्जआ सरणाअदा अब्भुववण्णा। (ज्ञातम्। किं स एव ? येनार्य्या शरणागता अभ्युपपन्ना।)

वसन्त इति—उपारूढः = विवृद्धः; स्नेहः = प्रेमा यस्य तम् अनुरागिजनम्। आसक्तामनुरागातिभूमिं गतामपि प्रेमिकामिति भावः।

मद इति—भर्तृदारिकया = राजकुमार्य्या 'राजा भट्टारको देवस्तत्सुता भर्तृदारिका' इत्यमरः। काम्यते = ईप्स्यते तत् क इदानीं यः भर्तृदारिकया ईप्स्यते स इति यत्तच्छब्दयोर्नित्यसाकाङ्क्षत्वादवगम्यते।

वसन्त इति—कामदेवस्य=मदनस्य आयतनोद्यानम्=आयतनवाटिकाम्।

वसन्त इति—तथापि = तत्र गत्वापि उदासीनेव = अज्ञा।

मद इति—आर्य्या = भवती शरणागता = आश्रयं याचमाना अभ्युपपन्ना = शरणदानाय स्वीकृता इति भावः।

वसन्त—व्यापारी लोग तो अत्यन्त स्नेहपात्रप्रेमियों को भी छोड़कर दूसरे देश में चले जाते हैं, अतः वे वियोग रूप दुःख उत्पन्न करते हैं।

मदनिका—आर्ये; न राजा है, न राजवल्लभ, न ब्राह्मण, न व्यापारी। तब वह कौन है ? जिससे श्रीमती जी (आप) की आँखें लड़ गई हैं।

वसन्त—अरी ! तू हमारे साथ 'कामदेवायतन उद्यान' में गई थी ?

मदनिका—आर्ये ! गई थी।

वसन्त—फिर भी अनजान सी मुझ से पूछती है ?

मदनिका—अच्छा, जान गई। क्या वही ? जिसकी शरण में आप गई थीं।

वसन्त—कि णामहेओ क्खु सो ? (किंनामधेयः खलु सः ?)

मद—सो क्खु सेट्ठिचत्तरे पडिवसदि। (स खलु श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति।)

वसन्त—अइ ! णामं पुच्छिदासि। (अयि ! नाम पृष्टासि)

मद—सो क्खु अज्जए ! सुगहीदणामहेओ अज्जचारुदत्तो णाम। (स खलु आर्ये ! सुगृहीतनामधेय आर्यं चारुदत्तो नाम।)

वसन्त—(सहर्षम्।) साहु ! मदणिए ! साहु। सुट्ठु तुए जाणिदं। (साधु मदनिके ! साधु, सुष्ठु त्वया ज्ञातम्)

मद—(स्वगत) एव्वं दाव। (प्रकाशम्) अज्जए ! दलिद्दो क्खु सो सुणीअदि। (एवं तावत्। आर्ये ! दरिद्रः खलु स श्रूयते)

वसन्त—अदो ज्जेव कामीअदि। दलिद्दपुरिससङ्कन्तमणा क्खु गणिआ लोए अवअणीआ भोदि। (अत एव काम्यते ! दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमनाः खलु गणिका लोके अवचनीया भवति)

मद इति—श्रेष्ठिनाम्=वणिजाम्, चत्वरे=निवासस्थाने (लक्षणयाऽयमर्थो बोध्यः)।

मद इति—नामधेयम्=सुगृहीतम्=सम्यज्जनैरपि श्रद्धया गेयम्। (औदर्यातिरेकादिति शेषः) नामधेयम्=नाम यस्य सः। 'आख्याह्वे अभिधानं च नामधेयं च नाम चे'त्यमरः।

मद इति—एवं तावत्=वक्ष्यमाणप्रकारेणोक्त्वाऽस्याश्चारुदत्तेऽनुरागं ज्ञास्यामीति वाक्याभिप्रायः।

वसन्त इति—दरिद्रपुरुषे संक्रान्तम्=अत्यनुरक्तम् मनः=हृदयम् यस्याः सा। अवचनीया=अदूषणीया (धनलोभसम्भूतगर्हाविरहात् इति शेषः।)

वसन्त—उनका नाम क्या है ?

मदनिका—वे बनियों के महल्ले में रहते हैं।

वसन्त—अरी ! मैंने नाम पूछा है।

मदनिका—आर्ये ! उनका नाम, स्वनामधन्य आर्ये चारुदत्त हैं।

वसन्त—(प्रसन्न होकर) वाह ! मदनिके वाह !! तुमने ठीक समझा।

मदनिका—(मन में) ठीक है। (प्रकट) आर्ये ! सुनती हूँ कि वे निर्धन हैं।

वसन्त—इसीलिए तो मैं उन्हें चाहती हूँ। निर्धन पुरुष में आसक्त होने वाली वेश्या संसार में निन्दनीय नहीं समझी जाती।

मद—अज्जए ! किं हीणकुसुमं सहआरपादवं महुअरीओ उण सेवन्ति ? (आर्ये ! किं हीनकुसुमं सहकारपादपं मधुकर्य्यः पुनः सेवन्ते ?)

वसन्त–अदो ज्जेद ताओ महुअरीओ वुच्चन्ति। (अत एव ता मधुकर्य्यं उच्यते)

मद—अज्जए ! जइ सो मणीसिदो, ता कीसदाणिं सहसा ण अहिसारीअदि ? (आर्ये ! यदि स मनीषितः, तत् केनेदानीं सहसा नाभिसार्य्यते ?)

वसन्त—हञ्जे ! सहसा अहिसारीअन्तो पच्चुअआरदुव्वलदाए मा दाव-

मद इति—सहकारपादपम् = रसालवृक्षम् 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभः' इत्यमरः। हीनकुसुमम् = अमञ्जरीकम् किं मधुकर्य्यः सेवन्ते = अभिलषन्ति (न सेवन्ते इति भावः) तथैव क्षीणधनं गणिका अपि मानवं नाङ्गीकुर्वन्तीति किम् त्वमप्यकिञ्चनं चारुदत्तं कामयस इति भावः। अप्रस्तुतप्रशंसानामालङ्कारः।

वसन्त इति–अत एव=पुष्पशून्यसहकारवृक्षसेवनादेव मधु क्षौद्रं कुर्वन्तीति मधुकर्यः=क्षौद्रकर्य्यः, 'मधु क्षौद्रं माक्षिकादो'त्यमरः। पुष्परसैरेव भ्रमरीभिर्मधु क्रियते अतस्तासां पुष्पितपादपसेवनमावश्यकम् मम=वसन्तसेनायाः तु गुणैक पक्षपातित्वेन धनलोभाभावात् धनिकजनसेवनमनावश्यकमिति भावः। मधु कुर्वन्ति = सेवन्ते मत्ता इत्यर्थः इति पृथ्वीधरः। एतन्मते गतविभवमिव हीनकुसुमपादपं न सेवन्ते भ्रमर्य्यः अत एव मत्ताः = विचारशून्याः कथ्यन्ते। नैषा रीतिर्विवेकिनां ते तु गतविभवमपि गुणिनं सम्मानयन्तीति तद्वदहमपि दरिद्रं चारुदत्तं समागतेति तात्पर्य्यम्—अत्र—अक्षरसंघातो नाम नाटचलक्षणम् = 'वर्णनाक्षरसंघातश्चित्रार्थैरक्षरैर्मितैः' इति साहित्यदर्पणलक्षात् इति भट्टाचार्य्याः।

मद इति—मनीषितः = वाञ्छितः केन = हेतुना अभिसार्यते = दूतीद्वारा संकेतस्थानं प्राप्यते।

वसन्त इति—प्रत्युपकारे = उपकारमवाप्योपकारिणं प्रति क्रियमाण उपकारे दुर्बलतया = अशक्ततया (धनाभावादिति शेषः)। दुर्लभदर्शनः स जनः = चारुदत्तः

मदनिका—आर्ये ! मञ्जरियो से रहित आम्रवृक्ष का क्या मधुकरियाँ (भ्रमरियाँ) सेवन करती हैं ?

वसन्त—इसीलिए तो उनका नाम 'मधुकरी' है।

मदनिका—आर्ये ! यदि उन से दिल लग गया है, तो क्यों नहीं शीघ्र उनसे किसी रूप से मिलती हैं ?

वसन्त—सखि ! प्रत्युपकार करने में असमर्थ उनसे गुप्त रूप से नहीं मिला

सो जणो दुल्लहदंसणो भविस्ससदि। (हञ्जे! सहसा अभिसार्यमाणः प्रत्युपकारदुर्बलतया मा तावत्, स जनो दुर्लभदर्शनो पुनर्भविष्यति)

मद—किं अदो ज्जेव सो अलङ्कारो तस्स हत्थे णिक्खित्तो ?। (कम् अत एव सोऽङ्कारस्तस्य हस्ते निक्षिप्तः ?)

वसन्त—सुट्ठु दे जाणिदं। (सुष्ठु ते ज्ञातम्)

नेपथ्ये—अले भट्टा! दश-सुवण्णस्स लुद्धु जूदअरु पपलीणु पपलीणु। ता गेण्ह, गेण्ह, चिट्ठ, चिट्ठ, दूलात् पदिट्ठोसि ?। (अरे भट्टारक! दशसुवर्णस्य रुद्धो द्यूतकरः प्रपलायितः प्रपलायितः। तद् गृहाण गृहाण! तिष्ठ तिष्ठ, दूरात् प्रदृष्टोऽसि)

मा भविष्यति = न भविष्यति (भविष्यत्येवेति भावः) दुर्लभदर्शनः=मृतः 'प्रतिकर्तुमशक्तस्य जीवनान्मरणं वरमिति' शिष्टाचारात्।

मद इति—अत एव=दारिद्र्यमूलक=प्रत्युपकार–दुर्बलतामनुमाय 'नाहं धनलुब्धा अपितु त्वद्गुणानुरक्तेति विश्वासिहीति' विचारादेव अलङ्कारः=भूषणं भाण्डम् तस्य=चारुदत्तस्य हस्ते निक्षिप्तः=न्यासीकृतः।

वसन्त इति—सुष्ठु=साधु ज्ञातमिति कर्मणऽविवक्षया भावे क्तप्रत्ययः तद्योगे शेषत्वविवक्षायां षष्ठी से इति त्वया ज्ञातमिति भावः।

हञ्जे! तदो इत्यारभ्य एतदन्तं यावत् उद्भेदो नाम मुखसन्धेरङ्गम् अनुरागरूपस्य बीजार्थस्य नायिकागतत्वेन पुनरपि प्ररोहात् 'बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेद' इति दर्पणलक्षणात्। न च विधानं परिभावनाञ्च नाम अङ्गमुल्लङ्घ्य प्रागुद्भेदनिवेशे आलङ्कारिकक्रमविपर्ययः इति वाच्यम्। एतानि (ईपक्षेप=परिकर–परिन्यास रूपाणि) चाङ्गानि उक्तनैव पौर्वापर्येण भवन्ति अङ्गान्तराणि तु अन्यथापि इति दर्पणकृतैवाभिहितत्वात् इति भट्टाचार्याः।

नेपथ्ये इति—नाटकेऽसूचितपात्रप्रवेशनिषेधात् संवाहकस्य (द्यूते दशसुवर्णान् जित्वा पलायमानस्य) प्रवेशं सूचयन् नेपथ्यात् माथुरो वदति अले भट्टेत्यादि

जा सकता। पुनः उनका दर्शन दुर्लभ हो जायगा।

मदनिका—क्या ? इसीलिए वह आभूषण उनके हाथ में दिया गया है।

वसन्तसेना—हां, तुमने ठीक समझा।

नेपथ्य में—अरे स्वामी! दश-सुवर्ण (अस्सी रत्ती सोना) के लिये बांधा हुआ जुआड़ी भाग गया, भाग गया। उसे पकड़ो-पकड़ो। ठहरो-ठहरो, दूर ही से मैंने तुम्हें देख लिया।

(प्रविश्य अपटीक्षेपेण संभ्रान्तः संवाहकः कट्टे एशे जूदिअलभावे ! हीमाणहे ! (कष्ट एष द्यूतकरभावः । आश्चर्यम् !)

णव-वन्धण-मुक्काए विअ गद्दहीए हा ! ताडिदोम्हि गद्दहीए ।
अङ्गलाअमुक्काए विअ शत्तीए घडुक्को विअ घादिदोम्हि शत्तीए ॥१॥

(नव-बन्धन-मुक्तयेव गर्दभ्या हा ताडितोऽस्मि गर्दभ्या ।
अङ्गराज-मुक्तयेव शक्त्या घटोत्कच इव घातितोऽस्मि शक्त्या ॥ १ ॥)

दशानां सुवर्णानाम्=स्वर्णदीनाराणाम् समाहारः दशसुवर्णम् तस्य द्यूते हारितत्वात् (दशसुवर्णस्य धारक इति शेषः) रुद्धः = तद्दानायावरुद्धः द्यूतकरः=अक्षक्रीडाकारकः प्रपलायितः-अदत्त्वैव इतोऽपसृतः । तत्=तस्मात् कारणात् तिष्ठ रे संवाहक = स्थितो भव ।

प्रविश्येति—अपटीक्षेपेण = पठ्याः यवनिकायाः क्षेपः न पटीक्षेपः अपटीक्षेपः तेन = यवनिकाक्षेपं विना 'पटीक्षेपो न कर्त्तव्यः आर्त्तराजप्रवेशने' इत्यनुशासनात् आर्त्तस्य संवाहकस्य अपटीक्षेपेण प्रवेशो न विरुद्धः एष द्यूतकरस्य भावः= द्यूतक्रीडा कष्टः=कष्टदायकः ।

अन्वयः—नवबन्धनमुक्तया गर्दभ्या इव गर्दभ्या ताडितोऽस्मि हा अङ्गराजमुक्तया शक्त्या घटोत्कच इव शक्त्या ताडितोऽस्मि ।

नवेति नवबन्धनान्मुक्ता तया=सद्यश्छिन्नबन्धनया गर्दभ्या=रासभस्त्रिया इव गर्दभ्या=पणनवराटिकया हा ताडितोऽस्मि दशसुवर्णदानासमर्थत्वेव दण्डितोऽस्मि । अङ्गस्य=इदानीं भागलपुरनाम्ना प्रसिद्धस्य राजा=शासकः कर्ण इत्यर्थः तन्मुक्तया शक्त्या घटोत्कच=भीमपुत्र इव शक्त्या यष्टि विशेषेण अहमपि ताडितोऽस्मि द्वे चात्र श्रौत्यो उपमे इवशब्दघटितत्वात् यमके च द्वे एषां च संसृष्टिः ॥

सरलार्थ—शीघ्रबन्धनच्युतगर्दभीव पणार्थरक्षितकपर्दनिक्षेपैः हारितसुवर्ण दातुमसमर्थत्वात् प्रहतोऽस्मि इति पृष्टम् । अन्यच्च कर्णमुक्तशक्तिघातितघटोत्कच इव यष्टिविशेषेण केनचित् प्रयोजकेन प्रहारितोऽस्मि ॥ १ ॥

(यवनिका के बिना गिरे ही घबड़ाए हुए संवाहक का प्रवेश)

संवाहक— जुआ भी बड़ा कष्टप्रद है ! आश्चर्य है—

शीघ्र बन्धन से खुली हुई गधी के समान कौड़ी से मैं मारा गया ! ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कर्ण से छोड़ी शक्ति के द्वारा घटोत्कच मारा गया था ॥

लेखअ–ववड़–हिअअं शहिअं दट्टुण झत्ति पब्भट्टे ।
एण्हिं मग्ग-णिवडिदो कं णु क्खु शलणं पपज्जे ॥ २ ॥
(लेखक-व्यापृत-हृदय समिकं दृष्ट्वा झटिति प्रभ्रष्टः ।
इदानीं मार्गनिपतितः कं नु खलु शरणं प्रपद्ये ॥ २ ॥

ता जाव एदे शहिअ-जूदिअला अण्णदो मं अण्णेशन्ति, ताव इदो विप्पडीवेहि पादेहि एदं शुण्णदेउलं पविशिअ देवीभविश्शं (बहुविधं नाट्यं कृत्वा तथा स्थितः ?) (तद्यावत् एतौ समिक–द्यूतकरौ अन्यतो मामन्विष्यतः, तावत इतो विप्रतीपाभ्यां पादाभ्यामेतत् शून्यदेवकुलं प्रविश्य देवीभविष्यामि)

लेखकेति । लेखके–लेखने व्यापृतम्=आसक्तम् हृदयं यस्य सः=द्यूतसम्बन्ध्या-यव्ययादिलेखकरणपरायणः तम् समिकम्=द्यूतकारकम् 'समिका द्यूतकारकाः' इत्यमरः । दृष्ट्वा झटिति=त्वरितम् प्रभ्रष्टः=पलायितः (अवसरं प्राप्येति शेषः) इदानीम्=अधुना राजमार्गे=राजकीयपथे निपतितः=समुपस्थितः=कं नु खलु जनं=लोकं शरणम् प्रपद्ये=श्रये । अत्र अक्षद्युसमवायतः संवाहकस्य निःसरणेन तत्संहतिभेदनात् भेदो नाम मुखसन्धेरङ्गम् 'भेदः संहतभेदनम्' इति दर्पणोक्तेः 'संघातभेदनार्थो यः स भेद इति कीर्त्तितः' इति ऋषिणाप्युक्तत्वात् । गाथा इति पृथ्वीधरः वृत्तस्य नामैतत् ॥ २ ॥

सरलार्थः—द्यूतसम्बन्धि यत् किंचित् तल्लेखनासक्तहृदयं द्यूताध्यक्षमवलोक्य पलायितोऽहम् मार्गे वर्तमानः कं जनं रक्षकं प्राप्नोमि इति भावः ॥ २ ॥

तदिति–समिकद्यूतकरौ=द्यूताध्यक्षाक्षक्रीडाकारकौ विप्रतीपाभ्याम्=विपरीता-भ्याम् पादाभ्याम् शून्यम्=देवप्रतिमारहितम् देवकुलम्=देवायतनम् प्रविश्य= प्रवेशं विधाय देवी भविष्यामि न देवः अदेवः देवः भविष्यामि इति देवी-भविष्यामि 'कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः' इति च्वौ कृते 'अस्य च्वौ' इतीत्वम् 'अभूततद्भाव इति वक्तव्यम्' इति वार्तिकेनैतदर्थत्वं च्विप्रत्ययस्य बोधितम् । कप-टेन रूपान्यत्करणात्, 'कपटं मायया यत्र रूपमन्यद्विभाव्यत' इति दर्पणोक्तेः कपट-नाम नाट्यालङ्कारः ।

समिक (जूआ के अध्यक्ष) का कुछ लिखने में संलग्न देखकर मैं शीघ्र भाग निकला । और सड़क तक पहुँच आया किन्तु अब रक्षा के लिए किसकी शरण में जाऊँ ॥ २ ॥

जब तक ये समिक और जुआड़ी मुझे खोजते हुए कहीं दूसरी ओर चले जाँय तब तक मैं उलटे पाँवों इस शून्य मन्दिर में प्रवेश कर देवी बन जाता हूँ । (विविध प्रकार का अभिनय करता हुआ देवी बन जाता है)

(ततः प्रविशति माथुरो द्यूतकरश्च)

माथुरः । अले भट्टा ! दशसुवण्णाह लुद्धु जूदअरु पपलीणु पपलीणु । ता गेण्ह गेण्ह चिट्ठ चिट्ठ, दूलात् पदिट्ठोसि । (अयमंशस्तु प्रागेवानूदितः)

द्यूत—जइ वज्जसि पादालं इन्दं शलणं जासि ।
सहिअं वज्जिअ एक्कं रुद्दो वि ण रक्खिदुं तरइ ॥ ३ ॥
(यदि व्रजसि पातालमिन्द्रं शरणं यासि ।
सभिकं वर्जयित्वा एकम् रुद्रोऽपि न रक्षितुं तरति ॥ ३ ॥

माथुरः—कहिं कहिं सुसहिअ-विप्पलम्भआ !
पलासि ले ! भअपलिवेविदङ्गआ ।

तत इति—माथुरो नाम सभाध्यक्षः द्यूतकरश्चान्यः कश्चित् इमौ द्वौ प्रविशतः यदीतिपाठपरामर्शः—'इन्द्रः शलणं च संपदं यासि' इति द्वितीयापादस्य रूपम् निर्णयसागरमुद्रणालयपुस्तकगतपाठस्तत्रस्थपृथ्वीधरकृतव्याख्याप्रतिपादितार्थवृत्ति-निर्देशाभ्यामेतन्निर्णीयते । भट्टाचार्यटीकाविभूषितेषु 'इन्द्रं शलणं यासि' इति न्यूनं दृश्यते ।

अन्वयः—यदि पातालं व्रजसि इन्द्रं शरणं च यासि एकं सभिकं वर्जयित्वा रुद्रः अपि रक्षितुं न तरति ।

यदीति—यदि त्वं पातालम् = अधोलोकं व्रजसि = गच्छसि साम्प्रतम् = इन्द्रं = मघवानं शरणं च यासि = आत्मरक्षणार्थं गच्छसि एकं सभिकम् = द्यूताध्यक्षम् वर्जयित्वा = हित्वा रुद्रः = शङ्करः अपि अपिशब्देनेन्द्रोऽपि विवक्षितः त्वां रक्षितुं = त्रातुं न तरति = न समर्थोऽस्ति ॥ ३ ॥

सरलार्थः—यदि आत्मरक्षार्थं पातालं वा इन्द्रशरणं वा गच्छसि तथाऽपि द्यूतसभाध्यक्षं परित्यज्य शंकरोऽपि रक्षितुं न पारयिष्यति, का कथा इतरेषामिति भावः ॥

(इसके बाद माथुर और जुआड़ी का प्रवेश)

माथुर—अरे स्वामी ! दश-सुवर्ण के लिए बाँधा हुआ जुआड़ी भाग गया, भाग गया । उसे पकड़ो-पकड़ो ठहरो-ठहरो ! दूरी ही से मैंने तुम्हें देख लिया ।

द्यूतकर—यदि आत्मरक्षा के लिए तुम पाताल में चले जाओ या इन्द्र की शरण में चले जाओ । किन्तु सभिक (जूओं के अध्यक्ष) के सिवा शिव भी तुम्हारी रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं ॥ ३ ॥

माथुर—स्वामी को धोखा देने वाले एवं भय से विकम्पित शरीर वाला

पदे पदे मम-विसमं खलन्तआ
कुलं जसं अदिकसणं कलेन्तआ ॥ ४ ॥

(कस्मिन् कस्मिन् सुसमिकविप्रलम्भ ! पलायसे रे भयपरिवेपिताङ्गक ! ।
पदे पदे समविषमं स्खलन् कुलं यशः अतिकृष्णं कुर्वन् ॥ ४ ॥)

द्यूत—(पदं वीक्ष्य) एसो वज्जदि, इअं पणट्टा पदवी । (एस व्रजति, इयं प्रनष्टा पदवी)

माथुरः—(आलोक्य सवितर्कम्) अले ! विप्पदीवु पाद । पाडिमाशुण्णु देउलु । (विचिन्त्य) धुत्तु जूदअरु विप्पदीवेहिं पादेहिं देउलं

अन्वयः—रे सुसमिकविप्रलम्भक ! भयपरिवेपिताङ्गक ! पदे पदे समविषमं स्खलन् कुलं यशः अतिकृष्णं कुर्वन् कस्मिन् पलायसे ।

कस्मिन्निति—सुसमिकम्=न्यायिनं द्यूताध्यक्षम् विप्रलम्भयतीति सुसमिकविप्रलम्भक ! द्यूताध्यक्षप्रतारक ! भयेन परिवेपितानि=थरथरायमाणानि अङ्गानि=शरीराणि तस्य तत्सम्बुद्धौ । पदे पदे=प्रतिपादन्यासम् समम् = समानम् विषमम्=उच्चावचम् च यथा स्यात्तथा स्खलन्=भयत्वराभ्यां गतौ भ्रश्यन् कुलम्=स्वकुलम् यशः=वंशकीर्तिम् च अतिकृष्णं च कलुषितम् (देयधनस्यादानात्) कस्मिन् कस्मिन् देशे विदेशे वा पलायसे=पलायनं कृत्वाऽऽत्मानं गोपयसि । (मत्तः सकाशात् त्वं न निःसरिष्यसि) 'जभौ सजौ गिति रुचिरा चतुर्ग्रहैरिति लक्षणात् रुचिरा वृत्तम् ॥४॥

सरलार्थः—सरलव्यवहारनिपुणस्य प्रतारक ! भयकम्पितगात्र ! प्रतिपदं गमनं भ्रश्यन् स्वकीयं वंशं यशश्चातिमलिनं विदधत् क्व गच्छसि—इत्यर्थः ॥ ४ ॥

द्यूत इति—पदम्=लक्ष्म–चिह्नम्, 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । वीक्ष्य=दृष्ट्वा (चरणचिह्नं) दृष्ट्वा एष व्रजति=गच्छति (चिह्नानुसन्धानेनानुमिनोमि) पदवी=मार्गः, प्रनष्टा=लुप्ता 'अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः' इत्यमरः । चरणचिह्नाभावादितः परं मार्गो नास्तीति यावत् ।

माथुर इति—सवितर्कम्=सानुमानम् (वदतीति शेषः) अरे=त्वं प्रत्येव वितर्कं

संवाहक !! स्थान-स्थान पर ऊंची-नीची भूमि पर गिरते–पड़ते अपनी कीर्ति को कलङ्कित करता हुआ तू कहाँ कहाँ भाग सकता है ॥ ४ ॥

द्यूतकर—(पदचिन्ह देखकर) यहां तक चिह्न हैं, इसके आगे पैरों के चिह्न नहीं दीखते ।

माथुर—(विचारपूर्वक देखकर) अरे उलटे पदचिह्न ! मन्दिर शून्य है ।

धूर्त जुआड़ी उलटे पाँवों देवमन्दिर में घुस गया है ।

पविट्ठो। (अरे! विप्रतीपौ पादौ, प्रतिमाशून्यं देवकुलम्, धूर्तो द्यूतकरो विप्रतीपाभ्यां पादाभ्यां देवकुलं प्रविष्टः।

द्यूत—ता अणुसरेम्ह।)

माथुर एव्वं भोदु। (एवं भवतु)

(उभौ देवकुलप्रवेशं निरूपयत। दृष्ट्वा अन्योन्यं संज्ञाप्य)

द्यूत—कथं कट्ठमई पडिमा। (कथं काष्ठमयी प्रतिमा)

माथुर अले! णहु णहु। शैलपडिमा। (इति बहुविधं चालयति। संज्ञाप्य च) एव्वं भोदु! एहि जूदं किलेम्ह। (अरे! न खलु न खलु। शैलप्रतिमा। एवं भवतु। एहि द्यूतं क्रीडावः)

मुद्रया सम्बाधनपदमिदम्, विप्रतीपौ देवालयान्निर्गत्य मुख्यमार्गमभिगच्छतो जनस्य विपरीतौ पादौ=चरणौ वर्तेते। ननु पूजां कृत्वा देवगृहात्कश्चिन्निर्गतो भवेदित्याशङ्क्य कथयति। देवकुलम्=देवालयम् प्रतिमाशून्यम्=देवप्रतिमारहितम्। (ज्ञातपूर्वमेतदिति भावः) अतः तत्पूजनाय कस्यचिदागमनमसम्भवि आगमनं विनैव निर्गमनं तु दूरापास्तम्। धूर्तः=परप्रतारणचतुरः, द्यूतकरः=संवाहकः स एव विप्रतीपाभ्याम् विपरीतपादाभ्यां देवकुलं देवालयम्=प्रविष्टः। अस्माकं वञ्चनार्थम् देवकुलात् निःसरणक्रियां दर्शयितुं पश्चादपसरणक्रमेण गच्छन् देवकुलं प्रविष्ट इति निष्कर्षार्थः। पृष्ठं दर्शयित्वा गन्तव्याभिमुखं गच्छतो जनस्य तत आगच्छत इव चरणविन्यास उत्पद्यत इति स्वभावः।

द्यूत इति—तदनुसरावः—देवालयमावां गच्छावः।

उभाविति—संज्ञाप्य=चेष्टादिना सङ्केतयित्वा।

द्योत इति—कथम्=किम् काष्ठमयी प्रतिमा=पाषाणमय्या धातुमय्याश्च प्रतिमायाः इवास्या देदीप्यमानत्वाभावत् दारुमयी इति वितर्कः। कुतर्कोऽयं बोध्यः।

माथुर इति—शैलप्रतिमा=संवारकस्यातिकृष्णवर्णत्वात् शिलामयी प्रतिमा इति कौतुकोक्तिः संवाहकस्यातिद्यूतासक्तत्वात् तत्क्रीडालोभेन स्वयमेव साक्षा-

---

द्यूतकर—अच्छा, हम दोनों पदचिन्हों का अनुसरण करे।

माथुर—ऐसा ही करें।

(दोनों देवमन्दिर में प्रवेश करते हैं देखकर और परस्पर समझ कर)

द्यूतकर—क्या काठ की मूर्ति है ?

माथुर—अरे ? नहीं नहीं, पत्थर की मूर्ति है। (उसे हर तरह से हिला कर और समझ कर) जो हो। आओ जूआ खेलें!

(बहुविधं द्यूतं क्रीडति)

संवा—(द्यूतेच्छाविकारसंवरणं बहुविधं कृत्वा) (स्वगतम्) अले ! (अरे !)

कत्ताशद्दे णिण्णाणअश्श हलइ हडकं मणुश्शश्श ।
ढक्काशद्देव्व णडाधिवश्श पब्भट्टलज्जश्श ॥ ५ ॥
(कत्ताशब्दो निर्नाणकस्न हरित हृदयं मनुष्यस्य ।
ढक्काशब्द इव नराधिपस्य प्रभ्रष्टराज्यस्य ॥ ५ ॥)
जाणामि ण कीलिश्शं शुमेलु–शिहल–पडण–शण्णिहं जूद !
तह वि हु कोइलमहुले कत्ताणद्द मणं हलदि ॥ ६ ॥

द्भविष्यतीति मनसा विनिश्चित्य आह–एहि आगच्छ द्यूतं क्रीडावः=द्यूतक्रीडां कुर्वः अत्र 'कुतूहलोत्तरा वाचः प्रोक्ता तु परिभावना' इति दर्पणोक्तलक्षणात् परिभावना नाम मुखसन्धेरङ्गम् ।

अन्वयः–कत्ताशब्दः निर्नाणकस्य मनुष्यस्य हृदयम् प्रभ्रष्टराज्यस्य नाराधिपस्य ढक्काशब्द इव हरति ।

कत्तेति—कत्ताशब्दः=द्यूते व्यवहृतः तदानीं प्रसिद्धः निर्नास्ति नाणकम् धनं यस्य सः निर्नाणकः तस्य=दरिद्रस्य मनुष्यस्य=जनस्य हृदयं=चेत हरति=आकर्षति । भ्रष्टराज्यस्य=नष्टश्रियः नराधिपस्य=राज्ञः, ढक्काशब्दः=अन्यत्रसंजात-ढक्कानाद इव हरि यथा नष्टराज्यस्य राज्ञः महोत्सवादौ वाद्यविशेषः चित्तमाकर्षति तथैव निर्धनस्य चित्तं द्यूतक्रीडा आकर्षति । अत्र—श्रौती उपमा, अप्रस्तुतप्रशंसा अनयोः संसृष्टिः ॥ ५ ॥

सरलार्थः—द्यूतक्रीडायां जायमानकत्ताशब्दो निर्धनस्य नष्टराज्य राज्ञः ढक्का शब्द इव मनः स्वविषये आकर्षतीति भावः, साधनाभावात् तत्र न प्रवर्तते इव त्वन्यदेतत् ॥ ५ ॥

(अच्छी तरह से जुआ खेलता है)

संवाहक—(जुआ खेलने की इच्छा से वैसी आकृति करके)

(मन ही मन) अरे !

राज्य से च्युत राजा जिस प्रकार महोत्सव के समय दूसरे के घर में बाजाओं की ध्वनि सुनकर चिन्तित हो जाता है उसी प्रकार कत्ता (जुआ का संकेत विशेष) शब्द सुनकर निर्धन पुरुष का मन उसी ओर खिंच जाता है और चिन्तित हो जाता है ॥ ५ ॥

मैं जानता हूँ कि सुमेरु पर्वत के शिखर पर से गिरने के समान जुआ

(जानामि न क्रीडिष्यामि सुमेरु–शिखर–पतन–सन्निभं द्यूतम् ।
तथापि खलु कोकिलमधुरः कत्ताशब्दो मनो हरति ॥ ६ ॥)

द्यूत—मम पाठे मम पाठे । (मम पाठे मम पाठे)

माथुर—णहु । मम पाठे मम पाठे । (न खलु ! मम पाठे मम पाठे)

संवा—(अन्यतः सहसोपमृत्य ।) णं मम पाठे । (ननु मम पाठे)

द्यूत—लद्धे गोहे । (लब्धः पुरुषः)

माथुरः—(गृहीत्वा) अले लुत्तदण्डा ! गहीदोसि । पअच्छतं दश-सुवण्णं ! (अरे लुप्तदण्डक ! गृहीतोऽसि । प्रयच्छत तत् दशसुवर्णम्)

अन्वयः—सुमेरु–शिखर–पतन–सन्निभम् न क्रीडिष्यामि जानामि तथापि कोकिलमधुरः कत्ताशब्दः मनः हरति खलु ।

जानामीति—सुमेरोः=हैमाद्रेः शिखरात् पतनम्=भ्रंशनम् धनक्रीडायाः धन-बाहुल्यसाध्यत्वेन धनिकानामेव ततः सुखावाप्तिः निर्धनानामस्माकन्तु पणोप-योगिधनाभावत् सुमेरुपर्वतात् पतनमिव कष्टदायकम् इति हृदयम् । द्यूतं न क्रीडिष्यामि (धनाभावादिति शेषः) इत्यहं जानामि । तथापि कोकिलशब्दः कोकिलरव इव श्रूयमाणः कत्ताशब्दः मम मनो हरति । अत्र समासलुप्तोपमा । आर्या-जातिः ॥ ६ ॥

सरलार्थः—स्वर्गसन्निभे सुमेरुपर्वतशिखरे गमनमिव सुखकरं द्यूतं न क्रीडिष्यामि तथाऽपि कोकिलाऽऽलाप इव सुमधुरः कत्ताशब्दो मानसं द्यूतं प्रति बलाद् कर्षतीति भावः ॥ ६ ॥

द्यूत इति—मम पाठे=अक्षक्रीडायां तदानीं प्रचलितः शब्दोऽयम्, यथा अधुना ग्राम्यभाषायां (मेरा दांव इति) ।

द्यूत इति—लब्धः=प्राप्तः पुरुष=जनः (साथी) इति भाषा द्वौ द्वौ मिलित्वाऽपि द्यूतं खेलन्ति ।

माथुर इति—लुप्तः=अदर्शनं गतः दण्डः—दशसुवर्णात्मकहारितविभवरूपः येन तत्सम्बुद्धौ ।

अनिष्ट कर है, अतः मैं जूआ नहीं खेलूंगा, फिर भी कोकिल के मधुर कूक के समान कत्ता शब्द मेरा मन आकर्षित किए जा रहा है ॥ ६ ॥

द्यूतकर—मेरा दांव है मेरा ।

माथुर—नहीं-नहीं । मेरा दांव है जो मेरा दांव है ।

संवाहक—(दूसरी ओर से सहसा समीप आकर) नहीं जी मेरा दांव है ।

द्यूतकर—वह अपराधी पुरुष पकड़ा गया ।

माथुर—(पकड़ कर) अरे, दण्ड न देनेवाले अपराधी ; तुम पकड़ गए हो । अब वह दस सुवर्ण दो ।

संवा—अज्ज दइश्शं। (अद्य दास्यामि)

माथुरः—अहुणा पअच्छ। (अधुना प्रयच्छ)

संवा—दइश्शं वशादं कलेहि। (दास्यामि प्रसादं कुरु)

माथुरः—अले ! णं संपदं पअच्छ। (अरे ! ननु साम्प्रतं प्रयच्छ)

संवा—शिलु पड़दि। (इति भूमौ पतति।) (शिरः पतति)

(उभौ बहुविधं ताडयतः)

माथुरः—एसु तुमं हु जूदिअर-मण्डलीए बद्धोसि। (एष त्वं खलु द्यूतकरमण्डल्या बद्धोऽसि)

संवा—(उत्थाय सविषादम्) कधं जूदिअल-मण्डलीए बद्धोम्मि। ही ! एशे अम्हाणं जूदिअलाणं अलङ्घणाए शमए। ता कुदो दइश्शं। (कथं द्यूतकरमण्डल्या बद्धोऽस्मि। कष्टम् ! एषोऽस्माकं द्यूतकराणामलङ्घनीयः समयः। तस्मात् कुतो दास्यामि ?)

संवाहक इति—प्रसादम् = अवसरदानरूपमनुग्रहम्।

संवाहक इति—शिरः=मस्तकम् (संवाहकस्येति शेषः) पतति=द्वयोः चरणकमलेषु अपराधक्षमार्थं पतति।

माथुर इति—द्यूतकराणाम्=आक्षिकाणाम् मण्डल्या—गोष्ठ्या बद्धः=दशसुवर्णदानाय गृहीतः (न केवलं—मयैव) सामाजिकोऽयं दण्डः न वैयक्तिकः इति तात्पर्यम्।

संवाहक इति—समयाः = नियमः 'समयः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः।

संवाहक—आज दूँगा।

माथुर—अभी दो।

संवाहक—दूँगा, जरा दया कीजिए।

माथुर—अरे ! नहीं, इसी समय दो।

संवाहक—मस्तक नीचा कर लेता है (इस प्रकार पृथ्वी पर गिर जाता है)

दोनों—(अच्छी तरह पीटते हैं)

माथुर—इस समय तुम जुआड़ियों की मण्डली से अवरुद्ध हो।

संवाहक—उठकर, (दुःख के साथ) क्या जुआड़ियों की मण्डली से अवरुद्ध हूँ ? अफसोस ! अब इनसे बिना दिये बच निकलना असम्भव है। तब मैं कहाँ से दूँ ?

माथुरः—अले ! गण्डे कुलु कुलु । (अरे ! गण्डं कुरु कुरु)

संवा—एव्वं कलेमि । (द्यूतकरमुपस्पृश्य) अद्धं ते देमि, अद्धं मे मुञ्चदु । (एवं करोमि । अर्द्धं ते ददामि, अर्द्धं मे मुञ्चतु)

द्यूत—एव्वं भोदु । (एवं भवतु)

संवा—(सभिकमुपगम्य) अद्धश्श गण्डे कलेमि, अद्धं पि मे अज्जो मुञ्चदु । (अर्द्धस्य गण्डं करोमि, अर्द्धमपि मे आर्यो मुञ्चतु)

माथुरः—को दोसु, एव्वं भोदु ।। (को दोषः, एवं भवतु)

संवा—(प्रकाशम्) अज्ज ! अद्धे तुए मुक्के ? (आर्य ! अर्द्धं त्वया मुक्तम्)

माथुर—मुक्के । (मुक्तम्)

संवा—(द्यूतकरं प्रति) अद्धे तुए वि मुक्के ? । (अर्द्धं त्वयापि मुक्तम् ?)

माथुर इति—गण्डम् = दण्डदानायावसरनिश्चयम् (वादा इति भाषा) 'गण्डः स्वीरे चिह्ने स्यादि'ति विश्वः ।

संवाहक इति—दातव्यदण्डस्य अर्द्धम् = अर्द्धभागः ।

संवाहक इति—सभिकम् = द्यूतकरसभाध्यक्षम् ।

संवाहक इति—मुक्तम् = सन्त्यक्तम् (प्रश्नमुखेन जिज्ञास्यते) ।

संवाहक इति—ताभ्यां युवाभ्यामर्धार्धक्रमेणोज्झितत्वात् सम्पूर्णस्य मोचने जाते स्वाम्यभावात्स्वतन्त्रोऽहमिदानीं संवृत्तः ।

माथुर—अरे शर्त मान लो ।

संवाहक—ऐसा ही करता हूँ । (द्यूतक के निकट जाकर) आधा मैं तुम्हें दूंगा और आधा छोड़ दो ।

द्यूतकर—अच्छा, ऐसा ही सही ।

संवाहक—(जुआ के अध्यक्ष के पास जाकर) आधे का शर्त मानता हूँ और आधा मेरे लिए आप भी छोड़ दें ।

माथुर—क्या हर्ज है ? ऐसा ही हो ।

संवाहक—(प्रकट) आर्य ! आधा तो आपने छोड़ दिया ?

माथुर—हाँ छोड़ दिया ।

संवाहक—(द्यूतकर के प्रति) आधा आप ने भी छोड़ दिया है ।

द्यूत—मुक्के। (मुक्तम्)

संवा—संपदं गमिश्शं (साम्प्रतं गमिष्यामि)

माथुरः—पअच्छ तं दशसुवण्णं कहिं गच्छसि ? (प्रयच्छ तद् दशसुवर्णम्, कस्मिन् गच्छसि ?)

संवा—पेक्खध पेक्खध भट्टालआ। हा संपदं ज्जेव एक्काह अद्धे गण्डे कडे, अवलाह अद्धे मुक्के; तह वि मं अवलं संपदं ज्जेव मग्गदि। (प्रेक्षध्वं प्रेक्षध्वं भट्टारकाः !। हा ! साम्प्रतमेव एकस्य अर्द्धं गण्डं कृतम्, अपरस्य अर्द्धं मुक्तम्; तथापि मामबलं साम्प्रतमेव मार्गयति)

माथुरः—(गृहीत्वा) धुत्तु ! माथुरु अहं णिउणु। एत्थ तुए ण अहं धुत्तिज्जामि। ता पअच्छ तं लुत्तादण्डआ ! सव्वं सुवण्णं संपदं। (धूर्त ! माथुरोऽहं निपुणः। अत्र त्वया नाहं धूर्त्तयामि, तत् प्रयच्छ तं लुप्तदण्डक ? सर्वं सुवर्णं साम्प्रतम्)

संवा—कुदो दइश्शं ?। (कुतो दास्यामि ?)

माथुरः—पिदरं विक्किणिअ पअच्छ (पितरं विक्रीय प्रयच्छ)

संवाहक इति—भट्टारकाः=राजानः एकस्य=सभाध्यक्षस्य गण्डम्=वाचानियमः अपरस्य=अन्यस्य आक्षिकस्य अर्द्धम् = अवशिष्टोऽधर्मभागः मुक्तम् = तेनैव परित्यक्तम् तथापि अबलम्=धनबलशून्यम् माम् मार्गयति = तद्दानायान्विष्यति।

माथुर इति—गृहीत्वा=संवाहकमवधृत्य त्वया सह नाहं धूर्त्तयामि = धूर्त्तकर्म करोमि। धूर्त्तयामि=इत्यत्र 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच् प्रयच्छ = देहि।

द्यूतकर—हाँ, छोड़ दिया है।

संवाहक—तो, इस समय मैं जाता हूँ।

माथुर—पहले दश सुवर्ण तो दे लो। (बिना दिए) कैसे जाते हो ?

संवाहक—अरे अधिकारियो ! आप लोग देखें तो सही। अरे अभी ही तो आधे का धत्तं माना है और आधा छोड़ दिया गया है। फिर भी मुझ निर्बल को रोका जा रहा है।

माथुर—(पकड़ कर) अरे धूर्त्त ! मैं चतुर माथुर हूं। इस समय मैं तुझसे धूर्त्तता नहीं कर रहा हूँ। अरे अपराधी ! हमारा सब सुवर्ण इसी समय दो।

संवाहक—कहाँ से दूँ ?

माथुर—पिता को बेच कर दो।

संवा—कुदो मे पिदा ? (कुतो मे पिता ?)

माथुरः—मादरं विक्किणिअ पअच्छ। (मातरं विक्रीय प्रयच्छ)

संवा—कुदो मे मादा ?। (कुतो मे माता ?)

माथुरः—अप्पाणं विक्किणिअ पअच्छ (आत्मानं विक्रीय प्रयच्छ)

संवा—कलेध पशादं, णेध मं लाजमग्गं। (कुरुत प्रसादम्। नयत मां राजमार्गम्)

माथुरः—पसरु। (प्रसर)

संवा—एव्वं भोदु। (परिक्रामति) अज्जा ! क्किणिध मं इमश्श शहिअश्श हत्थादो दशेहिं शुवण्णकेहिं। (दृष्ट्वा आकाशे) किं भणाध ! 'किं कलइश्शि' त्ति गेहे दे कम्मकले हुविश्शं। कथं अदइअ पडिवअणं गदे। भोदु, एव्वं इमं अण्णं भणइश्शं। (पुनस्तदेव पठति) कधं एशे वि मं अवधीलिअ गदे। हा ! अज्जचालुदत्तश्श विहवे विहडिदे एशे वड्ढामि मंदभाए। (एवं भवतु। आर्य्याः ! क्रीणीध्वं माम् अस्य सभिकस्य हस्तात् दशभिः सुवर्णैः। किं भणत ? किं करिष्यसि ? इति। गेहे ते कर्म्मकरो भविष्यामि। कथमदत्त्वा प्रतिवचनं गतः ? भवत्वेवम्, इममन्यं भणिष्यामि।

संवाहक इति—माम्=संवाहकं सभिकस्य=द्यूताध्यक्षस्य हस्तात्=करात्। भणत= वदत कर्मकरः=भृत्यः प्रतिवचनम्=विपरीतवचनम् गतः=प्राप्तः भणिष्यामि=

संवाहक—मुझे पिता कहाँ हैं ?

माथुर—अपनी माता को बेच कर दो।

संवाहक—मुझे माता कहाँ है ?

माथुर—अपनी आत्मा बेच कर दो।

संवाहक—जरा दया कीजिए। मुझे राजपथ पर ले चलिए।

माथुर—चलो।

संवाहक—चलिए (घूमता है) ऐ सज्जनो ! इस सभिक (जुआ के अध्यक्ष) के हाथ से मुझे आप दश सुवर्ण में खरीद लें (आकाश की ओर देखकर) क्या कहते हो ? 'क्या करोगे ?' तुम्हारे घर में नौकर का काम करूँगा। अरे ! बिना उत्तर दिये ही क्यों चले गये ? अच्छा, जाने दो, मैं इन दूसरे सज्जन से कहता हूँ। अरे क्यों ? ये भी मेरी अवहेलना कर चले गए ? हाय ! आर्य चारुदत्त के दरिद्र हो जाने से मैं इस प्रकार अभागा हो गया हूँ।]

कथमेषोऽपि मामवधीर्य्यं गतः ?। हा ! आर्य्यचारुदत्तस्य विभवे विघटिते एषोऽहं वर्त्ते मन्दभाग्यः ।)

माथुरः—णं देहि । (ननु देहि)

संवा—कुदो दइश्शं ? । (इति पतति) (कुतो दास्यामि ?)

माथुरः—(कर्षति)

संवा—अज्जा ! पलित्ताअध, पलित्ताअध । (आर्य्याः ! परित्रायध्वं परित्रायध्वम् ।)

(ततः प्रविशति दर्दुरकः ।)

दर्दु—भोः ! द्यूतं हि नाम पुरुषस्य असिंहासनं राज्यम् ।
न गणयति पराभवं कुतश्चिद् हरति ददाति च नित्यमर्थजातम् ।

कथयिष्यामि, अवधीर्यं=अवज्ञां कृत्वा गतः=यातः विभवे=संपदि विघटिते=नाशं प्रापिते मन्द भाग्यः=क्षीण भाग्यः वर्त्ते=संप्राप्तः । आकाशभाषितलक्षणं साहित्यदर्पणे—

किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत् स्यादाकाशभाषितम् ॥

दर्दुरक इति—द्यूतं हि नाम असिंहासनं राज्यम् (द्यूतस्य प्रशंसाभिधानात्) नास्ति सिंहासनं यस्मिन् एवम्भूतं राज्यं = राज्यस्वरूपम् द्यूतमिति ।

अन्वयः—द्यूतं कर्त्ता इति शेषः । कुतश्चिदपि पराभवं न गणयति, नित्यम् अर्थजातम् हरति ददाति च विभववता जनेन आयदर्शी नृपतिः इव निकामं समुपास्यते ।

नेति—द्यूतं हि नाम कुतश्चिदपि पराभवम्=पराजयम् न गणयति=नाद्रियते नित्यम् = सततम् अर्थजातम् = अर्थसमुदायं हरति = विजितात् पणीभूतं गृह्णाति ददाति = विजेत्रे ददाति च । प्रशस्तो विभवोऽस्यास्तीति विभववान् तेन विभववता प्रशंसायां मतुप् जनेन=लोकेन आयम=अर्थागमम् दर्शयतीति ताच्छील्ये णिनिः ।

माथुर—अरे ! दो ।

संवाहक—कहाँ से दूँ ? (गिर पड़ता है)

माथुर—(घसीटता है)

संवाहक—सज्जनो ! मेरी रक्षा कीजिये—रक्षा कीजिये ।

(इसके बाद दर्दुरक आता है ।)

दर्दुरक—अजी, जुआ मनुष्यों का बिना सिंहासन का राज्य है ।

यह (जुआ) किसी के अनादर को तुच्छ समझता है । प्रत्येक दिन धन

नृपतिरिव निकाममायदर्शी विभववता समुपास्यते जनेन ॥ ७ ॥

अपि च—

द्रव्यं लब्धं द्यूतेनैव दारा मित्रं द्यूतेनैव ।
दत्तं भुक्तं द्यूतेनैव सर्वं नष्टं द्यूतेनैव ॥ ८ ॥

अपि च—

त्रेता हृतसर्वस्वः पावर-पतनाच्च शोषितशरीरः ।

नृपतिः=भूपतिरिव निकामम्=अत्यन्तम् यथा स्यात्तथा समुपास्यते=आसेव्यते । अत्रानेकक्रियाणामेकत्रान्वयात् दीपकालङ्कारः पूर्णोपमा च तथा च सङ्करः ॥७॥

सरलार्थः—द्यूतं पराभवं प्राप्तमपि धनबाहुल्यात् न बहु मन्यते । सर्वदा जनसमूहं विजितजनादानयति स्वयं च विजितं शत्रुजेतृजनायार्पयति । धनसंपन्नः भूपतिरिव संपत्तिशालिना जनेन सेव्यते इति भावः ॥ ७ ॥

अन्वयः—द्यूतेनैव द्रव्यं लब्धम्, द्यूतेनैव दाराः (लब्धाः) मित्रम् (लब्धम्) द्यूतेनैव दत्तम् (द्यूतेनैव) भुक्तम् द्यूतेनैव सर्वम् नष्टम् ।

द्रव्यमिति—द्यूतेनोपायेन द्रव्यम्=धनम् लब्धम्=प्राप्तम् तद्धनद्वारा दाराः=स्त्रियः (लब्धा इति शेषः) मित्रम्=सुहृत् द्यूतेनैव दत्तम्=अन्यस्मै दानादिकं कृतम् भुक्तम्=सुखाद्युपभोगः कृतः । द्यूतेनैव सर्वम् पूर्वजोपार्जितं धनादिकम् नष्टम् पणीकृत्य हारितत्वादिति भावः । 'विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतमि'ति दर्पणोक्तेः । अत्र आयव्यययोर्विरूपयोर्लाभनाशयोश्चैकत्रसंघटनाद्विषमालङ्कारः । विद्युन्मालावृत्तम्—मो मो गो गो विद्युन्माला ॥ ८ ॥

सरलार्थः—मया द्यूतेनैव दाराः सुहृच्च द्रव्यं चाऽपि लब्धम् द्यूतेनैव दानं कृतम् । प्रचुरधनलाभात् भोगश्च कृतः पैतृकसंपत्त्यादिकं द्यूतेनैव हारितमित्यहो द्यूतस्य माहात्म्यमिति भावः ॥ ८ ॥

त्रेतेति—त्रेतया='तीया' इति प्रसिद्धया क्रीडया हृतम्=विजेतुर्हस्ते गतम् सर्वस्वम् यस्य सः । पावरस्य='दूआ' इति प्रसिद्धस्य पतनात् शोषितम्=चिन्ताजजं-

---

उपार्जित करता है और यथेच्छ धन देता भी है। सम्पत्तिशाली राजा के समान यह धनवान् मनुष्यों से सेवित होता है ॥ ७ ॥

और भी—जुआ से ही मैंने धन और जुआ के ही प्रभाव से स्त्री तथा मित्र उपलब्ध किया है। इसी प्रकार जुआ से ही किसी को कुछ दिया है तथा उपभोग भी किया है और जुआ से ही मैंने अपना सर्वनाश भी कर डाला है।

और भी—तीन के दाँव ने मेरा सब कुछ अपहरण कर लिया। पावर (कौड़ी

नर्दित-दर्शितमार्गः कटेन विनिपातितो यामि ॥ ९ ॥

(अग्रतोऽवलोक्य) अयमस्माकं पूर्वसभिको माथुर इत एवाभिवर्त्तते । भवतु, अपक्रमितुं न शक्यते । तदवगुण्ठयाम्यात्मानम् । (बहुविधं नाट्यं कृत्वा स्थितः । उत्तरीयं निरीक्ष्य)

अयं पटः सूत्रदरिद्रतां गतो ह्ययं पटश्छिद्रशतैरलङ्कृतः ।
अयं पटः प्रावरितुं न शक्यते ह्ययं पटः संवृत एव शोभते ॥ १० ॥

रितत्वात् शुष्कीकृतम् शरीरम्=कायः यस्य सः नर्दितेन=नान्दी इति प्रसिद्धेन दर्शितो मार्गः=पलायनपथो यस्मै सः, कटेन=शपथेन विनिपातितः=परलोकादपि प्रभ्रंशितः यामि । पावर=पूरा, कटो=दूआ इति केचित् ॥ ९ ॥

सरलार्थः—त्रेतापावरनर्दितकटद्यूतक्रीडान्तर्गतसांकेतिक शब्दविशेषाः । तेषामत्र क्रमशो निर्देशः । त्रेता=तीआ इति, पावर=दूआ इति, नर्दित=नक्क इति, कटः=पूरा इति प्रसिद्धः एवं च त्रेतया, हृतसर्वस्वः, पावरशब्दात् शोषितगात्रः, नर्दितेन दर्शितपथः, कटशब्देन च नाशितः गच्छामि ॥ ९ ॥

अग्रत इति—अस्माकम्=द्यूतकारकाणाम पूर्वसभिकः=पूर्वसभापतिः अपक्रमितुम=इतोऽन्यत्र गन्तुम् (पलायितुमिति भावः) । अवगुण्ठयामि=दुकूलेन मुखमावृणोमि ।

अयमिति—अयं पटः=दुकूलाख्यं वस्त्रम् (दुकूलं निरीक्ष्येत्युपक्रम्योक्तत्वादित्यर्थः) । सूत्राणाम्=तन्तूनाम् दरिद्रताम्=अभावम् गतः=यतः (अतिपुराणतया स्खलिततन्तुतां प्राप्तः) । अयं पटः छिद्राणां शतं तेन अलंकृतः युक्तः (अतिजीर्णत्वेन छिन्नः) प्रावरितुम्=शरीरमाच्छादयितुम् संवृतः=सङ्कुचित एव शोभते । अयं पठ इति वारवारमिहोच्चारणे शकारादिवत्तुच्छभाषित्वान्नात्र दोषाय । वंशस्थविलं वृत्तम्—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति लक्षणात् ॥ १० ॥

का दांव विशेष) के दांव ने मेरी देह ही सुखा दी । विजयी के आनन्द-नृत्य ने मुझे भागने का मार्ग दिखा दिया और प्रतिज्ञा किये हुए धन को समय पर न देने से पतित होकर मैं चला जा रहा हूं ।

(आगे की ओर देखकर) हा ! यह हम लोगों का पूर्व परिचित समाध्यक्ष माथुर इसी ओर आ रहा है । अच्छा, मैं भाग नहीं सकता हूं । इसलिए अपने को छिपाता हूं ।

(विविध अभिनय के साथ ठहर जाता है । अपने वस्त्र को देखकर—)

इस वस्त्र के सूत छिन्न-भिन्न हो गये हैं । यह वस्त्र सैकड़ों छिद्रों से विभूषित

अथवा किमयं तपस्वी करिष्यति। यो हि—
पादेनैकेन गगने द्वितीयेन च भूतले।
तिष्ठाम्युल्लम्बितस्तावद् यावत्तिष्ठति भास्करः ॥ ११ ॥

माथुरः—देहि देहि। (देहि देहि)

संवा—कुदो दइश्शं (कुतो दास्यामि ?)

सरलार्थः—अस्माकमुत्तरीयं वस्त्रं तन्तुहीनतां गतत् अतिजीर्णत्वात् छिद्रशतेन व्याप्तम् एतत्पटेन शरीराच्छादनं कर्तुं न शक्यते तस्मात् विस्तरापेक्षया पिण्डीभाव एव श्रेयानिति भावः ॥ १० ॥

अथवेति—अथवा=अनवगुण्ठनेपि तपस्वी=वराकः (प्रकरणादयमेवार्थः) अयं=सभापतिः माथुरः किं करिष्यति=परिचये प्राप्तेऽपि (किमपि नेति शेषः)।

अन्वयः—एकेन पादेन गगने द्वितोयेन (पादेन) भूतले च उल्लम्बितस्तावत्तिष्ठामि यावत् भास्करः तिष्ठति।

एकेनेति—एकेन पादेन=चरणेन गगने=आकाशे द्वितीयेन=अपरेण भूतले=पृथिव्याम् उल्लम्बितः=ऊर्ध्वंलम्बितकायः सन् तावत् कालं तिष्ठामि यावत्वत्कालम् भास्करः=सूर्यः तिष्ठति। एवंशक्तिकस्य मम क्षुद्रशक्तिको वराकः माथुरः किं करिष्यत्येव। तपस्वीति पदस्य क्षुद्र इत्यर्थंकरणेन किमयं करिष्यतीति गर्वोक्तिपरिपोषाय च लोकोत्तरबलशालित्वर्णनौचित्यात् ॥ ११ ॥

सरलार्थः—एकेन चरणे आकाशे द्वितीयेन पादेन पृथिव्यामूर्ध्वं लम्बमानः सन् यावत् सूर्योऽस्तं न गच्छति तावत् तिष्ठामीति भावः ॥ ११ ॥

संवाहक इति—कुतो दास्यामि=मत्संविधे नास्तीति भावः।

है। यह वस्त्र देह ढकने में समर्थ नहीं हो सकता है अतः यह वस्त्र संपुट रूप से ही सुशोभित होता है ॥ १० ॥

अथवा—यह क्षुद्र माथुर मेरा कर क्या सकता है? जो कि—

अभी से—मैं एक पैर आकाश में करके और दूसरा पैर पृथ्वी पर रख कर अपनी देह नीचे की ओर कर सायंकाल तक इसी में रूप में रह सकता हूँ। (अर्थात् अगर माथुर मुझे उपर्युक्त कड़ी सजा भी देगा तो मैं आसानी से उसे सह लूंगा, फिर उससे डर की क्या बात है? इससे तो कड़ी कोई सजा हो भी नहीं सकती है) ॥ ११ ॥

माथुर—देदो-देदो।

संवाहक—कहाँ से दूँ?

माथुरः—(कर्षति)

दर्दु—अये ! किमेतदग्रतः । (आकाशे) किं भवानाह ? 'अयं द्यूतकरः सभिकेन खलीक्रियते, न कश्चिन्मोचयति' इति ? । नन्वयं दर्दुरो मोचयति । (उपसृत्य) अन्तरमन्तरम् । (दृष्ट्वा) अये ? कथं माथुरो धूर्त्तः, अयमपि तपस्वी संवाहकः ।

> यः स्तब्धं दिवसान्तमानतशिरा नास्ते समुल्लम्बितो
> यस्योद्धर्षणलोष्टकैरपि सदा पृष्ठे न जातः किणः ।
> यस्यैतच्च न कुक्कुरैरहरहर्जङ्घान्तरं चर्व्यते
> तस्यात्यायतकोमलस्य सततं द्यूतप्रसङ्गेन किम् ॥ १२ ॥

दर्दुरक इति—अग्रतः=अग्रे (सहम्यास्तांसल्) सम्मुखे खलीक्रियते=भर्त्स्यते अन्तरमन्तरम् = जनसंमर्दे प्रवेशायावकाशप्रार्थनायाः वाक्यमिदम् । (वीप्सायां द्विरुक्तिः) ।

अन्वयः—य इति—यः समुल्लम्बितः आनतशिराः दिवासान्त स्तब्धम् न आस्ते यस्य पृष्ठ उद्धर्षणलोष्टकैः अपि किणः सदा न जातः यस्य च एतत् जङ्घान्तरम् कुक्कुरैः अहरहः न चर्व्यते अत्यायतकोलकलस्य तस्य सततं द्यूतप्रसङ्गेन किम् ।

यः स्तब्धमिति—यः=पुरुषः समुल्लम्बितः=ऊर्ध्वं लम्बमानः आनतशिराः= अधोमस्तकः (अधोमस्तकं कृत्वोर्ध्वलम्बितकाय इति समुदितोऽर्थः) दिवसान्तं सन्ध्यां यावत् स्तब्धम्=शान्तम् निश्चलं न आस्ते=आसितुं न शक्नोति, उद्घृष्यते एभिरिति उद्घर्षणानि (करणाधिकरणयोश्चेति ल्युट्) तानि च लोष्टकाः=इष्टिका खण्डानि (ढेला इति भाषा) (कुत्सितानि च तानि लोष्टानि कप्रत्यये लोष्टकानि) अभिघातकाठिन्यम् (घट्ठा इति भाषाः) न जातः यस्य=पुरुषस्य एतत्—पुरोवर्त्त-

---

माथुर—(घसीटता है)

दर्दुरक—अरे ! यह आगे क्या हो रहा है ? (आकाश की ओर) आपने क्या कहा ? ' यह सभाध्यक्ष इस जुआड़ी की दुर्गति करता है, और उससे उसकी कोई रक्षा नहीं करता है ?

अच्छा, यह दर्दुरक रक्षा करता है । (समीप जाकर) आने दीजिए, आने दीजिए । (देखकर) अरे ! क्या यह धूर्त्त माथुर है और वह दूसरा दीन संवाहक ?

हमारे समान—,जो (एक पैर नीचे, एक ऊपर करके) सायंकाल तक निश्चल अधमस्तक होकर नहीं रह सकता है। जिसकी पीठ पर ढेलों से घसीटे जाने से

भवतु, माथुरं तावत् सान्त्वयामि। (उपगम्य) माथुर ! अभिवादये।

माथुरः—(प्रत्यभिवादयते)

दर्दु—किमेतत् ?।

माथुरः—अअं दशसुवण्णं धालेदि। (अयं दशसुवर्णं धारयति)

दर्दु—ननु कल्यवर्त्तमेतत्।

मानं जङ्घान्तरम्=जङ्घान्तरकालीनं मांसम् कुक्कुरः=कुक्कुरप्रायैराक्षिकैः न चर्व्यंते अत्यायतः=अतिदीर्घः कोमलः=मृदुलः (अत्यायतश्चासौ कोमलश्चेति विशेषण-समासः)। दीर्घत्वेनोक्तरूपावस्थानाशक्तता कोमलत्वेन तथाविधदुःखासहिष्णुता ध्वन्यते। तस्य=एवम्भूतस्य पुरुषस्य सततम्=सर्वदा द्यूतप्रसङ्गेन=द्यूतव्यापारेण किम्। अर्थात् द्यूतं हि महाकष्टसाध्यं कष्टसहिष्णोः पुरुषस्य तेन किम् प्रयोजनमिति विडम्बनामात्रमिदमिति आशयः। अत्राप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः। स्वापेक्षया माथुररस्य द्यूतव्यापारकरणेन कष्टसहिष्णुता प्रत्यायनात् व्यतिरेकालङ्कारः इति अलंकारध्वनिः ॥ १२ ॥

सरलार्थः—यः द्यूतक्रीडासक्तः दिनावसानपर्यन्तं नसमस्तकः सन् निश्चलः तिष्ठति यस्य च मृत्पाषाणखण्डैः चिह्नं न जातं यस्य च जङ्घा प्रतिदिनं कुक्कुरैः नतु चर्विता तस्य कोमलगात्रस्य द्यूतेन किं फलं जातमिति भावः। अर्थात् द्यूतविषयिणः यद्येतत्—पूर्वोक्तं दुःखं स्यात् तदा द्यूतस्य सफलता इति निर्गलितोऽर्थः।

दर्दुरक इति—कल्यवर्तम्=किञ्चित्क्षणस्थायि इति भावः। अतः एतादृशतुच्छवस्त्वर्थं विशेषयत्नो न कर्तव्यः।

जिसकी पीठ पर चिह्न नहीं पड़ गया है तथा जिसके जंघा का मध्यभाग कुत्तों से नहीं काटा गया है उस लम्बे एवं कोमल शरीर वाले मनुष्य के निरन्तर जुआ खेलने से क्या लाभ ! (अर्थात् वास्तविक जुआड़ी उपर्युक्त क्लेश से पूर्णतया अभ्यस्त रहते हैं) ॥ १२ ॥

अच्छा, तब तक माथुर को शान्त करता हूँ। (समीप जाकर) माथुर ! प्रणाम करता हूँ।

माथुर—(प्रमाण करता है)

दर्दुरक—यह क्या ?

माथुर—इसके (संवाहक के) यहां मेरा दश सुवर्ण चाहिये।

दर्दुरक—अरे यह (धन) तो क्षण स्थायी (तुच्छ) है।

माथुरः—(दर्दुरस्य कक्षतल-लुण्ठीकृतं पटमाकृष्य) भट्टा ! पश्शत पश्शत—जज्जरपड़प्पावुदो अअं पुलिसो दशसुवण्णं कल्लवत्तं भणादि। (भर्त्तारः ! पश्यत पश्यत, जर्जरपटप्रावृतोऽयं पुरुषो दशसुवर्णं कल्यवर्त्तं भणति) ।

दर्दु—अरे मूर्ख ! नन्वहं दशसुवर्णान् कटकरणेन प्रयच्छामि। तत् किं यस्यास्ति धनम्, स कृत्वा दर्शयति ? । अरे—

दुर्वर्णोऽसि विनष्टोऽसि दशस्वर्णस्य कारणात् ।
पञ्चेन्द्रियसमायुक्तो नरो व्यापाद्यते त्वया ॥ १३ ॥

माथुर इति—कक्षतले = बाहुमूले लुण्ठीकृतम् = गोपितम् सङ्कुचितभावेन स्थितमिति वा । जर्जरपटेन = जीर्णवस्त्रेण प्रावृतम्=आच्छादितम् अङ्गम्=शरीरम् यस्य सः । दरिद्रोऽयं दशसुवर्णं तुच्छातितुच्छं गणयतीति किमतः परं हास्यास्पदम् ।

दर्दुरक इति—कटस्य = दानार्थं सामयिकप्रतिज्ञायाः करणेन प्रयच्छामि = दास्यामि । स्वभावतः साधारणोऽहमत एव जीर्णवस्त्रं स्वीकरोमि विभवस्य नास्ति न्यूनतेति भावः ।

अन्वयः—दश सुवर्णस्य कारणात् त्वया पञ्चेन्द्रियसमायुक्तः नरः व्यापाद्यते त्वं दुर्वर्णः असि विनष्टः असि ।

दुर्वर्णोऽसीति—दशस्वर्णस्य कारणात्=आदानरूपहेतोरित्यर्थः । पञ्चेन्द्रियैः=पायूपस्थपाणिपादवाग्भिः कर्मेन्द्रियैः श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणैः (पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्वा) समायुक्तः नरः = प्राणिश्रेष्ठो जनः व्यापाद्यते = हन्यते, अतस्त्वं दुर्वर्णः = वर्णाधमः विनष्टः = लोकपरलोकोभयाद्भ्रष्टोऽसि । काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ १३ ॥

सरलार्थः—अरे माथुर ! त्वम् नीचजातीयोऽसि तथा परलोकात् विभ्रस्तोऽसि येन दशसुवर्णस्य हेतोः पञ्चेन्द्रिययुक्तः मनुष्यः त्वया हन्यते इति भावः ॥ १३ ॥

माथुर—(लपेटे हुए वस्त्र को दर्दुरक की कांख से खींच कर) महाशय-गण ! आप लोग देखें—कि जीर्ण वस्त्र में लिपटा हुआ यह मनुष्य दश सुवर्ण को क्षणस्थायी (तुच्छ) समझता है ।

दर्दुरक—अरे मूर्ख ! मैं दश सुवर्ण शपथ लेकर के कहता हूँ कि 'दे दूँगा' तो क्या जिसके पास धन रहता है वह उसे पास में लिए दिखाता है ? अरे—

माथुर ! तुम नीच एवं पतित हो कि दश सुवर्ण के कारण पञ्चेन्द्रिय (कान, त्वचा, आँख, जीभ तथा नासिका) से युक्त पूर्णाङ्ग मनुष्य को मारते हो ॥ १३ ॥

माथुरः—भट्टा ! तुए दशसुवण्णु कल्लवत्तु, मए ए सु विहवु। (भर्त्तः ! तव दशसुवर्णं कल्यवर्त्तं, मम एष विभवः।)

दर्दु—यद्येवम्, श्रूयतां तर्हि; अन्यान् तावत् दशसुवर्णानस्यैव प्रयच्छ। अयमपि द्यूतं शीलयतु।

माथुरः—ता कि भोदु ?। (तत् किं भवतु ?)

दर्दु—यदि जेष्यति तदा दास्यति।

माथुरः—अइ ण जिणादि। (अथ न जयति ?)

दर्दु—तदा न दास्यति।

माथुरः—अह ण जुत्तं जप्पिदुं। एव्वं अक्खन्तो तुमं पअच्छ, धूत्तआ ! अहं पि णाम माथुरु धुत्तु जूदं मित्था आदंसआमि। अण्णस्स वि अहं ण बिभेमि। धुत्ता ! खण्डिअवुत्तोसि तुमं। (अथ न युक्तं जल्पितुम्। एवमाचक्षाणस्त्वं प्रयच्छ धूर्तक ! अहमपि नाम माथुरो धूर्त्तः, द्यूतं मिथ्या आदर्श-

---

माथुर इति—भर्त्तः = राजन् (सोल्लुण्ठनमिदं सम्बोधनम्) मम तु विभवः अतो नाहं त्यक्ष्ये इति भावः।

दर्दुरक इति—यद्येवम् = दश स्वर्णान् नेतुमिच्छसि चेत् अस्यैव = संवाहकस्यैव प्रयच्छतु = ऋणरूपेण ददातु शीलयतु = खेलयतु।

माथुर इति—जल्पितुम्=मिथ्या वक्तुम् न युक्तम् = नोचितम् (मा वदेत्याशयः) मथुराया अयं माथुरः अण् धूर्त्तः = चतुरः मिथ्या = उपरिभावेन आदर्शयामि = आदर्शं करोमि (आततायी खल्वप्यहमिति भावः न तु केवलमाक्षिक एवेति भावः)

माथुर—प्रभो ! आप के लिए दश सुवर्ण तुच्छ है किन्तु मेरे लिए तो वही सम्पत्ति है।

दर्दुरक—यदि ऐसी बात है, तो सुनिये—इसे दश सुवर्ण और दो तथा यह भी तुमसे जुआ खेले।

माथुर—उससे क्या होगा ?

दर्दुरक—यदि जीतेगा तो देगा।

माथुर—और यदि न जीते—।

दर्दुरक—तब नहीं देगा।

माथुर—अनर्गल बात बोलना ठीक नहीं है। दश सुवर्ण को तुच्छ समझाने वाले धूर्त ! उक्त द्रव्य उसके बदले तुम्हीं दे दो मैं भी धूर्त माथुर हूँ। क्या जुआ में

यामि । अन्यस्मादपि अहं न बिभेमि । धूर्तः ! खण्डितवृत्तोऽसि त्वम् ।)

दर्दु—अरे कः खण्डितवृत्तः ? ।

माथुरः—तुमं हु खण्डिअवृत्तो । (त्वं खलु खण्डितवृत्तः)

दर्दु—पिता ते खण्डितवृत्तः । (संवाहकस्य अपक्रमितुं संज्ञां ददाति)

माथुरः—गोसाविआपुत्ता ! णं एव्वं ज्जेव जूदं तुए सेविदं ? । (वेश्यापुत्र ! एवमेव द्यूतं त्वया सेवितम् ?)

दर्दु—मया एवं द्यूतमासेवितम् ।

माथुरः—अले संवाहआ ! पअच्छ तं दशसुवण्णं । (अरे संवाहक ! प्रयच्छ तत् दशसुवर्णम्)

संवा—अज्ज दइश्शं, दाव दइश्श । (अद्य दास्यामि, तावत् दास्यामि ।)

माथुरः—(कर्षति)

तदेव व्यक्तं करोति अन्यस्मादिति को मे किं करिष्यतीति न मे भीतिः खण्डित-वृत्तः = नष्टचरित्रः चरित्रहीन इति भावः ।

दर्दुरक इति—अपक्रमितुम् = इतोऽन्यत्र गन्तुं संज्ञां = संकेतम् ददाति = नयनभङ्ग्यादिना प्रयच्छति ।

दर्दुरक इति-एवम् = अन्यान् वञ्चयित्वा, सदैव क्रीडामि इति गर्वोक्तिरियम् ।

संवाहक इति—तावत् = दशस्वर्णान् ।

मैं अपने को व्यर्थं प्रधान माने फिरता हूँ ? दूसरे किसी से भी मैं नहीं डरता हूँ । धूर्त्त ! तुम दुश्चरित हो ।

दर्दुरक—अरे ! कौन दुश्चरित है ?

माथुर—तुम दुश्चरित हो ।

दर्दुरक—तुम्हारा पिता दुश्चरित्र है । (संवाहक को भाग जाने के लिये संकेत करता है)

माथुर—अधमपुत्र ! इसी प्रकार का जुआ तुमने सीखा है ।

दर्दुरक—हाँ, यही सीखा है ।

माथुर—अरे संवाहक ! वह दश सुवर्ण लाओ दो ।

संवाहक—आज दूँगा, अजी अभी आज दूँगा ।

माथुर—(खींचता है)

दर्दु—मूर्ख ! परोक्षे खलीकर्त्तुं शक्यते, न ममाग्रतः खलीकर्तुम् ।

माथुरः—(संवाहकमाकृष्य घोणायां मुष्टिप्रहारं ददाति । संवाहकम्ः सशोणितं मूर्च्छां नाटयन् भूमौ पतति । दर्दुरक उपसृत्य अन्तरयति । माथुरो दर्दुरं ताडयति । दर्दुरो विप्रतीपं ताडयति ।

माथुरः—अले अले दुट्ट ! छिण्णालिआपुत्तअ ! फलं पि पाविहिसि । (अरे अरे दुष्ट ! पुंश्चलीपुत्रक ! फलमपि प्राप्स्यसि ।)

दर्दु—अरे मूर्ख ! अहं त्वया मार्गगत एव ताडितः; श्वो यदि राजकुले ताडयिष्यसि, तदा द्रक्ष्यसि ।

माथुरः—एसु पेक्खिस्सं । (एष प्रेक्षिष्ये)

दर्दु—कथं द्रक्ष्यसि ? ।

दर्दुरक इति—परोक्षे = ममासमक्षे खलीकर्त्तुम् = अवढीकर्त्तुम् ।

माथुर इति—घोणायाम् = घ्राणे अन्तरयति = स्वदेहेन व्यवधानं करोति विप्रतीपम् = विपरीतम् ताडयति = ताडनां करोति ।

माथुर इति—छिणालिया इति कुलटार्थप्रतिपादकः तस्याः कुत्सितः पुत्रः कुत्सायाम् कः पुत्रकः ।

दर्दुरक इति—मार्गं गतः=मार्गं गच्छन् एव न तु अपराधीति कृत्वा । राजकुले= न्यायालये ताडयिष्यसि = राजकर्मचारिभिर्वेत्रादिना ताडनं प्राप्स्यसि । द्रक्ष्यसि = तत्फलं त्वमपि प्राप्स्यसि । मार्गे गच्छन्तं त्वां कदाचिदहमपि हनिष्यामि ॥

दर्दुरक—मूर्ख ! मेरी अनुपस्थिति में इसकी दुर्गति कर सकते हो । मेरे सामने ऐसा नहीं कर सकते हो ।

(माथुर संवाहक को खींचकर उसकी नासिका में घूंसा मारता है । संवाहक को रक्तपात होने लगता है और मूर्छित होकर वह भूमि पर गिर पड़ता है । दर्दुरक आगे आकर छुड़ाता है । माथुर दर्दुरक को मारता है । दर्दुरक भी बदले में उसे मारता है)

माथुर—अरे नीच ! कुलटा का पुत्र ! इसका फल पाओगे ।

दर्दुरक—अरे मूर्ख ! तुमने (बिना कसूर) मुझे रास्ता चलते मारा है । कल यदि दरबार में मारोगे तब देखना ।

माथुर—देखूंगा ।

दर्दुरक—कैसे देखोगे ?

माथुरः—(प्रसार्य्य चक्षुषी) एव्वं पेक्खिस्सं । (एवं प्रेक्षिष्ये)

(दर्दुरो माथुरस्य पांशुना चक्षुषीं पूरयित्वा संवाहकस्य अपक्रमितुं संज्ञां ददाति । माथुरोऽक्षिणी निगृह्य भूमौ पतति । संवाहकोऽपि अपक्रामति !)

दर्दु—(स्वगतम्) प्रधानसभिको माथुरो मया विरोधितः तन्नात्र युज्यते स्थातुम् । कथितञ्च मम प्रियवस्येन शर्विलकेन, यथा किल, 'आर्य्यकनामा गोपालदारकः सिद्धदेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति इति सर्वश्च अस्मद्विधो जनस्तमनुसरति'। तदहमपि तत्समीपमेव गच्छामि । (इति निष्क्रान्तः)

संवा—(सत्रासं परिक्रम्य दृष्ट्वा) एशे कश्शवि अणपावुदपक्खदुआलके गुहे । ता एत्थ ववििशिश्शं । (प्रवेशं रूपयित्वा वसन्तसेनामालोक्य) अज्जे !

माथुरस्य—प्रधानसभिकस्य चक्षुषी—नेत्रे पांशुना = धूल्या पूरयित्वा = परिपूर्य अपक्रमितुं = पलायितुम् संज्ञाम् = सङ्केतम् ।

दर्दुरक इति— प्रधानसभिकः = माथुरः मया = दर्दुरकेण विरोधितः । प्रियवयस्येन = प्रियमित्रेण शर्विलकेन = एतन्नाम्ना प्रसिद्धेन पुरुषेण, आर्यक इत्यत्र संज्ञायां कप्रत्ययः । गोपालदारकः = आभीरपुत्रः सिद्धस्य = इष्टीकृतदेवमन्त्रादिकस्य आदेशेन = निर्देशेन (आदिश्यतेऽनेनेति विग्रहे बाहुलकात्करणे घञ् आदेशः) समादिष्टः = कथितः राजा = नृपो भविष्यति, अस्मद्विधः = एतद्राजानुकूलजनप्रतिकूलः तम्=भाविराजानम् अनुसरति । एतस्य राज्ञः माथुरे पक्षपातित्वात् । 'ग्रहणं गुण-उच्यते' इति लक्षणात् आश्रयो नामालङ्कारः ।

माथुर—(आँख फाड़कर) ऐसे देखूंगा ।

(दर्दुरक धूल से माथुर की आँखें भर कर संवाहक को भागने का इशारा करता है । माथुर आँखें मूंदकर भूमि पर गिर जाता है । संवाहक भाग निकलता है)

दर्दुरक—(मन ही मन) प्रधानसभाध्यक्ष माथुर से मैंने विरोध कर लिया है । अतः यहाँ ठहरना उचित नहीं है । हमारे मित्र शर्विलक ने कहा है—

'सिद्धों ने कहा है कि गोपबालक आर्यक राजा होगा, हमारे जैसे सभी व्यक्ति उसका अनुसरण करते हैं इसलिये मैं भी उसी के समीप चलूं । (चला गया)

संवाहक—(भयभीत घूमकर और देखकर) यह किसी का घर है जिसका दरवाजा खुला हुआ है । तब इसमें प्रवेश करूं । (प्रवेश का अभिनय करते हुए वसन्तसेना को देखकर) आर्ये ! तुम्हारे शरण में आ गया हूँ ।

शलणागदेम्हि। (एतत् कस्यापि अनपावृतपक्षद्वारकं गेहम्। तदत्र प्रविशामि। आर्ये! शरणागतोऽस्मि)

वसन्त—अभअं सरणागदस्स। हञ्जे! ढक्केहि पक्खद्आरअं। (अभयं शरणागतस्य। हञ्जे! पिधेहि पक्षद्वारकम्)

चेटी—(तथा करोति।)

वसन्त—कुदो दे भअं?। (कुतस्ते भयम्?)

संवा—अज्जे धणिकादो। (आर्ये! धनिकात्)

वसन्त—हञ्जे! संपदं अवावुणु पक्खदुआरअं। (हञ्जे! साम्प्रतमपावृणु पक्षाद्वारकम्)

संवा—(आत्मगतम्) कधं धणिकादो तुलिदं शे भअकालणं। शट्ठु क्खु एवं वुच्चदि–(कथं धनिकात् तुलितमस्या भयकारणम्। सुष्ठु खल्वेवमुच्यते)

जे अत्तवलं जाणिअ भालं तुलिदं वहेइ माणुस्से।
ताह खलणं ण जाअदि णअ कन्तालगदो विविज्जदि॥ १४॥

संवा इति—अनपावृतम् = उद्घाटितकपाटकम् पक्षद्वारं यस्य तत्। गेहम् = भवनम् शरणागतोऽस्मि = तवाश्रितोऽस्मि।

अभयम्—भयस्याभावः। पिधेहि = अवरुणद्धि।

वसन्त इति—अपावृणु = पिनद्धमपि द्वारमर्गलादिदानेन दृढं कुरु इति।

संवाहक इति—आत्मगतम् = मनस्येव विचारयतीत्यर्थः। अस्याः = वसन्तसेनायाः अपि मम इव धनिकात् भयकारणं समानम् अन्यथा किमियं द्वारमतिदृढमवरोधयति।

वसन्तसेना—शरण में आये हुए आगन्तुक निर्भय हो। दासी! दरवाजा बन्द कर दो।

चेटी—(वैसा ही करती है)

वसन्त—किस से तुम्हें भय है?

संवाहक—आर्य! धनवान से।

वसन्त—दासी! भीतर से किवाड़ों में किल्ली लगा दो।

संवाहक—(स्वगत) मेरे ही समान इसे भी क्यों धनियों से भय है? यह ठीक ही कहा हुआ है—

जो मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार बोझ ले चलता है वह किसी भी स्थान

य आत्मबलं ज्ञात्वा भारं तुलितं वहति मनुष्यः।
तस्य स्खलनं न जायते न च कान्तारगतो विपद्यते ॥ १४ ॥

एत्थ लक्खिदो म्हि। (अत्र लक्षितोऽस्मि)

माथुरः—(अक्षिणी प्रमृज्य द्यूतकरं प्रति) अले ! देहि देहि। (अरे ! देहि देहि)

द्यूत—भट्टा ! जावदेव अम्हे दद्दुरेण कलहाइदा, तावदेव सो गोहो अवक्कन्तो। (भर्त्तः ! यावदेव वयं दर्दुरेण कलहायिताः, तावदेव स पुरुषोऽपक्रान्तः।)

माथुरः—तस्स जूसकलस्स मुट्ठिप्पहालेण णासिका भग्गा आसि। ता एहि, रुहिरपहं अणुसरेम्ह। (तस्य द्यूतकरस्य मुष्टिप्रहारेण नासिका भग्ना आसीत् ! तदेहि, रुधिरपथमनुसरावः)

अन्वयः—यः मनुष्यः आत्मबलं ज्ञात्वा तुलितं भारं वहति तस्य स्खलनं न जायते कान्तारगतश्च न विपद्यते।

य इति—यः मनुष्य पुरुषः आत्मबलं=स्वशक्तिम् ज्ञात्वा=बुद्ध्वा तुलितम्=तुल्यम् भारम् (बोझ इति भाषा) वहति=धारयति तस्य=पुरुषस्य स्खलनम्=भारगौरवजनितं पतनम् न जायते। एवम् कान्तारगतः=दुर्गमवर्त्मगतः 'कान्तारं वर्त्म दुर्गमम्' इत्यमरः। अपि न विपद्यते=विपद्ग्रस्तो भवति। आर्या वृत्तिः।१४।

माथुर इति—संवाहकोऽयमिति ज्ञात्वेयमुक्तिः।

द्यूत इति—कलहायिताः=कलह इवाचरिताः 'कर्त्तुः क्यङ्ङि'ति क्यङन्त-नामधातु निष्पन्नकलहायधातोर्भूते कर्तरि क्तः। तावदेव स पुरुषः=संवाहकाख्यः अपक्रान्तः=ततः पलायितः।

माथुर इति—तस्य द्यूतकरस्य=आक्षिकस्य मुष्टिकप्रहारेण:मत्कर्त्तृकमुष्ट्याघातेन नासिका भग्ना रुधिरपथम्=रुधिरबिन्दुपतनपथम्। अनुसरावः=अनुसरणं कुर्वः।

पर गिरता नहीं है और न दुर्गम रास्तों में विनष्ट ही होता है ॥ १४ ॥

मैं इस उक्ति का कायल हूँ।

माथुर—(आँखों को साफ कर के द्यूतकर के प्रति) अरे दे-दे।

द्यूतकर—प्रभो ! जिस समय हम लोग दर्दुरक से झगड़ रहे थे उसी समय संवाहक भाग गया।

माथुर— घूँसा की चोट से उस जुआड़ी की नासिका फूट गई थी। अतः आइये, उसके रक्त का अनुसरण करें।

द्यूतकरः—(अनुसृत्य) भट्टा। वसन्तसेणागेहं पविट्ठो सो। (भर्त्तः ! वसन्तसेनागेहं प्रविष्टः सः।)

माथुरः—भूदाइं सुवण्णाइं। (भूतानि सुवर्णानि।)

द्यूत—लाअउलं गदुअ णिवेदेम्ह ?। (राजकुलं गत्वा निवेदयामः ?)

माथुरः—एस धूत्तो इदो णिक्कमिअ अण्णत्तगमिस्सदि; ता उअरोधेणेव्व गेण्हेम्ह। (एष धूर्त्त इतो निष्क्रम्य अन्यत्र गमिष्यसि; तदुपरोधेनैव गृह्णीवः)

(वसन्तसेना मदनिकायाः संज्ञां ददाति)

मद—कुदो अज्जो ? को वा अज्जो ? कस्स वा अज्जो ? किं वा वित्ति अज्जो उवजीअदि ? कुदो वा भअं ?। (कुत आर्य्यः ? को वा आर्य्यः ? कस्य वा आर्य्यः ? किं वा वृत्तिम् आर्य्यं उपजीवति ? कुतो वा भयम् ?)

माथुर इति—सुवर्णानि = पूर्वोक्तदशस्वर्णानि भूतानि = प्राप्तानि शरणागतवत्सलतयोदार्येण च वसन्तसेनैव दास्यतीति भावः।

माथुर इति—एष धूर्त्तः पूर्वोक्तसंवाहकः इतो गमिष्यति = आवयोः गमनं ज्ञात्वा अन्यत्र यास्यति इति वसन्तसेनां प्रति अनुरोधं कृत्वा संवाहकं गृह्णीवः।

वसन्तसेना—संज्ञा = सङ्केतम्।

मदनिका—आर्यः=श्रेष्ठः कुतः=किन्नाम्नो देशादागतः कः=किन्नामवर्णः कस्य बन्धुरिति शेषः। कां वृत्तिमाश्रित्य उपजीवति भवान् कुतः = कस्माद्धतोः भयम्।

(अनुसरण करने के पश्चात्)

द्यूतकर—प्रभो ! वह वसन्तसेना के घर में प्रविष्ट हुआ है।

माथुर—तब मानो दश सुवर्ण मिल ही गये।

द्यूतकर—राजकुल में चलकर यह सूचित कर दें।

माथुर—यह धूर्त्त यहाँ से निकल कर कहीं दूसरी जगह चला जायगा। अतः वसन्तसेना के अनुरोध से ही ले लें।

(वसन्तसेना मदनिका से इशारा करती है)

मदनिका—आप कहाँ से आये हैं ? कौन हैं ? किस के सम्बन्धी हैं ? आप की कैसे जीविका चलती है ? तथा आप को किससे भय है ?

संवा—शुणादु अज्जआ अज्जे ! पाडलिउत्ते मे जन्मभूमी, गहवइ-दालके हगे, संवाहकअश्श वित्ति उवजीआमि। (शृणोतु आर्या। आर्ये ! पाटलिपुत्र मे जन्मभूमिः, संवाहकस्य वृत्तिमुपजीवामि)

वसन्त—सुउमारा क्खु कला सिक्खिदा अज्जेण। (सुकुमारा खलु कला शिक्षिता आर्येण)

संवा—अज्जए ! कलेत्ति सिक्खिदा आजीविआ दाणि संवुत्ता। (आ-र्ये ! कलेति शिक्षिता, आजीविका इदानीं संवृत्ता।)

चेटी—अदिणिव्विणं अज्जेण पड़िवअणं दिण्णं, तदो तदो ?।
(अतिनिर्विण्णमार्येण प्रतिवचनं दत्तम्। ततस्ततः ?)

संवा—तदो अज्जए ! एशे णिजगेहे आहिण्डकाणां मुहादो शुणिअ, अपुव्व-देश-दंशण-कुदुहलेण इह आगदे। इह वि मए पविशिअ-बल्ज-इणि एक्के अज्जे शुश्शुशिदे, जे तालिशे पिअदंशणे पिअवादी, दइअ ण कित्तेदि, अवकिदं विशुमलेदि। किं बहुणा उत्तेण, दक्खिणदाए पलकेलअं विअ अत्ताणअं अवगच्छदि, शलणागतवच्छले अ। (तत्र आर्ये ! एष

संवाहक इति—गृहपतेः = गृहस्थस्य दारकः = पुत्रः संवाहयतीति व्युत्पत्त्या 'ण्वुलि' अकादेशे संवाहक इति तस्य = शरीरसम्मर्दकस्य वृत्तिम् = जीविकाम् उपजीवामि = जीवनं धारयामीति भावः।

बसन्त इति—सुकुमारा = कोमला कला = कलाख्या विद्या शिक्षिता = सम्यग् ज्ञाता भवता।

संवाहक इति—आजीविका = जीवनधारणोपायः।

चेटीति—अति = अत्यधिकम् निर्विण्णः = खेदो यस्मिन् तत्।

संवाहक इति—आहिण्डन्ते इति आहिण्डकाः=भ्रमणशीलाः, 'ण्वुल् तृचावि'ति

संवाहक—आर्या सुनें। आर्ये ! मेरा जन्मस्थान पटना है। मैं गृहस्थ का लड़का हूँ। देह दबा-दबा कर मैं अपनी जीविका चलाता हूँ।

वसन्त—आपने तो बड़ी कोमल कला सीखी है।

संवाहक—आर्ये ! कला सीखी है। किन्तु वही इस समय हमारे जीवन-निर्वाह का उपाय है।

चेटी—अत्यन्त दीन होकर आपने जवाब दिया। इसके बाद !

संवाहक—इसके बाद आर्ये ! अपने घर पर घूमने वालों के मुख से इस

निजगृहे आहिण्डकानां मुखात् श्रुत्वा अपूर्व्वदेश--दर्शन--कुतूहलेन इहागतः। इहापि मया प्रविश्य उज्जयिनीम्, एक आर्य्यः, शुश्रूषितः, यस्तादृशः प्रियदर्शनः, प्रियवादी, दत्वा न कीर्त्तयति, अपकृतं विस्मरति। किं बहुना उक्तेन, दक्षिणतया परकीयमिव आत्मानमवगच्छति, शरणागतवत्सलश्च)

चेटी—को दाणि अज्जआए मणोरहन्तरस्स गुणाहं चोरिअ उज्जइणि अलंकरेदि ?। [क इदानीमार्य्याया मनोरथान्तरस्य गुणान् चोरयित्वा उज्जयिनीमलङ्करोति ?)

वसन्त—साहु, हञ्जे ! साहु ! मए वि एव्वं ज्जेव हिअए मन्तिदं (साधु हञ्जे ! साधु। मयापि एवमेव हृदयेन मन्त्रितम्)

चेटी—अज्ज तदो तदो ?। (आर्य्ये ! ततस्ततः ?।)

ण्वुलि अकादेशे च रूपम्। अपूर्वदेशस्य = विशेषदेशस्य दर्शनम् = अवलोकनं कुतूहलेन = कौतुकेन इहागतः अस्मिन् देशे समुपस्थितः। दत्वा = दानादिकं कृत्वा न कीर्त्तयति = न कमपि कथयति, न स्मरतीति भावः। यशोलिप्सया न किमपि करोति अपकृतम् = अपकारम् विस्मरति।

चेटीति—आर्यायाः = वसन्तसेनायाः मनोरथान्तरस्य = अन्तःकामनायाः गुणान् = तदेकपरत्वादिसामर्थ्यानि चोरयित्वा = स्वविषयकाणि विधाय उज्जयिनीम् = अवन्तिदेशस्य राजधानीम् अलङ्करोति = भूषयति स कः ? इति प्रश्नमुखेन आर्यः चारुदत्त एव इति भङ्ग्या बोधयति।

वसन्त इति—हृदयेन = मनसा सह मन्त्रितम्।

की प्रशंसा सुनकर इस अद्भुत देश को देखने के कौतूहल से मैं यहाँ आया हूँ। यहाँ भी उज्जयिनी में प्रविष्ट होकर मैंने एक आर्य की श्रद्धापूर्वक सेवा की। जो अत्यन्त दर्शनीय हैं, प्रियवादी हैं, गुप्तदानी हैं तथा दूसरे के अपकार को शीघ्र भूल जाते हैं। अधिक कहने से क्या लाभ, उदारता के कारण वे अपनी आत्मा को दूसरे की वस्तु समझते हैं और शरणागतों की प्रेम से रक्षा करते हैं।

चेटी—आर्या के मनोरथ चारुदत्त के गुणों को चुराकर इस समय कौन महानुभाव उज्जयिनी को विभूषित कर रहे हैं।

वसन्त—वाह दासी ! वाह ! मैं भी यह सोच रही थी।

चेटी—आर्ये ! इसके बाद।

संवा—अज्जए ! शे दाणिं अणुक्कोशकिदेहिं पदाणेहिं ! (आर्ये ! स इदानीमनुक्रोशकृतैः प्रदानैः)

वसन्त—किं उवरत्तविहवो संवुत्तो ? (किमुपरतविभवः संवृत्तः)

संवा—अणाचक्खिदे ज्जेव कधं अज्जआए विण्णादं ?। (अनाख्यातमेव कथामार्यया विज्ञातम् ?)

वसन्त—किं एत्थ जाणीअदि। दुल्लहा गुणा विहवा अ। अपेएसु तडाएसु बहुदरं उदअं भोदि। (किमत्र ज्ञायते। दुर्लभा गुणा विभवाश्च। अपेयेषु तडागेषु बहुतरमुदकं भवति)

चेटी—अज्ज ! किंणामधेओ सो ?। (आर्य ! किंनामधेयः खलु सः ?)

संवा—अज्जे ! के दाणि तश्श भूदल-मिअंकस्स णामं ण जाणादि। शो क्खु शेट्ठिचत्तले पडिवशदि, शलाहणिज्जणामधेए अज्जचालुदत्तो णाम। (आर्ये ! क इदानीं तस्य भूतलमृगाङ्कस्य नाम न जानाति। स खलु श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति; श्लाघनीयनामधेय आर्यचारुदत्तो नाम)

संवाहक इति—अनुक्रोशेन = कृपया कृतैः प्रदानैः।

वसन्त इति—उपरतः=विनष्टः विभवः यस्य तथोक्तः संवृत्तः=संजातः।

संवाहक इति—अनाख्यातमेव = अकथितमेव।

वसन्त इति—गुणाः = औदार्यादयः विभवाः=धनानि चैकत्र न तिष्ठन्ति इत्युक्तम्—'अत्यन्तगुणमेधावी चतुर्णामेकभाजनम्। अल्पायुरतपस्यो वा दरिद्रो वा रुजार्दितः॥' इति। कथमिति सोपपत्तिकं द्रढयति-अपेयेषु=पातुमयोग्येषु तडागेषु= सरोवरेषु बहुतरमुदकं भवति, व्ययाभावात्। तथैवौदार्यादिगुणहीनेषु जनेषु विभवास्तिष्ठन्ति। अप्रस्तुतप्रशंसा नामालङ्कारः।

संवाहक इति—भूतलस्य=भूमण्डलस्य मृगाङ्कः=चन्द्रमाः।

संवाहक—आर्ये ! दान देते-देते वे इस समय।

वसन्त—क्या वे धनहीन हो गए हैं ?

संवाहक—बिना कहे ही आप कैसे जान गई ?

वसन्त—यहाँ मैंने जाना क्या ? गुण और धन दोनों का मेल असंभव है। जिस तालाब का पानी पीने लायक नहीं रहता उस में जल अधिक रहता है।

चेटी—आर्य ! उन महानुभाव का नाम क्या है ?

संवाहक—आर्ये ! उन, भूमण्डल के चन्द्रमा का नाम कौन नहीं जानता है ? वे बनियों के महल्ले में रहते हैं। उनका नाम पूजनीय आर्य चारुदत्त है !

वसन्त—(सहर्षमासनादवतीर्य्य) अज्जस्स अत्तणकेरकं एदं गेहं ! हञ्जे ! देहि अस्स आसणं, तालवेण्टअं गेण्ह । परिस्समो अज्जस्स बाधेदि । (आर्यस्य आत्मीयमेतद्गेहम् । हञ्जे ! देहि अस्य आसनम्, तालवृन्तकं गृहाण, परिश्रम आर्यस्य बाधते)

चेटी—(तथा करोति)

संवा—(स्वागतम्) कधं अज्ज चालुदत्तस्स णामशङ्कीत्तणेण इादशे मे आदले । शाहु, अज्जचालुदत्त ! शाहु, पहुवीए तुमं एक्के जीवशि शेशे उण जणे शशदि । (इति पादयोर्निपत्य) भोदु, अज्जए ! भोदु । आशणे णिशीददु अज्जआ ! (कथम् आर्यचारुदत्तस्य नामसङ्कीर्त्तनेन ईदृशो मे आदरः । साधु, आर्य चारुदत्त ! साधु, पृथिव्यां त्वमेको जीवसि; शेषः पुनर्जनः श्वसिति । भवतु, आर्ये ! आसने निषीदतु आर्या)

वसन्त—(आसने समुपविश्य) अज्ज ! कुदो सो धणिओ ? (आर्य ! कुतः स धनिकः ?)

वसन्त इति—आर्यस्य=चारुदत्तस्य आत्मीयम् = स्वकीयम् एतद्गेहम्=भवनम् अस्य=चारुदत्तसम्बन्धिनः तालवृन्तकं गृहाण श्रमविन्दोरपहरणाय । प्रहर्षो नामालङ्कारः ।

संवा इति—जीवसि=जीवनसाफल्योपयिकसत्कर्मकरणात् साधु जीवसि धन्यं तव जीवनधारणम् । श्वसिति=भस्त्रावत्केवलं श्वासं त्यजति ।

वसन्त इति—स धनिकः यस्य त्वं दशसुवर्णं धारयसि कुतः=क्व वर्तसे ।

वसन्त—(प्रसन्नतापूर्वक आसन से उतर कर) आर्य ! आप का यह अपना घर है । दासी ! इन्हें बैठने के लिए आसन दो । पंखा लो । श्रम आप को पीड़ित कर रहा है ।

चेटी—(वैसा ही करती है)

संवाहक—(अपने मन में) अहा ! आर्य चारुदत्त के नाम लेने ही मात्र से मेरा इतना आदर होता है ! धन्य हो, आर्य चारुदत्त ! धन्य हो ! पृथ्वी पर तुम्हारा ही एक जीवन सफल है और लोगों का जीवन तो व्यर्थ है । (चरणों पर गिरकर) बहुत हुआ, आर्ये ! बहुत हुआ । अब आप आसन पर बैठ जांय ।

वसन्त—(आसन पर बैठ कर) आर्य ! वह धनिक कहाँ है ? (जो तुम से दश सुवर्ण मांगता है) ।

संवा—शक्कालधणे क्खु शज्जणे काह ण होइ चलाचले धणे ? ।
जे पूइदुंपि जाणादि शे पूआविशेशं पि जाणादि ॥ १५ ॥
(सत्कारधनः खलु सज्जनः कस्य न भवति चलाचलं धनम् ।
यः पूजयितुमपि जनाति स पूजाविशेषमपि जानाति ॥ १५ ॥)

वसन्त—तदो तदो ? । (ततस्ततः ?)

संवा—तदो, तेण अज्जेण शवित्ती पलिचालके किदोम्हि चालित्ताव-शेशे अ तस्सिं जूदोवजीविम्हि शंबुत्ते । तदो, भाअधेअविशमदाए दश—शुवणअं जूदे हालिदं । (ततः तेन आर्येण सवृत्तिः परिचारकः कृतोऽस्मि ।

अन्वयः—सत्कारधनःखलु सज्जनः चलाचलं धनं कस्य न भवति ? यः पूजयितुम् अपि जानाति स पूजाविशेषमपि जानाति ।

सत्कारेति—सत्कारः = अशरणेभ्यः शरणदानादिरूपम् धनं यस्य सः तादृशः सज्जनः = सत्पुरुषो भवति, चलाचलम् = क्षणिकम् धनं = विभवः कस्य = पुरुषस्य न भवति, अर्थात्सर्वस्यैव पुरुषस्य भवति अत एव तत्र सज्ज्ञानानामास्था न भवति, सत्कार एव चिरस्थायी विभवः सद्भिः स्वीक्रियते । एवं दरिद्रोऽप्यतिसत्कारकश्चारुदत्तोऽतीव सम्मान्योऽस्तीति भावः । यः=जनः पूजयितुम्=सम्मानंकर्त्तुम् अपि जानाति=सूनृतवागादिनावगच्छति । स एव जनः पूजाविशेषम्=अशनवसनादिदानरूपम् अपि जानाति । अत्राप्रस्तुतप्रशंसानामालङ्कारः, परिसंख्या काव्यलिङ्गञ्च परस्पराङ्गाङ्गिभावेन संकरश्च । मात्रासमकं नाम वृत्तम् ॥ १५ ॥

सरलार्थः—यः सत्कारधनः स एव पुरुषः सत्पुरुषः परान् समादतुं जानाति स एव समादरस्य प्रकारभेदमपि जानातीति भावः ॥ १५ ॥

संवाहक इति तेन = चारुदत्तेन आर्येण = श्रेष्ठेन सवृत्तिः = सवेतनः 'वृत्तिर्वर्तनजीवने' इत्यमरः । परिचारकः=किङ्करः 'किङ्करप्रेष्यभुजिष्यपरिचारकाः' इत्यमरः

संवाहक—सत्कार ही सज्जनों का स्थिर धन है । धन किस के यहाँ स्थिर हो कर रहा हे ? जो दूसरों का सम्मान करना जानता है वह सम्मान के उपकरणों को भी जानता है ॥ १५ ॥

वसन्त—उसके बाद ?

संवाहक—उसके बाद उचित वेतन नियत कर उन्होंने मुझे नौकर रख

चारित्र्यावशेषे च तस्मिन् द्यूतोपजीवी अस्मि संवृत्तः ? ततो भागधेयविषमतया दश सुवर्णं द्यूते हारितम्)

माथुरः—उच्छादिदोम्हि मुसिदोम्हि । (उत्सादितोऽस्मि मुषितोऽस्मि)

संवा—एदे दे शहिअ-जूदिअला मं अणुगंधअन्ति । शंपदं शुणिअ अज्जआ पमाणं । (एतौ तौ सभिकद्यूतकरौ मामनुसन्धत्तः । साम्प्रतं श्रुत्वा आर्या प्रमाणम्)

वसन्त—मदणिए ! वास-पादव-विशण्ठुलदाए पक्खिणो इदो तदो वि आहिण्डन्ति । हञ्जे ! ता गच्छा, एदाणं सहिअजूदिअराणं 'अअं अज्जो ज्जेव पडिवादेदि' त्ति इमं हत्थाभरणं तुमं देहि । [इति हस्तात् कटकमाकृष्य चेटयाः प्रयच्छति] (मदनिके ! वास-पादप-विसंष्ठुलतया पक्षिण इतस्ततोऽपि आहिण्डन्ते । हञ्जे ! तद् गच्छ, एतयोः सभिकद्यूतकरयोः 'अयमार्य एव प्रतिपादयति' इति, इदं हस्ताभरणं त्वं देहि)

कृतः । चरित्रस्य भावः चारित्र्यम्, चारित्र्यमेवावशेषो यस्य तस्मिन् चारित्र्यावशेषे= नष्टविभव सत्यपि आचारशेषे । भागधेयस्य = भाग्यस्य विषमतया=प्रतिकूलतया ।

माथुर इति—आशाया भङ्गात् उत्सादितः=उत्सन्नतां गतः दशसुवर्णधनापहरणात् मुषितः=चोरितः अस्मि धूर्तसंवाहकेनेति शेषः ।

संवाहक इति—सभिकद्यूतकरौ = द्यूतकराध्यक्षद्यूतकरौ माम्=संवाहकम् अनुसन्धत्तः = अनुसन्धानं कुरुतः (अनुसरणं कुरुतः) साम्प्रतम् = इदानीम् आर्या = वसन्तसेना प्रमाणम् = निर्णायिका ।

वसन्त इति—वासपादपस्य=नीडविटपस्य विसंष्ठुलतया = झंझावातादिनोत्पाटिततया आहिण्डन्ते=आश्रयार्थमुड्डीयन्ते । तथाऽयमपि संवाहकः स्वाश्रयचारुदत्तस्य दशाविपर्यये इतस्ततो भ्रमतीति भावः । अप्रस्तुतप्रशंसा । आर्य एव=संवाहक एव प्रतिपादयति = कथयति (ददाति) । अत्र साहाय्यं नाम नाट्यालङ्कारः ।

लिया । उनके निर्धन हो जाने पर मैं जुआड़ी हो गया । फिर भाग्य के दोष से मैं जुआ में दश सुवर्ण हार गया ।

माथुर—मैं विनष्ट हो गया, मैं लूट लिया गया ।

संवाहक—यही दोनों सभाध्यक्ष और द्यूतकर मुझे खोजते हुए यहाँ आ गए । अब इसके बाद आप ही उचित विचार करें ।

वसन्त—मदनिके ! वृक्ष के हिल जाने से उस पर निवास करने वाली पक्षियाँ भी इधर-उधर विचलित हो जाती हैं । दासी ! तब जाओ और सभाध्यक्ष

चेटी—(गृहीत्वा) जं अज्जआ आणवेदि। (यदार्या आज्ञापयति)

(इति निष्क्रान्ता)

माथुरः—उच्छादिदोम्हि मुसिदोम्हि। (उत्सादितोऽस्मि, मुषितोऽस्मि)

चेटी—जधा एदे उद्धं पेक्खन्ति, दीहं णीसन्ति, अहिलहन्ति अ दुआर—णिहिद–लोअणा; तधा तक्केमि–एदे दे सहिअजूदिअरा हुविस्सन्ति। (उपगम्य) अज्ज। वन्दामि (यथा एतौ ऊर्ध्वं प्रेक्षेते, दीर्घं निश्वसितः, अभिलपतश्च द्वारनिहितलोचनौ तथा तर्कयामि—एतौ तौ सभिकद्यूतकरौ भविष्यतः आर्य ! वन्दे)

माथुरः—सुहं तुए होदु। (सुखं तव भवतु)

चेटी—अज्ज ! कदरो तुह्माणं सहिओ ?। (आर्य ! कतरो युवयोः सभिकः ?)

माथुरः—कस्स तुणं तुणमज्झे ! अहरेण रद दट्ठ दुव्विणोदेण।
जप्पसि मणोहल–वअणं आलोअन्ती कडक्खेण ॥ १६ ॥

चेटीति—निःश्वसितः = श्वासं मुञ्चतः अभिलपतश्च अन्योऽन्यं वार्तालापं कुरुतः। द्वारनिहितलोचनौ = द्वारदत्तनेत्रौ।

तथा द्यूतकर के हाथ में तुम इस हाथ के आभूषण को दो और कहो कि इसे संवाहक ने आप के लिए दिया। (हाथ से कंकण उतार कर चेटी को देती हैं)

चेटी—(लेकर) जैसी आप की आज्ञा। (चली गई)

माथुर—मैं विनष्ट हो गया, मैं लूट लिया गया।

चेटी—क्योंकि ये दोनों ऊपर ताक रहे हैं, दीर्घ निःश्वास ले रहे हैं, परस्पर वार्तालाप करते हुए ये दरवाजे पर आँख गड़ाए हुए हैं। इसलिए मैं अनुमान करती हूँ कि ये ही दोनों द्यूतसमाध्यक्ष और द्यूतकर होंगे। (समीप जाकर) आर्य ! नमस्कार करती हूँ !

माथुर—तुम्हारा कल्याण हो।

चेटी—आर्य ! आप दोनों में से समाध्यक्ष कौन है ?

माथुर—हे कृशोदरि ! तुम कौन हो ? जो सुरत के समय नायक से क्षत चपल होठों से मनोहर वाणी निकालती हो तथा मनोरम कटाक्ष से ताकती हो ॥

(कस्य त्वं तनुमध्ये ! अधरेण रत–दष्टदुर्विनीतेन ।
जल्पसि मनोहरवचनमालोकयन्ती कटाक्षेण ।। १६ ।।)

णत्थि मम विह्वो, अस्मत्त व्वज । (नास्ति मम विभवः, अन्यत्र ब्रज)

चेटी—जइ ईदिसाइं ण मन्तसि ता ण होसि जूदिअरो। अत्थि को-वि तुम्हाणं धारओ ? (यदि ईदृशानि ननु मन्त्रयसि, तदा न भवसि द्यूतकरः । अस्ति कोऽपि युष्माकं धारकः ?)

माथुरः—अत्थि दशसुवण्णं धालेदि। किं तस्स ? । (अस्ति, दशसुवर्ण धारयति । किं तस्य ? ।)

चेटी—तस्स कारणादो अज्जआ इमं हत्थाभरणं पाड़वादेदि। शहि णहि, सों ज्जेव पड़िवादेदि। (तस्य कारणात् आर्या इदं हस्ताभरणं प्रतिपादयति । नहि नहि, स एव प्रतिपादयति ।)

अन्वयः—तनुमध्ये ! त्वं कस्य असि ? कटाक्षेण आलोकयन्ती रतदष्टदुर्विनीतेन अधरेण मनोहरवचनम् जल्पसि ।

कस्येति—हे तनुमध्ये = हे कृशोदरि ! त्वं कस्य = जनस्य नायिका दासी वा इति शेषः, असि = विद्यसे कटाक्षेण = अपाङ्गदर्शनेन आलोकयन्ती सती रते = सुरतसमये दष्टः = कृतदन्तक्षतः अत एव दुर्विनीतः = साहसयुक्तः तेन अधरेण मनोहरवचनम् = मधुरां वाणीम् जल्पसि = ब्रूषे । आर्या जातिः ।। १६ ।।

सरलार्थः—हे कृशोदरि ! सुरतकालिकखण्डितदर्शनेन निम्नौष्ठेन उपलक्षिता वक्रदर्शनेन पश्यन्ती मिष्टवाक्यं ब्रवीषीति भावः ।। १६ ।।

नास्तीति—विभवः = विषयभोगोपयोगि धनम् ।

चेटीति—धारयतीति धारकः = अधमर्णः ।

चेटी—प्रतिपादयति = प्रयच्छति ।

हमारे पास द्रव्य नहीं है, दूसरे के पास जाओ ।

चेटी—यदि तुम्हारा विचार इस प्रकार है तो तुम द्यूतकर नहीं हो, क्या तुम लोगों का कोई ऋणी भी है ?

माथुर—हाँ वह दश सुवर्ण का ऋणी है । उसका क्या हुआ ?

चेटी—उसी के कारण आर्या ने यह अपना कंकण दिया है । नहीं नहीं, उस ऋणी ने ही भेजा है ।

माथुरः—(सहर्षं गृहीत्वा) अले ! भणेशि तं कुलपुत्तं—'भूदं तुए गण्डे । आअच्छ, पुणो जूदं रमअ ।' (इति निष्क्रान्तौ) । (अरे ? भणिष्यसि तं कुलपुत्रम्—'भूतस्तव गण्डः, आगच्छ पुनर्द्यूतं रमय) ।

चेटी—(वसन्तसेनामुपसृत्य) अज्जए ! पोड़तुट्टा गदा सहिअजूदिअरा । (आर्ये ! परितुष्टौ गतौ सभिक-द्यूतकरौ) ।

वसन्त—ता गच्छदु, अज्ज बन्धुअणो समस्सदु । (तद्गच्छतु, अद्य बन्धुजनः समाश्वसितु ।)

संवा—अज्जए ! जइ एव्वं, ता इअं कला परिअणहत्थगदा कलीअदु । (आर्यं ! यद्येवम्, तदियं कला परिजनहस्तगता क्रियताम ।)

वसन्त—अज्ज ! जस्स कारणादो इअं कला सिक्खीअदि, सो ज्वेव अज्जेण सुस्सूसिद-पुरुव्वो सुस्सूसिदव्वो । (आर्यं ! यस्य कारणादियं कल शिक्ष्यते, स एव आर्येण शुश्रूषितव्यः ।)

माथुर इति—कुलपुत्रम्=उत्तमवंशसन्तानम् गण्डः=दातव्यदानाय वाचिकोऽवसरनिश्चयः भूतः—सम्पन्नः !

वसन्त इति—बन्धुजनः=सम्बन्धिजनः समाश्वसितु=उद्वेगरहितो भवतु ।

सवाहक इति—यद्येवम्=अयाचितदानेन यमोपरि कृपातिरेकश्चेत् इयं कला=सवाहनलक्षणा परिजनस्य=अन्तरङ्गीभूतस्य मम संवाहकस्य हस्तगता=अधीना क्रियताम् मां किङ्करं कुरु इत्याशयः ।

वसन्त इति—यस्य=चारुदत्तस्य कारणात्=हेतोः कला=संवाहनादिरूपा शिक्ष्यते=शिक्षिता स एव=चारुदत्ताख्यः शुश्रूषितव्यः=सेवनीयः ।

माथुर—(प्रसंनतापूर्वक लेकर) अरे ! उस कुलपुत्र से कहना—'तुम्हारी शर्त पूरी हो गई' आओ पुनः जुआ खेलो ।

(दोनों चले गए)

चेटी—(वसन्त सेना के निकट आकर) आर्यें ! वे दोनों प्रसन्न होकर चले गये ।

वसन्त—अच्छा हुआ वे चले गये, आज आत्मीय जन प्रसन्न हों ।

संवाहक—आर्ये ! यदि ऐसी बात तो लाइए मैं आप की देह दबाऊं ।

वसन्त—आर्य ! जिस (चारुदत्त) के कारण आप ने यह कला सीखी, उसी पूर्वसेवित पुरुष की आप सेवा करें ।

संवा—(स्वगतम्) अज्जआए णिउणं पच्चादिट्ठोम्हि। कधं पच्चुवकलिश्शं ! । (प्रकाशम्) अज्जए ! अहं एदिणा जूदिअलावमाणेण शक्कशमणके हुविश्शं। ता शंवाहके जूदिअले शक्कशमणके शंवुत्तेति शुमलिदव्वा अज्जआए एदे अक्खलु (आर्यया निपुणं प्रत्या. दष्टोऽस्मि। कथं प्रत्युपकरिष्ये ? । आर्ये ! अहमेतेन द्यूतकरापमानेन शाक्यश्रमणको भविष्यामि। तत् संवाहको द्यूतकरः शाक्यश्रमणकः संवृत इति स्मर्तव्यानि आर्यया एतानि अक्षराणि)

वसन्त—अज्ज ! अलं साहसेण (आर्ये ! अलं साहसेन।)

संवा—अज्जए ! कले णिच्चए ! (इति परिक्रम्य)। (आर्ये ! कृतो निश्चयः।)

जूदेण तं कदं मे जं वीहत्थं जणश्श सव्वश्श।
एण्हिं पाअडशीशे णलिन्दमग्गेण विहलिश्शं॥ १७॥
(द्यूतेन तत् कृतं मे यद्विहस्तं जनस्य सर्वस्य।
इदानीं प्रकट शीर्षो नरेन्द्रमार्गेण विहरिष्यामि॥ १७॥

संवाहक इति—प्रत्यादिष्टः = प्रत्याख्यातः। शाक्यश्रमणकः=बौद्धभिक्षुः।

वसन्त इति—साहसेन = संन्यासविषयिण्या प्रवृत्त्या।

अन्वयः—सर्वस्य जनस्य विहस्तम् तत् मे द्यूतेन कृतम् इदानीम् प्रकटशीर्षः नरेन्द्रमार्गेण विहरिष्यामि।

द्यूतेनेति—सर्वस्य = सकलस्य जनस्य = लोकस्य सविधे यत् विहस्तम्=व्याकुलम् 'विहस्तव्याकुलावि'त्यमरः। कृतवानिति शेषः। तत् = व्याकुलत्वं मे = अक्षक्रीडया = विहितम्। इदानीम् = साम्प्रतम् प्रकटम्=भिक्षुकत्वेनाकुतोभयत्वात् प्रकाशितम् शीर्षम्=मस्तकम यस्य सः तथाभूतः नरेन्द्रमार्गेण = प्रधानमार्गेण विहरिष्यामि=भ्रमणं करिष्यामि। आर्या जातिः॥ १७॥

संवाहक—(अपने मन में) आर्या ने इसे चतुरतापूर्वक अस्वीकार कर दिया। तब इनका कैसे प्रत्युपकार करूँ ? (प्रकट) आर्ये ! मैं इस जुआड़ी के अपमान से बौद्ध–संन्यासी हो जाऊँगा। आप इन अक्षरों को अवश्य स्मरण रखेंगी कि 'जुआड़ी संवाहक बौद्ध संन्यासी हो गया।'

वसन्तसेना—आर्ये ! इतना साहस करने से क्या लाभ ?

संवाहक—आर्ये यह मेरा दृढ़ संकल्प हो चुका है। (घूमकर)

जुआ के कारण मैं सभी मनुष्यों के सामने अपमानित हुआ। अब इस समय सिर मुँड़ा कर मैं सड़क पर निर्भीक. आनन्दपूर्वक घूमूँगा॥ १७॥

(नेपथ्ये कलकलः)

संवा—(आकर्ण्य) अले ! किं स्मेदं ! (आकाशे) किं भणाध ? 'एशे क्खु वसन्तशेणाआए खुण्टमोडके णाम दुट्ठहत्थी विअलेदि'त्ति । अहो ? अज्जआए गन्धगअं पेक्खिश्शं गदुअ । अहवा किं मम एदिणा । जधाववशिदं अणुचिट्ठिश्शं । (अरे किं न्विदम् ? किं भणत ? एषा खलु वसन्तसेनायाः खुण्टमोडको नाम दुष्टहस्ती विकलयतीति । अहो ! आर्याया गन्धगजं प्रेक्षिष्ये गत्वा । अथवा, किं मम एतेन, यथाव्यवसितमनुष्ठास्यामि ।

(इति निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशति अपटीक्षेपेण विकटोज्ज्वलवेषः कर्णपूरकः)

कर्ण—कहिं ? कहिं अज्जआ । (कस्मिन् ? कस्मिन् आर्या ? ।)

चेटी—दुम्मणुस्स ! किं ते उव्वेअकारणं ? जं अग्गदोवट्ठिदं अज्जअं ण पेक्खसि । (दुर्मनुष्य ! किं ते उद्वेगकारणम् ? यदग्रतोऽवस्थितामार्यां न प्रेक्षसे)

संवाहक इति—खुण्टमोडकः=आलानोत्पाटी दुष्टहस्ती=दुष्टगजः आर्यायाः= वसन्तसेनायाः गन्धगजम्=बदस्राविहस्तिनम् प्रेक्षिष्ये अवलोकयिष्यामि यथाव्यवसितम्=निश्चितपूर्वम् भिक्षुरूपधारणम् ।

तत इति—कर्णपूरकः=वसन्तसेनायाः भृत्यविशेषः सुधामधुरशब्देन श्रोतुः कर्णौ पूरयतीत्यर्थकः । अस्य व्यस्तहृदयतया आर्त्तत्वं अपटीक्षेपेण प्रवेश उच्यते—'पटीक्षेपो न कर्तव्यः आर्त्तराजप्रवेशने ।' अत्र बिन्दुनामअर्थप्रकृतिः तल्लक्षणम्—'अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ।

(नेपथ्य में कोलाहल)

संवाहक—(सुनकर) अरे ! यह क्या है । (आकाश की ओर) क्या कहते हो ? वसन्तसेना का खुण्टमोडक नाम का दुष्ट हाथी विचलित कर रहा है । अरे ! जाकर आर्या के गन्धगज को देखूंगा । अथवा इससे मुझे क्या लाभ ? मैं अपने दृढ़ संकल्प को पूर्ण करूं ।

(चला गया)

(इसके बाद यवनिका को बिना हटाए भयंकर एवं स्वच्छ वस्त्रधारी कर्णपूरक आता है ।)

कर्णपूरक—कहाँ, आर्या कहाँ हैं ।

चेटी—रे दुर्जन मनुष्य ! तुम्हारे घबराहट का कारण क्या है ? कि सम्मुख स्थित आर्या को नहीं देखते हो ।

कर्ण—(दृष्ट्वा) अज्जए ! वन्दामिं। (आर्ये ? वन्दे।)

वसन्त—कण्णऊरअ। परितुट्ठमुहो लक्खीअदि, ता किं स्मेदं !। (कर्णपूरक। परितुष्टमुखो लक्ष्यसे, तत् त्विदम् !।)

कर्ण—(सविस्मयम्) अज्जए ! वञ्चिदासि, जाए अज्ज कस्मऊरअस्स परिक्कमो ण दिट्ठो। (आर्ये ! वञ्चितासि, यया अद्य कर्णपूकस्य पराक्रमो न दृष्ट

वसन्त—कण्णऊरअ ! किं किं ! (कर्णपूरक ! किं किम् !

कर्ण—सुणादु अज्जआ; जो सो अज्जआए खुण्टमोडओ णाम दुट्ठ-हत्थी अलाणत्थाम्भं भञ्जिअ, महोमेत्तं वावादिअ महन्तं संक्खोहं करन्तो राअमग्गं ओदिस्मो। तदो एत्थन्तरे उग्घुट्टंजणेण—(श्रृणोतु आर्याः यः स आर्यायाः खुण्टमोडको नाम दुष्टहस्ती, स आलानस्तम्भं भंक्त्वा, महामात्रं व्यापाद्य महान्तं संक्षोभं कुर्वन्, राजमार्गमवतीर्णः। ततः अत्रान्तरे उद्घुष्टं जनेन)—

अवणेध वालअज तुरिदं आरुहध वुक्ख-पासादं।
कि ण हु पेक्खध पुरदो दुट्टो हत्थी इदो एदि॥ १८॥

वसन्त इति—परितुष्टम् = सानन्दतया प्रसन्नं मुखं यस्य सः लक्ष्यते=दृश्यते।

कर्ण इति—आलानम् = बन्धनस्तम्भम् 'आलानं बन्धस्तम्भोऽथ श्रृङ्खलः' यद्यप्यत्र स्तम्भपदमधिकम्, तथापि स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैरित्यादिवत् बन्धन-मात्रार्थकमालानपदम्। महामात्रम्=प्रधानहस्तिपकम् (महावत इति भाषा) उद्घुष्टं = कोलाहलैकृतम्।

कर्णपूरक—(देखकर) आर्य प्रणाम।

वसन्त—कर्णपूरक ! तुम बड़े प्रसन्न-मुख दिखलाई पड़ते हो ! इसका क्या कारण है !

कर्णपूरक—(आश्चर्य के साथ) आर्य ! तू वंचित रह गई, जो आज तूने मेरा पराक्रम नहीं देखा।

वसन्त—क्या-क्या ?

कर्णपूरक—सुनिए आर्या। आपका खुण्डमोडक नाम का जो दुष्ट-हाथी है, वह बधनस्तम्भ को उखाड़ कर, प्रधान महावत को मार कर घोर उपद्रव मचाते हुए सड़क पर गया। उसके बाद मनुष्य चिल्लाने लगे—

सड़क पर से बालकों को हटा लो। शीघ्र पेड़ पर तथा कोठे पर चढ़

(अपनयत बालकजनं त्वरितमारोहत वृक्षप्रासादम् ।
किं नु खलु प्रेक्षध्वं पुरतो दुष्टो हस्ती इत एति ॥ १८ ॥)

अवि अ । (अपि च)

विचलइ णेउरजुअलं छिज्जन्ति अ मेहला मणिक्खइआ ।
वलआ अ सुन्दरदरा रअङ्कुर जाल-पड़िवद्धा ॥ १९ ॥
(विचलति नूपुरयुगलं छिद्यन्ते च मेखला मणिखचिताः ।
वलयाश्च सुन्दरतरां रत्नाङ्कुरजालप्रतिबद्धाः ॥ १९ ॥)

तदो तेण दुट्ठहत्थिणा कल-चलण-रदणेहिं फुल्ल-णलिणिं विअ णअरिं उज्जइणिं अवगाहमाणेण समासादिदो परिव्वाजओ । तं अ परिभट्ट-दण्डआ भाअणं सीअरेहिं सिञ्चिअ दन्तन्तरे क्खित्तं पेक्खिअ पुणोवि

अपनयतेति—बालकजनम् अपनयत वृक्षप्रासादम् त्वरितम् आरोहत, पुरतः किन्नु खलु प्रेक्षध्वम् दुष्टः हस्ती इत एति ॥

अन्वयः—नूपुरयुगलम् विचलति मणिखचिता मेखलाः छिद्यन्ते च रत्नाङ्कुर-जालप्रतिबद्धाः सुन्दरतरा वलयाः च (विघटन्ते)

विचलतीति—नुपुरयुगलम्=पादकटकयुगम् विचलति=स्थानाद् भ्रंशते (शीघ्र तरगतिशीलानां नारीणां गमनवेगादिति सर्वत्र योजनीयम्) मणिखचिताः=अनु-विद्धमणिकाः मेखलाः=काञ्च्यः छिद्यन्ते=इतस्ततो विशीर्यन्ते च एवम्=रत्नाङ्कुर-जालेन=लघुरत्नकलापेन प्रतिबद्धाः=अनुस्यूताः । अत एव सुन्दरतराः=अतिशय-शोभायुक्ताः वलयाः=कटकानि (विघटन्ते इति शेषः) 'उक्तावानन्दमग्नादेः स्या-न्न्यूनपदता गुणः' इति दर्पणोक्तेः अत्र पलायमानानां नारीणां गतिवेगादिति पदा-भावेऽपि न न्यूनपदतादोषः प्रत्युत गुण एवेति ॥ १९ ॥

जाओ क्या तुम लोग नहीं देखते हो कि दुष्ट हाथी आगे आ रहा है ॥ १८ ॥
और भी—

दोनों चरणों के नूपुर झंकृत होने लगे । मणियों से गूंथी हुई करधनी तथा छोटे-छोटे रत्नों से अनुविद्ध अतिसुन्दर कंकण टूटने लगे । (दुष्ट हाथी के भय से भागने के समय) ॥ १९ ॥

उसके बाद शुण्ड, चरण तथा दांतों के प्रहार से विकसित कमलिनी वाले तालाब के समान उस उज्जयिनी को मथते हुए उस दुष्ट हाथी ने संन्यासी को पकड़ लिया । इसके बाद च्युत दण्डकमण्डलु वाले संन्यासी को जलबिन्दु से

उग्घुट्टं जणेण—'हा परिव्वाजओ वावादीअदि'त्ति। (ततस्तेन दुष्टहस्तिना कर-चरण-रदनैः फुल्लनलिनीमिव नगरीमुज्जयिनीमवगाहमानेनन समासादितः परिव्राजकः। तच्च परिभ्रष्टचण्ड-कुण्डिकाभाजनं शीकरैः सिक्त्वा दन्तान्तरे क्षिप्तं प्रेक्ष्य, पुनरपि उद्‌घुष्टं जनेन—'हा परिव्राजको व्यापाद्यते' इति)

वसन्त—(ससम्भ्रमम्) अहो पमादो! अहो पमादो!। (अहो प्रमादः। अहो प्रमादः।)

कर्ण—अलं सम्भमेण। सुणादु दाव अज्जआ। तदो विच्छिण्णविस-ण्ठुल-सिङ्खला-कलावअं दन्तरपग्गहिदं परिव्वाजअं उव्वहन्तं तं पेक्खिअ, कण्णऊरएण मए णहि णहि अज्जआए अण्ण-पिण्डोवपुट्टेण दासेण वामचलणेण जूदखेलअं उग्घुसिअ, उगघुसिअ, तुरिदं आवणादो लोहदण्डं गेण्हिअ आआरिदो सो दुट्टहत्थी। (अलं सम्भ्रमेण। शृणोतु तावदार्या। ततो विच्छिन्न-विसंष्ठुल-शृङ्खलाकलापम् दन्तान्तर परिगृहीतं परिव्राजकमुद्वहन्तं तं

तत इति—ततः=तदनन्तरम् दुष्टहस्तिना=दुष्टगजेन करः=शुण्डादण्डः चरणाः= पादाः रदनौ=अग्रदन्तौ च तैः फुल्लनलिनीमिव=विकिचित्पद्माम् सरसीमिव नगरीमुज्जयिनीम्=अवन्तिकाराजधानीम् अवगाहमानेन=आलोडनं कुर्वता समासा दितः=सम्यग्गृहीतः परिव्राजकः=अचिरभक्षुकः दण्डः=संन्यासियोग्यः पला-शादिदण्डः कुण्डिकाभाजनम्=कमण्डलुपात्रम् परिभ्रष्टे=त्रासात् हस्ततः च्युते दण्डकुण्डिकाभिभाजने यस्य तम् शीकरैः=आननस्थिताम्बुकणैः दन्तयोरन्तरम्= मध्यं तस्मिन्। क्षिप्तम्=प्राप्तम् उद्‌घुष्टम्=उच्चैः कथितम्।

वसन्त इति—प्रमादशब्दो विपत्तिबोधकौ।

कर्णं इति—ससम्भ्रमेण=त्वरया विच्छिन्नः=त्रुटितः विसंष्ठुलः=इतस्ततो विकीर्णः शृङ्खलानाम्=बन्धनीभूतलौहसूत्राणाम् कलापः=समूहः येन तम् अन्त-

---

अभिषिक्त उस हाथी के भयानक दाँतों के बीच शीघ्र उन्हें देख कर फिर भी मनुष्य चिल्ला उठे—'हाय! संन्यासी मारा जा रहा है।

वसन्त—(घबड़ाहट के साथ) अरे! अनर्थ हुआ!!

कर्णपूरक—उद्वेग करने की आवश्यकता नहीं है। सुनिए आर्या! इसके बद शृङ्खलाओं को तोड़-मोड़ कर इधर उधर कर दाँतों के बीच पकड़े हुए

संन्यासी को ऊपर उठाते हुए देखकर मैं कर्णपूरक ने, नहीं-नहीं, आप के अन्न

प्रेक्ष्य, कर्णपूरकेण मया, नहि नहि, आर्याया अन्नपिण्डोपपुष्टेन दासेन, वामचरणेन द्यूतखेलकम् उद्घुष्य उद्घुष्य, त्वरितमापणात् लोहदण्डं गृहीत्वा, आकारितः स दुष्टहस्ती)

वसन्त—तदो तदो ?। (ततस्ततः ?)

कर्ण—आहणिऊण सरोसं तं हत्थि विञ्झ-सैल-सिहराभं ।
मोआविओ मए सो दन्तन्तरसंठिओ परिव्वाजओ ॥ २० ॥
(आहत्य सरोषं तं हस्तिनं विन्ध्यशैल-शिखराभम् ।
मोचितो मया स दन्तान्तरसंस्थितः परिव्राजकः ॥ २० ॥)

वसन्त—सुट्ठु दे किदं तदो तदो ? । (सुष्ठु त्वया कृतम् । ततस्ततः ?)

कर्ण—तदो अज्जए ! 'साहु रे कण्णऊरअ ! साहु' त्ति एत्तिअमेत्तं

पिण्डेन = ओदनग्रासेन उपपुष्टः = परिपालितः तेन वामचरणेन = वामपार्श्वगमनेन द्यूतखेलकम् = भूतपूर्वमाक्षिकं साम्प्रतं संन्यासिनम् उद्घुष्य = उच्चैः शब्दं कृत्वा आपणात् = हट्टतः आकारितः = आहूतः ।

अन्वयः—सरोष विन्ध्यशैलशिखराभम् तं हस्तिनम् आहत्य दन्तान्तरसंस्थितः स परिव्राजकः मया मोचितः ।

आहत्येति—सरोषं = क्रोधयुतं विन्ध्यशैलस्य शिखरम् = शृङ्गम् 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्'त्यमरः । तस्य आभा इव आभा यस्य तं गजम् । दन्तान्तरसंस्थितः = दन्तमध्यपतितः ॥ २० ॥

वसन्त इति—सुष्ठु = साधु त्वया = कर्णपूरकेन कृतम् = आचरितम् ।

से पले हुए दास ने बाएँ चरण से जुआड़ी नवीन संन्यासी संवाहक को सन्तोष दे देकर शीघ्र ही बाजार से लोहे का दण्ड लेकर दुष्ट हाथी को ललकारा ।

वसन्त—इसके बाद ?

कर्णपूरक—विन्ध्य पर्वत के शिखर के समान विशाल उस क्रुद्ध हाथी को लोहदण्ड से मार-मार कर, उसके दाँतों के बीच में स्थित उस संन्यासी का मैंने बचा लिया ॥ २० ॥

वसन्त—तुमने बड़ा उत्तम कार्य किया । इसके बाद ?

कर्णपूरक—इसके बाद, आर्ये ! 'धन्य है कर्णपूरक धन्य' केवल यही

भणन्ती, विसम-भर क्कन्ता विअ णावा एक्कदो पल्हत्था सअला उज्जइणी आसि। तदो अज्जए! एक्केण सुण्णाइं आहरणट्ठाणाइं परामसिअ, उद्धं पेक्खिअ, दीहं णीससिअ, अअं पावारओ मम उवरि क्खित्तो। (तत आर्ये! साधु रे कर्णपूरक! साधु' इत्येतावन्मात्रं भणन्ती विषमभाराक्रान्ता इव नौः एकतः पर्यस्ता सकला उज्जयिनी आसीत्। तत आर्ये! एकेन शून्यानि आभरणस्थानानि परामृश्य, ऊर्ध्वं प्रेक्ष्य, दीर्घं निःश्वस्य, अयं प्रावारकः ममोपरि उत्क्षिप्तः)

वसन्त—कण्णऊरअ! जाणीहि दाव, किं एसो जादीकुसुमवासिदो पावरओ ण वेत्ति। (कर्णपूरक! जानीहि तावत्, किमेष जातीकुसुमवासितः प्रावारको न वेत्ति)

कर्ण—अज्जए! मदगन्धेण सुट्ठु तं गन्धं ण जाणामि। (आर्ये! मदगन्धेन सुष्ठु तं गन्धं न जानामि)

विषमभारेण=अतिभारेण आक्रान्ता नौः=नौका इव एकतः=एकस्मिन् पार्श्वे पर्यस्ता=नम्रीभूता उज्जयिनी (सर्वतोऽपसृत्य घटनास्थल एव जनसमुदायस्य एकत्रीभूतत्वादिति शेषः। एकेन=पुरुषेण। चारुदत्तेनेति भावः। शून्यानि=रिक्तानि आभरणस्थानानि=अलंकारस्थानानि हस्तादीनि, परामृश्य=विचार्य ऊर्ध्वम् आकाशम् (ईश्वरं प्रति स्वदारिद्र्यावस्थां बोधयितुमिति शेषः) तज्जनितकष्टेन निःश्वस्य प्रावारकः=उत्तरीयम् उत्क्षिप्तः समर्पितमिति भावः।

वसन्त इति—जातीकुसुमवासितमुत्तरीयं चारुदत्तः धारयति इति चारुदत्तस्यास्ति न वेति ज्ञानार्थमियमुक्तिः।

कर्ण इति—मदस्य=गजदानस्य गन्धेन=सौरभेण सुष्ठु=साधुप्रकारेण तं गन्धम्=जातीकुसुमसौरभम् न जानामि।

कहती हुई,—गुरुतर भार से दबी हुई नौका के समान सम्पूर्ण उज्जयिनी नगर एक ओर से झुकी हुई थी! फिर आर्ये! किसी व्यक्ति (चारुदत्त) ने अपने शून्य आभूषण स्थानों को स्पर्श कर, ऊपर की ओर दीर्घ निःश्वास लेकर यह उत्तरीय हमारे ऊपर फेंक दिया।

वसन्तसेना—कर्णपूरक! जरा देखो तो, यह उत्तरीय जातीपुष्प से सौरभित है या नहीं?

कर्णपूरक—आर्ये! हाथी के मदगन्ध के कारण उत्तरीय के गन्ध का परिचय मुझे ठीक-ठीक नहीं मिल रहा है।

वसन्त—णामं पि दाव पेक्ख। (नामापि तावत् प्रेक्षस्व)

कर्ण—इमं णाम, अज्जआ एव्व वाएदु। (इति प्रावारकमुपनयति) (-इदं नाम, आर्यैव वाचयतु)

वसन्त—अज्जचारुदत्तस्स। (इति वाचयित्वा सस्पृहं गृहीत्वा प्रावृणोति)। (आर्यचारुदत्तस्य)

चेटी—कण्णऊरअ ! सोहइ अज्जआए पावारओ। (कर्णपूरक ! शोभते आर्यायाः प्रावारकः)

कर्ण—आं सोहइ, अज्जआए पावारओ। (आं, शोभते आर्यायाः प्रावारकः)

वसन्त—कण्णऊरअ ! इदं दे पारितोसिअं (इत्याभरणं प्रयच्छति।) (कर्णपूरक ! इदं ते पारितोषिकम्)

कर्ण—(शिरसा गृहीत्वा प्रणम्य च) संपदं सुट्ठु सोहइ अज्जआए पावारओ। (साम्प्रतं सुष्ठु शोभते आर्यायाः प्रावारकः)।

वसन्त—कण्णऊरअ ! एदाए वेलाए कहिं अज्जचारुदत्तो ?। (कर्णपूरक ! एतस्यां वेलायां कस्मिन्नार्यचारुदत्तः।)

कर्ण इति—शिरसा गृहीत्वा = मस्तकमारोप्य 'श्रेष्ठोपहृतवस्तुनस्तथा धारणस्य शिष्टाचारादिति भावः।

वसन्त—इसमें किसी का नाम लिखा है या नहीं ?

कर्णपूरक—यह नाम है, आप ही पढ़ें।

(उत्तरीय दे देता है)

वसन्त—आर्य चारुदत्त का है। (पढ़ कर इच्छापूर्वक लेकर ओढ़ती है)

चेटी—कर्णपूरक ! वसन्तसेना को यह उत्तरीय खूब सुशोभित करता है।

कर्णपूरक—हाँ, आर्या को बड़ा अच्छा लगता है।

वसन्त—कर्णपूरक ! यह तुम्हारा इनाम है। (आभूषण देती है)

कर्णपूरक—(नम्रतापूर्वक लेकर और प्रणाम करके) अब यह उत्तरीय आर्या को और भी अच्छा लगता है।

वसन्त—कर्णपूरक ! इस समय आर्य चारुदत्त कहाँ गए हैं ?

कर्ण—एदेण ज्जेव मग्गेण पवुत्तो गन्तुं गेहं। (एतेनैव मार्गेण प्रवृत्तो गन्तुं गेहम्)

वसन्त—हञ्जे ! उवरिदणं अलिन्दअं आरुहिअ अज्जचारुदत्तं पेक्खेह्म। (हञ्जे ! उपरितनमलिन्दकमारुह्य आर्यचारुदत्तं प्रेक्षामहे)

इति निष्क्रान्ताः सर्वे।

इति द्यूतकरसंवाहको नाम द्वितीयोऽङ्कः।

वसन्त इति—अलिन्दकम् = 'प्रघाणम्, 'प्रघाणप्रघणालिन्दा बहिर्द्वारप्रकोष्ठके' इत्यमरः।

अत्र प्रकृतानुरागारम्भात् करणं मुखसन्धेरंगम्। अंके चास्मिन् आक्षिकस्य संवाहकस्य चरित्रस्य प्रधानतया कथनात् द्यूतकर-संवाहक ! इति नामधेयः।

इति द्वितीयोऽङ्कः।

कर्णपूरक—इसी मार्ग से वे घर की ओर गए हैं।

वसन्तसेना—दासी ! आओ, दरवाजे के ऊपर चढ़ कर आर्य चारुदत्त को देखें।

(सब चले गये)

इति द्वितीय अङ्क समाप्त

तृतीयाऽङ्कः

(ततः प्रविशति चेटः)

चेटः—शुजणे क्खु भिच्चाणुकम्पके शामिए णिद्धणके वि शोहदे ।
पिशुणे उण दव्वगव्विदे दुक्कले क्खु पलिणामदालुणे ॥१॥

(सुजनः खलु भृत्यानुकम्पकः स्वामी निर्द्धनकोऽपि शोभते ।
पिशुनः पुनर्द्रव्यगर्वितो दुष्करः खलु परिणामदारुणः ॥ १ ॥

तत इति—चेटश्चारुदत्तस्य सेवकः ।

अन्वयः—निर्धनकः अपि सुजनः भृत्यानुकम्पकः स्वामी शोभते खलु । पुनः द्रव्यगर्वितः परिणामदारुणः पिशुनः दुष्करः खलु ।

सुजन इति—निर्धनकः=धनरहितः अपि सुजनः=सज्जनः भृत्यस्य=सेवकस्य अनुकम्पकः परिपोषकः (अनुकम्पते इति विग्रहे ण्वुल्) स्वामी=प्रभुः शोभते= सर्वेभ्यः प्रियकार्यकारित्वात् अतिशयेन रोचते खलु=निश्चयेन । द्रव्यगर्वितः=धन-मदमत्तः परिणामे=कार्यसिद्धौ दारुणः=पारितोषिकादिदानाभावेन कठोरः पिशुनः= दुर्जनः 'पिशुनो दुर्जनः खलः' इत्यमरः, दुष्करः=दुःखेन सेवायोग्यः खलु । 'खलु' इति यस्मादर्थे यतः दुष्करः अतः न शोभते । प्रभुश्चारुदत्तस्तु निर्धनोऽपि गुणवाने-वेति शोभते । अत्र विशेषस्य प्रस्तुतस्य चारुदत्तस्य प्रतीतेरप्रस्तुतालङ्कारः । विष-मालङ्कारश्चैकत्र विरुद्धयोः सन्धानात् परस्पराङ्गित्वेन सङ्करः । छन्दः वैतालीयं तल्लक्षणम् वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः ।

अस्मिन् अङ्के प्रतिमुखसन्धिः तथाहि—वसन्तसेनायाश्चारुदत्तं प्रति महानुराग एव द्वयोस्समागमरूपफलस्य प्रधानोपायः किञ्च भूषणापहरणवृत्तमवगत्य मोहादि-प्राप्तिः—'फलप्रधानोपायस्य मुखं सन्धिनिवेशिनः । लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखञ्च तत्' ॥१॥

सरलार्थः—प्रसन्नहृदयः सेवकवर्गे दयावान् प्रभुः दरिद्रोऽपि सर्वेभ्यो रोचते, किन्तु दुर्जनः स्वामी धनसम्पन्नोऽपि दुःखकरः, वेदनादिरूपफलदानेन भयङ्करो भवतीति भावः ॥१॥

(इसके बाद चेट (वर्द्धमानक) का प्रवेश)

चेट—नौकरों पर दया करनेवाला सज्जन मालिक निर्धन रहने पर भी अधिक सुखकर है । किन्तु धन के मद में चूर दुर्जन स्वामी बड़ा भयंकर होता है, उसकी सेवा का फल दुःखप्रद होता है ॥१॥

अवि अ (अपि च)—

अश्श-पलक्क-वलद्दे ण शक्कि वालिदुं
अण्ण-कलत्त-पशत्ते ण शक्कि वालिदुं
जूद-पशत्त-मणुश्शे ण शक्कि वालिदुं
जे वि शहाविअदोशे ण शक्कि वालिदुं ।।२।।

(शस्य-लम्पट-वलीवर्द्दो न शक्यो वारयितु-
मन्य-कलत्र-प्रसक्तो न शक्यो वारयितुम् ।
द्यूत-प्रसक्तो मनुष्यो न शक्यो वारयितुं
योऽपि स्वाभाविकदोषो न शक्यो वारयितुम् ।।२।।

अन्वयः—शस्यलम्पटवलीवर्द्दो वारयितुम् न शक्यः अन्य कलत्र-प्रसक्तः (जनः) वारयितुं न शक्यः । द्यूत-प्रसक्तः मनुष्यः वारयितुं न शक्यः, योऽपि स्वाभाविकदोषः (सोऽपि) वारयितुम् न शक्यः ।

शस्येति—शस्यानां = धान्यानां लम्पटः—भक्षणे प्रयत्नशीलः वलीवर्दः = वृषभः वारयितुम् = सर्वथा निवारयितुम् न शक्यः, अन्यकलत्रप्रसक्तः = परनारी-लम्पटः द्यूतप्रसक्तः = अक्षक्रीडानुरक्तः जनः, योऽपि स्वाभाविकः = प्रकृतिसिद्धः दोषः सोऽपि दोषः सर्वथा वारयितुमशक्यः । अत्राप्रस्तुतप्रशंसानामालङ्कारः—स्वाभाविकदोषसामान्याभिधानात् प्रस्तुतचारुदत्तवृत्तिदातृत्वप्रतीतेः । शक्करी जातिः इति पृथ्वीधरः ।।२।।

सरलार्थः—शस्यभोजनलोभी वृषभो निवारयितुं न शक्यः, एवं परदारासक्तो जनः वारयितुं न शक्यः, तथा द्यूतलग्नो मनुष्योऽपि पित्रादिना वारयितुं न शक्यः, यः कोऽपि स्वाभाविको दोषः स केनापि वारयितुं न शक्यते इति तात्पर्यम् ।।२।।

और भी—

हरे धान का लोभी साँड़, बार बार हटाये जाने पर भी पुनः उस खेत में चरने के लिए पहुँच जाता है । पर-स्त्री गामी पुरुष को कोई भी उसके उस दुर्व्यसन से छुड़ा नहीं सकता है । पक्के जुआड़ी का जुआ खेलना कोई भी छुड़ा नहीं सकता और यदि किसी में कुछ प्राकृतिक दोष आ गये हैं तो उससे कोई भी उसे मुक्त नहीं करा सकता है ।।२।।

कावि वेला अज्जचारुदत्तश्श गन्धव्वं शुणिदुं गदश्शं। अदिक्कमदि अद्धल-अणी, अज्ज वि ण आअच्छदि। ता जाव वाहिलं दुआलशालाए गदुअ शुविश्शं। (इति तथा करोति)। (कोऽपि वेला आर्य-चारुदत्तस्य गान्धर्वं श्रोतुं गतस्य। अतिक्रामति अर्द्धरजनी, अद्यापि नागच्छति ! तद्यावत् बहिर्द्वा-रशालायां गत्वा स्वप्स्यामि।)

(ततः प्रविशदि चारुदत्तो विदूषकश्च।)

चारु—अहो अहो ! साधु, साधु रेभिलेन गीतम्। वीणा हि नाम असमुद्रोत्थितं रत्नम्। कुतः—

उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या
सङ्केतके चिरयति प्रवरो विनोदः।
संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां
रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः ॥३॥

गन्धर्वाणाम् = देवगायकानाम् गान्धर्वम्=गीतम् श्रोतुम् = आकर्णयितुं गतस्य आर्यचारुदत्तस्य कापि = बहुविलम्बा वेला = समयः व्यतीतेति शेषः, अर्द्धरजनी अर्द्धनिशा अतिक्रामति = अतिगच्छति। बहिर्द्वारशालायाम् = गोपुरनिकटगृहे।

चारु इति—अहो = आश्चर्यम् 'अहो हि च विस्मये' इत्यमरः। आश्चर्यातिशये द्विरुक्तिः। रेभिलेन = तन्नामकेन।

वीणाया उपयोगितामुल्लेखालङ्कारेण वर्णयति—उत्कण्ठितस्येति। उत्कण्ठितस्य= इष्टप्राप्त्यै समुत्सुकस्य (जनस्य) हृदयानुगुणा=हृदयानुरूपा वयस्या = सखीस्वरूपा सङ्केतके = सङ्केतकारके प्रणयिनि जने चिरयति=विलम्बविधायिनि सति प्रवरः= महान् विनोदः = विनोदाधायकः विरहातुराणाम् = वियोगिनाम् संस्थापना=धृति-स्थापयित्री प्रियतमा = तत्तुल्या रक्तस्य = प्रेमपरायणस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रेम-

---

आर्य चारुदत्त को गाना सुनने के लिए गए कितनी रात बीत गई आधी रात बीत रही है। फिर भी वे नहीं आ रहे हैं। तब तक बाहर बैठक में जाकर सो जाता हूँ। (वैसा ही करता है)

(उसके बाद चारुदत्त और विदूषक प्रवेश करते हैं)

चारुदत्त—वाह ! वाह !! रेभिल ने कितना सुन्दर गाना गाया ! वीणा भी बिना समुद्र से निकला हुआ अपूर्वरत्न है क्योंकि—]

(वीणा) उत्कण्ठित मनुष्य के लिए मनोनुकूल मित्र है। निर्दिष्ट स्थान पर गुप्तप्रेमी के आने में विलम्ब होने पर मनबहलाव का यह अच्छा साधन है।

विदू—भो ! एहि, गेहं गच्छेम्ह । (भोः ! एहि, गेहं गच्छामः ।)

चारु—अहो ! सुष्ठु भाव रेभिलेन गीतम् ।

विदू—मम दाव दुवेहिं ज्जेव हस्सं जाआदि, इत्थिआए सक्कदं पठन्तीए मणुस्सेण अ काअली गाअन्तेण इत्थिआ दाव सक्कदं पठन्ती, दिण्णणव णस्सा विअ गिट्टी, अहिअं सुसुआअदि । मणुस्सो वि काअलीं गाअन्तो सुक्ख-सुमणो-दाम-वेट्ठिदो वुड्ढपुरोहिदो विअ मन्तं जवन्तो, दिढं मे ण रोअदि । (मम तावत् द्वाभ्यामेव हास्यं जायते; स्त्रिया संस्कृतं पठन्त्या, मनुष्येण च काकलीं गायता । स्त्री तावत् संस्कृतं पठन्ती, दत्तनव-नास्या इव गृष्टिः, अधिकं

पोषकः प्रमोदः=प्रमोदकारणस्वरूपा । वसन्ततिलकावृत्तम्-ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' इति लक्षणात् । अत्र 'वीणाया वयस्यत्वाद्यनेकधोल्लेखालङ्कारः । स च उत्कण्ठितादिग्रहीतृभेदाद् बोध्यः । तथाहि—'क्वचिद् भेदाद् गृहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित् । एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते' ।। इति दर्पणः । एवम् विनोदप्रमोदयोः कार्ययोः कारणभूतया वीणया अभेदाभिधानात् हेतुरलङ्कारश्च—'अभेदेनाभिधाहेतुर्हेतोर्हेतुमता सहे'ति दर्पणोक्तेः । अनयोः संसृष्टिः ।।३।।

सरलार्थः—वीणा कुत्रचिदुत्कण्ठायुक्तस्य जनस्य हृदयहारिणी सखिस्वरूपा कृत-सङ्केते प्रणयिनि जने विलम्बमाने सति महति विनोदकारिणी, विरहपीडितानां मनोनुकूला धैर्यविधायिनी तथाऽनुरागिणः प्रियतमा सक्तपुरुषस्यानुरागवृद्धिकरः उत्सवः अर्थात् सर्वत्रैव सुखकारित्वात् वीणा रत्नरूपैवेति भावः ।।३।।

चारु इति—भावः=विद्वान् स चासौ रेभिलः तेन साधु=सम्यक् गीतम्=गानं कृतम् । 'भावो विद्वान्' इत्यमरः । ।

विदू इति—स्त्रिया संस्कृतं पठन्त्या मे=मम हास्यं जायते । स्त्रीणां प्रायेण प्राकृतपाठस्यैव विधानात् संस्कृतपाठे अनधिकारचेष्टया भाषणवैपरीत्यमेव हास्यबीजम् । काकलीम्=सूक्ष्ममधुरध्वनिम् 'काकली तु कले सूक्ष्मे ध्वनौ' इत्यमरः । दत्ता वशी-

---

वियोग से उद्विग्न जन की धैर्य-स्थिति के लिए प्रेयसी के तुल्य है और अनुरागियों में प्रेम बढ़ाने के लिए यह सुखकर वस्तु है ।।३।।

विदूषक—अजी, आइए, घर चलें ।

चारुदत्त—अहा ! विद्वान् रेभिल ने बड़ा अच्छा गाया ।

विदूषक—मुझे तो दोनों पर हँसी आती है; संस्कृत पढ़ती हुई स्त्री तथा महीन-मधुर-ध्वनि निकालते हुए पुरुष पर । संस्कृत पढ़ती हुई स्त्री, नवीन नासिकाछिद्रित प्रथम-प्रसूता गौ के समान अधिक सु-सु शब्द करती है । और

सुसूयते, मनुष्योऽपि काकलीं गायन् शुष्क-सुमनो-दाम-वेष्टितो वृद्धपुरोहित इव मन्त्रं जपन्, दृढं मे न रोचते ।)

चारु—वयस्य ! सुष्ठ खल्वद्य गीतं भाव-रेभिलेन । न च भवान् परितुष्टः ?

रक्तञ्च नाम मधुरञ्च समं स्फुटञ्च
भावान्वितञ्च ललितञ्च मनोहरञ्च ।
किं वा प्रशस्तवचनैर्बहुभिर्मदुक्तैः
अन्तर्हिता यदि भवेद्वनितेति मन्ये ॥ ४ ॥

करणाय नवा नास्या=नासिकारज्जुः (नाथ इति भाषा) यस्याः सा तादृशी गृष्टिः= सकृत्प्रसूता गौः इव सुसूयते='सु सु' इति शब्दं करोति, मनुष्योऽपि=पुरुषोऽपि काकलीम्=स्त्रीजनोचितसूक्ष्मकलध्वनिम् गायन् शुष्कम्=चिरकालजपप्रवणत्वेन मर्मरीभूतम् सुमनसाम्=कुसुमानाम् दाम=माला तेन वेष्टितः=परिवेष्टितगलः वृद्धपुरोहित इव मन्त्रं जपन् । वृद्धत्वेन भग्नदन्ततया उच्चारणशैथिल्यं हास्यहेतुः ।

चारु इति—भवान् न परितुष्टः किम् ? इति प्रश्नपूर्विका जिज्ञासा ।

रक्तञ्चेति—गीतमिति गद्यस्थमुपक्रम्याह—रक्तम्=अनुरागोत्पादकम् मधुरम्= श्रुतिसुखम् समम्=स्वरतालसामञ्जस्यसंवलितम् स्फुटम्=स्पष्टतया सुश्राव्यम् भावान्वितम्=रत्यास्पदम् इति पृथ्वीधरः, ललितम्=सुन्दरम् (कोमलमिति भावः). मनोहरम्=चित्ताकर्षकम् (रेभिलेन गीतमिति) वा=अथवा अधिकप्रशंसया किम्=व्यर्थमित्यर्थः, वनिता=योषित् यदि=सम्भावनायाम् अन्तर्हिता=रेभिलरूपेणाच्छन्ना भवेदिति मन्ये=तर्कयामि । अर्थात् रेभिलरूपेण काचिद् योषिद् गायतीति मे भासते । बहूनाम् कारणानाम् गीतोत्कर्षं प्रति अभिधानात् समुच्चयालङ्कारः, जात्युत्प्रेक्षा च, तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । वसन्ततिलकावृत्तम् । उक्तं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः ॥ ४ ॥

सरलार्थः—रागवर्धन नाम माधुर्यगुणभूयिष्ठं पौर्वापर्यवैपरित्यरहितं सदभिप्रायं सुन्दरं मनोरमं गीतमिति स्वीकरोमि । किं वा मदुक्तैः प्रशंसावाक्यैः न किमपि

मधुर महीन ध्वनि निकालता हुआ पुरुष, सूखे फूलों की माला पहने हुए वृद्ध पुरोहित के समान मंत्र जपता हुआ मुझे तनिक भी अच्छा नहीं लगता है ।

चारुदत्त—मित्र ! विद्वान् रेभिल ने आज बहुत सुन्दर गाना गाया । किन्तु न मालूम आप क्यों सन्तुष्ट न हुए ?

वह गाना कितना अनुरागवर्द्धक, मधुर, सुसंगत, स्पष्ट, भावमय, कोमल और चित्ताकर्षक था ? इससे अधिक प्रशंसा करने से क्या लाभ ? यदि रेभिल

अपि च—

तं तस्य स्वरसंक्रमं मृदुगिरः श्लिष्टञ्च तन्त्रीस्वनं
वर्णानामपि मूर्च्छनान्तरगतं तारं विरामे मृदुम् ।
हेलासंयमितं पुनश्च ललितं रागाद् द्विरुच्चारितं
यत्सत्यं विरतेऽपि गीतसमये गच्छामि शृण्वन्निव ॥ ५ ॥

फलम्, किन्तु यदि रेभिलरूपपुरुषवेशेन प्रच्छन्ना काचिद् योषा गायेत, तदा एतस्य सादृश्यं भवेत् अर्थात् स्त्रीवदेतस्य गाननैपुण्यमिति भावः ॥ ४ ॥

तं तस्येति–गीतसमये=गीतकाले विरतेऽपि=व्यतीतेऽपि तस्य=रेभिलस्य स्वराणाम्=निषादर्षभगान्धारप्रभृतीनाम् संक्रमम्=सञ्चारम्=मृदुगिरः=मधुरालापान् श्लिष्टम्=तालग्रामसम्मिलितम् तन्त्र्याः=वीणायाः स्वनम्=झङ्कारम् तथा मूर्च्छनायाः=‘क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् । सा मूर्च्छेत्युच्यते, ग्रामस्था एताः सप्त सप्त चे ॥’ ति संगीतदामोदरवर्णितायाः अन्तरगतम्=मध्यवर्तिनम् तारम्=आरोहसमये अत्युच्चम् (तथा) विरामे=अवरोहरूपे विश्रामे मृदुम्=शनैर्वेगम् हेलया=विलासेन संयमितम्=गानकलानुसारेणाबद्धम् पुनः ललितम्=अतिकोमलम् वर्णानाम्=अक्षराणाम् रागात्=रसात्, द्विरुच्चारितम्=गानविद्यानुसारेण वारद्वयमुच्चारणम् अपि शृण्वन्=आकर्णयन् इव गच्छामि इति यत् सत्यम् एतेन गानस्योत्कर्षः सूच्यते । बहूनाञ्च स्वरसंक्रमादीनां कारणत्वेनोपन्यासात् समुच्चयः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्—सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्’ ॥ ५ ॥

सरलार्थः–गाने व्यतीतेऽपि रेभिलस्य स्वरक्रमं मूर्च्छनामध्यवर्तिनं विशालीभूतं समाप्तौ सूक्ष्मं, अवलीलया नियमितं सुन्दरं तन्त्रीस्वरमिलितं द्विरवतं आकर्णयन्निव यामि अर्थात् गीतेन प्रभावितं मनः गीतकालाभावेऽपि तादृशीं तादृशीं विशेषतां न विस्मरतीति भावः ॥ ५ ॥

कहीं से छिप कर गाता तो अवश्य हम लोग अनुमान करते कि ‘कोई रमणी गा रही है’ ॥ ४ ॥

और भी—

यद्यपि गाना समाप्त हो चुका है, फिर भी उसकी वह स्वरपरम्परा, कोमलवाक्य, सुन्दर वीणा की ध्वनि, वर्णों के आरोहावरोह के समय उसकी उच्चता तथा अवसान के समय उसकी कोमलता, लीला से आवाज का संयमन तथा पुनः मनोहर राग का दो-दो बार उच्चारण इस समय तक हमारे हृदय में गूँज रहा है ॥ ५ ॥

विदू—भो वअस्स ! आवणन्तर-रच्छा-विभाएसु सुहंकुक्कुरावि सुत्ता । ता गेहं गच्छेम्ह । (अग्रतोऽवलोक्य) वअस्स ! पेक्ख पेक्ख; एसो वि अन्धआरस्स विअ अवआसं देन्तो, अन्तरिक्ख-पासाददो ओदरदि भअवं चन्दो । (भो वयस्य ! आपणान्तर-रथ्याविभागेषु सुखं कुक्कुरा अपि सुप्ताः । तद्गृहं गच्छावः । वयस्य ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व, एषोऽपि अन्धकारस्येव अवकाशं ददद् अन्तरिक्षप्रासादाद् अवतरति भगवान् चन्द्रः ।)

चारु—सम्यगाह भवान् ।

असौ हि दत्त्वा तिमिरावकाशमस्तं व्रजत्युन्नतकोटिरिन्दुः ।
जलावगाढस्य वनद्विपस्य तीक्ष्णं विषाणाग्रमिवावशिष्टम् ॥६॥

विदू इति । आपणस्य = हट्टायाः अन्तरे = अभ्यन्तरे रथ्यानाम् = प्रतोलीनाम् विभागेषु = तत्तच्छाखासु कुक्कुराः = सारमेया अपि किमुतान्ये इति अपिशब्दार्थः । (कुक्कुराणां जागरणे प्रसिद्धत्वेऽपि यदि ते सुप्ताः तदा को नामान्यो जागर्त्तु इति रात्रेराधिक्यं व्यज्यते) । अवकाशम् = परितः प्रसारणस्थानम् अन्तरीक्षमेव प्रासादः = अट्टालिका तस्मात् ।

असाविति—हि = यतः उन्नता = समुन्नता कोटिः अग्रभागः यस्य सः जले = सलिले अवगाढस्य = जलमग्नस्य वनद्विपस्य = आरण्यहस्तिनः अवशिष्टम् = सलिलावगाहनादवशिष्टम् तीक्ष्णम् विषाणाग्रम् = दन्ताग्रम् इव 'विषाणः स्यात्पशुशृङ्गेभदन्तयोः' इत्यमरः । असौ = प्रत्यक्षदृश्यमानः इन्दुः = चन्द्रमा तिमिरावकाशम् = अन्धकारप्रसारस्थानम् दत्त्वा अस्तम = अन्तर्हितम् व्रजति । अत्र विषाणाग्रे इति श्रौती उपमा । वृत्तमुपजातिः ॥६॥

सरलार्थः—पुरतः परिदृश्यमानः उन्नताग्रभागः चन्द्रः जलमग्नवन्यगजस्य जलोपरि वर्तमानदन्ताग्रमिव अन्धकारागमनावसरं प्रदायास्ताचलं गच्छतीति भावः ॥

विदूषक—सखे ! बाजार की गलियों में जगह-जगह पर कुत्ते सुखपूर्वक सो रहे हैं, अतः अब घर चलिए । (आगे की ओर देखकर) मित्र ! देखो-देखो, अन्धकार को अवकाश देते हुए के समान चन्द्रदेव आकाशरूपी अट्टालिका से उतर रहे हैं ।

चारुदत्त—आपने ठीक कहा—

जलमग्न वनगज के तीव्र दाँत के अग्रभाग के समान बचा हुआ, उन्नतिशील यह चन्द्रमा अन्धकार को अवकाश देकर अस्ताचल की ओर जा रहा है ॥६॥

विदू—भो ! एदं अम्हाणं गेहं । वड्ढमाणअ ! वड्ढमाण ! उग्घाटेहि दुआरअं । (भोः ! इदमस्माकं गृहम् । वर्द्धमानक ! वर्द्धमानक ! उद्घाटय द्वारकम् ।)

चेटः—अज्जमित्तेआह शल-शञ्जोए शुणीअदि । आगदे अज्जचालुदत्ते । ता जाव दुआलअं शे उग्घाटेमि । (तथा कृत्वा) अज्ज ! वन्दामि, मित्तेअ ! तुमंपि वन्दामि । एत्थ वित्थिण्णे आशणे णिशीदन्तु अज्जा । (आर्यमैत्रेयस्य स्वरसंयोगः श्रूयते । आगत आर्यचारुदत्तः, तद्यावत् द्वारमस्य उद्घाटयामि । आर्य ! वन्दे, आर्यमैत्रेय ! त्वामपि वन्दे । अत्र विस्तीर्णे आसने निषीदतमार्यौ ।)

(उभौ नाट्येन प्रविश्य उपविशतः ।)

विदू—वड्ढमाणअ ! रअणिअं सद्दावेहि पादाइं धोइदुं । (वर्द्धमानक ! रदनिका शब्दापय पादौ धावितुम्)

चारु—(सानुकम्पम्) अलं सुप्तजनं प्रबोधयितुम् ।

चेटः—अज्जमित्तेअ ! अहं पाणिअं गेह्ले, तुमं पादाइं धोवेहि । (आर्यमैत्रेय ! अहं पानीयं गृह्लामि, त्वं पादौ धाव)

चेट इति—स्वरस्य = कण्ठध्वनेः संयोगः = सम्बन्धः ।

विदू इति । शब्दापय = आह्वय धावितुम् प्रक्षालयितुम् ।

चारु इति—सुप्तम् = शयितम् जनम् = मनुष्यम् प्रबोधयितुम् = उत्थापयितुम् अलम् = व्यर्थम् (निषिद्धम्) । एतेन चारुदत्तस्य भृत्यानुरागित्वं धर्मप्रियत्वञ्च सूच्यते ।

चेट इति—पानीयम् = जलम् धाव = मार्जय ।

विदूषक—अरे ! यही हम लोगों का घर है । वर्द्धमानक ! वर्द्धमानक !! किवाड़ खोलो ।

चेट—आर्य मैत्रेय की आवाज सुनाई पड़ती है । चारुदत्त आ गए । तब इन किवाड़ों को खोल दूँ । (खोलकर) आर्य ! प्रणाम । मैत्रेय ! आपको भी नमस्कार है । इस प्रशस्त आसन पर आप लोग बैठें ।

(दोनों प्रवेश कर बैठ जाते हैं)

विदूषक—वर्द्धमानक ! पैर धुलवाने के लिए रदनिका को बुलाओ ।

चारुदत्त—(दयापूर्वक) सोए हुए को जगाना व्यर्थ है ।

चेट—आर्य मैत्रेय ! मैं पानी लेता हूँ और तुम चरणों को धोओ ।

विदू—(सक्रोधम्) भो वअस्स ! एसो दाणिं दासीए पुत्तो भविअ पाणिअं गेह्लेदि, मं उण वम्हणं पादाइं धोवाबेदि। (भोः वयस्य ! एष इदानीं दास्याः पुत्रो भूत्वा पानीयं गृह्णाति, मां पुनर्ब्राह्मणं पादौ धावयति)

चारु—वयस्य, मैत्रेय ! त्वमुदकं गृहाण, वर्द्धमानकः पादौ प्रक्षालयतु।

चेटः—अज्जमित्तअ ! देहि उदअं। (आर्यमैत्रेय ! देहि उदकम्)

(विदूषकस्तथा करोति। चेटश्चादत्तस्य पादौ प्रक्षाल्यापसरति)

चारु—दीयतां ब्राह्मणस्य पादोदकम्।

विदू—किं मम पादोदएहिं; भूमीए ज्जेव मए ताडिदगद्दहेण विअ पुणोवि लोट्टिदव्वं। (किं मम पादोदकैः; भूम्यामेव मया ताडितगर्दभेनेव पुनरपि लोठितव्यम्)

चेटः—अज्जमित्तेअ ! वम्हणे क्खु तुमं। (आर्य मैत्रेय ! ब्राह्मणः खलु त्वम्)

विदू—जधा सव्वणागाणं मज्झे डुण्डु हो तधा सव्ववम्हणाणं मज्झे अहं वम्हणो। (यथासर्वनागानांमध्येडुण्डुभः, तथा सर्वब्राह्मणानां मध्येऽहं ब्राह्मणः)

विदू इति—भूम्यामेव=पृथिव्यामेव पुनर्लोठितव्यम्=परिवर्तितव्यम्। अतो मम पादप्रक्षालनं हस्तिस्नानमिव व्यर्थम्।

विदू इति—डुण्डुभ=जलसर्पः (ढोढ़ सर्प) 'अलगर्दो जलव्यालः समौ राजिलडुण्डुभौ' इत्यमरः। यथा सर्पमध्ये स विषविहीनस्तथा ब्राह्मणानां मध्येऽहमपि तेजोहीनोऽस्मीति।

विदूषक—(क्रोध के साथ) हे मित्र ! यह नीच जाति का होकर पानी लेता है और मुझ ब्राह्मण से पैर धोने को कहता है।

चारुदत्त—सखे मैत्रेय ! तुम जल लो और वर्द्धमानक पैर धोवे।

चेट—आर्य मैत्रेय ! जल दीजिए।

(विदूषक जल देता है। चेट चारुदत्त का पैर धोकर हट जाता है)

चारुदत्त—ब्राह्मण के लिए पादोदक दो।

विदूषक—मुझे पादोदक का क्या प्रयोजन ? पीटे हुए गधे के समान मैं पुनः पृथ्वी पर ही लेट रहूँगा।

चेट—आर्य मैत्रय ! आप तो ब्राह्मण हैं।

विदूषक—जिस प्रकार सभी सर्पों में विषहीन डुण्डुभ है, उसी प्रकार सभी ब्राह्मणों में मैं निस्तेज हूँ।

चेटः—अज्जमित्तेअ । तधावि धोइश्शं । (तथा कृत्वा) अज्जमित्तेअ ! एदं तं शुवण्णभण्डअं मम दिवा, तुह लत्तिं च । ता गेह्ण । (आर्यमैत्रेय ! तथापि धाविष्यामि । आर्यमैत्रेय ! एतत् तत् सुवर्णभाण्डं मम दिवा, तव रात्रौ च, तद् गृहाण)

(इति दत्त्वा निष्क्रान्तः)

विदू—(गृहीत्वा) अज्ज वि एदं चिट्ठदि । किं एत्थ उज्जइणीए चोरो वि णत्थि, जो एद दासीए पुत्तं णिद्दाचोरं ण अव अवहरदि । भो वअस्स ! अब्भन्तर-चतुस्सालअं पवेसआमि णं । (अद्यापि एतत् तिष्ठति ? किमत्र उज्जयिन्यां चौरोऽपि नास्ति ? य एतं दास्याः पुत्रं निद्राचौरं नापहरति भो वयस्य ! अभ्यन्तरचतुःशालकं प्रवेशयामि एनम्)

चारु—

अलं चतुःशालमिमं प्रवेश्य'
प्रकाशनारीधृत एष यस्मात् ।

चेट इति—तत् (वसन्तसेनायाः) सुवर्णभाण्डम् = सुवर्णपात्रम् मम = वर्धमानकस्य तव = विदूषकस्य रात्रौ (अतः तद्रक्षणस्य तवोपरि महान् भारः)

विदू इति—निद्रायाः = सुखशयनस्य चौरम् = अपहारकम् (अलङ्काररक्षणार्थं शयनं न क्रियते इति एतस्य निद्रापकारकत्वम्) एनम् = अलङ्कारम् चतुःशालम् = गृहविशेषम् तस्य अभ्यन्तरम् प्रवेशयामि = स्थापयामि ।

अलमिति—इमम् = वसन्तसेनायाः भूषणम् चतुःशालम् = चतस्रः शाला यस्य तम् गृहम् प्रवेश्य = अपहरणाशङ्कया तद्रक्षणार्थमिति भावः । अलम् = व्यर्थम् यस्मात् हेतोः एषः = अलङ्कारः प्रकाशनारी = आत्मप्रकाशकारिणी गणिका तया धृतः = शरीरभूषितः । तस्मात् विप्र ! तावत् कालम् स्वयमेव धारय यावत् कालम् तस्याः =

चेट—आर्य मैत्रेय ! तो भी धुलाऊँगा । (पैर धुलवाकर) आर्य मैत्रेय ! इस आभूषण की रक्षा मुझे दिन में और आपको रात में करनी चाहिए, अतः अब रात में आप इसे लीजिए ।

(देकर चला गया)

विदूषक—अभी तक यह (आभूषण) स्थिर है ? क्या इस उज्जयिनी में चोर भी नहीं है ? जो निद्रा को नष्ट करने वाले इस अधम का अपहरण नहीं करता । मित्र ! इसे अन्तःपुर में भेजता हूँ ।

चारुदत्त—इसे (रक्षा के निमित्त) अन्तःपुर में भेजना उचित नहीं है;

तस्मात् स्वयं धारय विप्र ! तावत्,
यावन्न तस्याः खलु भोः समर्प्यते ॥ ७ ॥
(निद्रां नाटयन् 'तं तस्य स्वरसं क्रमम्' इति पुनः पठति)

विदू—अवि णिद्दाअदि भवं । (अपि निद्राति भवान् ?)

चारु—अथ किम् ?

इयं हि निद्रा नयनावलम्बिनी
ललाटदेशादुपसर्पतीव माम् ।
अदृश्यरूपा चपला जरेव या
मनुष्यसत्त्वं परिभूय वर्द्धते ॥ ८ ॥

वसन्तसेनायाः हस्ते न समर्प्यते । उपजातिवृत्तम्=इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोरेकत्र सम्मेलनात् । 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' ॥ ७ ॥

सरलार्थः—इयमलङ्कारसमूहं चौरेभ्यो रक्षणार्थं गृहीत्वा गृहाभ्यन्तरे त्वया न प्रवेशयितव्यम् यतः त्वद्धस्तधृतालंकारसमूहो वेश्या वसन्तसेनया धृतः, तस्मात् त्वं तावत्कालपर्यन्तं स्वयं धारय यावत् वसन्तसेनायाः हस्ते न खलु दीयते इति भावः ॥

इयमिति—हि=यतः नयनावलम्बिनी=नेत्रे अवलम्बते=उदयतीति–णिनिः नेत्राश्रयिणी इयम् निद्रा ललाटदेशात्=मस्तकस्थानात् माम् उपसर्पति इव अप्रत्यक्षरूपा=अप्रत्यक्षं रूपं=स्वरूपं यस्याः सा चपला=कतिपयक्षणस्थायित्वेन चञ्चला जरा=वार्द्धक्यम् इव या=निद्रा मनुष्याणाम्=मानवानाम् (प्राणिमात्रस्य वक्तव्यत्वे मनुष्याणामिति प्राधान्यात्कथनम्) सत्त्वम्=बलम् अभिभूय=परिभूय वर्द्धते । 'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरावि'ति लक्षणात् वंशस्थविलं वृत्तम् । अत्र जरा इवेति पूर्णोपमालङ्कारः । प्राणिसामान्ये मनुष्य इति प्राणिवशेषाभिधानात् अविशेषे विशेषाख्यदोषस्तन्मदं 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ती' ति सिद्धान्तानुसारेणैव तथोक्तेः ॥८॥

सरलार्थः—तथाहि अनुभूयलाना निद्रा ललाटस्थलात् नेत्राश्रिता मां भजेत इवे-

---

क्योंकि यह वेश्या की धरोहर है । इसलिए हे ब्राह्मण ! जब तक यह वसन्तसेना को लौटा नहीं दिया जाता, तब तक इसकी रक्षा तुम स्वयं करो ॥ ७ ॥

(निद्रा का अभिनय करते हुए—'उसकी वह स्वर-परम्परा' आदि पुनः पढ़ते हैं)

विदूषक—क्या आपको नींद आ रही है !

चारुदत्त—हाँ ।

आँखों का आश्रय लेनेवाली यह नींद ललाट-प्रदेश से मेरी ओर आ रही है ।

विदू—ता सुवेह्म। (नाट्येन स्वपिति) (तत् स्वपिवः)

(ततः प्रविशति शर्विलकः)

शर्वि—

कृत्वा शरीर-परिणाह-सुखप्रवेशं शिक्षाबलेन च बलेन च कर्ममार्गम्।
गच्छामि भूमिपरिसर्पणघृष्टपार्श्वो निर्मुच्यमान इव जीर्णतनुर्भुजङ्गः॥

(नभोऽवलोक्य सहर्षम्)

अये ! कथमस्तमुपगच्छति स भगवान् मृगाङ्कः। तथा हि—

त्यर्थः। अचिरस्थायिनी अन्तर्हितस्वरूपा निद्रा वार्द्धक्यमिव मनुष्यबलं विलोक्य वर्द्धत इति भावः॥ ८॥

कृत्वेति—शिक्षायाः=चोरविद्याभ्यासस्य बलेन=शक्त्या बलेन=शरीरसत्त्वेन च शरीरस्य=देहस्य परिणाहः=विशालता 'परिणाहो विशालते' त्यमरः तस्य। सुखेन प्रवेशो यस्मात् स तम् (अनायासेन निर्गमप्रवेशयोग्यम्) कर्मणः=चौर्य-कर्मणः मार्गम्=सन्धिच्छेदं कृत्वा भूमौ=सन्धिभेदान्तर्भूमौ परिसर्पणम्—सर्पणरीत्या गमनम् तेन घृष्टौ=प्राप्तघर्षणौ पार्श्वौ यस्य सः। अत एव जीर्णा=जराजर्जरा तनूः=शरीरम् यस्य स भुजङ्गः=सर्प इव निर्मुच्यमानः=कञ्चुकेन हीयमानः सन् गच्छामि=यामि। भुजङ्ग इवेति पूर्णोपमा। वसन्ततिलकावृत्तम्॥ ९॥

सरलार्थ—ज्ञानसामर्थ्येन शरीरशक्त्या च विशालं शरीरानायासप्रवेशयोग्यं चौर्यकार्यार्थं मार्गं विधाय पृथिवीपरिसर्पणघृष्टकक्षः, कञ्चुकात् हीयमानः सर्प इव जर्जरीभूतगात्रो विचरामीति भावः॥ ९॥

अये=सम्भ्रमे कथमिति=हर्षे। अये क्रोधे विषादे च सम्भ्रमे स्मरणेऽपि चेति

अमूर्त्त चञ्चला यह नींद बुढ़ौती के समान मनुष्य का बल अपहरण कर वृद्धि पाती है॥ ८॥

विदूषक—अच्छा तो हम दोनों सो जावें (सोने का अभिनय करता है)

(इसके बाद शर्विलक आता है)

शर्विलक—अपनी शिक्षा की निपुणता से तथा बल के प्रभाव से इस शरीर की विशालता को सुख-पूर्वक प्रवेश करने योग्य सेंध फोड़कर, उसमें से अपने पार्श्वों द्वारा सरक कर क्षीण देह करने वाले सर्प के समान केंचुल छोड़ता हुआ-सा अन्दर प्रवेश करता हूं॥ ९॥

(आकाश की ओर देखकर प्रसन्नतापूर्वक)

अरे ! क्या चन्द्रदेव अस्ताचल की ओर जा रहे हैं ? उसी प्रकार—

नृपति-पुरुष-शङ्कित-प्रचारं परगृह-दूषण-निश्चितैकवीरम्।
घन-तिमिर-निरुद्ध-सर्वभावा रजनिरियं जननीव संवृणोति ॥ १०॥

वृक्षवाटिकापरिसरे सन्धि कृत्वा प्रविष्टोऽस्मि मध्यमकम्। तद्यावदिदानीं चतुःशालकमपि दूषयामि। भोः!

कामं नीचमिदं वदन्तु पुरुषाः स्वप्ने च यद्वर्द्धते।
विश्वस्तेषु च वञ्चनापरिभवश्चौर्यं न शौर्यं हि तत्।

विश्वः। कथं हर्षे च गर्हायां प्रकारार्थे च सम्भ्रमे। प्रश्ने सम्भावनायाञ्चेति मेदिनी।

नृपतीति—घनतिमिरेण=गाढान्धकारेण निरुद्धाः=सम्यगाच्छन्नाः सर्वे भावाः=जागतिकयावत्पदार्थाः। इयं रजनी=निशा जननी=माता इव। नृपतेः=राज्ञः पुरुषैः=प्राहरिकैः शङ्कितः=चौरत्वेन वितर्कितः प्रचारः=सञ्चरणम् तस्य तम्। परगृहस्य दूषणे=सन्धिच्छेदधनापहाराभ्यां कदर्थीकरणे निश्चितः=सर्वैरवधारितः एकः=प्रधानः वीरः तम्। मामिति शेषः। संवृणोति=अन्धकारावगुण्ठनेन प्रहरी रक्षतीति शेषः। जननी इवेत्युपमालङ्कारः। मामिति पदस्यानुक्त्या न्यूनपदतादोषः।

सरलाऽर्थः—गाढान्धकारावृतसर्वपदार्था इयं रात्रिः मातेव राजपुरुषतर्कितगमनं सर्वस्वहरणादिरूपदोषकरणैकनिपुणं मां वीरं गोपायति अर्थात् यथा जननी नीतिशून्यं दुर्वृत्तमपि पुत्रं वस्त्रादिना संवृणोति तथा चौरतनयं मां रात्रिजननी अन्धकार रूपवस्त्रेणाच्छादयतीति भावः॥ १०॥

वृक्षैः=पादपैः या वाटिका तस्य परिसरे=प्रान्तदेशे सन्धि कृत्वा=छेदं विधाय मध्यमकम्=प्राकाराभ्यन्तरम् चतसृणां चतुर्दिक्षु वर्तमानानाम् शालानाम्=गृहाणाम् समाहारः चतुःशालकम् दूषयामि=सन्धिकरणेन प्रवेशयोग्यं करोमि।

काममीति—यत्=तस्करकृत्यम् स्वप्ने=निद्रावस्थायामपि निश्चयेन वर्द्धते=सम्भवति। यः विश्वस्तेषु=स्निग्धेषु अपि वञ्चनया=छलतया परिभवः=अनादरः। हि=यतः तत्=द्विधा वर्णितं चौर्यम्=शूरस्य कर्म न=नास्ति। अतः इदम्

पहरेदारों की शङ्का का स्थान तथा दूसरे के घर को दूषित करने में निपुण मुझ,—घोर अन्धकार से सम्पूर्ण पदार्थों को आच्छन्न करनेवाली यह रात्रि माता कि समान स्नेह के आवरण से ढांकती है॥ १०॥

उद्यान-प्रान्त में सेंध करके मैं चहारदीवारी में प्रविष्ट कर गया हूं। अतः अब अन्तःपुर में भी सेंध फोड़ूं। अजी!—

मनुष्यगण उस चोरी को अधम भले ही कहें—जो (चोरी) मनुष्यों के सो जाने पर होती है, तथा जिसमें विश्वस्त जनों का द्रव्य अपहरण एवं अपमान

स्वाधीना वचनीयतापि हि वरं बद्धो न सेवाञ्जलिः
मार्गो ह्येष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्रौणिना ॥ ११ ॥

तत् कस्मिन्नुद्देशे सन्धिमुत्पादयामि ? ।

देशः को नु जलावसेकशिथिलो यस्मिन्न शब्दो भवेत्

(चौर्यम्) पुरुषाः = मानवाः कामम् = अत्यन्तम् नीचं = पातकम् वदन्तु = चौर्ये वञ्चनायाश्च निन्दामुद्घोषयन्तु तथापि वचनीयता = निन्दा अपि स्वाधीना = स्वातन्त्र्यगुणयोगिनी तदा वरम् = मनाक्प्रियम् । हि = यतः सेवाञ्जलिः = दास्यभावेन हस्ताञ्जलिः न बद्धो भवति । एषः = चौर्यरूपः मार्गः = पन्थाः पूर्वम् = द्वापरयुग एव द्रौणिना = द्रोणपुत्रेण अश्वत्थाम्ना नरेन्द्रस्य = पाण्डवस्य (तत्पुत्रस्य) सौप्तिक वधे = सुप्तावस्थामाश्रित्य मारणे कृतः = स्वीकृतः हि = निश्चयेन । काव्यलिङ्गमलङ्कारः । अर्थान्तरन्यासश्च, तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । अत्र दृष्टान्तो नाम नाट्यालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ११ ॥

भीमगदया भग्नजानोर्दुर्योधनस्य समीपे पञ्चपाण्डवान् मारयितुं प्रतिज्ञायाश्वत्थामा तद्रात्रावेव पाण्डवशिबिरम् गुप्तरूपेण प्रविश्य तत्समानाकारतया तानेव बुद्ध्वा तत्पुत्रान्नेव सशिरश्छेदमजीघतत् इति भारतीया कथा ।

सरलार्थः—निद्रावस्थायामेव चौर्यम् वर्धते इति हेतोः पुरुषाः इदं नीचकर्म इति यथेष्टं वदन्ति । विश्वस्तजनेषु प्रतारणद्वारा अवमानना इति कृत्वा चौर्यम् शौर्यकर्म न । स्वाधीनविषतया निन्दापि वरम्, यतः चोरस्य स्वाधीनतया दासत्वहेतुककृपासूचकः पाणिद्वयसंयोगः कृतो न भवति । अयं मार्गो न मयैवानुष्ठीयते किन्तु ब्राह्मणेनापि अश्वत्थाम्ना युधिष्ठिरसुतवधेनावधे पूर्वमेवायं मार्गोऽनुष्ठित इति भावः ।

तदिति—उद्देशे = स्थले उत्पादयामि = करोमीति भावः ।

अन्वयः—भित्तीनाम् कःनु देशः खलु जलावसेकशिथिलः यस्मिन् शब्दः न भवेत् सन्धिश्च दर्शनान्तरगतः (सन्) करालः न भवेत् क्व क्षारक्षीणतया लोष्टकृशम् जीर्णम् हर्म्यम् भवेत् कस्मिन् स्त्रीजनदर्शनम् च न भवेत् अर्थसिद्धिः च मे स्यात् ।

देश इति—भित्तीनाम्=प्राकाराणाम् को नु देशः = स्थलः जलस्य अवसेकः=

होता है :—वह चोरी है, पराक्रम नहीं । चोरीरूप धूर्तता स्वतन्त्र होने के कारण उत्तम है, इस कार्य में किसी का दास बनकर हाथ जोड़ना नहीं पड़ता और यह कार्य बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है—द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने सोते हुए युधिष्ठिर के सोए हुए पुत्रों को धोखे से मारा था, अतः इसमें कोई दोष नहीं है ॥ ११ ॥

तब किस स्थान पर सेंध फोड़ूँ ?

निरन्तर जल पड़ते रहने के कारण भित्ति का कौन स्थान शिथिल पड़ गया

भित्तीनाञ्च न दर्शनान्तरगतः सन्धिः करालो भवेत् ।
क्षारक्षीणतया च लोष्टमकृशं जीर्णं क्व हर्म्यं भवेत्
कस्मिन् स्त्रीजनदर्शनञ्च न भवेत् स्यादर्थसिद्धिश्च मे ॥ १२ ॥

(भित्तिं परामृश्य) नित्यादित्य-दर्शनोदकसेचनेन दूषितेयं भूमिः क्षार-क्षीणा; मूषिकोत्करश्चेह । हन्त ! सिद्धोऽयमर्थः । प्रथममेतत् स्कन्दपुत्राणां

पतनम् तेन शिथिलः=अकठिनावयवसंयोगः स्यात् यस्मिन्=देशे (सन्धौ क्रियमाणे इति शेषः) शब्दः=खटखटाध्वनिर्न भवेत् सन्धिः (सेंध इति भाषायाम्) च दर्शनान्तरगतः=जनदृष्टिपथगतः सन् करालः=अभूतपूर्वदर्शनीयत्वेन भयङ्करः न भवेत् (अतः एकान्तदेशे सन्धिः कर्त्तव्यः येन जनसञ्चारशून्यतया जनदृष्टिपाताशङ्कापि न भवेत् । एवम् क्व=कुत्र क्षारेण=लवणेन क्षीणता=शिथिलता तया जर्जरतया लोष्टकवत्=लघुमृत्तिकापिण्डवत् । कृशम्=ह्रासप्राप्तम् जीर्णम्=पुराणम् हर्म्यम्=हर्म्यकुडयम् भवेत् । तत्रापि सन्धिः सुकर इति भावः । तथा कस्मिन्=स्थाने स्त्रीजनानाम् दर्शनम्—साक्षात्कारः न भवेत् तदा मे=मम अर्थसिद्धिः=चौर्यकार्यसिद्धिः स्यात् । अत्र भवेदिति पदस्य पौनःपुन्येनाभिधानात् अनवीकृतत्वदोषः चतुर्थपदे भग्नप्रक्रमतादोषश्च ॥ १२ ॥

सरलार्थः—को देशः सलिलसेचनेन आर्द्रप्रायः यस्मिन् स्थाने सन्धिकर्त्तने जागरणसूचकः शब्दो न स्यात् । भित्तीनां भयङ्करः सन्धिः कस्यचित् पुरुषस्य दृष्टिगतो न भवेत् । कस्मिन् देशे इष्टकागृहम् लवणेन क्षयप्राप्ततया इष्टकादिखण्डैः क्षीणम् जीर्णं च तथा कुत्र देशे रमणीजनसाक्षात्कारः न भवेत् मम कार्यसाफल्यं च अर्थप्राप्तिरूपमिति यावत् भवेत् इति भावः ॥ १२ ॥

नित्यमादित्यस्य=सूर्यस्य दर्शनाय=उपस्थानाय दीयमानमुदकम्=जलम् तेन सेचनम् (लक्षणया स्नानादिकसलिलसेचनमपि बोध्यम्) । तेन दूषिता=सततक्लिन्नतया सारबन्धा । क्षारेण=लवणेन क्षीणा=असारभूता मूषिकाणाम् उत्करः=उद्धृतरजोराशिः । हन्त ! हर्षे अयम्=सन्धिच्छेदनरूपः अर्थः सिद्धः=भित्तेः निस्सारत्वादनायासेन जातः । स्कन्दपुत्राणाम्=स्कन्दजातचौराचार्याणाम् सिद्धेः=चौर्यकर्म

है, जहाँ सेंध फोड़ते समय शब्द न होगा ?' जहाँ मनुष्य मुझे देख न सकें और मैं बहुत विशाल सेंध फोड़ लूँ । कौन स्थान क्षार मिट्टी हो जाने के कारण शिथिल ढेले के समान जर्जर हो गया है ? कौन ऐसा स्थान है, जहाँ स्त्रियों का आवागमन न हो और मेरा चोरीरूप कार्य सिद्ध हो जाय ॥ १२ ॥

(भीत का स्पर्श कर) प्रतिदिन इसी स्थान पर सूर्य को जल के कारण

सिद्धिलक्षणम्। अत्र कर्मप्रारम्भे कीदृशमिदानीं सन्धिमुत्पादयामि। इह खलु भगवता कनकशक्तिना चतुर्विधः सन्ध्युपायो दर्शितः। तद्यथा—पक्वेष्टकानामाकर्षणम्, आमेष्टकानां छेदनम्, पिण्डमयानां सेचनम्, काष्ठमयानां पाटनमिति। तदत्र पक्वेष्टके इष्टिकाकर्षणम्। तत्र—

पद्मव्याकोशं भास्करं बालचन्द्रं
वापी-विस्तीर्णं स्वस्तिकं पूर्णकुम्भम्।
तत् कस्मिन् देशे दर्शयाम्यात्मशिल्पं
दृष्ट्वा श्वो यं यद्विस्मयं यान्ति पौराः॥ १३॥

सिद्धेः लक्षणम् तत्तु मया लब्धमिति भावः। कनकशक्तिना = कनकमयी शक्तिर्यस्य स तदाख्येन चौर्यशास्त्रकारविशेषेण आमानाम् = अपक्वानाम् इष्टकानाम् पिण्डमयानाम् = मृत्तिकास्थूणानिर्मितानाम् सेचनम् = जलेन भेदसम् पाटनम् = विदारणम्।

अन्वयः—पौराः श्वः यत् दृष्ट्वा विस्मयम् यान्ति तत् आत्मशिल्पम् पद्मव्याकोशं भास्करं बालचन्द्रं वापीविस्तीर्णं स्वस्तिकं पूर्णकुम्भं कस्मिन् देशे दर्शयामि॥

पद्मेति—पौराः = पुरे भवाः नगरवासिनः श्वः = अन्यदिने यत् = शिल्पं दृष्ट्वा-अवलोक्य विस्मयम् = आश्चर्यं यान्ति = प्राप्नुवन्ति। तत् = आत्मशिल्पं पद्मव्याकोशं कमलवत् विकचम् (विकसितपद्मसमानम्। भास्करं = सूर्यमण्डलवत् गोलाकारं बालचन्द्रं = चन्द्रखण्डतुल्यं वापी = वापीवत् कोणचतुष्टयविशिष्टं विस्तीर्णं = तिर्यक्

यहाँ की मिट्टी शिथिल पड़ गई है। इसी जगह चूहों ने धूल का ढेर भी लगा दिया है। चलो, हमारा कार्य अनायास ही सिद्ध हो गया। कार्तिकेय के पुत्र चोरों का यह (अनायास सेंध फोड़ने का उपाय मिलना) प्रथम सिद्ध-लक्षण है। इस समय इस चोर-कर्म में कैसी सेंध फोड़ूँ? इस विषय में भगवान् कनक-शक्ति ने सेंध फोड़ने का चार नियम बतलाया है। जैसे—जिस भित्ति की ईंटें पकी हों, उन्हें खींचना, जिनकी ईंटें न पकी हों, उन्हें काटना, जिसकी मिट्टी संपुटित हो उसे खींचना तथा जो काठमयी भीत हो उसे चीरना। इसलिए यहाँ पके ईंटों को खींचना चाहिए। वहाँ—

विकसित कमल के समान, सूर्यमण्डल के समान, अर्धचन्द्र के समान, विस्तीर्ण तालाब के समान, त्रिकोण स्वस्तिक के समान या पूर्णघट के समान सेंध किस स्थान पर फोड़कर मैं अपना कौशल दिखलाऊँ, कि जिसे देखकर कल पुरवासीगण आश्चर्यचकित हो जायँ॥ १३॥

तदत्र पक्वेष्टके पूर्णकुम्भ एव शोभते; तमुत्पादयामि ।

अन्यासु भित्तिषु मया निशि पाटितासु
क्षारक्षतासु विषमासु च कल्पनासु ।
दृष्ट्वा प्रभातसमये प्रतिवेशिवर्गो
दोषांश्च मे वदति कर्मणि कौशलञ्च ॥ १४ ॥

लम्बमानं स्वस्तिकं = त्रिकोणं पूर्णकुम्भं = कुम्भवत् अधः स्थूलोद्ध्वंतनुम् उपर्युक्तसप्तविधान्यतमं कस्मिन् देशे = स्थाने दर्शयामि । 'बाणाश्वैश्छिन्ना वैश्वदेवी ममौ यौ' इति लक्षणाद् वैश्वदेवीवृत्तम् ॥ १३ ॥

सरलार्थः—तस्मात् कस्मिन् स्थले स्वकीयकौशलं सन्धिभेदनरूपं प्रकाशयामि । यस्मात् पुरवासिनः शिल्पं दृष्ट्वा परदिने आश्चर्यं प्राप्नुवन्ति । सप्तविधेषु सन्धिभेदेषु प्रथमं पद्मव्याकोशं द्वितीयं भास्करं तृतीयं बालचन्द्राकारं चतुर्थं वापीतुल्यं पञ्चमं विस्तीर्णं षष्ठं स्वस्तिकं सप्तमं पूर्णकुम्भाकारमिति सप्तसन्धयो वर्णिताः तत्र मनसि विचार्यते यत् कीदृशः सन्धिभेदोऽत्र विधेय इति भावः ॥ १३ ॥

अन्वयः—मया निशि क्षारक्षतासु अन्यासु भित्तिषु पाटितासु विषमासु कल्पनासु च प्रतिवेशिवर्गः प्रभातसमये दृष्ट्वा मे दोषान् कर्मणि कौशलं च वदति ।

अन्यास्विति—मया = शर्विलकेन निशि = रात्रौ क्षारक्षतासु = लवणक्षीणासु अन्यासु = सन्धियोग्यासु भित्तिषु = प्राकारेषु पाटितासु=छिन्नासु तथा विषमासु= अन्यदुष्करासु कल्पनासु=प्राकारलंघनादिविषयकविलक्षणप्रतिमासु च (मत्कर्तृकासु) प्रकटितासु प्रतिवेशिवर्गः = गृहपार्श्ववासिजनसमुदायः प्रभातसमये दृष्ट्वा दोषान्= गर्हितकर्मकरणादपवादान् तथा कर्मणि = चौर्यकार्ये कौशलम् = नैपुण्यञ्च वदति परस्परमालोचयिष्यति । दोषकौशलयोर्वदतीत्येकया क्रियया सम्बन्धाभिधानात् तुल्ययोगितालङ्कारः वसन्ततिलकं छन्दः ॥ १४ ॥

सरलार्थः—रात्रौ अपरासु क्षारक्षतासु भित्तिषु दारुणासु कल्पनासु मया ध्वंसितासु प्रातःकाले पल्लीस्थितजनसमूहः सर्वं मम कार्यं दृष्ट्वा दोषान् तथा कर्मकौशलं च कथयिष्यतीति भावः ॥ १४ ॥

तो इस पक्के ईंटवाले मकान में पूर्ण कुम्भ के आकार की सेंध ही सुशोभित होती है । उसी प्रकार सेंध फोड़ूँ—

रात्रि में जीर्ण–भित्ति का विदारण तथा भयङ्कर सेंध के रूप को देखकर प्रातःकाल पुरवासीगण चोरकर्म को दूषित बतालावेंगे, किन्तु हमारे सन्धिकौशल की प्रशंसा करेंगे ॥ १४ ॥

नमो वरदाय कुमारकार्त्तिकेयाय, नमःकनकशक्तये ब्रह्मण्यदेवाय देवव्रताय, नमो भास्करनन्दिने, नमो योगाचार्याय, यस्याहं प्रथमः शिष्यः। तेन च परितुष्टेन योगरोचना मे दत्ता।

अनया हि समालब्धं न मां द्रक्ष्यन्ति रक्षिणः।
शस्त्रञ्च पतितं गात्रे रुजं नोत्पादयिष्यति॥ १५॥

(तथा करोति) धिक् कष्टम्, प्रमाणसूत्रं मे विस्मृतम्। (विचिन्त्य)

चौर्यं प्रारभमाणो प्रणमन्नाह—नमः इति। (आदिगुरवे) कुमारकार्त्तिकेयाय नम इति भावः। ततः द्वितीयाय चौर्यशास्त्राचार्याय कनकशक्तिनाम्ने नमः, ब्रह्मण्यदेवाय तृतीयाचार्याय नमः, ब्रह्मण्यदेवादयोऽपरगुरवः इत्याहु सर्वे इति पृथ्वीधरः। देवव्रताय = आचार्यविशेषाय भास्करनन्दिनाम्ने योगाचार्यनाम्ने च परमाचार्याय नमः। यस्य = योगाचार्यस्य अहम् = शर्विलकः प्रथमः = आदिः शिष्यः = छात्रः तेन = योगाचार्येण परितुष्टेन = सेवावशीभूतेन योगः = चौर्यसिद्ध्युपायः रोचना = गोपित्तम् मे—शर्विलकाय दत्ता।

अन्वयः—हि अनया समालब्धम् माम् रक्षिणः न द्रक्ष्यन्ति गात्रे पतितम् शस्त्रम् रुजम् न उत्पादयिष्यति।

अनयेति—हि = निश्चयेन अनया = पूर्वोक्तयोगरोचनया समालब्धम् = समालिप्तगात्रम् माम् = शर्विलकम् रक्षिणः = प्राहरिकाः (स्वगृहरक्षकाश्च) न द्रक्ष्यन्ति=नावलोकयिष्यन्ति = मम देहे पतितम् शस्त्रञ्च = लगुडादिकम् च = अपि रुजम् = व्यथाम् न उत्पादयिष्यति = जनयिष्यति। अत्र समुच्चयोऽलङ्कारः। अनुष्टुप् वृत्तम्॥ १५॥

सरलार्थः—चौरकर्मकुशलगुरुदत्तविद्यां वर्णयन् वक्ति यद् योगाचार्यदत्तया योगरोचनया युक्तं माम् राजपुरुषाः निश्पितं न पश्यन्ति तथा मम शरीरे क्षिप्तमायुधं च पीडां नोत्पादयिष्यतीति भावः॥ १५॥

तथेति—तथा=पूर्वोक्तरीत्या करोति=शरीरे रोचनालेपनम् करोति। प्रमाणसूत्रम्=

अभीष्टपूरक कुमार कार्त्तिकेयजी को नमस्कार है, प्रभावशाली ब्रह्मण्य देवरूप देवपरायण कनक—शक्ति को नमस्कार है। भास्करनन्दी को नमस्कार है तथा योगाचार्य को नमस्कार है जिसका मैं प्रथम शिष्य हूँ। उनके प्रसन्न होने से मेरी योगसाधना हो गई—

इस प्रकार योगसाधना कर लेने से रक्षकगण मुझे नहीं देख सकेंगे। और यदि संयोगवश शरीर पर शस्त्र का आघात हो तो भी चोट न लगेगी॥ १५॥

(वैसा ही करता है) अरे राम, मैं तो माप करने वाली रस्सी ही भूल

"आं, इदं यज्ञोपवीतं प्रमाणसूत्रं भविष्यति। यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यम्, विशेषतोऽस्मद्विधस्य। कुतः—

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्ग-
मेतेन मोचयति भूषणसम्प्रयोगान्।
उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनञ्च ॥ १६ ॥

सन्धिमापकसूत्रम् महदुपकरणद्रव्यम् = बह्वावश्यकतापूरकम् वस्तु अस्मद्विधस्य = चौरस्य।

अन्वयः—एतेन भित्तिषु कर्ममार्गम् मापयति एतेन भूषणसम्प्रयोगान् मोचयति (अयमेव) यन्त्रदृढे कपाटे उद्घाटकः भवति कीटभुजगैः दष्टस्य परिवेष्टनं च भवति।

यज्ञोपवीतस्यावश्यकतां स्वकार्ये साहाय्यप्रदानद्वारा दर्शयति-एतेनेति। एतेन= यज्ञसूत्रेण भित्तिषु = भेत्तव्यकुड्येषु कर्मणः = परधनापहरणरूपस्य मार्गम् = पन्थानम् (सन्धिरूपम्) मापयति = मितं करोति। एवम् एतेन = यज्ञोपवीतसूत्रेण भूषणानाम् = कटकवलयग्रैवेयकादीनाम् सम्प्रयोगान्=दृढलग्नान् मोचयति = श्लथयति (नायिकाङ्गेषु दृढबद्धानपि यज्ञोपवीतसूत्रेण तत्कोटिद्वयं पृथक्कृत्य अलंकारान् अङ्गेभ्यः चोरयति)। यन्त्रेण = अर्गलादिना दृढे = संलग्ने कपाटे उद्घाटकः = मोचकः भवति। कीटैः = वृश्चिकैः भुजगैः=सर्पैः दष्टस्य = कृतदंशनस्य परिवेष्टनम् विषसञ्चारनिवारणार्थं बन्धनं च भवति। विषवृद्धिनिरोधार्थं दंशनस्थानस्य परितः सूत्रादिभिः दृढबन्धनं विधीयते इति प्रसिद्धिः अत्रोत्कर्षं प्रति बहुकारणनिर्देशात् समुच्चयोऽलङ्कारः। भवतीत्यत्र उद्घाटनपरिवेष्टनयोः कर्तृत्वेनान्वयात् तुल्ययोगिता अंगाङ्गिभावेन च संकरः। वसन्ततिलका छन्दः॥ १६॥

सरलार्थः—यज्ञोपवीतं यथा कर्मनिष्ठानामुपकारकं ततोऽप्यधिकं चौरकर्मनिपुणानां ब्राह्मणानामुपकारकमित्यावेदयति यद् यज्ञोपवीतेन भित्तिषु सन्धिभेदनार्थं स्थल माप्यते करचरणादौ दृढलग्नानलंकारान् चौरः यज्ञोपवीतेन मोचयति। दृढकपाटस्यापि यज्ञोपवीतमोचको भवति। क्षुद्रवृश्चिकादिभिः विषधरैश्च प्राप्तदंशनस्य परितः बन्धनसाधनं च भवतीति भावः॥ १६॥

आया। (सोचकर) अच्छा, यह यज्ञोपवीत ही माप की रस्सी होगी। ब्राह्मण के लिए यज्ञोपवीत बड़े काम की वस्तु है, विशेषकर हम लोगों के लिए और भी अधिक। क्योंकि—

इसमें सेंध फोड़ते समय भीत नापी जाती है। इससे अङ्गों में संलग्न आभूषण निकाले जाते हैं। यह किल्ली द्वारा दृढ़तापूर्वक बन्द किवाड़ खोलने में सहायक होता है तथा विषैले जीवों और सर्पों के काटने पर उसे बांधने में काम देता है॥ १६॥

मापयित्वा कर्म्म समारभे। (तथा कृत्वा अवलोक्य च) एकलोष्ठावशेषोऽयं सन्धिः। धिक् कष्टम्। अहिना दष्टोऽस्मि। (यज्ञोपवीतेनाङ्गुलीं बद्ध्वा विषवेगं नाटयति। चिकित्सां कृत्वा) स्वस्थोऽस्मि (पुनः कर्म्म कृत्वा दृष्ट्वा च) अये! ज्वलति प्रदीपः। तथाहि—

शिखा प्रदीपस्य सुवर्णपिञ्जरा
महीतले सन्धिमुखेन निर्गता।
विभाति पर्यन्ततमःसमावृता
सुवर्णरेखेव कषे निवेशिता ॥ १७ ॥

मापयित्वेति—कर्म = भित्तिभेदनरूपम्। तथाकृत्वा = मापयित्वा सन्धिच्छेदनारम्भम् च कृत्वा एकम् लोष्टम् = इष्टका अवशेषः = व्यवधायकः यस्य सः। अहिना = भुजगेन स्वस्थः = विषोपशमनेन प्रकृतिस्थः कर्म कृत्वा = अवशिष्टेष्टकापकर्षणेन सन्धि निर्माय दृष्ट्वा = सन्धिविवरात् गृहान्तर्भागमवलोक्य।

अन्वयः—सुवर्णपिञ्जरा सन्धिमुखेन महीतले निर्गता पर्यन्ततमःसमावृता प्रदीपस्य शिखा कषे निवेशिता सुवर्णस्य रेखा इव विभाति।

शिखेति—सुवर्णम् = कनकमिव पिञ्जरा = पिङ्गलवर्णा सन्धिमुखेन = सन्धि विवरेण महीतले = सन्धिबाह्यभूमौ निर्गता = निःसृता तथा पर्यन्तेषु = प्रान्तदेशेषु तमसा = अन्धकारेण समावृता = निरुद्धा प्रदीपस्य शिखा = प्रदीपकलिका कषे = परीक्षापाषाणे निवेशिता = सदसत्परीक्षणाय न्यस्ता सुवर्णस्य रेखा = लेखा इव विभाति = राजते। अयं यथा सुवर्णपरीक्षार्थं कृष्णवर्णे कषे निवेशिता शुद्धस्वर्ण रेखा राजते तथा सन्धिदेशात् अन्धकारे कृष्णवर्णे दीपशिखा राजते। श्रौती उपमा। वंशस्थविलछन्दः ॥ १७ ॥

सरलार्थः—सुवर्णसदृशपिङ्गलवर्णा प्रदीपस्यार्चिः सन्धिविवरेण क्षितितले निष्क्रान्ता सती दीपशिखोद्भासितभूमेः समन्ततः प्रसरणशीलान्धकारेण वेष्टिता च सुवर्णपरीक्षाप्रस्तरे निहिता सुवर्णस्य लेखेव शोभते इति भावः ॥ १७ ॥

नाप कर सन्धि करना प्रारम्भ करता हूँ। (उस प्रकार करके तथा देखकर) अब इस सेंध में एक ही ईंटा निकालना शेष रह गया है। हाय! हाय!! मुझे सर्प ने काट खाया। (यज्ञोपवीत से उँगली बाँधकर विष चढ़ने का अनुभव करता है। दवा करके) अब प्रकृतिस्थ हो गया। (पुनः सेंध फोड़कर और देखकर) अरे! दीपक जल रहा है! यथा—

स्वर्ण की रेखा के समान पीली दीपक की शिखा सेंध के द्वार से निकल कर

(पुनः कर्म कृत्वा) समाप्तोऽयं सन्धिः । भवतु; प्रविशामि । अथवा न तावत् प्रविशामि, प्रतिपुरुषं निवेशयामि । (तथा कृत्वा) अये ! न कश्चित्, । नमः कार्त्तिकेयाय । (प्रविश्य दृष्ट्वा च) अरे ! पुरुषद्वयं सुप्तम् । भवतु , आत्मरक्षार्थं द्वारमुद्धाटयामि । कथं जीर्णत्वाद् गृहस्य विरौति कपाटम् । तद् यावत् सलिलमन्वेषयामि । क्व नु खलु सलिलं भविष्यति ? ! (इतस्ततो दृष्ट्वा सलिलं गृहीत्वा क्षिपन् सशङ्कम्) मा तावत् भूमौ पतत् शब्दमुत्पादयेत् । पृष्ठेन प्रतीक्ष्य कपाटमुद्धाट्य) भवतु, एवं तावदिदानीं परीक्षे । किं लक्ष्यसुप्तम् ? उत परमार्थसुप्तमिदं द्वयम् । (त्रासयित्वा परीक्ष्य च) अये ! परमार्थसुप्तेनानेन भवितव्यम् तथाहि—

पुनरिति—कर्म = सन्धिविवरस्य सम्यक् परिशोधनरूपम् कार्यम्, कृत्वा = विधाय स्वप्रवेशनात्पूर्वं प्रतिपुरुषम्=काष्ठादिनिर्मितं कृत्रिममनुष्यम् निवेशयामि = सन्धिमुखेन गृहाभ्यन्तरं प्रवेशयामि । गृहे कश्चिज्जागर्ति न वेति परीक्षार्थं कृत्रिम-पुरुषं पूर्वं प्रवेशयन्ति चौराः । न कश्चित्=गृहे जागर्तीति भावः । स्वयं प्रविविक्षुर्विघ्न विनाशाय मङ्गलमाचरति । यदि सुप्तपुरुषस्य निद्राभङ्गः स्यात्तदा झटिति बहि· गमनार्थं द्वारमपि उद्धाटयामि, सन्ध्यपेक्षया तेन मार्गेण शीघ्रमेव पलायनसम्भवा-दिति भावः । विरौति=शब्दायते द्वारस्य जीर्णत्वेन बन्धशैथिल्यात् । सलिलम् = कपाटस्योपरि क्षेपणार्थं जलम्, येनार्द्रतया शब्दो न स्यात् अन्वेषयामि = अन्वेषणं करोमि, इष् धातुमार्गणार्थकः चौरादिकः भूमौ पतत् शब्दम् = पटत् पटत् इति शब्दम् । एतेनातिवैचक्षण्यं ध्वन्यते । पृष्ठेन = पृष्ठदेशे मुखपरिवर्तनेन प्रतीक्ष्य = सम्यङ्निरीक्ष्य लक्ष्येण = छलेन सुप्तम् = शयितम् (कृतनिद्राभासमिति भावः) परमार्थेन = यथार्थेन सुप्तम् (इदम् = पुरुषद्वयमित्यर्थः ।) त्रासयित्वा=भयमुत्पाद्य परीक्ष्य = परीक्षां कृत्वा ।

बाहर की भूमि तक आ रही है । उस प्रदेश के अन्धकार से घिरी हुई वह (दीप-शिखा) कसौटी पर सोने की रेखा के समान सुशोभित हो रही है ॥ १७ ॥

(पुनः सेंध फोड़कर) सेंध फूट चुकी । अच्छा अब प्रवेश करूँ, अथवा पहले मैं स्वयं प्रवेश न करूँ और नकली पुरुष का प्रवेश कराऊँ । (वैसा ही करके) अरे ! कोई नहीं है । कार्तिकेयजी को नमस्कार है । (प्रवेश कर और देखकर) अरे ! दो पुरुष सो रहे हैं । अच्छा, अपनी रक्षा के लिए दरवाजा खोल लूँ । घर की जर्जरता के कारण किवाड़ें आवाज करती हैं । इसलिए जल खोजता हूँ । जल कहाँ होगा ? (इधर-उधर देखकर तथा जल लेकर, उसे समय छींटता हुआ)

निःश्वासोऽस्य न शङ्कितः सुविशदः तुल्यान्तरं वर्त्तते
दृष्टिर्गाढनिमीलिता न विकला नाभ्यन्तरे चञ्चला ।
गात्रं स्रस्तशरीरसन्धिशिथिलं शय्याप्रमाणाधिकं
दीपञ्चापि न मर्षयेदभिमुखं स्याल्लक्ष्यसुप्तं यदि ॥ १८ ॥

अन्वयः—अस्य निश्वासः शङ्कितः न सुविशदः तुल्यान्तरं वर्तते दृष्टिः गाढनिमीलिता विकला न अभ्यन्तरे चञ्चला न गात्रं स्रस्तशरीरसन्धिशिथिलम् शय्याप्रमाणाधिकम् यदि लक्ष्यसुप्तम् स्यात् अभिमुखम् दीपञ्चापि न मर्षयेत् ।

निःश्वास इति—अस्य = पुरोवर्तमानस्य पुरुषद्वयस्य निःश्वासः=नासिकापवनः न शङ्कितः=न शङ्कोत्पादकः (जागरणस्येति भावः) सुविशदः=विस्पष्टः तुल्यम्= समानम् अन्तरम् = मध्ये व्यवधानम् (श्वासपरम्परायाः) यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा वर्तते । सर्वेऽपि समव्यवधाना निर्गच्छन्तीति भावः । (नैतद् व्याजसुप्तस्य भवितुमर्हतीति भावः) दृष्टिः=नेत्रम् गाढम् = अत्यन्तम् निमीलिता=सम्पुटिता विकला=विकृता न । गात्रम्=शरीरम् स्रस्ताः = शैथिल्येन इतस्ततः पतिताः शरीरसन्धयः=अङ्गयोगस्थानानि तैः शिथिलम् शय्यायाः प्रमाणात् अधिकम्=बहिर्भूतम् यदि लक्ष्येण = छद्मना सुप्तम् स्यात्तदा अभिमुखम् = पुरोवर्तमानम् दीपम् अपि न मर्षयेत् = न सहेत । एतेन गाढा निद्रा व्यज्यते । अत्र समुच्चयालङ्कारोऽनुमानमपि । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥ १८ ॥

सरलार्थः—सुप्तपुरुषद्वयस्य निःश्वासः न शङ्काव्यञ्जकः यतः सुनिर्मलः सुस्पष्ट इति यावत् निद्रावकाशं व्याप्य वर्त्तते । कपटनिद्रायां श्वासप्रश्वासयोः तथा न वैशद्यम् यथा वास्तविकनिद्रायां सुदृढरूपेण मुद्रिता दृष्टिः विकला न । ताराप्रदेशे चञ्चला न । शय्याप्रमाणाधिकं शरीरं शिथिलावयवसन्धितया पतितं कपटनिद्रितं यदि पुरुषद्वयम् भवेत् तदा सम्मुखवर्त्तिनमालोकं न सहेत तस्माद् वास्तविक्येव निद्रेति भावः ॥ १८ ॥

जमीन पर न गिर जाय कि जिससे शब्द हो। (पीछे की ओर देखकर और किवाड़ खोलकर) अच्छा, अब इस प्रकार परीक्षा करनी चाहिए। क्या ये दोनों पुरुष कपट की नींद ले रहे हैं अथवा वास्तव में सो रहे हैं ? (आकार और परीक्षा करके) अरे ! ये दोनों वास्तव में सोए हैं। उसी प्रकार—

यह पुरुष निःशङ्क होकर अच्छी तरह से निःश्वास ले रहा है। निद्रावस्था में यह उचित व्यवधान पर श्वास खीचता है। आंख अच्छी तरह से मुंदी हुई है उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं है और न भीतर से कनीनिका ही चञ्चल हो रही है। शरीर की प्रत्येक संधियां शिथिल पड़ गई हैं तथा अङ्ग बिछावन से बाहर लटक

(समन्तादवलोक्य) अये ! कथं मृदङ्गः, अय दर्दुरः, अयं पणवः, इयमपि वीणा, एते वंशाः, अमी पुस्तकाः। कथं नाट्याचार्यस्य गृहमिदम्। अथवा, भवनप्रत्ययात् प्रविष्टोऽस्मि। तत् किं परमार्थदरिद्रोऽयम्? उत राजभयाच्चोरभयाद्वा भूमिष्ठं द्रव्यं धारयति?। तन्ममापि नाम शर्विलकस्य भूयिष्ठं द्रव्यम्?। भवतु, बीजं प्रक्षिपामि। (तथा कृत्वा) निक्षिप्तं बीजं न क्वचित् स्फारीभवति। अये! परमार्थदरिद्रोऽयम्। भवतु, गच्छामि।

विदू—(उत्स्वप्नायते) भो वअस्स! सन्धी विअ दिस्सदि, चोरं विअ प्रेक्खामि; ता गेण्हदु भवं एदं सुवण्णभण्डअं। (भो वयस्य! सन्धि रिव दृश्यते, चौरमिव पश्यामि, तद् गृह्णातु भवानिद सुवर्णभाण्डम्)

समन्तादिति—मृदङ्गः = मुरजः प्रसिद्धो वाद्यविशेषः दर्दुरः = वाद्ययन्त्रभेदः। वीणा, वंशाः = वंशीप्रभृतयः पुस्तकानि सन्ति एषु इति पुस्तकाः = पुस्तकाधाराः वाद्यन्त्रादिदर्शनात् नाट्याचार्यस्येति कथयति भवनप्रत्ययात् = इष्टकानिर्मितभवनस्य समृद्धत्वप्रत्ययात्। भूमिष्ठम् = भूगर्भगोपितम् भूयिष्ठमपि धनमुपायेनाहं प्रत्यक्षीकरोमीति गर्वेणाह—तन्ममापि नामेत्यादि बीजम् = सर्षपम् स्फारी भवति = प्रसरति। मन्त्रप्रेरिता बीजविशेषा धनसहितभूतलपृष्ठे क्षिप्तो बहुलीभवतीति प्रसिद्धिः। गच्छामि = दरिद्रगृहत्वात्।

विदू इति—उत्स्वप्नायते = उत्कृष्टः = सत्यत्वेन प्रशस्यः स्वप्नो यस्य सः उत्स्वप्नः तद्वदाचरतीति क्यङि उत्स्वप्नायते।

गए हैं। और यदि यह कपट की नींद होती तो यह, दीपक का प्रकाश सामने देखकर नहीं सहन कर सकता था॥ १८॥

(चारो तरफ देखकर) अरे यह मृदङ्ग है, यह दर्दुर (एक प्रकार का बाजा) है, यह पणव है, यह वीणा है, ये बाँसुरियाँ हैं और ये पुस्तकें हैं क्या यह नाचगाना आदि सिखानेवाले किसी नाट्याचार्य का मकान है? अथवा गृह के विश्वास से प्रविष्ट हुआ हूँ। तो क्या वास्तव में निर्धन है? अथवा राजा के भय और चोर के डर से द्रव्य पृथ्वी में गाड़कर रखता है। तो भूमि में गड़ा हुआ धन मुझ शर्विलक का ही होता है। अच्छा, बीज फेंकता हूँ (वैसा करके) फेंका हुआ बीज फैलता नहीं है। अरे यह तो सचमुच में दरिद्र है। यहाँ से मैं जाता हूँ।

विदूषक—(स्वप्न देखता है) हे मित्र! सेंध मालूम पड़ती है, मैं चोर को देख रहा हूँ। इसलिए इस सोने के आभूषण को आप लीजिए।

शर्वि—किं नु खलु अयमिह मां प्रविष्टं ज्ञात्वा दरिद्रोऽस्मीत्युपहसति ? तत् किं व्यापादयामि ? उत लघुत्वादुत्स्वप्नायते। (दृष्ट्वा) अये ? जर्जर-स्नानशाटीनिबद्धं दीपप्रभयोद्दीपितं सत्यमेवैतदलङ्करणभाण्डम्। भवतु, गृह्णामि। अथवा, न युक्तं तुल्यादस्थं कुलपुत्रजनं पीडयितुम्। तद् गच्छामि।

विदू—भो वअस्स ! साविदोसि गोवम्हणकामाए, जइ एदं सुवण्णभण्डअं ण गेण्हसि। (भो वयस्य ! शापितोऽसि गोब्राह्मणकाम्यया, यदि एतत् सुवर्णभाण्डं न गृह्णासि)

शर्वि—अनतिक्रमणीया भगवती गोकाम्या। ब्राह्मणकाम्या च। तद्

शर्वि इति—भाण्डस्यापि अभावादन्यस्मै सुवर्णभाण्डग्रहणानुशासनमिति मनस्यादायाह-उपहसतीति। व्यापादयामि = मारयामि लघुत्वात्=क्षुद्रत्वात् जर्जरा= जीर्णा या स्नानशाटी = अभ्यङ्गशाटी तया निबद्धम् अभ्यङ्गशाटी प्रायेण पुराणैव भवति तत्रापि जर्जरा इति विशेषणदानात् अतीवपुराणत्वं गम्यते प्रभया=प्रकाशेन उद्दीपितम् = देदीप्यमानं जातम् अलङ्करणभाण्डम्=भूषणपात्रम् तुल्या = मद्दैन्यदशासमाना अवस्था यस्य तम् कुलपुत्रजनम् = विशुद्धवंशोद्भवम्।

विदू इति—शापितोऽसि=शपनं कारितः गौश्च ब्राह्मणाश्च गोब्राह्मणौ तौ इच्छतीति गोब्राह्मणकाम्यति तदन्तादप्रत्ययात् टापि-गोर्ब्राह्मणसहितायाः भङ्गं त्वं करोषि यदीदं न गृह्णासि, इति केचित् भट्टाचार्यस्तु-गौश्च ब्राह्मणश्च तयोः काम्यया=अभिलाषे तथा गोर्ब्राह्मणस्य च अभिलाषाभङ्गे यत् पातकम् एतस्य अग्रहणेऽपि तदेव पातकम् भवेदिति, एतेन ब्राह्मणोऽहमित्यपि सूचितम् अग्रे शर्विलकोक्तिरपि संगच्छते।

शर्वि इति—अनतिक्रमणीया=नातिक्रमणयोग्या भगवती=अतिशयशक्तिसम्पन्ना

शर्विलक—तो क्या यह मुझे यहाँ आया हुआ देखकर, निर्धन समझ कर उपहास करता है ? तो क्या मार डालूँ अथवा साधारण होने के कारण हँस रहा है ! (देखकर) अरे जीर्ण स्नान करनेवाले रूमाल में बँधा हुआ, दीपक की प्रभा से प्रकाशित सचमुच में यह सोने का आभूषण है ? अच्छा, इसे लेता हूँ अथवा हमारे समान दीन इस सज्जन पुरुष को क्लेश देना उचित नहीं है, अतः जाता हूँ।

विदूषक—हे मित्र ! तुम्हें गौ और ब्राह्मण को शपथ है, यदि तुम इस स्वर्णभूषण को न ग्रहण करो।

शर्विलक—भगवती गौ और ब्राह्मण के शपथ का उल्लंघन करना उचित

गृह्णामि । अथवा, ज्वलति प्रदीपः । अस्ति च, मया प्रदीपनिर्वापणार्थमाग्नेयः कीटो धार्यते । तं तावत् प्रवेशयामि, तस्यायं देशकालः । एष मुक्तो मया कीटो यात्वेव अस्य दीपस्य उपरि मण्डलैर्विचित्रैर्विचरितुम् । एष पक्षद्वयानिलेन निर्वापितो भद्रपीठेन, धिक् कृतमन्धकारम् । अथवा, मयापि अस्मद्ब्राह्मणकुले न धिक् कृतमन्धकारम् ? अहं हि चतुर्वेदविदोऽप्रतिग्राहकस्य पुत्रः शर्विलको नाम ब्राह्मणो गणिकामदनिकार्थमकार्यमनुतिष्ठामि । इदानीं करोमि ब्राह्मणस्य प्रणयम् । (इति जिघृक्षति)

विदू—भो वअस्स ! सीदलो दे अग्गहत्थो । (भो वयस्य ! शीतलस्ते, अग्रहस्तः)

शर्वि—धिक् प्रमादः । सलिलसम्पर्कात् शीतलो मे अग्रहस्तः । भवतु,

---

गोकाम्या=गवामिच्छा ब्राह्मणकाम्या विप्राभिलाषा । तत्=तस्माद्धेतोः गृह्णामि=नयामि ज्वलति दीपः=दीपप्रकाशात् कश्चिद् द्रक्ष्यति । आग्नेयः=अग्निर्देवता अस्येति विग्रहे ढकि आग्नेयः=अग्निदेवताकः कीटः=जन्तुविशेषः धार्यते=आत्मसविधे रक्ष्यते पक्षद्वयानिलेन=पक्षद्वयवायुना भद्रपीठेन=भद्रपीठाख्यजन्तुना यद्यपि चौर्यंकार्यं कुर्वता ब्राह्मणकुले=ब्राह्मणवंशे न कृतम् ? अपि तु कृतमेवे'ति भावः । कीटवत् मयापि अन्धकारं कृतम् । प्रतिगृह्णातीति प्रतिग्राहकः 'ण्वुल तृचावि'ति तृचि न प्रतिग्राहकः अप्रतिग्राहकः तस्य पापभयात् परदानाग्राहिणः अकार्यम्=स्तेयरूपं कर्म प्रणयम्=प्रार्थनाम् जिघृक्षति—ग्रहीतुमिच्छति ।

विदू इति—हस्तस्य अग्रम् अग्रहस्तः=कराग्रभागः ।

शर्वि इति—सव्यहस्तम्=वामहस्तम् 'वामं शरीरं सव्यं स्यादपसव्यन्तु

नहीं है । इसलिए लेता हूँ, किन्तु दीपक जल रहा है । अच्छा हमारे पास दीपक बुझाने के लिए अग्नि का कीड़ा है । तब तक उस कीड़े को भेजूँ । उसके लिए यही उचित स्थान और समय है । यह कीड़ा मैंने छोड़ दिया, अब यह विचित्ररूप से मण्डलाकार दीपक पर मँडराये । उस कीड़े ने अपने पंखों के वायु से दीपक को बुझा दिया और अन्धकार कर दिया । अथवा क्या मैंने भी इस ब्राह्मण के कुल में अन्धकार नहीं कर दिया ? मैं चारों वेदों के जाननेवाले एवं दान न लेने वाले ब्राह्मण का पुत्र शर्विलक हूँ, फिर भी वेश्या मदनिका के लिए मैं यह अनुचित कार्य कर रहा हूँ । अब मैं ब्राह्मण का प्रणय करता हूँ । (आभूषण लेने की इच्छा करता हूँ)

विदूषक—हे मित्र ! तुम्हारी अंगुलियाँ शीतल हैं ।

शर्विलक—हाय ! यह मेरी असावधानता है । जल के संसर्ग से मेरी

कक्षयोर्हस्तं प्रक्षिपामि। (नाटचेन सव्यहस्तमुष्णीकृत्य गृह्णाति)

विदू—गहिदं ?। (गृहीतम् ?)

शर्वि—अनतिक्रमणीयोऽयं ब्राह्मणप्रणयः। तद् गृहीतम्।

विदू—दाणीं विक्किणिद-पण्णा विअ वाणिओ, अहं सुहं सुविस्सं।
(इदानीं विक्रीतपण्य इव वाणिजः अहं सुखं स्वप्स्यामि)

शर्वि—महाब्राह्मण ! स्वपिहि वर्षशतम्। कष्टम्, एवं मदनिकागणिकार्थे ब्राह्मणकुलं तमसि पातितम्। अथवा, आत्मा पातितः !

धिगस्तु खलु दारिद्र्यमनिर्वेदितपौरुषम्।

दक्षिणार्मि'त्यमरः। सिद्धान्तवागीशास्तु सव्यहस्तम् = दक्षिणहस्तम् 'सव्यन्तु दक्षिणे इति विश्वः।

विदू इति—विक्रीतम् = मूल्यं गृहीत्वा दत्तम् पण्यम् = विक्रेयद्रव्यम् येन सः वणिज इव स्वप्स्यामि = शयिष्ये विदूषकस्य तदानीमन्धकारातिशयेनावलोकनासम्भवात् तन्द्रया परकीयस्वरापरिज्ञानात् अयं विक्षेपो जातः।

शर्वि इति—महाब्राह्मण ! उपहाससूचकसम्बोधनम्। विप्रोचितचन्दनदर्शनेन ब्राह्मणत्वनिश्चयः अथ स्वयमेव स्वकीयालङ्कारार्पणेन महामोहनिश्चयः अत्रैतत् सम्बोधनस्य बीजम्। आत्मा स्वयं पातितः = नरके निपातितः।

अन्वयः—अनिर्वेदितपौरुषम् दारिद्र्यम् धिक् अस्तु खलु यत् एतत् गर्हितम् कर्म निन्दामि च करोमि च।

धिगिति—अनिर्वेदितम्=अदर्शितम् पौरुषम्=पुरुषोचितं कर्म येन तत् दारिद्र्यम् = अकिञ्चनत्वम् धिक् = (धिक्कारः) अस्तु खलु=निश्चयेन यत् = यस्मात्

अंगुलियाँ शीतल हो गई हैं। अच्छा अंगुलियों को काँख के भीतर रखकर उष्ण करता हूँ (अभिनयपूर्वक दाहिना हाथ उष्ण करके आभूषण लेता है)

विदूषक—ले लिया ?

शर्विलक—इस ब्राह्मण का प्रणय उल्लंघन नहीं है इसलिए ले लिया।

विदूषक—इस समय बिकने वाली वस्तुओं के बेच लेने पर व्यापारी के समान मैं सुखपूर्वक शयन करूँगा।

शर्विलक—महा-ब्राह्मण सैकड़ों वर्ष तक शयन करो। अफसोस है कि मदनिका वेश्या के लिए ब्राह्मण कुल को इस प्रकार घोर अन्धकार में गिरा दिया। अथवा—अपनी आत्मा का ही पतन कर डाला।

अप्रकटित पुरुषार्थ वाली निर्धनता को धिक्कार है। इस नीच कर्म की निन्दा

यदेतद्गर्हितं कर्म निन्दामि च करोमि च ॥ १९ ॥

तद्यावत् मदनिकाया निष्क्रयणार्थं वसन्तसेनागृहं गच्छामि ।

(परिक्रम्य अवलोक्य च)

अये ! पदशब्द इव । मा नाम रक्षिणः । भवतु, स्तम्भीभूत्वा तिष्ठामि । अथवा ममापि नाम शर्विलकस्य रक्षिणः ? योऽहम् ।

मार्जारः क्रमणे, मृगः प्रसरणे, श्येनो ग्रहालुञ्चने
सुप्तासुप्तमनुष्यवीर्यतुलने श्वा, सर्पणे पन्नगः ।

कारणात् एतत् गर्हितम् = निन्दितम् कर्म = चौर्यरूपं निन्दामि च अगत्या करोमि । अत्र काव्यलिङ्गम्, दीपकालंकारश्च परस्परनिरपेतया च संसृष्टिः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ १९ ॥

सरलार्थः—अगणितपुरुषकारं दारिद्र्यं धिगस्तु यत् अहम् पापजनकं परस्वापहरणं कर्म स्वयमेव च गणिकायै दानाय च चौर्यं करोमि चेत्यर्थः ॥ १९ ॥

तदिति—निष्क्रमणार्थम् = वसन्तसेनाया दासीत्वबन्धनात् मदनिकायाः मोचनार्थम् वसन्तसेनागृहम् = वसन्तसेनाभवनम् । गच्छामि = यामि ।

अये इति—पदशब्द इवेत्यनेन रदनिकायाः प्रवेशः सूच्यते । पदस्य=मानवचरणस्य शब्दः=ध्वनिः इव श्रूयते इति शेषः । नाम=सम्भावनायाम् रक्षिणः=प्रहरिणः (भवन्तु इति शेषः) स्तम्भीभूत्वा—अस्तम्भोऽपि (प्रासादस्य) स्तम्भ इव भूत्वा अभूततद्भावे च्विः । येन दृष्ट्वापि न बुद्ध्येरन् इति भावः । शर्विलकस्य रक्षिणः किमपि न करिष्यन्तीति गर्वोक्तिः ।

अन्वयः—क्रमणे मार्जारः प्रसरणे मृगः ग्रहालुञ्चने श्येनः सुप्तासुप्तमनुष्यवीर्य-

---

करता हूँ और इसी कर्म को करता भी हूँ ॥ १९ ॥

तबतक मदनिका को दासीत्व-बन्धन से मुक्त कराने के लिए मैं वसन्तसेना के घर चलता हूँ ।

(घूमकर और देखकर)

अरे ! किसी की पदध्वनि-सी सुनाई पड़ती है ? कहीं पहरेदार न आते हों ? अच्छा कुछ देर चुपचाप खड़ा रहूँ । अथवा मुझ शर्विलक को भी पहरेदारों से भय ? जो मैं—

माया-रूप-शरीर-वेश-रचने, वाग् देशभाषान्तरे,
दीपो रात्रिषु, सङ्कटेषु, डुडुभो, वाजी स्थले, नौर्जले ॥ २० ॥

तुलने श्वा सर्पणे पन्नगः रूप-शरीर-वेशरचने माया देशभाषान्तरे वाक् रात्रिषु दीपः सङ्कटेषु डुडुभः स्थले वाजी जले नौः ।

मार्जार इति—क्रकणे=निःशब्दपादविक्षेपे मार्जारः=विडाल; । 'ओतुर्विडाल-मर्जार' इत्यमरः । प्रसरणे=द्रुततरगमने मृगः=साक्षात् हरिणः ग्रहेण=ग्रहणेन युक्तम् आलुञ्चनम् तस्मिन् श्येनः (बाजपक्षी) ग्रहे=शीघ्रोड्डयनेन पलायमानस्य धरणे आलुञ्चने परपक्षिमुखाद्वस्त्वाहरणे प्रसिद्धस्तद्वदहमपि धावन् सन् पलायमानं पुरुषं धृत्वा तद्धस्ताद्वस्तु ग्रहीतुं शक्नोमि । सुप्तासुप्तयोः=शयितजागरितयोः मनुष्ययोः वीर्यतुलने=बलाबलज्ञाने श्वा=कुक्कुरः दृष्ट्वैव मानवबलमवगच्छामि । सर्पणे=विवरात्मकस्थानप्रवेशे पन्नगः=भुजगः । रूपस्य=शुक्लनीलादिवर्णस्य शरीरस्य=पुरुषादिविग्रहस्य वेशस्य=सर्वदेशीयवेशभूषादेः रचने=निर्माणे माया= इन्द्रजालविद्या । देशभाषायाम्=विविधदेशीयवाग्व्यवहाराणाम् अन्तरे=भेदे वाक्=साक्षात्सरस्वती । रात्रिषु=रजनीषु दीपः=आलोकः सङ्कटेषु=विपत्कालेषु डुडुभः=शृगालः शृगालो हि जन्तूनां धूर्त्तः । स्थले वाजी=अश्वः जले नौः=नौका एवम्भूतः योऽहमिति गद्यांशेन योज्यः । अत्र शर्विलकस्य विविधविषयभेदेन पौनःपुन्येनोल्लेखादुल्लेखालंकारः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥ २० ॥

सरलार्थः—आक्रमणे विडाल इव शीघ्रतरगमने हरिण इव वस्तुनःग्रहणे छेदने च श्येन इव निद्रिताऽनिद्रितमानवपराक्रमतुलनायां कुक्कुर इव रन्ध्रादिप्रवेशात्मककुटिलगमने सर्प इव रूपशरीरवेषरचने साक्षान्मायेव देशभाषाविशेषे सरस्वती इव रात्रिदर्शने दीप इव संकटेषु वृक इव भूमौ धावने अश्व इव जले तरणीव सर्वत्रैव अप्रतिहतगतिरहमस्तमोति भावः ॥ २० ॥

चुपचाप भागने में बिल्ली हूँ। शीघ्र भाग निकलने में हरिण, किसी की वस्तु अपहरण करने में बाज, सोये या जागे हुए मनुष्य के पराक्रम-निरूपण में कुत्ता, संकीर्ण पथ आदि से घसक कर भागने में सर्प, रूपपरिवर्त्तन, शरीर-परिवर्तन तथा वेश-परिवर्तन में साक्षात् माया, भाषा-परिवर्तन में मूर्त्तिमती वाणी, रात्रि के लिए दीपक, संकट के समय शृगाल, भूमि के लिए घोड़ा और जल के लिए तो नौका तुल्य हूँ ॥ २० ॥

अपि च—

भुजग इव गतौ, गिरिः स्थिरत्वे,
पतगपतेः परिसर्पणे च तुल्यः ।
शश इव भुवनावलोकनेऽहं
वृक इव च ग्रहणे बले च सिंहः ॥ २१ ॥

रदनिका (प्रविश्य) हद्धी ! हद्धी ! वाहिर-दुआर-सालाए पसुत्तो वड्ढमाणओ, सोवि एत्थ ण दीसइ ।. भोदु, अज्जमित्तेअं सद्दावेमि । (हा धिक् हा धिक् ! बहिर्द्वारशालायां प्रसुप्तो वर्द्धमानकः, सोऽप्यत्र न दृश्यते । भवतु, आर्यमैत्रेयं शब्दापयामि)

(इति परिक्रामति)

अन्वयः—अहम् गतौ भुजग इव स्थिरत्वे गिरिः परिसर्पणे च पतगपतेः तुल्यः भुवनालोकने शशः इव ग्रहणे च वृक इव बले च सिंहः ।

पुनरपि शब्दान्तरेणाह-भुजग इति-अहम् = शर्विलकः गतौ = अन्तःसर्पणे भुजगः पन्नग इव स्थिरत्वे = स्थैर्ये गिरिः = पर्वत इव परिसर्पणे = शीघ्रतरगतौ पतगपतेः=गरुडस्य तुल्यः च भुवनावलोकने—एकदेशे स्थित एव भुवनप्रेक्षणे शशः= मृगविशेषइव (खरहा इव भाषा) ग्रहणे = अभीष्टपदार्थधरणे वृकः बले = सत्त्वे सिंह इव अस्मि । तेन रक्षिणः मे किं करिष्यन्तीति । अत्राप्युल्लेखालङ्कारः पुष्पिताग्रा वृत्तमिदम् ॥ २१ ॥

सरलार्थः—अहं गतिविशेषे सर्पं इव स्थिरतायां पर्वत इव शीघ्रगमने गरुड इव चतुर्दिग्दर्शने शश इव प्रसभाक्रमणे वृक इव बले सिंह इवास्मि । अतः रक्षकेभ्यः मम भीतिर्नास्तीति भावः ॥ २१ ॥

प्रविश्येति—शब्दापयामि = आह्वयामि ।

और भी—

मैं (शर्विलक) भागने में सर्प के तुल्य, धैर्य में पर्वत के समान; शीघ्र भाग चलने में गरुड़ के समान, एक बारगी सारे संसार को देख लेने में शश नामक मृग के तुल्य, पकड़ने में भेड़िये के समान तथा पराक्रम में तो साक्षात् सिंह के समान हूँ ॥ २१ ॥

रदनिका—(आकर) हाय ! हाय ! बाहर बैठक में वर्द्धमानक सोया हुआ था, वह भी यहाँ दिखलाई नहीं पड़ता है ? अच्छा, आर्य मैत्रेय को पुकारती हूँ !

(घूमती है)

शर्वि—(रदनिकां हन्तुमिच्छति । निरूप्य) कथं स्त्री ! भवतु, गच्छामि । (इति निष्क्रान्तः)

रद—(गत्वा सत्रासम्) हद्धी ! हद्धी ! अम्हाणं गेहे सन्धि कप्पिअ चोरो णिक्कमदि । (विदूषकमुपगम्य) अज्जमित्तेअ ! उट्ठेहि उट्ठेहि; अम्हाणं गेहे सन्धि कप्पिअ चोरो णिक्कन्तो (हा धिक् हा धिक् ! अस्माकं गेहे सन्धि कल्पयित्वा चौरो निष्क्रामति । आर्यमैत्रेय ! उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ, अस्माकं गेहे सन्धि कल्पयित्वा चौरो निष्क्रान्तः)

विदू—(उत्थाय) आः दासीए धीए ! किं भणासि 'चोरं कप्पिअ सन्धी णिक्कन्तो ?' । (आः दास्याः पुत्रि ! किं भणसि 'चौरं कल्पयित्वा सन्धिर्निष्क्रान्तः ?')

रद—हदास ! अलं परिहासेण । किं ण पेक्खसि एणं ? । (हताश ! अलं परिहासेन । किं न प्रेक्षसे एनम् ?)

विदू—आः दासीए धीए ! किं भणासि ? दुदीअं विय दुआरअं उग्-

रद इति—सत्रासम् (सन्धि दृष्ट्वा चौरभयेन भीता सती इव यावत्) कल्पयित्वा विधाय ।

विदू इति—दास्याः पुत्रि ? साक्षेपं सम्बोधनपदम् । सन्धि कल्पयित्वेति वक्तव्ये चोरं कल्पयित्वेत्युक्तम् हास्यकरस्य विदूषकस्य युक्तमप्येतत् ।

रद इति—एनम् = सन्धिम् ।

शर्विकल—(रदनिका को मारना चाहता है । देखकर) अरे ! यह तो स्त्री है ! अच्छा जाता हूँ (चला गया)

रदनिका—(जाकर तथा उठकर) हाय ! हाय !! मेरे घर में चोर सेंध फोड़कर निकला जाता है (विदूषक के पास जाकर आर्य मैत्रेय ! उठो-उठो हमारे घर में चोर सेंध फोडकर निकल गया ।

विदूषक—(उठकर) अरी दासी की बालिके ? क्या कहती है कि चोर सेंध फोड़कर निकल गया ?

रदनिका—हाय । परिहास करना व्यर्थ है । क्या इसे देखते नहीं हो ?

विदूषक—अरी दासी की लड़की ? क्या कहती है ! दूसरे द्वार की तरह खोल दिया है । अरे ! मित्र चारुदत्त ? उठो-उठो हमारे घर में चोर सेंध फोड़ कर निकल गया ।

घाणिदं त्ति। वअस्स! चारुदत्त! उठ्ठेहि, उठ्ठेहि! अम्हाणं गेहे सन्धि दइअ चोरो णिक्कन्तो। (आः दास्याः पुत्रि! किं भणसि? द्वितीयमिव द्वारकम् उद्घाटितमिति। भो वयस्य! चारुदत्त! उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ। अस्माकं गेहे सन्धि दत्त्वा चोरो निष्क्रान्तः)

चारु—भवतु। भोः! अलं परिहासेन।

विदू—भो! ण परिहासो। पेक्खदु भवं। (भोः! न परिहासः प्रेक्षतां भवान्)

चारु—कस्मिन्नुद्देशे?।

विदू—भो। एसो। (भोः एषः)

चारु—(विलोक्य) अहो! दर्शनीयोऽयं सन्धिः।

उपरितलनिपातितेष्टकोऽयं
शिरसि तनुर्विपुलश्च मध्यदेशे!
असदृश जन-सम्प्रयोगभीरो-
र्हृदयमिव स्फुटितं महागृहस्य ॥ २२ ॥

विदू इति—द्वारकम् = द्वारम् अज्ञातं द्वारं कारकम्, कः।

अहं दरिद्राणामपि दरिद्रो जगति प्रसिद्धः अतः मद्गृहे चौरस्याशङ्कापि नास्ति परिहासार्थमेव विदूषको वदति इति मत्वाह—अलं परिहासेनेति।

चारु इति—दर्शनीयः = निर्माणनैपुण्यातिशयदर्शनादिदमुच्यते। अवलोकनीयः।

अन्वयः—उपरितलनिपातितेष्टकः शिरसि तनुः मध्यदेशे = विपुलः च अयम् असदृश-जनसम्प्रयोगभीरोः महागृहस्य हृदयमिव स्फुटितम्।

उपरीति—उपरि = ऊर्ध्वस्थानात् तलात् = निम्नदेशात् निपातिता इष्टका यस्य तादृशः शिरसि = ऊर्ध्वदेशे तनुः = अल्पपरिणाहः मध्यदेशे = मध्यभागे विपुलः = विशालपरिणाहः अयं = सन्धिः असदृशजनस्य = चौरादिकस्य सम्प्रयोगात् = सम्बन्धात् प्रवेशात् भीरोः = भयातुरस्य = महागृहस्य = भवनस्य हृदयमिवस्फुटितम् = विदीर्णम्। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ २२ ॥

चारुदत्त—अच्छा। अरे परिहास करना व्यर्थ है।

विदूषक—अरे परिहास नहीं करता हूँ, आप जरा देखें तो?

चारुदत्त—किस जगह पर?

विदूषक—अरे इस जगह पर।

चारुदत्त—(देखकर) अहा! यह सेंध देखने योग्य है।

जिसमें ऊपर से ईंटा हटाया गया है। अतएव ऊपर पतला है किन्तु बीच

कथमस्मिन्नपि कर्मणि कुशलता ।

विदू—भो वअस्स ! अअं सन्धी दुवेहिं ज्जेव दिण्णो भवे । आदु, आगन्तुएण सिक्खिदुकामेण वा । अण्णधा इध उज्जइणीए को अम्हाणं घरविहवं ण जाणादि ? । (भो वयस्य ! एव सन्धिर्द्वाभ्यामेव दत्तो भवेत् । अथवा आगन्तुकेन शिक्षितुकामेन वा । अन्यथा इह उज्जयिन्यां कः अस्माकं गृहविभवं न जानाति ?)

चारु—

वैदेश्येन कृतो भवेन्मम गृहे व्यापारमभ्यस्यता
नासौ वेदितवान् धनैर्विरहितं विस्रब्धसुप्तं जनम् ।

सरलार्थः—ऊर्ध्वदेशात् अधोभागाच्च स्वयमेव पतितेष्टकः सन्धिः उपरिभागे स्वल्पविस्तारमध्यदेशे च विशालपरिसरः अयोग्यजनप्रवेशशङ्कितस्य महागृहस्य विदीर्णं हृदयमिव विलोक्यते इति भावः ॥ २२ ॥

कथमिति—अस्मिन्नपि = चौर्यरूपेऽपि निकृष्टकर्मणि कुशलता = नैपुण्यम् ।

विदू इति—आगन्तुकेन = नवागन्तुकत्वान्मद्दैन्यदशामजानता शिक्षितुकामेन = सन्धिभेदनप्रकारं शिक्षितुं कामेन ।

अन्वयः—वैदेश्येन व्यापारमभ्यस्यता मम गृहे कृतः भवेत् असौ धनैः विरहितम् विश्रब्धसुप्तम् जनम् न वेदितवान् प्राक् महतीम् अस्माकम् निवासरचनाम् दृष्ट्वा आशान्वितः सुचिरम् सन्धिविच्छेदनखिन्नः इव पश्चात् निराशः गतः ।

वैदेश्यनेति—विदेशे भवः वैदेश्यस्तेन = अन्यदेशनिवासिना (अथवा) व्यापारम् = चौर्यवृत्तिम् (सन्धिभेदनकर्म) अभ्यस्यता = सोद्यव्यवहरता मम = दरिद्रतमस्य गृहे कृतः (सन्धिरिति शेषः) भवेत् । अत्रत्येन पुराणचौरेण नायं कर्तुं सम्भाव्यः । असौ—चोरः धनैः विरहितम् = विभवैर्हीनम् अत एव विश्रब्धम् = विशङ्कम्

में विशाल है । अयोग्य जन (चोर) के प्रवेश करने से इस विशाल भवन का मानो हृदय विदीर्ण-सा हो गया है ॥ २२ ॥

क्या इस कर्म में भी दक्षता होती है ?

विदूषक—हे मित्र ! यहाँ दो ही प्रकार से सेंध फूटी होगी । या तो देशान्तर से आये हुए परदेशी ने अथवा सीखने के ख्याल से किसी व्यक्ति ने यहाँ सेंध फोड़ी है । अथवा इस उज्जयिनी नगरी में हमारे घर की सम्पत्ति को कौन नहीं जानता है ?

चारुदत्त—अवश्यमेव किसी विदेशी ने अथवा नवीन चोरी सीखने वाले ने

दृष्ट्वा प्राङ्महतीं निवासरचनामस्माकमाशान्वितः,
सन्धिच्छेदनखिन्न एव सुचिरं पश्चान्निराशो गतः ॥ २३ ॥

ततः सुहृद्भ्यः किमसौ कथयिष्यति तपस्वी, 'सार्थवाहसुतस्य गृहं प्रविश्य न किञ्चिन्मया समासादितम्' इति ।

विदू—भो ! कधं तं ज्जेव चोरहदअं अणुशोचसि । तेण चिन्तिदं महन्तं एदं गेहं, इदो रअणभण्डअं सुवण्णभण्डअं वा णिक्कामइस्सामि ।

सुप्तम् = निद्रितम् जनम् = लोकम् न वेदितवान् = ज्ञातवान् । प्राक्—पूर्वम् महतीम् = विशालाम् अस्माकम् = चारुदत्तस्य निवासस्य = उन्नतहर्म्यस्य रचनाम् = निर्माणम् दृष्ट्वा = अवलोक्य आशान्वितः = मनोरथविशिष्टः सुचिरम् = बहुकालम् सन्धिच्छेदनेन = सन्धिकर्मकुर्वता खिन्नः = परिश्रान्तः एव पश्चात् (द्रव्यानवाप्तः) सन् निराशः = असफलमनोरथः गतः ।

अत्र मद्गृहे सन्धिकर्ता, वैदेश्यनवशिक्षितयोरन्यतरः, निर्धनजनसमुचितविश्रब्धस्वापाभिभूतगृहगतमानवदर्शनेऽपि सन्धिकर्मप्रवृत्तत्वात् इत्यनुमानालङ्कारः । काव्यलिङ्गञ्च धनैः विरहितत्वस्य सुप्तत्वं प्रति हेतुत्वात् । अत्र पद्ये विकल्पबोधकपदानभिधानात् सन्धिपदाभिधानान्न्यूनपदतादोषः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

सरलार्थः—भिन्नदेशोत्पन्नेन जनेन अथवा सन्धिच्छेदरूपचौर्यव्यवहारं वा शिक्षमाणेन जनेन मद्भवने सन्धिः निर्मितो भवेत् । असौ विभवविरहितं निःशंकनिद्रितं माम् न ज्ञातवान् । अस्माकं विपुलं निवासरचनां विलोक्य आशायुक्तः सन्धिकर्तने बहुकालं खिन्नः गृहप्रवेशानन्तरं निष्फलप्रयासः सन् प्रस्थितः ॥२३॥

तत इति—असौ = चोरः तपस्वी = वराकः (अतिश्रमेण कृतस्य सन्धिभेदनकर्मणो निष्फलत्वेन शोच्यः इत्यर्थः) सार्थवाहस्य = वणिजः सुतस्य = पुत्रस्य समासादितम् = प्राप्तम् ।

मेरे घर में सेंध फोड़ी है । धनहीन अतएव निश्चिन्त सोये मुझे वह न जान सका । पहले अपूर्व गृहनिर्माण की शोभा देखकर आशायुक्त हुआ होगा किन्तु अधिक समय में सेंध फोड़ चुकने पर (कुछ न पाने पर) निराश होकर चला गया होगा ? ॥ २३ ॥

तब यह निराश पुरुष अपने मित्रों से क्या कहेगा ? कि—'चारुदत्त के घर में घुसकर मैंने कुछ प्राप्त नहीं किया' ।

विदूषक—अरे ! क्यों तुम उस नीच चोर की चिन्ता करते हो ! उसने सोचा होगा कि यह विशाल घर है, इसमें से रत्न के अलंकार या सुवर्ण के

(स्मृत्वा सविषादमात्मगतम्) कहिं तं सुवण्णभण्डअं (पुनरनुस्मृत्य प्रकाशम्) भो वअस्स ! तुमं सव्वकालं भणसि मुक्खो मित्तेअओ, अपण्डिदो मित्तेअओ त्ति। सुट्ठु मए किदं तं सुवण्णभण्डअं भवदो हत्थे समप्पअन्तेण। अण्णधा दासीए पुत्तेण अवहिदं भवे। (भोः ! कथं त्वमेव चोरहतकमनुशोचसि। तेन चिन्तितम्—महदेतद्गेहम्, इतो रत्नभाण्डं सुवर्णभाण्डं वा निष्क्रामयिष्यामि। कुत्र तत् सुवर्णभाण्डकम् ? भो वयस्य ! त्वं सर्वकालं भणसि—'मूर्खो मैत्रेयः अपण्डितो मैत्रेयः' इति। सुट्ठु मया कृतं तत् सुवर्णभाण्डं भवतो हस्ते समर्पयता। अन्यथा दास्याः पुत्रेण अपहृतं भवेत्)

चारु—अलं परिहासेन।

विदू—भो ! जह णाम अहं मुक्खो, ता किं परिहासस्सवि देशआलं ण जाणामि ?। (भोः ! यथा नाम अहं मूर्खः, तत् किं परिहासस्यापि देशकालं न जानामि !)

चारु—कस्यां वेलायाम् ?।

हतकश्चासौ चोरश्चेति चौरहतकस्तम् = निराशचौरम् (विशेष्यस्यैव पूर्वनिपातः) निष्क्रामयिष्यामि = इतो निष्कासयिष्यामि।

चारु इति—विदूषकहस्तात् भ्रमेणापगतं स्वर्णभाण्डमजानन् चारुदत्तः कथयति—परिहासेनेति।

विदू इति—परिहासस्यापि = उपहास्यापि देशकालम् = देशेन स्थानेन युक्तः कालः = समयस्तं न जानामि अपितु जानाम्येति भावः।

आभूषण निकालूँगा। (स्मरण कर और दुःख के साथ अपने मन ही मन) वह सुवर्ण का आभूषण कहाँ है (पुनः सोचकर, प्रकट) ऐ मित्र ! तुम सदा कहते थे कि—'मैत्रेय मूर्ख है तथा मैत्रेय अज्ञानी है'। मैंने अच्छा किया कि सुवर्ण का आभूषण आपके हाथ में दे दिया था। नहीं तो अधम चोर ने उसे चुरा लिया होता।

चारुदत्त—परिहास करना व्यर्थ है ?

विदूषक—अरे ! जो मैं मूर्ख हूँ, तो क्या मैं परिहास करने का स्थान और समय भी नहीं जानता हूँ ?

चारुदत्त—किस समय तुमने दिया था ?

विदू—भो ! जदा तुमं मए भणिदोऽसि—सदलो दे अग्गहत्थो। (भोः यदा त्वं मया भणितोऽसि—शीतलस्ते अग्रहस्तः)

चारु—कदाचिदेवमपि स्यात् ? । (सर्वतो निरूप्य सहर्षम्) वयस्य ! दिष्ट्या ते प्रियं निवेदयामि ।

विदू—किं ण अवहिदं (किं न अपहृतम् ?)

चारु—हृतम् ।

विदू—तधा वि किं पिअं ? । (तथापि किं प्रियम् ?)

चारु—यदसौ कृतार्थो गतः ।

विदू—णासो क्खु सो । (न्यासः खलु सः)

चारु—कथं न्यासः । (मोहमुपगतः)

विदू—समस्ससदु भवं । जइ णासो चोरेण अवहिदो, तुमं किं मोहं उवगदो ? । (समाश्वसितु भवान् । यदि न्यासश्चौरेणापहृतः, त्वं किं मोहमुपगतः ?)

चारु इति—एवम् = त्वयार्पितम् सुवर्णभाण्डम् दिष्ट्या = भाग्येन ।

चारु इति—कृतार्थः = लब्धधनः ।

विदू इति—न्यासः = निक्षेपः (वसन्तसेनाया इति शेषः)

वसन्तसेनां प्रति किमुत्तरं दास्यामि इति बुद्ध्या मोहावस्थां प्राहः तदाह—मोहमुपगत ।

विदू इति—समाश्वसितु = प्रकृतिस्थो भवतु भवान् ।

विदूषक—अरे ! जिस समय मैंने आप से कहा था कि आप की उँगलियाँ शीतल है ।

चारुदत्त—शायद तुमने दे ही दिया हो ? (चारों तरफ देखकर प्रसन्नता-पूर्वक) भाग्य से मैं तुझे शुभ समाचार सुनाता हूँ ।

विदूषक—क्या उसने नहीं चुराया ?

चारुदत्त—चुरा लिया ।

विदूषक—तब क्या शुभ-समाचार है ?

चारुदत्त—यही कि वह प्रसन्न होकर चला गया ।

विदूषक—अरे वह धरोहर थी ।

चारुदत्त—क्या धरोहर ? (मूर्छित हो गया)

विदूषक—आप धैर्य धारण करें । यदि धरोहर को चोरों ने चुरा लिया तो आप क्यों मूर्छित होते हैं ?

चारु—(समाश्वस्य) वयस्य !

कः श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मां तूलयिष्यति ।
शङ्कनीया हि लोकेऽस्मिन् निष्प्रतापा दरिद्रता ॥ २४ ॥

भोः ! कष्टम् ।

यदि तावत् कृतान्तेन प्रणयोऽर्थेषु मे कृतः ।
किमिदानीं नृशंसेन चारित्रमपि दूषितम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—कः भूतार्थं श्रद्धास्यति, सर्वः माम् तूलयिष्यति हि अस्मिन् लोके निष्प्रतापा दरिद्रतया शङ्कनीया ।

क इति—कः = लोकः भूतः = सत्यः अर्थः = चौरकर्तृकस्वर्णभाण्डारापहरण-रूपाघटना ताम् श्रद्धास्यति = विश्वसिष्यति । किन्तु सर्वः = जनः माम् = दरिद्रं चारुदत्तम् तूलयिष्यति = यथार्थवृत्तान्तेऽविश्वासतया स्वयमेवापहृतमिति अपवादो-त्पादनेनन तूलवत् लघुकरिष्यति । हि = यस्मात् अस्मिन् लोके = संसारे । निर्गा-स्तिप्रतापः तेजः यस्यां सा निष्प्रतापा = निस्तेजस्का दरिद्रता = दैन्यं शङ्कनीया= समस्तशङ्कास्थानम् भवतीति शेषः । अनुष्टुप् छन्दः ॥ २४ ॥

सरलार्थः—को जनः चौरेणापहृतं इति यथार्थवृत्तान्तं विश्वसिष्यति, सर्वोऽपि जनः तूलवत् लघूं करिष्यति यस्मात् अस्मिन् संसारे दरिद्रता प्रतापरहिता भवति । इति भावः ॥ २४ ॥

अन्वयः—कृतान्तेन मे अर्थेषु यदि तावत् प्रणयः कृतः, नृशंसेन इदानीम् किम् चारित्रम् अपि दूषितम् ।

यदीति—कृतान्तेन = भाग्यविधात्रा मे = मम अर्थेषु = विभवेषु यदि तावत् प्रणयः = स्नेहः (अर्थात् सर्वस्वापहरणम्) कृतः = विहितः तदापि मया सहर्ष-मङ्गीकृतम् । किन्तु नृशंसेन = निष्ठुरेण (इदानीम्) किं = केन हेतुना चारित्रम्= सच्चरित्रता अपि दूषितम् = चारुदत्तेन न्यासं स्वयमपहृतमित्यपवादेनातिनिन्दि-तत्वेन प्रख्यापितम् । अनुष्ठुप्वृत्तम् ॥ ३५ ॥

चारुदत्त—(साँस लेकर) मित्र !

वास्तविक बात पर कौन विश्वास करेगा ? (कि चोर ने धरोहर चुरा ली) सभी मुझे ही दोषी ठहरावेंगे । इस संसार में हीन निर्धनता ही सभी आशङ्काओं का मूल है ॥ २४ ॥

बड़े कष्ट का विषय है—

यदि दैव ने मेरे धन को अपहरण कर लिया था तो क्यों इस समय उस कठोर ने मेरे चरित्र को कलंकित कर दिया ? ॥ २५ ॥

विदू—अहं क्खु अवलविस्सं, केण दिस्सं ? केण गहिदं ? को वा सक्खि ? त्ति । (अहं खलु अपलपिष्यामि, केन दत्तम् ? केन गृहीतम् ? को वा साक्षी ? इति)

चारु—अहमिदानीमनृतमभिधास्ये ? ।

भैक्ष्येणाप्यर्जयिष्यामि पुनर्न्यासप्रतिक्रियाम् ।
अनृतं नाभिधास्यामि चारित्रभ्रंशकारणम् ॥ २६ ॥

रद—ता जाव अज्जाधू दाए गदुअ णिवेदेमि । (तद्यावत् आर्यधूतायै गत्वा निवेदयामि) (इति निष्क्रान्ता।)

सरलार्थः—यदि दैवेन मम धनेषु ग्रहणार्थी लोभः सम्पादितः तदा क्रूरेण सांप्रतं मम चारित्र्यमपि निन्दनीयं कस्माद्धेतोः कृतम् इति मनसि विचारयतीति भावः ॥

विदू इति—अपलपिष्यामि=वसन्तसेनया चारुदत्तस्य गृहे न्यासः नैव स्थापितः इत्येवमपलापं करिष्यामि । किं प्रमाणम् इति न्यासमेव विलोपयिष्यामि ।

चारु इति—अनृतम् = असत्यम् अभिधास्ये = कथयिष्ये (किमिति काकुः) ।

अन्वयः—भैक्ष्येण अपि न्यासप्रतिक्रियाम् पुनः अर्जयिष्यामि चारित्रभ्रंशकारणम् अनृतं नैव अभिधास्यामि ।

भैक्ष्येणेति—भैक्ष्येण = भिक्षाकार्येण अपि न्यासस्य = स्थापितस्य धनस्य प्रतिक्रियाम् = परिशोधोपायम् पुनः अर्जयिष्यामि = अर्जनं करिष्यामि किन्तु चारित्रस्य भ्रंशकारणम् = सच्चरित्रताविनाशहेभूतम् अनृतम् = असत्यम् न अभिधास्यामि = कथयिष्यामि । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ २६ ॥

सरलार्थः—वसन्तसेनायाः रक्षितधनस्य प्रदानाय भिक्षावृत्त्यापि अर्जयिष्यामि किन्तु सद्वृत्तिभ्रंशहेतुभूतम् असत्यं न वदिष्यामि ॥ २६ ॥

रद इति—धूता = स्वधर्मभ्रंशभयात् कम्पिता तदाख्या चारुदत्तस्य पत्नी इति

विदूषक—मैं प्रचार करूंगा कि किसने दिया है ? किसने लिया है ? और कौन साक्षी है ?

चारुदत्त—क्या इस समय मैं झूठ बोलूंगा ?

भिक्षा के द्वारा भी धरोहर योग्य धन का उपार्जन कर उसे लौटा दूंगा किन्तु चरित्र को कलंकित करनेवाले झूठ का उपयोग नहीं करूंगा । अर्थात् भीख भले ही मांगनी पड़े किन्तु झूठ किसी भी हालत में न बोलूंगा ॥ २६ ॥

रदनिका—तब तक जाकर आर्या धूता (चारुदत्त की स्त्री) से सब बातें कहती हूँ ।

ततः प्रविशति चेटया सह चारुदत्तवधूः ।

वधूः—(ससम्भ्रमम्) अह ! सच्चं अवरिक्खदसरीरो अज्जउत्तो अज्जमित्तेएण सह ? (अयि ! सत्यम् अपरिक्षतशरीर आर्यपुत्र आर्यमैत्रेयण सह ?)

चेटी–भट्टिणि ! सच्चं ! किं तु जो सो वेस्साजणकेरको अलंकारको, सो अवहिदो । (भट्टिनि ! सत्यम् ! किन्तु यः स वेश्याजनस्य अलंकारकः सोऽपहृतः)

वधूः । मोहं नाटयति ।

वधूः—(समाश्वस्य) हञ्जे ! किं भणासि ? 'अवरिक्खदसरीरो अज्जउत्तो' त्ति । वरं दाणिं सो सरीरेण परिक्खदो, ण उण चारित्तेण । संपदं अज्जइणीए जणो एव्वं मन्तइस्सदि–'दलिद्दाए अज्जउत्तेण ज्जेव ईदिसं अकज्जं अणुचिट्ठिद'त्ति । (ऊर्ध्वमवलोक्य निःश्वस्य च) भअवं कअन्त ! पोक्खर–वत्त–पडिद–जलविन्दु–चञ्चलेहिं कीलसि दलिद्दपुरिसभाअधे-

---

भट्टचार्या ।। स्वभर्त्तुः वेश्यासंसर्गाशंकया वृद्धमंध्वंसं मन्यमाना स्वधर्मं संकटापन्नं ज्ञात्वाऽऽत्मरक्षणाय कम्पिता इत्यन्यः ।

वधू इति—सम्भ्रमेण=संवेगेन सहितं यथास्यात्तथा (समौ संवेग सम्भ्रमौ इत्यमरः) चारुदत्तस्य समाचारज्ञानाय त्वरा बोध्या । आर्यस्य=श्वशुरत्वेन मान्यस्य पुत्रः आर्यपुत्रः=स्वामी । न परिक्षितम् (चोर्यादिप्रहारेणेति शेषः) शरीरम् यस्य सः ।

(इसके बाद चेटी के साथ चारुदत्त की वधू धूता आती है)

वधू—(आकुलता के साथ) क्या सचमुच मैत्रेय के सहित आर्य चारुदत्त सकुशल थे ?

चेटी—स्वामिनि ! ठीक है । किन्तु उस वेश्या के अलंकार को चोर ने चुरा लिया ।

वधू—(मूर्छित सी होती है)

चेटी—आर्या धूता ! धैर्य धारण कीजिए ।

वधू—(सांस लेकर) प्रिय दासी ! क्या कहती है ! 'आर्यपुत्र सकुशल है' अच्छा है कि इस समय वे शरीर से कुशल है, किन्तु चरित्र से नहीं । अब उज्जयिनी की जनता इस प्रकार कहेगी–निर्धनता के कारण आर्य चारुदत्त ने ही ऐसा ही नीच कार्य किया है ।' (ऊपर देखकर और निःश्वास लेकर) भगवन् दैव ! कमलपत्र पर गिरे हुए जलबिन्दु के समान चंचल निर्धन के भाग्य से

एहि । इमं च मे एक्का मादुघरलद्धा रअणावली चिट्ठदि, एदंपि अदिसोण्डीरदाए अज्जउत्तो ण गेण्हिस्सदि । हञ्जे ! अज्जमित्तेअं दाव सद्दावेहि । (हञ्जे ! किं भणसि—'अपरिक्षतशरीरः आर्यपुत्रः' इति । वरमिदानीं स शरीरेण परिक्षतः न पुनश्चारित्रेण । साम्प्रतमुज्जयिन्यां जन एवं मन्त्रयिष्यति—'दरिद्रतया आर्यपुत्रेणैव ईदृशमकार्यमनुष्ठितम् । भगवन् ! कृतान्त ! पुष्करपत्रपतितजलबिन्दुचञ्चलैः क्रीडसि दरिद्रपुरुषभागधेयैः इयञ्च मे एका मातृगृहलब्धा रत्नावली तिष्ठति । एतामपि अतिशौण्डीरतया आर्यपुत्रो न ग्रहीष्यति । हञ्जे ! आर्यमैत्रेयं तावत् शब्दापय ।

चेटी—जं अज्जा धूदा आणवेदि । (विदूषक मुपगम्य) अज्जमित्तेअ ! धूदा दे सद्दावेदि । (यदार्या धूता आज्ञापयति ! आर्यमत्रेय ! धूता त्वां शब्दापयति) ।

विदू—कहिं सा ? । (कस्मिन् सा ? ।)

चेटी—एसा चिट्ठदि, उवसप्प । (एषा तिष्ठति, उपसर्प)

विदू—(उपसृत्य) सोत्थि भोदीए । (स्वस्ति भवत्यै)

शरीरेण = विनश्वरेणेति भावः परिक्षतः वरम् = किञ्चित् प्रियम् । पुनः = परन्तु चरित्रेण = अविनाशिपदार्थेनेति भावः परिक्षतः=परिभ्रष्टः न वरम् । विनाशिशरीरापेक्ष्याऽविनाशिनः चरित्रस्य मूल्याधिक्यात् । मन्त्रयिष्यामि = समालोचयिष्यति । ईदृशम्=न्यासापहरणरूपम् । पद्मस्य = कमलस्य पत्रे पतिता ये जलबिन्दवस्तद्वच्चञ्चलै। क्रीडसि = मनोविनोदं कुरुषे (दरिद्राणामुपरि सततं दुःखपरम्परानिपातनमेव तव प्रियमिति भावः । रत्नावली=हारविशेषः अतिशौण्डीरतया= अत्यन्तोदार्यवत्तया न ग्रहीष्यति = स्त्रीधननत्वान्न स्वीकरिष्यति ।

विदू इति—स्वस्ति = कल्याणम् ।

खेल करते हों यह नैहर की मेरी रत्नावली है । अत्यन्त उदार होने के कारण आर्यपुत्र इसे भी न लेंगे । दासी ! जरा आर्य मैत्रेय को तो बुलाओ ।

चेटी—जैसी आर्या धूता की आज्ञा । (विदूषक के पास जाकर) आर्यमैत्रेय आपको आर्या धूता बुला रही हैं ।

विदूषक—वे कहाँ है ?

चेटी—यहाँ हैं । चलिये ।

विदूषक—(जाकर) आपका कल्याण हो ।

वधूः—अज्ज ! वन्दामि । अज्ज ! पुरत्थिआमुहो होंहि । (आर्य ! वन्दे । आर्य ! पुरस्तान्मुखो भव)

विदू—एसो भोदि ! पुरत्थिआमुहो संवृत्तोह्मि । (एष भवति ! पुरस्तान्मुखः संवृत्तोऽस्मि)

वधूः—अज्ज ! पडिच्छ इमं । (आर्य ! प्रतीच्छ इमाम्)

विदूः—कि स्मेदं ? (किं न्वेतत् ?)

वधूः—अहं क्खु रअणसट्ठिं उववसिदा आसि । तहिं जधा विहवाणुसारेण वम्हणो पडिग्गाहिदव्वो, सो अ ण पडिग्गाहिदो; ता तस्स किदे पडिच्छ इमं रअणमालिअं । (अहं खलु रत्नषष्ठीमुपोषिता आसम् । तस्मिन् यथाविभवानुसारेण ब्राह्मणः प्रतिग्राहयितव्यः, स च न प्रतिग्राहितः, तत् तस्य कृते प्रतीच्छ इमां रत्नमालिकाम्)

विदू—(गृहीत्वा) सोत्थि । गमिस्सं, पिअवअस्सस्स णिवेदेमि । (स्वस्ति । गमिष्यामि । प्रियवयस्यस्य निवेदयामि)

वधू इति—प्रतीच्छ = गृहाण ।

वधू इति—रत्नषष्ठी इति नाम्ना प्रसिद्धं व्रतम् । अनन्तषष्ठिकानामग्रीष्मव्रतम् इत्येके इति पृथ्वीधरः । न च रत्नषष्ठीमुपोषितेत्यत्राभुक्त्यर्थस्य न इति कर्मणो निषेधात् कथं द्वितीयेति भ्रमितव्यम् गत्यर्थेति सूत्रे हरिदिनमुपोषित इत्युदाहरणदानेन वसतेरत्रस्थितिरर्थः भोजननिवृत्तिःस्वार्थिकीति सर्वैः सिद्धान्तितत्वात् । प्रतिग्राहयितव्यः = प्रतिग्रहरूपे कर्मणि नियोजयितव्यः । दानेन सम्मानयितव्य इति भावः ।

वधू—आर्य ! प्रणाम करती हूँ । आर्य जरा मेरी ओर मुख कीजिए ।

विदूषक—श्रीमती जी ! यह मैं आपके सम्मुख हो गया ।

वधू—आर्य ! इसे लो ।

विदूषक—यह क्या है ?

वधू—मैंने रत्न षष्ठी व्रत किया है । उसमें अपनी सम्पत्ति के अनुसार ब्राह्मण को दान दिया जाता है । मैंने वह दान नहीं दिया । अतः उसके लिए यह रत्नावली ले लो ।

विदूषक—(लेकर) कल्याण हो । आर्य चारुदत्त से कहने के लिए जाता हूँ ।

वधूः—अज्जमित्तेअ ! मा क्खु मं लज्जावेहि । (इति निष्क्रान्ता) (आर्यमैत्रेय ! मा खलु मां लज्जय)

विदू—(सविस्मयम्) अहो ! से महागुणभावदा । (अहो । अस्या महानुभावता)

चारु—अये ! चिरयति मैत्रेयः । मा नाम वैक्लव्यादकार्यं कुर्यात् । मैत्रेय !

विदू—(उपसृत्य) एसोम्हि । गेण्ह एदं । (रत्नावली दर्शयति) (एषोऽस्मि गृहाण एताम्)

चारु—किमेतत् ? ।

विदू—भो ! जं दे सरिस–दार–सङ्गहस्स फलं । (भोः ! यत् ते सदृश-दारसंग्रहस्य फलम्)

चारु—कथं ब्राह्मणी मामनुकम्पते ? कष्टम् ! इदानीमस्मि दरिद्रः !

विदू इति—महानुभावता=महाशयत्वम् । वराङ्गनासङ्गिनोऽपि स्वपुरुषस्यापवादपरिहरणाय बहुमूल्यरत्नावलीप्रदानादित्याशयः ।

चारु इति—चिरयति=विलम्बं करोति । विक्लवः=विह्वलः तस्य भावः वैक्लव्यम् तस्मात् वैक्लव्यात् शोकविह्वलत्वात् । न्यासरक्षकभ्रमेण चौरहस्ते न्यासस्यार्पणात् विदूषकस्यापि शोकोदयो बोध्यः ।

विदू इति—सदृशदारपरिग्रहस्य=स्वानुरूपसुयोग्यपत्नीग्रहणस्य फलम्=विपत्तौ साहाय्यदानादिरूपम् । सेवा दासी रतौ वेश्या भोजने जननी समा । विपत्काले परं मित्रं सा भार्या भुवि दुर्लभा ।। इति सुभार्यालक्षणम् ।

वधू—आर्य मैत्रेय ! मुझे लज्जित न करो । (चली गई)

विदूषक—(आश्चर्य के साथ) धन्य है इसकी महान् उदारता !

चारुदत्त—अरे मैत्रेय विलम्ब कर रहा है । कहीं दुःख के कारण गर्हित (आत्महत्या) काम न कर बैठे । मैत्रेय ! मैत्रेय !!

विदूषक—(आकर) यह आया ! इसे लो । (रत्नावली दिखाता है)

चारुदत्त—यह क्या है ?

विदूषक—अपने योग्य स्त्री पाने का फल ।

चारुदत्त—क्या ब्राह्मणी मुझ पर दया करती है ? हाय ? इस समय मैं दरिद्र हो गया हूँ :—

आत्माभाग्यक्षतद्रव्यः स्त्रीद्रव्येणानुकम्पितः ।
अर्थतः पुरुषो नारी, या नारी सार्थतः पुमान् ॥ २७ ॥

अथवा, नाहं दरिद्रः । यस्य मम—

विभवानुगता भार्या सुखदुःखसुहृद्भवान् ।
सत्यञ्च न परिभ्रष्टं यद्दरिद्रेषु दुर्लभम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—आत्मभाग्यक्षतद्रव्यः स्त्रीद्रव्येण अनुकम्पितः पुरुषः अर्थतः नारी या नारी अर्थतः पुमान् ।

आत्मेति—आत्मनः=निजस्य भाग्येन=दैवेन क्षतम् विनष्टम् द्रव्यम्=विभवः यस्य सः । स्त्रियाः=स्वकीयभार्यायाः द्रव्येण=धनेन अनुकम्पितः=यथाकाले साहाय्यप्रदानेन दयाविषयीकृतः । पुरुषः=पौरुषगुणाश्रयः अर्थतः=वस्तुतः नारी-कार्यवशात् सम्पद्यते । एवं या=साहाय्यविधायिनी नारी सा अर्थतः=कर्मतः पुमान्=पुरुषः, कार्यकाले पुरुषवत् कार्यकरणात् । अत्र पुरुषे नारीत्वारोपस्य नार्यां पुरुषत्वारोपस्य प्रकृतदारिद्र्योपयोगितया परिणामालङ्कारः पुरुष इत्युपक्रम्य पुमानिति कथनात् भग्नप्रक्रान्ता ॥ २७ ॥

सरलार्थः—स्वकीयदुर्दैनेवनष्टधनः स्त्रीधनेन अनुगृहीतः पुरुषः धनेन कार्येण वा रमणीसंवृत्तः । सा नारी तु धनतः कार्यतो वा पुरुषपदवाच्या जाता इति भावः ॥ २७ ॥

अन्वयः—भार्या विभवानुगता भवान् सुखदुःखसुहृत् दरिद्रेषु यत् दुर्लभम् सत्यम् च न परिभ्रष्टम् ।

विभवेति—भार्या=नारी विभवानुगता=सम्पत्तावनुकूलकार्यकारिणी भवान्=विदूषकः सुखदुखोभयदशायाम् सुहृद्=मित्रम् एवम् दरिद्रेषु=अस्मादृशेषु भाग्य-हीनेषु यत्=सत्यादिरक्षणम् दुर्लभम्=अशक्यरक्षणम् तत् सत्यम्=ऋतम् न परिभ्रष्टम्=भार्यासाहाय्येन च्युतम् । अत्र नाहं दरिद्र इत्युपक्रम्यैतदुक्तत्वात् दारिद्र्याभावं प्रति नाना कारणोपन्यासात् समुच्चयालङ्कारः ॥ २८ ॥

सरलार्थः—स्त्री विभवानुसारिणी किन्तु सम्पत्तौ विपत्तौ च अनुगतः सखा सत्यं दरिद्रेषु दुष्प्रापं तच्च न मम स्खलितम् ॥ २८ ॥

भाग्यदोष के कारण धन के नष्ट हो जाने पर मैं स्त्री के धन से अनुकम्पित हुआ हूँ । कार्य से पुरुष स्त्री हो जाता है और कार्य से ही स्त्री पुरुष हो जाती है ॥

अथवा मैं दरिद्र नहीं हूँ जिसके पास:—

सम्पत्ति के अनुसार चलने वाली पत्नी, सुख दुःख में समान रहने वाले आप जैसे मित्र और सत्य का परित्याग न होना ये सब निर्धनों के लिए दुर्लभ ही है; किन्तु हमारे पास ये सभी पदार्थ वर्तमान हैं ॥ २८ ॥

मैत्रेय ! गच्छ रत्नावलीमादाय वसन्तसेनायाः सकाशम्; वक्तव्या च सा मद्वचनात्—यत् खल्वस्माभिः सुवर्णभाण्डमात्मीयमित्ति कृत्वा विश्रम्भात् द्यूते हारितम्, तस्य कृते गृह्यतामियं रत्नावली इति ।

विदू—मा दाव अक्खाइदस्स अभुत्तास्स अप्पमुल्लस्स चोरेहिं अवहिदस्स कारणादो, चदुस्समुद्दसारभूदा रअणावली दीअदि । (मा तावत् अखादितस्य अभुक्तस्य अल्पमूल्यस्य चौरैरपहृतस्य कारणात् चतुःसमुद्रसारभूता रत्नावली दीयते ।

चारु—वयस्य ! मा मैवम् ।

यं समालम्ब्य विश्वासं न्यासोऽस्मासु तया कृतः ।
तस्यैतन्महतो मूल्यं प्रत्ययस्यैव दीयते ॥ २९ ॥

विदू इति—आस्वादितस्य=विक्रयं कृत्वाऽभक्षितस्य अभुक्तस्य = परिधानादिनानुपभुक्तस्य अल्पमूल्यस्य = रत्नावल्यापेक्षया हीनमूल्यस्य चोरैरपहृतस्य = सन्ध्यादिना तस्करैर्गृहीतस्य कारणात् = हेतोः न अपराध्यति भवान् चतुःसमुद्रसारभूता = चतुःसमुद्रसम्भूतरत्नानां प्रधानभूता रत्नावली दीयते ।

अन्वयः—तया यम् विश्वासम् समालम्ब्य अस्मासु न्यासः कृतः तस्य महतः प्रत्ययस्य एव एतत् मूल्यम् दीयते ।

यमिति—तया = वसन्तसेनया यम् = दृढम् विश्वासम् = प्रत्ययम् समालम्ब्य चेतसि निधाय अस्मासु = धनहीनजनेषु न्यासः = स्वर्णभाण्डनिक्षेपः कृतः । तस्य= पूर्वोक्तस्य महतः=प्रधानभूतस्य प्रत्ययस्य विश्वासस्य एव एतत्=रत्नावली दान स्वरूपम् मूल्यम् दीयते । अत्रातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ २९ ॥

मैत्रेय ! रत्नावली को लेकर वसन्तसेना के पास जाओ, और मेरी ओर से कहो कि 'सुवर्ण के अलंकार को भ्रमवश अपना समझ कर हार गए' उसके लिए यह रत्नावली ले लो ।

विदूषक—ऐसा न कीजिए । जिसे बेचकर कुछ खाया नहीं है, जिसका उपयोग नहीं किया है; जो थोड़े मूल्य की वस्तु है तथा जिसे चोरों ने चुरा लिया । उस वस्तु के लिए; चारों समुद्र से निकले हुए रत्नों में श्रेष्ठ इस रत्नावली को देते हो ।

चारुदत्त—मित्र ! ऐसी बात नहीं है :—

उस वसन्तसेना ने हमारे जिस विश्वास के सहारे हमारे पास उस धरोहर को रखा है, उसी विश्वास के कारण यह महामूल्यवाली रत्नावली दी जाती है न कि उस सुवर्ण भाण्ड के लिए ॥ २९ ॥

तद्वयस्य ! अस्मच्छरीसपृष्टिकया शापितोऽसि, नैनामग्राहयित्वा अत्रागन्तव्यम् : वर्द्धमानक !

एताभिरिष्टकाभिः सन्धिः कियतां सुसंहतः शीघ्रम् ।
परिवाद-वहलवृदोषान्न यस्य रक्षां परिहरामि ? ।। ३० ।।

वयस्य ! मैत्रेय ! भवताप्यकृपण-शौण्डीर्यमभिधातव्यम् ।

विदू—भो ! दलिद्दो किम् अकिवणं मन्तेदि ? । (भोः ! दरिद्रः किम् अकृपणं मन्त्रयति ?)

सरलार्थः—यं प्रत्ययं आलम्ब्य वसन्तसेनया अस्मासु अलङ्कारस्थापनं कृतम् तस्य विश्वासस्यैव रत्नमालारूपं मूल्यं दीयते ननु न्यस्तधनस्य मूल्यमिति भावः ।

तदिति—स्पृष्टिकया=स्पर्शेन शापितोऽसि=शपथपूर्वकं सूचितोऽसि एनाम्= रत्नावलीम् अग्राहहित्वा=आधारयित्वा न अत्रागन्तव्यम्=प्रत्यावर्तितव्यम् ।

अन्वयः—एताभिः=इष्टकाभिः सन्धिः शीघ्रम् सुसंहतः क्रियताम् परिवाद-वहलदोषात् तस्य रक्षाम् न परिहरामि ।

एताभिरिति—एताभिः=चौरेणोत्पाट्य क्षिप्ताभिः इष्टकाभिः सन्धिः=सन्धि-स्थानम् परिवादे=स्वयं न्यासमपहृत्य चौरान् अयं वदति चारुदत्त इति निन्दायाम् बहवः=बहुः दोषः=दूषणम् तस्मात् कारणात् यस्य=सन्धेः रक्षाम् =स्वरूपेणा-वस्थितम् न परिहरामि = न त्यजामि । काव्यलिङ्गमलङ्कारः आर्याजाति ।।३०।।

सरलार्थः—सन्धिस्थानात् आकृष्टाभिः इष्टकाभिः सत्वरं सम्यग्बद्धः क्रिय-ताम् लोकनिन्दोपबृंहितदोषात् सन्धेः रक्षां नोपेक्षेत् इति भावः ।। ३० ।।

वयस्येति—अकृपणवत् शौण्डीर्यम् =औदार्यम् यथा स्यात्तथा अभिधा-तव्यम् = कथनीयम् । येन वसन्तसेनया चेतसि सन्देहो नोदीयेत् ।

विदू इति—अकृपणम् अक्षुद्रम् मन्त्रयति ? न कथयतीति काकुः ।

इस लिए हे मित्र ! तुम्हें हमारी देह की कसम है तुम उसे बिना दिये यहाँ लौटकर मत आना । वर्द्धमानक !

इन ईटों से इस सेंध को शीघ्र अच्छी तरह भर दो । चौरप्रवेश रूप अप-वाद के बड़े दोष की रक्षा क्या कर लूँ ? अर्थात् शीघ्र सेंध को पूर्ण करा देता हूँ ।।

सखे मैत्रेय ! आप भी निर्भीक होकर उदारता पूर्वक सब बात कह दीजियेगा ।

विदूषक—अरे ! क्या दरिद्र भी निर्भीक कहता है ?

चारु—अदरिद्रोऽस्मि सखे ! ('यस्य मम—विभवानुगता भार्या,' इत्यादि पुनः पठति) तद्गच्छतु भवान्। अहमपि कृतशौचः सन्ध्यामुपासे।

इति निष्क्रान्ताः सर्वे।

इति सन्धिच्छेदो नाम तृतीयोऽङ्कः।

चारु इति—शौचम् = शुद्धिसम्बन्धि प्रातःकृत्यम्। सन्ध्याम् = प्रातःसन्ध्याम् उपासे = करोमि।

इति तृतीयोऽङ्कः समाप्तः।

चारुदत्त—दरिद्र नहीं हूँ मित्र ! जिसके पास—सम्पत्ति के अनुसार चलने वाली पत्नी है—(इत्यादि पुनः पढ़ने लगता है) अतः अब आप जायें। मैं भी शौचादि नित्य क्रियाओं से निश्चिन्त होकर सन्ध्या-वन्दन करता हूं॥

(सब चले गये)

तृतीय अंक समाप्त।

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चेटी)

चेटी—आणत्तह्मि अत्ताए अज्जआए सआसं गन्तुं। एसा अज्जआ चित्तफलअ-णिसण्ण-दिट्ठी मदणिआए सह किं पि मन्तअन्ती चिट्ठदि। ता जाव उपसप्पामि। (इति परिक्रामति) (आज्ञप्तास्मि मात्रा आर्यायाः सकाशं गन्तुम्। एषा आर्या चित्रफलकनिषण्णदृष्टिर्मदनिकया सह मन्त्रयन्ती तिष्ठति। तद्यावदुपसर्पामि)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा वसन्तसेना मदनिका च)

वसन्त—हञ्जे मदणिए! अवि सुसदिसी इअं चित्ताकिदी अज्जचारुदत्तस्स?। (हञ्जे मदनिके! अपि सुसदृशी इयं चित्राकृतिः आर्यचारुदत्तस्य?)

चेटीति—आज्ञप्तास्मि अहमिति शेषः मात्राः=वसन्तसेनायाः मात्रा आर्यायाः=वसन्तसेनायाः चित्रस्य=आलेख्यस्य फलकम्=पृष्ठम् नेत्रनिषण्णा=सौन्दर्यातिशयदर्शनाश्चर्येण संसक्ता दृष्टिर्यस्याः सा। मन्त्रयन्ती=आलापं कुर्वन्ती। उपसर्पामि=समीपं गच्छामि।

तत इति—यथानिर्दिष्टा=चित्रालोकनदत्तदृष्टिः (यथोपवर्णितेति भावः)।

वसन्त इति—'हण्डे हञ्जे हला ह्वानं नीचां चेटीं सखीं प्रतीत्यमरोक्तेः' हञ्जे इति चेटीं प्रति सम्बोधनं वसन्तसेनायाः सुसदृशी=अनुरूपा (चारुदत्तस्य साक्षात्प्राकृताकृतिरिवेति भावः) इयं=पुरोवर्तमाना चित्राकृतिः=चित्राकारा कृतिः चारुदत्तस्येति भावः। अथवा सुसदृशी=मदाकृतिसंवादिनी अन्तरङ्गसखीत्वादित्थं विस्रम्भालापो विरुद्धः।

(इसके बाद चेटी आती है)

चेटी—माता (वसन्तसेना की माता) जी ने मुझे आर्या वसन्तसेना के पास जाने के लिए आज्ञा दी है। यह आर्या चित्र में दृष्टि गड़ाई हुई मदनिका से कुछ परामर्श करती बैठी हैं! अतः उनके पास चलूँ। (घूमती है)

(इसके बाद पूर्व कथनानुसार वसन्तसेना और मदनिका आती हैं)

वसन्त सेना—अरी मदनिके! यह आर्य चारुदत्त की चित्राकृति क्या दर्शनीय एवं अनुरूप है?

मद—सुसदिसी। (सुसदृशी)

वसन्त—कधं तुमं जाणासि ?। (कथं त्वं जानासि ?)

मद—जेण अज्जआए सुसिणिद्धा दिट्ठी अणुलग्गा। (येन आर्यायाः सुस्निग्धा दृष्टिरनुलग्ना)

वसन्त—हञ्जे ! किं वेस-वास-दाक्खिण्णेण मदणिए ! एव्वं भणासि ?। (हञ्जे ! किं वेशवासदाक्षिण्येन मदनिके ! एवं भणसि ?)।

मद—अज्जए ! किं जो ज्जेव जणो वेसे पड़िवसदि, सो ज्जेव अलीअदक्खिणो भोदि ?। (आर्ये ! किं य एव जनो वेशे प्रतिवसति, स एव अलीकदक्षिणो भवति ?)

वसन्त—हञ्जे ! णाणा-पुरिससङ्गेण वेस्साजणो अलीअदक्खिणो भोदि। (हञ्जे ! नानापुरुषसङ्गेन वेश्याजनः अलीकदक्षिणो भवति)

मद—जदो दाव अज्जआए दिट्ठी इध अभिरमदि हिअअं च; तस्स

मद इति—सुसदृशी = तवाकृतिसंवादिनी।

मद इति—सुस्निग्धाः—अतिशयानुरागपूर्णा अनुलग्ना = ससक्त।

वसन्त इति—वेशे=वेश्यागृहे वासः=स्थितिः तेन दाक्षिण्यम्=वाक्चातुरी तेन।

मद इति—अलीकम् = मिथ्या दक्षिणः = कुशलः अलीकदक्षिणः = असत्यभाषण-कुशलः (अलीकं त्वप्रियेऽनृतेत्यमरः।

मद इति—यतः=यस्मात् कारणात् आर्यायाः=श्रेष्ठायाः (अपि तवेति शेषः।

मदनिका—हां, दर्शनीय है।

वसन्त सेना—तुमने कैसे जाना ?

मदनिका—क्योंकि आपकी प्रेममयी दृष्टि उसमें अनुरक्त हो गई है।

वसन्त सेना—अरी मदनिके ! क्या वेश्यालय में रहने की वाक्चातुरी से इस प्रकार कह रही है ?

मदनिका—आर्ये ! क्या जो भी मनुष्य वेश्यालय में रहता है वह झूठ बोलने में चतुर होता है ?

वसन्त सेना—अरी ! अनेक पुरुषों के संसर्ग से वेश्याजन झूठ बोलने में चतुर हो जाते हैं।

मदनिका—जब आपकी दृष्टि तथा हृदय इसमें अनुरक्त हो गया है, तब फिर उसका कारण क्यों पूछती हो ?

कारणं किं पुच्छीअदि ?। (यतस्तावद् आर्याया दृष्टिरिहि अभिरमते हृदयञ्च, तस्य कारणं किं पृच्छयते ?)

वसन्त—हञ्जे ! सहीजणादो उवहसणीअदां रक्खामि। (हञ्जे ! सखीजनादुपहसनीयतां रक्षामि)

मद—अज्जए ! एव्वं णेदं। सहीजणचित्ताणुवत्ती अवलाजणो भोदि। (आर्ये ! एवं नेदम्। सखीजनचित्तानुवर्त्ती अबलाजनो भवति)

प्रथमा चेटी—(उपसृत्य) अज्जए ! अत्ता आणवेदि—गहिदावगुण्ठणं पक्खदुआरए सज्जं पवहणं। ता गच्च त्ति। (आर्ये ! माता आज्ञापयति—गृहीतावगुण्ठनं पक्षद्वारे सज्जं प्रवहणं तद्गच्छ इति)

वसन्त—हञ्जे ! किं अज्जचारुदत्तो मं णइस्सदि ?। (हञ्जे ! किम् आर्य-चारुदत्तो मां नेष्यति ?)

इह = चित्रे अभिरमते = संसक्तो भवति तस्य = आसक्त्यातिशयस्य कारणम् = हेतुः पृच्छयते = प्रश्नः क्रियते। शोभनेयमाकृतिः तस्मादयं चारुदत्तः तवैवाहः इति शीघ्रमपसर इति भावः।

वसन्त इति—उपहसनीयताम् = त्वराकरणेनासहिष्णुताप्रकाशनात् सखीजनः उपहासं करिष्यतीति। रक्षामि = अभिसारं चिरयन्ती निवारयामि।

मद इति—इदम् = तव पूर्वोक्तम् एवम् सखीजनकर्तृकोपहासरूपम् न = नास्ति (अत्र हेतुं दर्शयति—अबलाजनः = तव सखीसमुदायः सखीजनस्य तव चित्तानु-वर्त्ती = चित्तानुवर्तनशीलः (अर्थात् तव स्नेहातिशयं जानातीति नैवोपहासमाच-रिष्यति तथाकरणे तव क्लेशसंभावनात्)।

प्रथमेति—गृहीतम् = धृतम् = अवगुण्ठनम् = बाह्यावरणम् येन तत् प्रवहणम् = स्त्रीजनोचितगोयानम् पक्षद्वारे = पार्श्वद्वाराग्रे सज्जम् = प्रस्तुतम्।

वसन्त इति—नेष्यति = गमयिष्यति (स्वगृहमिति शेषः)।

वसन्त०—अरी ! सखियों के उपहास की रक्षा करती हूँ।

मदनिका—आर्ये ! ऐसी बात नहीं है। अबलाएँ सखीजनों के चित्त के अनुकूल रहती हैं।

पहली चेटी—(आकर) आर्ये ! माता जी की आज्ञा है कि दरवाजे पर बैलगाड़ी तैयार है अतः घूँघट करके उस पर आप जांय।

वसन्तसेना—अरी ! क्या आर्य चारुदत्त मुझे ले जायेंगे ?

चेटी—अज्जए ! जेण पदहणेण सह सुवण्ण-दससाहस्सिओ अलङ्कारओ अणुप्पेसिदो । (आर्ये ! येन प्रवहणेन सह सुवर्ण-दशसाहस्रिकोऽलङ्कारः अनुप्रेषितः ।)

वसन्त—को उण सो ? (कः पुनः सः ?)

चेटी—एसो ज्जेव राअस्सालो संठाणओ । (एष एव राजश्यालः संस्थानकः)

वसन्त—(सक्रोधम्) अवेहि । मा पुणो एव्वं भणिस्ससि । (अपेहि । मा पुनरेवं भणिष्यसि ।

चेटी—पसीददु पसीददु अज्जआ । सन्देसेण म्हि पेसिदो । (प्रसीदतु प्रसीदतु आर्या । सन्देशेनास्मि प्रेषिता)

वसन्त—अहं सन्देसस्य ज्जेव कुप्पामि । (अहं सन्देशस्यैव कुप्यामि).

चेटी इति—प्रवहणेन = गोशकटेन सुवर्णदशसाहस्रिकः = सुवर्णानां = निष्काणां दशभिः सहस्रैः क्रीतः ।

वसन्त इति—कः पुनः सः = बहुमूल्यालङ्कारदानेन काममिच्छतीति प्रश्नः ।

चेटी इति—(कामादिदोषैः) स्थीयतेऽस्मिन् इति अधिकरणे ल्युट संस्थानम् संस्थानमस्त्यस्मिन्निति 'अर्शआदित्वा'दच् संस्थानः कुत्सितः संस्थानः संस्थानकः, कुत्सायां कप्रत्ययः एतन्नामकः राज्ञः श्यालः ।

चेटीति—सन्देशेन = त्वज्जनन्या वाचिकेन 'सन्देशवाग्वाचिकं स्यादि'त्यमरः । प्रेषिता = तव समीपे उपस्थिता । तेन नाहमपराध्यामि ।

वसन्त इति—सन्देशस्य = संस्थानकगृहगमनाय प्रवहणारोहणानुशासनकथनरूपस्य उपरि कुप्यामि = कोपं करोमि ।

चेटीति—विज्ञापयितव्या = तव वचसा कथयिष्यामि ।

वसन्त इति—विज्ञापयितव्या = कथयितव्या (त्वयेति शेषः) संस्थानकसविधे गमनाय पुनराज्ञां दास्यति तदात्महत्यां करिष्यामीति समुदायार्थः ।

चेटी—आर्ये ! जिसने बैलगाड़ी से दशहजार का स्वर्ण-आभूषण भेजा था ।

वसन्त सेना—वह कौन है ?

चेटी—वह राजा का शाला संस्थानक है ।

वसन्त०—(क्रोध के साथ) दूर हटो । फिर कभी ऐसा मत कहना ?

चेटी—आर्ये, प्रसन्न हों ! मैं तो केवल सन्देश लाई हूँ ।

वसन्तसेना—मैं उस सन्देश पर ही क्रुद्ध होती हूँ ।

चेटी—ता किंत्ति अत्तं विण्णविस्सं। (तत् किमिति मातरं विज्ञाप)यिष्यामि ?)

वसन्त—एव्वं विण्णाविदव्वा—'जइ मं जीअन्तीं इच्छसि ता एव्वं ण पुणो अहं अत्ताए आण्णाविदव्वा।' (एवं विलापयितव्या—यदि मां जीवन्तीमिच्छसि, तदा एवं न पुनरहं मात्रा आज्ञापयितव्या।)

चेटी—जधा दे रोअदि। (इति निष्क्रान्ता) (यथा ते रोचते)

शर्विलकः—(प्रविश्य)

दत्वा निशाया वचनीयदोषं निद्राञ्च जित्वा नृपतेश्च रक्ष्यान्।
स एष सूर्योदयमन्दरश्मिः क्षपाक्षयाच्चन्द्र इवास्मि जातः ॥ १ ॥

अन्वयः—निशायाः वचनीयदोषम् दत्वा निद्राम् नृपतेः रक्ष्यान् च जित्वा स एषः क्षपाक्षयात् सूर्योदयमन्दरश्मिः चन्द्र इव जातः अस्मि।

दत्वेति—निशायाः=यामिन्याः वचनीयदोषम्=अनर्थंकरीति अपवादम् दत्वा=चौर्यादिरूपानिष्टकार्यस्य निशाया उपरि निमित्ततामविधाय (शर्विलकेनेति भावः) निद्राम्=आत्मनिद्राम् रक्ष्यान्=रक्षापुरुषान् च जित्वा=गुप्तसञ्चारेण वञ्चयित्वा स एषः (अहम् शर्विलकः) क्षपायाः=रात्रेः क्षयात्=अवसानात् सूर्योदयेन मन्दा=प्रभाहीना रश्मिः यस्य स एवम्भूतः चन्द्र इव जातः अस्मि। एतेन चन्द्रचौरयोरुभयोरपि दिवामालिन्यप्रदर्शनेन रात्रावेव प्रभावपरिपोष इति भावः। अत्र चन्द्र इवेत्युपमालङ्कारः। उपजातिवृत्तम् ॥ १ ॥

सरलार्थः—स्वयं चौर्यं विधाय निशा क्षतिङ्करीति निशां दूषयित्वा राजपुरुषान् निद्राञ्च विजित्य अर्थात्=राजपुरुषात् निद्राञ्च निवृत्तः रात्रिक्षयात् सूर्यप्रकाशेन प्रभारहितकिरणश्चन्द्र इव संवृत्तोऽस्मि ॥ १ ॥

चेटी—तब जाकर माता जी से क्या कहूँगी ?

वसन्त०—जाकर यही कहना कि—'यदि मुझे जीवित देखना चाहती हैं, तो पुनः माता जी ऐसी आज्ञा कभी न देंगी'।

चेटी—जैसी आपकी इच्छा। (चली गई)

शर्विलक—(आकर) रात्रि को दोषवती बतलाकर और निद्रा तथा राजा के पहरेदारों पर विजय प्राप्त कर, इस समय में रात्रि के व्यतीत होने पर सूर्योदय की किरणों से मन्द चन्द्रमा के समान हो गया हूँ (दिन में चोरगण निस्तेज एवं असहाय हो जाते हैं) ॥ १ ॥

अपि च—

यः कश्चित्त्वरितगतिर्निरीक्षते मां सम्भ्रान्तं द्रुतमुपसर्पति स्थितं वा।
तं सर्वं तुलयति दूषितोऽन्तरात्मा स्वैर्दोषैर्भवति हि शङ्कितो मनुष्यः ॥२॥

मया खलु मदनिकायाः कृते साहसमनुष्ठितम्।

परिजनकथासक्तः कश्चिन्नरः समुपेक्षितः

अन्वयः—त्वरितगतिः यः कश्चित् सम्भ्रान्तम् माम् निरीक्षते वा स्थितम् द्रुतम् उपसर्पति दूषितः अन्तरात्मा तम् सर्वम् तुलयति हि मनुष्यः स्वैः दोषैः शङ्कितः भवति।

य इति—त्वरितगतिः=द्रुतगामी यः कश्चित् = मनुष्यः सम्भ्रान्तम्=चौर्यकार्य-करणात् भयातुरम् माम् = शर्विलकम् निरीक्षते = स्वाभाविकभावेनापि पश्यति, वा = अथवा स्थितम् = कुत्रचित् वर्तमानम् मां द्रुतम् = मत्सन्निधिं शीघ्रम् उपसर्पति = आगच्छति, तदा दूषितः = परधनापहरणेन दूषितः अन्तरात्मा = ममान्तःकरणम् तम् सर्वम् = निरीक्षमाणमुपसर्पन्तञ्च तुलयति = माम् धारणार्थमागच्छतीत्याशंकायुक्तः भवति। अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः। प्रहर्षिणीवृत्तम् ॥ २ ॥

सरलार्थः—यः कोऽपि मानवः शीघ्रगतिः सन् मां (शर्विलकं) अवलोकयति अथवा क्वचिदवस्थितं मां शीघ्रतया आगच्छति तस्मिन् समये मम दूषितान्तःकरणम् अर्थात् तस्करोऽहमिति किमयं ज्ञातवानिति सन्देहवशगम् सर्वं जनं परीक्षते यतः स्वकृतदोषैरेव मनुष्यः सर्वत्र शंकितो भवतीति भावः ॥ २ ॥

मयेति—मया = शर्विलकेन मदनिकायाः कृते=मदनिकायै साहसम्=चौर्यकर्म-रूपम् अनुष्ठितम् = आचरितम्।

सरलार्थः—परिजनकथासक्तः कश्चित् नरः समुपेक्षितः क्वचित् अपि नारी नाथम् गृहम् निरीक्ष्य विवर्जितम्। नरपतिबले पार्श्वायाते गृहदारुवत् स्थितम् एवंप्रायैः व्यवसितशतैः निशा दिवसीकृता।

परिजनेति—परिजनेन बन्धुवर्गेण सह कथायाम्=वार्तालापे आसक्तः=संलग्नः

और भी :—

जो कोई शीघ्रगामी मुझे भयभीत देखता है, अथवा मुझे स्थित देखकर द्रुतगति से मेरी ओर आता है, उन सबों को हमारी अपराधिनी अन्तरात्मा सशंक देखती है। अपने ही दोष के कारण मनुष्य दूसरे पर भी शंका करता है।

मैंने मदनिका के कारण यह चोरी की है।

किसी घर में इसलिए चोरी नहीं की कि उसमें घर के परिवार आपस में

क्वचिदपि गृहं नारीनाथं निरीक्ष्य विवर्जितम् ।
नरपतिबले पार्श्वायाते स्थितं गृहदारुवद्
व्यवसितशतैरेवं प्रायैर्निशा दिवसीकृता ॥ ३ ॥

(इति परिक्रामति)

वसन्त—हञ्जे ! इमं दाव चित्तफलअं मम सअणीए ठाविअ तालवेण्टअं गेण्हिअ लहु आअच्छ । (हञ्जे ! इदं तावत् चित्रफलकं मम शयनीये स्थापयित्वा तालवृन्तकं गृहीत्वा लघु आगच्छ ।)

कश्चित् नरः = लोकः समुपेक्षितः = दृष्टचपवजनेन गमनाद्वाञ्चितः । क्वचिदपि स्थाने नारी एव = अबला एव नाथा = स्वामिनी यस्य तत् गृहम् = भवनम् निरीक्ष्य = अवलोक्य विवर्जितम् = त्यक्तम् (तत्र चौर्यम् न कृतम्) सर्वस्वापहृते गृहे पुरुषाभावादिमां को रक्षिष्यतीत्यालोच्येति भावः । तथा नरपतिबले=नगररक्षके पार्श्वेन= समीपेन आयाते = उपस्थिते गृहदारुवत्=स्तम्भादिवत् स्थितम् । एवम्प्रायैः = एवम्भूतैः व्यवसितानाम्=व्यापाराणाम् शतैः = तत्तद्गणितभेदैः निशा = रात्रिः दिवसीकृता = अदिवसोऽपि साक्षाद्दिवसवत्कृता विचरणेनेति भावः । अत्र निशाया-दिवसीकरणरूपकार्यंप्रति उपायशतानां कारणत्वेन निर्देशात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तेन चात्मनोऽतिकौशलं व्यज्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः । हरिणी वृत्तम् ॥३॥

सरलार्थः—स्वपरिवारेण वार्तालापासक्तः कोऽपि पुरुषो मया परित्यक्तस्ता-दृशञ्जनमविगणय्य स्वकार्यं कृतवान्, क्वचिच्च स्त्रीमात्रसहायं भवनं परित्यक्तम्, दयया शास्त्रनिषिद्धत्वाद्वेति भावः, समीपवर्तिनि राजपुरुषे गृहधारकाष्ठवदवस्थितम्, तैरपि नाहल्लॅक्षितः, एवंविधबहुतरव्यापारैः रात्रिः दिवसवत् स्वच्छन्दव्यवहारोप-योगिनी विहितेति भावः ॥ ३ ॥

वसन्त इति—शयनीये = तल्पे तालवृन्तकम् = व्यजनम् लघु = क्षिप्रम् 'लघु-क्षिप्रमरं द्रुतम् इत्यमरः । आगच्छ = मत्समीपमागच्छ ।

संलाप कर रहे थे । और किसी घर को इसलिए भी छोड़ दिया कि उसमें केवल नारियाँ ही थीं । यदि राजा के पहरेदार बगल में आ गये तो घर में लगे हुए खम्भे के समान निस्तम्भ होकर खड़ा हो गया । इस प्रकार सैकड़ों व्यापारों के द्वारा रात्रि बिता दी और सूर्योदय हो गया ॥ ३ ॥

(घूमता है)

वसन्तसेना—अरी ! इसी चित्रपट को हमारी शय्या पर रखकर पंखा लेकर शीघ्र आओ ।

मद—जं अज्जआ आणवेदि। (इति फलकं गृहीत्वा निष्क्रान्ता) (यदार्य्या आज्ञापयति)

शर्वि—इदं वसन्तसेनाया गृहम्। तद्यावत् प्रविशामि। (प्रविश्य) क्व नु मया मदनिका द्रष्टव्या ? !

(ततः प्रविशति तालवृन्तहस्ता मदनिका)

शर्वि—(दृष्ट्वा) अये इयं मदनिका—

मदनमपि गुणैर्विशेषयन्ती
रतिरिव मूर्त्तिमती विभाति येयम्।
मम हृदयमनङ्गवह्नितप्तं
भृशमिव चन्दनशीतलं करोति ॥ ४ ॥

अन्वयः—गुणैः मदनम् अपि विशेषयन्ती मूर्तिमती रतिः इव विभाति या इयम् अनङ्गवह्नितप्तम् मम हृदयम् भृशम् चन्दनशीतलम् करोति इव।

मदनमिति—गुणैः = सौन्दर्यविलासादिभिः मदनम् = काममपि विशेषयन्ती= वर्द्धयन्ती (मोहयन्ती वा) मूर्त्तिमती=साक्षाद्देहधारिणी रतिः=कामवधूः इव इयं मदनिका अनङ्गवह्नितप्तम् = कामानलतप्तम् मम = शर्विलकस्य हृदयम् भृशम् = अत्यन्तम् चन्दनेन=चन्दनलेपेन शीतलम् करोति इव। अत्र मूर्त्तिमती रतिरिवेति भावाभिमानिनी द्रव्योत्प्रेक्षा अनङ्गवह्नि इति रूपकम् चन्दनशीतलं करोतीवेति गुणोत्प्रेक्षा चैषां संसृष्टिः। पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ४ ॥

सरलार्थः—रूपविलादिभिः कामदेवमपि मोहयन्ती देहधारिणी रतिरिव इयं मदनिका विभाति। या मदनिका नितान्तं कामानलसंतप्तं मम शर्विलकस्य हृदयं चन्दनानुलिप्तमिव सुखयतीति भावः ॥ ४ ॥

मदनिका—जैसी आपकी आज्ञा (चित्रपट लेकर निकल गई)

शर्विलक—यही वसन्तसेना का घर है। इसमें प्रवेश करूँ। (प्रविष्ट होकर) मुझे मदनिका किस स्थान पर मिलेगी ?

(इसके बाद पंखा लेकर मदनिका आती है)

शर्विलक—(देखकर) अरे ! यह मदनिका—

अपने लावण्य विलास आदि गुणों के द्वारा कामदेव को भी मोहती हुई यह साक्षात् रति के समान सुशोभित हो रही है। कामदेवरूपी अग्नि से जलते हुए हमारे हृदय को चन्दन के लेप सदृश शीतल करती है ॥ ४ ॥

मदनिके ! ।

मद—(दृष्ट्वा) अम्मो ! कथं सव्विलओ ! सव्विलअ ! साअदं ते ! कहिं तुमं ? । (अहो कथं शर्विलकः ! शर्विलक ! स्वागतं ते ? कस्मिन् त्वम् ?)

शर्वि—कथयिष्यामि । (इति सानुरागमन्योन्यं पश्यतः)

वसन्त—चिरअदि मदणिआ । ता कहिं णु क्खु सा ? (गवाक्षकेण दृष्ट्वा) कधं एसा केणावि पुरिसकेण सह मन्तअन्ती चिट्ठदि । जधा अदिसिणिद्धाए णिच्चलदिट्टिए आपिवन्ती विअ एदं णिज्झाअदि, तधा तक्केमि, एसो सो जणो एदं इच्छदि अधुजिस्सं कादुं । ता रमदु रमदु । मा कस्सावि पीदिच्छेदो भोदु । ण क्खु सद्दाविस्सं (चिरयति मदनिका । तत् कस्मिन् नु खलु सा ! कथमेषा केनापि पुरुषकेण सह मन्त्रयन्ती तिष्ठति । यथा अतिस्निग्धया निश्चलदृष्ट्या आपिबन्तीव एवं निध्यायति, तथा तर्कयामि—एष स जन एनामिच्छति अभुजिष्यां कर्तुम् । तत् रमतां रमताम् । मा कस्यापि प्रीतिच्छेदो भवतु । खलु शब्दापयिष्यामि)

मद इति—अहो = आश्चर्यं (बहोः कालात्परमकस्माद् दर्शनादिदमाश्चर्यं बोध्यम्) स्वागतम् = सत्कारार्थमेतत्कथनं, सुखेनागमनमिति भावः । कस्मिन् (स्थाने) त्वम् चलितोऽसि ।

वसन्त इति—चिरयति = विलम्बं करोति । तत्=विलम्बात् कस्मिन्=स्थाने सा = मदनिका गवाक्षकेण = लघुवातायनेन (अल्पार्थे कन् प्रत्ययः क्षुद्रः गवाक्षः गवाक्षकः) मन्त्रयन्ती = गुप्तमालपन्ती अतिस्निग्धया = अतिशयानुरागेण निश्चलदृष्ट्या=निर्निमेषनयनेन निध्यायति=पश्यति ('निर्वर्णनन्तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः) तर्कयामि = विचारयामि एषा सः = दृष्टपूर्वः भुङ्क्ते स्वाम्युच्छिष्ट

मदनिके !

मदनिका—(देखकर) अहा ! क्या शर्विलक ? शर्विलक तुम्हारा स्वागत है । कहाँ जा रहे हो ?

शर्विलक—कहूँगा ? (प्रेमपूर्वक एक दूसरे को देखते हैं) ।

वसन्तसेना—मदनिका विलम्ब कर रही है । तो फिर वह कहाँ चली गई ? (खिड़की से देखकर) यह तो किसी पुरुष के साथ बैठी वार्तालाप कर रही है । अति अनुरागिणी निश्चल आँखों के द्वारा पीती हुई के समान देख रही है, इसलिए मेरा अनुमान है कि यह इसे दासीत्व से मुक्त करना चाहता है । अच्छा

मद—सव्विलअ ! कधेहि । (शर्विलक ! कथय)

शर्वि—(सशङ्कं दिशोऽवलोकयति)

मद—सव्विलअ ! किं ण्णेदं ? ससङ्को विअ लक्खीअसि । (शर्विलक ! किन्विदम् ? सशङ्क इव लक्ष्यसे)

शर्वि —वक्ष्ये त्वां किञ्चित् रहस्यम्, तद्विविक्तमिदम् ?

मद—अध इं । (अथ किम्)

वसन्त—कधं परमरहस्सं । ता ण सुणिस्सं । (कथं परमरहस्यम् । तत् न श्रोष्यामि)

शर्वि—मदनिके ! किं वसन्तसेना मोक्ष्यति त्वां निष्क्रयेण ?

मिति भुजिष्या दासो न भुजिया अभुजिष्या ताम्=दासीत्वबन्धनान्मोचायतुम् न शब्दापयिष्यामि = उभयोः परस्परस्नेहालापभंगभयान्नाकारयिष्यामि ।

मद इति—कथय = कुत्र चलितोऽसीति ब्रूहि ।

शर्विलक इति—सशङ्कम् = आवां कोऽपि पश्यति किमिति शङ्कया । दिशोऽवलोकयति = विजनतापरीक्षार्थं परितोऽवलोकयति ।

शर्वि इति—रहस्यम् = आवाभ्यामेव ज्ञेयम् नान्यैः । विविक्तम्=निर्जनम् ।

मद इति—अथ किम् = अङ्गीकरोमीत्यर्थः ।

शर्वि इति—निष्क्रयेण = द्रव्यविनिमयेन ।

तो यह यथेष्ट रमण करे । इनके प्रेम के बीच में कोई बाधक न हो जाय ? मैं पुकारूँगी नहीं ।

मदनिका—शर्विलक ! कहो ।

शर्विलक—(सशंक होकर सभी ओर देखता है) ।

मदनिका—शर्विलक ! क्या बात है कि तुम सशंक से मालूम पड़ते हो ।

शर्विलक—तुमसे कुछ गुप्त बात कहूँगा । तो क्या यह स्थान निर्जन है ?

मदनिका—हाँ निर्जन है ।

वसन्तसेना—क्या बिलकुल गुप्त बात है ? तब नहीं सुनूंगी ।

शर्विलक—मदनिके ! तो क्या वसन्तसेना धन देने से तुम्हें अपने बन्धन से मुक्त कर देगी ?

वसन्त—कधं मम सम्बन्धिणी कधा। ता सुणिस्सं इमिणा गवक्खेण ओवारिदसरीरा। (कथं मम सम्बन्धिनी कथा। तत् श्रोष्यामि अनेन गवाक्षेण अपवारितशरीरा)

मद—सव्विलअ ! भणिदा मए अज्जआ, तदो भणादि, जइ मम सच्छन्दो, तदा विणा अत्थं सव्वं परिजणं अभुजिस्सं करइस्सं। अध सव्विलअ ! कुदो दे एत्तिओ विहवो ? जेण मं अज्जआसआसादो मोआइस्ससि। (शर्विलक ! भणिता मया आर्य्या; ततो भणति—यदि मम स्वच्छन्दः तदा बिना अर्थं सर्वं परिजनमभुजिष्यं करिष्यामि। अथ शर्विलक ! कुतस्ते एतावान् विभवः ? येन मामार्य्यासकाशात् मोचयिष्यसि)

शर्विलक—दारिद्र्येणाभिभूतेन त्वत्स्नेहानुगतेन च।
अद्य रात्रौ मया भीरु ! त्वदर्थे साहसं कृतम् ॥ ५ ॥

वसन्त इति—अपवारितम् = गोपितम् शरीरं यया सा तथोक्ता। प्रकटश्रवणे तु रहस्यभङ्गभयादनयोर्वार्तालापनिवृत्तिः स्यात्।

मद इति—आर्य्या = वसन्तसेना भणिता = धनमादाय मां मोक्ष्यति न वा इति पृष्ठा स्वच्छन्दः = स्वातन्त्र्यम् जनन्यधीनत्वेन परवशाहं कर्तुमपीच्छन्ती न पारयामि।

अन्वयः—हे भीरु ! दारिद्र्येणाभिभूतेन च मया अद्य रात्रौ त्वदर्थं साहसं कृतम्।

दारिद्र्येणेति—हे भीरु ! दारिद्र्येण = दैन्येन अभिभूतः = पीडितस्तेन त्वत्स्नेहम् अनुगतः = प्राप्तस्तेन मया = शर्विलकेन अद्य रात्रौ त्वदर्थे = त्वन्निष्क्रयसाधनार्थम् साहसम् = चौर्य्यम् कृतम् = अनुष्ठितम्। त्वन्निष्क्रयणार्थं धनबाहुल्यस्यावश्यकत्वेन आत्मसविधे तदभावात्तत्प्राप्त्यर्थं त्वत्प्रेमपरिकृष्टश्चौर्य्यमद्य रात्रावहमाचरितवानिति भावः ॥ ५ ॥

वसन्तसेना—क्या मेरे विषय की वार्ता है ? तब अपनी देह छिपाकर इस झरोखे से सुनती हूँ।

मदनिका—शर्विलक ! मैंने वसन्तसेना से कहा था। तो उन्होंने कहा कि 'यदि मैं स्वतन्त्र हो जाऊँ तो बिना धन के ही सभी परिजनों को मुक्त कर दूँगी।' शर्विलक ! तुम्हारे पास कहा इतना पयास धन है कि जिसके द्वारा तुम मुझे वसन्तसेना के बन्धन से मुक्त करा दोगे।

शर्विलक—हे भयशीले ! दरिद्रता से आक्रान्त होने के कारण तथा तुम्हारे

वसन्त—पसन्ना से आकिदो, साहसकम्मदाए उण उव्वेअणीआ। (प्रसन्ना अस्य आकृतिः; साहसकर्मतया पुनरुद्वेजनीया)

मद—सव्विलअ ! इत्थीकल्लवत्तस्स कारणेण उहअं पि संसए विणिक्खित्तं। (शर्विलक ! स्त्रीकल्यवर्त्तस्य कारणेन उभयमपि संशये विनिक्षिप्तम् !)

शर्वि—किं किम् ?।

मद—सरीरं चारित्तं च। (शरीरं चारित्रञ्च)

शर्वि—अपण्डिते ! साहसे श्रीः प्रतिवसति।

मद—सव्विलअ ! अखण्डिदचारित्तोसि। ता ण हु दे मम कारणादो साहसं करन्तेण अच्चन्तविरुद्ध आचरिदं ? (शर्विलक ! अखण्डित-

---

सरलार्थः—हे भीरु ! प्रवलदैन्यनिर्जितेन तथा त्वदीयप्रणयसमासक्तेन मया अद्य रजन्यां तव निमित्तं चौर्य्यं कृतमिति भावः ॥ ५ ॥

वसन्त इति—साहसम्=चौर्य्यम् कर्म यस्याः सा तस्या भावस्तत्ता तया। उद्वेजयतीत्युद्वेजनीया कर्तरि अनीयर् उद्वेगसम्पादिका।

मद इति=स्त्रीकल्यवर्त्तस्य=कल्यवर्त्तरूपायाः (आहारस्वरूपायाः) स्त्रीजातेः (एतेन आहारवदेतस्या अपि क्षणिकत्वमुद्घोषितम्) उभयम्=वक्ष्यमाणं शरीरं चारित्रं च।

मद इति—चौर्यं कुर्वतः धृतस्य धर्तृकर्तृकप्रहारादिना शरीरम् चौर्य्यप्रकाशात् चारित्रम् एतदुभयं विपद्ग्रस्तं भवति।

शर्वि इति—साहसे=स्तेये श्रीः=लक्ष्मीः प्रतिवसति=तिष्ठति।

मद इति—अखण्डचारित्रः=अहीनचरित्रः (पूर्णयशाः) असि इत्यहं मन्ये

प्रेम के वशीभूत होने से तुम्हारे ही कारण आज रात्रि में मैंने बड़ा साहस किया है। अर्थात् आज मैंने चोरी की है ॥ ५ ॥

वसन्तसेना—इसकी आकृति प्रसन्न है, किन्तु उस साहस के कारण यह उद्विग्न-सा है।

मदनिका—शर्विलक ! क्षणस्थायिनी स्त्री के कारण तुमने दोनों को संशय में डाल दिया।

शर्विलक—किन दोनों को ?

मदनिका—शरीर और चरित्र को।

शर्विलक—मूर्खे ! साहस में सम्पत्ति निवास करती है।

मदनिका—शर्विलक ! तुम्हारा चरित्र निर्मल है। किन्तु मेरे कारण

चरित्रोऽसि, तत् खलु त्वया मम कारणात् साहसं कुर्वता अत्यन्तविरुद्धमाचरितम् ?)

शर्वि—

> नो मुष्णास्यबलां विभूषणवतीं फुल्लामिवाहं लतां
> विप्रस्वं न हरामि काञ्चनमथो यज्ञार्थमभ्युद्धृतम् ।
> धात्र्युत्सङ्गगतं हरामि न तथा बालं धनार्थी क्वचित्
> कार्य्याकार्य्यविचारिणी मम मतिश्चौर्य्येऽपि नित्यं स्थिता ॥६॥

किन्तु मम कारणाच्चौर्यम् कुर्वता त्वया लोकधर्मविरुद्धं नाचरितम् ? इति काकुः अपितु आचरितमेवेति भावः ।

अन्वयः—अहं धनार्थी फुल्लाम् लताम् इव विभूषणवतीम् अबलाम् नो मुष्णामि विप्रस्वम् न हरामि काञ्चनं (न हरामि) अथ यज्ञार्थम् अभ्युद्धृतम् (न हरामि) तथा क्वचित् धात्र्युत्सङ्गगतं बालं (न हरामि) मम मतिः चौर्ये नित्यम् कार्य्याकार्य्यविचारिणी स्थिता ॥ ६ ॥

नो इति—अहं=शर्विलकः धनार्थी=विभवार्थी (सन्) फुल्लाम् (न हरामि) लताम् इव=वल्लरीमिव विभूषणवतीम्=भव्यभूषणधारिणीम् अबलाम्=नारीम् नो=न मुष्णामि=चोरयामि विप्रस्य=ब्राह्मणस्य स्वम्—धनं (विप्रस्वम्=ब्राह्मणस्वत्वविशिष्टं) काञ्चनम्—सुवर्णम् (न हरामि) अथ किन्तु यज्ञार्थम्=क्रत्वर्थम् अभ्युद्धृतम्=सञ्चितम् (धनादिकं न हरामि) यज्ञसम्बन्धिविभवापहरणस्य महापातकतुल्यत्वात् तथा=क्वचित् धात्र्याः=उपमातुः उत्सङ्गे=क्रोडे गतम्=स्थितम् बलाम्=शिशुम् (न हरामि) शिशोर्हरणं कृत्वा तं विक्रीय धनं नोपार्जयामीति भावः । अतः मम=शर्विलकस्य मतिः=बुद्धिः चौर्य्येऽपि=चौर्य्यरूपकुत्सितकार्य्येऽपि नित्यम्=सदा नतु कदाचित् कार्य्याकार्य्ययोः=कृत्याकृत्ययोः विचारिणी=विवेकधारिणी स्थिता वर्तते इति भावः । अत्र फुल्लां लतामिवेति श्रौती उपमा । द्वितीये पादे तुल्ययोगिता । अत्र मिथ्यात्वदोषः ब्राह्मणधनापहरणात् । तदानीं ब्राह्मणत्वेन ज्ञानं नासीदित्यपि कथञ्चिद् वक्तुं शक्यते ॥ ६ ॥

अत्यन्त साहस (चोरी) करके क्या आपने उसके विरुद्ध आचरण नहीं किया है ?

शर्विलक—धन का लोभी मैं विकसित लता के समान अलंकार धारण करने वाली नारी का अपहरण नहीं करता हूँ । ब्राह्मण के लिए सुरक्षित सुवर्ण भी नहीं चुराता हूँ और न यज्ञ के लिए संयोजित सामग्रियों को ही लेता हूँ । तथा धात्री की गोद में स्थित बालक का भी कभी अपहरण नहीं करता हूँ । इस प्रकार

तद्विज्ञाप्यतां वसन्तसेना—

अयं तव शरीरस्य प्रमाणादिव निर्म्मितः।
अप्रकाश्यं ह्यलङ्कारः मत्स्नेहाद्धार्य्यतामिति ॥ ७ ॥

मद—सव्विलअ! अप्पकास्शं अलङ्कारओ त्ति दुवेवि ण जुज्जदि। ता उवणेहि दाव पेक्खामि एदं अलङ्कारअं। (शर्विलक! अप्रकाश्यम् अलङ्कारकः इति द्वयमपि न युज्यते। तदुपनय तावत् प्रेक्षे एतमलङ्कारकम्।)

सरलार्थः—अहं धनार्थी सन् विकसितपुष्पां लतामिव परिहितालङ्काराम् स्त्रियं न चोरयामि। ब्राह्मणधनसुवर्णं यज्ञनिमित्तमाहृतम् किमपि वस्तु न चोरयामि। उपमातुः क्रोडस्थितं शिशुं धनलाभार्थं न चोरयामि। यतो हि त्वदर्थं साहसं कुर्वंताऽपि मया अत्यन्तविरुद्धं धर्मशास्त्रादिनिषिद्धत्वात् कर्त्तुमशक्यमिति भावः।।६॥

अन्वयः—तव शरीरस्य प्रमाणात् इव विनिर्मितः अयम् अलङ्कारः मत्स्नेहात् हि अप्रकाश्यम् त्वया धार्यताम् इति ॥

अयमिति—तव=तव स्वामिनीभूतायाः वसन्तसेनायाः शरीरस्य=देहस्य प्रमाणादिव=प्रमाणं कृत्वेवेति भावः। (ल्यब्लोपे एषा पञ्चमी)। विनिर्मितः। स्वर्णकारेण रचितः अयम्=वर्तमानः अलङ्कारः=आभूषणम् मत्स्नेहात्=मम प्रेम्णः अप्रकाश्यम्=गुप्तम् त्वया धार्य्यताम्=धारणं क्रियताम्। प्रमाणादिव निर्मित इति क्रियोत्प्रेक्षा ॥ ७ ॥

सरलार्थः—तव वसन्तसेनायाः शरीरप्रमाणमादायैव शिल्पिना निर्मित अयमलङ्कारः ममानुरोधात् जनसमीपे गोप्यं यथा स्यात्तथा त्वया परिधेय इत्यर्थः ॥७॥

मद इति—अलङ्क्रियतेऽनेनेति अलङ्कारः। अन्यजनदर्शनार्थैवालङ्कारधारणं भवति वाराङ्गनाङ्गसङ्गिनोऽलङ्कारस्य सर्वदा सर्वसाधारणैरपि दर्शनयोग्यत्वेन तांप्रति अप्रकाश्येनालङ्कारधारणं न युज्यते। धारणम् अप्रकाश्यश्चेत्युभयमसङ्गत मिति मनस्याधायाह—द्वयमपि न युज्यते।

चोरी करने में भी मेरी बुद्धि कर्त्तव्याकर्त्तव्य का सदा पूर्ण विवेक कर लेती है॥

इस लिए वसन्त सेना से कहो कि—

यह अलंकार तुम्हारे ही मान का बना है, मेरे प्रेम, के कारण आप इसे धारण करें और साथ हो साथ इसे गुप्त भी रखने की दया करेंगी ॥ ७ ॥

मदनिका—शर्विलक! 'शोभा बढ़ाने वाले अलंकार को गुप्त रखना' यह संगत नहीं प्रतीत होता है। अच्छा लाइए वह अलंकार देखूं।

शर्वि—इदमलङ्करणम्। (इति साशङ्कं समर्पयति।)

मद—(निरूप्य) दिट्ठपुरुव्वो विअ अअं अलङ्कारओ। ता भणेहि कुदो दे एसो ? (दृष्टपूर्वक इवायमलङ्कारः। तद्भण कुतस्ते एषः ?)

शर्वि—मदनिके ! किं तव अनेन। गृह्यताम्।

मद—(सरोषम्) जइ मे पच्चअं ण गच्छसि, ता किं णिमित्तं मं णिक्किणासि ?। (यदि मे प्रत्ययं न गच्छसि, तत् किं निमित्तं मां निष्क्रीणासि ?)

शर्वि—अयि ! प्रभाते मया श्रुतं श्रेष्ठिचत्वरे–यथा सार्थवाहस्य चारुदत्तस्य इति।

(वसन्तसेना मदनिका च मूर्च्छां नाटयतः)

मद इति—अयमलङ्कार = पुरोदृश्यमानमाभूषणम् दृष्टपूर्वः = पूर्वमवलोकितः इव तत् = तस्मात् कारणात् भण = कथय कुतः = कस्मात् स्थानात्खलु एषः = अलङ्कारः, ते = तव (करप्राप्तोऽभूदिति)।

शर्वि इति—अनेक = अलङ्कारप्राप्तेः स्थलनिर्देशप्रश्नेन।

मद—मे=मम प्रत्ययम्=विश्वासम् गच्छसि=करोषि। किं निमित्तम् = किमर्थमिति भावः। मां=मदनिकाम् निष्क्रीणासि ? अलङ्कारदानेन मोचयितुमिच्छसि प्रेमिप्रेमिकयोः परस्परमात्मगोपनमनुचितमिति भावः।

शर्वि इति–श्रुतम=आकर्णितम् श्रेष्ठिनाम्=वणिग्जनानाम् चत्वरे=निवासस्थाने सार्थवाहस्य=सार्थं वहन्ति व्यवसायार्थमिति सार्थवाहस्तस्य = वणिग्जनस्य चारुदत्तस्य। तस्करः चौर्यकर्मणि विघ्नाशङ्कया गृहजनान् हन्ति पीडयतीति निश्चितमिति चारुदत्त सम्प्रति कां दशामुपभुङ्क्ते मनस्यालोच्य वसन्तसेना तत्सम्बन्धान्मदनिका च मूर्च्छामवापतुरिति तात्पर्यम्।

शर्विलक—यह अलकार है।

मदनिका—(देखकर) यह अलंकार तो पहले का देखा हुआ है। कहिए तो इसे आपने कहाँ से प्राप्त किया है।

शर्विलक—मदनिके ! तुम्हें इससे क्या प्रयोजन है ? तुम इसे लो।

मदनिका—(क्रोध के साथ) यदि तुम मुझ पर विश्वास नहीं करते हो तो किस लिए मुझे मुक्त ही कराते हो।

शर्विलक—प्रिये ! प्रातःकाल बनिये के महल्ले में मैंने सुना कि 'यह आर्य चारुदत्त का है'।

(वसन्तसेना और मदनिका मूर्च्छित हो जाती हैं)

शर्वि—मदनिके ! समाश्वसिहि । किमिदानीं त्वम्—

विषादस्रस्तसर्व्वाङ्गी सम्भ्रमभ्रान्त लोचना ।
नीयमानाऽभुजिष्यात्वं कम्पसे नानुकम्पसे ॥ ८ ॥

मद—(समाश्वस्य) साहशिअ ! ण क्खु तुए मम कारणादो इमं अकज्जं करन्तेण, तस्सिं गेहे कोवि वावादिदो परिक्खदो वा ? (साहसिक ! न खलु त्वया मम कारणादिदमकार्यं कुर्वता तस्मिन् गेहे कोऽपि व्यापादितः परिक्षतो वा ?) ।

शर्वि—मदनिके भीते सुप्ते न शर्विलकः प्रहरति तन्मया न कश्चिद् व्यापादितो नापि परिक्षतः ।

मद—सच्चं (सत्यम् ?)

अन्वयः—अभुजिष्यात्वम् नीयमाना विषादस्रस्तसर्वाङ्गी सम्भ्रमभ्रान्तलोचना कम्पसे न अनुकम्पसे ॥

विषादेति—अभुजिष्यायाः भावः अभुजिष्यात्वम्=अदास्यभावम् नीयमाना = प्राप्यमाणा त्वम् विषादेन = खेदेन स्रस्तानि = शिथिलानि सर्वाण्यङ्गानि यस्याः सा सम्भ्रमेण=भीत्या भ्रान्ते=घूर्णिते लोचने=नयने यस्याः सा तथाभूता त्वं कम्पसे= वेपसे मां न अनुकम्पसे=न दयसे । अत्र विभावनाविशेषोक्तिरलङ्कारः ॥ ८ ॥

सरलार्थः—अयि मदनिके ! वनप्राप्त्या स्वाधीनतां गतापि दुःखातिशयकम्पितगात्रा भयघूर्णितनयना च त्वम् वेपसे किन्तु माम् कस्मान्न दयसे इति भावः ॥८॥

मद इति—अकार्य्यम्=चौर्य्यम् कुर्वता=विदधता व्यापादितः=मारितः परिक्षतः=क्षतं प्रापितः, काक्वा पृच्छाछिमि ।

शर्विलक—मदनिके ! धैर्य धारण करो । इस समय तुम जिसे—

मैं दासीत्व से मुक्त करा रहा हूँ और तुम्हारे अंग शोक से अस्तव्यस्त हो रहे हैं तथा भय से तुम्हारी आँखें घूम रही हैं और मुझ पर दया करती नहीं हो बल्कि भय से काँप रही हो । अर्थात् जब मैं तुहें बन्धन से छुटकारा दिला रहा हूँ तो तुम्हें प्रसन्न होना चाहिए किन्तु तुम अप्रसन्न हो रही हो ॥ ८ ॥

मदनिका—(धैर्य धारणकर) ऐ साहसी ! मेरे कारण यह अधम कर्म करते हुए उस घर में क्या तुमने किसी को मारा तो नहीं या घायल तो नहीं किया ?

शर्विलक—मदनिके ! भयभीत और सोये हुए पर शर्विलक प्रहार नही करता है । इसलिए न तो मैंने किसी को मारा है और न घायल ही किया है ।

मदनिका—सच ?

शर्वि—सत्यम्।

वसन्त—(संज्ञां लब्ध्वा) अम्महे ! पच्चुवजीविदम्हि । (अहो प्रत्युपजीवितास्मि)

शर्वि—(सेर्ष्यम्) मदनिके ! किं नाम प्रियमिति ?

त्वत्स्नेहबद्धहृदयो हि करोम्यकार्यं
सद्वृत्तपूर्वपुरुषेऽपि कुले प्रसूतः।
रक्षामि मन्मथविपन्नगुणोऽपि मानं
मित्रञ्च मां व्यपदिशस्यपरञ्च यासि ॥ ९ ॥

वसन्त इति—संज्ञाम् = चेतनाम् प्रत्युपजीवितास्मि=चारुदत्तस्य शारीरिककुशलश्रवणात्पुनः प्राप्तजीवनाऽस्मि ।

शर्वि इति—प्रेयसीं प्रति प्रियः प्रियान्तरं न सहते चारुदत्तःप्रि यः एतस्या इत्येतदालोच्याह—सेर्ष्यमिति ।

अन्वयः—सद्वृत्तपुरुषे कुले प्रसूतः अपि त्वत्स्नेहबद्धहृदयः हि अकार्यम् करोमि; मन्मथविपन्नगुण अपि मानं रक्षामि माम् मित्रम् च व्यपदिशसि अपरञ्च यासि ।

त्वदिति—सन्ति शुद्धानि वृत्तानि=चरित्राणि येषां ते पूर्वरुषाःवंशपरम्परया समागताजनाःयस्मिन् तस्मिन् कुले=वंशे प्रसूतः=उत्पन्नः अपि त्वत्स्नेहेन=तव प्रेम्णा बद्धम्=वशीकृतम् हृदयम्=मनः यस्य सः हि=निश्चयेन अकार्य्यम्=निन्दितं कर्म करोमि। तथा मन्मथेन=अनङ्गेन विपन्नाः=नष्टाः गुणाः=कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकादयः यस्य सः अपि मानम्=गौरवम् (आत्मनः तव च) (रक्षामि) किन्तु त्वम् माम् शर्विलकम् मित्रम्=प्रियम् व्यपदिशसि=वाचाव्यवहरसि अपरञ्च चारुदत्तम् यासि= मनसा प्रियतमं स्वीकरोषि । वेश्यात्वेन तव स्वभावः चञ्चलः इतः वेश्यालम्पटस्यापि मम तथा नेति भावः । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ९ ॥

शर्विलक—हाँ, सच ।

वसन्तसेना—(होश में आकर) ओह ! पुनर्जीवित हो गई ?

मदनिका—प्रिय हुआ ।

शर्विलक—(ईर्ष्या के साथ) मदनिके ! प्रिय क्या हुआ ?

उच्च विचार वाले सद्वंश में जन्म लेकर भी तुम्हारे प्रेम पाश में बँधा हुआ मैं नीच कर्म करता हूँ। कामदेव ने हमारे गुणों को विनष्ट कर दिया है फिर भी

(साकूतम्)

इह सर्वस्वफलिनः कुलपुत्रमहाद्रुमाः ।
निष्फलत्वमलं यान्ति वेश्याविहगभक्षिताः ॥ १० ॥
अयञ्च सुरतज्वालः कामाग्निः प्रणयेन्धनः ।

सरलार्थः—सम्यग्व्यवहारकुशले सत्पुरुषयुक्ते वंशे जातोऽपि तव प्रणयपद्धा-न्तरङ्गः निन्दितचौर्यं कार्य्यं करोमि तथा कामवेगनष्टगुणोऽपि अबलात्कारादिना तव गौरवं पालयामि । त्वञ्च मुखेन माम् मित्रं कथयति परपुरुषञ्च कर्मणा भजसे इत्याश्चर्यमिति भावः ॥ ९ ॥

साकूतमिति—आकूतेन=अभिप्रायेण सहितम् । आहेति शेषः ।

अन्वयः—इह सर्वस्वफलिनः कुलपुत्रमहाद्रुमाः वेश्याविहगभक्षिताः अलम् निष्फलत्वम् यान्ति ।

इहेति—इह=लोके सर्वस्वम्=सकलविभवः एव फलमेषामस्तीति तथोक्ताः । नन्वत्र न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः इत्यनेन मत्वर्थीयनिषेधात् सर्वं स्वमेव फलं येषां ते सर्वस्वफला इति भवितव्यमिति नैव शङ्कनीयं प्रशंसायामिनेर्विधानात् बहुव्रीहिणा प्रशंसार्थस्य प्रतीतिर्व्यक्तुं न शक्यते । कुलपुत्राः=सद्वंशप्रसूताः एव महाद्रुमाः=महान्तस्तरवः वेश्या एव विहगाः पक्षिणः तैः भक्षिताः=भुक्तफलाः अलम्=अत्यर्थम् निष्फलत्वम्=वैयर्थ्यं (धनचरित्रशून्यत्वम्) यान्ति=प्राप्नुवन्ति अत्र यान्तीत्युपादानात् वाक्यपरिसमाप्तेः पुनः समासस्य कुलपुत्रा इत्यादि विशेषणदानाय ग्रहणेन समासपुनरात्तता । साङ्गं रूपकमलङ्कारः अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ १० ॥

सरलार्थः—इह जगति सद्वंशप्रसूता एव महावृक्षाः वेश्यापक्षिभिः भक्षिताः सन्तः सर्वस्वफलिनोऽपि धननाशात् निष्फलाः सञ्जायन्ते ॥ १० ॥

अन्वयः—सुरतज्वालः प्रणयेन्धनः अयम् कामाग्निः यत्र नराणां यौवनानि धनानि च हूयन्ते ।

अयमिति—सुरतमेव ज्वाला=वह्निशिखा यस्य सः, प्रणयः प्रेम एव इन्धनम्=

मैं मान की रक्षा करता हूँ) सामने तो तुम मुझे वल्लभ बतलाती हो किन्तु मन से किसी दूसरे (चारुदत्त) ही की अभिलाषा करती हो ॥ ९ ॥

उदासीन होकर—

इस संसार में धनरूप फल देने वाले सद्वंश रूप महावृक्ष हैं किन्तु वेश्यारूपी पक्षियों से खा लेने के कारण ये वृक्ष निष्फल हो जाते हैं । अर्थात् वेश्याएँ हर प्रकार से नाशकारिणी होती हैं ॥ १० ॥

प्रेम जिसका इन्धन है तथा सम्भोग जिसकी ज्वाला है वह कामरूपी अग्नि

नराणां यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च ॥ ११ ॥

वसन्त—(सस्मितम्) अहो ! से अत्थाणे आवेओ ! (अहो ! अस्य अस्थाने आवेगः)

शर्वि—सर्वथा—

अपण्डितास्ते पुरुषा मता मे वे स्त्रीषु च श्रीषु च विश्वसन्ति ।
श्रियो हि कुर्वन्ति तथैव नार्यो भुजङ्गकन्यापरिसर्पणानि ॥ १२ ॥

काष्ठम् यस्य सः अयम् = लोकप्रसिद्धः कामाग्निः=मदनानलः यत्र = मदनानले नराणाम् = जनानाम् यौवनानि = शरीराणीति भावः । धनानि=विभवाः च हूयन्ते भस्मीक्रियन्ते ॥ ११ ॥

सरलार्थः—साहचर्यैरनुभूयमानः कामः विषयभोगज्वालः अनुरागकाष्ठः वर्त्तते । यस्मिन् कामाग्नौ नराणां यौवनानि धनानि च निक्षिप्यमाणानि लोपं प्रयान्तीत्यर्थः ॥ ११ ॥

वसन्त इति—अस्थाने=अविषये आवेगः = चित्तोद्वेगः । चारुदत्ते मदनिकाया अनुरागशङ्कयैतदुच्यते परञ्च मिथ्यैव चिन्तनम् ।

अन्वयः—ये पुरुषाः स्त्रीषु च श्रीषु च विश्वसन्ति ते अपण्डिताः मे मताः हि श्रियः तथैव नार्यः भुजङ्गकन्यापरिसर्पणानि कुर्वन्ति ।

अपण्डिता इति—ये पुरुषाः=जनाः स्त्रीषु=नारीषु च श्रीषु च=सम्पत्तिषु च विश्वसन्ति=मदीया इमा इति विश्वासं कुर्वन्ति ते=पुरुषाः अपण्डिताः=विवेकहीनाः, मे=मम मताः=अभिमताः हि = यतः श्रियः = सम्पदः तथैव नार्यश्च=स्त्रियश्च भुजङ्गकन्यानाम् = सर्पिणीनाम् परिसर्पणानि=कुटिलगमनानि कुर्वन्ति । भुजङ्गजातेः कुटिलगमनं प्रसिद्धम् । अन्यानुरक्तायां मदनिकायामहमपि ममेयमिति बुद्ध्याऽनुरक्तोऽज्ञ एव । अत्राप्रस्तुतात् प्रस्तुतस्य शर्विलकस्य प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा । दीपकम् । अपण्डितत्वेनाभिमतरूपकार्यस्य स्त्री-श्री कर्तृकभुजङ्गकन्यापरिसर्पणवत्कुटिलव्यवहाररूपकारणेन समर्थनाद् अर्थान्तरन्यास । स्त्रीषु इत्युपक्रम्य नार्यः इत्यभिधानात् भग्नप्रक्रमतादोषः । इन्द्रोपेन्द्रवज्रयोरेकत्रसम्मेलनादुपजाति वृत्तम् ॥११॥

प्रज्वलित हो रही है । जहां मनुष्य यौवन तथा धन दोनों ही हवन करते हैं ॥ ११ ॥

वसन्तसेना—(मुस्कुराकर) अरे ! बिना समझे व्यर्थ इसे उद्वेग हुआ है ।

शर्विलक—सर्वथा—

मेरी समझ में तो वे मनुष्य मूर्ख हैं जो स्त्री और सम्पत्ति पर विश्वास करते

स्त्रीषु न रागः कार्य्यो रक्तं पुरुषं स्त्रियः परिभवन्ति ।
रक्तैव हि रन्तव्या विरक्तभावा तु हातव्या ॥ १३ ॥

सुष्ठु खल्विदमुच्यते—

एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतो-
विश्वासयन्ति पुरुषं न तु विश्वसन्ति ।

सरलार्थः—ये पुरुषाः स्त्रीषु सम्पत्सु च विश्वसन्ति ते मन्मते मूर्खा एव । यतः सम्पदः स्त्रियश्च सर्पिणीवत् वक्रगमनानि कुटिलव्यवहारांश्च कुर्वन्ति ॥ १ ॥

अन्वयः—स्त्रीषु रागः न कार्य्यः स्त्रियो रक्तम् पुरुषम् परिभवन्ति हि रक्ता एव रन्तव्या तु विरक्तभावा हातव्या ।

स्त्रीष्विति—स्त्रीषु = नारीषु रागः = अनुरागः न कार्य्यः = न विधेयः । अत्र हेतुं दर्शयति, स्त्रियः = नार्य्यः रक्तम् = अनुरागिणम् पुरुषम् = नरम् परिभवन्ति = अपमानयन्ति । हि = यस्मात् रक्ता = स्वं प्रति अनुरागपूर्णा रन्तव्या = प्रेमिका कार्य्या । विरक्तभावा = अन्यमनस्कत्वादुदासमाना (अननुरक्तेति भावः) हातव्या = त्याज्या अन्यथा पदे पदे परिभवो भवति । अत्राप्रस्तुतात्स्त्रीसामान्यात्प्रस्तुतायाः स्त्रीविशेषायाः मदनिकायाः प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा । आर्याजातिः ॥ १३ ॥

सरलार्थः—स्त्रीषु प्रेमा न कार्यः यस्मात् कामिन्यः अनुरक्तं पुरुषमपमानयन्ति तस्माद्धेतोः आत्मानं प्रति स्वयमेवानुरक्ता रन्तव्या । विरक्ता तु परित्यक्तव्या ।१३।

सुष्ठु = प्रशंसायामित्यर्थः ।

अन्वयः—एताः वित्तहेतोः हसन्ति च रुदन्ति च पुरुषम् विश्वासयन्ति तु न विश्वसन्ति, तस्मात् कुलशीलसमन्वितेन नरेण श्मशानसुमना इव वेश्या वर्जनीयाः ॥१४॥

एता इति—एताः = गणिकाः वित्तहेतोः = धनग्रहणार्थम् हसन्ति = धनदातुर्मनोरञ्जनार्थं हसन्ति रुदन्ति = वञ्चनार्थं मिथ्याक्रन्दनं कुर्वन्ति च तथा पुरुषम् = कामुकजनम् विश्वासयन्ति = त्वैवाहं प्रेयसीति हावभावादिनाऽऽत्मनि विश्वासमुत्पाद-

---

हैं । स्त्री तथा सम्पत्ति सर्पिणी के समान कुटिल चाल चलती हैं । इन पर विश्वास करना भूल है ॥ १२ ॥

स्त्रियों पर अनुराग नहीं करना चाहिए क्योंकि अनुरक्त पुरुष का स्त्रियाँ अनादर करती हैं । अपने पर अनुरक्ता स्त्री से ही रमण करना चाहिए किन्तु जो विरक्ता हो उसे सर्वथा त्याग देना चाहिये ॥ १३ ॥

यह ठीक ही कहा है कि—

ये स्त्रियाँ धनप्राप्ति के लिए ही हँसती हैं तथा रोती हैं और पुरुषों को

तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन
वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः ॥ १४ ॥

अपि च—

समुद्रवीचीव चलस्वभावः सन्ध्याभ्रलेखेव मुहूर्त्तरागाः ।
स्त्रियो हृतार्थाः पुरुषं निरर्थं निष्पीडितालक्तकवत् त्यजन्ति ॥ १५ ॥

यान्त तु=किन्तु न विश्वसन्ति=वेश्यास्वभावात् न विश्वासं कुर्वन्ति । तस्मात्=कारणात् कुलम्=सत्कुलम् शीलम्=सद्भावः ताभ्यां समन्वितः तेन नरेण (कुलीनेन सुशीलेनेति भावः) श्मशानस्य=चिताभूमेः सुमनाः=मालत्यः इव वेश्याः वर्जनीयाः=त्यक्तव्याः । यथा सुरूपगन्धयुक्ता अपि मालत्यः श्मशानभूमिजातत्वात् न गृह्यन्ते तथैव रूपशीलयुक्ताः अपि वेश्या नैव विश्वासयोग्याः । अत्राप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः, वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १४ ॥

सरलार्थः—धनदानार्थं पुरुषस्यानुरागव्यञ्जनार्थं हसन्ति । अन्नाद्यभावं ज्ञापयन्त्यः रुदन्ति । हावभावादिना पुरुषं विश्वासयन्ति । स्वयं च न विश्वसन्ति । तस्मात् कुलशीलविशिष्टेन पुरुषेण श्मशानपुष्पमिव वेश्या वर्जनीया ॥ १४ ॥

अन्वयः—समुद्रवीची इव चलस्वभावा सन्ध्याभ्रलेखा इव मुहुर्त्तरागाः स्त्रियः हृतार्थाः निरर्थम् पुरुषम् निष्पीडितालक्तकवत् त्यजन्ति ।

समुद्रेति—समुद्रस्य=सागरस्य वीचिः=तरंग इव चलः=चपलः स्वभावः=प्रकृतिः यासां ताः एवम् सन्ध्यायाम्=दिनक्षपामध्यकाले (सायंकाले इति भावः) अभ्रम्=मेघः तस्य लेखा इव=रेखा इव मुहुर्त्तम्=क्षणमात्रस्थायी रागः=लौहित्यम् अनुरागः यासां ताः स्त्रियः=वेश्याः हृतः=गृहीतः अर्थः याभिस्ताः निः=निर्गतः अर्थः=धनम् यस्य तम्=तादृशम् पुरुषम्=कामुकजनम् निष्पीडितम्=निःसारितान्तःसारम् यदलक्तकम्=जतु तद्वत् त्यजन्ति=परित्यजन्ति । अत्राप्रस्तुतप्रशंसा एकस्याः उपमेयभूतायाः स्त्रीजातेः वीचि-अभ्रलेखेत्यनेकोपमानाभिधानात् मालोपमा, तथा च लक्षणम्-मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते । अलक्तकवदिति तद्धितगता श्रौती उपमा । संकरश्चाङ्गित्वेन ॥ १५ ॥

विश्वास दिलाती हैं किन्तु वह स्वयं उन पर विश्वास नहीं करती हैं । इस लिए उच्चकुल एवं सत्स्वभाव वाले पुरुष को चाहिये कि वह वेश्याओं को श्मशान—भूमि के फूल के समान त्याग दें ॥ १४ ॥

और भी—

सागर की लहर के समान चंचल स्वभाव वाली सायंकालीन मेघ के समान अस्थायी अनुराग वाली वेश्याएँ धन अपहरण करना जानती हैं । महावर के समान रस सोखकर वे मनुष्यों को निर्धन बनाकर छोड़ देती हैं ॥ १५ ॥

स्त्रियो नाम चपलाः—

अन्यं मनुष्यं हृदयेन कृत्वा ह्यन्यं ततो दृष्टिभिराह्वयन्ति।
अन्यत्र मुञ्चन्ति मदप्रसेकमन्यं शरीरेण च कामयन्ते ॥ १६ ॥

सूक्तं खलु कस्यापि—

न पर्वताग्रे नलिनी प्ररोहति न गर्दभा वाजिधुरं वहन्ति।

सरलार्थः—सागरतरङ्ग इव चञ्चलप्रकृतयः सायंकालिकमेघरेखेव क्षणिकानुरागाः वेश्या निर्धनं पुरुषं बहिष्कृतरसालक्तकमिव विसृजन्ति ॥ १५ ॥

स्त्रिय इति—चपलाः = अदृढस्नेहाः नाम सम्भावनायाम्।

अन्वयः—हृदयेन अन्यम् मनुष्यम् कृत्वा ततः अन्यम् दृष्टिभिः आह्वयन्ति अन्यत्र मदप्रसेकम् मुञ्चन्ति शरीरेण अन्यञ्च कामयन्ते।

अन्यमिति—हृदयेन = मनसा अन्यम् = अपरम् मनुष्यम्=पुरुषम् कृत्वा= कामयित्वा ततः = तदनन्तरम् अन्यम्=पुरुषम् दृष्टिभिः=चलापाङ्गनयनैः आह्वयन्ति=स्वसन्निधिं प्रापयन्ति। अन्यत्र = अन्यस्मिन् जने मदस्य=तारुण्यगर्वस्य प्रसेकम्=हावभावादिकम् मुञ्चन्ति = प्रयोजयन्ति। शरीरेण=देहेन अन्यं = पुरुषम् च कामयन्ते=सुरतनिर्वृत्या सेवन्ते। अतः नैता विश्वासभूमयः। कृत्वा=अन्यमित्यत्र छन्दोभङ्गभयेन सन्धेरकरणात् सन्धिविश्लेषदोषः। अन्यमित्यसकृदुच्चारणादनवीकृतत्वदोषः, एवम् कामयन्ते इत्यात्मनेपदप्रयोगाद् भग्नप्रक्रमता। आह्वयन्तीति परस्मैपदोपक्रमणात्। इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ १६ ॥

सरलार्थः—हृदयेनान्यं पुरुषं कामयित्वा तद्भिन्नपरं जनमपाङ्गदर्शनैः संकेतयन्ति। अन्यस्मिन् मनुष्ये हावभावादिकं प्रयोजयन्ति स्वशरीरेण चापरं जनं वाञ्छन्ति ॥ १६ ॥

सूक्तमिति—सूक्तम् = सत्यविचारानुसारेणोक्तत्वात् साधूक्तिः।

अन्वयः—नलिनी पर्वताग्रे न प्ररोहति, गर्दभाः वाजिधुरं न वहन्ति, प्रकीर्णाः यवाः शालयो न भवन्ति तथा वेशजाताः अङ्गनाः शुचयः न ॥

न पर्वतेति—नलिनी = कमलिनी पर्वताग्रे=शैलशृङ्गे न प्ररोहति=न जायते।

स्त्रियाँ अत्यन्त चपल होती हैं—

वे हृदय से किसी अन्य पुरुष को चाहती हैं और आँखों के इशारे से किसी दूसरे ही को बुलाती हैं। अपने यौवन का हाव-भाव किसी दूसरे पर फेंकती हैं और शरीर से किसी दूसरे ही के साथ उपभोग करती हैं ॥ १६ ॥

किसी ने बड़ा अच्छा कहा है कि—

पर्वत के शिखर पर पद्मिनी नहीं उत्पन्न होती है। गधे घोड़े की गाड़ी

यवाः प्रकीर्णा न भवन्ति शालयो न वेशजाताः शुचयस्तथाऽङ्गना ॥ १७ ॥

आः, दुरात्मन् चारुदत्तहतक ! अयं न भवसि ? (इति कतिचित् पदानि गच्छति)

मद—(अञ्चले गृहीत्वा) अइ असम्बद्धभासअ ! असम्भावणीए कुप्पसि । (अयि असम्बद्धभाषक ! असम्भावनीये कुप्यसि)

शर्वि—कथमसम्भावनीयं नाम ! ।

गर्दभाः=जन्तुविशेषाः वाजिनाम्=अश्वानाम् धुरम्=भारम् न वहन्ति=वोढुं न शक्नुवन्ति (ताहशशक्त्यभावात्) प्रकीर्णाः=क्षेत्रे प्रक्षिप्ताः यवाः शालयः= धान्यानि न भवन्ति=धायन्ते (पृथग्जातीयत्वात्) तथा वेशजाताः=वेश्यालयस्थाः अङ्गनाः=स्त्रियः शुचयः=पवित्रहृदयाः न भवन्तीति शेषः। प्रतिदृष्टान्तं दृष्टान्तालङ्कारः दृष्टान्तस्य बाहुल्यात् मालोपमालङ्कारः। मदनिके किं नाम प्रियामत्यतः एतदुक्तं विधृतं नाम प्रतिमुखसन्धेरङ्गम्। वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ १७ ॥

सरलार्थः—कमलिनी पर्वतप्रान्ते जलाभावात् नोत्पद्यते, गर्दभाः अश्ववाह्यं भारं न धारयन्ति, उप्ताः यवाः शालयः न भवन्ति। तथैव वेश्यालये जाताः स्त्रियः पवित्रा न भवन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

आः—इति क्रोधे। 'आः तुस्यात्कोपपीडयोरि'त्यमरः। आत्मप्रणयिनीं मदनिकां प्रत्यासक्तत्वात् चारुदत्तं प्रति कोपं प्रदश्र्य तमाक्रोशति-चारुदत्तहतक इति-कुत्सितो हत इति हतकः तत्सम्बुद्धौ। अयम्=मदनिकाविषयकासक्तिमान् न भवसि किम् भवस्येवेति काकुः। अतस्त्वां सादयिष्यामीति तदाशयः।

मद इति—अञ्चले=पटप्रान्तभागे गृहीत्वा=गन्तुमुद्यतम् शर्विलकम् धृत्वा असम्बद्धभाषक=असंगतभाषिन् ! असम्भावनीये=सम्भावनाया अप्यविषये वस्तुनि कुप्यसि=व्यर्थं क्रुध्यसि।

शर्वि इति—चारुदत्तस्य नेपथ्योज्जावने श्रुत्वा पिअं, इति ब्रुवाणा त्वमनुरक्ता तत्रे-

---

नहीं खींचते हैं और न जौ बो देने पर धान ही उत्पन्न हो सकता है। उसी प्रकार वेश्या के भवन मे उत्पन्न होनेवाली नारी पवित्र नहीं हो सकती है ॥

अरे नीच चारुदत्त ! (तुम पर मदनिका अनुरक्त है) किन्तु मुझ पर अनुरक्त नहीं होती है (कई डग चला जाता है)

मदनिका—(उनका उत्तरीय पकड़ कर) ऐ अप्रासङ्गिक बात करने वाले शर्विलक ! तुम असम्भव बात के लिए क्रोध कर रहे हो। (अर्थात् मैं चारुदत्त पर अनुरक्त नहीं हूँ)

शर्विलक—यह असम्भव कैसे हो सकता है ?

मद—एसो क्खु अलङ्कारओ अज्जआकेरओ (एष खल्वलङ्कारः आर्य्यासम्बन्धी)

शर्वि—ततः किम् ?

मद—स च तस्य अज्जस्स हत्थे विणिक्खित्तो (स च तस्य आर्य्यस्य हस्ते विनिक्षिप्तः)

शर्वि—किमर्थम् ?

मद—(कर्णे) एव्वं विअ । (एवमिव)

शर्वि—(सवैलक्ष्यम्) भोः ! कष्टम् ।

छायार्थं ग्रीष्मसन्तप्तो यामेवाहं समाश्रितः ।
अजानता मया सैव पत्रैः शाखा वियोजिता ॥ १८ ॥

त्यनुपलक्षितपूर्वाऽसीति मनस्याधायाह—कथमिति— .

मद इति—आर्यायाः = वसन्तसेनायाः सम्बन्धी ।

मद इति—आर्यस्य = चारुदत्तस्य हस्ते = करे विनिक्षिप्तः = न्यासीकृतः ।

मद इति—कर्णे = गोपनीयत्वात् श्रोतुः कर्णप्रान्ते एवमिव = परस्पगमनागमन रक्षाव्याजेन निक्षिप्तः । एतेन वसन्तसेनानुरक्तः चारुदत्त इति ध्वन्यते ।

शर्वि इति—विलक्षः = विस्मितः तस्य भावः वैलक्ष्यम् तेन सहितमिति सवैलक्ष्यम् (वेश्यावृत्तेर्निसर्गतोप्रियत्वेन तज्जातिर्वसन्तसेना निर्धनं चारुदत्तं कथमङ्गीकर्तुमैच्छदित्याश्चर्यसहितमिति भावः । स्वकार्यमात्मसम्बन्धिनः प्रतिकूलं मत्वा पश्चात्तापं करोति—भो कष्टम् इति—

अन्वयः—ग्रीष्मसंतप्तः अहम् छायार्थम् याम् एव समाश्रितः, अजानता मया सा एव शाखा पत्रैः वियोजिता ॥ १८ ॥

छायेति—ग्रीष्मसंतप्तः = निदाघपीडितः अहम् = शर्विलकः छायार्थम् = छायाजन्यशैत्यलाभार्थम् याम् एव = शाखाम् समाश्रितः = समाश्रियम् अजानता =

मदनिका—यह अलंकार वसन्तसेना का है ।

शर्विलक—इससे क्या हुआ ?

मदनिका—इन्होंने आर्य चारुदत्त के हाथ इसे धरोहर रूप में रख दिया ।

शर्विलक—किस लिए ?

मदनिका—(कान में) इस लिए ।

शर्विलक—(लज्जा से उदासीन होकर) दुःख है—

घर्मी से सन्तप्त होकर छाया के लिए मैं जिस शाखा के नीचे आश्र- यन-

वसन्त—कधं एसोवि सन्तप्पदि ज्जेव । ता अजाणन्तेण एदिणा एव्वं अणुचिट्ठिदं । (कथमेषोऽपि सन्तप्यते एव । तदजानता एतेन एवमनुष्ठितम्)

शर्वि—मदनिके ! किमिदानीं युक्तम् ?

मद—इत्थ तुमं ज्जेव पण्डिओ । (अत्र त्वमेव पण्डितः)

शर्वि—नैवम् । पश्य—

स्त्रियो हि नाम खल्वेता निसर्गादेव पण्डिताः ।

अज्ञानेन मया सैव = आश्रयभूता एव शाखा पत्रैः = पर्णैः वियोजिता = पर्णवियोजनेन स्थाणुतां गमिता । दुर्दैवेन वसन्तसेनाया एवायमित्यजानता मयाऽलङ्कारोऽपहृत इति रुष्टा सा मह्यं मदनिकां नैव दास्यतीत्यसमीक्ष्यकारिणं माम् धिगिति भावः ।

सरलाऽर्थः—अहं शर्विलकः निदाघपीडितः सन् छायालाभार्थं यां शाखामवलम्बितवान् साऽऽश्रयीभूता शाखा अज्ञानेन मया पल्लवैः विभक्तीकृता इत्यर्थः । अर्थात् वसन्तसेनादास्यां मदनिकायामनुरक्तः अलङ्कारापहारेण वसन्तसेनां वियोजितवान् इति मदनिका न मम भविष्यतीति भावः ॥ १८ ॥

वसन्त इति—एषः मदनिकया सह भाषमाणः सन्तप्यते=ममाभूषणापहरणेन विषीदति । तत्=तस्मात् अजानता=ममार्यमित्यज्ञानेन एवम् = चौर्यम् अनुष्ठितम्= कृतम् । इति नास्योपरि कोपः करणीयः ।

शर्वि इति—इदानीम् = अननुरूपे कार्ये जाते युक्तम् = विधानार्हम् ।

मद इति—पण्डितः = सम्प्रति कर्तव्यनिर्णयनिपुणः ।

अन्वयः—एताः स्त्रियः हि निसर्गात् एव पण्डिताः खलु नाम तु पुरुषाणाम् पाण्डित्यम् शास्त्रैः एव उपदिश्यते

स्त्रिय इति—एताः स्त्रियः=नार्यः हि=निश्चयेन निसर्गात्=स्वभावादेव पण्डिताः=

ज्ञान मे मैंने उसी शाखा के पत्तों को काट गिराया । अर्थात् कामाग्नि से सन्तप्त होकर मैं जिस वसन्तसेना के द्वारा मदनिका को मुक्त कराना चाहा उस वसन्तसेना का मैंने अलंकार चुराया ॥ १८ ॥

वसन्तसेना—अरे ! यह भी क्यों दुःखी हो रहा है ? इसने भी अनजान में ऐसा कार्य कर डाला ।

शर्विलक—मदनिके ! ऐसी परिस्थिति में क्या करना उचित है ?

मदनिका—इस विषय का निर्णय करने में तुम्हीं चतुर हो ।

शर्विलक—ऐसा नहीं ! देखो—

ऐसे विषयों के लिए स्त्रियाँ स्वभाव से ही चतुर रहा करती हैं, किन्तु,

पुरुषाणान्तु पाण्डित्यं शास्त्रैरेवोपदिश्यते ॥ १९ ॥

मद—सव्विलअ ! जइ मम वअणं सुणीअदि, ता तस्स ज्जेव महाणुभावस्स पड़िज्चदेहि । (शर्विलक ! यदि मम वचनं श्रूयते, तत् तस्यैव महानुभावस्य प्रतिनिर्यातय ।)

शर्वि—मदनिके ! यद्यसौ राजकुले मां कथयति ?

मद—ण चन्दावो होदि (न चन्द्रादातपो भवति)

वसन्त—साहु, मदणिए ! साहु । (साधु, मदनिके ! साधु)

शर्वि—मदनिके !

चतुराः खलु नाम=सम्भावयामि तु=किन्तु पुरुषाणाम्=नराणाम् पाण्डित्यम्=बुद्धिमत्त्वम् शास्त्रैः=ग्रन्थाध्ययनैरेव उपदिश्यते=शिक्ष्यते । नतु स्वतः इति भावः । अत्राप्रस्तुतप्रशंसा स्त्रीजातेरुत्कर्षाभिधानात् व्यतिरेकश्च ॥ १९ ॥

सरलार्थः—स्त्रीजातः स्वभावादेव शास्त्रोपदेशं विनापि निपुणाः भवन्ति । पुरुषाणां पाण्डित्यं तु शास्त्रसमधिगम्यं न तु स्वत इति भावः ॥ १९ ॥

मद इति—महानुभावस्य=गुणिविशेषैः महाप्रतिभासम्पन्नस्य तस्य=चारुदत्तस्य एव प्रतिनिर्यातय=प्रत्यर्पय ।

शर्वि इति—राजकुले न्यायाधीशसमीपे माम्=शर्विलकम् कथयति=चौरोऽयमिति सूचयति ।

मद इति—चन्द्रात्=चन्द्रवत्सर्वानन्ददायिनः आतपः=आतपवत् क्लेशमूलम् आपत्त्यादिकम् भवति=भविष्यति । यथा चन्द्रादातपोऽसम्भवः तथैव चारुदत्तात् जनक्लेशकरकार्यासम्भवोऽपि ।

वसन्त इति—चारुदत्तस्य चरित्रप्रशंसनेन भाषणस्य स्वानुकूल्यादाह-साधु इति ।

पुरुषों की चतुरता तो शास्त्रोपदेश से हुआ करती है ॥ १९ ॥

मदनिका—शर्विलक ! यदि मेरा विचार जानना चाहते हों तो यह अलङ्कार उस आर्य चारुदत्त ही को जाकर दे आओ ।

शर्विलक—मदनिके ! यदि वह राजकुल में जाकर कह दें ?

मदनिका—चन्द्रमा में उष्णता नहीं हो सकती है ।

वसन्तसेना धन्य ! मदनिके धन्य !!

शर्विलक—मदनिके !

न खलु मम विषादः साहसेऽस्मिन् भयं वा
कथयसि हि किमर्थं तस्य साधोर्गुणांस्त्वम् ?।
जनयति मम वेदं कुत्सितं कर्म लज्जां
नृपतिरिह शठानां मादृशां किं नु कुर्य्यात् ?॥ २०॥
तथापि—नीतिविरुद्धमेतत्। अन्य उपायश्चिन्त्यताम्

अन्वयः—अस्मिन् साहसे मम विषादः भयं वा न खलु हि त्वम् तस्य साधोः गुणान् किमर्थं कथयसि इदं कुत्सितं कर्म वा मम लज्जाम् जनयति इह नृपतिः मादृशाम् शठानाम् किं नु कुर्यात्।

नेति—अस्मिन्=गृहीतद्रव्यस्य समर्पणरूपे कार्ये मम=चौरस्य शर्विलकस्य विषादः=खेदः (हृदयदौर्बल्यम्) भयम् वा=अपि न खलु (अस्ति) हि=तथाहि त्वम्=मदनिका (मम प्रेयसी) तस्य=चारुदत्तस्य साधोः=सज्जनस्य गुणान्=परोपकारादीन् किमर्थं कथयसि=वदसि=इदम्=चौर्यरूपम् कुत्सितं=गर्हितं कर्म वा=एव मम=शर्विलकस्य लज्जाम्=त्रपाम् जनयति=उत्पादयति चारुदत्तस्यालङ्कारः समर्पणाय गन्तुमिति शेषः। अत्र वा शब्दः एवार्थकः विषादस्य ऐच्छिकत्वान्मास्तु सः किन्तु राजकुलाद्भयमवश्यं सम्भाव्यते इत्यत आह—इह=चौर्यरूपे कर्मणि नृपः=नगराध्यक्षः मादृशाम्=एतत्कर्मणि दक्षतमानां शठानाम्=दुष्टानाम् किं नु कुर्यात् न किमपीति भावः। काव्यलिङ्गमलङ्कारः। मालिनी वृत्तम्॥ २०॥

सरलार्थः—मम अस्मिन् चौर्यरूपे साहसे खेदो नास्ति न वा भीतिर्वर्तते। चारुदत्तस्य दयादाक्षिण्यादीनि किन्निमित्तं वर्णयसि। इदं गर्हितं कर्म मम लज्जां विधत्ते। अस्मिन्नपराधे मादृशां धूर्त्तानां नृपतिः किन्नु शासनं कर्तुं शक्नुयात्। नैव नृपतेः तादृशं सामर्थ्यमिति भावः॥ २०॥

तथापीति—ननु 'एकां लज्जां परित्यज्य सर्वत्र विजयी भवेदि'ति दिशा लज्जापि किं न त्यज्यते इत्यत आह—तथापि=कारणान्तराभावेऽपि नीतिविरुद्धम्=चौरनीतिबाह्यमित्यर्थः।

इस साहस के लिए न तो मुझे दुःख ही है और न डर ही। इस विषय में तुम उन आर्य चारुदत्त के गुणों को किस लिए कहती हो? (मैं उनके गुणों को स्वयं जानता हूँ)। चोरी रूप इस निन्दित कार्य से (चारुदत्त के पास जाने में) मुझे लज्जा होती है। नहीं तो हम जैसे धूर्तों के प्रति वह राजा कर ही क्या सकता है?॥ २०॥

फिर भी यह नीति के प्रतिकूल है। कोई दूसरा उपाय सोचो।

मद—सा अअं अवरो उवाओ। (सोऽयमपर उपायः)

वसन्त—को क्खु अवरो उवाओ हुविस्सदि। (कः खलु अपर उपायो भविष्यति)

मद—तस्स ज्जेव अज्जस्स केरओ भविअ, एदं अलङ्कारअं अज्जआए उवणेहि। (तस्यैव आर्य्यस्य सम्बन्धी भूत्वा, एतमलङ्कारकमार्य्यायाः उपनय)

शर्वि—एवं कृते किं भवति ?

मद—तुम दाव अचोरो, सो वि अज्जो अरिणो, अज्जआए सकं अलङ्कारअं उवगदं भोदि। (त्वं तावदचोरः, सोऽपि आर्य्यः अनृणः, आर्य्यायाः स्वकः अलङ्कारक उपगतो भवति)

शर्वि—ननु ! अतिसाहसमेतत्।

मद–अइ ! उवणेहि। अण्णधा अदिसाहसं। (अयि ! उपनय। अन्यथा अतिसाहसम्)

यद इति—तस्यैव = चारुदत्तस्यैव सम्बन्धी = साक्षात् परम्परया वा बन्धुः आर्यायाः = श्रेष्ठभूतायाः वसन्तसेनायाः सविधे उपनय = अर्पय।

मद इति–अनृणः = कृतस्य न्यासस्य स्वामिन्या हस्ते प्रत्यर्पणात् उपगतः प्राप्तः।

शर्वि इति–ननु सम्बोधने एतत् = वसन्तसेनाहस्ते तदलङ्कारप्रत्यर्पणरूपं कर्म अतिसाहसम् = दुष्करतमम्।

मद इति–अयि = कोमलालापेन उपनय = वसन्तसेनायाः हस्तेऽलङ्कारमर्पय। अन्यथा = अर्पणाभावे अतिसाहसम् = राजकुलेऽभियोगसम्भवात् त्वया सह गमनमप्यसम्भावितमिति भावः।

मदनिका—अच्छा यह दूसरा उपाय है।

वसन्तसेना—दूसरा उपाय क्या हो सकता है ?

मदनिका—उसी आर्य चारुदत्त का कुटुम्बी बनकर, इस अलंकार को वसन्तसेना के पास ले जाओ।

शर्विलक—ऐसा करने से क्या होगा ?

मदनिका—तुम चोर नहीं समझे जावोगे, वह चारुदत्त भी उऋण हो जायगा और आर्या वसन्तसेना को भी अपना अलंकार मिल जाता है।

शर्विलक—अरी ! यह बड़े साहस का काम है।

मदनिका—अलंकार ले चलिये। ऐसा नहीं करना ही अतिसाहस है।

वसन्त—साहु; मदणिए ! साहु । अभुजिस्सए बिअ मन्तिदं ।
(साधु, मदनिके ! साधु ! अभुजिष्ययेव मन्त्रितम्)

शर्वि—मयाप्ता महती बुद्धिर्भवतीमनुगच्छता ।
निशायां नष्टचन्द्रायां दुर्लभो मार्गदर्शकः ॥ २१ ॥

मद—तेण हि तुमं इमस्सि कामदेवगेहे मुहुत्तअं चिट्ठ, जाव अज्जआए तुह आगमणं णिवेदेमि । (तेन हि त्वमस्मिन् कामदेवगेहे मुहूर्त्तकं तिष्ठ, यावदार्यायै त्वागमनं निवेदयामि ।)

वसन्त इति—अभुजिष्यया इव = स्वयं दास्यपि स्वामिनी इवानया मन्त्रितम् = उपदिष्टम् साधु = शोभनबुद्धिर्मदनिकेति भावः ।

अन्वयः—भवतीम् अनुगच्छता मया महती बुद्धिः आप्ता नष्टचन्द्रायां निशायां मार्गदर्शकः दुर्लभः ।

मयेति—भवतीम् = बुद्धिमतीं त्वाम् अनुगच्छता = कर्त्तव्यं पृच्छता मया = शर्विलकेन दुर्बुद्धिना महती बुद्धिः = चौर्यकलङ्कपङ्कप्रक्षालिनी मतिः आप्ता = प्राप्ता । नष्टः = अस्तं गतः चन्द्रः = शशी यस्यां सा तस्यां निशायाम् = तमोव्याप्तायां रजन्याम् मार्गदर्शकः = पथदर्शकः दुर्लभः भवतीति शेषः । अधुना भ्रान्तपथिकस्येव कर्त्तव्या-कर्त्तव्यविवेकरहितस्य मम पथप्रदर्शनमिव कर्त्तव्योपदेशेन बहूपकारिणीति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ २१ ॥

सरलार्थः—त्वामनुसरता सता मया शर्विलकेनोत्कृष्टा बुद्धिः लब्धा चन्द्रहीनायां रजन्यां गन्तव्यपथप्रदर्शकः दुष्प्राप्यो भवतीति भावः ॥ २१ ॥

मद इति—कामदेवगेहे = कामदेवाख्यभवने आर्यायै = वसन्तसेनायै त्वागमनम् = चारुदत्तसकाशात्त्वागमनम् ।

वसन्तसेना—धन्य ! मदनिके धन्य ! ! तुमने दासीत्व से मुक्त हुई-सी कहा ।

शर्विलक—तुम्हारा अनुसरण करने के कारण विशाल बुद्धि प्राप्त कर ली । रात्रि में चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर पथभ्रष्ट पथिक के लिए मार्ग बताने वाला कठिनता से कोई मिलता है । अर्थात् ऐसे भयानक समय में तुम हमारी पथदर्शिका बन गई हो ॥ २१ ॥

मदनिका—अतः इस कामदेव के गृह में तुम क्षण भर ठहरो । तब तक आर्या वसन्तसेना से मैं आपके आगमन की सूचना दे आऊँ ।

शर्वि—एवं भवतु।

मद—(उपसृत्य) अज्जए ! एसो क्खु चारुदत्तस्स सआसादो वह्मणो आअदो। (आर्ये ! एष खलु चारुदत्तस्य सकाशात् ब्राह्मणः आगतः)

वसन्त—हञ्जे ! केरअं त्ति कधं तुमं जाणासि ? (हञ्जे ! तस्य सम्बन्धीति कथं त्वं जानासि ?)

मद—अज्जए ! अत्तकेरअं पि ण जानामि ?। (आर्ये ! आत्मसम्बन्धनमपि न जानामि ?)

वसन्त—(स्वगतं सशिरःकम्पं विहस्य) जुज्जदि (प्रकाशम्) पविसदु। (युज्यते। प्रविशतु)।

मद—जं अज्जआ आणवेदि। (उपगम्य) पविसदु सव्विलअं। (यदार्य्या आज्ञापयति। प्रविशतु शर्विलक।)

शर्वि—(उपसृत्य सवैलक्ष्यम्) स्वस्ति भवत्यै।

वसन्त—अज्ज ! वन्दामि। उवविसदु अज्जो। (आर्य ! वन्दे। उपविशतु आर्यः)

मद इति—आत्मसम्वन्धिनम्=स्वकीयम् स्वस्वामिन्याः सम्बन्धिचारुदत्तसम्वन्धिनम् कथं न जानामि।

वसन्त इति—सशिरःकम्पम्=अनुमोदनार्थं शिरःकम्पनेन=सञ्चालनेन सहितम्=सशिरःकम्पम्। युज्यते=तव कथनं न मिथ्या इदानीं वसन्तसेना मदनिकासम्बन्धित्वेन शर्विलकमात्मसम्बन्धित्वं बोधयति।

शर्वि इति—उपसृत्य=समीपमागत्य सवैलक्ष्यम्=लज्जाजनितसंकोचेन सहितम् भवत्यै=वसन्तसेनायै स्वस्ति=कल्याणम्।

शर्विलक—ऐसा ही करो।

मदनिका—(जाकर) आर्ये ! आर्य चारुदत्त के पास से यह ब्राह्मण आया है।

वसन्तसेना—अरी ! तुम कैसे जानती हो कि यह उनका सम्बन्धी है ?

मदनिका—आर्ये ! अपने सम्बन्धियों को भी न जानूँगी ?

वसन्तसेना—(अपने मन में ही शिर हिलाकर हँसती हुई) ठीक है। (प्रकट) उन्हें लाओ।

मदनिका—जैसी आप की आज्ञा। (जाकर) शर्विलक ! अन्दर चलिए।

शर्विलक—(आकर उदासीन होकर) आप का कल्याण हो।

वसन्तसेना—आर्य ! प्रणाम करती हूँ। आइए बैठिये।

शर्वि—सार्थवाहस्त्वां विज्ञापयति—जर्जरत्वाद् गृहस्य दूरक्ष्यमिदं भाण्डम्, तद् गृह्यताम् । (इति मदनिकायाः समर्प्य प्रस्थितः)

वसन्त—अज्ज ! ममावि दाव पड़िसन्देसं तहिं अज्जो णेदु ।
(आर्य ! ममापि तावत् प्रतिसन्देशं तत्रार्य्यो नयतु)

शर्वि—(स्वगतम्) कस्तत्र यास्यति ? (प्रकाशम्) कः प्रतिसन्देशः ?

वसन्त—पड़िच्छदु अज्जो मदणिअं । (प्रतीच्छतु आर्यो मदनिकाम्)

शर्वि—भवति ! न खल्ववगच्छामि ।

वसन्त—अहं अवगच्छामि । (अहमवगच्छामि)

शर्वि इति—सार्थवाहः=वणिक् चारुदत्तः त्वाम्=भवन्तीम् विज्ञापयति=निवेदयति गृहस्य=भवनस्य जर्जरत्वात्=पुराणत्वादतिशयजीर्णत्वात् दूरक्ष्यम्=दुःखेन रक्षणीयम् (सततजागरणजनितदुःखेनेति भावः) भाण्डम्=सुवर्णालङ्कारम् तत्= तस्माद्धेतोः गृह्यताम् मदनिकायाः=वसन्तसेनादास्याः समर्प्य करे इति शेषः, दत्त्वा प्रस्थितः=द्रुतमसृतः । स्वामिन्याः भूषणादिकं विश्वासपात्रं दासी रक्षति ।

वसन्त इति—मम=वसन्तसेनायाः अपि प्रतिसन्देशम्=अलङ्कारप्रेषण-स्वरूपसन्देशस्य प्रतिदानरूपम् ।

शर्वि इति—स्वगतम्=मनसि कस्तत्र यास्यति=इतः चारुदत्तसमीपं को यास्यति अर्थात् न काऽपीत्यर्थः लज्जातिरेकादहन्तु नैव यास्यामि । प्रतिसन्देशः= प्रतिवाचिकम् ।

वसन्त इति—प्रतीच्छतु=पत्नीत्वेन गृह्णातु ।

शर्वि इति—भवति !=आर्ये ! न अवगच्छामि=अकारणं मदनिकादानस्य कारणं न जानामि । इदं वचनं विस्मापयति ।

वसन्त इति—गर्भितवाक्यमिदम् ।

शर्विलक—चारुदत्त ने आप से कहा है कि—'घर के जीर्ण होने के कारण इस सुवर्ण भूषण की रक्षा करना बड़ा कठिन हो गया है, अतः इसे आप ले लें ।'
(इस प्रकार मदनिका को देकर चल पड़े)

वसन्तसेना—आर्य ! मेरा भी प्रति सन्देश उनके पास लेते जाइये ।

शर्विलक—(अपने मन में) वहाँ जायगा कौन ? (प्रकट) क्या प्रति-सन्देश है ?

वसन्तसेना—आप मदनिका को ग्रहण करें । (यही प्रतिसन्देश है)

शर्विलक—आर्ये ! मैं नहीं समझ रहा हूँ ।

वसन्तसेना—मैं समझ रही हूँ ।

शर्वि—कथमिव ?।

वसन्त—अहं अज्जचारुदत्तेण भणिदा—'जो इमं अलङ्कारअं समप्पइस्सदि, तस्स तुए मदणिआ दादव्वा।' ता सो ज्जेव एदं दे देदित्ति एव्वं अज्जेण अवगच्छिदव्वं (अहमार्य्यचारुदत्तेन भणिता—य 'इममलङ्कारकं समर्पयिष्यति, तस्य त्वया मदनिका दातव्या' तत् स एव एतां ते ददातीति। एवमार्य्येण अवगन्तव्यम्)

शर्वि—(स्वगतम्) अये ! विज्ञातोऽहमनया। (प्रकाशम्) साधु, आर्यचारुदत्त ! साधु।

गुणेष्वेव हि कर्त्तव्यः प्रयत्नः पुरुषैः सदा।
गुणयुक्तो दरिद्रोऽपि नेश्वरैरगुणैः समः ॥ २२ ॥

वसन्त इति—आर्येण=चारुदत्तेन भणिता=कथिता तस्य=अलङ्कारसमर्पकस्य हस्ते मदनिका दातव्या=न्यासीकरणीया आर्येण=भवता।

शर्वि इति—अनया=वसन्तसेनया विज्ञातः=मदनिकाप्रार्थित्वेनावबुद्धः।

अन्वयः—पुरुषैः सदा गुणेषु एव हि प्रयत्नः कर्तव्यः गुणयुक्तः दरिद्रः अपि अगुणैः ईश्वरैः न समः।

गुणेष्विति—पुरुषैः=सर्वजनैः सदा=सततम् गुणेषु=दयादाक्षिण्यादिषु एव=निश्चयेन प्रयत्नः=व्यापारः कर्त्तव्यः=करणीयः गुणयुक्तः=गुणविशिष्टः दरिद्रः=दीनः अपि अगुणैः=गुणहीनैः ईश्वरैः=न समः=न तुल्यः। अत्राप्रस्तुतप्रशंसा अर्थान्तरन्यासश्च ॥ २२ ॥

सरलार्थः—सर्वदा पुरुषैः दयादिगुणार्जने प्रयासो विधातव्यः गुणहीनैः धनिभिः सह गुणवान् दरिद्रोऽपि तुल्यो न भवतीति भावः ॥ २२ ॥

शर्विलक—इसका क्या मतलब है ?

वसन्तसेना—आर्य चारुदत्त ने मुझसे कहा है कि—'जो कोई इस अलङ्कार को लौटायेगा उसके लिए मदनिका को समर्पित कर देना।' इसलिए मदनिका आपको दी जा रही है। इस प्रकार आपको समझना चाहिए।

शर्विलक—(मन में) अरे ! क्या इसने सब बात जान ली। (प्रकट) धन्य हो ! आर्य चारुदत्त धन्य !!

मनुष्यों को सदा गुणप्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि गुणी दरिद्र भी विगुण धनिकों के समान नहीं, बल्कि उनसे बढ़कर है ॥ २२ ॥

अपि च—

गुणेषु यत्नः पुरुषेण कार्य्यो न किञ्चिदप्राप्यतमं गुणानाम् ।
गुणप्रकर्षादुडुपेन शम्भोरलङ्घ्यमुल्लङ्घितमुत्तमाङ्गम् ॥ २३ ॥

वसन्त—को एत्थ पवहणिओ । (कोऽत्र प्रवहणिकः ?)

(प्रविश्य सप्रवहणश्चेटः) अज्जए ! सज्जं पवहणं । (आर्ये ! सज्जं प्रवहणम्)

अन्वयः पुरुषेण गुणेषु यत्नः कार्यः गुणानाम् किञ्चित् अपि न अप्राप्यतमम् उडुपेन गुणप्रकर्षात् अलङ्घ्यम् शम्भोः उत्तमाङ्गम् उल्लङ्घितम् ।

गुणेष्विति—पुरुषेण=जनेन गुणेषु=दयादाक्षिण्यादिगुणोपार्जनेषु यत्नः=कृतिः कार्यः=करणीयः । गुणानाम्=गुणयुक्तानाम् जनानाम् किञ्चिदपि=वस्तु (लोके इति शेषः) न अप्राप्यतमम्=दुर्लभमिति भावः । अत्र दृष्टान्तमाह—उडुपेन=चन्द्रेण गुणानाम्=शैत्यप्रकाशाह्लादकत्वादीनां प्रकर्षात्=आधिक्यात् अलङ्घ्यम्=परैरारोढुमशक्यम् शम्भोः=शिवस्य उत्तमाङ्गम्=मस्तकम् उल्लङ्घितम्=सम्यगारूढम् अत्र गुणे यत्नकरणरूपकार्यस्य गुणंकर्तृकसर्वप्राप्तिरूपकारणेन समर्थनादर्थान्तरन्यासः । उपेन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ २३ ॥

सरलार्थः—पुरुपेण गुणेषु यत्नः कार्यः, यतो हि किंचिदपि वस्तु गुणानाम् अप्राप्यतमं न । गुणातिशयादेव तारापतिना चन्द्रेण शंकरस्य मस्तकं देवादिभिरपि लंघयितुमशक्यमारूढमिति भावः ॥ २३ ॥

वसन्त इति—प्रवहणिकः=गोशकटचालकः दासः ।

प्रविश्येति—प्रोह्यते भारोऽननेति प्रवहणं=कर्णीरथः (कर्णीरथः प्रवहणं डयनं चसमंत्रयम् इत्यमरः) तेन सहितः सप्रवहणः चेटः=शकटवाहकः सज्जम्=प्रस्तुतम् ।

और भी—

मनुष्यों को, दयादि गुणों को प्राप्त करने में प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि गुणी सज्जनों के लिए कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं हैं । शीतलादि गुण के कारण ही चन्द्रमा शिवजी के मस्तक पर पहुँच गया है, जिस मस्तक पर दूसरे लोग पहुँच भी नहीं सकते हैं ॥ २३ ॥

वसन्तसेना—यहाँ गाड़ीवान कौन है ।

चेट—(गाड़ी के साथ आकर) आर्ये ! गाड़ी तैयार है ।

वसन्त—हञ्जे मदणिए ! सुदिदठं मं करेहि। दिण्णसि। आरुह पवहणं। सुमरेसि मं। (हञ्जे मदनिके ! सुदृष्टां मां कुरु। दत्ताऽसि। आरोह प्रवहणम् ! स्मरसि माम्)

मद—(रुदती) परिच्चत्तम्हि अज्जआए। (इति पादयोः पतति परित्यक्ताऽस्मि आर्य्यया)

वसन्त—सम्पदं तुमं ज्जेव यन्दणीआ संवुत्ता। ता गच्छ, आरुह पवहणं। सुमरेसि मं। (साम्प्रतं त्वमेव वन्दनीया संवृत्ता। तद् गच्छ, आरोह प्रवहणम्, स्मरसि माम्)

शर्वि—स्वस्ति भवत्यै। मदनिके !

सुदृष्टः क्रियतामेष शिरसा वन्द्यतां जनः।
यत्र ते दुर्लभं प्राप्तं वधूशब्दावगुण्ठनम् ॥ २४ ॥

वसन्त इति—पादयोः पतति=गमनसमये स्वामिन्याः वसन्तसेनायाः चरणयोः आचारानुरोधात् पतति।

वसन्त इति—साम्प्रतम् = ब्राह्मणशर्विलकपरिगृहीतत्वात् त्वमेव वन्दनीया = ब्राह्मणवधूत्वान्नमस्काराार्हा।

अन्वयः—एष जनः सुदृष्टः क्रियताम् शिरसा वन्द्यताम् यत्र दुर्लभम् वधूशब्दावगुण्ठनं ते प्राप्तम् ॥ २४ ॥

सुदृष्ट इति—एषः=तव स्वामिनी वसन्तसेनाख्या जनः=सज्जनः सुदृष्टः=आदरेणावलोकितः क्रियताम्। शिरसा=मस्तकेन वन्द्यताम् च यत्र=जने अनुकम्पमाने सति ते=तव दुर्लभम्=मनसाऽप्यप्राप्यम् (वेश्यालयत्वात्)। वधूशब्द एव अवगुण्ठनम् = आवरणं प्राप्तम्। अन्यथा क्रीतदासीत्वात् यावज्जीवं दास्यबन्धान्न तव मुक्तिः स्या-

---

वसन्तसेना—अरी मदनिके ! मुझे अच्छी तरह देख लेने दे, क्योंकि आज से तुम दूसरे को दे दी गई। गाड़ी पर चढ़ो। मुझे याद रखना।

मदनिका—(रोती हुई) आर्या ने मेरा परित्याग कर दिया। (चरणों पर गिर जाती है)

वसन्तसेना—इस समय तुम्हीं पूजनीय हो गई हो। अतः जाओ, गाड़ी पर चढ़ो। मुझे याद रखना।

शर्विलक—मदनिके ! तुम्हारा कल्याण हो।

अब वसन्तसेना को अच्छी तरह देख लो और नम्र होकर उनसे प्रणाम करो,

(इति मदनिकया सह प्रवहणमारुह्य गन्तु प्रवृत्तः ।)

(नेपथ्ये) कः कोऽत्र भोः ! राष्ट्रियः समाज्ञापयति—'एष खलु आर्यकः को गोपालदारको राजा भविष्यती'ति सिद्धादेशप्रत्ययपरित्रस्तेन पालकेन राज्ञा घोषदानीय घोरे बन्धनागारे बद्धः । ततः स्वेषु स्वेषु स्थानेषु अप्रमत्तैर्भवद्भिर्भवितव्यम् ।

शर्वि—(आकर्ण्य) कथं राज्ञा पालकेन प्रियसुहृदार्यको मे बद्धः ।

दित भावः । अत्र सुष्ठुदर्शनवन्दनरूपवाक्यार्थं प्रति वधूशब्दावगुण्ठनप्रापणरूप-वाक्यार्थस्य हेतुतया काव्यलिङ्गमलङ्कारः । आर्या जातिः ॥ २४ ॥

सरलार्थः—वसन्तसेनारूपः जनः प्रसन्नावलोकितः विधीयताम् तथा मस्तकेन सविनयमभिवाद्यतां यत्र जने तवानुग्रहेण तव प्रदाने सति त्वयि वधूशब्दोच्चारण-योग्यता संजाता अर्थात् पूर्वं वेश्यादासी आसीत्तेन सर्वजनसाधारण्यं स्वभाव-सिद्धम् । साम्प्रतं मया परिणीता सती एकपत्नीव्रता अभूरिति भावः ॥ २४ ॥

नेपथ्य इति—राष्ट्रियः=राष्ट्रशासकः आज्ञापयति=प्रजावर्गेषु घोषणां कारयति आर्यकः=एतन्नामा गोपालदारकः=गोपालबालकः सिद्धस्य=सिद्धीकृततन्त्रमन्त्रादेः साधुविशेषस्य आदेशे=अदृष्टभाषणे प्रत्ययात्=विश्वासात् परित्रस्तः=अतिभीतः तेन पालकेन=एतन्नामकेन राज्ञा=उज्जयिनीराजधानीश्वरेण घोषात्=आभीरपल्ल्याः स्वेषु=स्वेन रक्षणीयेषु, स्थानेषु अप्रमत्तैः=रक्षणे सावधानैः येन नायं पलायत मिति भावः । अर्थोपक्षेपकः अस्मिन् गद्यांशे चूलिका नाम 'अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूच-नार्थस्य चूलिका ।'

शर्वि इति–आकर्ण्य=राष्ट्रियाज्ञां श्रुत्वा प्रियसुहृत्=बालमित्रम् कलत्रवान्=सद्यः स्वीकृतभार्यः आः=पीडायाम् कष्टम्=उभयस्यापि कार्यस्य सद्यः करणीयत्वात् यौग

क्योंकि वेश्या के घर में आकर भी तुमने इन्हीं के कारण असम्भव वधू शब्द का घूँघट प्राप्त कर लिया है ॥ २४ ॥

(इस प्रकार मदनिका के साथ गाड़ी पर चढ़कर जाने के लिए प्रस्तुत होता है)

(नेपथ्य में) यहाँ कौन है—कौन है ? राजपुरुष सूचित करते हैं कि—यह गोप-बालक आर्यक राजा होगा' इस प्रकार किसी सिद्ध पुरुष के वाक्य पर विश्वास कर भयभीत राजा पालक ने उसे घर से लाकर कठोर कारागार में बन्द कर दिया है । इसलिए अपने-अपने स्थान पर सभी पहरेदार को सावधान हो जाना चाहिए ।

शर्विलक—(सुनकर) क्या राजा पालक के द्वारा मेरा प्रिय मित्र आर्यक

कलत्रवांश्चास्मि संवृत्तः । आः, कष्टम् । अथवा—

द्वयमिदमतीव लोके प्रियं नराणां सुहृच्च वनिता च ।
सम्प्रति तु सुन्दरीणां शतादपि सुहृद्विशिष्टतमः ॥ २५ ॥

भवतु, अवतरामि (इत्यवरति)

मद—(सास्रसञ्जलिं बद्ध्वा) एव्वं णेदं । ता परं णेदु मं अज्जउत्तो समीवं गुरुअणाणं । (एवमेतत् । तत्परं नयतु मामार्यपुत्रः समीपं गुरुजनानाम्)

शर्वि—साधु, प्रिये ! साधु । अस्माच्चित्तसदृशमभिहितम् (चेटमुद्दिश्य) भद्र ! जानीते रेभिलस्य सार्थवाहस्य उदवसितम् ?

पद्येन कर्तुमशक्यत्वाच्च कष्टमिति शेषः । द्वयोरेकतरस्य कर्त्तव्यतां निदिशन्नाह=अथवेति ।

अन्वयः—सुहृत् च वनिता च इदम् द्वयम् लोके नराणाम् अतीव प्रियम् तु सम्प्रति सुन्दरीणाम् शतात् अपि सुहृद् विशिष्टतमः ।

द्वयमिति—सुहृत्=मित्रम् च वनिता च=परिणीता नारी च इदम् द्वयमपि=उभयमपि नराणाम्=जनानाम् अतीवप्रियम् प्रियतमम् तु=किन्तु सम्प्रति=मित्रस्य कारावाससमये सुन्दरीणाम् (न विरूपाणाम्) शतात् अपि न तु एकतो द्वितो वा सुहृत्=मित्रम् विशिष्टतमः=मान्यतमः । अत्र तुल्ययोगिता व्यतिरेकश्चालङ्कारः । आर्या जातिः, अत्र तापनं नाम प्रतिमुखसन्धेरङ्गम् । 'उपायदर्शनं यत्तु तापनं नाम तद्भवेत्' ॥ २५ ॥

सरलार्थः—नराणां दयिता मित्रश्च इदं द्वयम् अत्यन्तम् प्रियम् किन्तु साम्प्रतं सुन्दरीणां वनितानां शतादपि अधिकः प्रियः सुहृद् वर्त्तते इति भावः ॥ २५ ॥

मद इति—गुरुजनानाम्=शर्विलकस्य मातापितृपरिजनवर्गाणाम् समीपं नतु पुनरपि वसन्तसेनाया एव समीपे ।

शर्वि इति—अस्मच्चित्तस्य सदृशम्=मम मनोऽनुकूलम् अभिहितम्=उक्तम् रेभिलस्य=तन्नामकस्य उदवसितम्=गृहम् ।

पकड़ा गया है । इधर स्त्री वाला हो गया हूँ । बड़ा कष्ट है । अथवा—

संसारमें मनुष्योंके लिए स्त्री और मित्र—यही दोनों अति प्रिय हैं । किन्तु इस समय (जब कि मित्र कारागार में है) सैकड़ों स्त्रियों से भी मित्र उत्कृष्टतम है ॥ २५ ॥

अच्छा, उतरता हूँ । (गाड़ी पर से उतरता है)

मदनिका—(सजल आँखों के सहित हाथ जोड़कर) आपका विचार ठीक है । किन्तु इसके पहले मुझे अपने गुरुजनों के निकट पहुँचा दीजिए ।

शर्विलक—धन्य हो ! प्रिये, धन्य ! ! हमारे अनुकूल ही तुमने कहा ।

चेटः—अध इं। (अथ किम।)

शर्वि—तत्र प्रापय प्रियाम्।

चेट—जं अज्जो आणवेदि। (यदार्यं आज्ञापयति)

मद—जधा अज्जउत्तो भणादि। अप्पमत्तेण दाव अज्जउत्तेण होदव्वं। (यथा आर्यपुत्रो भणति, अप्रमत्तेन तावदार्यपुत्रेण भवितव्यम्) (इति निष्क्रान्ता)

शर्वि—अहमिदानीम्—

ज्ञातीन् विटान् स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान्
राजापमानकुपितांश्च नरेन्द्रभृत्यान्।
उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय

मद इति—अप्रमत्तेन = स्वशरीररक्षायां सावधानेन।

अन्वयः—उदयनस्य राज्ञः यौगन्धरायणः इव सुहृदः परिमोक्षणाय ज्ञातीन् विटान् स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान् राजापमानकुपितान् नरेन्द्रभृत्यान् च उत्तेजयामि॥

ज्ञातीनिति—उदयनस्य=वत्सराजस्य (रक्षणायेति शेषः) यौगन्धरायणः = तन्नामकस्तदीयामात्य इव सुहृदः = आर्यकनाम्नः स्वमित्रस्य परिमोक्षणाय कारावासाद् मोचनाय ज्ञातीन्=नृपस्य परिवारान् विटान्=धूर्तपुरुषान् स्वभुजविक्रमेण = स्वबाहुपराक्रमेण लब्धो वर्णः स्तुतिः यैस्ते तथोक्तास्तान् बुद्धिबलोभयशक्तिसम्पन्नान् 'लब्धवर्णो विचक्षणः' इति, 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ इति' चामरः। राज्ञः=नृपतेः चन्द्रसेनस्य अपमानेन = तत्कर्तृकबहिष्कारादिपरिभवेण कुपितान् = विक्षुभितान् नरेन्द्रभृत्यान् च उत्तेजयामि = राज्ञो विरुद्धत्वेन प्रोत्साहयामि। येन मन्मित्रस्यार्यकस्य कारावासान्मोक्षो भवेत्। उज्जयिनीश्वरेण चन्द्रसेनेन वत्सराज

(चेट को लक्ष्य करके) अजी! तुम रेभिल बनिया का घर जानते हो।

चेट—हाँ, जानता हूँ।

शर्विलक—उसी जगह हमारी प्रिय मदनिका को ले जाओ।

चेट—जैसी आपकी आज्ञा!

मदनिका—जैसा आपका विचार (आर्यक की रक्षा के लिए राजा पालक का विरोध करना) है। उसके लिए आप सदा सावधान रहेंगे। (चली गई).

शर्विलक—इस समय मैं—

जिस प्रकार राजा उदयन की रक्षा के लिए यौगन्धरायण ने प्रयत्न किया था उसी प्रकार अपने मित्र आर्यक के उद्धार के लिए राजा के कुटुम्बी, धूर्त,

यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः ॥ २६ ॥

अपि च—

प्रियसुहृदमकारणे गृहीतं
रिपुभिरसाधुभिराहितात्मशङ्कैः ।
सरभसमभिपत्य मोचयामि
स्थितमिव राहुमुखे शशाङ्कबिम्बम् ॥ २७ ॥

(इति निष्क्रान्तः)

उदयनः कारागारे बद्धः ततः उदयनमन्त्री यौगन्धारायणश्चन्द्रसेनस्य ज्ञात्यादीन् तद्विरुद्धत्वेन प्रोत्तेज्य स्वस्वामिनं वत्सराजं कारागारादुद्धारयामासेति कथा । अत्र तुल्ययोगितालङ्कारः श्रौती उपमा च । वृत्तं वसन्ततिलकम् ॥ २६ ॥

सरलार्थः—वत्सराजस्य परिमोक्षणाय यौगन्धरायणाख्यो मन्त्रीव अहं साम्प्रतं मित्रस्य मोक्षणाय स्वगोत्रजान् धूर्त्तान् निजबाहुबलेन लब्धयशसस्तथा राजावमानेन क्रुद्धान् राजपुषान् च उत्साहयामि ।

अन्वयः—आहितात्मशङ्कैः असाधुभिः रिपुभिः अकारणे गृहीतम् राहुमुखे स्थितम् शशाङ्कबिम्बम् इव प्रियसुहृदम् सरभसम् अभिपत्य मोचयामि ।

प्रियमिति—आहिता = कृता आत्मनः = निजस्य शङ्का=अनिष्टाशङ्का (आर्यकादिति शेषः) यैस्तैः असाधुभिः=असज्जनैः रिपुभिः = पालकादिशत्रुभिः अकारणे असत्यपि हेतौ गृहीतम् = धृतम् (कारागारे बद्धम्) राहुमुखे = राहोः तदाख्यराक्षसस्यानने स्थितम् शशाङ्कबिम्बम्=चन्द्रमण्डलम् इव प्रियसुहृदम् = प्रियमित्रम् आर्यकम् सरभसम् सवेगम् अभिपत्य=तत्र गत्वा मोचयामि = कारागात् मुक्तं करोमि । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ २७ ॥

सरलाऽर्थः राहुमुखे स्थितं चन्द्रमण्डलमिव प्रियवस्यमार्यकं सवेगं रक्षिवर्गमाक्रम्य कारणाभावेऽपि दुःशीलैः शत्रुभिः गृहीतं मोचयामीति भावः ॥ २७ ॥

अपनी भुजा के पराक्रम से विख्यात वीर, राजा के निरादर से क्रुद्ध तथा मन्त्री आदि राजा के कर्मचारियों को उसकाता हूँ ।

और भी—

दुर्जन शत्रुओं ने आर्यक से स्वयं शंकित होकर बिना कारण प्रिय मित्र आर्यक को कारागार में डाल दिया है । इसलिए राहु के मुख में पड़े हुए चन्द्रमण्डण के समान मैं शीघ्र चलकर आर्यक का उद्धार करता हूँ ॥ २७ ॥

(चला गया)

चेटी—(प्रविश्य) अज्जए ! दिट्ठिआ वड्ढसि । अज्जचारुदत्तस्स सआसादो वम्हणो आअदा । (आर्य्ये ! दिष्ट्या वर्द्धसे आर्य्यचारुदत्तस्य सकाशात् ब्राह्मण आगतः)

वसन्त—अहो ! रमणीअदा अज्ज दिवसस्स । ता हञ्जे ! सादरं बन्धुलेण समं पवेसेहि णं । (अहो ! रमणीयता अद्य दिवसस्य तत् हञ्जे ! सादरं बन्धुलेन समं प्रवेशय एनम्)

चेटी—जं अज्जआ आणवेदि । (इति निष्क्रान्ता) (यदार्या आज्ञापयति)

(विदूषको बन्धुलेन सह प्रविशति)

विदू—हीही भोः ! तवच्चरणकिलेसविणिज्जिदेण रक्खसराओ रावणो पुष्पकेण विमाणेण गच्छदि; अहं उण वम्हणो अकिदतवच्चरणकिलेसो वि णरणारीजणेण गच्छामि । (ही ही भोः ! तपश्चरणक्लेशविनिर्जितेन राक्षसराजो रावणः पुष्पकेण विमानेन गच्छति; अहं पुनर्ब्राह्मणोऽकृततपश्चरणक्लेशोऽपि नरनारीजनेन गच्छामि)

वसन्त इति—रमणीयता=शुभकार्यजातेनापहृतधनप्राप्त्या च बन्धुलेन='परगृहललिताः परान्नपुष्टा' इत्यादिभिर्वक्ष्यमाणप्रकारैरुपवर्णितेन पुरुषेण । अनायासेन बन्धुं लातीति बन्धुलः ।

विदू इति—हीहीति हर्षबोधकमव्ययम् । आत्मनोऽधिकसम्मानदर्शनाद्विदूषकस्य हर्षः संजातः । तपश्चरणक्लेशेन = तपोजन्यलोकातिशायिभुजबलेन विनिर्जितेन = कुबेरादीन् विजित्य प्राप्तेन पुष्पकेण = तन्नामकेन सर्वत्र गामिविमानविशेषेण नरेण युक्तः नारीजनस्तेन नरनारीजनेन ।

चेट—(प्रवेश करके) आर्य ! शुभ समाचार है । आर्य चारुदत्त के यहाँ से ब्राह्मण आया है ।

वसन्तसेना—अहा ! आज का दिन कितना मनोरम है । चेटी ! बन्धुल के साथ सादर उन्हें अन्दर लाओ ।

चेटी—जैसी आपकी आज्ञा । (चली गई)

(बन्धुल के साथ विदूषक का प्रवेश)

विदूषक—अहा ! राक्षसों का राजा रावण, घोर तपस्या के कष्ट से प्राप्त पुष्पक विमान से जाता है और मैं ब्राह्मण हूँ कि बिना तपस्या के क्लेश को सहे हुए ही पुरुष और नारी रूप विमान से जाता हूँ ।

चेटी—पेक्खदु अज्जो अम्हकेरकं गोहदुआरं। (प्रेक्षतामार्यः अस्मदीयं गृहद्वारम्)

विदू—(अवलोक्य सविस्मयम्) अम्मो ! सलिल-सित्त-मज्जिद-किद-हरिदोवलेवणस्स, विविह-सुअन्धिकुसुमोवहार-चित्तलिहिद-भूमिभाअस्स, गअणतलालोअण-कोदूहल-दूरुण्णामिदसीसस्स, दोलाअमाणावलम्बिदैरावण-हत्थभमाइद-मल्लिआदामजुणालङ्किदस्स, समुच्छिद-दन्ति-दन्ततोरणावभासिदस्स, महारअणोवहारोवसोहिणा पवणवलन्दोलणा-ललन्तचञ्चलग्गहत्थेण, 'इदो एहि' त्ति वाहरन्तेण विअ मं सोहग्गपड़ा-आणिवहेणोवसोहिदस्स, तोरणधरणत्थम्भवेदिआ-णिक्खित्त-समुल्लसन्त-हरिदचूदपल्लवललामफटिअ-मङ्गल-कलसाहिरामोहअपास्सस्स, महासुरवक्खत्थलदुब्भेज्जवज्जणिरन्तरपरिवद्धकणअकवाड़स्स, दुग्गदजणमणोरहा-आसकरस्स, वसन्तसेणा-भवण-दुआरस्स सस्सिरीअदा। जं सच्चं मज्झत्थस्स वि जणस्स वलादिट्ठि आआरेदि। (अहो ! सलिल-सिक्त-मार्जित-कृत-हरितोपलेपनस्य, विविध-सुगन्धिकुसुमोपहार-चित्रलिखितभूमि-

---

विदू इति—इतोऽग्रे विदूषकोपवर्णितानि सलिलसिक्तेत्यादिषष्ठ्यन्तपदानि वसन्तसेनाभवनद्वारस्थविशेषणानि।

सलिलेन = जलेन सिक्तम् = आर्द्रीकृतम् (मार्जनिकया) मार्जितम् = शोधितम् द्वयोः कर्मधारयः। ततः कृतं हरितेन = हरिद्वर्णद्रव्येण उपलेपनं यस्य तत् तस्य। विविधानां अनेकेषां कुसुमानां = पुष्पाणामुपहारैः = रचनाविशेषः चित्रे लिखित इव भूमेर्भागो यत्र तत् तस्य। गगनतलस्य = आकाशस्य आलोकनाय = अवलोकनाय यत् कौतूहलम् = औत्कण्ठ्यम् तेन दूरे = अत्युपरितने भागे उन्नमितम् = उत्थापितम्

चेटी—आर्य ! हम लोगों के घर का दरवाजा देखिए।

विदूषक—(देखकर और विस्मित होकर) अहा वसन्तसेना का गृहद्वार !! जहाँ पानी छिड़क कर पुनः बहार कर गोबर से लीपा गया है, जहाँ का भूमि-प्रदेश अनेक सुगन्धित फूलों के उपहार से चित्रित सा हो रहा है। आकाश की शोभा देखने के लिए कुतूहल से जो अपना मस्तक ऊँचा उठाए हुए है, जो ऐरावत हाथी के सूंड के समान डोलता हुआ नीचे लटका मल्लिका फूल की माला से सुशोभित हो रहा है, जो अत्यन्त उन्नत हाथी के दाँत के तोरण से सुशोभित हो रहा है, जो चन्द्रकान्त आदि महारत्नों से जड़ित, वायु के वेग से

भागस्य, गगनतलालोकन–कौतूहलदूरोन्नमितशीर्षस्य, दोलायमानावलम्बितैरावण–हस्त–भ्रमायित·मल्लिकादामगुणालङ्कृतस्य, समुच्छ्रित–दन्तिदन्त–तोरणावभासितस्य, महारत्नोपहारशोभिना पवनबलान्दोलना–ललच्चञ्चलाग्रहस्तेन 'इत एहि' इति व्याहरतेव मां सौभाग्यपताकानिवहेनोपशोभितस्य, तोरणधरणस्तम्भवेदिका—निक्षिप्तसमुल्लसद्धरित—चूतपल्लवललामस्फटिकमङ्गलफलसाभिरामोभयपार्श्वस्य, महासुर–वक्षः–स्थल–दुर्भेद्य-वज्र–निरन्तर–प्रतिबद्ध–कनक–कपाटस्य दुर्गतजनमनोरथायासकरस्य, वसन्तसेना–

शीर्षम् = मस्तकम् येन तस्य इवेति शेषः। दोलायमानः = समीरसंसर्गेण कम्पितः अवलम्बितः = अधोलम्बितः तथा ऐरावतस्य=सुरगजस्य हस्तः=शुण्डादण्डः तस्य भ्रमः = सादृश्याद् भ्रान्तिः यस्मिन् स तद्वदाचरितः इति ऐरावतहस्तभ्रमायितः यो मल्लिकादामगुणः = मल्लिकाकुसुममाल्यगुणः तेन अलंकृतस्य=शोभमानस्य। समुच्छ्रितेन = समुन्नतेन दन्तिदन्ततोरणेन = गजदन्तनिर्मितबहिर्द्वारेण अवभासितस्य = शोभमानस्य। महारत्नानाम्=निर्मलमण्यादीनामुपहारेण=उपरागेण शोभते तच्छीलेन। पवनबलेन=समीरघातेन या आन्दोलना=अवधूननम् तया ललच्चञ्चलः=नीचैरवलम्बमानकम्पितः अग्रहस्तः = कराग्रम् यस्य तेनैव 'इत एहि' इति शब्दार्थस्य चेष्टया व्याहरतेव = आह्वयता इव सौभाग्यपताकानाम् = मङ्गलतोरणानां निवहेन समूहेन उपशोभितस्य = विराजितस्य। तोरणधरणाय = बहिर्द्वारावलम्बनाय ये स्तम्भाः तेषां वेदिकाः = मूले पिण्डीभूताः भूमयः तासु निक्षिप्तैः=प्रक्षिप्तैः समुल्लसन्तः=शोभमानाः हरिताः=हरिद्वर्णाः ये चूतपल्लवाः=आम्रपल्लवास्तैः ललामानाम्=सुन्दराणाम् स्फटिकानाम्=स्फटिकाख्यस्वच्छमणीनाम् निर्मिताः ये मङ्गलकलशा मङ्गलाय पूर्णघटाः तैः अभिरामम्=शोभमानम् उभयपार्श्वम् उभयप्रान्तभागः यस्य तस्य। महासुराणाम्=हिरण्याक्षादीनाम् वक्षःस्थलवद्दुर्भेद्यानि=विदारयितुमशक्यानि वज्रैः=हीरकैः (तन्मयकीलकैः) प्रतिबद्धानि कनककपाटानि स्वर्णमयाररराणि यत्र तस्य दुर्गतानाम्=अकिञ्चनानाम् ये मनोरथाः=ममाप्येतादृशं स्यादित्याकाङ्क्षाः तेषाम् आयासम् = भूयोभूय आत्मोत्थापनेन परिश्रमम् करोतीति तस्य वसन्त–

सञ्चालित एवं नीचे लटकते हुए चपल अग्रहस्त से मुझे बुलाते हुए से, शुभसूचक पताका समूहों से सुशोभित हो रहा है, दोनों ओर तोरण बाँधने के लिए जो स्तम्भ की वेदिका है उस पर लह–लहाते हरे–हरे आम के पल्लवों से सज्जित, रमणीक स्फटिक के बने हुए सुन्दर माङ्गलिक कलश सुशोभित हो रहे हैं, जहाँ हिरण्यकशिपु आदि महासुरों के कठोर वक्षःस्थल के समान सुवर्ण की किवाड़ें अति कठोर हीरकादि कीलों से संलग्न हैं।

भवनद्वारस्य सश्रीकता। यत् सत्यं मध्यस्थस्यापि जनस्य बलाद्दृष्टिमाकारयति)

चेटी—एदु एदु अज्जो। इमं पढ़मं पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एतु एतु आर्यं। इमं प्रथमं प्रकोष्ठं प्रविशतु आर्यः)

विदू—(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भोः! इधो वि पढ़मे पओट्ठे ससि-सङ्ख-मुणालसच्छाओ, विणिहिद-चूण्ण-मुट्ठिपाण्डुराओ, विविह-रअण-पड़िवद्धकञ्चण-सोवाण सोहिदाओ, पासादपन्तिओ, ओलम्बिदमुत्तादामेहि फटि अवादाअणमुहचन्देहिं णिज्झाअन्ती विअ उज्जइणिं। सोत्तिओ विअ सुहोवविट्ठो णिद्दाअदि दोवारिओ। सदहिणा कलमोदणेण पलोहिदा ण भक्खन्ति वाअसा वलिं सुधाशवण्णदाए। आदिसदु भोदी। (ही ही भोः! इतोऽपि प्रथमे प्रकोष्ठे शशि-शङ्ख-मृणालसच्छायाः, विनिहितचूर्णमुष्टि-पाण्डुराः विविध-रत्न-प्रतिबद्ध-काञ्चन-सोपान-शोभिताः, प्रासादपङ्क्तयः,

---

सेनाभवनद्वारस्य अहो = आश्चर्यं सश्रीकता = सौन्दर्यम् यत्सत्यम् = एतन्निश्चितप्रथम् मध्यस्थस्यापि = विषयोपभोगादुदासीनस्यापि जनस्य दृष्टिम् बलाद् = हठात् आकारयति = आकर्षति। भवनद्वारस्य सश्रीकतेति शेषः।

इतोऽपि=अस्मिन्नपि प्रकोष्ठे=कक्षायाम् (इत इत्यत्र सार्वविभक्तिकस्तसिल् सप्तम्यर्थे) शशिनः=हिमांशोः शङ्खस्य शुद्धद्रव्यविशेषस्य मृणालस्य विसस्य च समानाः छायाः = दीप्तयः यासां ताः। विनिहितैः = साम्येन परिकीर्णैः चूर्णानाम् = सुधानाम् मुष्टिभिः=मुष्टिपरिमितैः पाण्डुराः=शुभ्रवर्णाः 'शुक्लशुभ्रशुचिश्वेतविशदश्येतपाण्डुराः' इत्यमरः। विविधरत्नैः = अनेकमण्यादिभिः प्रतिबद्धानि = स्थाने स्थाने खचितानि यानि काञ्चनसोपानानि=सुवर्णसोपानानि तैः शोभिताः=विराजिताः। प्रासादानाम्=

जहाँ निर्धन गण अनवरत परिश्रम कर रहे हैं; उस वसन्तसेना में गृहद्वार की शोभा अपूर्व है। जिसे देखने के लिए निस्पृहों की दृष्टियाँ भी हठात् आकर्षित हो जाती है।

चेटी—आइए-आइए इस प्रथम कक्षा में आप प्रवेश कीजिये।

विदूषक—(प्रविष्ट हो और देखकर) अहा! इस प्रथम प्रकोष्ठ में भी चन्द्रमा और मृणाल की कान्ति के समान शोभाशालिनी, सर्वत्र समानभाव से मुट्ठी भर चूर्ण छीटने से शुभ्र वर्ण की तथा अनेक प्रकार के रत्नों से गूँथी हुई स्वर्णमयी सीढ़ियों से सुशोभित अट्टालिका की श्रेणियाँ झूलती हुई मोती की मालाओं से तथा स्फटिक से निर्मित झरोखे रूपी मुखचन्द्र से उज्जयिनी को देख

म्वलम्बितमुक्तादामभिः स्फटिकवातायनमुखचन्द्रैर्निध्यायन्तीव उज्जयिनीम् । श्रोत्रिय इव सुखोपविष्टो निद्राति दौवारिकः । सदध्ना कलमोदनेन प्रलोभिता न भक्षयन्ति वायसा बलिं सुधासवर्णतया । आदिशतु भवती)

चेटी—एदु एदु अज्जो इमं दुदिअं पओट्ठं पविसदु अज्जो । (एतु एतु आर्यः । इमं द्वितीयं प्रकोष्ठं प्रविशतु आर्यः)

विदू—(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भोः ! इधा वि दुदिए पओट्ठे पज्ज-न्तोवणीद-जवस-वुसं-कवलसुपट्टा-तेल्लब्भङ्गिदविसाणा बद्धा पवहण-बइल्ला । अअं अण्णदरो अवमाणिदो विअ कुलीणो दीहं णीससदि सेरिहो । इदो अ अवणीदजुज्झस्स मल्लस्स विअ मद्दीअदि गीवा मेसस्स । इदो इदो अवराणं अस्साणं केसकप्पणा करीअदि । अअं अवरो पाड़च्चो विअ

भूपतिवासानाम् पङ्क्तयः मवलम्बितानि नीचैः लम्बितानि मुक्तादामानि=मुक्तामय-हाराः येषु ताः स्फटिकवातायनानि=स्फटिकमणिरचितगवाक्षाः तान्येव मुखचन्द्रा-स्तैः उज्जयिनीम् निध्यायन्तीव=आलोकयन्तीव । अत्र वातायनमुखचन्द्रैः इति रूप-कम् निध्यान्तीवेति क्रियोत्प्रेक्षा । तेनोज्जयिन्याः शोभातिशयो ध्वन्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः । श्रोत्रिय इव=षड्भिरनेकाङ्गैः शाखामधीत्य षट्कर्मनिरतो ब्राह्मणविशेष इव । सुखोपविष्टः=लौकिककार्येष्वनासक्तत्वेन निश्चिन्तः । अन्यत्र—गृहस्थसुरक्षि-तत्वेन तद्रक्षणयोगमभावात् निश्चिन्तः । वायसाः=काकाः सदध्ना=दधिमिश्रितेन कलमोदनेन=धान्यभक्तेन प्रलोभिताः=लोभदानेन आकर्षिता अपि सुधायाः=भित्त्युपलिप्तचूर्णस्य सवर्णतया=समानवर्णतया बलिम्=दधिभक्तबलिम् न भक्षयन्ति=न खादन्ति । आदिशतु=गन्तव्यमार्गं निर्दिशतु ।

रही हैं । वेदनिष्ठ ब्राह्मण के समान सुखपूर्वक बैठा हुआ द्वारपाल ऊँघ रहा है । दधि के साथ कलम नामक धान के भात से लुभाए जाने पर भी (स्फटिक की आभा से लिप्त होने से) सुधा के समान शुभ्र बलि को कौए भी नहीं खा रहे हैं । अब श्रीमतीजी आगे चलने का रास्ता बतावें ।

चेटी—आर्य ! आइए-आइए । अब इस दूसरी कक्षा में आप प्रवेश कीजिए ।

विदूषक—(प्रविष्ट हो और देखकर) अहा ! यहाँ भी दूसरी कक्षा में मुख प्रदेश में रखी हुई घास—भूसा के खाने से पुष्ट तथा तेल से लिप्त सींग वाले गाड़ी के बैल बँधे हुए हैं । इन दोनों में से एक भैंसा अपमानित कुलीन के समान दीर्घ निःश्वास ले रहा है । इस ओर युद्ध से थितर योद्धा के समान भेड़ का

दिढ़वद्धो मन्दुराए साहामिओ। (अन्यतोऽवलोक्य च) इदो अ कूरच्चुअ-तेल्लमिस्सं पिण्ड हत्थी पड़िच्छवीअदि मेत्थपुरिसेहिं आदिसदु भोदी। (ही ही भोः ! इतोऽपि द्वितीये प्रकोष्ठे पर्यन्तोपनीत–यवस–कवलसुपुष्टास्तैलाभ्यक्तविषाणा बद्धाः प्रहणबलीवर्दाः । अयमन्यतरः अवमानित इव दृढबद्धो दीर्घं:श्वसिति सैरिभः ! इतश्च अपनीतयुद्धस्य मल्लस्येव मर्द्यते ग्रीवा मेषस्य । इत इतः अपरेषामश्वानां केशकल्पना क्रियते । अयमपरः पाटच्चर इव दृढबद्धो मन्दुरायां शाखामृगः । इतश्च कूर–च्युत–तैलमिश्रं पिण्डं हस्ती प्रतिग्राह्यते मात्रपुरुषैः । आदिशतु भवती)

चेटी—एदु एदु अज्जो। इमं तइअं पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एतु एतु आर्य्यः । इमं तृतीयं प्रकोष्ठं प्रविशतु आर्य्यः)

विदु—(प्रविश्य दृष्ट्वा च) ही ही भो ! इधो वि तइए पओट्ठे इमाइं दाव कुल उत्ताजणोववेसणणिमित्तं विरचिदाइं आसणाइं। अद्धवाचिदो

पर्यन्ते = मुखदेशे उपनीतानाम्=भक्षणायोपहृतानाम् यवसानाम् = तृणानाम् (घासो यवसं तृणमर्जुनम् इत्यमरः) वुषाणाम् = कडङ्गराणाम् (धानकी छिलकी (कडङ्गरो वुसं क्लीवे इत्यमरः) कवलैः=ग्रासैः (ग्रासस्तु कवलः पुमान् इत्यमरः) सुपुष्टाः पुष्टाङ्गाः तैलेन = स्नेहेन अभ्यक्तानि=चिक्कणानि=विषाणानि = शृङ्गाणि येषां ते प्रवहणबलीवर्दाः = शकटवाहिनो वृषाः सन्तीति शेषः । अन्यतरः = द्वयोर्मध्ये एकः अन्यः कुलीनः = सद्वंशोत्पन्नः सैरिभः = महिषः दीर्घं = अत्यन्तम् निःश्वसिति = श्वासं निक्षिपति । अपनीतम् = वारितम् युद्धम् = रणम् यस्य तस्य मल्लस्य = बाहुयुद्धवीरस्य केशानाम् = ग्रीवापुच्छगतानाम् कचानाम् कल्पना = कर्त्तनादिना रचना पाटच्चरः=तस्कर इव मन्दुरायाम्=अश्वशालायाम् दृढबद्धः= दृढबन्धनः शाखामृगः = वानरः । कूरात् = द्रव्यविशेषात् च्युतम् = निःसृतम् यत् तैलम् तेन मिश्रम्=सहितं पिण्डम् मात्रपुरुषैः = हस्तिपकैः हस्ती=गजः प्रतिगृह्यते।

गर्दन मला जाता है। इधर अन्य घोड़ों की केश रचना हो रही है। यह वानर दूसरे चोर के समान घोड़शाला में कसकर बंधा हुआ है। (दूसरी ओर देखकर) इधर तो कूर (भात) से बहते हुए तेल से मिले हुए अन्नपिण्ड को महावतगण हाथी को खिला रहे हैं। अब श्रीमतीजी आगे का रास्ता बतावें।

चेटी—आइए-आइए आर्य। अब इस तीसरे प्रकोष्ठ में आप प्रवेश करें।

विदूषक—(प्रविष्ट होकर और देखकर) अहा ! इस तीसरे प्रकोष्ठ में

पासअपीठे चिट्ठइ पीत्थवो। ऐसो अ मणिमअ-सारिआ-सहिदो पास-अपीठो । इमे अ अवरे मअणसन्धि-विग्गह-चदुरा विविद-वण्णिआ-विलित्त-चित्त-फलअग्गहत्था इदो तदो परिब्भमन्ति गणिआ वुड्ढविड़ा अ। आदिसदु भोदी। (ही ही भोः ! इतोऽपि तृतीये प्रकोष्ठे इमानि तावत् कुलपुत्रजनोपवेशननिमित्तं विरचितानि आसनानि । अर्द्धवाचितं पाशकपीठे तिष्ठति पुस्तकम् । एतच्च मणिमय-सारिका-सहितं पाशकपीठम् । इमे च अपरे मदन-सन्धि-विग्रह-चतुरा विविध-वर्णिका-विलिप्त-चित्रफलकाग्र हस्ता इतस्ततः परिभ्रमन्ति गणिका वृद्धविटाश्च । आदिशतु भवती)

चेटी—एदु एदु अज्जो। इमं चउट्ठं पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एतु एतु आर्य्यः इमं चतुर्थं प्रकोष्ठं प्रविशतु आर्य्यः)

विदू—(प्रविश्यावलोक्य च) हीही भोः ! इधो वि चउट्ठे पओट्ठे जुवदिकर-ताड़िदा जलधरा विअ गम्भीरं णदन्ति मुदङ्गा। हीणपुण्णाओविअ

कुलत्रजनानाम् = कुलीनपुरुषाणामुपवेशनाय विरचितानि = सज्जीकृतानि आसनानि । अर्द्धम् = अर्द्धभागं वाचितम् = अधीतं यस्य तत् तादृशम् पुस्तकम् = कामशास्त्रस्येति शेषः पाशकस्य = अक्षस्य पृष्ठे = आधारे तिष्ठति । मणिमयसारिकाभिः = मणिरचितगुटिकाभिः सहितम् = युक्तम्, पाशकपीठम्=द्यूताधारम् मदनस्य = कामस्य सन्धिः = प्रेमप्रेमिकयोर्मिथो मेलापनम् विग्रहः = अन्योऽन्य कलहाविर्भावः तत्र चतुराः कुशलाः विविधवर्णिकाभिः = नीलपीताद्यनेकवर्णैः विलिप्तानि=रञ्जितानि चित्रफलकानि=आलेख्यपटाः अग्रहस्ते=हस्ताग्रभागे यासाम् ताः परिभ्रमन्ति = पर्यटन्ति गणिकाः = वाराङ्गनाः वृद्धधूर्ताश्च ।

भी सज्जनों के बैठने योग्य सद्वंशोद्भव ये आसन निर्मित किए गए हैं। आधी पढ़ी हुई पुस्तक पाशा खेलने के काष्ठफ पर रखी हुई है यह पाशा का कोष्ठक भी मणिमयी गोटी से युक्त है। और ये नायक-नायिका में प्रेम-मिलाप तथा प्रणय-कलह कराने में चतुर वेश्याएँ अनेक रङ्गों से रंगी हुई चित्रावली हाथों में लिए इधर-उधर घूम रही हैं और वृद्ध विट भी घूम रहे हैं। अब आप श्रीमतीजी आगे चलने का मार्ग प्रदर्शित कीजिए।

चेटी—आइए-आइए आर्य। अब आप इस तीसरे प्रकोष्ठ में प्रवेश कीजिये।

विदूषक—(प्रविष्ट होकर और देखकर) अहा ! इस चौथे, प्रकोष्ठ में भी युवतियों के हाथ से ताड़ित मृदङ्ग मेघ के समान गंभीर शब्द कर रहे हैं।

गअणादो तारआओ। णिवडन्ति कंसतालआ। महुअर-विरुअ-महुरं वज्जदि वंसो। इअं अवरा ईसाप्पणअ-कुविद-कामिणी विअ अङ्कारोविदा करुरुह-परामरिसेण सारिज्जदि वीणा इमाओ लवराओ कुसुम-रस-मत्ताओ विअ महुअरिओ अदिमहुरं पगीदाओ गणिआदारिआओ णच्चीअन्ति, णट्टअं पठीअन्ति ससिङ्गारओ। ओवग्गिदा गवक्खेसु वादं गेण्हन्ति सलिल-गग्गरीओ। आदिसदु भोदी। (हीही भोः! इतोऽपि चतुर्थे प्रकोष्ठे युवति-कर ताडिता जलधरा इव गम्भीरं नदन्ति मृदङ्गाः। क्षीणपुण्या इव गगनात्तारका निपतन्ति कांस्यतालाः। मधुकर-विरुत-मधुरं वाद्यते वंशः। इयमपरा ईर्ष्या-प्रणयकुपितकामिनीव अङ्कारोपिता कररुहपरा-मर्षेन सार्यते वीणा। इमा अपराश्च कुसुमरसमत्ता इव मधुकर्यः अतिमधुरं प्रगीता गणिकादारिकाः नर्त्यन्ते, नाट्यं पाठ्यन्ते सश्रृङ्गारम्। अपवर्जिता गवाक्षेषु वातं गृह्णन्ति सलिलगर्ग्यः। आदिशतु भवती)

युवतीनाम् = सङ्गीतासक्तानाम् करैः = हस्तैः ताडिताः = वादिताः मृदङ्गाः = वाद्यविशेषाः जलधरा इव = वलाहका इव गम्भीरं नदन्ति। गगनात् = नभोमण्ड-लात् क्षीणपुण्याः = उपभुक्तपुण्यफलाः तारका इव कांस्यतालाः = कांस्यधातु-रचितकरतालाः निपतन्ति = अधस्तनस्योपरि उपरितनाः पतन्ति। पुण्ये क्षीणे नक्षत्राणि गगनतलात्पतन्ति इति। वंशः = वंशी मधुकरस्य = द्विरेफस्य विरुतम् = गुञ्जनम् तद्वत् मधुरम् वाद्यते = शब्दायते। ईर्ष्या=अक्षान्तिः (परोत्कर्षासहिष्णुता) पत्युरन्याङ्गनाप्रेमादिजन्या तया प्रणये = प्रेमालिङ्गने कुपिता = क्रुद्धा कामिनी= मानिनी सा इव अङ्के = पत्युः क्रोडे (वादकोत्सङ्गे च) आरोपिता = प्रसादनाय-पत्या धृता, वादनाय वादकेन च स्थापिता = कृता वीणा = तन्त्री कररुहाणाम्=नखा-नाम् परामर्षेन = कुचयोः तन्त्रीषु च सम्बन्धेन उत्सार्यते = प्रसादनं क्रियते, वादनं क्रियते च, कुसुमानाम् = पुष्पाणाम् रसैः = रसास्वादनैः मत्ताः मधुकर्यः प्रकृष्टम् = माधुर्येणात्युत्तमम् गीतम् = गुञ्जनम् गानञ्च यासां ताः गणिकानाम् = वेश्यानाम्,

पुण्य क्षीण होने से आकाश में गिरते हुए नक्षत्रों के समान करताल गिर रहे हैं। भ्रमर के गुंजन की तरह बाँसुरी मधुर तान छेड़ रही है। ईर्ष्या के कारण प्रणय में कुपित रमणी के समान वीणा को गोद से रखकर नख के संयोग से उसे प्रसन्न किया जा रहा है। (अर्थात् गोद में रखकर वीणा बजाई जा रही है)। और दूसरी, ये मकरन्द पान से मत्त भ्रमरियों के समान गाती हुई वेश्या की बालिकाएँ नचाई जा रही हैं और अभिनय योग्य रस-पूर्ण पुस्तकें पढ़ाई जा

चेटी—एदु एदु अज्जो। इमं पञ्चमं पओट्ठं वपिसदु अज्जो। (एतु एतु आर्यः। इमं पञ्चम प्रकोष्ठं प्रविशतु आर्यं)

विदू—(प्रविश्य दृष्ट्वा च) हीहो भो ! इधो वि पञ्चमे पओट्ठे अअं दलिद्द-जण लोहुप्पादणअरो आहरइ उवचिदो हिङ्गु तेल्लगन्धो। विविह-सुरहि-धूमुग्गरेहिं णिच्चं सन्ताविज्जमाणं णीससदि विअ महाणसं दुआर-मुहेहिं। अधिअं उसुसावेदि मं सासिज्जमाण-बहुविह-भक्ख-भोअण-गन्धो। अअं अवरो पड़च्चरं विअ पोट्टि धोअदि रूपिदारओ बहुविहा-हारविआरं उवसाहेदि सूवआरो। वज्झन्ति मोदआ, पच्चन्ति अ पूवआ। (आत्मगतम्) अविदाणि इह वड्ढिअं भुञ्जसु त्ति पादादअं लहिस्सं ? (अन्यतोऽवलोक्य च) इदो गन्धव्व-सुरगणेहि विअ विविहालङ्कारसोहि-देहि गणिआजणेहि बन्धलेहिं अ जं सच्चं सग्गीअदि एदं गेहं। भोः ! के तुम्हे वन्धुला णाम् ?। (होही भोः ! इतोऽपि पञ्चमे प्रकोष्ठे अयं दरिद्र-जन-

---

दारिकाः = कन्यकाः (बालवेश्या इत्यर्थः) शृङ्गारेण सह सश्रृङ्गारम् शृङ्गारयुक्तम् नर्त्यन्ते = नृत्यं कार्यन्ते। नाटचम् अभिनयशास्त्रम् पाठ्यन्ते च = अध्याप्यन्ते च गवाक्षेषु = वातायनेषु अपवलिताः = स्थापिताः सलिलगर्गयः = जलपूर्णाः घटाः वातम् = वायुम् गृह्णन्ति = शैत्यार्थं सेवन्ते।

दरिद्रजनानाम् = दीनपुरुषणाम् लोभोत्पादनकरम् = लोभसम्पादनकरम् उप-चितः = वृद्धिगतः हिङ्गुतैलगन्धः = हिङ्गुस्नेहसुरभिः आहरति = नासिकामाकर्षति॥

रही हैं। झरोखों पर स्थित जलपूर्ण मन्थनी (पात्र विशेष) वायु सेवन कर रही है। श्रीमतीजी अब आप आगे का मार्ग दिखावें।

चेटी—आइए आइए आर्य ! इस पाचवें प्रकोष्ठ में प्रवेश कीजिए।

विदूषक—(प्रवेश कर और देखकर) अहा ! इस पञ्चम प्रकोष्ठ में भी यह निर्धनों को लुब्ध करने वाला बढ़ा हुआ हिंगु तेल की सुगन्ध आकर्षित कर रही है। सदा जलाया जाता हुआ पाकस्थान अपने द्वाररूपी मुख से अनेक प्रकार के सुगंधित धूम के उद्गार से निःश्वास की तरह ले रहा है। बनाए जाते हुए विविध प्रकार के योग्य खाद्य पदार्थ की गंध मुझे अधिक उत्सुक बना रही है। यह दूसरा सुन्दर बालक जीर्ण वस्त्र के समान मांस विशेष को धो रहा है। भाजन

पकानेवाला अनेक आहार की विभिन्न सामग्रियाँ बना रहा है। लड्डू बाँधे जा रहे

लोभोत्पादनकरम् आहरति उपचितो हिङ्गुतैलगन्धः। विविध—सुरभि—धूमोद्गारैः नित्यं सन्ताप्यमानं निःश्वसितीव महानसं द्वारमुखैः। अधिकमुत्सुकायते मां साध्यमानबहुविध—भक्ष्य—भोजनगन्धः। अयमपरः पटच्चरमिव पेशिं धावति रूपिदारकः। बहुविधाहार—विकारमुपसाधयति सूपकारः। बध्यन्ते मोदकाः, पच्यन्ते च पूपकाः। अपि इदानीमिहं वर्द्धितं भुङ्क्ष्व इति पादोदकं लप्स्ये ?। इह गन्धर्वं सुरगणैरिव विविधालङ्कारशोभितैः गणिकाजनैः बन्धुलैश्च यत्सत्यं स्वर्गायते इदं गेहम्। भोः ! के यूयं बन्धुला नाम ?)

बन्धुलाः—वयं खलु—

महानसम् = पाकस्थानम् (कर्तृ) नित्यं सन्ताप्यमानम् = अहरहः पाकक्रियया सन्तापं प्राप्यमाणम् विविधानम् = अनेकेषां सुरभीणाम् = गन्धयुक्तानाम् धूमानाम् उद्गारः=निःसरणम् येभ्यस्तैः द्वारमुखैः=द्वारमार्गैः निःश्वसितीव = श्वासप्रदानं करोतीव। साध्यमानानाम् = सम्पाद्यमानानाम् बहुविधानाम्=विविधानाम् भक्ष्याणाम्=भक्ष्यचर्व्यादीनाम् भोजनानाम्=व्यञ्जनानाम् च गन्धः माम् उत्सुकायते = भोजनलालसं करोति (उत्सुकं करोति) रूपमस्यास्तीति रूपी च चासौ दारकः = बालकः इति रूपिदारकः=शोभनः बालकः पटच्चरम्=जीर्णवस्त्रम् इव पेशिम्=हतपशूदरपेशिम् धावति = क्षालयति। सूपकारः = पाककर्ता बहुविधानाम् = नानाविधानाम् आहाराणाम् = खाद्यपदार्थानाम् विकारम् = भेदम् उपसाधयति = सम्पादयति मोदकाः=लड्डुकानि बध्यन्ते वर्तुलीक्रियन्ते पूपकाः=पिष्टकरूपाणि पच्यन्ते = सिद्धीक्रियन्ते। इह = अत्र वर्द्धितम् = व्यञ्जनादिसामग्र्युपचितम् (प्रचुरमितियावत्) भुङ्क्ष्व इति मां निवेदयतो जनात् इदानीं पादोदकम् = चरणप्रक्षालनाय जलम् अहम्=विदूषकः लप्स्ये ? इति विदूषकः स्वमनसि मनोरथं करोतीति भावः। यत्सत्यम् = निश्चितम् विविधालङ्कारशोभितैः = नानाभूषणभूषितैः गणिकाजनैः = स्वाभाविकमधुरगात्रैः वेश्यासमूहैः बन्धुलैश्च = बन्धुलसमूहैश्च स्वर्गायते = स्वर्गवदाचरति इदं गेहम् = भवनम्।

और मालपूए पकाए जा रहे हैं। (अपने मनमें) यहाँ इस समय यथेष्ट भोजन है तो क्या पैर धोने के लिए जल (कहाँ) पाऊँगा ? (दूसरी ओर देखकर) इस स्थान पर गन्धर्व से सुरगणों के समान अनेकानेक आभूषणों से सुशोभित वेश्याओं तथा बन्धुओं से यह घर सचमुच स्वर्ग हो रहा है। तुम लोग ये बन्धुल कौन हो ?

बन्धुलगण—हमलोग तो—

परगृहललिताः परान्नपुष्टाः
परपुरुषैर्जनिताः पराङ्गनासु ।
परधननिरता गुणेष्ववाच्या
गजकलभा इव बन्धुला ललामः ॥ २८ ॥

विदू—आदिसदु भोदी (आदिशतु भवती)

चेटी—एदु एदु अज्जो ! इमं छट्ठं पओट्ठं पविसदु अज्जो । (एतु एतु आर्य्यः, इमं षष्ठं प्रकोष्ठं प्रविशतु आर्य्यः)

विदू—(प्रविश्यालोक्य च) ही ही भो ! इमो वि छट्ठे पओट्ठे

अन्वयः—परगृहललिताः परान्नपुष्टाः परपुरुषैः पराङ्गनासु जनिताः परधन-निरताः गुणेषु अवाच्याः बन्धुलाः गजकलभाः इव ललामः ॥ २८ ॥

परेति—परगृहे ललिताः=अन्यगृहे फलिताः (न तु स्वगृहे) अथवा—परगृह-मेव ललितं सुन्दरं यासां ताः । जन्मग्रहणभरणपोषणाश्रयतयेति शेषः । परधनेषु= अन्यविभवेषु निरताः=उपभोगादिना संसक्ताः गुणेषु=वाक्प्रतिभादिषु अवाच्याः= अवर्णनीयगुणाः, युज्यते चैतत् कलोपजीविनां गणिकागणानामनुयायिवर्गेषु तत्रा-प्यन्तरङ्गेषु वन्धुलेषु । भट्टाचार्यास्तु गुणेषु=वैचक्षण्यादिषु अवाच्याः=तेषामसत्त्वा-दनुदाहार्या निर्गुणा इत्यर्थः इत्याहुः । बन्धुलाः=बन्धुलाख्याः गजकमला इव करि-शावका इव ललामः=वयं विलसामः । यद्यत्यमरोक्तदिशा 'कलभः करिशावक' इति वचनप्रामाण्यात् शावकं विना कलभशब्देनैव तच्छादकप्रतीतेस्तथा च शावक-पदोपादानेन पुनरुक्तिदोषस्तथापि—'धनुर्ज्यादिषु शब्देषु' इत्यादि दर्पणोक्तदिशा तस्यौचित्यं बोध्यम् । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ २८ ॥

सरलार्थः—परगृहावासनिरता अन्यान्नप्रतिपालिताः परान्नभोजिनः परपुरुषैः परकीयासु उत्पादिताः परार्थोपजीविनः दयादाक्षिण्यादिगुणेन रहिताः हस्तिशावका इव उक्तलक्षणा असतीपुत्राः विहरामः ॥ २८ ॥

दूसरे के घर मे पलते हैं, दूसरे के अन्न से परिपुष्ट होते हैं, दूसरे की स्त्री और दूसरे पुरुष के संयोग से उत्पन्न होते हैं, दूसरे के धन पर आश्रित रहते हैं तथा निर्गुण रहते हैं । इस प्रकार हम बन्धुलगण हाथी के बच्चे के समान स्वच्छन्द विहार करते हैं ॥ २८ ॥

विदूषक—अब आप आगे का मार्ग प्रदर्शित करें ।

चेटी—आइए-आइए आर्य । अब आप इस छठें प्रकोष्ठ में प्रवेश करें ।

विदूषक—(प्रविष्ट होकर और देखकर) अहा ! यहाँ भी इस छठे प्रकोष्ठ में,

अमुं दाव सुवण्ण-रअणाणं कम्मतोरणाइं णील-रअण-विणिक्खित्ताइं इन्दाउहट्ठाणं विअ दरिसअन्ति। वेदुरिअ-मोत्तिअपवालपुप्फराअ-इन्द-णील-कक्केतरअ-पदम्मराअ-मरगअ-पहुदिआइं रअणविसेसाइं अण्णोण्णं विचारेन्ति सिप्पिणो। वज्झन्ति जादरूवेहिं माणिक्काइं, घड़िज्जन्ति सुव-ण्णालङ्कारा रत्तसुत्तेण, गत्थीअन्ति गोत्तिआभरणाइं, घसीअन्ति धीरं वेदु-रिआइं, छेदोअन्ति अङ्खआ, साणिज्जन्ति पवालआ, सुक्खविअन्ति ओलविदकुङ्कुम=पत्थरा, सालीअदि कत्थूरिआ, विसेसेण घिस्सदि चन्दण-रसो, संजोईअन्ति गन्धजुत्तीओ, दीअदि गणिआ-कामुकाणं सकप्पूरं ताम्बोलं, अवलोईअदि सकड़क्खअं, पअट्टदि हासो, पिवीअदि अ अण-यरअं ससिक्कारं मइरा। इमे चेड़ा, इमा चेड़िआओ, इमे अवरे अवधी-रिद-पुत्त-दार-वित्ता मणुस्सा करआ-सहिद-पीद-मदिरेहि गणिआ-जणेहिं जे मुक्का आसआ ताइं पिअन्ति। आदिसदु भोदी। (हो ही भोः! इतोऽपि षष्ठे प्रकोष्ठे अमूनि तावत् सुवर्ण रत्नां कर्म्मतोरणानि नील-रत्न विनि-क्षिप्तानि इन्द्रायुधस्थानमिव दर्शयन्ति। वैदूर्य-मौक्तिक-प्रवाल-पुष्परागेन्द्र-नील-कर्केतरकपद्मराग-मरकतभृतीन् रत्नविशेषान् अन्योन्यं विचारयन्ति शिल्पनः।

नीलरत्नैः=इन्द्रनीलमरकतमण्यादिभिः विनिक्षिप्तानि=स्थानविशेषे जड़ि-तानि सुवर्णरत्नानाम्=रत्नजड़ितस्वर्णानाम् कर्मतोरणानि=कर्मणा=शिल्पिचा-तुर्यक्रियया घटितानि तोरणानि=बहिर्द्वारविशेषाः इन्द्रायुधस्थानम् इन्द्रधनुषः प्रदेश इव दर्शयति=आत्मानमवभासयति। शिल्पनः=परीक्षकाः अन्योन्यं विचारयति=एकत्र सर्वान् रत्नविशेषान् सन्निधाय परस्परं तारतम्येन तुलयन्ति। जातरूपैः=

मरकत आदि मणियों से गूँथे हुए स्वर्ण रत्नों से निर्मित ये तोरण इन्द्रधनुष का दृश्य उपस्थित कर रहे हैं। वैदूर्य, मोती, मूगा, पुष्पराग, इन्द्रनील, कर्केतरक, पद्मराग तथा मरकत आदि रत्नादिकों पर शिल्पीगण विचार कर रहे हैं। सोने से मणि बाँधी जा रही है, लाल डोरे में सुवर्ण के आभूषण गूँथे जा रहे हैं, मोती के अलङ्कार गूँथे जा रहे हैं, वैदूर्य मणियाँ धीरे-धीरे घिसी जा रही हैं, शङ्ख चिकने किए जा रहे हैं, मूँगे सान पर चढ़ाए जा रहे हैं, गीले कुंकुम के पत्थर सुखाए जा रहे है, कस्तूरी एकत्रित की जा रही है, चन्दनरस विशेषरूप से घिसा जा रहा है, सुगन्धित लेप चढ़ाए जा रहे हैं, वेश्या और कामुक-प्रेमी को

वध्यन्ते जातरूपैर्माणिक्यानि, घटयन्ते सुवर्णालङ्कारा रक्तसूत्रेण, ग्रथ्यन्ते मौक्तिकाभरणानि, घृष्यन्ते धीरं वैदूर्याणि; छिद्यन्ते शङ्खाः शाण्यन्ते प्रबालकाः, शोष्यन्ते आर्द्रकुङ्कुमप्रस्तराः, सार्य्यंते कस्तूरिका, विशेषेण घृष्यते चन्दनरसः, संयोज्यन्ते गन्धयुक्तयः, दीयते गणिकाकामुकयोः सकर्पूरं ताम्बूलम्, अवलोक्यते सकटाक्षम्, प्रवर्त्तते हासः, पीयते च अनवरतं ससीत्कारं मदिरा । इमे चेटाः, इमाश्चेटिकाः, इमे अपरे अवधीरितपुत्रदारवित्ता मनुष्याः करकासहितपीत मदिरैर्गणिकाजनैर्यें मुक्ता आसवाः तान् पिबन्ति । आदिशतु भवती ।)

चेटी—एदु एदु अज्जो । इमं सत्तमं पओट्ठं पविसदु अज्जो (एतु एतु आर्यः इमं सप्तमं प्रकोष्ठं प्रविशतु आर्यः)

विदू—(प्रविश्यावलोक्य च) हीही भो ! इधो वि सत्तमे पअट्ठे सुसिलिट्ट-विहङ्ग-वाड़ीसुह-णिसण्णाइं अण्णो-चुम्वणपराइं सुहं अणु-

---

सुवर्णैः माणिक्यानि=रत्नप्रभृतय=वध्यन्ते स्वर्णसूत्रैर्ग्रंथ्यन्ते । घटयन्ते=सम्बद्धयन्ते सुवर्णालङ्कारः=स्वर्णभूणानि (हाराः) रत्नसूत्रेण=माणिक्यादिसूत्रेण धीरम्=मन्दम् यथा स्यात्तथा वैदूर्याणि=सूर्यकान्तमणयः घृष्यन्ते=मसृणतासम्पादनार्थं घृष्यन्ते । शङ्खाः छिद्यन्ते=सन्तक्ष्यन्ते । शाण्यन्ते=शाणेन वर्तुलीक्रियन्ते कुङ्कुमस्य=केशरस्य प्रस्तराः=केशरपेषणाधारपाषाणखण्डानि शोष्यन्ते=शुष्काः क्रियन्ते (आतपयोगेन वस्त्रसम्बन्धेन वा) । सार्यंते=एकत्रीक्रियन्ते । गन्धयुक्तयः सुरभिपादार्थयुतम् ताम्बूलम् । अवधीरितानि=कामान्धतया तिरस्कृतानि पुत्रदारवित्तानि=पुत्रकलत्रधनानि यैस्ते=तादृशाः मनुष्याः=बहवो लोकाः करकया=वर्षोपलेन (वर्षोपलस्तु करका इत्यमरः) सहितं यथा स्यात्तथा पीता मदिरा यैस्तैः मुक्ताः=पीतोच्छिष्टाः आसवाः तान् पिबन्ति ।

कर्पूर के सहित पान दिया जा रहा है । (लोग) कटाक्ष-विक्षेप के साथ देख रहे हैं, हँसी हो रही है, सी-सी करते हुए निरन्तर मदिरा का पान हो रहा है । ये चेट हैं और ये दूसरे पुत्र, कलत्र एवं धन का तिरस्कार कर यहाँ आए हुए मनुष्य उस बर्फ वाले मद्य को पी रहे हैं जिसे वेश्याओं ने पीकर छोड़ दिया है । अच्छा चेटी जी अब आप आगे का पथ प्रदर्शित करें ।

चेटी—आइए-आइए आर्य अब इस सातवें प्रकोष्ठ में प्रवेश कीजिए ।

विदूषक—(प्रविष्ट होकर और देखकर) अहा ! यहाँ भी सातवें प्रकोष्ठ (कक्षा) में सुन्दर पक्षी गृह में सुखपूर्वक पड़े हुए परस्पर चुम्बन लेने में तत्पर

भवन्ति पारावद-मिहुणाइं। दहिभत्त–पुरिदोदरो वम्हणो विअ सुत्तं पढदि पञ्जरसुओ। इअं अवरा सामि-संमाणणा–लद्ध-पसरा विअ घरदासी अधिअं कुरकुराअदि मदणसारिआ। अणेअ-फलरसास्साद्र–पतुट्ट-कण्ठा कुम्भदासी विअ कूअदि परपुट्ठा। आलम्बिदा णागदन्तेसु पञ्जर-परम्पराओ। योधीअन्ति लावआ। आलवीअन्ति पञ्जरकविञ्जला। पेसीअन्ति पञ्जरकवोदा। इदो तदो विविहमणि-चित्तलिदो विअ अअं सहरिसं णच्चन्तो रवि-किरण सन्तत्त पक्खुक्खेवेहिं विधुवेहिं विअपासादं घरमोरो (अन्यतोऽवलोक्य) इदो पिण्डीकिदा विअ चन्दपादा पदगदिं सिक्खन्ता विअ कामिणीणं पच्छादो परि भमन्ति राअहंसामिहुणा। एदे अवरे वुड्ढ-महल्लका विअ इदो तदो सञ्चरन्ति घरसारसा। हीही भो! पसारअं किदं गणिआए णाणापक्खिसमूहेहिं। जं सच्चं क्खु णन्दणवणं विअ मे गणिआघरं पड़िभासादि। आदिसदु भोदी। (विदू इति। ही ही भोः! इतोऽपि सप्तमे प्रकोष्ठे। सुश्लिष्ट-विहङ्गवाटी-सुखनिषण्णानि अन्योन्यचुम्बनपराणि सुखमनुभवन्ति पारावतमिथुनानि। दधिभक्तपूरितोदरो ब्राह्मण इव सूक्तं पठति

सुश्लिष्टा = सम्यङ्निर्मिता या विहङ्गमवाटी = कपोतपालिका तत्र सुखेन = आनन्देन निषण्णानि = समुपविष्टानि पारावतानाम् = कपोतानाम् मिथुनानि = दम्पतयः पञ्जरस्थः शुकः दधिभक्तेन=दधिमिश्रितौदनेन पूरितम्=परिपूर्णम् उदरम् यस्य सः = शुकः सूक्तम् 'रामरामेति रामेति' इत्यादि। स्वामिनः = पालकस्य सम्मानना=अत्यादरः तया लब्धाः=प्राप्तः प्रसरः=प्रभावः यया सा तादृशीगृहदासी इव मदनसारिका = मैनाख्यः पक्षी कुरकुरायते = कुरकुरेति शब्दायते। अनेकेषां

कबूतर के जोड़े सुख का अनुभव कर रहे हैं। दही और भात से परितुष्ट ब्राह्मण के समान पिंजड़े का सुग्गा सुन्दर-सुन्दर वाक्यों का उच्चारण कर रहा है। यह दूसरी, नायक के आदर के द्वारा अधिक प्रभाववाली गृह-सेविका के समान मैना अधिक कुरकुर शब्द कर रही है। विविध फलों का आस्वाद लेने से मनोरम कण्ठवाली कुट्टिनी के समान कोयल कूक रही है। खूँटियों पर पिंजड़ों की पंक्तियाँ लटक रही हैं। लावक पक्षी लड़ रहे हैं। पिंजड़े में स्थित तीतर बोल रहा है। पिंजड़े में पाले हुए कबूतर निर्दिष्ट स्थान पर भेजे जा रहे हैं। अनेक प्रकार की मणियों से चित्रित के समान ये गृहमयूर प्रसन्नतापूर्वक इधर-उधर नाचते हुए सूर्य की किरणों से जलते हुए प्रासाद (अट्टालिका) को

पञ्जरशुकः। इयमपरा स्वामिसम्माननालब्धप्रसरा गृहदासी इव अधिकं कुर-
कुरायते मदनसारिका। अनेकफलरसास्वादप्रहृष्टकण्ठा कुम्भदासीव कूजति पर-
पुष्टा। आलम्बिता नागदन्तेषु पञ्जरपरम्पराः। योध्यन्ते लावकाः। आलाप्यन्ते
पञ्जरकपिञ्जलाः। प्रेष्यन्ते पंजरकपोताः। इतस्ततो विविधमणिचित्रित इवायं
सहर्षं नृत्यन् रविकिरणसन्तप्तं पक्षोत्क्षेपैर्विधुवतीव प्रासादं गृहमयूरः। इतः
पिण्डीकृता इव चन्द्रपादाः पदगतिं शिक्षमाणानीव कामिनीनां पश्चात् परिभ्र-
मन्ति राजहंसमिथुनानि। एते अपरे वृद्धमतल्लिका इतस्ततः गृहसारसाः।
ही ही भोः! प्रसारणं कृतं। गणिकया नानापक्षिसमूहैः। यत्सत्यं नन्दनवनमिव
मे गणिकागृहं प्रतिभासते। आदिशतु भवती)

फलानाम्=नानाविधानम् फलानाम् रसस्यास्वादेन प्रहृष्टकण्ठः=सुस्निग्धस्वरः
यस्याः सा कुम्भदासीव=कुट्टिनीव परपुष्टः=पिकः कूजति=शब्दं करोति। पञ्जरा
णाम्=शुकादियुक्तपञ्जराणाम् परम्पराः=पङ्क्तयः नागदन्तेषु=काष्ठदण्डेषु आल-
म्बिता=अवलम्बिता। लावकाः=पक्षिविशेषाः कपिञ्जलाः=गौरतित्तिराः पञ्जर-
कपोताः=पञ्जरस्थकपोताः प्रेक्ष्यन्ते=अन्यत्र विचारज्ञानाय प्रेष्यन्ते। विविधमणि-
चित्रित इव=नानारत्नजडित इव (अनेकवर्णसुशोभितपुच्छत्वात्) सहर्षम्=
समोदम् रविकिरणैः=सूर्यरश्मिभिः सन्तप्तम्=परितप्तम् प्रासादम् प्रकोष्ठम् गृहम-
यूरः=पालितबर्ही पक्षोत्क्षेपैः=पक्षसञ्चालनैः विधुवतीव=कम्पयतीव (सन्तापं
परिहर्तुं व्यजनभावमाचरतीव) इतः पिण्डीकृता इव राशीकृता इव चन्द्रस्य=
शशिनः पादाः किरणाः राजहंसानाम् मिथुनानि पदगतिम्=स्त्रीभ्यो मन्दगतिम्
शिक्षमाणानीव कामिनीनाम् पश्चात् परिभ्रमन्ति=अनुसरन्ति एते अपरे=अन्ये वृद्ध-
मतल्लिकाः=गृहपूज्या इव गृहसारसाः पक्षिविशेषाः सञ्चरन्ति=परिभ्रमन्ति।
गणिकया=वसन्तसेनया नानापक्षिसमूहैः=बहुविधपतत्रिकुलैः (करणैः) प्रसार-
णम्=व्यापनम् कृतम् (पक्षिसमूहैः सङ्कीर्णमेतत्स्थलमिति भावः) नन्दनवनमिव=
इन्द्रोद्यानमिव गणिकागृहम्=वेश्या भवनम् प्रतिभासते=अतिशयेन शोभते।

शांत करने के लिए वे अपने पक्षों से हवा कर रहे हैं (दूसरी ओर देखकर) एकत्र
स्थित चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल राजहंसों के जोड़े कामिनियों की
मन्द गति को शिक्षा लेते हुए से उन्हीं (कामिनियों) के पीछे घूम रहे हैं।
ये दूसरे वृद्ध श्रेष्ठों के समान गृहसारस इधर उधर घूम रहे हैं। अहा!! वेश्या
वसन्तसेना ने विविध पक्षियों के द्वारा इस कक्ष को व्याप्त कर दिया है। सच-
मुच में यह वेश्या का घर नन्दनवन के समान सुशोभित हो रहा है। अच्छा,
अब आप आगे का मार्ग दिखावें।

चेटी—एदु एदु अज्जो। इमं अट्ठमं पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एतु एतु आर्यः। इमम् अष्टमं प्रकोष्ठं प्रविशतु आर्यः)

विदू—(प्रविश्यावलोक्य च) भोदि ! को एसो पट्टपावारअपाउदो अधिअदरं अच्चब्भुद-पुणरुत्तालङ्कारालङ्किदो अङ्गभङ्गेहि परिक्खलन्तो इदो तदो परिब्भमदि। (भवति ! क एष पट्टप्रावारकप्रावृतः अधिकतरमत्यद्भुतपुनरुक्तालङ्कृतः अङ्गभङ्गैः परिस्खलन्नितस्ततः परिभ्रमति ?)

चेटी—अज्ज ! एसो अज्जआए भादा भोदि। (आर्य ! एष आर्याया भ्राता भवति)

विदू—केत्तिअं तवच्चरणं कदुअ वसन्तसेणाए भादा भोदि। अधवा मा दाव, जइ वि एसो उज्जलो सिणिद्धो अ सुअन्धो अ, तह वि ससाणवीधीए जादो विअ चम्पअरुक्खो अणहिगमणीओ लोअस्स। (अन्यतोऽवलोक्य) भोदि ! एला उण का ? फुल्लपावारअ-पाउदा उवाणह-जुअल-णिक्खित-तेल्ल-चिक्कणेहि पादेहि उच्चासणे उवविट्ठा चिट्ठदि ?। (कियत् तपश्चरणं कृत्वा वसन्तसेनाया भ्राता भवति। अथवा मा तावत्, यद्यपि एष

पट्टप्रावारकेण = क्षौमदुकूलेन प्रावृतः = आच्छादितोर्ध्वदेहः अधिकतरम् अत्यद्भुतैः = अत्याश्चर्यसम्पादकैर्बहुमूल्यः पुनरुक्तैः = द्विगुणितैः (अत्यधिकैरिति भावः) अलङ्कारैः = आभूषणैः अलङ्कृतः = विभूषित। अङ्गभङ्गैः = अङ्गस्य वक्रविन्यासैः (भङ्गिभिरिति भावः) परिस्खलन् = परितः पतन् परिभ्रमति = पर्यटति।

अथवा = पक्षान्तरे मा तावत् मयोक्तं प्रशंसावाक्यं नोचितम्। तत्र हेतुं दर्शयति—उज्ज्वलः (स्वच्छशरीरत्वात्) बहुमूल्यस्वच्छवस्त्रोत्तरीयधारणाद्वा स्निग्धः=

चेटी—आइए-आइए आर्य ! अब आप इस आठवें प्रकोष्ठ में प्रवेश करे।

विदूषक—(प्रविष्ट होकर और देखकर) मान्ये ! यह कौन है ? जो रेशमी वस्त्र से आच्छादित विशेषतर अति विचित्र एक ही प्रकार के अलङ्कार से पुनः पुनः सज्जित नाना प्रकार कि आकृति-विशेष के द्वारा गिरता हुआ इधर-उधर घूम रहा है।

चेटी—आर्य ! यह वसन्तसेना का भाई है।

विदूषक—कितना तप करने से यह वसन्तसेना का भाई हुआ है। अथवा ऐसी बात नहीं है, यद्यपि यह शुभ्र है, स्निग्ध है, तथा सुगन्धित है फिर भी श्मशान की गलियों में उत्पन्न होने वाले चम्पक वृक्ष के समान यह संसार के

उज्ज्वलः स्निग्धः सुगन्धश्च तथापि-श्मशानवीथ्यां जात इव चम्पकवृक्षः अनभिगमनीयो लोकस्य। भवति! एषा पुनः का फुल्लप्रावारकप्रावृता उपानद्युगलनिक्षिप्त-तैल-चिक्कणाभ्यां पादाभ्यामुच्चासनोपविष्टा तिष्ठति?)

चेटी—अज्ज! एसा क्खु अम्हाणं अज्जआए अत्तिआ। (आर्य! एषा खल्वस्माकम् आर्याया माता)।

विदू—अहो! से अपवित्तडाइणीए पोट्टवित्थारो। ता किं एदं पवेसिअ महादेवं विअ दुआरसोहा इध घरे णिम्मिदा?। (अहो! अपवित्रडाकिन्या उदरविस्तारः। तत् किम् एतां प्रवेश्य महादेवमिव द्वारशोभा इह गृहे निर्म्मिता?)

चेटी—हदास! मा एव्वं उवहस अम्हाणं अत्तिअं। एसा क्खु चाउ-

सुन्दरः (तैलादिसम्पर्कात्) सुगन्धः=सुगन्धिधारणात्। श्मशानवीथ्याम्=श्मशानमार्गे जातः=उत्पन्नः चम्पकवृक्षः=प्रसिद्धवृक्षविशेषः अनभिगमनीयः=अस्पृश्यः (अपवित्रत्वात्) लोकस्य=जनस्य फुल्लेन=नवीनत्वादसङ्कुचितेन प्रावारकेण=उत्तरीयवस्त्रेण प्रावृता=आच्छादिता उपानद्युगले=चर्मपदत्राणद्वयाभ्यन्तरे निक्षिप्तौ=न्यस्तौ तैलचिक्कणौ च ताभ्यां पादाभ्याम् (इत्थम्भूतलक्षणे इति तृतीया) उच्चासनोपविष्टा=उर्ध्वासनोपरिस्थिता तिष्ठति=उपविशति।

चेटीति—आर्यायाः=वसन्तसेनायाः।

गणिकात्वेन सर्वसाधारणोपभुक्तत्वात्=अपवित्रा पिशाचीवत् नानामायाश्रयत्वात् डाकिनी च बोध्या। उदरस्य विस्तारः=उदरस्थौल्यम् अतिगौरत्वात् पीनोदरत्वाच्च महादेवसाम्यम्।

चेटी इति—एषा=वसन्तसेनामाता चातुर्थिकेन=एतन्नामकज्वरेण (ज्वरोऽयं

लिए अस्पृश्य है। (दूसरी ओर देखकर) अजी यह दूसरी कौन है, जो विकसित वस्त्र से आच्छन्न है तथा दोनों जूतों में तेल देने से स्वच्छ चरणों से ऊँचे आसन पर बैठी हुई है?

चेटी—आर्य! यह वसन्तसेना की माता है।

विदूषक—अरे! इस अपवित्र पिशाचिनी का कितना बड़ा पेट है। तब क्या इसे (वसन्तसेना की माता को) प्रविष्ट कराकर शिवजी के समान इस घर की द्वार शोभा का निर्माण हुआ है?

चेटी—हाय! हम लोगों की माता का इस प्रकार उपहास न कीजिये।

त्थिएण पीड़ीअदि । (हताश !· मैवमुपहस अस्माकं मातरम् । एषा खलु चातु-र्थिकेन पीड्यते)

विदू—(सपरिहासम्) भअवं चाउत्थिअ ! एदिणा उवआरेण मं वि वम्हणं आलोएहि । (भगवन् ! चातुर्थिक ! एतेनोपचारेण मामपि ब्राह्मणमा-लोकय)

चेटी—हदास ! मरिस्ससि । (हताश ! मरिष्यसि)

विदू—(सपरिहासम्) दासीए धीए ! वरं ईदिसो सूण–पीण–जठरो मुदो ज्जेव । (दास्याः पुत्रि ! वरम् ईदृशः शूनपीनजठरो मृत एव)

सीहु–सुरासव–मत्तिआ एआवत्थं गदा हि अत्तिआ ।
जइ मरइ एत्थ अत्तिआ भोदि सिआल–सहस्स–जत्तिआ ॥ २९ ॥
(सीधुसुरासवमत्ता एतावदवस्थां गता हि माता ।
यदि म्रियते अत्र माता भवति शृगालसहस्रयात्रा ॥ २९ ॥)

प्रतिचतुर्थदिवसं भवति) चतुर्थेन (दिवसेन निर्वृत्तः चातुर्थिकः तेन) पीड्यते । अतः इदानीं पूर्वापेक्षयाऽतिक्षीणा ।

एतेन = स्थौल्यसम्पादकेन (चातुर्थिकेन ज्वरेण) उपचारेण=सेवया माम् = विदूषकम् अवलोकय = कृपया पश्य (येनाहमपि वसन्तसेनामातेव लम्बोदरो भवामीत्युपहसति ।

चेटी इति—हताश ! मरिष्यसि (त्वमेव) आक्रोशगर्भोऽयमुपहासः ।

विदू इति—शूनम् = फुल्लम् (शोथादिकारणेन) पीनम् = स्वभावतः स्थूलम् जठरं यस्य स तादृशः जनः मृत एव वरम् । स्थौल्येन गन्तुं स्थातुमप्यसमर्थत्वा-दिति भावः ।

अन्वयः—सीधुसुरासवमत्ता माता एतावदवस्थाम् गता हि अत्र माता यदि म्रियते शृगालसहस्रयात्रा भवति ।

सीध्विति—सीधुः = पक्वेक्षुरसनिर्मितः आसवः=अपक्वेक्षुरसनिर्मितः सुरा =

यह चातुर्थिक (चौथिया बीमारी) से पीड़ित हैं ।

विदूषक—(परिहास के साथ) भगवन् ! चातुर्थिक ! इसी उपचार से मुझ ब्राह्मण की ओर भी दृष्टि फेरिए ।

चेटी— अरे ! मर जाओगे ।

विदूषक—(परिहास के साथ) दासी की लड़की ! इस प्रकार शुभ्र एवं विशाल पेट वाले का मर जाना ही उत्तम है ।

'सीधु, सुरा और आसव', इन तीन प्रकार के मद्यपान से मतवाली वसन्त-

भोदि ! किं तुम्हाणं जणवत्ता वहन्ति ? । (भवति ! किं युष्माकं यानपात्राणि वहन्ति ?)

चेटी—अज्ज ! णहि णहि । (आर्य ! नहि नहि)

विदू—किवा एत्थ पुच्छीअदि। तुम्हाणं क्खु पेम्मणिम्मलजले मअण-समुद्दे त्थण-णिअम्ब-जहणा-ज्जेव जाणवत्ता मणहरणा। एव्वं वसन्तसेणाए बहुवुत्तन्तं अपट्टपओट्ठं भवणं पेक्खिअ, जं सच्चं जाणामि, एकत्थंविअ तिविट्ठअं दिट्टं। पसंसिदुं णत्थि मे वाआविहवो। किं दाव गणआघरो ? अधवा कुबेरभवणपरिच्छेदो त्ति ?। कहिं तुम्हाणं अज्जआ ? । (किंवा अत्र पृच्छयते ? युष्माकं खलु प्रेमनिर्म्मलजले मदनसमुद्रे

शालिषष्टिकपिष्टादिकृतं मद्यम् तैः=पूर्वोक्तान्नाविधैः मद्यैः मत्ता=विवेकशून्या माता=वसन्तसेनायाः जननी एतावदवस्थाम्=स्थौल्येन गन्तुं स्थातुमप्यसामर्थ्यंदशाम् गता=प्राप्ता हि=निश्चयेन अत्र=अस्मिन् काले यदि माता=वसन्तसेनाजननी म्रियते तदा अस्याः शरीरेण श्रृगालसहस्रस्य=जम्बुकसहस्रस्य यात्रा=भोजनोत्सवः भवति। अतोऽस्याः मरणमेव वरमिति भावः। उपजातिविशेषः इति पृथ्वीधरः ॥

सरलार्थः—सीधुसुरासवैः तन्नामविशेषैः मद्यैः मत्ता यदा माता वसन्तसेनाया इति शेषः। ईदृशीं पीनत्वादिरूपामवस्थां प्राप्ता यद्यस्मिन् काले म्रियते तदा श्रृगालसहस्राणां भोजनोत्सवो भवेत् अर्थात् मांसलं देहं प्राप्य श्रृगालानां विशेषतः प्रीतिर्भवतीति भावः ॥ २९ ॥

भवतीति—यानपात्राणि=शकटादीनि वहन्ति=वाणिज्यार्थं चलन्ति किम् ? अन्यथा कथमियान् विभवविस्तारः तव स्यादिति भावः।

चेटी इति—नहि नहि=यानपात्राणि नात्र वहन्तीत्यर्थः।

अत्र किं पृच्छ्यते=यानपात्रवहनविषये किमपि प्रष्टव्यं नास्ति प्रेमैव=मोहात्मकप्रेमैव

सेना की माता इस प्रकार स्थूल हो गई हैं। यदि यहाँ इनकी मृत्यु हो जाय तो हजारों शृगालों का भोजनोत्सव हो जाय ॥ २९ ॥

अजी ! क्या आप लोग गाड़ी वगैरह चलाती हैं।

चेटी—आर्य ! ऐसी बात नहीं है।

विदूषक—इन गाड़ी आदि के विषय में क्या पूछना है ! कामदेवरूपी सागर के निर्मल जल में कुच, नितम्ब, जंघा ही आप लोगों की मनोहर गाड़ियाँ हैं। बहुत प्रकार के मानव, पशु पक्षीयुक्त वसन्तसेना का आठ प्रकोष्ठ देखकर मुझे

सचमुच विश्वास हो गया है कि मैंने एक ही जगह स्वर्ग, मर्त्य एवं पाताल

स्तननितम्बजघनान्येव यानपात्राणि मनोहराणि । एवं वसन्तसमाया बहुवृत्तान्तम् अष्टप्रकोष्ठं भवनं प्रेक्ष्य, यत् सत्यं जानामि; एकस्थमिव त्रिविष्टपं दृष्टम् । प्रशंसितुं नास्ति मे वाचाविभवः । किं तावत् गणिकागृहम् ? अथवा कुबेरभवनपरिच्छेदः ? इति । कस्मिन् युष्माकमार्या ?)

चेटी—अज्ज ! एसा रुक्खवाड़िआए चिट्ठदि । ता पविसदु अज्जो । (आर्य ! एषा वृक्षवाटिकायां तिष्ठति । तत प्रविशतु आर्यः)

विदू—(प्रविश्य दृष्ट्वा च) हीही भो ! अहो रुक्खवाड़िआए सस्सिरिअदा । अच्छरीदि-कुसुमपत्थारा रोविदा अणेअपादवा णिरन्तर-पादवतल-णिम्मिदा जुवदिजण-जहणप्पमाणा पट्टदोला, सुवण्णजुधिआ-सेहालिआ-मालई-मल्लिआ णोमालिआ-कुरवआ-अदिमोत्तअ-प्पहुदिकुसुमेहिं

निर्म्मलं जलं यस्मिन् तस्मिन् मदनः = काम एव समुद्रः = सागरः तस्मिन् (अपारागाधत्वादिगुणयोगात्) । मनोहराणि = सुन्दराणि स्तननितम्बजघनानि एव यानपात्राणि पोतपात्राणि (तदवलम्बेनैव मदनाब्धेः पारसम्भवात्) बहवो वृत्तान्ताः— पक्षिप्रभृतीनां क्रिया यस्मिन् तत् अष्टौ अष्टसंख्याकाः प्रकोष्ठाः = श्रेणयः यत्र तत्र तादृशं भवनम् = गृहम् प्रेक्ष्य = अवलोक्य त्रयाणाम् = स्वर्गमर्त्यपातालाख्यानाम् विष्टपानां = लोकानाम् समाहारः त्रिविष्टपम् = त्रिभुवनम् एकस्थमिव = एकत्रीकृतमिव दृष्टम् इति सत्यम् । इदं गणिकागृहम् = वसन्तसेनाख्यवेश्यागृहम् उत कुबेरभवनपरिच्छेदः = कुबेरगृहखण्डः इति एकतरं निश्चित्य वक्तुं नास्ति वाचाविभवः = वाक्पटुता । अत्र सन्देहस्य कदापि निरसनाभावात् शुद्धसन्देहालङ्कारः ।

चेटीति—एषा = वसन्तसेनाया स्वामिनी ।

लोकमय त्रिभुवन को देख लिया है । मेरी वाणी में इसकी प्रशंसा करने की शक्ति नहीं है । क्या यह वेश्या का घर है ? अथवा कुबेर-भवन समीप हो गया है ? आपकी आर्या वसंतसेना कहाँ है ?

चेटी—आर्य ! यह वसन्तसेना उद्यान में बैठी हुई हैं । आप उद्यान में प्रवेश करें ।

विदूषक-(प्रवेश कर और देखकर) अहा ! उद्यान में कैसी अपूर्व छटा है । निर्मल विकासोन्मुख पुष्पों का समूह है, अनेक वृक्ष लगाए गये हैं, युवतियों के जंघा की ऊँचाई के अनुकूल रस्सी का झूला सघन वृक्षों के नीचे बनाया गया

सअं णिवडिदेहिं जं सच्चं लहु करेदि विअ णन्दणवणस्स सरिस्सरीअदं। (अन्यतोऽवलोक्य) इदो अ उदअन्त–सूरसमप्पहेहिं कमलरत्तोप्पलेहिं। सज्झाअदि विअ दीहिआ। (हीही भोः! अहो वृक्षवाटिकायां सश्रीकता!। बच्छरीतिकुसुमप्रस्ताराः रोपिता अनेकपादपाः, निरन्तर-पादपतल-निर्म्मिता युवति-जन-जघनप्रमाणा पट्टदोला, सुवर्णयूथिका-शेफालिका-मालती–मल्लिका–नवमल्लिका-कुरवकातिमुक्तकप्रभृतिकुसुमैः स्वयं निपतितैर्यत्सत्यं लघूकरोतीव नन्दनवनस्य सश्रीकताम्। इतश्च उद्यमान सूर-समप्रभैः कमलरक्तोत्पलैः सन्ध्यायते इव दीर्घिका)

अवि अ (अपि च)—

एसो असोअबुच्छो णवणिग्गम–कुसुम–पल्लवो भादि।
सुभडो व्व समरमज्झे घण–लोहिद–पंक–चच्चिक्को ॥३०॥

सश्रीकता = शोभाशालिता अच्छा = असङ्कीर्णा रीतिः = अवस्थानभङ्गिः येषां ते तादृशाः कुसुमानाम् = पुष्पवृक्षाणाम् प्रस्ताराः = समुदायाः (अत्रोद्याने सन्तीति भावः) अनेके = बहुप्रकाराः पादपाः = फलवृक्षा आम्रादयः (अपि) रोपिताः निरन्तराः = अन्तरशून्याः (घनाः) ये पादपास्तेषां तले = अधः प्रान्ते निर्म्मिता = रचिता (अतस्तत्रातपासम्भवः) युवतिजनस्य = तारुण्यपूर्णनारीलोकस्य जघनम् = कटिपुरोभागः प्रमाणम् = उच्चैस्त्वे समानम् यस्याः सा (कटिप्रमाणमुच्चा, तेन उत्प्लवनं विनापि युवतिभिरश्रमेणारोढुं शक्या इति भावः) एवम्भूता पट्टस्य = क्षौमसूत्रस्य (विनिर्मिता) दोला = प्रेङ्खा (अस्तीति) सुवर्णयूथिका = शेफालिका नीलिका (शृङ्गारहारो वा) मालती = जातिः नवमल्लिका च कुरवकश्च पुष्पविशेषो अतिमुक्तकम् = माधवीलतापुष्पम् तत्प्रभृतिभिः कुसुमैः = पुष्पैः = स्वयं निपतितैः = त्रोटनासम्भवात् पूर्णरूपेण परिणतत्वाद्वायुस्पर्शाभावेऽपि बन्धशैथिल्यादधः पतितैः नन्दनवनस्य = नन्दनाख्येन्द्रोद्यानस्य सश्रीकताम् = शोभाम् लघूकरोतीव = अलघुम् लघुम् करोतीति भावः। सूरः=सूर्यः तस्य समा = सदृशी प्रभा = कान्तिर्येषां तैः कमलैः = कमलसामान्यैः रक्तोत्पलैश्च रक्तपद्मैः दीर्घिका = वापी सन्ध्यायते = सन्ध्या इवाचरतीति भावः।

है। सुवर्णयूथिका, शेफालिका, मालती, मल्लिका, नवमल्लिका, कुरवक, माधवीलता आदि कुसुमों की छटा सचमुच में नंदनवन की शोभा को तिरस्कृत कर रही है। (दूसरी ओर देखकर) इस ओर तो उदय होते हुए सूर्य के समान कान्ति वाले लाल कमल के द्वारा तालाब की छटा संध्या के तुल्य हो रही है।

और भी—युद्ध भूमि में, सघन रक्त के पङ्क से लिप्त योद्धाओं के समान

(एषोऽशोकवृक्षो नवनिर्गतकुसुमपल्लवो भाति ।
सुभट इव समरमध्ये घनलोहितपङ्कचर्चितः) ॥ ३० ॥

भोदु, ता कहिं तुम्हाणं अज्जआ ? । (भवतु । तत् कस्मिन् युष्माक-मार्य्या)

चेटी—अज्ज ! ओणमेहि दिट्ठिं; पेक्ख अज्जअं । (आर्य्य ! अवनमय दृष्टिम्, प्रेक्षस्व आर्याम्)

विदू—(दृष्ट्वा उपसृत्य) सोत्थि भोदिए । (स्वस्ति भवत्यै)

वसन्त—अये ! मैत्रेयः । (उत्थाय) स्वागतम् । इदमासनम्, अत्रोपविश्यताम् ।

विदू—उवविसदु भोदी । (उभावुपविशतः) (उपविशतु भवती)

वसन्त—अपि कुशलं सार्थवाहपुत्रस्य ? ।

अन्वयः—समरमध्ये घनलोहितपङ्कचर्च्चितः सुभट इव नवनिर्गतकुसुम-पल्लव एषः—अशोकवृक्षः भाति ।

एष इति—समरमध्ये = युद्धभूमौ घनैः = गाढैः लोहितपङ्कैः = रुधिरकर्दमैः चर्चिका=लेपनम् यस्य तादृशः सुभटः = योद्धा इव एषः = दृश्यमानः नवनिर्गतानि = नवोत्पन्नानि कुसुमानि = पुष्पाणि पल्लवाः = नवपत्राणि च यस्य स तादृशः अशोक-वृक्षः भाति = शोभते । गाथा छन्दः ॥ ३० ॥

सरलार्थः—समरमध्ये गाढरुधिरलिप्तगात्रयोद्धा इव नूतननिर्गतपुष्पपल्लवः अग्रे वर्त्तमानः अशोकवृक्षः शोभते ॥ ३० ॥

वसन्त इति–अये-सम्भ्रमार्थकमव्ययम् यद्यपि वसन्तसेनायाः स्त्रीत्वात् प्राकृत-भाषयैव भाषणं युज्यते तथापि—'योषित्सखीबालवेश्याकितवाप्सरसां तथा ।

नवीन उत्पन्न पुष्प एवं किसलय से युक्त यह अशोक वृक्ष सुशोभित हो रहा है ॥ ३० ॥

अच्छा तो आप लोगों की आर्या, वसन्तसेना कहाँ ?

चेटी—आर्य ! अपनी दृष्टि नीचे की ओर कीजिए तथा आर्या को देखिए ।

विदूषक—(देखकर और समीप जाकर) आपका कल्याण हो ।

वसन्तसेना—अरे मैत्रेय ! (उठकर) स्वागत है । यह आसन है इस पर आप बैठिए ।

विदूषक—श्रीमतीजी बैठ जाँय । (दोनों बैठते हैं)

वसन्तसेना—आर्य चारुदत्त तो कुशल से हैं न ?

विदू—भोदि ! कुशलं । (भवति ! कुशलम्)

वसन्त—आर्य्य ! मैत्रेय ! अपीदानीम्—

गुणप्रवालं विनयप्रशाखं विस्रम्भमूलं महनीयपुष्पम् ।
तं साधुवृक्षं स्वगुणैः फलाढ्यं सुहृद्विहङ्गाः सुखमाश्रयन्ति ? ॥३१॥

विदू—(स्वागतम्) सुट्ठु उवलक्खिदं दुट्ठविलासिणीए । (प्रकाशम्) अध इं । (सुष्ठु उपलक्षितं दुष्टविलासिन्या । अथ किम् ?)

वैदग्ध्यार्थं प्रदातव्यं संस्कृतं चान्तरान्तरा' इति दर्पणोक्तः वैदग्ध्यप्रदर्शनार्थं तथा प्रयोगः ।

वसन्त इति—सार्थवाहपुत्रस्य = वणिक्सुतस्य ।

अन्वयः—सुहृद्विहङ्गाः गुणप्रवालम् विनयप्रशाखं विस्रम्भमूलम् महनीयपुष्पम् स्वगुणैः फलाढ्यं तं साधुवृक्षम् सुखम्, आश्रयन्ति ॥ ३१ ॥

गुणेति = सुहृदः = बान्धवजनाः विहङ्गाः = पक्षिणः (आश्रयग्रहणेन) गुणाः = शौर्योदार्यादयः एव प्रवालाः = नवकिसलयानि यस्य तम् विनयः = नम्रता एव प्रशाखा यस्य तम् विस्रम्भः = विश्वासः एव मूलम् सर्वावलम्बतया (हेतुः यस्य तम् महनीयम् = पूज्यम् (एव) पुष्पम् आकर्षकत्वेनेति शेषः) यस्य तम् स्वगुणैः = दयादाक्षिण्यपरोपकारादिभिः फलाढ्यम् = फलसहितम् तम् = प्रसिद्धम् साधुः एव वृक्षः छायादानेन फलदानेन च अन्यत्र आश्रयदानेन विश्वोपकारकरणेन च) तम् सुखं यथा स्यात्तथा आश्रयन्ति = अवलम्बन्ते किमित्यर्थः । उपजातिर्वृत्तम् ॥३१॥

सरलार्थः—बन्धुविहङ्गाः स्वगुणैः फलयुक्तं साधुवृक्षं गुणपल्लवं विनयशाखकं विश्वासमूलं महनीयपुष्पं सानन्दम् आश्रित्य वर्त्तन्ते ॥ ३१ ॥

दुष्टः = कृत्रिमत्वात् त्याज्यः विलासः = प्रेम अस्ति अस्याः इति दुष्टविलासिनी

विदूषक—हाँ, कुशल से हैं ।

वसन्तसेना—आर्य मैत्रेय ! इस समय भी—

उदारता आदि गुण जिसके पल्लव हैं, नम्रता ही विनम्र शाखाएँ हैं, विश्वास ही जड़ है, गौरव पुष्प है, परोपकार आदि अपने गुण ही से जो फलवान् हो रहा है उस चारुदत्त रूपी उत्तम वृक्ष पर मित्ररूपी पक्षियाँ क्या अब भी सुखपूर्वक निवास करती हैं ? ॥ ३१ ॥

विदूषक—(मन में) कुटिल विलासिनी वेश्या ने ठीक अनुमान किया है । (प्रकट) हाँ ?

वसन्त—अये ! किमागमनप्रयोजनम् ?

विदू—सुणादु भोदी। तत्तभवं चारुदत्तो सीसे अञ्जलिं कदुअ भोदिं विण्णवेदि। (शृणोतु भवती। तत्रभवान् चारुदत्तः शीर्षे अञ्जलिं कृत्वा भवतीं विज्ञापयति)

वसन्त—(अञ्जलिं बद्ध्वा) किमाज्ञापयति ?

विदू—मए तं सुवण्णभण्डअं विस्सम्भादो अत्तणकेरकेत्ति कदुअ जूदे हारिदं। सो अ सहिओ राअवात्थहारी ण जाणिअदि कहिं गदो त्ति। (मया तत् सुवर्णभाण्डं विस्रम्भादात्मीयमिति कृत्वा द्यूते हारितम्। स च सभिको राजवार्ताहारी न ज्ञायते कुत्र गत इति)

चेटी—अज्जए ! दिट्ठिआ वड्ढसि। अज्जो जूदिअरो संवुत्तो (आर्ये ! दिष्ट्या वर्द्धसे। आर्यो द्यूतकरः संवृत्तः)

वसन्त—(स्वगतम्) कधं चौरेण अवहिदं पि सोण्डीरदाए जूदे

तथा = गणिकया वसन्तसेनया सुष्ठु = सम्यक् उपलक्षितम् = वितर्कितम् (चारुदत्तस्योपर्युक्तगुणशालित्वादेवेयमुक्तिः)।

विदू इति—शीर्षं अञ्जलिं कृत्वा = नमस्कारपूर्वकम्।

विदू इति—मया=चारुदत्तेन तत् = त्वदीयम् सुवर्णभाण्डम्=स्वर्णपात्रम् विस्रम्भात् = हारितेऽपि तस्मिन् न तव रोषः स्यादिति विश्वासात् आत्मीयम् = ममैवेदमिति मत्वा द्यूते हारितम्। अहं मूल्यं ददामि द्यूताध्यक्षात् तदानीय मह्यमर्प्यतामित्याशङ्क्याह-स च-इति सभिकः = द्यूताध्यक्षः राज्ञः वार्ताहारी=दूतः अतः कुत्र गतः इति न ज्ञायते।

वसन्तसेना—अच्छा, आपके आने का कारण क्या है ?

विदूषक—सुनिये; आर्य चारुदत्त मस्तक पर अञ्जलि रखकर आप से निवेदन करते हैं।

वसन्तसेना—(हाथ जोड़कर) क्या आज्ञा करते हैं ?

विदूषक—विश्वास से उस सुवर्ण के आभूषण को अपना समझ कर, मैं उसे जुए में हार गया और जुआ का सभाध्यक्ष वह राजदूत न मालूम कहाँ चला गया। (अतः उसी आभूषण को खरीद कर कैसे दे सकता हूँ ?)

चेटी—आर्य ! बड़ी विचित्र बात है। आर्य चारुदत्त जुआड़ी हो गए हैं।

वसन्तसेना—(अपने मन में) चोरों से भी चुराए गए आभूषण

हारिदंत्ति भणादि । अदो ज्जेव कामीअदि । (कथं चौरेणापहृतमपि शौण्डीरतया द्यूते हारितमिति भणति । अत एव काम्यते)

विदू—ता तस्स कारणादो गेण्हदु भोदी इमं रअणावलिं । (तत् तस्य कारणात् गृह्णातु भवती इमां रत्नावलीम्)

वसन्त—(आत्मगतम्) किं दंसेमि तं अलङ्कारअं ?। (विचिन्त्य) अधवा ण दाव । (किं दर्शयामि तमलङ्कारकम् ? अथवा न तावत्)

विदू—किं दाव ण गेण्हदि भोदी एदं रअणावलिं ?। किं तावत् न गृह्णाति भवती एतां रत्नावलीम् ?)

वसन्त—(विहस्य सखीमुखं पश्यन्ती) मित्तेअ ! कधं ण गेण्हिस्सं रअणावलिं । (इति गृहीत्वा पार्श्वे स्थापयति । स्वगतम्) कधं झीणकुसुमादो वि सहआरपादवादो मअरन्दविन्दओ णिवडन्ति । (प्रकाशम्) अज्ज ! विण्णवेहि तं जूदिअरं मम वअणेण अज्जचारुदत्तं–'अहं पि पदोसे अज्जं पेक्खिदुं आअच्छामि' त्ति । (मैत्रेय ! कथं न ग्रहीष्यामि रत्नावलीम् ?। कथं

शौण्डीरतया = उदारतया (अन्यथा चौरेणापहारे आत्मनो दोषाभावेऽपि चोरितद्द्रव्यस्य प्रत्यर्पणमुचितं न स्यादिति अत एव द्यूते हारितमिति कथने आत्मनो दोषं दर्शयति, इति विशेषशौण्डीर्यदर्शनादेव धनिनं विहाय अयमेव मया काम्यते = रन्तुमीप्स्यते ।

विदू इति—तस्य = सुवर्णभाण्डस्य ।

वसन्त इति—यथा कुसुमहीनसहकारपादपान्मकरन्दबिन्दुपतनम् आश्चर्यं तथा विभवविहीनचारुदत्ताद्रत्नावलीसम्प्राप्तिः इत्याशयः प्रदोषे = सन्ध्यासमये ।

को उदारता के कारण वे कहते हैं कि जुए में हार गए । इसीलिए तो मैं उन्हें चाहती हूँ ।

विदूषक—तो उसके कारण आप यह रत्नावली ले लें ।

वसन्तसेना—(मन में) क्या उस आभूषण को दिखला दूं ? (विचार कर) अथवा नहीं दिखलाऊँगी ।

विदूषक—तो क्या आप इस रत्नावली को नहीं लेती हैं ?

वसन्तसेना—(हंसकर सखी का मुख देखती हुई). मैत्रेय ! मैं रत्नावली क्यों न लूँगी ? (लेकर बगल में रखकर मन ही मन क्या मंजरियों से रहित आम के वृक्ष से भी मकरन्द की बूंद चूती है ? (प्रकट) मेरी ओर से उस

हीनकुसुमादपि सहकारपादपात् मकरन्दबिन्दवो निपतन्ति । आर्य ! विज्ञापय तं द्यूतकरं मम वचनेन आर्यं चारुदत्तम—'अहमपि प्रदोषे आर्यं प्रेक्षितुमागच्छामि' इति)

विदू—(स्वगतम्) किं अण्णं । तहिं गदुअ गेण्हिस्सदि । (प्रकाशम्) भोदि ! भणामि (स्वगतम्) णिअत्तीअदु गणिआप्पसङ्गादो त्ति । (इति निष्क्रान्तः) (किमन्यत् । तस्मिन् गत्वा ग्रहीष्यति । भवति ! भणामि । निवर्त्ततामस्माद् गणिकाप्रसङ्गात् इति)

वसन्त—हञ्जे ! गेण्ह एदं अलङ्कारअ, चारुदत्तं अहिरमिदुं गच्छम्ह । (हञ्जे ! गृहाणैतमलङ्कारम्, चारुदत्तमभिरन्तुं गच्छामः)

चेटी—अज्जए ! पेक्ख पेक्ख, उण्णमदि अकालदुद्दिणं । (आर्ये ! प्रेक्षस्व, उन्नमति अकालदुर्दिनम्)

किमन्यत् = रत्नावलीतोऽधिकम् तस्मिन् = चारुदत्तसमीपे ग्रहीष्यति । न किमपीति तदाशयः भवति । भणामि = तवागमनवार्तां चारुदत्तं निवेदयिष्यामि (स्वगतम् = स्वमनसि) निवर्त्तताम् = पराङ्मुखतां भज गणिकायाः=वसन्तसेनायाः प्रसङ्गात् = संसर्गात् इत्यहं चारुदत्तं भणिष्यामि-इति गर्भितवाक्यमेतदिति !

चेटी इति—अकाले=असमये दुर्दिनम्=घनान्धकारो वृष्टिर्वा (घनान्धकारे वृष्टौ च दुर्दिनं कवयो विदुः, इति सिद्धान्तः) उन्नमति = उत्पद्यते इदानीं गमनं नोचितमिति भावः ।

जुआड़ी आर्य चारुदत्त से निवेदन करना कि—'सूर्यास्त के बाद मैं भी आर्य को देखने आऊँगी' !

विदूषक—(मन में) और क्या हो सकता है, आर्य चारुदत्त के पास जाकर कुछ लेगी । और (प्रकट) कह दूंगा । (स्वगत) (कह दूँगा कि) आप वेश्या के संसर्ग को छोड़ दें । (चला गया)

वसन्तसेना—प्रिय चेटी ! इस रत्नावली को रक्खो । हम लोग आर्य चारुदत्त से रमण करने के लिए चलती हैं ।

चेटी—आर्ये ! देखिये तो यह असमय में काली घटाएँ उठ रही हैं ।

वसन्त—

उदयन्तु नाम मेघाः, भवतु निशा, वर्षमविरतं पततु।
गणयामि नैव सर्वं दयिताभिमुखेन हृदयेन ॥ ३२ ॥

हञ्जे हारं गेण्हिअ लहुं आअच्छ। (हञ्जे! हारं गृहीत्वा लघु आगच्छ)

इति निष्क्रान्ताः सर्वे।

इति मदनिका-शर्विलको नाम चतुर्थोऽङ्कः समाप्तः।

अन्वयः—मेघाः उदयन्तु नाम दिशा भवतु अविरतम् वर्षम् पततु दयिताभिमुखेन हृदयेन सर्वं नैव गणयामि।

उदयन्त्विति—मेघनिशावर्षाणि बहुविघ्नबाधाम् उपस्थापयन्तु किन्तु तत्सर्वम् दयितासक्तचित्ततया नाहं गणयामीत्याशयः। अतस्तत्रावश्यं गमिष्यामीति पर्यवसितोऽर्थः। आर्याजातिः ॥ ३२ ॥

सरलाऽर्थः—मेघा उदयन्तु नाम निरन्तरं वृष्टिः पततु तथापि वल्लभोत्कण्ठितहृदयेन तत्सवनैवं गणयामीति भावः ॥ ३२ ॥

हञ्जे इति—लघु = शीघ्रम्।

अत्राङ्के मदनिकाशर्विलकयोराख्यानस्यैव प्रधान्यादस्याङ्कस्य मदनिकाशर्विलक इति नाम।

इति चतुर्थोऽङ्कः।

वसन्तसेना—काली घटाएँ भले ही घिर आवें, रात्रि हो जाय, अविरल जल वर्षा होती रहे, फिर भी प्रियतम के प्रति उत्कंठित हृदयवाली मैं इन सब बाधाओं को कुछ भी नहीं समझ सकती हूँ। (अर्थात् कितनी भी बाधाएँ आवें फिर भी मैं आज सायंकाल आर्य चारुदत्त से अवश्य मिलूंगी) ॥ ३२ ॥

चेटी—उस हार को लेकर शीघ्र आओ।

(सभी चली गयीं)

चतुर्थ अंक समाप्त।

पञ्चमोऽङ्कः

ततः प्रविशति आसनस्थः सोत्कण्ठश्चारुदत्तः ।

चारु—(ऊर्ध्वमवलोक्य) उन्नमत्यकालदुर्दिनम् । यदेतत्—

आलोकितं गृहशिखण्डिभिरुत्कलापैः
हंसैर्यियासुभिरपाकृतमुन्मनस्कैः ।
आकालिकं सपदि दुर्दिनमन्तरीक्षम्
उत्कण्ठितस्य हृदयञ्च समं रुणद्धि ॥ १ ॥

तत इति—आसनस्थस्य प्रवेशः सभ्यानां दृष्टिगोचरतारूपः बोध्यः ।

चारु इति—अकालदुर्दिनम् = असमयमेघाच्छन्नमहः ।

अन्वयः—उत्कलापैः गृहशिखण्डिभिः आलोकितम् यियासुभिः उन्मनस्कैः हंसैः अपाकृतम् आकालिकं दुर्दिनम् सपदि अन्तरीक्षम् उत्कण्ठितस्य हृदयम् च समम् रुणद्धि ।

आलोकितमिति—उत्कलापैः=ऊर्ध्वमुत्थापितपुच्छैः गृहशिखण्डिभिः=पालितबर्हिभिः आलोकितम् = सस्पृहमीक्षितम् यियासुभिः = आवासं जिगमिषुभिः (गन्तुमिच्छद्भिः) उन्मनस्कैः=मानससरोवरं गमनाय उत्सुकैः हंसैः अपाकृतम्=निरस्तम् आकालिकम् = असमयोत्पन्नम् एतत् दुर्दिनम् = मेघाच्छन्नान्धकारः सपदि=झटिति अन्तरीक्षम् = नभः उत्कण्ठितस्य = विरहिणः हृदयम् च समम् = सहैव रुणद्धि = आवृणोति धैर्यमवधूय तरलयतीति च । स्वदशाणेव प्रकारान्तरेण वर्णयति । दीपकालङ्कारः यतोऽत्र मेघोदयस्याधारत्वेनान्तरीक्षम् प्रस्तुतम् उत्कण्ठितस्य हृदयञ्च प्रस्तुतम् अनयोः रुणद्धि इत्येकया क्रियया कर्मतयाभिसम्बन्धाद्दीपकम् । वसन्ततिलका छन्दः । अस्मिन्नङ्के षष्ठाङ्के च गर्भसन्धिः—

फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन ।
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान् मुहुः ॥

(इसके बाद आसन पर बैठे हुए उत्कण्ठित चारुदत्त का प्रवेश)

चारुदत्त—(ऊपर की ओर देखकर) यह असमय में काली घटाएँ उठ रहीं हैं । जो ये—

जिस दुर्दिन में ऊपर की ओर पूँछ फैलाए हुए गृहमयूर आदर पूर्वक देखे जाते हैं तथा मानसरोवर जाने के लिए उत्सुक एवं उन्मन हंस उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते हैं, वही असामयिक मेघ से आच्छन्न दिन सहसा [illegible]

अपि च—

मेघो जलार्द्रमहिषोदरभृङ्गनीलो
विद्युत्प्रभा-रचित-पीत-पटोत्तरीयः ।
आभाति संहतबलाक-गृहीतशङ्खः
खं केशवोऽपर इवाक्रमितुं प्रवृत्तः ॥ २ ॥

तत्समन्वयश्च यथा परस्परमिलनरूपफलस्य प्राधानीभूत उपायः परम्परानुरागः स च कथञ्चिदुद्भिन्नः (प्रकटितः) अत्र पञ्चमाङ्केऽनुपदमेव विदूषकमुखाद्वसन्तसेनायाः स्वाभिसरणवार्ताश्रवणात् स समुद्भिन्नः, दुर्दिनाच्च तस्य (अनुरागस्य) ह्रासः, वसन्तसेनायाः पुनः साक्षाद्दर्शनादुद्भेदः, दक्षिणाक्षिस्पन्दनादिना च पुनर्ह्रासः, 'नाद्यापि आगच्छति' इत्यनेन चारुदत्तस्यान्वेषणम् 'अज्ज मित्तेअ कहिं तुम्हाणं दूदिक्खरि' इत्यनेन च वसन्तसेनाया अन्वेषणम् तथा चात्र कार्यस्य (मिलनरूपस्य) पश्चात्तु आरम्भयत्नादिषु प्राप्त्याशा नाम तृतीया कार्यावस्था तल्लक्षणम्-'उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्तिसम्भवः' इति दर्पणे ॥ १ ॥

सरलार्थः—ऊर्ध्वंसारितपुच्छैः गृहपालितमयूरैः सस्पृहं दृष्टं तथा मानसरोवरं गन्तुमिच्छुभिः अन्यमनस्कैः मरालैः अनभिनन्दितं दुर्दिनं कर्तृ असमयोत्पन्नमेघ इति यावत् आकाशं वियोगिनो हृदयञ्च सहसा आवृणोति पक्षान्तरे प्रियार्थमधीरीकरोतीति भावः ॥ १ ॥

अन्वयः—जलार्द्रमहिषोदरभृङ्गनीलः, विद्युत्प्रभारचितपीतपटोत्तरीयः संहतबलाकगृहीतशङ्खः मेघः अपरः केशवः इव खम् आक्रमितुम् प्रवृत्तः ।

मेघ इति—जलेन = सलिलेन आर्द्रस्य=क्षालितदेहस्य महिषस्य उदरम् भृङ्गश्च तद्वन्नीलः = श्यामः (आर्द्रावस्थायाधिकक्ष्णत्वप्रतीतिर्भवति इति जलार्द्रेति विशेषणम्) विद्युत्प्रभया = तडित्प्रभया रचितम् = कृतम् पीतपट इव उत्तरीयं येन सः तथा संहता = संगता बलाका = बकपङ्क्तिर्यस्मिन् सः संहतबलाकः गृहीतः शङ्खो येन सः संहतबलाकः गृहीतशङ्ख इव मेघः = वारिवाहः अपरः = द्वितीयः केशवः वामनरूपी इव खम् = आकाशम् आक्रमितुम् = व्याप्तुम् प्रवृत्तः=उद्यतः । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ २ ॥

उत्कंठित मनुष्य के हृदय को साथ ही अवरुद्ध कर रहा है। (अर्थात् मेघ आकाश में घिरे हैं इधर प्रिया से मिलने के लिए कामुकों का हृदय भी अधीर हो उठा है)।

और भी—जल से सिक्त महिष के पेट के समान एवं भ्रमर के समान कृष्ण वर्ण का मेघ, बिजली की कांति से निर्मित पीतांबर धारण कर साथ में बकपंक्ति-

अपि च—

केशवगात्रश्यामः, कुटिल-बलाकावली-रचित-शङ्खः।
विद्युद्गुणकौशेयश्चक्रधर इवोन्नतो मेघः ॥ ३ ॥

एता निषक्तरजतद्रवसन्निकाशा धारा जवेन पतिता जलदोदरेभ्यः।

सरलार्थः—जलसिक्तमहिषोदरव्यासभ्रमरवन्नोलः तडिद्विकासविहितपीतवसनोत्तरीयश्च पुनः पुञ्जीभूतबलाकारूपं शङ्खं धृत्वा गगनमपि व्याप्तुं द्वितीयनारायण इव वामन इति यावत् मेघः उद्यतः सन् विराजितः ॥ २ ॥

अन्वयः—केशवगात्रश्यामः कुटिलबलाकावलीरचितशङ्खः विद्युद्गुणकौशेयः मेघः चक्रधरः इव उन्नतः।

भङ्गचन्तरेण पुनरपि तमेवार्थमाह—केशव इति—केशवस्य = विष्णोः गात्रवत् = शरीरवत् श्यामः = नीलः कुटिला = वक्रव्रजनशीला या बलाकावली = बकश्रेणी सा एव रचितः = धृतः शङ्खः येन सः। विद्युद्गुणः = तडित्सूत्रम् = कौशेयम् = चीनवस्त्रम् (कृमिकोशोद्भवम्) यस्य स मेघः चक्रधर इव कृष्ण इव उन्नतः = गगने समुत्थितः। अत्र केशवेत्यादिप्रथमचरणे विद्युद्गुणेत्यादिद्वितीयचरणे च लुप्तोपमाद्वयम् चक्रधर इवेति चतुर्थचरणे श्रौती उपमा। एषामङ्गाङ्गिभावेन संकरः। आर्या जातिः ॥ ३ ॥

सरलार्थः—श्रीकृष्णवन्नीलः वक्रगमनशीलबकपङ्क्तिधृतशङ्खः तडिद्रूपसूत्रनिर्मितक्रिमिकोशजपटः जलधरः विष्णुरिव आकाशे उत्थितः ॥ ३ ॥

अन्वयः—निषिक्तरजतद्रवसन्निकाशाः जलदोदरेभ्यः पतिताः एताः धाराः विद्युत्प्रदीपशिखया क्षणनष्टदृष्टाः अम्बरपटस्य छिन्नाः दशाः इव जवेन पतन्ति।

एता इति—निषिक्ताः = अनलौषधियोगेन तरलीकृताः रजतद्रवाः=द्रवीभूतरौप्याणि तत्सन्निकाशाः=तत्तुल्याः (अतिशुभ्रा इति भावः)। जलदोदरेभ्यः = मेघ-

---

रूपी शंख लिए हुए वामनरूपी दूसरे विष्णु के समान वह आकाश में व्याप्त होने के लिए प्रवृत्त हो गया है ॥ २ ॥

और भी—

विष्णु की मूर्ति के समान कृष्णवर्ण, वक्र बकपंक्ति से निर्मित शङ्ख तथा बिजली के सूत्र से निर्मित पीताम्बर धारण कर मेघ, विष्णु के समान आकाश में उठ रहा है ॥ ३ ॥

टपकते हुए चाँदी के द्रव के समान, मेघ के गर्भों से [illegible]

विद्युत्प्रदीपशिखया क्षणनष्टदृष्टाश्छिन्ना इवाम्बरपटस्य दशाः पतन्ति ॥४॥

संसक्तैरिव चक्रवाकमिथुनैर्हंसैः प्रडीनैरिव
व्याविद्धैरिव मीनचक्रमकरैर्हर्म्यैरिव प्रोच्छ्रितैः ।
तैस्तैराकृतिविस्तरैरनुगतैर्मेघैः समभ्युन्नतैः
पत्रच्छेद्यमिवेह भाति गगनं विश्लेषितैर्वायुना ॥ ५ ॥

मध्येभ्यः पतिताः = च्युताः एताः धाराः = जलसंपाताः विद्युदेव = तडिदेव प्रदीपशिखा = दीपाग्रज्योतिः तया क्षणे = विद्योतनाभावसमये नष्टाः = तिरोहिताः पुनः विद्योतनसमये दृष्टाः = अवलोकिताः अम्बरम् = गगनमेव पटः = वस्त्रम् तस्य छिन्नाः दशाः = प्रान्तसूत्राणि इव जवेन = वेगेन पतन्ति पृथिव्यामिति भावः । अत्र रूपकम् निरङ्गं केवलरूपकम् च 'अम्बरं व्योम्नि वाससि' इत्यमरप्रामाण्यात् अम्बरस्य पटसमानार्थतयाऽऽपाततः पौनरुक्त्येऽपि पर्यवसाने आकाशार्थत्वेन तत्प्रत्ययात्पुनरुक्तवदाभासोऽलङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ४ ॥

सरलार्थः—द्रवीभूतरजतसन्निभाः मेघजठरेभ्यः विच्युताः एताः विगलिताः वारिधाराः विद्युद्दीपज्वालया विद्युदुन्मेषाभावसमये अदर्शनं गताः पुनः तडित्प्रकाशसमये अवलोकिताः आकाशवस्त्रस्य त्रुटिताः प्रांतभागा इव भूतले क्षरतीति भावः ॥ ४ ॥

अन्वयः—वायुना विश्लेषितैः संसक्तैः चक्रवाकमिथुनैः इव प्रडीनैः हंसैः इव व्याविद्धैः मीनचक्रमकरैः इव प्रोच्छ्रितैः हर्म्यैः इव तैः तैः आकृतिविस्तरैः अनुगतैः समभ्युन्नतैः मेघैः गगनम् इह पत्रच्छेद्यम् इव भाति ।

संसक्तैरिति—वायुना = पवनेन विश्लेषितैः=विभेदं कृत्वा इतस्ततः परिक्षिप्तैः संसक्तैः = संगतैः (मिलितैः) चक्रवाकमिथुनैः=चक्रवाकदम्पतिभिः प्रडीनैः=उड्डयनं कुर्वद्भिः (उड्डीयमानैः) हंसैरिव व्याविद्धैः = मंदरादोलानादुत्थितैः मीनचक्रैः = मत्स्यसमवायैः, मकरैः=ग्राहैः तथा प्रोच्छ्रितैः=अत्युन्नतैः हर्म्यैः=धनिकप्रासादैरिव तैस्तैः=पूर्वोक्तैरन्यैश्च आकृतीनाम्=स्वरूपाणाम् विस्तरो येषु तैः अनुगतैः=पश्चाद्गतैः समभ्युन्नतैः=समुत्थितैः मेघैः=बलाहकैः गगनम्=व्योम इह = इदानीम् पत्रच्छेद्य-

---

गिर रही है । बिजलीरूपी दीपशिखा के द्वारा कभी तो ये दृष्टिगोचर होती हैं और कभी अदृश्य सी हो जाती हैं । ये जलधाराएँ ऐसी प्रतीत होती हैं मानो आकाशरूपी फटे वस्त्र से सूत गिर रहे हों ॥ ४ ॥

कहीं संयुक्त चक्रवाक के जोड़े के सदृश, अन्यत्र उड़ते हुए हंस के समान, समुद्रमंथन के वेग से निकले हुए बड़े २ मीन-समूह तथा मकर के समान, [illegible]-

मित भवन के तुल्य-वायु से संचालित विविध आकार-प्रकार के बने हुए उन्नत

एतत्तद्धृतराष्ट्रचक्रसदृशं मेघान्धकारं नभो
हृष्टो गर्जति चातिदर्पितबलो दुर्योधने वा शिखी।
अक्षद्यूतजितो युधिष्ठिर इवाध्वानं गतः कोकिलो
हंसाः सम्प्रति पाण्डवा इव वनादज्ञातचर्यां गताः॥ ६॥

मिव = आलेख्यलिखितमिव (चित्रितमिव) भाति = राजते। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ ५॥

सरलार्थः—परस्परमिलितैः चक्रवाकयुगलैरिवश्यामतया दृश्यमानैरिति यावत्। क्वचित् शुभ्रत्वात् उत्पतितैः मरालैरिव क्वचित् समुद्रमथनकालिकोत्पतितमत्स्यसमूहमकरैरिव कुत्रचित् समुन्नतैः प्रासादैरिव तैस्तैराकारभेदबहुलैः वातेन विभिन्नतां गतैः मेघैः आकाशतलम् आलेख्यमिव शोभते॥ ५॥

अन्वयः—सम्प्रति मेघान्धकारम् एतत् नभः तद्धृतराष्ट्रचक्रसदृशम् हृष्टः अतिदर्पितबलः दुर्योधनः वा शिखी गर्जति कोकिलः अक्षद्यूतजितः इव युधिष्ठिरः अध्वानम् गताः पाण्डवा इव हंसा वनात् अज्ञातचर्यां गताः।

एतदिति—सम्प्रति = अधुना मेघैः = बलाहकैः अन्धकारः = तमः यस्मिन् तत् एतत्=मेघाच्छन्नम् नभः = गगनम् तस्य = प्रसिद्धस्य धृतराष्ट्रस्य = दुर्योधनपितुः चक्रसेदृशम् = राज्यतुल्यम्, (नेत्रविहीनत्वात्, आकाशस्य चन्द्रार्कहीनत्वात्) हृष्टः = पाण्डवापसरणेन सन्तुष्टः (अन्यत्र) मेघागमनेन अतिदर्पितम् = अखर्वगर्वशालि (अन्यत्र) अतिगर्वयुक्तं बलं यस्य सः दुर्योधनः = धृतराष्ट्रज्येष्ठसुतः वा = इव शिखी = मयूरः गर्जति = केकां करोति। कोकिलः = पिकः अक्षेण = पाशकेन द्यूतम् = क्रीडनम् तत्र जितः युधिष्ठिरः = पाण्डुसुत इव अध्वानम् = शब्दरहितम् (निर्जनस्थानम्) अन्यत्र (सुदूरमार्गम् गत, एकत्र वसन्तापगमात्, अपरत्र पणेहारितत्वात्) पाण्डवाः=युधिष्ठिरादय इव हंसाःवनात् = द्वैताख्यवनात् (अन्यत्र) ग्राम्यजलाशयात् अज्ञात् = दुर्योधनादिभिरविदिते विराटराज्ये (अन्यत्र) साधारणजनैरविदिते मानससरोवरे चर्याम् = निवासम् गताः = सम्प्राप्ताः। अत्र आर्थी

मेघ से, पत्र में चित्र बनाए हुए के सदृश आकाश सुशोभित हो रहा है॥ ५॥

(इस श्लोक में दुर्योधन के राज्य की तथा वर्षाकाल की अवस्था का एक साथ ही वर्णन किया है) असंयत दुर्योधन के राज्य के समान मेघ का अन्धकार आकाश में छा गया है। अत्यन्त अहङ्कार के साथ (राज्यपक्ष में) दुर्योधन या (मेघपक्ष में) मयूर प्रसन्न होकर गर्जन कर रहा है। (वर्षाकल में मयूर अति प्रसन्न दिखाई पड़ते हैं) जुए में हारे युधिष्ठिर के समान कोकिलाएँ वनपथ की ओर चली गई! (वर्षाकाल में कोकिलाएँ कूकना बन्द कर

(विचिन्त्य) चिरं खलु कालो मैत्रेयस्याः वसन्तसेनायाः सकाशं गतस्य, नाद्यापि आगच्छति ।

विदूषकः—(प्रविश्य) अहो ! गणिआए लोभो अदक्खिणदा अ, जदो ण कधावि किदा अण्णा अणाअरेण ज्जेव अभणिअ किपि एवमेव गहिदा रअणावली । एत्तिआए ऋद्धीए ण तत्र अहं भणिदो, 'अज्ज मित्तेअ ! वीसमीअदु मल्लकेण पाणीअं पि पिविअ गच्छीअदु त्ति । ता मा दाव दासीए धीआए गणिआए मुहं पि पेक्खिस्सं (सनिर्वेदम्) सुट्ठु क्खु बुच्चदि 'अकन्दससुत्थिदा पउमिणी, अवञ्चओ, वाणिओ अचोरो सुवण्ण-आरो, अकलहो गामसमागमो, अलुद्धा गणिआ' त्ति, दुक्करं एदे संभावी-अन्ति । ता पिअवअस्सं गदुआ इमादो गणिआ-पसङ्गादो णिवत्तावेमि । (परिक्रम्य दृष्ट्वा) कध पिअवअस्सो रुक्खवाडिआए उवविट्ठो चिट्ठदि; ता जाव उवसप्पामि । (उपसृत्य) सोत्थि भवदे, वड्ढदु भवं अहो ! गणि-

---

उपमालङ्कारः पूर्णोपमा च अनपेक्षिततया संसृष्टिश्च । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥६॥

सरलार्थः—मेघध्वान्तछन्ननभः पुरो दृश्यमानं धृतराष्ट्रसैन्यसदृशं तथा मेघस-न्दर्शनजानन्दितात्यन्तगर्वितमयूर इव अथवा अत्यन्तसैन्यबलदर्पितदुर्योधन इव प्रसन्न सन् स्वपौरुषम् उच्चैः वदति । मयूरपक्षे शब्दायते इति यावत् । पाशक्रीडा पराजितयुधिष्ठिर इव मौनतां गतः कोकिल इव जलदागमसमये मरालाः पाण्डवा इव वनं प्राप्य अज्ञातगमना जाता इति भावः ॥ ६ ॥

देती हैं) इस समय हंसगण वन से पाण्डवों के समान अज्ञातवास के लिये चले गए । (वर्षाकाल के आगमन में हंस मानसरोवर चले जाते हैं) ॥ ६ ॥

(सोचकर) वसन्तसेना के पास गए हुए मैत्रेय को बहुत देर हो गई, किन्तु अभी तक नहीं लौटे ।

विदूषक—(आकर) अरे वसन्तसेना का लोभ और अनुदारता भी कैसी है कि आभूषण के सिवा उसने दूसरी बात भी न की । अनादरपूर्वक बिना कुछ कहे ही यों ही उसने रत्नावली ले ली । इतनी सम्पत्तिशालिनी होते हुए भी उसने मुझसे यह नहीं कहा कि—'आर्य मैत्रेय ! विश्राम कर लो, पात्र द्वारा पानी पीकर जाओ' इत्यादि । अतः अधम वेश्या—बालिका का मुख भी न देखना चाहिए । (दुःखी होकर) ठीक ही कहा हुआ है—मूल के बिना कमलिनी, धूर्तता के बिना बनिया, चोरी से रहित सोनार, विवादरहित गँवारों का समागम तथा

कायाः लोभः अदक्षिणता च, यतो न कयाऽपि कृता धन्या। अनादरेणैव अभणित्वा किमपि एवमेव गृहीता रत्नावली। एतावत्या ऋद्धया न तया अहं भणितः-आर्य मैत्रेय! विश्रम्यताम्, मल्लकेन पानीयमपि पीत्वा गम्यतामिति। तद् मा तावत् दास्याः पुत्र्या गणिकाया मुखमपि प्रेक्षिष्ये। सुष्ठु खलु उच्यते—'अकन्दसमुत्थिता पद्मिनी, अवञ्चको वणिक्, अचौरः सुवर्णकारः, अकलहो ग्रामसमागमः, अलुब्धा गणिका' इति, दुष्करमेते सम्भाव्यन्ते। तत् प्रियवयस्यं गत्वा अस्मात् गणिकाप्रसङ्गात् निवर्तयामि। कथं प्रियवस्यो वृक्षवाटिकायामुपविष्टस्तिष्ठति; तद्यावदुपसर्पामि। स्वस्ति भवते, वर्द्धतां भवान्।

चारु—(विलोक्य) अये! सुहृन्मे मैत्रेयः प्राप्तः। वयस्य! स्वागतम्, आस्यताम्।

विदू—उवविट्ठोम्हि। (उपविष्टोऽस्मि)

चारु—वयस्य! कथय तत् कार्यम्।

अदक्षिणता = कार्पण्यम् अभणित्वा=अकथयित्वा (का आवश्यकता एतद्दानस्येति) ऋद्धया = ऐश्वर्येण तया = वसन्तसेनया मल्लकेन = लघुपात्रविशेषेण मा तावत् = नैव कन्दात् = मूलात् समुत्थिता=उत्पन्ना न कन्दसमुत्थिता = मूलं विनैव समुत्पन्ना अकलहः = विरोधशून्यः ग्रामाणाम्=ग्राम्याणाम् (अत्र तात्स्थ्यानिमित्तिका लक्षणा) ग्रामस्थानामिति भावः, समागमः सम्मेलनम्। मूलं विनैव समुत्पन्ना पद्मिनी वञ्चनाहीनो वणिक् चौर्यरहितः सुवर्णकारः विवादरहितः ग्रामस्थलोकसमागमः लोभहीना गणिका एतत्सर्वंसम्भवमिति भावः।

चारु इति—तत् खलु कार्यम् = वसन्तसेनायै, रत्नावलीप्रदानात्मकं कार्यम् यथोक्तम् तथा कृतम्।

निर्लोभ वेश्या का होना सर्वथा असम्भव है। इसलिए प्रिय मित्र चारुदत्त से चलकर वेश्या के संसर्ग से विमुख रहने के लिए कहता हूँ। (घूमकर और देखकर) क्या प्रिय मित्र! उद्यान में बैठे हुए स्थित हैं। तब तक उनके पास चलूँ। (समीप जाकर) आपका कल्याण हो, आप उन्नतिशील बनें।

चारुदत्त—(देखकर) अरे मेरे मित्र आ गये! सखे! स्वागत है। आइए बैठिए।

विदूषक—बैठ गया हूँ।

चारुदत्त—सखे! उस कार्य के विषय में कहिये।

विदू—तं क्खु कज्जं विणट्ठं। (तत् खलु कार्यं विनष्टम्)

चारु—किं तया न गृहीता रत्नावली ? !

विदू—कुदो अम्हाणं एत्तिअं भाअधेअं ? णव-णलिण-कोमलं अञ्जलि मत्थए कदुअ पडिच्छिआ। (कुतः अस्माकमेतावद् भागधेयम् ? नव नलिन—कोमलमञ्जलिं मस्तके कृत्वा प्रतीष्टा)

चारु—तत् किं ब्रवीषि विनष्टमिति ?

विदू—भो ! कधं ण विणट्ठं ? जं अभुत्तस्स अपीदस्स चोरेहिं अवहिदस्स अप्पमूल्लस्स सुवण्णभण्डअस्स कारणादो चदुस्समुद्द-सारभूदा रअणमाला हारिदा। (भोः ! कथं न विनष्टम् ? यत् अभुक्तस्य अपीतस्य चौरैरपहृतस्य अल्पमूल्यस्य सुवर्णभाण्डकस्य कारणात् चतुःसमुद्रसारभूता रत्नमाला हारिता)

चारु—वयस्य ! मा मैवम्।

यं समालम्ब्य विश्वासं न्यासोऽस्मासु तया कृतः।
तस्यैतन्महतो मूल्यं प्रत्ययस्यैव दीयते ॥ ७ ॥

विदू इति—नवनलिनवत् = सद्यः प्रस्फुटितपद्मकलिकावत् कोमलम् = मनोहरं सुकुमारञ्च अञ्जलिं कृत्वा = विधाय प्रतीष्टा = स्वीकृता।

यमिति—व्याख्यातमेव पूर्वमेतत्पद्यम्।

सरलार्थः—वसन्तसेनया च विश्वासं समाश्रित्यमादृशेषु अलङ्कारनिक्षेपः विहितः तस्यामितमूल्यस्य विश्वासस्यैव रत्नावलीरूपं वस्तु निष्क्रयम् समर्प्यते ॥ ७ ॥

विदूषक—वह कार्य तो नष्ट हो गया।

चारुदत्त—क्या उसने रत्नावली नहीं ली ?

विदूषक—हम लोगों का ऐसा भाग्य कहाँ है ? कमल-कलिका सी सुकुमार अंजलि मस्तक पर रखकर उसे ग्रहण कर लिया।

चारुदत्त—तब क्या कहते हो कि कार्य नष्ट हो गया ?

विदूषक—अरे ! कैसे नहीं कार्य नष्ट हो गया ! जिससे कुछ काम नहीं लिया, उपभोग नहीं किया, चोरों से अपहरण किए उस अल्प मूल्यवाले आभूषण के लिए चारों सागर की सार वस्तु रत्नावली को खो दिया।

चारुदत्त—सखे ! ऐसी बात नहीं है—

जिस विश्वास के सहारे उसने हमारे यहाँ धरोहर रक्खा है, उस विश्वास के लिए यह मूल्यवती रत्नावली दी जा रही है ॥ ७ ॥

विदू—भो वअस्स ! एदं पि मे दुदिअं सन्तावकारणं, जं सहीअण—दिण्ण–सण्णाए पडन्तोवारिवं मुहं कदुअ, अहं उवहसिदो, ता अहं वम्हणो भविअ दाणि भवन्तं सीसेण पडिअ विण्णवेमि। णिवत्तीअदु अप्पा इमादो वहु–पञ्चवाआदो गणिमापसङ्गादो। गणिआ णाम, पादुअन्तर–प्पविठ्ठा विअ लट्टुआ दुक्खेण उण णिराकरीअदि। अविअ, भो वअस्स ! गणिआ, हत्थी, काअत्थओ, भिक्खु चाटो, रासहो अ, जहिं एदे णिवसन्ति, तहिं दुट्टा वि ण जाअन्ति। (भो वयस्य ! एतदपि मे द्वितीयं सन्तापकारणम्, यत् सखीजन–दत्त–संज्ञया पटान्तापवारित मुखं कृत्वा अहमुपहसितः तदहं ब्राह्मणो भूत्वा इदानीं भवन्तं शीर्षेण पतित्वा विज्ञापयामि निवर्त्यतामात्मा अस्मात् बहुप्रत्यवायात् गणिकाप्रसङ्गात्। गणिका नाम, पादुकान्तरप्रविष्टा इव लेष्टुका, दुःखेन पुनर्निराक्रियते। अपि च भो वयस्य ! गणिका, हस्ती, कायस्थः, भिक्षुः, चाटः, रासभश्च, यत्र एते निवसन्ति, तत्र दुष्टा अपि न जायन्ते)

चारु—वयस्य ! अलमिदानीं सर्वं परिवादमुक्त्वा; अवस्थयैवास्मि निवारितः। पश्य—

विदू इति—सन्तापकारणम्=दुःखहेतुः सखीजनेषु दत्ता=कृता संज्ञा हांससङ्केतः यया तया पटस्य=वारितवस्त्रस्य अञ्चलेन=प्रान्तभागेन अपवारितम्=आवृतम् उपहसितः=उपहासं प्रापितः बहवः प्रत्यवायाः=दोषाः यस्मिन् तस्मात् लेष्टुका=लघुलोष्ठकम् निराक्रियते=अपक्रियते निष्काश्यत इति भावः। कायस्थः=मिथ्या-लेखकः चाटः=क्षुद्रविषयभोक्ता इति पृथ्वीधरः, शठ इति, भट्टाचार्यः, दुष्टा अपि= दोषपूर्णा अपि न जायन्ते=न संगता भवन्ति। दोषाधिक्यसम्भवनादिति।

चारु इति—परिवादम्=कलङ्कम् (दोषमिति वा)अवस्थयैव=दारिद्र्येणैव निवा-

---

विदूषक—हे मित्र ! हमारे दुःख का दूसरा कारण यह भी है कि सखियों को संकेत दे अंचल से मुख ढँक कर उसने हमारा उपहास किया। इसलिए मैं ब्राह्मण होकर भी इस समय आपके चरणों पर अपना मस्तक रखकर आप से निवेदन करता हूँ कि अतिविघ्न स्वरूप इस वेश्या-प्रसङ्ग से आप विमुख हो जाँय। वेश्या जूते में पड़ी हुई कंकड़ों के समान है, जो बड़ी कठिनाई से निकाली जा सकती है। हे मित्र ! जहाँ वेश्या, हाथी, कायस्थ, भिक्षुक, शठ और गधे रहते हैं वहाँ साधुओं को कौन कहे, दुष्टजन भी नहीं जाते हैं।

चारुदत्त—मित्र ! इस समय इन निन्दा–वाक्यों को कहना व्यर्थ है ?

वेगं करोति तुरगस्त्वरितं प्रयातुं
प्राणव्ययान्न चरणास्तु तथा वहन्ति ।
सर्वत्र यान्ति पुरुषस्य चलाः स्वभावाः
खिन्नास्ततो हृदयमेव पुनर्विशन्ति ॥ ८ ॥

अपि च—वयस्क !

यस्यार्थास्तस्य सा कान्ता, धनहार्यो ह्यसौ जनः ।

रितः = वेश्यासंसर्गाद् दूरीकारितः । राजभोग्या वेश्या अकिञ्चनत्वात् स्वत एव मया सा न संगंस्यते इति ।

अन्वयः—तुरगः त्वरितं प्रयातुं वेगं करोति चरणाः प्राणव्ययात् तथा न वहन्ति चलाः पुरुषस्य स्वभावाः सर्वत्र यान्ति ततः खिन्नाः सन्तः पुनः हृदयम् एव विशन्ति ।

वेगमिति—तुरगः = वाजी त्वरितम् = शीघ्रम् प्रयातुम् = गन्तुम् वेगम् द्रुतगतिम् करोति चरणास्तस्य पादाः प्राणव्ययात् = सत्त्वनाशात् तथा = वेगेन न वहन्ति = न चलन्ति चलाः = चञ्चलाः पुरुषस्य = जनस्य स्वभावाः = चित्तवृत्तयः सर्वत्र = साध्यासाध्यवस्तुषु यान्ति = गच्छन्ति ततः खिन्नाः सन्तः = असाध्याभिषङ्गेण श्रान्ताः सन्तः पुनः हृदयमेव विशन्ति । अत्र सामान्याद्विशेषस्य चारुदत्तस्य प्रतीतेरप्रस्तुत-प्रशंसा दृष्टान्तोऽलङ्कारश्च । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ८ ॥

सरलार्थः—अश्वः शीघ्रतया गन्तुं जवं विधत्ते किन्तु तदीयाश्चरणाः प्राणनाशमः शङ्कय तथा वेगेन न चलन्ति पुरुषस्य चपला मनोवृत्तयः साध्येष्वसाध्येषु च धावन्ति । ततः श्रान्ताः सन्तः हृदय एव लयं गच्छन्ति ॥ ८ ॥

अन्वयः—यस्य अर्थाः (सन्ति) सा तस्य कान्ता हि असौ जनः धनहार्यः (स्वोक्तं 'धनहार्यः' इति वाक्यं मिथ्या मत्वा तत्परिहरन्नाह—नेति ।) न हि असौ जनः गुणहार्यः, वयम् अर्थैः परित्यक्ता अतः मया त्यक्तैव ननु ।

यस्येति—यस्य = जनस्य अर्थाः = धनानि (सन्ति) सा = वसन्तसेनाख्या तस्य =

दरिद्रता के कारण ही मैं वेश्याओं से विमुख हूँ । देखो—

अश्व शीघ्र भागने के लिए उत्सुक होता है किन्तु परिश्रम से बलक्षीण होने के कारण उसके पैर उतने वेग से नहीं चलते हैं । मनुष्य की चंचल मनोवृत्तियाँ तो सर्वत्र जाती हैं किन्तु उसे वस्तुतः कर सकने से असमर्थ होने से पुनः वे (मनोवृत्तियाँ) उसके हृदय में ही विलीन हो जाती हैं ॥ ८ ॥

और भी मित्र !

जिसके पास धन है, उसकी वसन्तसेना है । क्योंकि यह वेश्या धन से ही

(स्वगतम्) न, गुणहार्यो ह्यसौ जनः। (प्रकाशम्)
वयमर्थैः परित्यक्ताः, ननु त्यक्तैव सा मया ॥ ९ ॥

विदू—(अधोऽवलोक्य स्वगतम्) जधा एसो उद्धं पेक्खिअ दीहं णिस्ससदि, तधा तक्केमि मए विणिवारिअन्तस्स अधिअदरं वड्ढिदा से उक्कण्ठा। ता सुट्ठु क्खु एव्वं वुच्चदि–'कामो वामो' त्ति। प्रकाशम्) भो वअस्स! भणिदं अ ताए–'भणेहि चारुदत्तं अज्ज पओसे मए एत्थ आ-अन्तव्वं' त्ति। ता तक्केमि रअणावलीये अपरितुट्टा अवरं मग्गिदुं आअमिस्सदि' त्ति।

स्सदि त्ति। (यथा एष ऊर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं निःश्वसिति; तथा तर्कयामि-मया निवार्यमाणस्य अधिकतरं वृद्धा अस्य उत्कण्ठा। तत् सुष्ठु खल्वेवमुच्यते 'कामो

अर्थवतः जनस्य कान्ता = रमणी हि=यतः असौ जनः वसन्तसेनाख्यः धनेन=अर्थेन हार्यः=स्वाधीनतां कर्तुं योग्यः। किन्तु वसन्तसेनायामलुब्धायां गुणलुब्धायामेतत्कथनमपवादरूपमिति मत्वा वदति–न=धनहार्यं इति प्रोक्तं तथा असौ जनः=वसन्तसेनानामकः गुणैः=दयादाक्षिण्यादिभिः हार्यः। वयम् अर्थैः=धनैः परित्यक्ताः=रहिताः। अतः मया चारुदत्तेन त्यक्ता एव ननु। अत्र सा मया त्यक्तैवेति वाक्यार्थं प्रति अर्थाभावस्य कारणत्वेनोपन्यासात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः। अत्राभूताहरणं नाम नर्मसन्ध्यङ्गम्–'तत्र व्याजाश्रयं वाक्यमभूताहरणं मतम्' इति दर्पणोक्तेः प्रकाशे धनहार्यः स्वगते गुणहार्यं इति व्याजाश्रयणात्। वयम् मयेति वचनभेदाद्भग्नप्रक्रमता ॥९॥

सरलाऽर्थः–यस्य जनस्य धनानि सन्ति तस्य जनस्य वसन्तसेना रमणी यस्मात् वसन्तसेनारूपो जनः धनेन स्वाधीनीकर्त्तव्यः। वयश्च धनैः हीना अतः एव निर्धनेन मया सा परित्यक्तैवेति भावः ॥ ९ ॥

मया = विदूषकेण निवार्यमाणस्य = वसन्तसेनासंसर्गात् निवारणं क्रियमाणस्य

वस में की जा सकती है। (मन में) नहीं यह तो गुण के वशीभूत हो सकती है। (प्रकट) हमलोग तो धनहीन हैं, अतः निश्चय ही वसन्तसेना मुझ से स्वयं परित्यक्ता ही है ॥ ९ ॥

विदूषक—(नीचे देखकर, मन में) यह ऊपर की ओर देखकर दीर्घ निःश्वास लेता है, अतः मैं अनुमान करता हूँ कि हमारे मना करने पर इसकी उत्कण्ठा और भी वेगवती हो गई। तब यह ठीक ही कहा हुआ है कि कामदेव प्रतिकूल है। (प्रकट) हे मित्र! उसने कहा भी है कि—'आर्य चारुदत्त से कह देना कि आज सूर्यास्त के बाद मैं यहाँ आऊँगी'। इसलिए मैं सो

वामः' इति । भो वयस्य ! भणितञ्च तया 'भण चारुदत्तम्—अद्यप्रदोषे मया अत्र आगन्तव्यम्' इति, तद् तर्कयामि रत्नावल्या अपरितुष्टा अपरं मार्गयितुमागमिष्यतीति)

चारु—वयस्य ! आगच्छतु, परितुष्टा यास्यति ।

चेटः—(प्रविश्य) अवेध माणहे (अवेत मानवाः' !)

जधा जधा वश्शदि अब्भखण्डे तधा तधा तिम्मदि पुट्ठिचम्मे ।
जधा जधा लग्गदि शीदवादे तधा तधा वेवदि मे हलक्के ॥ १० ॥

(प्रहस्य)

वंशं वाए शत्तछिद्दं शुशद्दं वीणं वाए शत्ततन्त्तिं णदन्तिं ।
गीअं गाए गद्दहश्शाणुलूअं के मे गाणे तुम्बुलू णालदे वा ॥ ११ ॥

यथा यथा वर्षति अभ्रखण्डम्, तथा तथा तिम्यति पृष्ठचर्म ।
यथा यथा लगति शीतवातस्तथा तथा वेपते मे हृदयम् ॥ १० ॥

अस्य = चारुदत्तस्य वृद्धा = वृद्धिं प्राप्ता 'कामो वामः = कामः सर्वथा प्रतिकूल एव भवति । अत्र विदूषककर्तृकचारुदत्तनिष्ठवसन्तसेनोत्कण्ठानुमानात् क्रमो नामगर्भसन्धेरङ्गम्—तथाहि 'भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रमः स्यात्' इति दर्पणे । मार्गयितुम् = असन्तोषात् अन्यदपि याचितुमिति भावः ।

चेटी इति—अवेत = जानीत । वसन्तसेनाभृत्यकुम्भीलकस्येयमुक्तिः ।

यथेति—अभ्रखण्डम् =(मेघमाला) यथा यथा वर्षति तथा तथा पृष्ठचर्म (ममेति शेषः) तिम्यति = आर्द्रतां प्राप्नोति यथा यथा शीतवातः लगति (शरीरे इति शेषः) तथा तथा मे हृदयम् वेपते (कम्पते) उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ १० ॥

सरलार्थः—मेघखण्डः यथा यथा वर्षति तथा तथा मम पृष्ठचर्म आर्द्रीभवति । एवं यथा यथा शीतलो वायुः गात्रं स्पृशति तथा तथा ममान्तःकरणं कम्पते ॥१०॥

अनुमान करता हूँ कि रत्नावलीमात्र से असन्तुष्ट वह वेश्या कुछ और भी मांगने आवेगी ।

चारुदत्त—मित्र आने दो, सन्तुष्ट होकर जायगी ।

चेटी—(प्रवेश करके) मानवगण ? मेरी बातों को सुनिए ।

जैसे-जैसे मेघ खण्ड से वर्षा होती है वैसे-वैसे पीठ का चमड़ा सिक्त होता है । जैसे-जैसे शीतल हवा लगती है वैसे-वैसे मेरा हृदय कांपता है ॥ १० ॥

(हँस कर)

सात छेद वाली बांसुरी से मधुर ध्वनि निकलती है, सात तारों से बजनेवाली

वंशं वादयामि सप्तच्छिद्रं सुशब्दम्. वीणां वादयामि सप्ततन्त्रीं नदन्तीम् ।
गीतं गायामि गर्दभस्यानुरूपं को मे गाने तुम्बुरुर्नारदो वा ॥ ११ ॥

आणत्तम्हि अज्जआए वसन्तसेणाए—कुम्भीलआ ! गच्छ तुमं मम आगमणं अज्जचारुदत्तश्श णिवेदेहि'त्ति । ता जाव आज्जचारुदत्तश्श गेहं गच्छामि । (परिक्रम्य प्रविष्टकेन दृष्ट्वा) एशे चारुदत्ते रुक्खवाडिआए चिट्ठदि । एशे वि शे दुट्ठ वडुके । ता जाव उवशप्पेमि । कधं ढक्किदे दुवाले रुक्खवाडिआए । भोदु, एदश्श दुट्ठवडुकश्श शण्णं देमि । (इति लोष्टगुटिका क्षिपति) (आज्ञप्तोऽस्मि आर्यया वसन्तसेनया-'कुम्भीलक ! गच्छ त्वम्, मम, आगमनम् आर्यचारुदत्तस्य निवेदय' इति । तद् यावत् आर्यचारुदत्तस्य गेहं गच्छामि । एष चारुदत्तो वृक्षवाटिकायां तिष्ठति एषोऽपि स दुष्टबटुकः ।

अन्वयः—सप्तच्छिद्रम् सुशब्दम् वंशम् वादयामि सप्ततन्त्रीम् नदन्तीम् वीणाम् वादयामि गर्दभस्य अनुरूपम् गीतम् गायामि मे गाने तुम्बुरुः नारदः वा कः ।

वंशमिति—सप्त=सप्तसंख्यकानि छिद्राणि=रन्ध्राणि यत्र तम् सुशब्दम्=मधुरशब्दम् (श्रुतिसुखशब्दशालिनम्) वंशम्=वेणुम् वादयामि सप्त तन्त्र्यः यस्यास्ताम् सप्ततन्त्रीम् नदन्तीम्=रणन्तीम् वीणाम् वादयामि गर्दभस्य=खरस्य अनुरूपम्=समानम् गीतम्=गानम् गायामि गदामि । मम गाने तुम्बुरुः=सुरसभायाः गायकविशेषः नारदः=देवर्षिः वा कः=कोऽपि नेत्यर्थः ([illegible] प्रलपति) शालिनी वृत्तम् ॥ ११ ॥

सरलार्थः—मधुरध्वनिसप्तस्वरोत्पादकं सप्तरन्ध्रविशिष्टं वेणुं वादयामि तथा सप्तस्वरोत्पादकसप्ततन्त्रीयुक्तां वीणां च वादयामि तथा गर्दभतुल्यं गानं गायामि किन्तु गानविषये मम समीपे तुम्बुरुर्नाम गन्धर्वः तथा प्रसिद्धगायकः देवर्षिः नारदो वा कः वर्त्तते न कोऽपीति भावः ॥ ११ ॥

आज्ञप्त इति—प्रविष्टकेन=कपाट[illegible] निरीक्षणेन दुष्टबटुकः विदूषकः लोष्टगुटिकाः=लघुलोष्टकानि क्षिपति=पातयति ।

वीणा को बजाता हूँ। तथा गधे के तुल्य गाना गाता हूँ; हमारे गान के सामने प्रसिद्ध गन्धर्व तुम्बुरु तथा देवर्षि गायक-नारद भी तुच्छ हैं। ॥ ११ ॥

आर्या वसन्तसेना ने मुझे आज्ञा दी है कि—कुम्भीलक ! तुम जाओ। आर्य चारुदत्त से मेरे आगमन की सूचना देदो। अतः आर्य चारुदत्त के घर पर जाता हूँ। (घूमकर तथा किवाड़ के छिद्र से झाँक कर) यह आर्य चारुदत्त [illegible]

सद्यावदुपसर्पामि ! कथमाच्छादितं द्वारं वृक्षवाटिकायाः । भवतु, एतस्य दुष्ट-बटुकस्य संज्ञां ददामि)

विदू—आए ! को दाणिं एसो पाआरवेट्ठिदं विअ कइत्थं मं लोट्ट-कहिं ताडेदि ? । (अये ! क इदानीमेष प्राकारवेष्टितमिव कपित्थं मां लोष्टकै स्ताडयति ?)

चारु—आराम-प्रासाद-वेदिकाया क्रीडद्भिः पारावतैः पातितं भवेत् ।

विदू—दासीए पुत्त ! दुट्ठ । पारावअ ! चिट्ठ चिट्ठ, जाव एदिणा दण्ड-कट्टेण सुपक्कं विअ चुअफलं इमादो पासादादो भूमिए पाडइस्सं ।
(इति दण्डकाष्ठमुद्यम्य धावति) दास्याः पुत्र ! दुष्ट । पारावत ! तिष्ठ तिष्ठ, याव-देतेन दण्डकाष्ठेन सुपक्वमिव चूतफलम् अस्मात् प्रासादात् भूमौ पातयिष्यामि)

चारु—(यज्ञोपवीते आकृष्य) वयस्य ! उपविश । किमनेन । तिष्ठतु दयितासहितस्तपस्वी पारावतः ।

चेटः—कधं पारावदं पेक्खदि, मं ण पेक्खदि । भोदु, अवराए लोट्ट-

विदू इति—प्रकारवेष्टितम् = भित्तिवेष्टितम् ।

चारु इति—आरामस्य = वाटिकायाः या प्रासादोपरि वेदिका (पारावतानां-मेव क्रीडनकणभक्षणार्थम्) निर्मिता तस्याम् पातितम् = लोष्टकमिति शेषः ।

चारु इति—तपस्वी = वराकः (सर्वदयापात्रम्) ।

हूँ । उद्यान का दरवाजा बन्द क्यों है ? अच्छा, इस दुष्ट ब्राह्मण को इशारा दूँ । (कंकड़ी फेंकता है) ।

विदूषक—अरे ! चहारदीवारी से घिरे रहने पर भी मेरे सिर पर कौन कैथ की तरह कंकड़ी से मार रहा है ?

चारुदत्त—उपवन की अट्टालिका की कपोत—पालिका पर खेलते हुए कबूतरों ने यह गिराया होगा ।

विदूषक—अरे अधम ! दुष्ट पारावत !! ठहर, ठहर, तब तक मैं इस काठ के दण्ड से खूब पके आम के फल के समान तुम्हें इस अट्टालिका पर से नीचे भूमि पर गिराता हूँ । (काठ का दण्ड उठा कर दौड़ता है) ।

चारुदत्त—(यज्ञोपवीत पकड़ कर खींचता है) मित्र ! बैठो । इस कर्म से क्या लाभ ? अपनी प्रिया के साथ दीन कपोत को बैठने दो ।

चेट—कपोत को देखते हो और मुझे नहीं देखते । अच्छा, दूसरी कंकड़ी से पुनः मारता हूँ । (ढेला फेंकता है)

गुडिआए पुणो वि ताडइस्सं। (तथा करोति) (कथं पारावतं प्रेक्षते, मां न प्रेक्षते। भवतु, अपरया लोष्टगुटिकया पुनरपि ताडयिष्यामि)

विदू—(दिशोऽवलोक्य) कधं कुम्भीलओ ! ता जाव उपसप्पामि। (उपसृत्य द्वारमुद्घाटच) अरे कुम्भीलअ ! पविश। साअदं दे ?। ((कथं कुम्भोलक ! तद् यावदुपसर्पामि। अरे कुम्भीलक ! प्रविश। स्वागतं ते ?)

चेटः—(प्रविश्य) अज्ज ! वन्दामि। (आर्य ! वन्दे)

विदू—अरे ! कहि तुमं ईदिसे दुद्दिणे अन्धआरे आअदो !। (अरे ! कस्मिन् त्वमीदृशे दुर्दिने अन्धकारे आगतः)

चेटः—अले एशा शा। (अरे ऐषा सा)

विदू—को एसा का ?। (का एषा का ?)

चेटः—एशा शा। (एषा सा)

विदू—किं दाणिं दासीए पुत्ता ! दुब्भिक्खकाले वुड्ढरङ्को विअ उद्धकं सासाअसि 'एसा सा सा' त्ति ! (किमिदानीं दास्याः पुत्रः ! दुर्भिक्षकाले वृद्धरङ्क इव ऊर्ध्वकं श्वासायसे 'एषा सा सा' इति)

विदू इति—कस्मिन् = हेतौ दुर्दिने = मेघावृते दिने। अन्धकारे = तमसि।

विदू इति—वृद्धरङ्कः = दीनवृद्धजन इव ऊर्ध्वकं श्वासायसे = ऊर्ध्वश्वासमुच्छ्वसिषि।

विदूषक—(सभी ओर देखकर) अरे कुम्भीलक ? अच्छा तो निकट चलता हूँ। (आकर और दरवाज़ा खोलकर) अरे कुम्भीलक ? आओ, तुम्हारा स्वागत है।

चेट—(प्रविष्ट होकर) आर्य ! प्रणाम करता हूँ।

विदूषक—अरे ! किस लिए इस प्रकार के दुर्दिन अन्धकार में तुम आगये।

चेट—अरे ! यह वह है।

विदूषक—कौन वह कौन है ?।

चेट—यह वह है।

विदूषक—अरे अधम पुत्र ! इस समय क्यों दुर्भिक्षकालिक वृद्ध कृपण के समान अत्यन्त साँस ले रहे हो; 'एषा सा सा' इत्यादि कह कर ?

चेटः—अले तुमं पि दाणिं इन्द्र-मह-कामुको विअ सुट्ठु किं काका-असि 'का का' त्ति । (अरे ! त्वमपीदानीमिन्द्रमखकामुक इव सुष्ठु किं काकायसे 'का का' इति ?)

विदू—ता कहेहि । (तत् कथय)

चेटः—(स्वगतम्) भोदु, एव्वं भणिश्शं । (प्रकाशम्) अले ! पण्हं दे दइश्शं । (भवतु, एवं भणिष्यामि । अरे ! प्रश्नं ते दास्यामि)

विदू—अहं दे मुण्डे गोड़ं दइस्सं । (अहं ते मुण्डे पादं दास्यामि)
(अरे ! जानीहि तावत्, तेन हि कस्मिन् काले चूता मुकुलयन्ति ?)

विदू—अरे दासीए पुत्ता ! गिम्हे । (अरे ! दास्याः पुत्र ! ग्रीष्मे)

चेटः—(सहासम्) अले ! णहि णहि । (अरे ! नहि नहि)

विदू—(स्वगतम्) किं दाणिं एत्थ कहिस्सं ? । (विचिन्त्य) भोदु, चारुदत्त गदुअ पुच्छिस्सं । (प्रकाशम्) अरे ! मुहूत्तअं चिट्ठ । (चारुदत्त-मुपसृत्य) भो वअस्स ! पुच्छिस्सं दाव, कस्सिं काले चुआ मोलेन्ति ? ।

चेटी इति—इन्द्रोद्देश्यको मखः इन्द्रमखः तस्य कामुक=इच्छुक ! तत्रोपहृतबले रभिलाषुक इत्यर्थः । काक इवाचरसीति काकायसे । काकस्तु बलिभक्षणार्थं 'का का' इति शब्दं करोति त्वन्तु निष्कारणमेव कथं 'का-का' इति शब्दं करोषीति ।

चेटी इति—चूताः = रसालवृक्षाः मुकुलयन्ति=मुकुलं कुर्वन्ति तत्करोतीति णिच्

चेट—अरे ! तुम भी इस समय इन्द्रबलि-के-लोभी कौए के समान हो रहे हो, 'का का' इत्यादि उच्चारण करके ?

विदूषक—अच्छा कहिए ।

चेट—(मन में) तब इस प्रकार कहूँगा ? (प्रकट) अरे ! तुमसे प्रश्न पूछता हूँ ।

विदूषक—मैं तुम्हारे मस्तक पर पैर रक्खूँगा !

चेट—मैं अच्छा तो समझो, किस समय आम में मंजरियाँ लगती हैं ?

विदूषक—अरे अधमपुत्र ! गर्मी में ।

चेट—(हँस कर) नहीं नहीं यह नहीं हो सकता ।

विदूषक—(मन में) इसका क्या उत्तर देना चाहिए ? (सोचकर) अच्छा, चारुदत्त के पास जाकर पूछता हूँ । (अरे ! क्षण भर ठहरो । (चारुदत्त के

(किमिदानीमत्र कथयिष्यामि ?। भवतु चारुदत्तं गत्वा प्रक्ष्यामि। अरे मुहूर्तकं तिष्ठ। भो वयस्य ! प्रक्ष्यामि तावत् कस्मिन् काले चूता मुकुलयन्ति ?)

चारु—मूर्ख ! वसन्ते।

विदू—(चेटमुपगम्य) मुक्ख ! वसन्ते। (मूर्ख ! वसन्ते)

चेटः—दुदिअं दे पण्हं दइश्शं। शुशमिद्धाणं गामाणं का लक्खअं कलेदि ?। (द्वितीयं ते प्रश्नं दास्यामि। सुसमृद्धानां ग्रामाणां का रक्षां करोति ?)

विदू—अरे रच्छा। (अरे ! रथ्या)

चेटः—(सहासम्) अले ! णहि णहि। (अरे ! नहि नहि)

विदू—भोदु, संसए पड़िदम्हि। (विचिन्त्य) भोदु, चारुदत्तं पुणो वि पुच्छिस्सं। (पुनर्निवृत्य चारुदत्तं तथैवोदाहरति) [भवतु, संशये पतितोऽस्मि। भवतु, चारुदत्तं पुनरपि प्रक्ष्यामि]

चारु—वसस्य ! सेना।

विदू—(चेटमुपगम्य) अरे ! दासीए पुत्ता ! सेणा। (अरे ! दास्याः पुत्र ! सेना)

चेटः—अले ! दुवे बि एक्कस्शिं कटुअ शिग्घं भणाहि (अरे द्वे अपि एकस्मिन् कृत्वा शीघ्रं भण)

पास जाकर) हे मित्र ! मैं तुमसे पूछता हूँ कि किस काल में आम में मंजरियाँ लगतीं हैं ?

चारुदत्त—मूर्ख ! 'वसन्त' में।

विदूषक—(चेट के समीप जाकर) मूर्ख ! 'वसन्त' में।

चेट—अब दूसरा प्रश्न पूछता हूँ। सम्पत्ति शाली नगरों की कौन रक्षा करता है ?

विदूषक—अरे गली।

चेट—(हँसकर) नहीं-नहीं।

विदूषक—मैं तो संशय में पड़ गया हूँ। (विचार कर) अच्छा, पुनः चारुदत्त से पूछता हूँ। (पुनः चारुदत्त के पास जाकर उसी प्रकार पूछता है)

चारुदत्त—मित्र ! 'सेना'।

विदूषक—(चेट के पास पहुँच कर) अरे अधमपुत्र ! सेना।

चेट—अच्छा दोनों उत्तरों को मिलाकर जल्दी से उच्चारण करो।

विदू—सेणावसन्ते। (सेनावसन्ते)

चेटः—णं पलिवत्तिअ भणाहि। (ननु परिवर्त्य भण)

विदू—(कायेन परिवृत्य) सेणावसन्ते। (सेनावसन्ते)

चेट—अले मुक्ख वडुका! पदाइं पलिवत्तावेहि। (अरे मूर्ख वटुक पदे परिवर्त्तय)

विदू—(पादौ परिवर्त्य) सेणावसन्ते। (सेनावसन्ते)

चेटः—अले मुक्ख! अक्खलपदाइं पलिवत्तावेहि। (अरे मूर्ख! अक्षरपदे परिवर्त्तय)

विदू—(विचिन्त्य) वसन्तसेणा। (वसन्तसेना)

चेटः—एशा शा आअदा। (एषा सा आगता)

विदू—ता जाव चारुदत्तस्स णिवेदेमि। (उपसृत्य) भो चारुदत्त! धणिओ दे आअदो। (तद् यावत् चारुदत्तस्य निवेदयामि। भो चारुदत्त! धनिकस्ते आगतः)

चेटी इति—परिवर्त्य = क्रमपरिवर्तनं कृत्वा भण = कथय।

चेटी इति—पदे = सुबन्तरूपे।

विदू इति—'पदं स्थाने विभक्त्यन्ते शब्दे वाक्यैकवस्तुनोः। त्राणे पदि पादचिह्ने इत्यादि हैमबन्धनमनुसृत्य अवयवार्थकौ मत्वा चरणौ परिवर्तयति।

विदू—धनिकः = उत्तमर्णः (महाजनः)।

विदूषक—'सेना-वसन्त।'

चेट—अरे इन्हें उलट कर कहो।

विदूषक—(शरीर से बदल कर) 'सेना-वसन्त'।

चेट—अरे मूर्ख ब्राह्मण! पद परिवर्त्तन करो।

विदूषक—(चरण परिवर्त्तन करके) 'सेना-वसन्त'।

चेट—अरे मूर्ख! अक्षर का पद परिवर्त्तन करो।

विदूषक—(सोचकर) 'वसन्त-सेना'।

चेट—वही (वसन्तसेना) आई है।

विदूषक—तब आर्य चारुदत्त से कहता हूँ। (जाकर) हे चारुदत्त! आपके धनिक आए हैं।

चारु—कुतोऽस्मत्कुले धनिकः ? ।

विदू—जइ कुले णत्थि, ता दुवारे अत्थि। एसा वसन्तसेणा आअदा। (यदि कुले नास्ति, तद्द्वारे अस्ति। एषा वसन्तसेना आगता)

चारु—वयस्य ! किं मां प्रतारयसि ? ।

विदू—जइ मे वअणे ण पत्तिआअसि, ता एदं कुम्भीलअं पुच्छ। अरे दासीए पुत्ता ! कुम्भीलअ ! उवसप्प। (यदि मे वचने न प्रत्ययसे, तत् एतत् कुम्भीलकं पृच्छ। अरे दास्याः पुत्र ! कुम्भीलक ! उपसर्प)

चेटः—(उपसृत्य) अज्ज ! वन्दामि। (आर्य ! वन्दे)

चारु—भद्र ! स्वागतम्। कथय—सत्यं प्राप्ता वसन्तसेना ? ।

चेटः—एशा शा आअदा वसन्तसेणा। (एषा सा आगता वसन्तसेना)

चारु—(सहर्षम्) भद्र ! न कदाचित् प्रियवचनं निष्फलीकृतं मया। तद्गृह्यतां पारितोषिकम्। (इत्युत्तरीयं प्रयच्छति)

चारु इति—अर्थात् अस्मद्वंशे कोऽपि ऐश्वर्यशाली सम्प्रति नास्तीति भावः।

चारु इति—अस्मिन् दुर्दिने समये कठिनाङ्गस्यापि यातायातोऽसम्भवः, नवपल्लवपेलवाङ्गसङ्गिन्या वसन्तसेनायास्तु नितान्तमसम्भवं तदिति भावः। प्रतारयसि = वञ्चनां करोषि।

विदू इति—प्रत्ययसे = विश्वासं करोषि।

चारुदत्त—हमारे कुल में धनिक कौन है ?

विदूषक—यदि कुल में नहीं है, पर दरवाजे पर तो है। यह वसन्तसेना आई है।

चारुदत्त—मित्र ! क्या मुझे ठगते हो ?

विदूषक—यदि हमारे वचन पर विश्वास नहीं है तो इस कुम्भीलक से पूछो। अरे दासी के पुत्र कुम्भीलक ! इधर आओ।

चेट—(आकर) आर्य प्रणाम करता हूँ।

चारुदत्त—भद्र ! स्वागत है। कहो; क्या सच में वसन्तसेना आई है।

चेट—हाँ, वह वसन्तसेना आई है।

चारुदत्त—(प्रसन्नतापूर्वक) भद्र ! मैंने प्रिय-वचन सुनकर कभी भी निष्फल नहीं जाने दिया। इसलिए यह पुरस्कार लो। (वस्त्र देता है)

चेटः—(गृहीत्वा प्रणम्य सपरितोषम्) जाव अज्जआए णिवेदेमि। (यावदार्यायै निवेदयामि) (इति निष्क्रान्तः)

विदू—भो ! अवि जाणासि; किं णिमित्तं ईदिसे दुद्दिणे आअदेत्ति ?। (भोः ! अपि जानासि; किं निमित्तमीदृशे दुर्दिने आगतेति ?)

चारु—वयस्य ! न सम्यगवधारयामि।

विदू—मए जाणिदं ! अप्पमुल्ला रअणावली, बहुमूल्लं सुवण्णभण्डअं त्ति ण परिदुट्टा अवरं मग्गिदुं आअदा (मया ज्ञातम्। अल्पमूल्या रत्नावली, बहुमूल्यं सुवर्णभाण्डकम् इति न परितुष्टा, अपरं मार्गयितुमागता)

चारु—(स्वगतम्) परितुष्टा यास्यति।

(ततः प्रविशति उज्ज्वलाभिसारिकावेशेन वसन्तसेना सोत्कण्ठा, छत्रधारिणी विटश्च)

विटः—(वसन्तसेनामुद्दिश्य)

चारु इति—स्वगतम् = यत्कथयिष्यति तद्दास्यामीति नात्र चिन्ता।

तत इति—गणिकात्वात् उज्ज्वलाभिसारिकावेशेन प्रवेशः, तथा—विचित्रोज्ज्वलवेशा तु रणन्नूपुरकङ्कणा। प्रमोदस्मेरवदना स्याद्वेश्याऽभिसरेद्यदि। सोत्कण्ठा = चारुदत्तदर्शनसमुत्सुका वृष्टिजलवारणार्थं छत्रधारणं ज्ञेयम्।

चेट—(लेकर और सन्तोष के साथ प्रणाम कर) तब तक चलकर आर्या वसन्तसेना से कहता हूँ। (चला गया)

विदूषक—मित्र ! जानते हो ? कि क्यों यह इस घोर दुर्दिन में आई है ?

चारुदत्त—सखे ! यह तो मैं अच्छी तरह नहीं समझ रहा हूँ।

विदूषक—मैं तो समझ गया हूँ। रत्नावली कम मूल्य की है और वह सुवर्ण का अलंकार अधिक मूल्य का था, अतः वह सन्तुष्ट नहीं है, कुछ और माँगने के लिए आयी है।

चारुदत्त—(मन में) यहाँ से सन्तुष्ट होकर जायगी।

(इसके बाद शुभ्र अभिसारिका (प्रिय-निकट प्रस्थान करने के लिए गुप्त वेश धारिणी) उत्कण्ठित वसन्तसेना, छत्रधारिणी दासी तथा विट का प्रवेश)

विट—वसन्तसेना की ओर लक्ष्य करके—

अपद्मा श्रीरेषा प्रहरणमनङ्गस्य ललितं
कुलस्त्रीणां शोको मदनवरवृक्षस्य कुसुमम्।
सलीलं गच्छन्ती रतिसमयलज्जाप्रणयिनी
रतिक्षेत्रे रङ्गे प्रियपथि—कसार्थैरनुगता ॥ १२ ॥

वसन्तसेने! पश्य, पश्य—

अन्वयः—रतिसमयलज्जाप्रणयिनी प्रियपथिकसार्थैः अनुगता रङ्गे रतिक्षेत्रे सलीलम् गच्छन्ती एषा अपद्मा श्रीः, ललितम् अनङ्गस्य प्रहरणम्, कुलस्त्रीणाम् शोकः, मदनवरवृक्षस्य कुसुमम्।

अपद्मेति—रतिः = प्रेम समयः = अभिसरणसमयः लज्जा च तासां प्रणयिनी-अथवा—रतिसमये = सुरतक्रीडायाम् लज्जाप्रणयिनी = कुलवधूवत् सलज्जा। एतेन शालीनताशालिता ध्वन्यते। प्रियपथिकाः = हृद्यपान्थसमूहा एव सार्थाः-सङ्घिनस्तैरनुगता = अनुयाता। (अतिसौन्दर्यात् पान्था अपि अस्यामासक्ता भवन्तीति भावः)। रङ्गालयतुल्ये रतिक्षेत्रे = सुरतोचितं कान्तस्थाने सलीलम् = सविलासम् गच्छन्ती = यान्ती एषा = वसन्तसेना अपद्मा = कमलालयरहिता श्रीः = लक्ष्मीः एतेनास्याः लोकोत्तरलावण्यत्वं गम्यते) ललितम् = सुन्दरम् अनङ्गस्य = कामस्य प्रहरणम् = अस्त्रम् कुलस्त्रीणाम् = कुलाङ्गनानाम् शोकः = शोकोत्पादिनी मदनः = काम एव वरः = श्रेष्ठः वृक्षः = पादपः तस्य कुसुमम् = पुष्पस्वरूपा। रूपकम् अपद्मा-(पद्माभिन्नापि श्रीरिति विरोधः पद्मरहितेति तत्परिहारस्तेन विरोधाभासः। शिखरिणी वृत्तम्-'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' इति लक्षणात् ॥ १२ ॥

सरलार्थः—सुरतारम्भकाले कुलस्त्रीवत् लज्जावती, हृद्यपान्थगणैः पश्चादनुसृता रङ्गभूमाविव संकेतभूमौ सविलासं व्रजन्ती-वसन्सेना कमलरहिता लक्ष्मीः कामस्य सुन्दरमस्त्रं, गृहवधूनां शोकस्थानं तथा कामरूपश्रेष्ठपादपस्य पुष्पं वर्तते इति शेषः॥

सुरत के समय लज्जा की सहचरी, हृद्य-पथिकों से अनुगत राग बढ़ाने वाली संकेतित भूमि के लिए विलासिता के साथ जाती हुई वसन्तसेना,—कमल से रहित लक्ष्मी के समान है, कामदेव का सुकुमार अस्त्र है, कुलवती रमणियों का शोक तथा कामरूपी सुन्दर वृक्ष का मनोरम फूल है ॥ १२ ॥

वसन्तसेने! देखो-देखो—

गर्जन्ति शैलशिखरेषु विलम्बिबिम्बा
मेघा वियुक्तवनिताहृदयानुकाराः ।
येषां रवेण सहसोत्पतितैर्मयूरैः
खं वीज्यते मणिमयैरिव तालवृन्तैः ॥ १३ ॥

अपि च—

पङ्कक्लिन्नमुखाः पिबन्ति सलिलं धाराहता दर्दुराः
कण्ठं मुञ्चति बर्हिणः समदनो नीपः प्रदीपायते ।

अन्वयः—शैलशिखरेषु विलम्बिबिम्बाः वियुक्तवनिताहृदयानुकाराः मेघाः गर्जन्ति येषाम् रवेण सहसोत्पतितैः मयूरैः मणिमयैः तालवृन्तैः इव खम् वीज्यते ।

गर्जन्तीति—शैलशिखरेषु=गिरिशिखरेषु विलम्बि=सलिलभारेण लम्बमानम् बिम्बम्=मण्डलम् येषान्ते वियुक्तानाम् = वियोगिनीनाम् वनितानाम् = अङ्गनानाम् हृदयम् = चेतः अनुकुर्वन्तीति अनुकाराः=मलिनाः । एकत्र सलिलसम्भृतत्वादन्यत्र वियोगात् । मेघाः = बलाहकाः गर्जन्ति=शब्दायन्ते । येषाम् = मेघानाम् रवेण = घोषेण सहसोत्पतितैः = तत्क्षणोड्डीनैः मयूरैः = बर्हिभिः, मणिमयैः = मणिखचितैः (मणीनां विकारैः मयटि मणिमयैः) तालवृन्तैः=व्यजनैरिव खम्=गगनम् वीज्यते । उपमालङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १३ ॥

सरलार्थः— प्रोषितभर्तृकदयितामानससदृशा गाढान्धकारा इति यावत् जलधराः पर्वतशृङ्गेषु लम्बमानमण्डलाः सन्तः गर्जन्ति । येषां शब्देन सहसोत्पतितैः शिखिभिः नीलरत्नादिखचितैः व्यजनैः अकाशं वीज्यते इव उपलक्ष्यत इति भावः ॥

अन्वयः—पङ्कक्लिन्नमुखाः धाराहताः दर्दुराः सलिलं पिबन्ति, समदनः बर्हिणः कण्ठम् मुञ्चति, नीपः प्रदीपायते, कुलदूषणैः जनैः संन्यास इव मेघैः चन्द्रमाः वृतः नीचकुलोद्गता युवतिः इव विद्युत् एकत्र न सन्तिष्ठते ।

पङ्केति । पङ्केन=कर्दमेन क्लिन्नानि=लिप्तानि मुखानि-आननानि येषान्ते तथा धाराभिः = वृष्टिसम्पातैः आहताः = ताडिताः दर्दुराः मण्डूकाः सलिलम् = जलम्, पिबन्ति । समदनः=वर्षाकालोदयात् कामातुरोः बर्हिण = मयूरः कण्ठम् = केकारवम्

वियोगिनी कामिनियों के हृदय के समान मलिन, पर्वत के शिखर पर लटके हुए मेघ मण्डल गर्जन कर रहे हैं । जिसके निनाद से सहसा उड़ते हुए मयूर मणिमय अपने पङ्खों से आकाश को हवा कर रहे हैं ॥ १३ ॥

और भी—

वर्षा के जल से ताड़ित, एवं पङ्क से लिप्त मुखवाले मेढक जल पी रहे हैं,

संन्यासः कुलदूषणैरिव जनैर्मेघैर्वृतश्चन्द्रमाः
विद्युन्नीचकुलोद्गतेव युवतिर्नैकत्र सन्तिष्ठते ॥ १४ ॥

वसन्त—भाव ! सुट्ठु दे भणिदं । (भाव ! सुष्ठु ते भणितम्) एषा हि—

मूढे ! निरन्तरपयोधरया मयैव
कान्तः सहाभिरमते यदि किं तवात्र ।

मुञ्चति = करोति (मयूरः मेघरवं श्रुत्वा शब्दं करोती..ते प्रसिद्धिः) नीपः = कदम्ब-वृक्षः प्रदीपायते = तत्काले पीतपुष्पपरिपूर्णत्वात् 'खद्योतपटलीविलसितत्वाच्च देदीप्यते' कुलदूषणैः = पतितः (कुलं दूषयन्तीति कुलदूषणास्तैः कुलदूषणैः) जनैः = लोकैः, संन्यासः = यतिधर्मः इव — = वारिवाहैः चन्द्रमाः = शशी वृतः = एकत्र आच्छादितः अन्यत्र दूषितः (कलङ्कितः) महापातकादिदोषाद्बान्धवैर्बहिष्कृतोऽसौ पापीयान् संन्यासमाश्रित्य तमपि कलङ्कयतीति । नीचकुलोद्गता = अधमकुलोत्पन्ना युवतिरिव विद्युत् एकत्र = एकस्मिन् पुरुषे स्थाने वा न सन्तिष्ठते (कुलटेवास्थिरा विद्युदिति यावत्) अत्र प्रदीप इवाचरतीति वाक्ये 'कर्तुः क्यङ्' इति क्यङि प्रदीपायते इति तथा चात्र क्यङ्गतोपमा । तृतीयचतुर्थपादयोः श्रौती उपमा । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १४ ॥

सरलार्थः—भेकाः वृष्टिप्रवाहताः पङ्किलमुखाः सन्तः जलं पिबन्ति । मयूरः कण्ठध्वनिं मुञ्चति । मदनवृक्षसंमितः कदम्बः प्रदीपवदाचरति । वंशकलङ्करैः जनैः प्रव्रज्याधर्मं इव मेघैः आच्छादितश्चन्द्रस्तथा नीचकुलोद्गता नारीव सौदामिनी एकस्मिन् स्थाने न वर्त्तते ॥ १४ ॥

वसन्त इति—भणितम् इति भावे क्तः, तेन 'कर्तृकर्मणोः कृति' त्यनेन ते इति षष्ठी ।

अन्वयः—मूढे निरन्तरपयोधरया मया एव सह कान्त यदि अभिरमते तव अत्र किम् ? इति गर्जितैः मुहुः माम् विनिवारयन्ती कुपिता सपत्नी इव निशा मार्गम् रुद्धति ।

मूढ इति—हे मूढे ! परवृत्तान्तानभिज्ञे ! निरन्तराः = एकत्रीभूताः अन्यत्र पीनत्वात् संश्लिष्टौ पयोधराः = मेघाः अन्यत्र स्तनौ च यस्यास्तया मयैव सह कान्तः = प्रियः

कामातुर मयूर मधुर शब्द बोल रहे हैं, कदम्ब वृक्ष दीप के समान प्रफुल्लित हो रहे हैं, कुलकलंकित करनेवाले संन्यासी के समान मेघों के द्वारा चन्द्रमा आच्छन्न हो रहा है । नीच वंशोद्भव कुलटा युवती के समान बिजली एक स्थान पर नहीं ठहर रही है—सर्वत्र घूम रही है ॥ १४ ॥

वसन्तसेना—विद्वन् ! आपने ठीक कहा है । यह तो—

सपत्नी के समान मूढ़ रात्रि बार-बार गर्जन करके मुझे मना करती है और

मां गर्जितैरिति मुहुर्विनिवारयन्ती
मार्गं रुणद्धि कुपितेव निशा सपत्नी ॥ १५ ॥

विटः—भवतु एवं तावत्, उपालभ्यतां तावदियम्।

वसन्त—भाव ! किमनया स्त्री-स्वभाव-दुर्विदग्धया उपालब्धया ? पश्यतु भावः—

मेघा वर्षन्तु गर्जन्तु मुञ्चन्त्वशनिमेव वा !

अभिरमते = रमण करोति तदा तव=वसन्तसेनायाः अत्र=रतिविषये किम् ? अर्थात् (किमनिष्टं जातम् ?) किमपि नेत्यर्थः, अहमपि तव सपत्नी अतो ममापि तत्राधिकार आवश्यक इति भावः, इति = इत्थं प्रकारैः गर्जितै मुहुः = वारंवाम् माम् = वसन्तसेनाम् विनिवारयन्ती = निवारणं कुर्वन्तीव कुपिता = क्रोधयुक्ता सपत्नीव निशा = रात्रिः मार्गम् = प्रियचारुदत्तसमीपे गमनमार्गम् रुणद्धि = बिन्दुवर्षणविद्युत्तर्जनघनगर्जनादिभिः प्रतिबध्नाति । अत्र कुपितासपत्नी इवेति श्रौती उपमा ॥ १५ ॥

सरलार्थः—हे परमुखदुःखानभिज्ञे वसन्तसेने ! निबिडमेघाहततया निबिडकुचयुग्मया च मया निशयैव सह प्रियो यदि रमेत तदा अस्मिन् विषये तव किं अनिष्टम्, न किमपीत्यर्थः । एवं प्रकारेण रात्रिः वारं वारं मां निषेधन्ती स्तनितैः मम सपत्नीवत् पन्थानं रुणद्धि ॥ १५ ॥

विट इति—एवम् = यामिनीकर्तृकमार्गावरोधः तावत् = वाक्यालङ्कारे इयम् = यामिनी उपालभ्यताम् = सपत्नीत्वेन निन्द्यताम् ।

वसन्त इति—स्त्रीस्वभावेन = ईर्ष्यादिना दुर्विदग्धया = दुष्टया उपालब्धया = निन्दितया अनया = यामिन्या किम् = किं फलम् (न किमपीत्यर्थः) भावः = विद्वान् ।

अन्वयः—मेघाः वर्षन्तु गर्जन्तु वा अशनिम् एव मुञ्चन्तु रमणाभिमुखाः स्त्रियः शीतोष्णम् न गणयन्ति ।

मेघा इति—मेघाः वर्षन्तु = वर्षां कुर्वन्तु गर्जन्तु = गर्जनं कुर्वन्तु वा = अथवा

हमारे पथ को रोकती है । वह कहती है कि 'हे मूर्खे ! निबिड़ मेघों से घिरी हुई या सघन कुचों वाली मेरे समान प्रियतम (चारुदत्त) से रमण करती हो, तो इससे तुम्हें क्या लाभ होगा ?' ॥ १५ ॥

विट—अच्छा यही सही तुम इस रात्रि की निन्दा करो ।

वसन्तसेना—विद्वन् ! नारी के स्वाभाविक हिंसात्मक, इस रात्रि की निन्दा से क्या हानि है । आप देखें—

मेघ चाहे बरसे या वज्र ही क्यों न गिरावे ? किन्तु सम्मोप

गणयन्ति न शीतोष्णं रमणाभिमुखाः स्त्रियः ॥ १६ ॥

विटः—वसन्तसेने ! पश्य पश्य ! अयमपरः—

पवन-चपल-वेगः स्थूलधारा-शरौघः
स्तनित-पटह-नादः स्पष्टविद्युत्पताकः ।
हरति करसमूहं खे शशाङ्कस्य मेघो
नृप इव पुरमध्ये मन्दवीर्यस्य शत्रोः ॥ १७ ॥

अशनिम्=वज्रम् एव मुञ्चन्तु=ममोपरि क्षिपन्तु रमणस्य=प्रियस्य अभिमुखाः=तत्समीपे रन्तुं यियासन्त्यः स्त्रियः=मादृश्यः कामिन्यः शीतञ्च, उष्णञ्च शीतोष्णम् वर्षावज्रजन्ये शीतोष्णे ज्ञेये न गणयन्ति=तज्जन्यं दुःखं न मन्यन्त इति भावः । अत्र वर्षन्तु इत्याद्यनेकक्रियाणां मेघरूपैककर्तृकारकत्वाद्दीपकम् । अप्रस्तुतास्त्रीसामान्यात्प्रस्तुतस्य वसन्तसेनारूपस्य स्त्रीविशेषस्य प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा च ॥ १६ ॥

सरलार्थः—पयोधराः जलं पातयन्तु नदन्तु अथवा वज्रं निक्षिपन्तु किन्तु कान्तार्थिन्यः स्त्रियः वर्षणक्लेशादिको प्रतिबन्धकत्वेन न मन्यन्ते इति भावः ॥ १६ ॥

अन्वयः—पवनचपलवेगः स्थूलधाराशरौघः स्तनितपटहनादः स्पष्टविद्युत्पताकः मेघः पुरमध्ये मन्दवीर्यस्य शत्रोः नृप इव खे शशाङ्कस्य करसमूहं हरति ।

पवनेति—पवनेन=वायुना चपलः=चञ्चलः वेगो यस्य अन्यत्र पवन इव चपलो वेगो यस्य सः स्थूला=दीर्घा धारा=आसारः शरौघः=शरसमूहः इव अन्यत्र स्थूलधारेव शरौघः यस्य सः स्तनितम्=घनगर्जितम् पटहस्य=ढक्कायाः नाद इव अन्यत्र स्तनितमिव पटहनादो यस्य सः तथा स्पष्टा अभिव्यक्ता विद्युत् पताकेव अन्यत्र विद्युदिव पताका यस्य सः 'अयमपरः' इति गद्यस्थमिहानुषज्यते मेघः पुरमध्ये शत्रोरेव राजधान्याम् मन्दवीर्यस्य=क्षीणशक्तेः शत्रोः वैरिणो नृपस्य

लिए प्रियतम के निकट जाती हुई कामिनियाँ शीत अथवा गर्मी—किसी को परवाह नहीं करतीं ।। १६ ।।

विट—वसन्तसेने ! देखो, देखो । यह दूसरा—

(यहाँ मेघ और राजा का समान वर्णन किया गया है) (मेघ पक्ष में) वायु के झोकों से चञ्चल वेग वाला, बाण समूह के समान सघन वृष्टि करनेवाला, युद्ध के नगाड़े के समान घोर गर्जन करने वाला तथा पताका के समान सुव्यक्त बिजली से युक्त मेघ आकाश में मंद तेजवाले चंद्रमा की किरणों को उसी प्रकार ढँक रहा है जिस प्रकार नगर के बीच मन्द पराक्रम वाले शत्रु का सर्वस्व, विजयी राजा अपहरण करता है । (राजा पक्ष में) वायु के तुल्य वेगवान, प्रब-

वसन्त—एव्वं णेदं। ता कधं एसो अवरो (एवमेतत्। तत् कथमेषः अपरः)—

एतैरेव यदा गजेन्द्रमलिनैराध्मातलम्बोदरै-
र्गर्जद्भिः सतडिद्बलाकशबलैर्मेघैः सशल्यं मनः।
तत् किं प्रोषित-भर्तृ-वध्य-पटहो हा हा हताशो वकः
प्रावृट् प्रावृडिति ब्रवीति शठधीः क्षारं क्षते प्रक्षिपन् ॥ १८ ॥

नृपः = विजयी राजा इव। खे = आकाशे शशाङ्कस्य = चन्द्रमसः करसमूहम् = किरणसमूहम् अन्यत्र राजगृहमागम् हरति = आच्छादयति अन्यत्र वलाद् गृह्णाति अत्र पूर्णोपमा। मालती-वृत्तम् ॥ १७ ॥

सरलार्थः—वायुचञ्चलजवः वर्षणप्रवाहरूपाविरलशरवर्षी स्तनितरूपरणवाद्य-विशेषयुक्तः सुव्यक्तचपलोज्ज्वलपताको मेघः हतबलस्य शत्रोः नगरास्यन्तरे विजेता राजेव आकाशे चन्द्रस्य किरणसमूहम् अपहरति ॥ १७ ॥

अन्वयः—गजेन्द्रमलिनैः आध्मातलम्बोदरैः गर्जद्भिः सतडिद्बलाकशबलैः एतैः एव मेघैः यदा मनः शल्यम् तत् प्रोषितभर्तृवध्यपटहः हताशः शठधीः बकः क्षते-क्षारम् प्रक्षिपन् इव हाहा किम् ? प्रावृट् प्रावृडिति ब्रवीति।

एतैरिति—गजेन्द्रवत् = हस्तिवत् मलिनैः=कृष्णवर्णैः आध्मातानि=सलिलपूरितानि लम्बानि = अधोलम्बितानि उदराणि = अन्तर्देशाः येषान्ते तैः तडिद्भिः = सौदामिनीभिः बलाकाभिः = वकपंक्तिभिः सह वर्तमानरत एव शवलैः=विचित्रवर्णैः एतैरेव मेघैः यदा मनः=विदेशगतभर्तृणामेवान्तःकरणम् सशल्यम् = विषमवेदनोदयात् शल्यविद्धम् (इव) जायते। तत्=तदा प्रोषिताः=विदेशवासिनः भर्तारः= स्वामिनः एव वध्याः = वधार्हाः (विरहव्यथावर्धमानात् इति शेषः) तेषु पटहः = डक्कास्वरूपः हता=नष्टा जलवृष्ट्या भग्ना आशा = चञ्चुद्वारा मत्स्यग्रहणाभिलाषः

धारा के समान बाण वृष्टि करने वाला, मेघ गर्जन के तुल्य युद्ध के नगाड़ों से युक्त तथा बिजली के समान प्रत्यक्ष पताका से युक्त राजा, नगर के बीच मन्द पराक्रम वाले शत्रु का सर्वस्व उसी प्रकार अपहरण करता है जिस प्रकार आकाश में मेघ मन्द तेज वाले चन्द्रमा की किरणों को ढक लेता है ॥ १७ ॥

वसन्तसेना—यह तो ठीक है। तब यह दूसरा—

गजराज के समान नीलवर्णवाले, जल से पूर्ण होने के कारण विशाल उदर वाले, बिजली और बकपङ्क्ति के संयोग से चित्रित एवं गर्जन करते हुए मेघों से जब विरहियों के हृदय में काँटे चुभते हैं तब। यह परदेशी विरही पतियों के वध के समय बजनेवाले नगाड़े के तुल्य हताश (वर्षा के अधिक होने के कारण

विटः—वसन्तसेने ! एवमेतत् । इदमपरं पश्य—

बलाका-पाण्डुरोष्णीषं विद्युदुत्क्षिप्तचामरम् ।
मत्त-वारण-सारूप्यं कर्त्तुकाममिवाम्बरम् ॥ १९ ॥

वसन्त—भाव ! पेक्ख पेक्ख ! (भाव ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व)

यस्य सः अत एव शठा = दुरभिसन्धिशालिनी धीः = बुद्धिः यस्य सः बकः = पक्षि-विशेषः क्षते = शस्त्रादिना विक्षतस्थाने क्षारम् = लवणम् प्रक्षिपन् = संयोजयन् इव हा हेति महाखेदे किम् = कस्मात् हेतोः प्रावृट् प्रावृडिति ब्रवीति = रटति । क्षताङ्गे लवणविशेषप्रक्षेप इव बककर्तृकप्रावृडाह्वानमतिवेदनावर्धकम् ॥ १८ ॥

सरलार्थः—यस्मिन् समये परिदृश्यमानैरेव गजराजवत्कृष्णैः जलपूरितलम्बमानोदरैः सविद्युद्बकविचित्रैः नदद्भिर्वारिवाहैः विरहोत्कण्ठारूपशल्यविद्धम् चित्तम् जातमिति शेषः । हा हा वियोगिनीभव्यवाद्यस्वरूपवत् शब्दकारी नष्टाशः बकः प्रावृट् प्रावृडिति वदन् व्रणेन लवणं विन्यस्यन् किमर्थं वक्तीति भावः ॥ १८ ॥

अन्वयः—अम्बरम् बलाकापाण्डुरोष्णीषम् विद्युदुत्क्षिप्तचामरम् मत्तवारणसारूप्यं कर्त्तुकामम् इव (अस्ति) ।

बलाकेति—अम्बरम् = गगनम् बलाका = बकपंक्तिः (एव) पाण्डुरम् उष्णीषम् = मस्तकावेष्टनम् यस्य तत् विद्युत् = तडित् (एव) उत्क्षिप्तम् = ऊर्ध्वमान्दोलितम् चामरं यस्य तत् तादृशम् मत्तश्चासौ वारणः = हस्ती तस्य सारूप्यम् = सादृश्यम् कर्तुंकामम् = कर्तुमिच्छुक इव विद्यते । प्रथमद्वितीयचरणयोः निरङ्गं मालारूपकम्, तृतीये मत्तवारणसारूप्यम् इत्यंशे आर्थी उपमा, चतुर्थे कर्तुकाममिव इत्यंशे गुणोत्प्रेक्षा एतेषाञ्च परस्परसापेक्षतया संसृष्टिः ॥ १९ ॥

सरलार्थः—गगनं बलाकारूपोष्णीषपरिहृतं तडिदुत्थितबालव्यजनं मदोन्मत्तगजेन्द्र समानरूपताप्राप्त्यर्थमिव वर्त्तते इति शेषः ॥ १९ ॥

बक मछली पकड़ने में असमर्थ हो रहे हैं अतएव वे हताश हैं) एवं मूर्ख बक, घाव पर नमक छिड़कने के समान 'वर्षा-वर्षा' की रट क्यों लगा रहे हैं ? ॥

विट—वसन्तसेने ! यह ठीक है, किन्तु यह और भी देखो—

बकपङ्क्तिरूपी श्वेत पगड़ी धारण कर, बिजलीरूपी चपल चामर से युक्त आकाश-मण्डल, मतवाले गजेन्द्र की समानता करने का इच्छुक हो रहा है ॥ १९ ॥

वसन्तसेना—विद्वन् ! देखिए—

एतैरार्द्र-तमालपत्र-मलिनैरापीतसूर्यं नभो
वल्मीकाः शरताडिता इव गजाः सीदन्ति धाराहताः।
विद्युत्काञ्चनदीपिकेव रचिता प्रासादसञ्चारिणी
ज्योत्स्ना दुर्बलभर्तृकेव वनिता प्रोत्सार्य मेघैर्हृता ॥ १० ॥

विटः—वसन्तसेने ! पश्य पश्य—

अन्वयः—आर्द्रतमालपत्रमलिनैः एतैर्मेघैः, आपीतसूर्यम् नभः धाराहताः वल्मीकाः शरताडिता गजा इव सीदन्ति विद्युत् प्रासादसञ्चारिणी काञ्चनदीपिका इव रचिता, ज्योत्स्ना दुर्बलभर्तृका इव प्रोत्सार्य हृता।

एतैरिति—आर्द्राणि तमालपत्राणीव मलिनाः=नीलवर्णाः तैः एतैः=उदीयमानैः मेघैः नभः=गगनम् आपीतः=दिनेऽपि समाच्छन्नः सूर्यः यस्य तत् तादृशं (विद्यते स्म) धाराभिः=वृष्टिपातैः आहताः=पीडिताः वल्मीकाः=कीटगणकृतमृत्तिकास्तूपाः शरताडिताः=बाणपीडिताः गजाः=हस्तिन इव सीदन्ति=मृत्तिकास्खलनेन शरीरपीडया क्षयं प्राप्नुवन्ति विद्युत्=तडित् प्रासादसञ्चारिणी=सौधोपरि स्फुरन्ती (देदीप्यमाना) काञ्चनस्य=सुवर्णस्य दीपिका इव निर्मिता तथा मेघैः=वारिवाहैः ज्योत्स्ना=चन्द्रिका दुर्बलः=बलहीनः भर्त्ता यस्याः सा दुर्बलभर्तृका वनिता=नारी इव प्रोत्सार्य्य बलादपसार्य हृता नीता। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २० ॥

सरलार्थः—जलसिक्ततमालपत्रपत्रवच्छ्यामवर्णैः पुरोदृश्यमानैः मेघैः कवलितसूर्यं गगनं, वृष्टिप्रवाहताडितवल्मीकाः शराहतदन्तिन इव विलीयन्ते इव। हर्म्योपरिभागविचरणशीला तडित्सुवर्णवर्त्तिकेव कल्पिता। पराक्रमहीनकान्तदयितेव चन्द्रिका बलादाकृष्य मेघैः अदर्शनं गतेति भाव ॥ २० ॥

सजल तमाल-पत्रों के तुल्य मलिन इन मेघों से आकाश सूर्य-विहीन हो रहा है (अर्थात् इतने घनघोर बादल घिर आये हैं कि सूर्य बिलकुल ढँक गया है)। वृष्टि की धाराओं से, बाण से विधे हाथियों के समान वल्मीक (कीड़ों से एकत्रित की हुई धूलि एवं कीट) विनष्ट हो रहे हैं। सुवर्ण के दीप के समान बिजली गगनचुंबी अट्टालिकाओं में विचरणशील बनाई गई है। (अर्थात् ऊँचे महलों के निकट बिजली चमक रही है) जिसके पति बलहीन है उस रमणी के समान ज्योत्स्ना को बलपूर्वक हटाकर मेघों ने अपहरण कर लिया है ॥ २० ॥

विट—वसन्तसेने ! देखो, देखो—

एते हि विद्युद्गुण-बद्ध-कक्षा
गजा इवान्योन्यमभिद्रवन्तः ।
शक्राज्ञया वारिधराः सधारा
गां रूप्यरज्ज्वेव समुद्धरन्ति ॥ २१ ॥

अपि च । पश्य—

महावाताध्मातैर्महिष-कुल-नीलैर्जलधरैः
चलैर्विद्युत्पक्षैर्जलधिभिरिवान्तःप्रचलितैः ।

अन्वयः—हि विद्युद्गुणबद्धकक्षाः अन्योन्यम् अभिद्रवन्तः गजा इव एते सधाराः वारिधराः शक्राज्ञया रूप्यरज्ज्वा गां समुद्धरन्ति इव ।

एत इति—हि विद्युत् एव गुण इव तेन बद्धा कक्षा मध्यबन्धनस्थानम् मध्यदेशो वा येषां ते, अन्योन्यम्=परस्परम् अभिद्रवन्तः=अभिमुखीभवन्तः गजाः =हस्तिन इव (दृश्यमानाः) धाराभिस्सह विद्यमानाः सधारा वारिधराः=जलदाः शक्रस्य=इन्द्रस्य आज्ञया=निर्देशेन रूप्यस्य=रजतस्य रज्ज्वा=सूत्रेण गाम्= पृथ्वीम् समुद्धरन्ति=उत्कर्षन्ति इव । पूर्वार्द्धे पूर्णोपमा उत्तरार्द्धे गामुद्धरन्तीवेति क्रियोत्प्रेक्षा च अनयोश्च संसृष्टिः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ २१ ॥

सरलार्थः—परस्परं युद्धयमाना हस्तिन इव तडिद्रूपसूत्रसम्बद्धमध्यभागाः वृष्टि-धारासहिता मेघा इन्द्राज्ञया रजतनिर्मितरश्मिना पृथ्वीं समुत्तोलयन्तीवेति भावः ॥

अन्वयः—महावाताध्मातैः महिषकुलनीलैः चलैः विद्युत्पक्षैः अन्तःप्रचलितैः जलधिभिः इव जलधरैः मणिमयशरैः धारापातैः गन्धोद्दामा नवहरितशष्पाङ्कुर-वती इयम् धरा भिद्यते इव ।

महावातेति—महावातेन=झञ्झावातेन आध्मातैः=ताडितैः महिषकुलवत् नीलैः कृष्णवर्णैः चलैः=वायुना प्रेरितत्वाच्चञ्चलैः विद्युत्=तडित् एव पक्षः येषान्तैः अन्तःप्रचलितैः=अभ्यन्तरविक्षुब्धैः जलधिभिः=सागरैः इव (विद्युद्वडवानलस्फुरणं स्वभावतो नीलत्वञ्च सागरमेघयोरुभयत्र ज्ञेयम्) जलधरैः मेघैः (धरन्तीति धराः पचाद्यच्, जलस्य धरा जलधराः मेघाः जलं धरन्तीति विग्रहे कर्मण्यणि जलधारा इति स्यादिति ज्ञेयम्) तैः (कर्तृभिः) मणिमयशरैः=मणिखचितबाणतुल्यैः धारापातैः=

परस्पर आक्रमण करते हुए हाथियों के तुल्य, बिजलीरूपी रस्सी से परिवे-ष्टित कटि वाले वृष्टिपात करते हुए बादल, मेघ पति इन्द्र की आज्ञा से, चाँदी की रस्सी के समान धाराओं से पृथ्वी को ऊपर उठा रहा है ॥ २१ ॥

और भी देखो—

तरङ्गित समुद्र के समान, प्रबल वायु से आहत होने से चपल, महिष

इयं गन्धोद्दामा नव-हरित-शष्पाङ्कुरवती
धरा धारापातैर्मणिमयशरैर्भिद्यत इव ॥ २२ ॥

वसन्त—भाव ! एसो अवरो (भाव ! एष अपरः)—

एह्येहीति शिखण्डिनां पटुतरं केकाभिराक्रन्दितः
प्रोड्डीयेव बलाकया सरभसं सोत्कण्ठमालिङ्गितः।
हंसैरुज्झितपङ्कजैरतितरां सोद्वेगमुद्वीक्षितः

वृष्टिजलासारैः (फरणैः) नवाः=नूतनाः हरिताः शष्पाणाम्=बालतृणानाम् अङ्कुराः अस्य सन्तीति सा अङ्कुरवती गन्धेन=नूतनवृष्टिपातोत्पादितमृत्तिकागन्धेन उद्दामा =उल्वणा (व्याप्ता) इयम् धरा=पृथ्वी भिद्यते=छिद्यत इव। अत्र महिषकुलैरिति लुप्तोपमा, विद्युत्पक्षैरिति निरङ्गं केवलरूपकम्, जलधिभिरिवेति पूर्णोपमा. भिद्यत इवेति क्रियोत्प्रेक्षा चतुर्थचरणे धकाररकारयोरनेकधा सकृत्साम्यात् छेकानुप्रासः। अत्र एतेषां परस्पराङ्गाङ्गिभावेन संसृष्टिः। शिखरिणीवृत्तम् ॥ २२ ॥

सरलार्थः—प्रबलवाय्वाहतैरत एव चञ्चलैः विद्युत्पत्रैः महिषसमूहवच्छ्यामैः मेघैः वृष्टिधारानिक्षेपैः मणिमयबाणैःनूतनतृणाङ्कुरयुक्ता पृथ्वी विदार्यतइवेति भावः ॥

अन्वयः—शिखण्डिनाम् केकाभिः पटुतरम् एहि एहि इति आक्रन्दितः बलाकया सरभसम् प्रोड्डीय सोत्कण्ठमालिङ्गितः उज्झितपंकजैः हंसैः सोद्वेगम् अतितराम् उद्वीक्षितः (एषः अपरः) मेघः दिशः अञ्जनमेचकाः कुर्वन् इव तिष्ठति।

एहीति—शिखण्डिनाम्=मयूराणाम् केकाभिः=शब्दैः पटुतरम्=व्यक्ततरम् एहि एहि=आगच्छ आगच्छ इति=इत्थं प्रकारेण आक्रन्दितः=आहूतः बलाकया=बकपङ्क्त्या सरभसम्=सवेगम् प्रोड्डीय=आकाशे उत्थाय सोत्कण्ठम्=सौत्सुक्यम् आलिङ्गितः=आश्लिष्टः उज्झितानि=नरिक्षीणत्वात्त्यक्तानि पङ्कजानि=पङ्कजवनानि यैस्तैः हंसैः राजहंसैः (मानसं जिगमिषुभिः) सोद्वेगम्=अनीप्सितत्वाद् सोद्भ्रमम् (उद्वेगः उद्भ्रमे-इत्यमरः) अतितराम्=अतिशयेन उद्वीक्षितः=दृष्टः (एषः अपर इति गद्यस्यम्

कुल के समान श्याम तथा चञ्चल बिजली से युक्त मेघ को मणिमय तुल्य वृष्टिधाराओं के द्वारा, उत्कृष्ट गन्धशालिनी एवं हरे-हरे नवीन घास के अंकुर से युक्त यह पृथ्वी विदीर्ण हो रही है ॥ २२ ॥

वसन्तसेना—भाव ! दूसरे—

मयूरों के स्पष्टतर 'आओ, आओ' इस मधुर वाणी से बुलाये जाते हुए, बकपंक्तियों से शीघ्रतापूर्वक उड़कर उत्सुकता सहित आलिङ्गित तथा कमल वनों को त्यागे हुए अत्यंत उद्विग्न हंसों से कृपापूर्वक देखे जाते हुए मेघ, दिशाओं

कुर्वन्नञ्जनमेचका एव दिशो मेघः समुत्तिष्ठति ॥ २३ ॥

विटः—एवमेतत्। तथाहि पश्य—

निष्पन्दीकृत-पद्मषण्ड-नयनं नष्ट-क्षपा-वासरं
विद्युद्भिः क्षण-नष्ट-दृष्ट-तिमिरं प्रच्छादिताशामुखम्।

इहानुषज्यते):=वारिवाहः दिशः = आशाः अञ्जनेन=कज्जलेन मेचकाः = श्याम-वर्णाः 'कृष्णे नीलासितश्यामकालश्यामलमेचकाः' इत्यमरः' इव कुर्वन् समुत्तिष्ठति= नवं नवमुत्पद्यते। अत्र आक्रन्दित इव आलिङ्गित इवेति क्रियोत्प्रेक्षाद्वयम् अञ्जनमे-चकाः कुर्वन् इवेति गुणोत्प्रेक्षा चेत्यासां नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः। एवम् यथाविजितनृपाप-रक्तपुरुषैस्सादरमाकारितः तथाविधैरन्यैश्च सोत्कण्ठमालिङ्गितो विजेता स्वप्रतिकूलैः नगराश्निःसरद्भिस्सोद्वेगं दृष्टः सन्नगरं दिधक्षन् अग्निधूमेन दिशः श्यामलाः कुर्वन् राज-सिंहासनमधितिष्ठति तद्वदिति शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

सरलार्थः—मयूराणामुच्चैस्तरमेहि एहि इति आहूत इव बकस्त्रिया सहर्षं नभसि उत्थाय समुत्सुकमाश्लिष्ट इव त्यक्तकमलैः हंसैः अतिशयेन सोत्कण्ठं निरीक्षितः बलाहकः दिक्चक्रं कज्जलवत् मलिनीकुर्वन् इव विलसति इति भावः ॥ २३ ॥

अन्वयः—निष्पन्दीकृतपद्मषण्डनयनम् नष्टक्षपावासरम् विद्युद्भिः क्षणनष्ट दृष्टतिमिरम् प्रच्छादिताशामुखम् पयोधारागृहान्तर्गतम् स्फीताम्भोधरधामनैकजल-दच्छन्नापिधानम् जगत् सम्प्रति निश्चेष्टम् स्वपिति इव।

निष्पन्दीति—निष्पन्दीकृतम्=स्थिरीकृतम् (किञ्चिदपि पवनगमनाभावात्अन्यत्र निद्रावेशादिना) पद्मानाम् = कमलानाम् षण्डम् = समूहः (अब्जादिकदम्बे षण्ड-मस्त्रियाम् इत्यमरः) नयनं = चक्षुः येन तत्तथोक्तम्, नष्टौ क्षपावासरौ=रात्रिदिवसौ (मेघाच्छन्ने सूर्य्यचन्द्रतारकादिदर्शनाभावेन रात्रिरियं दिनं वेति निर्णेतुमशक्या-विति भावः यस्मिन् तत्तथोक्तम्) विद्युद्भिः=तडिद्भिः क्षणं नष्टानि=तत्स्फुरणकाले नष्टानि पश्चात् पश्चात् दृष्टानि तिमिराणि=तमांसि यस्मिन् तत्। प्रच्छादितानि=

को कज्जल के तुल्य मलिन बनाता हुआ विचर रहा है। (वर्षा कालीन मेघ को देखकर मयूर तथा बक को प्रसन्नता होती है किन्तु हंस को अप्रसन्नता होती है) ॥ २२ ॥

विट—यह तो ऐसा ही है। उसी प्रकार देखो—

कमल समूहरूपी आँखें निश्चल हो गये हैं, (सूर्य और चन्द्रमा के अभाव से) रात्रि और दिन का पता नहीं चलता है;- बिजली के द्वारा कभी अन्धकार विलीन हो जाता है और कभी (बिजली के अभाव में) दृष्टिगोचर हो जाता

निश्चेष्टं स्वपितीव सम्प्रति पयोधारा-गृहान्तर्गतं
स्फीताम्भोधर-धाम-नैक-जलद-च्छत्रापिधानं जगत् २४ ॥

वसन्त—भाव ! एव्वं णेदं । ता पेक्ख पेक्ख—(भाव ! एवमेतत् । तत् प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व)

गता नाशं तारा उपकृतमसाधाविव जने
वियुक्ताः कान्तेन स्त्रिय इव न राजन्ति ककुभः ।

सर्वतो व्याप्तानि आशामुखानि = दिङ्मण्डलानि यस्य तत् पयसाम् = वर्षाम्बूनाम् धाराः तासाम् गृहाः तदन्तर्गतम् = तन्मध्यप्राप्तम् स्फीताः = वर्धमाना ये अम्भोधराः मेघाः तेषाम् धामनि = गेहभूते आकाशे नैके = बहवः जलदा एव छत्राणि तैरपिधानम् = आवरणम् यस्य तत्तथोक्तम् जगत् सम्प्रति = इदानीम् निश्चेष्टम् = निश्चिन्तम् यथा स्यात्तथा स्वपिति = शेते इव (अस्ति) अत्र निष्पन्दी''''नयनम्, नष्ट''''वासरम्' स्फीता''''अपिधानम् इति चैकदेशविवर्तिरूपकम् स्वपितीवेति क्रियोत्प्रेक्षा । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २४ ॥

सरलार्थः—उन्मीलितपद्मनयनम् अज्ञातरात्रिन्दिवं तडिद्भिः क्षणनष्टदृष्टान्धकारावृताशामुखं सलिलप्रवाहमग्नं प्रवृद्धमेघाधारस्थितनानाविधजलधररूपछायाच्छादितं जगन्निष्क्रियं सत् निद्रातीवेति भावः ॥ २४ ॥

अन्वयः—असाधौ जने उपकृतम् इव तारानाशम् गता कान्तेन वियुक्ताः स्त्रियः इव ककुभः न राजन्ति त्रिदशपतिशस्त्रस्य शिखिना प्रकामान्तस्तप्तम् गगनम् द्रवीभूतम् (सत्) जलरूपेण पतति मन्ये ।

गतेति—असाधौ = दुर्जने जने = पुरुषे उपकृतम् = उपकार इव तारा = तरका नाशम् = अदर्शनम् गता = प्राप्ता(दुष्टेष्वाचरित उपकारो नष्ट एव भवति तद्वदिति भाव।) कान्तेन = प्रियेण (सूर्येण) वियुक्ताः = विरहिताः स्त्रियः इव नार्यं इव ककुभः=दिशः न राजन्ति । तथा त्रिदशानाम्=देवानाम् पत्युः = इन्द्रस्य शस्त्रम्=

है, दिशारूपी मुख ढँक गया है, इस प्रकार जलधारा रूपी गृह के अन्तर्गत स्थित, विस्तृत मेघ के स्थान आकाश में विविध बादलरूपी छत्र से आसन्न संसार इस समय निस्पन्द होकर सो रहा है ॥ २४ ॥

वसन्तसेना—विद्वन्! यह ठीक, पर देखिए, देखिए—

दुर्जनों के लिए किए गए उपकार के समान नक्षत्र गण विलीन हो गए ।

प्रकामान्तस्तप्तं त्रिदशपति-शस्त्रस्य शिखिना
द्रवीभूतं मन्ये पतति जलरूपेण गगनम् ॥ २५ ॥

अपि च । पश्य—

उन्नमति नमति वर्षति गर्जति मेघः करोति तिमिरौघम् ।
प्रथमश्रीरिव पुरुषः करोति रूपाण्यनेकानि ॥ २६ ॥

वज्रम् तस्य शिखिना = वह्निना प्रकामम्=अत्यन्तम् अन्तस्तप्तम् = अभ्यन्तरसंतप्तम् गगनम्—अम्बरम् द्रवीभूतम्=काठिन्यरहितम् सत् जलरूपेण = वृष्ट्यात्मना पतति इति मन्ये । उपकृतमिव स्त्रिय इवेति श्रौत्युपमाद्वयम्, मन्ये इति मावामिमानिनी क्रियोत्प्रेक्षा इत्यासां संसृष्टिः । शिखरिणीवृत्तम् ।

सरलार्थः—असाधुजन-कृतोपकारमिव नक्षत्रं नाशं गतम् । पतिविरहितवनिता इव दिशो न शोभन्ते । इन्द्रायुधस्याग्निना गगनं सम्यक् तप्तम् अत एव जलरूपेण तरलीभूतं सत् स्रवति इति शिखरिणीवृत्तम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—मेघः उन्नमति नमति वर्षति गर्जति तिमिरौघम् करोति प्रथमश्रीः पुरुषः इव अनेकानि रूपाणि करोति ॥ २६ ॥

उन्नमतीति—मेघः=बलाहकः उन्नमति=उद्गच्छति (वायुवेगेनेति भावः)तथा नमति=जलभरेण अधोलम्बितो भवति (अन्यत्र व्यभिचारादिना) वर्षति = सलिलम् (धनं वा) ददाति गर्जति = शब्दं करोति (अन्यस्य सन्निधाविति शेषः) तिमिरौघम् = अन्धकारसमूहम् करोति = विदधाति (आत्मपापेन जनमनोमालिन्यं च करोति) प्रथमा नवा श्रीः सम्पत् यस्य सः (रङ्केन राजा भवन्) पुरुष इव = जन इव अनेकानि=बहूनि रूपाणि करोति । श्रीरिवेति श्रौत्युपमा नमतीत्यादीनां मेघरूपैककर्तृकारकत्वात् दीपकालंकारः । आर्या जातिः ॥ २६ ॥

सरलार्थः—जलदः अचिरोत्पन्नसंपत्तिकदरिद्रजन इव विविधभङ्गीविधायकस्वरूपाणि धारयति । कदाचित् उत्तिष्ठति कदाचिदधो लम्बते कदाचिज्जलं मुञ्चति क्षणं वा नदति तथा किञ्चित्कालमन्धकारसमूहं जयतीति भावः ॥ २६ ॥

पति से वियुक्त स्त्री के तुल्य (सूर्य से वियुक्त) दिशाएँ सुशोभित नहीं हो रहीं हैं । इन्द्र के वज्र की अग्नि के द्वारा हृदय से अतिसन्तप्त आकाश मानों पिघल कर जलरूप में पृथ्वी पर गिर रहा है ॥ २५ ॥

और भी; देखो—

पहले पहल सम्पत्ति प्राप्त किए पुरुष के समान, बादल अनेक रूप धारण कर रहा है । कभी तो ऊपर उमड़ता है, कभी नीचे फैलता है, कभी बरसता है, कभी गरजता है और कभी घोर अन्धकार उपस्थित कर देता है ॥ २६ ॥

विटः—एवमेतत् ।

विद्युद्भिर्ज्वलतीव संविहसतीवोच्चैर्बलाकाशतै-
र्माहेन्द्रेण विवल्गतीव धनुषा धाराशरोद्गारिणा ।
विस्पष्टाशनि-निस्वनेन रसतीवाघूर्णतीवानिलै-
र्नीलैः सान्द्रमिवाहिभिर्जलधरैर्धूपायतीवाम्बरम् ॥ २७ ॥

वसन्त—जलधर ! निर्लज्जस्त्वं यन्मां दयितस्य वेश्म गच्छन्तीम् !

अन्वयः—अम्बरम् विद्युद्भिः ज्वलति इव उच्चैः बलाकाशतैः संविहसति इव धाराशरोद्गारिणा माहेन्द्रेण धनुषा विवल्गति इव विस्पष्टाशनिनिस्वनेन रसति इव अनिलैः आघूर्णति इव नीलैः जलधरैः सान्द्रम् धूपायति ।

विद्युद्भिरिति—अम्बरम=गगनम् (कर्तृ) विद्युद्भिः=तडिद्भिः (करणैः), ज्वलति=देदीप्यत इव उच्चैः=ऊर्ध्वमुड्डीयमानैः बलाकाशतैः = बकसमूहपरम्पराभिः विहसति = सम्यक् हासं करोति इव (शौक्ल्येन बकानां हाससाम्य बोध्यम्) धाराः = जलधारा एव शराः = बाणाः तान् उद्गिरति = मुञ्चति तेन महेन्द्रस्येदं माहेन्द्रम् तेन धनुषा = इन्द्रायुधेन विवल्गति = योद्धुं प्रवर्तते विस्पष्टः = अभिव्यक्तः यः अशनेः = वज्रस्य निस्वनः = शब्दः तेन रसति = गर्जनं करोति इव अनिलैः=आघूर्णति = परितः अटति इव एवम् अहिभिः = भुजगैः इव नीलैःश्यामैः जलधरैः = मेघैः सान्द्रम् = घनीभूतम् धूपायति = आत्मानं सुगन्धीकरोति इव । अत्र ज्वलतीवेति संविहसतीवेति विवल्गती वेति रसतीवेति क्रियोत्प्रेक्षा अहिभिरिवेति श्रौतोपमा धूपायतीवेति क्रियोत्प्रेक्षा मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥२७॥

सरलार्थः—आकाशं तडिद्भिः उद्भासतीव बकसमूहैर्मध्ये हासं करोति इव, आसारूपशरवर्षिणा इन्द्रचापेन स्वप्लुतगतिं प्रदर्शयतीव, प्रकटवज्ररवेण उच्चैः नादं करोतीव, वातैः मण्डलाकारेण भ्रमतीव कृष्णसर्पैरिव श्यामवर्णैः मेघैः गाढं यथा तथा धूपधूमाकुलं भवतीवेति भावः ॥ २७ ॥

अन्वयः—जलधर ! यत् त्वम् दयितस्य वेश्म गच्छन्तीम् माम् स्तनितेन भीषयित्वा धाराहस्तैः परामृशसि (अतः) निर्लज्जः (असि) ।

जलधरेति—हे जलधर ! हे मेघ ! यत् = यस्मात् दयितस्य = प्रियस्य वेश्म=

विट—ऐसी ही बात है ।

आकाश, मानो बिजली से भस्म हो रहा है, बकपङ्क्ति की सैकड़ों कतारों द्वारा हँस रहा है, इन्द्रधनुष द्वारा वृद्धधाररूपी बाणों को छोड़ युद्ध कर रहा है, स्पष्ट वज्र के निर्घोष से सिंहनाद कर रहा है, वायु से क्रुद्ध होकर घूम रहा है, तथा सर्प के तुल्य श्याम तथा सघन बादलों द्वारा कृष्ण धूम का सेवन कर रहा है ॥ २७ ॥

वसन्तसेना—हे मेघ ! तुम बड़े निर्लज्ज हो ! प्रियतम के घर जाती हुई

स्तनितेन भीषयित्वा धाराहस्तैः परामृशसि ॥ २८ ॥

भोः शक्र !

किं ते ह्यहं पूर्वरतिप्रसक्ता यत्त्वं नदस्यम्बुद-सिंहनादैः ।
न युक्तमेतत् प्रियकाङ्क्षिताया मार्गं निरोद्धुं मम वर्षपातैः ॥२९॥

गृहम् गच्छन्तीम् = यान्तीं माम् = वसन्तसेनाम् स्तनितेन = स्वगर्जितेन शब्देन भीषयित्वा = त्रासयित्वा धारारूपैः हस्तैः = करैः परामृशसि = स्पृशसि (अतः) त्वं निर्लज्जः = व्यभिचारी (असि) ॥ २८ ॥

सरलार्थः—हे मेघ ! त्वं निस्त्रपः यस्मात् प्रियनिकेतनं चलन्तीं माम् गर्जितेन त्रासयित्वा जलसम्पातरूपकरैः स्पृशसि । परस्त्रीगात्रस्पर्शः, अभिसारिकायै अभिरक्षणभीतिप्रदर्शनमित्युभयमेव हठकामुकस्यैव भावमिति भावः ॥ २८ ॥

अन्वयः—अहम् किम् ते पूर्वरतिप्रसक्ता हि यत् त्वम् अम्बुदसिंहनादैः नदसि प्रियकाङ्क्षितायाः मम वर्षपातैः मार्गम् रोद्धम् एतद् न युक्तम् ।

किमिति । भोः शक्रः ! इति गद्यस्थमिहानुसन्धेयम् । हे इन्द्र ! अहम् = वसन्तसेना किमिति प्रश्ने ते = तव (इन्द्रस्येति भावः) पूर्वा = प्रथमवर्तिनी रतिः = अनुरागः तत्र प्रसक्ता = अत्यासक्ता (पूर्वरतिपरिचिता तवाहं किम् ?) यत् = यस्मात् कारणात् त्वम् = इन्द्रः अम्बुदस्य = जलदस्य सिंहनादैः = सिंहवद्गर्जनैः नदसि = शब्दं करोषि । 'या काचित्स्त्री पूर्वानुरक्तं परित्यज्यान्यं प्रत्यनुरक्तिं विधाय तं परित्यज्यान्यं प्रति रतिं कुरुते तां दृष्ट्वा पूर्वानुरक्तः नदति' इति दृश्यते । प्रकृते नाहं तथा येन त्वं मां तर्जयितुमिच्छसीति भावः । प्रियेण = वल्लभेन चारुदत्तेन (पूर्वम्) काङ्क्षितायाः मम वर्षपातैः = धारासंघातैः मार्गम् = पन्थानम् रोद्धुम् = निरोद्धुम् एतत् = गर्जनादिकम् न युक्तम् = नोचितम् । तव सम्पर्कशून्या रमणी स्वप्रेयांसं प्रति गच्छतु तेन तव का हानिरित्याशयः । उपजातिवृत्तम् ॥ २९ ॥

सरलार्थः—हे इन्द्र ! अहं तव कदाचिदपि व्यतीतकाले अनुरागानुषङ्गिणी आसम् किं वा जन्मान्तरप्रणयिनी वा तत् त्वं मेघगर्जितरूपमहानादैः शब्दायसे । प्रियाभिलाषितायाः मम धारापातैः मार्गं प्रतिरोद्धुं नोचितम् भवादृशस्य देवराजस्य इति भावः ॥ २९ ॥

मुझे अपने गर्जन से भयभीत कर वृष्टिधारारूपी हाथों से तुम स्पर्श करते हो ।

हे इन्द्र !

क्या कभी पहले मैं तुम्हारे प्रेम में अनुरक्त थी ? कि—(इस समय दूसरे नायक के पास जाती हुई) मुझे तुम सिंह के समान मेघ के गर्जन से रोकते हो । चारुदत्त की प्रेमिका वसन्तसेना का मार्ग वृष्टिधाराओं से रोकना उचित नहीं है ।

अपि च—यद्वदहल्याहेतोर्मृषा वदसि शक्र ! गोतमोऽस्मीति ।
तद्वन्ममापि दुःखं निरवेक्ष्य निवार्यतां जलदः ॥ ३० ॥
अपि च—गर्ज वा वर्ष वा शक्र मुञ्च वा शतशोऽशनिम् ।
न शक्या हि स्त्रियो रोद्धुं प्रस्थिता दयितं प्रति ॥ ३१ ॥

अन्वयः—शक्र ! अहल्याहेतोः यद्वत् 'गोतमोऽस्मीति' मृषा वदसि तद्वत् मम अपि दुःखम् निरवेक्ष्य जलदः निवार्यताम् ।

यद्वदिति—हे शक्र !=हे इन्द्र ! अहल्यायाः=गोतमपत्न्या। हेतोः=कारणात् (तया सह रन्तुम्) यद्वत्=यथा 'गोतमोऽस्मीति' मृषा=मिथ्या वदसि=उक्तवान् (कामानुरक्ततयाऽसत्यमाह) तद्वत्=तथा ममापि=वसन्तसेनाया अपि दुःखम्=मदनजनितक्लेशम् निरवेक्ष्य=आत्मौपम्येन विचार्य जलदः=गमनप्रतिबन्धभूतः निवार्यताम्=अपवार्यताम् । पुरा किल गोतमपत्नीमहल्यामति सुन्दरीं कामयमानो देवराजो गोतमे स्नातुं गतवति सति तद्रूपं धृत्वा छलेन ता मालिलिङ्गेति भारतीया कथा । आर्या जातिः ॥ ३० ॥

सरलार्थः—हे इन्द्र ! गोतमपत्नीसंगमहेतोः गोतमरूपं धृत्वा 'अहं गोतम' इति मृषा वदनमकारोः । भवदनुरूपमेव प्रियसम्भोगलालसाजनितं दुःखं विचार्य मेघः निषिध्यताम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—शक्र ! गर्ज वा वर्ष वा शतशः अशनिम् वा मुञ्च दयितं प्रति प्रस्थिताः स्त्रियः रोद्धुम् नहि शक्याः ।

गर्जेति—हे शक्र ! हे इन्द्र ! गर्ज=नद वा वर्ष=वर्षणं कुरु वा शतशः=अनन्तम् अशनिम्=वज्रम् वा मुञ्च=पातय दयितम्=स्वप्रियम् प्रति प्रस्थिताः रन्तुं गच्छन्त्यः स्त्रियः=कामिन्यः रोद्धुम्=निग्रहीतुम् नहि शक्याः । अतस्तवेदं विघ्नाचरणं व्यर्थमेवेति भावः ॥ ३१ ॥

सरलार्थः—हे सुरपते । त्वं स्तनितं कुरु वा वर्षणं कुरु किंवा शतशः वज्रं निक्षिप किन्तु कान्तं प्रति चलिताः कामिन्यः रोद्धुं नैव शक्या इति भावः ॥ ३१ ॥

और भी—हे इन्द्र ! जिस प्रकार गौतम की स्त्री अहिल्या पर अनुरक्त होकर आपने झूठ कहा था कि 'मैं गौतम हूँ' उसी प्रकार (चारुदत्त के लिए कामातुर) मेरे दुःख को समझ कर, इस बाधक मेघ को मना कर दीजिए ॥ ३० ॥

और भी—हे इन्द्र ! चाहे तुम सिंहनाद करो या वृष्टिपात करो अथवा सैकड़ों वज्र ही क्यों न गिरा दो, किन्तु प्रियतम के लिए जाती हुई कामिनियों को तुम रोकने में समर्थ नहीं हो सकते हो ॥ ३१ ॥

यदि गर्जति वारिधरो गर्जतु तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः।
अयि विद्युत् ! प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि ? ॥ ३२ ॥

विटः—भवति ! अलमलमुपालम्भेन। उपकारिणी एवेयम्।

ऐरावतोरसि चलेव सुवर्णरज्जुः
शैलस्य मूर्ध्नि निहितेव सिता पताका।

अन्वयः—वारिधरः यदि गर्जति तद् नाम गर्जतु पुरुषाः निष्ठुराः, अयि विद्युत् ! त्वमपि प्रमदानाम दुःखम् न जानासि ?

यदिति—वारिधरः = मेघः यदि गर्जति = नदति तन्नाम गर्जतु = नदतु यतः यस्मात् पुरुषाः = नराः निष्ठुराः = स्वभावतः क्रूराः भवन्त्येव किन्तु अयि विद्युत् भगिनि ! तडित् त्वमपि = स्त्री भूत्वा त्वमपि प्रमदानाम् = स्वसजातीयानामस्माकम् दुःखम् = मदनावेशजन्यपीडाम् न जानासि। अर्थात्—भूयोभूयः स्फुरणेन मम मार्गदीपिका भवेति भावः। अत्र 'निष्ठुराः पुरुषाः' इति साधारणेन वारिधरो गर्जतु इति विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः। पुंस्त्वात् वारिधरे पुरुषत्वव्यवहारसमारोपात् विद्युति च स्त्रीलिङ्गात् स्त्रीसमुचितव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिद्वयम्। आर्या जातिः ॥ ३२ ॥

सरलार्थः—यदि मेघः नदति तर्हि नदतु नाम यतो हि पुरुषा निष्ठुराः भवन्ति। अयि तडित् ! त्वमबला सत्यपि अबलानाम् प्रियविरहजक्लेशं नानुभवसि किम् ? ॥ ३२ ॥

विट इति—उपालम्भेन = तिरस्कारेण अलम् = व्यर्थम् उपकारिणी—स्फुरणेन मार्गदर्शनात्।

अन्वयः—हि ऐरावतोरसि चला सुवर्णरज्जुः इव शैलस्य मूर्ध्नि निहिता सिता पताका इव आखण्डलस्य भवनोदरदीपिका इयम् ते प्रियतमस्य सन्निवेशम् आख्याति।

ऐरेति—हि = यतः ऐरावतस्य = इन्द्रगजस्य उरसि = हृदये चला = चपला सुवर्णरज्जुः = कनकदाम इव शैलस्य = गिरेः मूर्ध्नि = शिखरे निहिता = स्थापिता

यदि बादल गरजते हैं तो उन्हें गरजने दो क्योंकि पुरुष तो निर्मम होते ही हैं। किन्तु, ऐ बिजली ! (स्त्री होने के नाते) क्या तुम भी कामातुर कामिनियों का क्लेश नहीं जानती हो ? ॥ ३२ ॥

विट—श्रीमतीजो ! अधिक निन्दा करना व्यर्थ है। यह बिजली तो तुम्हारे लिए उपकारिणी बन रही है।

ऐरावत के वक्ष पर खिंची हुई सुवर्ण की चपल रस्सी के तुल्य तथा पर्वत के

आखण्डलस्य भवनोदरदीपिकेयम्
आख्याति ते प्रियतमस्य हि सन्निवेशम् ॥ ३३ ॥

वसन्त—भाव ! एव्वं ! तं ज्जेव एदं गेहं । (भाव ! एवम् । तदेव तदद्द गेहम्)

विटः—सकल-कलाभिज्ञाया न । किञ्चिदिह तवोपदेष्टव्यमस्ति ! तथापि स्नेहः प्रलापयति । अत्र प्रविश्य कोपोऽत्यन्तं न कर्त्तव्यः ।

यदि कुप्यसि नास्ति रतिः कोपेन विनाऽथवा कुतः कामः ? ।

सिता = शुभ्रा पताका इव = केतुरिव आखण्डलस्य = शक्रस्य भवनोदरे = गृहान्तर्भागे दीपिका = प्रकाशोत्पादिका इयम् = दृश्यमाना तडित् ते = वसन्तसेनायाः प्रियतमस्य = चारुदत्ताख्यस्य सन्निवेशम् = निवासदेशम् आख्याति = प्रकाशद्वारा उपदिशति । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ३३ ॥

सरलार्थः—इन्द्रगजवक्षःस्थलार्पितसुवर्णशृङ्खलेन चञ्चला हिमालयशिखरस्थापित श्वेतपताकेव देवराजभवनमध्यभागस्थितदीपकलिकेव इयं विद्युत् तव प्रियस्यचारुदत्तस्य भवनं कथयत्येव अर्थात् 'विद्युत्प्रकाशेन चारुदत्तभवनं प्रकाशयतीति भावः ॥

विट इति—सकलासु = चतुःषष्टिविधासु कलासु अभिज्ञाया विशेषज्ञायाः । स्नेहः = त्वां प्रति निर्हेतुकं प्रेम प्रलापयति = वादयति ।

अन्वयः—यदि कुप्यसि रतिः नास्ति अथवा कोपेन विना कुतः कामः त्वम् कुप्य च कोपय च त्वं प्रसीद च कान्तं प्रसादय च ।

यदिति—यदि (त्वम्) कुप्यसि = कोपं करोषि तदा रतिः = अनुरागः नास्ति अथवा कोपेन = रोषेण विना कुतः कामः = कामक्रीडाप्रमोदः (कलहस्यापि तदङ्गत्वात् त्वम् = वसन्तसेना कुप्य = ईषत् कोपं कुरु कोपय च (प्रियमिति भावः) येन कामः परिपोषमेत्विति भावः । त्वमपि प्रसीद = प्रसन्ना भव कान्तम् = वल्ल-

---

शिखर पर स्थापित शुभ्र पताका के समान एवं इन्द्र के घर में जलती दीपिका के तुल्य वह बिजली तुम्हारे प्रियवर चारुदत्त का भवन प्रकाश से संकेतित कर रही है

वसन्तसेना—भाव ! यह ठीक है उन्हीं का यह है ।

विट—सम्पूर्ण कलाओं में निपुण तुम्हें इस विषय में कुछ उपदेश देना नहीं है । फिर भी स्नेह कुछ कहने के लिए प्रवृत्त करता है । यहाँ प्रविष्ट होकर अत्यन्त क्रोध नहीं करना चाहिए ।

यदि अत्यन्त कोप करोगी तो रति का आविर्भाव हो ही नहीं सकता, अथवा बिना कुछ कोप किए काम ही कहाँ जागृत होता है ? अतएव कुछ उन्हें

कुप्य च कोपय च त्वं प्रसीद च त्वं प्रसादय च कान्तम् ॥ ३४ ॥
भवतु, एवं तावत् ! भो भोः ! निवेद्यतामार्य्यचारुदत्ताय—
एषा फुल्ल-कदम्ब-नीप-सुरभौ काले घनोद्भासिते
कान्तस्यालयमागता समदना हृष्टा जलार्द्रालका ।
विद्युद्वारिदगर्जितैः सचकिता त्वद्दर्शनाकाङ्क्षिणी

मम् प्रसादय च । प्रसन्नतामापादय च । अत्र त्वं कुप्य कान्तमपि कोपयेत्या[illegible] कोपाद्येकक्रियाया उभयोर्मिथः कारणादन्योन्यालङ्कारः । तथाहि—'अन्योन्य[illegible] योरेकक्रियायाः कारणं मिथः' इति दर्पणोक्तेः । 'शिक्षा स्यादुपदेशनमिति' शिक्षा[illegible] क्षणोक्तेरत्र शिक्षा नाम नाट्यालङ्कारः । गतिर्नाम मात्रावृत्तम् ॥ ३४ ॥

सरलार्थः—यदि केवलं क्रोधमेव करोषि तदा अनुरागः सम्भोगो वा न भवितुमर्हति कोपाविष्टत्वाच्चित्तस्याल्पक्रोधं बिना कामस्य वृद्धिरपि न संभाव्यते । त्वं कदाचित् स्वयं क्रुद्धा भव कदाचिच्च कान्तस्य क्रोधमुत्पादय कदाचित्स्वयं प्रसन्ना भव कदाचिच्च चुम्बनालिङ्गनादिना कान्तस्य प्रसन्नतां वर्धयेति भावः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—समदना हृष्टा जलार्द्रालका विद्युद्वारिदगर्जितैः सचकिता त्वद्दर्शनाकाङ्क्षिणी एषा फुल्लकदम्बनीपसुरभौ घनोद्भासिते काले कान्तस्य आलयम् आगता नूपुरलग्नकर्दमधरौ पादौ प्रक्षालयन्ती स्थिता ।

एषेति—समदना=कामपूर्णा (मदनेन सहितेत्यर्थः । हृष्टा = जातरोमाञ्चा जलैः = वर्षाबिन्दुभिः आर्द्राः=सिक्ताः अलकाः=चूर्णकुन्तलाः यस्याः सा विद्युद्भिः=तडिद्भिः वारिदगर्जितैश्च = मेघनादैश्च सचकिता = भीता (यद्यपि चकितपदस्यापि केवलस्यायमर्थस्तथाप्यत्र चकितमिति भावसाधनं ज्ञेयम् तेन सहिता सचकिता इति) तव=प्रेमपात्रस्य चारुदत्तस्य दर्शनम् काङ्क्षते ताच्छील्ये णिनिः त्वद्दर्शनाकाङ्क्षिणी= तव दर्शनाभिलाषिणी एषा = वर्तमाना नायिका = भामिनी फुल्लानि=विकसितानि कदम्बानि = कदम्बाख्यपुष्पाणि येषु तैः नीपैः = नीपवृक्षैः सुरभौ=सुगन्धिते घनैः=

(नायक को) कुपित कर दो, तथा कुछ तुम स्वयं कुपित हो जाओ फिर (नायक के मनाने पर) तुम प्रसन्न हो जाओ और तब प्रियतम को भी प्रसन्न कर लो । (ऐसा करने से संभोग में अधिक आनन्द मिलेगा) ॥ ३४ ॥

अच्छा, यह तो हुआ । अजी, आर्य चारुदत्त से निवेदन कर दो—

विकसित कदम्ब एवं नीपतरु की सुगंध से सुरभित तथा मेघ से आच्छन्न इस वर्षाकाल में, कामातुर होने से प्रसन्न तथा जल भीगे कुन्तलोंवाली वसन्तसेना प्रियतम के घर आई है । किन्तु बिजली की चमक तथा बादलों के गर्जन से

पादौ नूपुर-लग्न-कद्दंम-धरौ प्रक्षालयन्ती स्थिता ॥ ३५ ॥

चारु—(आकर्ण्य) वयस्य ! ज्ञायतां किमेतदिति ।

विदू—जं भवं आणवेदि । (वसन्तसेनामुपगम्य सादरम्) सोत्थि भोदीए। (यद्भवानाज्ञापयति स्वस्ति भवत्यै)

वसन्त—अज्ज ! वन्दामि । साअदं अज्जस्स ? । (विटं प्रति भाव ! एसा छत्तधारिआ भावस्स ज्जेव भोदु । (आर्यं वन्दे । स्वागतमार्यस्य ? भाव एषा छत्रधारिका भावस्यैव भवतु)

विटः—(स्वगतम्) अनेनोपायेन निपुणं प्रेषितोऽस्मि । (प्रकाशम्) एवं भवतु । भवति ! वसन्तसेने !

जलदेन उद्भासिते = उल्लासिते काले वर्षाकाले कान्तस्य = वल्लभस्य आलयम् = गृहम् आगता = समुपस्थिता (सती) मार्गस्य पङ्किलत्वात् नूपुरपर्यन्तं लग्नान् = संश्लिष्टान् कद्दंमान्=पङ्कान् धरत इति धरौ=परिपूर्णौ पादौ=चरणौ प्रक्षालयन्ती= प्रक्षालनं विदधती सती (द्वारदेशे) स्थिता=समुपस्थिता । अत्र कदम्बनीपशब्दयो- रापाततः पौनरुक्त्येऽपि कुसुमतरुत्वाभ्यामवधारणात् पुनरुक्तवदाभासालङ्कारः शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३५ ॥

सरलार्थः—सकामा अत एव रोमाञ्चधर्षितगात्री जलसिक्तचूर्णकुन्तलाविकसित- कदम्बसुरभिते मेघोद्दीपितसमये त्वद्दर्शनाभिलाषिणी प्रियागारोपस्थिता मञ्जीर- संसक्तपङ्काप्लुतौ चरणौ धावयन्ती द्वारदेशे स्थितेति भावः ॥ ३५ ॥

वसन्त इति—भाव ! विद्वन् ! एषा = पुरोवर्त्तिनी छत्रधारिका = मदीया छत्रधा- रिणी चेटी भावस्यैव = तवैव (विटस्यैव) भवतु (अर्थात् इमां त्वं गृहं नय अहं चारुदत्तनिकेतनं प्रविशामीति भावः)

विट इति—अनेन=पूर्वोक्तेन उपायेन=छत्रधारिणीव्याजेन निपुणं यथा स्यात्तथा

भयभीत तथा चारुदत्त से मिलने के लिए उत्सुक प्रेमिका, नूपुर में लगे हुए पंक को धोती हुई द्वार पर स्थित है ॥ ३५ ॥

चारुदत्त—(सुनकर) मित्र ! पता तो लगाओ यह कैसी आवाज आ रही है ।

विदूषक—जैसी आपकी आज्ञा । (वसन्तसेना के पास आकर, आदर- पूर्वक) आप का कल्याण हो ।

वसन्तसेना—आर्य ! प्रणाम । मैं आपका अभिनन्दन करती हूँ। (विट के प्रति) भाव ! यह छत्र धारण करने वाली दासी आपके अधीन हो जाय ।

विट—(मन में) इस उपाय से कौशलपूर्वक मैं घर लौट जाने के लिए

साटोप-कूट-कपटानृतजन्मभूमेः शाठ्यात्मकस्य रति-केलिकृतालयस्य ।
वेश्यापणस्य सुरतोत्सवसंग्रहस्य दाक्षिण्यपण्य-सुख-निष्क्रय-सिद्धिरस्तु ॥

(इति निष्क्रान्तो विटः)

वसन्त—अज्जमित्तेअ ! कहिं तुम्हाणं जूदिअरो ? । (आर्यमैत्रेय ! कस्मिन् युष्माकद्यूतकरः ?)

प्रेषितोऽस्मि (स्वगृहमिति शेषः) एवं भवतु = ममैव छत्रधारिणी भवत्विति भावः ।

अन्वयः—साटोपकूटकपटानृतजन्मभूमेः शाठ्यात्मकस्य रतिकेलिकृतालयस्य सुरतोत्सवसंग्रहस्य वेश्यापणस्य दाक्षिण्यपण्यसुखनिष्क्रयसिद्धिः अस्तु ।

साटोपेति—साटोपः = सदम्भः कूटम् = माया कपटम् = छद्म अनृतम् = मिथ्याभाषणम् (निह्नवप्राकट्यभेदात् कूटकपटयोर्भेदः इति पृथ्वीधरः) एतेषां = जन्मभूमेः = उद्गमस्थानस्यशाठ्यम्=धूर्त्तता एव आत्मा-सारः यस्य तस्य रतिकेलिषु= सुरतक्रीडासु कृत आलयो येन तस्य तथा सुरतोत्सवः इव संग्रहः=संचयो यस्मिन् तस्य वेश्यापणस्य = वेश्याव्यवहारस्य दाक्षिण्यम् = औदार्यम् एव पण्यम् = क्रय्यम् तस्य सुखेन = अनायासेन निष्क्रयसिद्धिः = साफल्यसम्पत्तिः अस्तु = भवतु । चारुदत्तकृतौदार्यानुरूपमेव त्वत्कृतं सुरतोत्सवदानादिकं भवत्विति भावः । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ३६ ॥

सरलार्थः—दम्भमायाछलमिथ्योत्पत्तिस्थानस्य शठतापूर्णस्य रतिक्रीडाश्रयस्य सुरतजनितानन्दसंतानसाधकस्य वेश्यारूपस्य क्रयविक्रयस्थानस्य परस्परौदार्येण स्वयौवनरूपविनिमयसाफल्यं भवतु, अर्थात् चारुदत्तेन सह निरतिशयं संभोगसुखमनुभूयतामिति भावः ॥ ३६ ॥

वसन्त इति—द्यूतकरः = सन्निक्षिप्तसुवर्णभाण्डस्य रत्नावलीसमर्पणकाले द्यूते हारितत्वोद्घोषणात् परिहासोक्तिरियम् चारुदत्तं प्रति !

सम्मति पा रहा हूँ । (प्रकट) ऐसा ही हो । हे वसन्तसेने !

गर्व के सहित माया, छल तथा मिथ्या ही जिसकी जन्मभूमि है, धूर्तता ही जिसकी आत्मा है, सुरत की लीला ही जिसका भवन बना है, रमण का आमोद ही जिसका संचय है, उस वेश्यारूपी बाजार का विक्रय-द्रव्य अपने यौवन का उदारतापूर्वक (धन से नहीं) परस्पर आदान-प्रदान करो और ही मूल्यदान की सिद्धि हो जाय ॥ ३६ ॥

(विट चला गया)

वसन्तसेना—आर्यमैत्रेय ! आपके जुआड़ी (चारुदत्त) कहाँ हैं ?

विदू—(स्वगतम्) हीही भो ! जुदिअरो त्ति भणन्तीए अलङ्किदो पिअवअस्सो। (प्रकाशम्) भोदि ! एसो क्खु सुक्खरुक्ख-वाडिआए ! (हीही भोः ! द्यूतकर इति भणन्त्या अलङ्कृतः प्रियवयस्यः। भवति ! एष खलु शुष्क-वृक्ष-वाटिकायाम्)

वसन्त—अज्ज ! का तुम्हाणं सुक्ख-रुक्ख-बाडिआ वुच्चदि ? !
(आर्य ! का युष्माकं शुष्क-वृक्ष-वाटिका उच्यते ?)

विदू—भोदि ! जहिं ण खाईआदि ण पीईअदि। (भवति ! यस्मिन् न खाद्यते न पीयते)

(वसन्तसेना स्मितं करोति)

विदू—ता पविसदु भोदी ! (तत्प्रविशतु भवती)

वसन्त—(जनान्तिकम्) एत्थ पविसिअ कं मए भणिदव्वं ?। (अत्र प्रविश्य किं मया भणितव्यम् ?)

चेटी—जूदिअर ! अवि सुहो दे पदोसो ? त्ति ! (द्यूतकर ! अपि सुखस्ते प्रदोषः ? इति)

वसन्त—अवि पारइस्सं ? (अपि पारयिष्यामि ?)

विदू इति—भोजनपानासम्भवस्थल्यां शुष्कवृक्षवाटिकात्वव्यपदेशः। विदूषकोपितं शुष्कवाटिकालक्षणं श्रुत्वा स्मितं करोति।

वसन्त इति—भणितव्यम् = चारुदत्तं प्रति वक्तव्यम्।

चेटीति—अपि = प्रश्ने।

विदूषक—(मन में) अहा ! जुआड़ी कहने से प्रिय मित्र आर्य—चारुदत्त विभूषित हो गए। (प्रकट) श्रीमती जी ! वे शुष्क उद्यान में हैं ?

वसन्तसेना—आर्य आप लोग किसे शुष्क उद्यान कहते हैं ?

विदूषक—श्रीमती जी ! जहाँ न खाया जाता है और न पान किया जाता है।

(वसन्तसेना मुस्कुराती है)

विदूषक—तो अब आप प्रवेश करें।

वसन्तसेना—(धीरे से) यहाँ प्रविष्ट होकर मुझे क्या कहना चाहिए ?

चेटी—'जुआड़ी ! क्या आप यह सायंकाल सुखमय हैं ?'

वसन्तसेना—ऐसा कहने में समर्थ होऊँगी ?

चेटी—अवसरो ज्जेव पारइस्सदि। (अवसर एव पारयिष्यति)

विदू—पविसदु भोदी। (प्रविशतु भवती)

वसन्त—(प्रविश्योपसृत्य च पुष्पैस्ताडयन्ती) अइ जूदिअर ! अवि-सुहो दे पदोसो ? (अयि द्यूतकर ! अपि सुखस्ते प्रदोष ?)

चारु—(अवलोक्य) अये वसन्तसेना प्राप्ता। (सहर्षमुत्थाय) अयि प्रिये !

सदा प्रदोषो मम याति जाग्रतः
सदा च मे निश्वसतो गता निशा !
त्वया समेतस्य विशाललोचने !
ममाद्य शोकान्तकरः प्रदोषकः ॥ ३७ ॥

वसन्त इति—पुष्पैस्ताडनम् = अतीवानुकूल्यसंसूचनार्थम्।

अन्वयः—सदा जाग्रतः एव मम प्रदोषः याति सदा च निश्वसतः मे निशा गता विशाललोचने ! अद्य त्वया समेतस्य मम प्रदोषकः शोकान्तकरः।

सदेति—सदा = नित्यम् जाग्रतः = अप्राप्तनिद्रस्य (त्वद्वियोगादिति भावः) मम=चारुदत्तस्य प्रदोष=रात्रेः प्रथमो भागः याति=गच्छति सदा च निश्वसतः मे= मम निशा = रात्रिः गता। हे विशाललोचने ! हे दीर्घनयने ! त्वया = वसन्तसेनया समेतस्य=संयुक्तस्य मम प्रदोषः = रात्रिः शोकस्य=दुःखस्य अन्तकरः = शान्तिकरः संजात इति भावः वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ ३७ ॥

सरलार्थं—हे विशाललोचने ! नित्यमेव अनिद्रितस्य मम रात्रेः प्रथमांशः गच्छति त्वद्वियोगाद् मम स्वापं त्यजतः संपूर्णा रात्रिः व्यतीता। भवत्या मिलितस्य मम सन्ध्यासमयः अद्य दुःखनाशकः सञ्जात इति भावः ॥ ३७ ॥

चेटी—समय तुम्हें वैसा कहने में समर्थ कर देगा।

विदूषक—आप प्रवेश करें।

वसन्तसेना—(प्रविष्ट होकर और समीप पहुँच कर फूलों से मारती हुई) हे जुआड़ी ! क्या आपका यह सायंकाल सुखमय है ?

चारुदत्त—(देखकर) अरे ! वसन्तसेना आ गई। (सहर्ष उठकर) हे प्रिये !

मेरा सायंकाल प्रतिदिन जागते बीतता है, और सदा सारी रात निश्वास छोड़ते हुए व्यतीत हो जाती है। किन्तु हे विस्तृत लोचने ! तुम्हारे समागम से [illegible] का सायंकाल हमारे शोक का अन्त कर देने वाला होगा ॥ ३७ ॥

तत्स्वागतं भवत्यै। इदमासनम्, अत्रोपविश्यताम्।

विदू—इदं आसणं, उवविसदु भोदी। (इदमासनम्, उपविशतु भवती)

(वसन्तसेना आसीना। ततः सर्वे उपविशन्ति)

चारु—वयस्य ! पश्य पश्य—

वर्षोदकमुद्गिरता श्रवणान्तविलम्बिना कदम्बेन।

एकः स्तनोऽभिषिक्तो नृपसुत इव यौवराज्यस्थः॥ ३८॥

तद्वयस्य क्लिन्ने वाससी वसन्तसेनायाः' अन्ये प्रधानवाससी समुपनीयेतामिति।

अन्वयः—वर्षोदकम् उद्गिरत श्रवणान्तविलम्बिना कदम्बेन एकः स्तनः यौवराज्यस्थः नृपसुतः इव अभिषिक्तः।

वर्षोदकमिति—वर्षोदकम् = वृष्टिसलिलम् उद्गिरता = सम्पातयता श्रवणयोः= कर्णयोः अन्तः = प्रान्तदेशः तत्र विलम्बते तत्र विलम्बना विलम्बमानेन कदम्बेन = नीपपुष्पेण (वसन्तसेनायाः) एकः स्तनः=कुचः यौवराज्यपस्थः नृपसुतः इव अभिषिक्तः अत्र विलम्बिना कदम्बेन छेकानुप्रासः नृपसुतः इवेति श्रौती उपमा। अत्रैव च पादे माधुर्यगुणः अन्यत्र पादेषु प्रसादः 'चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः। सप्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु चे'ति दर्पणोक्तेः। गुणालङ्काराणामेकत्र योगाद् भूषणं नाम नाटचलक्षणञ्च तथाहि 'गुणैः सालङ्कारैर्योगस्तु भूषणम्' इति दर्पणोक्तेः आर्यावृत्तम्॥ ३८॥

सरलार्थः—कर्णप्रान्तदेशलम्बिना कदम्बेन वृष्टिजलविन्दुसमूहं संपातयता एकः पयोधरः यौवराज्यस्थः राजकुमार इवार्द्रीभूतः। एतदुक्त्या वसन्तसेनायाः चारुदत्तदर्शनार्थमत्युत्कण्ठा व्यज्यते इति भावः॥ ३८॥

तद्विति—क्लिन्ने = आर्द्रीभूते प्रधानवाससी = राजपरिधानीयं वस्त्रद्वयम् समुपनीयेताम् = आनीयेताम्।

अतः आप का अभिनन्दन करता हूँ। यह आसन है। इस पर बैठ जाइए।

विदूषक—इस आसन पर श्रीमती जी बैठ जायें।

(वसन्तसेना के बैठ जाने पर सभी बैठ जाते हैं)

चारुदत्त—सखे ! देखो-देखो—

कान पर लटकते हुए कदम्ब से वर्षा की बूँदें वसन्तसेना के कुच पर गिर रही हैं। युवराज होने के लिए सिंहासन पर बैठे राजकुमार के समान यह (स्तन) अभिषिक्त हो गया॥ ३८॥

अतः हे मित्र! वसन्तसेना के दोनों भीगे वस्त्र बदलने के लिए दूसरे प्रधान वस्त्र

विदू—जं भवं आणवेदि। (यद्भवानाज्ञापयति)

चेटी—अज्जमित्तेअ ! चिट्ठ तुमं, अहं ज्जेव अज्जअं सुस्सूसइस्सं ! (आर्यमैत्रेय ! तिष्ठ त्वम्, अहमेवार्यां शुश्रूषयिष्यामि) (तथा करोति)

विदू—(अपवारितकेन) भो वअस्स ! पुच्छामि दाव तत्थभोदिं किं पि। (भो वयस्य ! पृच्छामि तावदत्र भवतीं किमपि)

चारु—एवं क्रियताम् !

विदू—(प्रकाशम्) अध किं णिमित्तं उण इदिसे पणट्ठचन्दालोए दुद्दिण अन्धआरे आअदा भोदि ?। (अथ किं निमित्तं पुनरीदृशे प्रनष्टचन्द्रालोके दुर्दिनान्धकारे आगता भवती ?)

चटी—अज्जए ! उजुओ बम्हणो। (आर्ये ! ऋजुको ब्राह्मणः)

वसन्त—णं णिउणोत्ति भणाहि (ननु निपुण इति भण)।

चेटीति—तथा करोति=क्लिन्नवस्त्रापसारणपूर्वकं शरीरप्रोञ्छनपूर्वकं च सद्वस्त्रपरिधानादिकं करोति।

विदू इति—अपरवारितकेन=रहस्यकथनमुद्रया (संज्ञायामिति कः)

विदू इति—प्रनष्टचन्द्रालोके=सघनघनावरणेन निलीनचन्द्रप्रकाशे।

चेटीति—ऋजुरेव ऋजुकः (स्वार्थे कः) ऋजुकः=सरलमतिः ब्राह्मणः=विप्रवटुः अत एव प्रसिद्धमपि मदनावेशं कारणमाज्ञात्वा आगमनप्रयोजनं पृच्छति।

वसन्त इति—निपुणः=धूर्तः (नायं सरलबुद्धिरपि तु चतुरत्वादेवं पृच्छति जानन्नपि ऋजुकत्वामात्मानमेतेन प्रश्नेनाभिव्यनक्ति।

इनके लिए दूसरी दो साड़ियां ले आओ।

विदूषक—जैसी आपकी आज्ञा।

चेटी—आर्य मैत्रेय ! आप रहने दें। मै ही आर्या वसन्तसेना की सेवा करूँगी (वैसा ही करती है)

विदूषक—(धीरे से) हे मित्र। मैं श्रीमती जी से कुछ पूछना चाहता हूं।

चारुदत्त—पूछो।

विदूषक—(प्रकट) इस प्रकार चन्द्रमा के विनष्ट प्रकाश वाले सघन मेघ से घिरे घोर अंधकार में आप किसलिए आई हैं ?

चेटी—आर्ये ! यह बड़ा सरल ब्राह्मण है।

वसन्तसेना—सरल नहीं, इन्हें चतुर कहो।

चेटी—एषा क्खु अज्जुआ एव्वं पुच्छिदुं आअदा,—कित्तिअं ताए रअणावलीए मुल्लं त्ति। (एषा खलु आर्या एवं प्रष्टुमागता,—'कियत्तस्या रत्नावल्या मूल्यम्' इति)

विदू—(जनान्तिकम्) भो! भणितं, मए, जधा अप्पमुल्ला रअणावली, बहुमुल्लं सुवण्णभण्डअं, ण परितुट्टा, अवरं मग्गिदुं आअदा। (भोः! भणितं मया—यथा अल्पमूल्या रत्नावली, बहुमूल्यं सुवर्णभाण्डकम्, न परितुष्टा, अपरं मार्गयितुमागता)

चेटी—सा क्खु अज्जआए अत्ताणकेरकेत्ति भणिअ जूदे हारिदा, साअ सहिओ राअ-वात्थहारी ण जाणीअदि कहिं गदो त्ति। (सा खलु आर्यया आत्मीयेति भणित्वा द्यूते हारिता स च सभिको राजावार्त्ताहारी न ज्ञायते कुत्र गत इति)

विदू—भोदि! मन्तिदं ज्जेव मन्तीअदि। (भवति! मन्त्रितमेव मन्त्र्यते)

चेटीति—कियत्तस्या रत्नावल्याः मूल्यम्—सुवर्णभाण्डसमर्पणायैवमुत्तरयति।

चेटीति—सा = रत्नावली आर्यया = वसन्तसेनया सभिकः = द्यूताध्यक्षः यथा रत्नावलीसमर्पणकाले विदूषकेणोक्तं तथैव कौतुकाद् विदूषकोक्तस्य मिथ्यात्व-प्रकाशनाय च कथयति।

विदू इति—मया यथा कथितम् तथैव भवत्याऽपि कथ्यते।

चेटी—आर्या ही यह पूछने चली आई हैं कि—रत्नावली का कितना मूल्य है।

विदूषक—(धीरे से) अजी! मैंने पहले ही कहा था—'रत्नावली कम मूल्य की है, और सुवर्ण का आभूषण अधिक मूल्य का है, अतएव सन्तुष्ट नहीं है, कुछ और माँगने के लिए आई है।

चेटी—'उस रत्नावली को आत्मीय समझकर वसन्तसेना उसे जुए में हार गई। उस जुआ का सभाध्यक्ष राजदूत न मालूम कहाँ चला गया।

विदूषक—अजी! आप तो कही हुई बातें कहती हैं (जिस प्रकार मैंने सुवर्ण के आभूषण के विषय में कहा था उसी प्रकार आप रत्नावली के विषय में कह रही हैं)

चेटी—जाव सो अण्णेसोअदि, ताव एदं ज्जेव गेण्ह सुवण्णभण्डअं। (इति दर्शयति) (यावत् सः अन्विष्यते, तावदिदमेव गृहाण सुवर्णभाण्डकम्)

(विदूषक विचारयति)

चेटी—अदिमेत्तं अज्जो णिज्झाअदि, ता किं दिट्ठपुरुव्वो दे ?। (अतिमात्रमार्यो निध्यायति, तत् किं दृष्टपूर्वं ते ?)

विदू—भोदि ! सिप्पकुसलदाए ओवन्धेदि दिट्ठिं (भवति शिल्पकुशलतया अवबध्नाति दृष्टिम्)

चेटी—वञ्चिदोसि दिट्ठीए। तं ज्जेव एदं सुवण्णभण्डअं। (आर्य) वञ्चितोऽसि दृष्ट्या। तदेवैतत् सुवर्णभाण्डकम्)।

विदू—(सहर्षम्) भो वअस्स ! तं ज्जेव एदं सुवण्णभण्डअं जं अम्हाणं गेहे चोरेहिं अवहिदं। (भो वयस्य ! तदेवैतत् सुवर्णभाण्डकम्, यदस्माकं गेहे चौरैरपहृतम्)

चारु—वयस्य !

चेटीति—अतिमात्रम् = अत्यधिकम् निध्यायति = पश्यति।

विदू इति—दृष्टपूर्वत्वं नास्माकमवलोकने हेतुरपि तु शिल्पकुशलतया=रचना-नैपुण्येन दृष्टिम् = दर्शनम् अवबध्नाति–सन्निध्यातो भवति।

चेटी—जब तक वह समाध्यक्ष खोजा जाता है तब तक आप इन सुवर्णभाण्ड ही को लें। (सुवर्णभाण्ड दिखलाती है)

(विदूषक सोचता है)

चेटी—आप इसे बहुत दृष्टि गड़ा कर देख रहें हैं, क्या आप ने कभी इसे पहले देखा है ?

विदूषक—श्रीमती ! इसकी निर्माण–कुशलता मेरी आँखों को आकृष्ट कर रही है।

चेटी—आर्य ! आपकी आंखे धोखा खा रही हैं। यह वही सुवर्ण–का आभूषण है।

विदूषक—(खुशी के साथ) हे मित्र ! यही वह सुवर्ण का आभूषण हैं। जिसे हमारे घर में चोरों ने चुरा लिया था।

चारुदत्त—मित्र !

योऽस्माभिश्चिन्तितो व्याजः कर्तुं न्यासप्रतिक्रियाम् ।
स एव प्रस्तुतोऽस्माकं किन्तु सत्यं विडम्बना ॥ ३९ ॥

विदू—भो वअस्स ! सच्चं सवामि वम्हण्णेण । (भो वयस्य ! सत्यं शपे ब्राह्मण्येन)

चारु—प्रियं नः प्रियम् ।

विदू—(जनान्तिकम्) भो ! पुच्छामि णं कुदो एदं समासादिदं त्ति ! (भोः ! पृच्छामि ननु कुत इदं समासादितमिति ?)

अन्वयः—न्यासप्रतिक्रियाम् कर्तुम् अस्माभिः यः व्याजः चिन्तितः अस्माकम् स एव व्याजः प्रस्तुतः किन्तु विडम्बना (इति) सत्यम् ।

य इति—न्यासप्रतिक्रियाम् = न्यासप्रतिशोधम् कर्तुम् = विधातुम् अस्माभिः= चारुदत्ताद्यैः यः व्याजः = छलम् चिन्तितः = स्मृत्वा उद्भावितः स एव व्याजः = छद्मम् (द्यूते हारणरूपम्) प्रस्तुतः=आविष्कृतः किन्तु विडम्बना=प्रतारणा (इति) सत्यम् । अर्थात् अस्माभिः स्वर्णभाण्डस्य यथा द्यूते हारणमुपन्यस्तं तथैवाभिरपि रत्नावल्या द्यूते हारणमुपन्यस्तम् इति तु समानम् । किन्तु-सुवर्णभाण्डमिदं न तदेव परमस्माकं प्रतारणार्थमपरस्वर्णभाण्डदर्शनमिति वृत्तान्तानभिज्ञतयैवं निश्चिनोति ।

सरलार्थः—अस्माभिः उपनिहितवस्तुनः प्रतिशोधं विधातुं यः व्याजः रत्नावल्यर्पणरूपः स एव अस्माकं समीपे वसन्तसेनया प्रकटीकृतः प्रतारणारूपेण परिणत इति भावः ॥ ३९ ॥

विदू इति—ब्राह्मण्येन = ब्राह्मणत्वेन शपे = शपथमाचरामि (तदेवेदमिति) ब्राह्मणस्य भावः ब्राह्मण्यम् ।

उस धरोहर सुवर्णभाण्ड के प्रतिशोध के लिए जो छल हम लोगों ने उपस्थित किया, वही रत्नावली के विषय में इसने भी प्रस्तुत किया है। किन्तु यह सत्य है कि यह प्रतारणा है। अर्थात् यह वह सुवर्णभाण्ड नहीं है जो हमारे घर से चोरी गया है, किन्तु हम लोगों के आश्वासन के लिए उसने दूसरा आभूषण ला रक्खा है) ॥ ३९ ॥

विदूषक—हे सखे ! मैं ब्राह्मणत्व की शपथ खाकर कहता हूँ कि यह वही सुवर्ण का आभूषण है ।

चारुदत्त—हम लोगों के लिए यह अच्छा ही है ।

विदूषक—(धीरे से) अजी ! मैं इससे पूछता हूँ कि इसने इसे कहाँ से प्राप्त कर लिया ?

चारु—को दोषः ?

विदू—(चेटयाः कर्णे) एव्वं विअ । (एवमिव)

चेटी—(विदूषकस्य कर्णे) एव्वं विअ (एवमिव)

चारु—किमिदं कथ्यते ? । किं वयं बाह्याः ?

विदू—(चारुदत्तस्य कर्णे) एव्वं विअ । (एवमिव)

चारु—भद्रे ! सत्यं तदेवेदं सुवर्णभाण्डम् ?

चेटी—अज्ज ! अधइं । (आर्य ! अथ किम्)

चारु—भद्रे ! न कदाचित् प्रियनिवेदनं निष्फलीकृतं मया । तद्-

चारु इति—को दोषः = अर्थात् पृच्छयताम् नास्ति दोष (स्वयमपि कारणम् ज्ञातुमिच्छति) ।

विदू इति—अस्मद्गृहादिदमपहार्यं युष्मभ्यं केनचित् दत्तं सुवर्णभाण्डं किमिति चेटयाः कर्णे कथयति विदूषकः ।

चेटीति—एवमिव = सत्यमिदम् ।

चारु इति—बाह्याः = बहिरङ्गाः (अत एव युवयोर्मन्त्रणां श्रोतुमपि वयं न शक्नुमः (कर्णयोरालापं कुरुथः)

विदू इति—चारुदत्तस्य कर्णे सर्वं सत्यं कथयति ।

चारु इति—तदेवेदं सुवर्णभाण्डमिति काक्वा प्रश्नोऽभिव्यज्यते ।

चेटीति—अथ किम् = सत्यं तदेव सुवर्णभाण्डमित्यर्थः ।

चारु इति—प्रियनिवेदनम् = अनुकूलबोधनम् (कलङ्कमार्जनरूपम् इदानीम्

चारुदत्त—इसमें हर्ज ही क्या है ?

विदूषक—(चेटी के कान में) ऐसी बात है ! (अर्थात् हमारे घर से सुवर्णभाण्ड को चुराकर कोई वसन्तसेना को दे आया)

चेटी—(विदूषक के कान में) हां, यही बात है ।

चारुदत्त—आप दोनों 'कानाफूसी' क्यों कर रहे हैं ? क्या हम लोग कोई बाहरी हैं ?

विदूषक—(चारुदत्त के कान में) ऐसी बात है ।

चारुदत्त—कल्याणि ! क्या सच में यह वही सुवर्ण का भाण्ड है ?

चेटी—हां, यह वही है ।

चारुदत्त—भद्रे ! मैंने प्रिय वचन को कभी निष्फल नहीं होने दिया ।

गृह्यतां पारितोषिकमिदमङ्गुलीयम् । (इत्यनङ्गुलीयकं हस्तमवलोक्य लज्जां नाटयति)

वसन्त—(आत्मगतम्) अदो ज्जेव कामीअसि । (अत एव काम्यसे)

चारु—(जनान्तिकम्) भोः ! कष्टम् ।

धनैर्वियुक्तस्य नरस्य लोके किं जीवितेनादित एव तावत् ।

यस्य प्रतीकारनिरर्थकत्वात् कोपप्रसादा विफलीभवन्ति ॥ ४० ॥

बोध्यम्) न निष्फलीकृतम् = न विफलीकृतम् 'प्रियनिवेदकाय पारितोषिकमवश्यमेव दीयते' इति मम नियमः ।

वसन्त इति—आत्मगतम् = मनसि विचारयति अतएव = अत्यौदार्यादेव काम्यसे = अभिलष्यसे ।

अन्वयः—लोके धनैः वियुक्तस्य नरस्य आदित एव जीवितेन किं तावत् प्रतीकारनिरर्थकत्वात् यस्य कोपप्रसादा विफलीभवन्ति ।

धनैरिति—लोके=संसारे धनैर्वियुक्तस्य=निर्धनस्य नरस्य=जनस्य आदित एव= जन्मत एव जीवितेन = जीवनेन किं तावत् = न किमपि फलमिति भावः । कारणमाह—प्रतीकारे = प्रतिशोधभूतप्रप्यपकारप्रत्युपकारकर्मणि निरर्थकत्वात् = असमर्थत्वात् यस्य = नरस्य कोपाः = क्रोधाः प्रसादाश्च = अनुग्रहाश्च विफलीभवन्ति = व्यर्थाः जायन्ते । शत्रौ मित्रे वा प्रतिकर्तुमशक्तस्य जीवनान्मरणमेव वरमिति भावः । अत्राप्रस्तुतप्रशंसा निर्धनसामान्यात् प्रस्तुतनिर्धनचारुदत्तविशेषप्रतीतेः । जीवनकाव्यलिङ्गमित्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ४० ॥

सरलार्थः—जगति निर्धनस्य जनस्य जन्मतः एव जीवनेन किं फलमस्ति न किमपीति भावः, यस्य क्रोधानुग्रहाः प्रतिशोधाक्षमत्वात् निष्फला जायन्ते ॥४०॥

इसलिए पुरस्कार रूप में यह मुद्रिका ग्रहण करो । हाथ में मुद्रिका न पाकर लज्जा का अभिनय करते हैं)

वसन्तसेना—(आपही आप) इसलिए तो आप पर मन आकृष्ट होता है ।

चारुदत्त—(धीरे से) दुःख है—

संसार में धनहीन मनुष्य को प्रथम से ही जीवन से क्या लाभ है ? अर्थात् निर्धनों का जन्म ही निरर्थक है । प्रतिशोध करने में असमर्थ होने के कारण उसके क्रोध और अनुग्रह निष्फल जाते हैं । (अर्थात् निर्धन किसी पर प्रसन्न होकर उसे कुछ दे नहीं सकता है और अप्रसन्न होने पर उसका कुछ बिगाड़ भी नहीं सकता है) ॥ ४० ॥

अपि च—पक्षविकलश्च पक्षी, शुष्कश्च तरुः, सरश्च जलहीनम् ।
सर्पश्चोद्धृतदंष्ट्रस्तुल्यं लोके दरिद्रश्च ॥ ४१ ॥

अपि च—शून्यैर्गृहैः खलु समाः पुरुषा दरिद्राः
कूपैश्च तोयरहितैस्तरुभिश्च शीर्णैः ।
यद् दृष्टपूर्व-जन-सङ्गम-विस्मृताना-
मेवं भवन्ति विफलाः परितोषकालाः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—पक्षविकलः पक्षी च शुष्कः तरुः च जलहीनम् सरः च उद्धृतदंष्ट्रः सर्पः च दरिद्रः च लोके तुल्यम् ।

पक्षेति—पक्षविकलः = पक्षविहीनः पतत्ररहितः पक्षी च उड्डयनासम्भव इति शेषः । शुष्कः = मर्मरीभूतः (पत्रादिहीनः) तरुः = वृक्षः च (छायादानेऽसमर्थः) जलहीनम् = सलिलशून्यम् सरः च (जलहीनसरसः जलदानासम्भवः) उद्धृतदन्तः = निष्कासितदन्तः सर्पः च (दशनासामर्थ्यम्) दरिद्रश्च=निर्धनश्च (मनोरथानुकूलकार्यकरणासम्भवः) लोके=जगति तुल्यम्=व्यर्थमिति भावः । अत्रार्थी मालोपमा दरिद्र इति सामान्याभिधानात् तद्विशेषचारुदत्तप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा चेत्यनयोः संकरश्च । आर्या जातिः ॥ ४१ ॥

सरलार्थः—लोके पक्षशून्यः विहगः, आतपशोषितो वृक्षः, सलिलशून्यो जलाशयः विषदन्तविहीनः भुजगः, दरिद्रश्च एतत्सर्वं स्वकार्याक्षमत्वात् वृथैवेति भावः ॥४१॥

अन्वयः—दरिद्राः शून्यैः गृहैः तोयरहितैः कूपैः शीर्णैः तरुभिः च समाः खलु यद् दृष्टपूर्वजनसङ्गमविस्मृतानां परितोषकालाः एवं विफला भवन्ति ॥

शून्यैरिति—दरिद्राः=निर्धनाः शून्यैः=निर्जनैः गृहैः=गेहैः तोयरहितैः=निर्जलैः कूपैः शीर्णैः = पत्रादिरहितैः (शुष्कैः) तरुभिः = वृक्षैश्च समाः = तुल्याः खलु । यत् = यस्मात् दृष्टपूर्वस्य = पूर्वपरिचितस्य जनस्य सङ्गमेन = मिलनेन विस्मृतानाम् = विस्मृतनिजदैन्यानाम् (मिलनजन्यानन्देनेति शेषः) । परितोषकालाः = पारितोषिकदानावसराः एवम्=अनेन प्रकारेण विफलाः=व्यर्थाः भवन्ति=जायन्ते । अत्रापि मालोपमाप्रस्तुतप्रशंसा च । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ४२ ॥

और भी—संसार में, पंखविहीन चिड़िया, सूखा वृक्ष, जलहीन तालाब तथा दाँत उखाड़ा हुआ सांप—ये सब निर्धन के समान व्यर्थ जीवित रहते हैं ॥४१॥

और भी—दरिद्र पुरुष तो; शून्य घर, जलहीन कूप तथा सूखे वृक्षों के समान हैं । क्योंकि पूर्व परिचित जन भी जिसे भूल गये हैं, उसके प्रसन्नता के समय भी इसी प्रकार निष्फल हो जाते है । (अर्थात् प्रसन्न होने पर भी उसे देने के लिए पास में कुछ नहीं रहता है) ॥ ४२ ॥

विदू—भो ! अलं अदिमेत्तं सन्तप्पिदेण (प्रकाशं सपरिहासम्) भोदि ! समप्पीअदु मम केरिआ ण्हणा-साडिआ । (भोः ! अलमतिमात्रं सन्तापितेन । भवति ! समर्प्यतां मम स्नानशाटिका)

वसन्त—अज्जचारुदत्त ! जुत्तं णेदं इमाए रअणावलीए इमं जणं तुलइदुं । (आर्य चारुदत्त ! युक्तं नेदम् अनया रत्नावल्या इमं जनं तूलयितुम्)

चारु—(सविलक्षस्मितम्) वसन्तसेने ! पश्य पश्य—

क: श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मां तूलयिष्यति ।
शङ्कनीया हि लोकेऽस्मिन् निष्प्रतापा दरिद्रता ॥ ४३ ॥

सरलार्थः—धनहीनाः पुरुषा उपकरणसम्भारविरहितैः गेहैः, जलहीनैः कूपैः शुष्कैः पादपैश्च निश्चयेन तुल्याः यस्मात् परिचितजनसङ्गमजन्यानन्दातिशयेन विस्मरणवतां दरिद्राणां सन्तोषोचितकालाः निष्फला जायन्ते अशक्तिकत्वादिति भावः ॥ ४२ ॥

विदू इति—अतिमात्रम् = अत्यधिकम् सन्तापितेन = आत्मनः दैन्यं विलोक्य सन्तापाकुलितेन मनसा । स्नानशाटिका = यत्र रत्नावली निक्षिप्ता आसीत् एतेन' आत्मनः सुवर्णभाण्डप्राप्तौ पूर्वदत्तरत्नावलीप्रत्यर्पणं सूचितम् ।

वसन्त इति—रत्नावल्यां = सुवर्णभाण्डस्य प्रतिशोधभूतया इमं जनम्=वसन्तसेनाम् तूलयितुम् = तूलवत् लघूकर्तुम् ।

चारु इति—सविलक्षस्मितम् = त्रपामन्दहासाभ्यां सहितम् ।

क: इति—तृतीयेऽङ्के पद्यमिदं व्याख्यातम् ।

विदूषक—अजी ! अधिक सन्ताप करना व्यर्थ है (प्रकट, हँसी के साथ) श्रीमती जी हमारी स्नान की साड़ी लौटा दीजिये ।

वसन्तसेना—आर्य चारुदत्त ! इस तुच्छ रत्नावली की समता में मुझे लाकर आपने उचित नहीं किया । (अर्थात् रत्नावली देकर आपने यह समझा कि अब यह सुवर्णभाण्ड के विषय में किसी राजदरबार में नालिश न करेगी अन्यथा 'नालिश कर देती' यह सोचना अनुचित था) ।

चारुदत्त—(लज्जा के सहित मुस्कुराकर) वसन्तसेने ! देखो-देखो—

वास्तविक बात पर कौन विश्वास करेगा कि सुवर्णभाण्ड को चोरों ने चुरा लिया है; सब हमारी निन्दा करेंगे कि चारुदत्त धरोहर पचा गया । निर्धनता निर्बल है अतः उस पर सभी कोई शंका करने लगता है ॥ ४३ ॥

विदू—हञ्जे ! किं भोदिए इध ज्जेव सुविदव्वं ?। (हञ्जे किं भवत्या इहैव स्वप्तव्यम् ?

चेटी—(विहस्य) अज्जमित्तेअ ! अदिमेत्तं दाणि उजुअं अत्ताणअं दंसेसि ! (आर्य मैत्रेय ! अतिमात्रमिदानीम् ऋजुमात्मानं दर्शयसि)

विदू—भो वअस्स ! क्खु ओसारन्तो विअ सुहोवविट्टं जणं पुणोवि वित्थारिवारिधाराहिं पविट्ठो पज्जण्णो (भो वयस्य ! एष खलु अपसारयन्निव सुखोपविष्टं जनं पुनरपि विस्तारिवारि-धाराभिः प्रविष्टः पर्जन्यः)

चारु—सम्यगाह भवान् ।

अमूर्हि भित्त्वा जलदान्तराणि पङ्कान्तराणीव मृणालसूच्यः ।
पतन्ति चन्द्रव्यसनाद्विमुक्ता दिवोऽश्रुधारा इव वारिधाराः ॥ ४४ ॥

विदू इति—हञ्जे = विदूकस्य वसन्तसेनां प्रति सखीभावेन सम्बोधनम् ।

चेटीति—अतिमात्रम् = अत्यन्तम् आत्मानम् ऋजुम् = सरलम् ।

विदू इति—एष पर्जन्यः = जलदः सुखोपविष्टम् = सुखासीनम् जनम् = पुरुषम् विस्तारिवारिधाराभिः = अत्यधिकवृष्टिभिः अपसारयन्निव = सुसमाच्छादितस्थाने प्रवेष्टुं प्रेरयन् इव प्रविष्टः = अस्यां वृक्षवाटिकायां समुपस्थितः ।

अन्वयः—हि अमूः वारिधाराः मृणालसूच्यः पङ्कान्तराणि इव जलदान्तराणि भित्त्वा चन्द्रव्यसनाद् विमुक्तः दिवः अश्रुधाराः इव पतन्ति ॥ ४४ ॥

अमूर्हि इति—हि अमूः=दृश्यमानाः वारिधाराः=जलधाराः मृणालस्य सूच्यः = अङ्कुराग्रभागाः पङ्कान्तराणीव=कर्दमस्यान्तराणीव जलदस्य = मेघस्य अन्तराणि= मध्यभागान् भित्त्वा = विदारणं कृत्वा चन्द्रस्य = चन्द्रमसः स्वामिनश्च व्यसनात् = जलदावरणरूपापत्तेः मरणरूपापत्तेश्च विमुक्ताः=गगनान्नेत्राच्च पतिताः दिवः=गग-

---

विदूषक—प्रिय सखि ! क्या रात में आप इसी घर में सोयेंगी ?

चेटी—(हँसकर) आर्य मैत्रेय ! इस समय अपनी आत्मा को आप बिलकुल सरल प्रदर्शित कर रहे हैं ।

विदूषक—हे मित्र ! सुखपूर्वक बैठे हुए हम लोगों को यहाँ से घर के अन्दर ले चलने के लिए मेघ, घोर वृष्टि के साथ इस उद्यान में प्रविष्ट हुआ है ।

चारुदत्त—आपने ठीक कहा ।

यह वृष्टिधारा, जिस प्रकार मृणाल की सुई पंक के अन्तःस्थल में प्रवेश करती है उसी प्रकार मेघ के हृदय को विदीर्ण कर, चन्द्रमा की विपत्ति में

अपि च—

धाराभिरार्यजनचित्तसुनिर्म्मलाभि-
श्चण्डाभिरर्ज्जुन-शर-प्रतिकर्कशाभिः।
मेघाः स्रवन्ति बलदेव–पट–प्रकाशाः
शक्रस्य मौक्तिकनिधानमिवोद्गिरन्तः ॥ ४५ ॥

नस्य पत्न्याश्च अश्रुधाराः = नेत्राबन्दव इव पतन्ति। अत्र पङ्क्तान्तराणीवेति श्रौती उपमा दिवोऽश्रुधारा इवेति जात्युत्प्रेक्षा चन्द्रदिवोर्नायकनायिकाव्यवहारारोपात् समासोक्तिश्च। उपजातवृत्तम् ॥ ४४ ॥

सरलार्थः—तथा हि पतन्त्यः जलधाराः; मृणालसूक्ष्माग्रभागाः कर्दमान्तःप्रदेशा- निव मेघाभ्यन्तरदेशान् विदार्य मेघावरणजनितव्यसनिनः चन्द्रस्य वियोगाद् आ- काशस्य नेत्रोदकप्रवाहा इव वारिधाराः स्रवन्तीति भावः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—बलदेवपटप्रकाशाः मेघाः आर्यजनचित्तसुनिर्मलाभिः अर्जुनशरप्रति- कर्कशाभिः चण्डाभिः धाराभिः शक्रस्य मौक्तिकनिधानम् उद्गिरन्त इव स्रवन्ति।

धाराभिरिति—बलदेवस्य=अच्युताग्रजस्य (बलरामस्य) पटः=नीलवस्त्रम् तद्वत् प्रकाशः=नीलिमा येषां ते तथोक्तः मेघाः = जलदाः आर्यजनस्य = शिष्टपुरुषस्य चित्तवत् = अन्तःकरणमिव सुनिर्मलाः = अतिस्वच्छाः ताभिः अर्जुनस्य=युधिष्ठिरा- नुजस्य शरवत् = बाणवत् प्रतिकर्कशाभिः=अतिकठोराभिः चण्डाभिः = भयङ्कराभिः धाराभिः = वृष्टिभिः शक्रस्य = इन्द्रस्य मौक्तिकानाम् = मुक्तानाम् निधानम्=निधिम् उद्गिरन्तः = निःसारयन्तः इव स्रवन्ति=वर्षन्ति। अत्र सर्वत्र लुप्तोपमा उद्गिरन्त इवेत्यंशे क्रियोत्प्रेक्षासंकरश्च। मेघाः स्रवन्ति इति वाक्यसमाप्तावपि चतुर्थपादोपादा नात्समाप्तपुनरात्ततादोषः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ४५ ॥

सरलार्थः—बलदेवस्याभाः जलधराः साधुजनचित्तवत् निर्मलाभिः अर्जुनशरव- दत्यन्तकठिनाभिः अत एव भयानकाभिः धाराभिः इन्द्रस्य मुक्ताराशिं निःसारयन्त इव गलन्ति ॥ ४५ ॥

(क्योंकि चन्द्रमा मेघ से ढंक गये हैं) आकाश की अश्रुधारा के समान गिर रही है ॥ ४४ ॥

और भी—

बलदेव जो कि नील वस्त्र के समान कान्ति वाले मेघ; सज्जनों के चित्त के तुल्य विमल तथा अर्जुन के प्रचण्ड बाण के समान कठोर एवं भीषण जलधाराओं के द्वारा इन्द्र की मौक्तिक राशि को निकाल-निकाल कर मानो गिरा रहे हैं ॥ ४५ ॥

प्रिये ! पश्य पश्य—

एतैः पिष्ट-तमाल-वर्णकनिभैरालिप्तमम्भोधरैः
संसक्तैरुपवीजितं सुरभिभिः शीतैः प्रदोषानिलैः !
एषाऽम्भोद-समागम-प्रणयिनी स्वच्छन्दमभ्यागता
रक्ता कान्तमिवाम्बरं प्रियतमा विद्युत् समालिङ्गति ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अम्भोदसमागमप्रणयिनी स्वच्छन्दमभ्यागता रक्ता एषा विद्युत् प्रियतमा कान्तम् इव एतैः पिष्टतमालवर्णकनिभैः अम्भोधरैः लिप्तम् संसक्तैः सुरभिभिः शीतैः प्रदोषानिलैः उपवीजितम् अम्बरम् समालिङ्गति ।

एतैरिति—अम्भोदेन=मेघेन (उपपतिना च) सह समागमः सम्मेलनम् तत्र प्रणयिनी=प्रेमवती स्वच्छन्दम्=स्वेच्छया अभ्यागता=सम्प्राप्ता अत एव रक्ता= रक्तवर्णा (अनुरक्ता च) एषा विद्युत्=तडित्=प्रियतमा=कामिनी कान्तम्= प्रियमिव पिष्टम्=पाषाणमर्दितम् यत् तमालम्=तमालपत्रम्=तदेव वर्णकः=विलेपनम् तन्निभैः=तत्सदृशैः नीलैः अम्भोधरैः=जलदैः आलिप्तम्=सर्वत्रानुलिप्तम् तथा संसक्तैः=घनीभूतैः सुरभिभिः=सुगन्धिभिः शीतैः=शीतलैः प्रदोषानिलैः=सायंतनपवनैः उपवीजितम् अम्बरम्=गगनम् समालिङ्गति=व्याप्नोति (आश्लिष्यति च) अत्र विद्युति नायिकाव्यवहारमारोपाद् अम्भोदे जारनायकस्य च अम्बरे प्रियनायकत्वस्य चारोपात् समासोक्तिः प्रथमपादगता लुप्तोपमा कान्तमिवेति श्रौतोपमा एषाञ्च गुणप्रधानभावेन सङ्करः ।

तेनात्मनि वसन्तसेनासम्भोगलालसा व्यज्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४६ ॥

सरलार्थः—अम्भोदसमागमे अभिलाषिणी यथेच्छमुपस्थिता अनुरक्ता पक्षान्तरे लोहितवर्णा चपला कामिनी प्रियतमा इव पिण्डीभूततमालविलेपनप्रतीकाशैः नीलवर्णैः मेघैरावृतम्, पक्षान्तरे कस्तूरिकाद्यङ्गरागलिप्ताङ्गं सुगन्धैः शीतलैः प्रदोषानिलैः, पक्षान्तरे स्निग्धसुगन्धव्यजनानिलैः संश्लिष्टमाकाशं स्वसंयुक्तं करोति, पक्षान्तरे आश्लिष्यति च ॥ ४६ ॥

प्रिये ! देखो-देखो—

मेघ के समागम से प्रेमवती तथा स्वतंत्रतापूर्वक स्वयं आई हुई एवं अनुराग पूर्ण विजुली रूपी प्रियतमा पत्थरों पर कूटे हुए तमाल पत्र के समान श्यामवर्ण के मेघों से अनुलिप्त तथा एकत्रीभूत सुरभित, शीतल सायंकालीन वायु से उपवीजित (पंखा झले जाते हुए) आकाशरूपी प्रियतम से गाढालिङ्गन करती है ॥

(वसन्तसेना शृङ्गारभावं नाटयन्ती चारुदत्तमालिङ्गति)

चारु—(स्पर्शं नाटयन् प्रत्यालिङ्ग्य)

भो मेघ ! गम्भीरतरं नद त्वं तव प्रसादात् स्मरपीडितं मे ।

संस्पर्शरोमाञ्चितजातरागं कदम्बपुष्पत्वमुपैति गात्रम् ॥ ४७ ॥

विदू—दासीए पुत्ता ! दुद्दिण ! अणज्जो दाणि सि तुमं, जं अत्तभोर्दि विज्जुआए भाअवेसि । (दास्याः पुत्र ! दुर्दिन ! अनार्य इदानीमसि त्वम्, यदत्रभवती विद्युता भाययसि)

चारु—वयस्य ! नार्हस्युपालब्धुम् ।

अन्वयः—भो मेघ ! त्वम् गम्भीरतरम् नद तव प्रसादात् स्मरपीडितम् मे गात्रम् संस्पर्शरोमाञ्चितजातरागम् कदम्बपुष्पत्वम् उपैति ॥ ४७ ॥

भो इति—भो मेघ=जलद ! त्वम् गम्भीरतरम्=घोरतरम् नद=गर्ज । तव=ते प्रसादात्=अनुग्रहात् स्मरपीडितम्=कामसन्तप्तम् मे=मम गात्रम्=शरीरं संस्पर्शेन=वसन्तसेनाकृताश्लेषेण रोमाञ्चितम्=पुलकितम् तस्मात् जातः=उत्पन्नः रागः=अनुरागः यस्मिन् तथाभूतं सत् कदम्बपुष्पत्वम्=कदम्बपुष्पवत् विभातीति भावः । अत्र कदम्बपुष्पत्वेन बिम्बानुबिम्बत्वदर्शनान्निदर्शनालङ्कारः स च सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपः, तथाहि–'सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वापि कुत्रचित् । यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना ॥' इति दर्पणोक्तेः । उपजातिर्वृत्तम् ॥

सरलार्थः—हे जलधर ! त्वं सुगम्भीरं गर्ज यतो हि तव कृपया वसन्तसेनालिङ्गनजनितरोमाञ्चद्वारा कदम्बकुसुमोपमं मम गात्रं कामपीडितं प्रमुदितत्वं जातमिति भावः ।

विदू इति—अत्रभवतीम्=पूज्यां वसन्तसेनाम् ।

(वसन्तसेना शृङ्गार-भाव का अभिनय करती हुई चारुदत्त का आलिंगन करती है)

चारुदत्त—(स्पर्श का अनुभव करते हुए आलिङ्गन करते हैं)

हे मेघ ! तुम और अधिक घोर गर्जन करो, क्योंकि तुम्हारे नाद के प्रभाव से मेरी कामार्त्त देह वसन्तसेना के स्पर्श से पुलकित तथा रागवती होकर कदंब पुष्प के समान विकसित एवं रोमाञ्चित हो रही है ॥ ४७ ॥

विदूषक—अरे अधम दुर्दिन ! तुम बड़े नीच हो कि आर्या वसन्तसेना को बिजली के द्वारा भयभीत कर रहे हो ।

चारुदत्त—मित्र ! उसकी निन्दा नहीं कर सकते हो ।

वर्षशतमस्तु दुर्दिनमविरतधारं शतह्रदा स्फुरतु ।
अस्मद्विधदुर्लभया यदहं प्रियया परिष्वक्तः ॥ ४८ ॥

अपि च—वयस्य !

धन्यानि तेषां खलु जीवितानि ये कामिनीनां गृहमागतानाम् ।
आर्द्राणि मेघोदकशीतलानि गात्राणि गात्रेषु परिष्वजन्ति ॥ ४९ ॥

अन्वयः—वर्षशतम् अविरतधारम् दुर्दिनम् अस्तु शतह्रदा स्फुरतु यत् अस्मद्विधदुर्लभया प्रियया अहम् परिष्वक्तः ।

वर्षेति—वर्षाणां शतम् यावत् अविरता=अविच्छिन्ना धारा यस्मिन् तथोक्तम् अस्तु दुर्दिनम्=मेघच्छन्नमहः अस्तु शतह्रदा=तडित् स्फुरति=स्फुरणं करोतु यत्=यस्मात् अस्मद्विधानाम्=अकिञ्चनानाम् दुर्लभा=धनाभावादप्राप्या तया प्रियया=वसन्तसेनया अहम्=चारुदत्तः परिष्वक्तः=आलिङ्गितः ॥ ४८ ॥

सरलार्थः—वर्षशतं यावत् निरन्तरवर्षणप्रवाहविशिष्टं मेघावृतमहः वर्त्ततां नाम विद्युच्च दीप्यतु यस्मात् कारणात् अस्मादृशैः दरिद्रैः दुष्प्रापया प्रणयिन्या वसन्तसेनया स्वयंग्राहमहमालिङ्गित इति भावः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—ये गृहम् आगतानाम् कामिनीनाम् मेघोदकशीतलानि आर्द्राणि गात्राणि गात्रेषु परिष्वजन्ति तेषां खलु जीवितानि धन्यानि ।

धन्यानीति—ये=पुरुषाः गृहम्=स्वभवनं आगतानाम्=स्वयमेवायातानाम् कामिनीनाम्=कामार्त्तानां भामिनीनाम् मेघस्य=जलदस्य उदकैः=जलैः शीतलानि=शीतानि आर्द्राणि=सिक्तानि गात्राणि=शरीराणि गात्रेषु=स्वशरीरेषु परिष्वजन्ति=आश्लिष्यन्ति तेषाम्=जनानाम् खलु जीवितानि=प्राणधारणानि धन्यानि=प्रशंसनीयानि । अत्राप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ४९ ॥

सरलार्थः—ये जनाः स्वयं स्वगेहोपस्थितानां कान्तानां वर्षाजलशिशिराणि अत एव सिक्तानि अङ्गानि स्वशरीरेषु संस्थापयन्ति तेषां पुरुषाणां जीवनानि सार्थकानि इति निश्चितमिति भावः ॥ ४९ ॥

अविरल वृष्टिधारा वाला दुर्दिन सैकड़ों वर्ष तक रहे और बिजुली चमकती रहे। क्योंकि हमारे जैसे निर्धनों के लिए दुर्लभ प्रियतमा वसन्तसेना से मैं इसी समय आलिङ्गित हुआ हूँ ॥ ४८ ॥

और भी। मित्र !

उन्हीं मनुष्यों का जीवन धन्य है; जो स्वयं घर में आई हुई कामिनियों के वर्षा जल से भीगे एवं शीतल अंगों को अपने अंगों से आलिङ्गन करते हैं।

प्रिये ! वसन्तसेने !

स्तम्भेषु प्रचलित-वेदि-सञ्चयान्तं शीर्णत्वात् कथमपि धार्यते वितानम् ।
एषा च स्फुटित-सुधा-द्रवानुलेपात् संक्लिन्ना सलिल-भरेण चित्रभित्तिः ॥

(ऊर्ध्वमवलोक्य) अये ! इन्द्रधनुः । प्रिये ! पश्य पश्य—

विद्युज्जिह्वेनेदं महेन्द्रचापोच्छ्रितायतभुजेन ।
जलधर-विवृद्ध-हनुना विजृम्भितमिवान्तरीक्षेण ॥ ५१ ॥

अन्वयः—प्रचलितवेदिसञ्चयान्तम् वितानम् शीर्णत्वात् कथमपि स्तम्भेषु धार्यते एषा च चित्रभित्तिः स्फुटितसुधाद्रवानुलेपात् सलिलभरेण संक्लिन्ना ।

स्तम्भेष्विति—प्रचलितः=पवनाघातेन कम्पितः वेदिसञ्चये उपरितलभूमिसमूह-सविधे अन्तः=प्रान्तभागः यस्य तत्तादृशम् वितानम्=चन्द्रातपः शीर्णत्वात्=स्तम्भा-स्तमतिजीर्णत्वात् कारणात् कथमपि=महता दुःखेन धार्यते=केनापि प्रकारेण रक्षा क्रियते । एषा च चित्रा=नानाशिल्पकलापरिपूर्णा भित्तिः स्फुटितसुधाद्रवानुलेपात्= सुधाद्रवानुलेपस्य स्फुटितत्वात् सलिलभरेण=भित्तिस्फोटान्तः प्रविष्टजलेन संक्लिन्ना=अतिसिक्ता । अर्थात् भित्तीनामपि पतनाशङ्का सततमेवास्तीति भावः प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ ५० ॥

सरलार्थः—वायुवेगकम्पितवद्धभूमिसमूहनियोजितप्रान्तभागं वितानं जीर्णत्वाद् अतिक्लेशेन स्तम्भेषु ध्रियते, पुरतो दृश्यमाना नानावर्णभूषिता विचित्ररूपा भित्तिः चूर्णेन लिप्ता जलवेगेनार्द्रीकृता इति भावः ॥ ५० ॥

अन्वयः—विद्युज्जिह्वेन महेन्द्रचापोच्छ्रितायतभुजेन जलधरविवृद्धहनुना अन्तरीक्षेण विजृम्भितम् ।

विद्युदिति—विद्युदेव=तडिदेव जिह्वा (लोहित्याल्लम्बमानत्वादतिचपलत्वाच्च) यस्य तेन महेन्द्रस्य=शक्रस्य चापम्=धनुः एव उच्छ्रितौ=उत्थापितौ आयतौ=विशालौ भुजौ यस्य तेन जलधरः=जलदः (एव) विवृद्धा=लम्बिता हनुः (ठुड्डी) यस्य तेन,

---

प्रिये ! वसन्तसेने !!

वायु के वेग से संचालित, वेदिका-संचय के अंतभाग वाला वितान, जीर्ण होने के कारण बंन्धन स्तम्भ में नहीं ठहर रहा है । पुरानी होने से चित्रित भित्ति, चूना के लेप के गलने के कारण जलवृष्टि के अन्तःप्रवेश से सिक्त हो गई है । (अर्थात् अब इस जीर्ण-शीर्ण स्थान से हटकर हम लोगों को घर के अन्दर चलना चाहिए) ॥ ५० ॥

(ऊपर की ओर देखकर) अहा ! प्रिये ! देखो देखो—

विजुली ही जिसकी जिह्वा है, इन्द्र-धनुष ही जिसकी उन्नत एवं विशाल

तदेहि, अभ्यन्तरमेव प्रविशावः (इत्युत्थाय परिक्रामति)
तालीषु तारं विटपेषु मन्द्रं शिलासु रूक्षं सलिलेषु चण्डम् ।
सङ्गीतवीणा इव ताडयमानास्तालानुसारेण पतन्ति धाराः ॥ ५२ ॥
(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)
दुर्द्दिनो नाम पञ्चमोऽङ्कः

अन्तरीक्षेण = गगनेन विजृम्भितम् इव । अत्र विद्युदादौ जिह्वाद्यारोप इति रूपकम् ॥

सरलार्थः—तडिद्रसनेन इन्द्रधनुरुत्तोलनलम्बायमानबाहुना मेघलम्बितकपोलाधःस्थित-भागेन गगनमण्डलेन मुखव्यादानकृतमिव एतत्पुरः पश्य इति भावः ॥

तदिति—तद् = वज्रादिपतनाशङ्कया अभ्यन्तरम् = गृहाभ्यन्तरम् ।

अन्वयः—तालानुसारेण ताडयमाना सङ्गीतवीणा इव धाराः तालीषु तारम् विटपेषु मन्द्रम् शिलासु रूक्षम् सलिलेषु चण्डम् पतन्ति ।

तालीष्विति—तालानुसारेण=सङ्गीताङ्गतालानुकूलेन ताडयमानाः=वाद्यमानाः सङ्गीतवीणा इव धाराः वृष्टिजलधाराः तालीषु = तालवनेषु तारम् = उच्चैः (यथा स्यात्तथा) विटपेषु = वृक्षेषु मन्द्रम्=गम्भीरशब्दः यथा स्यात्तथा एवम् शिलासु= पाषाणेषु रूक्षम्=अतिकठिनम् यथा स्यात्तथा एवम् सलिलेषु = वाप्यादिगतवारिषु चण्डम् = अतितीव्रम् यथा स्यात्तथा पतन्ति = वर्षन्ति ॥ उपजातिवृत्तम् ॥५२॥

सरलार्थः—तालवनेषु उच्चशब्दं तरुशाखासु गम्भीरं प्रस्तरेषु कर्कशस्वरं तडागादिजलेषु तीव्ररवं यथा स्यात्तथा वाद्यमानसंगीतवीणा इव वारिधाराः तालानुसारेण पतन्तीति भावः ॥५२ ॥ इति पञ्चमोऽङ्कः ।

भुजाएं हैं तथा विस्तृत मेघ जिसकी कपोलयुक्त दाढ़ी है उस आकाश ने मुंह खोलकर जँभाई ली है ॥ ५१ ॥

इसलिए आओ अब अन्दर ही प्रवेश करें । (उठकर घूमते हैं)

वृष्टिधारा, संगीत वीणा के समान ताडित होने पर, ताल के अनुसार ही ताल वन में उच्च स्वर, वृक्ष-शाखाओं पर गंभीर, पर्वतों पर कर्कश तथा जल में प्रचण्ड रूप से गिर रही है ॥ ५२ ॥ (सब चले गये)

दुर्द्दिन नामक पंचम अङ्क समाप्त

षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चेटी)

चेटी—कध अज्ज वि अज्जआ ण विवुज्झदि। भोदु, पविसिअ पडिबोधइस्सं। (इति नाटयेन परिक्रामति) (कथमद्यापि आर्या न विबुध्यते। भवतु, प्रविश्य प्रतिबोधयिष्यामि)

(ततः प्रविशति आच्छादितशरीरा प्रसुप्ता वसन्तसेना)

चेटी—(निरूप्य) उत्थेदु उत्थेदु अज्जआ। पभादं संवुत्तं। (उत्तिष्ठतु उत्तिष्ठतु आर्या। प्रभातं संवृत्तम्)

वसन्त—(प्रतिबुध्य) कधं रत्ति ज्जेव पभादं संवुत्तं ? (कथं रात्रिरेव प्रभातं संवृत्तम्) ?

चेटी—अम्हाणं एसो पभादो, अज्जआए उण रत्तिज्जेव। (अस्माकमेतद् प्रभातम्, आर्यायाः पुनः रात्रिरेव)

वसन्त—हञ्जे ! कहिं उण तुम्हाणं जूदिअरो ? (हञ्जे ! कस्मिन् पुनर्युष्माकं द्यूतकरः ?)

तत इति—चेटी = चारुदत्तस्य सेविका।

वसन्त इति—सुरतासङ्गेन रजनीं व्यतीत्य प्रातर्निद्राणाया वसन्तसेनाया उक्तिः—रात्रिरेव प्रभातं संवृत्तमिति।

चेटीति—अस्माकम् = रात्रौ शयानानाम् प्रभातम् आर्यायाः = सुरतसुखास्वादेन रात्रौ निद्राप्राप्तायास्तु रात्रिरेव।

(इसके बाद चेटी आती है)

चेटी—क्या अभीतक आर्या वसन्तसेना न उठीं ? अच्छा चलकर जगाती हूँ। (अभिनयपूर्वक घूमती है)

(इसके बाद शरीर ढँककर सोई हुई वसन्तसेना का प्रवेश)

चेटी—(देखकर) उठिए-उठिए आर्या सवेरा हो गया।

वसन्तसेना—(जगकर) क्या रात्रि ही सवेरा हो गई ?

चेटी—हमलोगों के लिए तो सवेरा हो गया, किन्तु आपके लिए रात्रि ही होगी।

वसन्तसेना—अरी ! तुम लोगों के जुआड़ी (चारुदत्त) कहाँ गए हैं ?

चेटी—अज्जए ! वड्ढमाणअं समादिसिअ पुप्फकरण्डअं जिण्णुज्जाणं गदो अज्जचारुदत्तो। (आर्ये ! वर्द्धमानकं समादिश्य पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं गत आर्य चारुदत्तः)

वसन्त—किं समादिसिअ ? (किं समादिश्य ?)

चेटी—जोएहि रात्तीए पवहणं। वसन्तसेना गच्छदु त्ति। (योजय रात्रौ प्रवहणम्। वसन्तसेना गच्छतु इति)

वसन्त—हञ्जे ! कहिं मए गन्तव्वं ? (हञ्जे ! कस्मिन् मया गन्तव्यम् ?)

चेटी—अज्जए ! जहि चारुदत्तो। (आर्ये ! यस्मिन् चारुदत्तः)

वसन्त—(चेटीं परिष्वज्य) सुट्ठु ण णिज्झाइदो रात्तीए, ता अज्ज पच्चक्खं पेक्खिस्सं। हञ्जे ! किं पविट्ठा अहं अब्भन्तरचदुस्सालअं ?। (हञ्जे ! सुष्ठु न निध्यातो रात्रौ, तदद्य प्रत्यक्षं प्रेक्षिष्ये। हञ्जे ! किं प्रविष्टा अहमिह अभ्यन्तरचतुःशालकम् ?)

आर्ये इति—वर्द्धमानकम् = वर्द्धमानकनाम्ना प्रसिद्धं चारुदत्तदासम्। समादिश्य-आदेशं दत्त्वा करण्डकम् = करण्डो मधुकोषः यस्मिस्तत् पुष्पाणां करण्डकम् = पात्र-विशेषः तद्वदित्यर्थः, तत्संज्ञकोद्यानम् = वाटिकाम्।

चेटीति—प्रवहणम्=गोरथम् = रात्रौ=आगामिन्यां निशायाम् योजय=प्रस्तुतं कुरु।

वसन्त इति—सुष्ठु = निपुणम् न निध्यातः = नावलोकितः चतसृणां शालानां समाहारः चतुःशालम् तस्याभ्यन्तरे इति अभ्यन्तरचतुःशालकम् = अन्तःपुरम्।

चेटी—आर्ये ! वर्द्धमानक से कहकर आर्य चारुदत्त 'पुष्पकरण्डक' नामक पुरातन उपवन में गए हैं।

वसन्तसेना—क्या कहकर ?

चेटी—रात्रि में बैलगाड़ी ठीक करो। वसन्तसेना उसपर चढ़कर जाय।

वसन्तसेना—अरी ! मुझे कहाँ जाना होगा ?

चेटी—आर्ये जहाँ आर्य चारुदत्त गए हैं।

वसन्तसेना-(चेटी को आलिङ्गन कर) रात्रि में मैंने उन्हें (चारुदत्त को) ठीक से न देखा, अतः आज दिन में उन्हें अच्छी तरह से देखूँगी। अरी ! क्या मैं यहाँ अन्तःपुर में प्रविष्ट हूँ ?

चेटी—ण केवलं अब्भन्तरचदुस्सालअं, सव्वजणस्स वि हिअअं पविट्ठा। (न केवलमभ्यन्तरचतुःशालकम्, सर्वजनस्यापि हृदयं प्रविष्टा)

वसन्त—अवि सन्तप्पदि चारुदत्तस्स परिअणो ?। (अपि सन्तप्यते चारुदत्तस्य परिजनः ?)

चेटी—सन्तप्पिस्सदि। (सन्तप्स्यति)

वसन्त—कदा ? (कदा ?)

चेटी—जदा अज्जआ गमिस्सदि। (यदा आर्या गमिष्यति)

वसन्त—तदो मए पढमं सन्तप्पिदव्वं। (सानुनयम्) हञ्जे ! गेण्ह एदं रअणावलिं, मम बहिणिआए अज्जाधूदाए गदुअ समप्पेहि। भणिदव्वं अ–'अहं सिरिचारुदत्तस्स गुणणिज्जिदा दासी, तहा तुम्हाणं पि; ता एसो तुह ज्जेव कण्ठाहरणं होदु रअणावली (ततो मया प्रथमं सन्तप्तव्यम्। हञ्जे ! गृहाण एतां रत्नावलीम् मम भगिन्यै आर्यधूतायै गत्वा समर्पय, वक्त-

---

चेटी इति—सर्वजनस्य = चारुदत्तगृहवासिनः लोकस्य हृदयम् = चेतः प्रविष्टा = प्रेमपात्री जाता। (सर्वान्प्रति स्नेहादिप्रदर्शनात्)

वसन्त इति—परिजनः = अन्तरङ्गः परिवारः (वनिता) सन्तप्यते = सपत्नीत्वबुद्धया गणिकागमनबुद्धया च सन्तापं प्राप्स्यति किम् ? इति पृच्छति।

चेटीति—आर्या = भवती यदा गमिष्यति = इतः प्रस्थास्यति तदा चारुदत्तस्य परिजनः संन्तप्स्यते = सन्तापं प्राप्स्यति (तव वियोगादिति शेषः)

वसन्त इति—ततः = तस्मात् प्रथमम् = पूर्वम् मया = वसन्तसेनया सन्तप्तव्यम् = तद्गुणेन वशीकृतत्वात् सन्तापः प्राप्तव्यः आर्यधूतायै = चारुदत्तपत्न्यै गत्वा (तदन्ति-

---

चेटी—केवल अन्तःपुर ही में नहीं बल्कि सभी जनों के हृदय में भी प्रविष्ट हो गई हो।

वसन्तसेना—क्या आर्य चारुदत्त के परिवार (हमारे आगमन से) दुःखी हैं ?

चेटी—दुःखी होंगे।

वसन्तसेना—कब ?

चेटी—जब आप चली जायगी।

वसन्तसेना—तब पहले तो मैं ही दुःखी होऊँगी। अरी ! इस रत्नावली को ले और जाकर इसे मेरी बहन आर्या धूता (चारुदत्त की स्त्री) को

व्यश्च—'इयं' श्रीचारुदत्तस्य गुणनिर्जिता दासी, तदा युष्माकमपि; तदेषा तवैव कण्ठाभरणं भवतु रत्नावली')

चेटी—अज्जए ! कुविस्सदि चारुदत्तो अज्जाए दाव। (आर्ये ! कुपिष्यति चारुदत्त आर्यायै तावत्)

वसन्त—गच्छ, ण कुविस्सदि। (गच्छ, न कुपिष्यति)

चेटी—(गृहीत्वा) जं आणवेदि। (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविशति) अज्जए। भणादि अज्जा धूदा—अज्जा अज्जउत्तेण तुम्हाणं पसादीकिदा, ण जुत्तं मम एदं गेण्हिदुं। अज्जउत्तो ज्जेव मम आहरणविसेसो त्ति जाणादु भोदी। (यदाज्ञापयति। भणति आर्या धूता—'आर्यपुत्रेण युष्माकं प्रसादीकृता न युक्तं ममैतां ग्रहीतुम्। आर्यपुत्र एव मम आभरणविशेषः इति जानातु भवती')

कमिति शेषः) श्रीचारुदत्तस्य गुणेन = औदार्यादिना निर्जिता = वशीकृता दासी तदा युष्माकमपि = धूतायाः अपि दास्ये (पतिपत्नीत्वेनोभयोरैक्यात्) तवैव = युष्माकमेव (अनन्यबोधनार्थमेकत्वम्) तवेदमस्त्विति भावः। इदमुत्तमं कण्ठाभरणं स्वामिनीयोग्यम् दास्याः (मम) कण्ठे नार्हतीति उक्तम्।

चेटीति—कुपिष्यति = दत्तवस्तुनः पुनरादानात् कोपं करिष्यति (एतेनौदार्योपवृंहितः सदाचारो व्यज्यते)।

वसन्त इति—न कुपिष्यति = मदलङ्कारप्राप्तौ तत्प्रतिदानस्थानीयायाः रत्नावल्या इदानीं प्रत्यर्पणस्यैवौचित्यात् क्रोधं न करिष्यतीति भावः।

चेटीति—आर्यपुत्र एव = पतिश्चारुदत्त एव मम = धूतायाः आभरणविशेषः = प्रधानं भूषणम् एतेन पातिव्रत्यं व्यज्यते।

समर्पित कर दो; और कहना कि 'यह दासी वसन्तसेना आर्यचारुदत्त के गुणों के वशीभूत है, इस प्रकार आप लोगों के भी वशीभूत है, इसलिए यह रत्नावली आर्याधूता के ही कण्ठ में सुशोभित हो।'

चेटी—आर्ये ! चारुदत्त आर्या पर क्रुद्ध होंगे।

वसन्तसेना—जाओ, नहीं क्रुद्ध होंगे।

चेटी—(लेकर) जैसी आपकी आज्ञा। (निकल जाती है और पुनः प्रविष्ट होकर) आर्या धूता कहती हैं कि 'आर्यपुत्र ने प्रसन्न होकर इसे आप को दिया है, इसलिए मेरा लेना उचित नहीं है। आपको जानना चाहिए कि आर्यपुत्र ही मेरे विशेष आभूषण हैं।'

(ततः प्रविशति दारकं गृहीत्वा रदनिका)

रद—एहि वच्च! असड़िआए कीलम्ह। (एहि वत्स! शकटिकया क्रीडावः)

दारकः—(सकरुणम्) रदणिए! किं मम एदाए मट्टिआसड़िआए, तं ज्जेव सोवरण्ड-सअड़िअ देहि। (रदनिके! किं मम एतया मृत्तिकाशकटिकया; तामेव सौवर्णशकटिकां देहि)

रद—(सनिर्वेदं निश्वस्य) जाद! कुदो अम्हाणं सुवण्ण-ववहारो?। तादस्स पुणो वि रिद्धीए सुवण्णसअड़िआए कीलिस्ससि। ता जाव विणोदेमि णं, अज्जआ-वसन्तसेणाआए समीवं उपसप्पिस्सं। (उपसृत्य) अज्जए! पणमामि (जात! कुतोऽस्माकं सुवर्णव्यवहारः? तातस्य पुनरपि ऋद्धया सुवर्णशकटिकया क्रीडिष्यसि। तद्यावद्विनोदयाम्येनम्। आर्यवसन्तसेनायाः समीपमुपसर्पिष्यामि। आर्ये! प्रणमामि)

वसन्त—रदणिए! साअदं दे?। कस्स उण अअं दारओ? अणलङ्किद-सरीरो वि चन्दमुहो आणन्देदि मम हिअअं। (रदनिके! स्वागतं ते। कस्य पुनरयं दारकः? अनलङ्कृतशरीरोऽपि चन्द्रमुख आनन्दयति मम हृदयम्)

रद इति—शकटिकया = लघुशकटेन।

रद इति—तातस्य = पितुः (चारुदत्तस्येति भावः) ऋद्धया = पुनरप्युत्पद्यमानया सम्पत्त्या एनम् = बालम् (चारुदत्तपुत्रम्) विनोदयामि = बालं नीत्वा अन्यत्र गमनेन प्रकृतिस्थं भावयामि।

वसन्त—दारकः = शिशुः चन्द्रमुखः = चन्द्र इव मुखं यस्य सः तथोक्तः।

(इसके बाद लड़के को लेकर रदनिका आती है)

रदनिका—आओ वत्स! इस गाड़ी से खेलें।

बालक—(करुणापूर्वक) रदनिके! मुझे इस मिट्टी की गाड़ी से क्या प्रयोजन? मुझे वही सोने की गाड़ी दो।

रदनिका—(दुःखपूर्वक निश्वास लेकर) पुत्र! हमलोगों के यहाँ सोने का व्यवहार कहां? पिता चारुदत्त के सम्पत्तिशाली होने पर पुनः सुवर्ण की गाड़ी से खेलना। तब तक इस बालक का मन बहलाऊं; आर्या वसन्तसेना के पास चलती हूँ। (जाकर) आर्ये! प्रणाम करती हूँ।

वसन्तसेना—रदनिके! तुम्हारा स्वागत है। यह बालक किसका है? बिना

रद—एसो क्खु अज्जचारुदत्तस्स पुत्तो रोहसेणो णाम। (एष खलु आर्यं चारुदत्तस्य पुत्रो रोहसेनो नाम)

वसन्त—(बाहू प्रसार्य) एहि मे पुत्तअ ! आलिङ्ग। (इत्यङ्क उपवेश्य) अणुकिदं अणेण पिदुणो रूवं। (एहि मे पुत्रक ! आलिङ्ग। अनुकृतमनेन पितुः रूपम्)

रद—ण केवलं रूवं सीलं पि, तक्केमि। एदिणा अज्जचारुदत्तो अत्ताणअं विणोदेदि। (न केवलं रूपम्. शीलमपि. तर्कयामि। एतेन आर्यं चारुदत्त आत्मानं विनोदयति)

वसन्त—अध किं णिमित्तं एसो रोअदि ?। (अथ किं निमित्तमेष रोदिति)

रद—एदिणा पडिवेसिअ–गहवइ-दारअ-केरिआए सुवण्ण सअडिआए कीलिदं, तेण अ सा णीदा, तदो उण तं मग्गन्तस्स मए इअं मट्टिआ–सअडिआ कदुअ दिण्णा। तदो भणादि—रदणिए ! किं मम एदाए मट्टिआ–सअडिआए, तं ज्जेव सोवण्ण–सअडिअं देहि' त्ति। (एतेन प्रतिवेशिक-गृहपति–दारकस्य सुवर्णशकटिकया क्रीडितम्, तेन च सा नीता, ततः पुनस्तां

रद इति–एतेन = रोहसेनाख्यपुत्रेण आत्मानं विनोदयति=चित्तं सान्त्वयति।

रद इति–प्रतिवेशिकः स्वालयसमीपवासी गृहपतिः = वणिक् तस्य दारकः = पुत्रः तस्य सुवर्णशकटिकया = स्वर्णनिर्मितलघुशकटेन क्रीडितम्। तेन = वणिग्दारकेण सा = स्वसुवर्णशकटिका नीता = गृहीता ताम्=पूर्वोक्तशकटिकाम् मार्गयतः =

आभूषण आदि पहने हुए भी इसका चन्द्र के समान मुख मेरे हृदय को आनन्दित कर रहा है।

रदनिका—यह आर्य चारुदत्त का पुत्र रोहसेन है।

वसन्तसेना—(हाथ फैलाकर) मेरे पुत्र ! आओ। आलिङ्गन करो। (गोद में बैठाकर) इसने साफ पिता का रूप पाया है।

रदनिका—केवल रूप ही नहीं, मैं तो अनुमान करती हूँ कि स्वभाव भी वैसा ही प्राप्त किया है। इसी से आर्य चारुदत्त अपना विनोद करते हैं।

वसन्तसेना—अच्छा यह बालक रो क्यों रहा है ?

रदनिका—अपने पड़ोसी गृहपति बनिये के लड़के की सुवर्णमयी गाड़ी से यह अभी खेल चुका है। वह उस गाड़ी को ले गया। फिर भी यह गाड़ी माँगने

मार्गयतो मया इयं मृत्तिका-शकटिका कृत्वा दत्ता। ततो भणति—'रदनिके! किं मम एतया मृत्तिका-शकटिकया, तामेव सौवर्ण-शकटिकां देहि' इति)

वसन्त—हद्धी हद्धी ! अअं पि णाम पर-सम्पत्तीए सन्तप्पदि ! भअवं । कअन्त । पोक्खर-वत्त-पड़िद-जलविन्दु-सरिसेहिं कालसि तुमं पुरिस-भाअधेएहिं (इति सास्रा) जाद ! मा रोद, सोवण्ण-सअड़िआए कीलिस्ससि। (हा धिक् हा धिक्। अयमपि नाम परसम्पत्त्या सन्तप्यते। भगवन् ! कृतान्त ! पुष्कर-तत्र-पतित-जलविन्दु-सदृशैः क्रीडसि त्वं पुरुषभाग-देयैः। जात ! मा रुदिहि, सौवर्णशकटिकया क्रीडिष्यसि)

दारकः—रदणिए ! का एसा ?। (रदनिके ! का एषा ?)

वसन्त—पिदुणो दे गुणणिज्जिदा दासी। (पितुस्ते गुणनिर्जिता दासी)

रद—जाद ! अज्जआ दे जणणी भोदि। (जात ! आर्या ते जननी भवति)

प्रार्थयतः मृत्तिकाशकटिका = मृन्निर्मितयानम् दत्ता = समर्पिता एतया = समर्पितया मृत्तिकाशकटिकया = मृन्निर्मितयानेन मम किम् = अर्थात् न ग्रहीष्यामि तामेव = पूर्वंप्राप्तामेव सौवर्णशकटिकां = कनकनिर्मितशकटं देहि।

वसन्त इति—अयमपि = विश्वविश्रुतचारुदत्तस्य पुत्रोऽपि परसम्पत्त्या=अन्यसम्पदा पुष्करस्य = कमलस्य पत्रे = दले पतिता जलबिन्दवः = जलकणाः=तत्सदृशैः तद्वदतिचपलैः पुरुषस्य = जनस्य भागधेयैः = प्रारब्धैः। क्रीडसि = खेलसि।

वसन्त इति—गुणनिर्जिता = औदार्यादिना वशीकृता दासी=सेविका।

रद इति—जननी = माता (पितृभोग्यत्वेन मातृस्थानीया)

लगा तो मैंने मिट्टी की गाड़ी बनाकर इसे दी। तब यह कहता है कि—'रदनिके ! मुझे इस मिट्टी की गाड़ी से क्या प्रयोजन ? मुझे वही सोने की गाड़ी दो'।

वसन्तसेना—हाय ! हाय !! यह भी दूसरे की सम्पत्ति से जल रहा है। भगवन् विधे ! कमल-पत्र पर गिरे जल-बिन्दु के समान तुम मनुष्यों के भाग्य से खेला करते हो। पुत्र ! मत रोओ, तुम सोने की गाड़ी से खेलोगे।

बालक—रदनिके ! यह कौन है ?

वसन्तसेना—तुम्हारे पिता के गुणों से निर्जित दासी।

रदनिका—वत्स ! यह आर्या तुम्हारी माता होती हैं।

दारकः—रदणिए। अलिअं तुमं भणासि, जइ अम्हाणं अज्जाअ जणणी, ता कीस अलङ्किदा ?। रदनिके! अलीकं त्वं भणसि, यद्यस्माकमार्या जननी, तत् केन अलङ्कृता ?)

वसन्त—जाद! मुद्धेण मुहेण अदिकरुणं मन्तेसि (नाट्येनामरणान्यवतार्य रुदती) एसा दाणिं दे णजणी संवुत्ता, ता गेण्ह एदं अलङ्कारअं सोवण्ण-सअड़िअं घड़ावेहि। (जात! मुग्धेन मुखेन अतिकरुणं मन्त्रयसि। एषा इदानीं ते जननी संवृत्ता। तद् गृहाणैतमलङ्कारकम्, सौवर्णशकटिकां घटय)

दारकः—अवेहि, ण गेण्हिस्सं, रोदसि तुमं। (अपेहि, न ग्रहीष्यामि, रोदिषि त्वम्।)

वसन्त—(अश्रूणि प्रमृज्य) जाद! ण रोदिस्सं गच्छ कील। (अलङ्कारैर्मृच्छकटिकां पूरयित्वा) जाद! कारेहि सोवण्णसअड़िअं। (जात! न रोदिष्यामि, गच्छ, क्रीड। जात! कारय सौवर्णशकटिकाम्)

दारक इति—अलीकम् = असत्यम् केन = कारणेन अलङ्कृता = भूषणभूषिता (मम) माता सदैव अलङ्कारशून्या इयं तद्युक्ता अतो नेयं मे जननीति तदाशयः इति भावः।

वसन्त इति—मुग्धेन = शोभनीयेन मुखेन = आननेन अतिकरुणम् = अतिदुःखाकरम् मन्त्रयसि = ब्रूषे संवृत्ता = संजाता सौवर्णशकटिकां = कनकशकटं घटय = स्वर्णकारेण निर्मापय।

दारक इति—अपेहि = इतोऽन्यत्र गच्छ त्वं रोदिषि=अश्रूणि मुञ्चसि अतः न ग्रहीष्यामि = नाहमलङ्कारसमूहमाहर्तुमिच्छामि।

वालक—रदनिके! तुम झूठ कहती हो यदि; आर्या हमारी माता हैं, तो किस कारण से ये सुसज्जित हैं ?

वसन्तसेना—पुत्र! मनोहर मुख से करुणामयी वाणी उच्चारण कर रहे हो। (आभूषणों को उतार कर रोती हुई) अब यह मैं तुम्हारी माता हो गई। अतः इन अलंकारों को लो और इनसे सोने की गाड़ी बनवा लो।

वालक—हटो, मैं नहीं लूँगा, तुम रो रही हो।

वसन्तसेना—(आँसू पोंछकर) वत्स! न रोऊँगी, जाओ खेलो। (मिट्टी की गाड़ी अलंकारों से भरकर) पुत्र! सोने की गाड़ी बनवा लो।

(इति दारकमादाय निष्क्रान्ता रदनिका)

(प्रविश्य) प्रवहणाधिरूढश्चेटः—रदणिए ! रदणिए णिवेदेहि अज्जआए वशन्तशेणाए—'ओहालिअं पक्खदुआलाए शज्जं पवहणं चिट्ठति ।' (रदनिके ! रदनिके ! निवेदय आर्यायै वसन्तसेनायै—'अपवारितं पक्षद्वारके सज्जं प्रवहणम्' तिष्ठति)

रद—(प्रविश्य) अज्जए ! एसो वड्ढमाणओ विण्णवेदि—'पक्खदुआरए सज्जं पवहणं' त्ति आर्ये ! एष वर्द्धमानको विज्ञापयति—'पक्षद्वारे सज्जं प्रवहणम्' इति)

वसन्त—हञ्जे ! चिट्ठदु मुहुत्तअं, जाव अहं अत्ताणअं, पसाधेमि । (हञ्जे ! तिष्ठतु मुहूर्त्तकम्, यावदहमात्मानं प्रसाधयामि)

रद—(निष्क्रम्य) वड्ढमाणअ ! चिट्ठ मुहुत्तअं जाव अज्जआ अत्ताणअं पसाधेदि । (वर्द्धमानक ! तिष्ठ मुहूर्त्तकम्, यावदार्या आत्मानं प्रसाधयति)

चेट—ही ही भो मए वि जाणत्थलके विशुमलिदे, ता जावगे-

प्रविश्येति· —निवेदय = विज्ञापय आर्यायै = वसन्तसेनायै अपवारितम् = पटावृतम् सज्जम् = प्रस्तुतम् प्रवहणम् = गोरथम् पक्षद्वारके = पार्श्वद्वारे ।

वसन्त इति—प्रसाधयामि = अलङ्कारैः दयितोपभोगयोग्यं करोमि ।

चेट इति—यानस्थ=गोरथस्य आस्तरणम्=अवगुण्ठनवस्त्रम् नस्या=नासिकायां

(बालक को लेकर रदनिका चली गई)

चेट—(बैलगाड़ी पर चढ़ा हुआ चेट, आकर) रदनिके ! रदनिके !! आर्या वसन्तसेना से कह दो कि—'वस्त्र से अच्छी तरह ढंकी हुई बैलगाड़ी बगल के द्वार पर प्रस्तुत है' ।

रदनिका—(आकर) आर्ये ! वर्द्धमानक कहता है कि—'बगल में द्वार पर बैलगाड़ी प्रस्तुत है' ।

वसन्तसेना—सखि ! क्षणभर ठहरो, तब तक मैं सुसज्जित हो लूं ।

रदनिका—(बाहर आकर) वर्द्धमानक ! क्षणभरक ठहरो, तब तक आर्या सुसज्जित हो रही है ।

चेट—अरे रे मैं भी गाड़ी ढंकनेवाला वस्त्र भूल आया हूँ तब तक उसे

ण्हिअ आअच्छामि। एदे णश्शा लज्जु-कडुआ वइल्ला। भोदु, पवहणेण ज्जेव गदागदिं कलिश्शं। (इति निष्क्रान्तश्चेटः) (हीही भोः! मयापि यानास्तरणं विस्मृतम्, तद, यावद् गृहीत्वा आगच्छामि। एते नस्यरज्जु-कटुका बलीवर्दाः। भवतु, प्रवहणेनैव गतागतिं करिष्यामि)

वसन्त—हञ्जे! उवणेहि मे पसाधणं, अत्ताणअं पसाधइस्सं। (इति प्रसाधयन्ती स्थिता) (हञ्जे! उपनय मे प्रसाधनम्, आत्मानं प्रसाधयिष्यामि)

(प्रविश्य प्रवहणाधिरूढ-स्थावरकश्चेटः)

चेट—आणत्तोम्हि लाअ-शालअशण्ठाणेण—'थावलआ! पवहणं गेण्हिअ पुष्फकलण्डुअं जिण्णुज्जाणं तुलिदं आअच्छेहि' त्ति। भोदु, तहिं ज्जेव गच्छामि। वहध वइल्ला! वहध। (परिक्रम्यावलोक्य च) कधं गामशअलेहिं लुद्धे मग्गे। किं दाणिएत्थ कलइश्शं। (साटोपम्) अले ले! ओशलध ओशलध। (आकर्ण्य) किं भणाध?—'ऐशे कश्श

भवा सा चासौ रज्जुश्चेति तथोक्ता तया कटुकाः = तीव्राः बलीवर्दाः = बलवन्तो वृषभाः गतागतिम् = गमनमागमनञ्च।

वसन्त इति—उपनय = शीघ्रमानय मे = मम प्रसाधनम् = अलङ्कारम् प्रसाधयिष्यामि = अलङ्करिष्यामि।

प्रविश्येति स्थावरकः = स्थावरवज्जडः स्थावरक इति संज्ञा आज्ञप्तोऽस्मि = सूचितोऽस्मि राज्ञः = नृपस्य श्यालकः = भोगाय स्वीकृतायाः कामिन्याः भ्राता संस्थानाख्यस्तेन पुष्पकरण्डकम् = पुष्पकरण्डकाख्यम् जीर्णोद्यानम् = पुरातनोद्यानाम् बली-

---

लेकर आता हूँ। नासिका नाथी हुई है फिर भी भागने के लिए बैल उत्सुक हो रहे हैं। अच्छा गाड़ी हाँकने के साथ इन्हें दौड़ाऊँगा। (चेट चला गया)

वसन्तसेना—सखि! आभूषण आदि उपकरणों को लाओ, मैं अपने शरीर को सजा लूँ! (अपने शरीर को अलंकृत करती खड़ी है)

(बैलगाड़ी पर चढ़ा हुआ स्थावरक चेट आकर)

चेट—राजा के साले संस्थान ने मुझे आज्ञा दी है कि—'स्थावरक! शीघ्र गाड़ी लेकर पुष्पकरण्डक नामक जीर्ण उद्यान में आओ।' मैं वहीं जा रहा हूँ। बैलो! बढ़े चलो (घूमकर और देखकर) क्या गाँव की गाड़ी से मार्ग अवरुद्ध है? तब इस समय मैं क्या करूँ? (गर्व के साथ) अरे रे! हटो-हटो।

केलके पवहणे' त्ति। एशे लाअ-शालअ-शण्ठाणकेलके पवहणे त्ति। ता शिग्घं ओशलध। (अवलोक्य) कधं एशे अवले शहिअ विअ मं पेक्खिअ शहशज्जेव जूदपलाइदे विअ जूदिअले ओहालिअ अत्ताणअं अण्णदो अवक्कन्ते! ता को उण एशे?। अधवा किं मम एदिणा?। तुलिदं गमिश्शं। अले ले गामेलुआ! ओशलध ओशलध। किं भणाध-'मुहुत्तअं, चिट्ठ, चक्कपलिवट्टिदेहि देहि' त्ति! अले ले! लाअशालअ-शण्टाण-'केलके हग्गे शूले चक्कपलिवट्टि दइश्शं?। अधवा एशे एआइ तवश्शी। ता एव्वं कलेमि, एदं पवहणं अज्जचालुदत्तश्श रुक्खवाड़िआए पक्खदुआलए थावेमि। (इति प्रवहणं संस्थाप्य) एशे म्हि आअदे। (इति निष्क्रान्तः) (आज्ञप्तोऽस्मि राज-श्यालक-संस्थानेन स्थावरक! प्रवहणं गृहीत्वा पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं त्वरितमागच्छ' इति। भवतु तत्रैव गच्छामि। वहतं बलीवर्दौ? वहतम्। कथं ग्रामशकटैः रुद्धो मार्गः। किमिदानीमत्र करिष्यामि? अरे रे! अपसरत अपसरत। किं भणत-'एतत् कस्य प्रवहणम्?' इति। एतत् राजश्यालक-संस्थानस्य प्रवहणमिति। तत् शीघ्रमपसरत। कथम् एषः अपरः सभिकमिव मां प्रक्ष्य सहसैव द्यूतपलायित इव द्यूतकरः अपवार्यात्मानम् अन्यतः अपक्रान्तः। तत् कः पुनरेषः?। अथवा किं मम एतेन?। त्वरितं गमिष्यामि। अरे रे ग्राम्याः! अपसरत अपसरत। किं भणथ-'मुहूर्तकं तिष्ठ, चक्रपरिवृत्ति देहि'

वर्दौ=हे बलवन्तौ वृषौ (युवाम्) वहतम्=शकटं कर्षतम् ग्रामशकटैः=ग्राम्ययानैः मार्गः=पन्थाः रुद्धः=अवरुद्धः प्रवहणम्=गोरथः साटोपम=साभिमानम् शीघ्रम्=त्वरितम् अपसरत=अपगच्छत अपरः=अन्यः सभिकमिव=द्यूतसभाध्यक्षमिव प्रेक्ष्य=अवलोक्य द्यूतपलायित इव=अक्षस्थानात् पलायित इव द्यूतकरः=अक्षकरः अपवार्य=गोपनं कृत्वा (गोपयित्वा) अन्यतः=अपरमार्गात् अपक्रान्तः=पलायितः

(सुनकर) क्या कहते हो? 'यह किसकी गाड़ी है?' यह राजा के साले संस्थान की गाड़ी है। अतः शीघ्र हटो। (देखकर) दूसरे जुआ के सभाध्यक्ष के समान मुझे देखकर, सहसा जुआड़ी के तुल्य भागते हुए वह जुआड़ी अपने को छिपाकर दूसरी ओर क्यों भाग गया? अच्छा तो यह कौन है? अथवा इससे मुझे क्या प्रयोजन? शीघ्र जाता हूँ। अरे रे गँवारो! हटो-हटो। क्या कहते हो? 'क्षण भर ठहरो। मुझे गाड़ी घुमा लेने दो।' अरे रे! राजा के साले संस्थान की

इति । अरे रे राजश्यालक-संस्थानस्य अहं शूरः चक्रपरिवृत्तिं दास्यामि ?। अथवा एष एकाकी तपस्वी । तदेवं करोमि, एतत् प्रवहणमार्यं चारुदत्तस्य वृक्षवाटिकाया। पक्षद्वारके स्थापयामि । एषोऽस्मि आगतः)

चेटी—अज्जए ! णेमिसद्दो विअ सुणीअदि, ता आअदो पवहणो। (आर्ये ! नेमिशब्द इव श्रूयते, तदागतं प्रवहणम्)

वसन्त—हञ्जे ! गच्छ, तुवरदि मे हिअअं। ता आदेसेहि पक्खदुआरअं । (हञ्जे ! गच्छ त्वरते मे हृदयम् । तदादेशय पक्षद्वारकम्)

चेटी—एदु एदु अज्जआ । (एतु एतु आर्या)

वसन्त—(परिक्रम्य) हञ्जे ! वीसम तुमं । (हञ्जे ! विश्राम्य त्वम्)

चेटी—जं अज्जआ आणवेदि । (इति निष्क्रान्ता) (यदार्या आज्ञापयति)

वसन्त—(दक्षिणाक्षिस्पन्दं सूचयित्वा प्रवहणमधिरुह्य च) किण्वेदं फुरदि

चक्रस्य परिवर्तनस्थानम् अन्योन्यमभिमुखमागच्छतोः शकटयोरेकमपसृत्य तिष्ठति तदाऽपरस्य शकटस्याग्रे गन्तुमवकाशो मिलति·शूरः=वीरः चक्रपरिवृत्तिम् दास्यामि= अहमेवापसृत्य परस्मै अवकाशं दास्यामीति भावः (अर्थात् न दास्यामीति)

चेटीति—नेमिः = चक्राधारः तस्याः शब्दः = ध्वनिः ।

वसन्त इति—त्वरते = प्रियमिलनायोत्कण्ठितं भवति पक्षद्वारकमादेशय = कुत्रास्ते इति समुपदिश । ।

वसन्त इति—विश्राम्य = क्षणमात्रं विलम्बस्व ।

वसन्त इति—दक्षिणम् = अपसव्येतरम् (सव्यम्) लोचनम् = नयनम् स्त्रियाः

वीर, मैं भला अपनी गाड़ी को हटाकर तुम्हारी गाड़ी को जाने दूँगा ? अथवा यह दीन अकेला ही है, अतः वैसा ही करता हूँ। आर्य चारुदत्त के उद्यान के द्वार पर इस गाड़ी को खड़ी करता हूँ। (गाड़ी को खड़ी करके) यह मैं आया। (चला गया)

चेटी—आर्ये ! धुरी का शब्द सुनाई पड़ता है, अतः बैलगाड़ी आ गई ।

वसन्तसेना—प्रिय चेटी ! चल, मेरा हृदय (चारुदत्त से मिलने के लिए) उत्सुक हो रहा है । अतः द्वार का मार्ग बतलाओ !

चेटी—इधर से आर्या चलें ।

वसन्तसेना—(घूमकर) अरी प्रिये ! तुम विश्राम करो !

चेटी—जैसी आपकी आज्ञा । (चली गई)

वसन्तसेना—(दाहिनी आँख के स्पन्दन का अनुभव करती हुई बैलगाड़ी

दाहिणं लोअअं ?। अधवा चारुदत्तस्स ज्जेव दंसणं अणिमित्तं पमज्जइ-स्सदि (किन्तु इदं स्फुरति दक्षिणं लोचनम् ? अथवा चारुदत्तस्यैव दर्शनमनिमित्तं प्रमार्जयिष्यति)

स्थावरकश्चेटः (प्रविश्य) ओशालिदा मए शअडा, ता जाव गच्छामि । (इति नाटयेनाधिरुह्य चालयित्वा स्वगतम्) भालिके पवहणे। अधवा चक्कप-लिवट्टिआएं पलिश्शन्तश्श भालिके पवहणे पडिभाशेदि। भोदु, गमि-श्शं । जाध गोणा ! जाध । (अपसारिता मया शकटाः तद् यावद् गच्छामि । भारिकं प्रवहणम्। अथवा चक्र-परिवृत्तिकया परिश्रान्तस्य भारिकं प्रवहणं प्रतिभासते । भवतु, गमिष्यामि । यातं गावौ ! यातम्)

नेपथ्ये। अरे रे दोवारिआ ! अप्पमत्ता सएसु सएसु गुम्मट्ठाणेसु होध। एसो अज्ज गोवालदारओ गुत्तिअं भञ्जिअ, गुत्तिवालअं वावा-

---

दक्षिणेक्षणस्फुरणमम् चारुदत्तस्यैव दर्शनम् 'ब्राह्मणत्वेन' अनिमित्तम् = दक्षिण-लोचनस्फुरणजनितानिष्टम् प्रमार्जयिष्यति = विनाशयिष्यति ।

प्रविश्येति—शकटाः = मन्मार्गविरोधकाः मया = स्थावरकेण अपसारिताः = दूरीकृताः भारिकम् = भारेण पूर्णम् चक्रपरिवृत्तिकया = चक्रपरिवर्तनजनितकष्टेन परिश्रान्तस्य = अतिशयश्रान्त्यावस्थापन्नस्य भारिकम् = भारपूर्णम् प्रवणम् = गोरथः प्रतिभासते = प्रतीतिविषयो भवति । हे गावौ = हे वृषभौ यातम् = गच्छतम् युवामिति शेषः ।

नेपथ्ये—नेपथ्ये = रङ्गागारे दौवारिकः = प्रहरिणः गुल्मस्थानेषु=रक्षणदेशेषु ('गुल्मं सेनाघट्टभिदोः सैन्यरक्षणरुग्भिदोः' इति मेदिनी) अप्रमत्ताः=प्रमादरहिताः

पर चढ़कर) दाहिनी आंख क्यों फड़क रही है ? (औरतों की दाहिनी आंख फड़कना अशुभ है) अथवा चारुदत्त के दर्शन से ही उस अशुभ-सूचना की निवृत्ति हो जायगी ।

स्थावरक चेट—(आकर) पथ रोकनेवाली गाड़ी हटा दिया, अब जाता हूं। (गाड़ी पर चढ़कर और चलाकर, मन ही मन) गाड़ी में कुछ भारीपन मालूम पड़ता है, अथवा गाड़ी हटाने से थके हुए मुझे गाड़ी भारवती मालूम पड़ती है । अच्छा, जाता हूं। चले चलो बैलों ! चले चलो ।

नेपथ्य में—अरे रे रक्षक-गणों ! आप लोग अपने अपने रक्षण स्थान पर

दिअ, वन्धण भेदिअ, परिब्भट्टो अवक्कमदि। ता गेण्हध गेण्हध। (अरे रे दौवारिकाः ! अप्रमत्ताः स्वकेषु स्वकेषु गुल्मस्थानेषु भवत। एषोऽद्य गोपालदारको गुप्तिं भङ्क्त्वा, गुप्तिपालकं व्यापाद्य, बन्धनं भित्त्वा, परिभ्रष्टः अपक्रामति। तद्गृह्णीत गृह्णीत)

प्रविश्य अपटीक्षेपेण सम्भ्रान्त एकचरणलग्ननिगडोऽवगुण्ठित आर्यकः परिक्रामति।

चेटः—(स्वगतम्) महन्ते णअलीए शम्भमे उप्पण्णं, ता तुलिदं तुलिदं गमिश्शं। (इति निष्क्रान्तः) (महान् नगर्यां सम्भ्रम उत्पन्नः, तत् त्वरितं त्वरितं गमिष्यामि)

आर्यकः—हित्वाऽहं नरपतिबन्धनापदेश-

व्यापत्ति–व्यसन–महार्णवं महान्तम्।

(सावधानाः) गोपालस्य = गोपस्य दारकः = पुत्रः (आर्यको नाम) गुप्तिम् = कारागारम् भङ्क्त्वा = विच्छिद्य गुप्तिपालकम् = कारागाररक्षकम् व्यापाद्य = मारयित्वा बन्धनम् = शृङ्खलामूनाम् भित्त्वा=त्रोटयित्वा परिभ्रष्टः = कारागारान्निःसृतः अपयाति = अपगच्छति।

प्रविश्येति—सम्प्रति आर्यकस्यार्त्तत्वात् अपटीक्षेपेण प्रवेश उक्तः। तथाहि दर्पणे· 'पटीक्षेपो न कर्त्तव्यः आर्त्तराजप्रवेशने' इति दर्पणोक्तेः। सम्भ्रान्तः=चकितहृदयः एकस्मिन् चरणे = पादप्रान्ते लग्नः = संश्लिष्टः निगडः = बन्धनं यस्य सः अवगुण्ठितः = लोकदृष्टिनिवारणार्थमावृतदेह आर्यकः=आर्यकनामा परिभ्रमति=पर्यटति।

चेट इति—सम्भ्रमः = जनकोलाहलः स्थावरकः राज्ञः श्यालस्य भृत्योऽयम्।

अन्वयः—अहम् महान्तम् नरपतिबन्धनापदेशव्यापत्तिमहार्णवम् हित्वा बन्धनात् परिभ्रष्टः गज इव पादाग्रस्थितनिगडैकपाशकर्षी भ्रमामि।

हित्वेति—अहम् = आर्यकः महान्तम् नरपतेः = पालकस्य बन्धनम्=कारागृहे बन्दीकरणमेव अपदेशः=व्याजः यस्य स चासौ व्यापत्तिः महाविपत्तिः सैव व्यसनम्= अनिष्टकारकममङ्गलम् तथात्मकम् महार्णवम्=महासमुद्रम् हित्वा = तीर्त्वा बन्ध·

सावधान हो जांय। आज यह गोप-बालक आर्यक कारागार को तोड़कर, कारागार–रक्षक को मारकर, बन्धन को काटकर, कारागार से निकल कर भागा जा रहा है। उसे पकड़ो—पकड़ो।

चेट—(मन में) इस नगरी में बड़ा आतङ्क मच गया है, अतः यहाँ से जल्दी-जल्दी निकल भागूं (चला गया)

आर्यक—राजा के महाबन्धक रूप कपट की जो आपत्ति, उससे उत्पन्न

पादाग्र–स्थित–निगडैक–पाश–कर्षी
प्रभ्रष्टो गज इव बन्धनाद् भ्रमामि ॥ १ ॥

भोः ! अहं खलु सिद्धादेश–जनित–परित्रासेन राज्ञा पालकेन घोषादानीय विशसने गूढागारे बन्धनेन बद्धः । तस्माच्च प्रियसुहृच्छर्विलक-प्रसादेन बन्धनात् परिभ्रष्टोऽस्मि । (अश्रूणि विसृज्य)

भाग्यानि मे यदि तदा मम कोऽपराधो-

नात्परिभ्रष्टो गज इव=हस्ती इव पादाग्रे=चरणाग्रे स्थितम्=बन्धनीभूतम् निगडम्=शृङ्खलाम् (एव) एकम् पाशम्=बन्धनदाम कर्षति इति तच्छीलः भ्रमामि=भ्रमणं करोमि अत्र पूर्वार्द्धे प्रकृतं नरपतिबन्धनम् प्रतिषिध्य महार्णवत्वस्थापनात् अपह्नुतिः 'प्रकृतं प्रतिषिध्याथ स्थापनं स्यादपह्नुतिरि'तिदर्पणे, प्रभ्रष्टो गज इवेति श्रौती उपमा । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ १ ॥

सरलार्थः भूपतिकारावरोधव्याजविपत्तिकृतोपद्रवभूतदुस्तरसागरम् उत्तीर्य बन्धनशृङ्खलात् परिस्खलितगज इव चरणाग्रस्थितबन्धनरज्ज्वाकर्षणकारी सन् विचरामि । अतः परं किं कुर्यामिति भावः ॥ १ ॥

सिद्धः=त्रिकालदर्शी योगी तस्य आदेशेन=आर्यको राजा भविष्यतीत्येवं रूपेण कथनेन जनितः=उत्पन्नः परित्रासः=महाभयम् यस्य तेन राज्ञा=नृपेण घोषात्=आभीरपल्लीतः (स्ववासस्थानत इति यावत्) ('घोष आभीरपल्ली स्यादि'त्यमरः) विशसने=वध्यस्थाने गूढागारे=कारागारे बन्धनेन=बध्यतेऽनेनेति व्युत्पत्तिकेन शृङ्खलादिना बद्धः=दृढीकृतः शर्विलकस्य=तदाह्वस्य पुरुषस्य प्रसादेन=कृपया परित्रातः=रक्षितः ।

अन्वयः—यदि मे भाग्यानि तदा मम कः अपराधः ? यतः तेन वन्यनागः इव संयमितः अस्मि दैवी सिद्धिः अपि लङ्घयितुम् न शक्या नृपः गम्यः बलवता सह कः विरोधः ? ।

भाग्येति–यदि मे=मम भाग्यानि=अवश्यम्भाविराजत्वसूचकादृष्टानि (वर्तन्ते)

दुःख सागर को पार करके, बन्धन को तोड़े हुए हाथी के समान, चरण के अग्र-भाग में लगे हुए शृङ्खला–पाश को खींचता हुआ मैं विचरण कर रहा हूँ ॥ १ ॥

अजी ! 'आर्य्यक राजा होगा,' सिद्ध ज्योतिषी के इस वाक्य से डर कर राजा पालक ने मुझे घर से लाकर वधस्थान-कठिन कारागार में बेड़ी से जकड़ दिया । उस बन्धन से प्रिय मित्र शर्विलक की कृपा से मैं छूट सका हूँ । (आँसू पोछकर)

यदि मेरे भाग्य में लिखा है कि मैं राजा होऊँगा तो इसमें मेरा

यद्वन्यनाग इव संयमितोऽस्मि तेन ।
दैवी च सिद्धिरपि लङ्घयितुं न शक्या
गम्यो नृपो बलवता सह को विरोधः ? ॥ २ ॥

तत् कुत्र गच्छामि मन्दभाग्यः । (विलोक्य) इदं कस्यापि साधोरनावृतपक्षद्वारं गेहम् ।

तदा मम=आर्यकस्य कः अपराधः=दोषः (नाहमिह जन्मनि राज्यार्थमुद्युञ्जे येन राजा मम कुप्यतु इति भावः) यत्=यस्मात् अपराधात्, तेन=राज्ञा पालकेन वन्यः=वने भवः नागः=गजः इव संयमितः=कारागृहे बद्धः अस्मि=अहमिति शेषः । ननु सर्वोऽपि स्वप्रतिकूलभावि निवारयितुमुद्युङ्क्त एवेति तदर्थं कृतचेष्टस्य पालकस्य अत्र कोऽपराधः इत्याशङ्कायामाह-दैवस्य इयं दैवी=भाग्योपहितसिद्धिः (केनापि जनेन) लङ्घयितुम्=निवारयितुम् न शक्या भाविनोऽवश्यंभावनियमात् । तथाहि-'अवश्यंभाविभाविनां प्रतीकारो भवेद्यदि । तदा शोकैर्न युज्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः' इत्यभियुक्तोक्तेः । नन्वेवञ्चेत् पालकस्त्वयैवाक्रम्यतामित्याह-नृपो राजा गम्यः=दासभावेन प्राप्यः कारणमत्राह-बलवता=बलशालिना सह (निर्बलस्य) को विरोधः विनाशमूलत्वात् तादृशो विरोधो न कार्यं इत्याशयः । अत्र पूर्वार्द्धे वन्यनाग इवेति श्रौती उपमा । उत्तरार्द्धे सामान्येन बलवता सह विरोधाभावकथनेन गम्यो नृप इति विशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यासः वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ २ ॥

सरलार्थः—मम राज्यभोगजनकशुभादृष्टानि सन्ति चेत् तत्र मम को दोषः न कोऽपीत्यर्थः । येन भाग्येन पालकेन तेन राज्ञा अरण्यगज इव बद्धोऽस्मि । दैवाधीनासिद्धिरपि अतिक्रामयितुं नार्हा । अतः राजा आश्रयणीयः यतः प्रबलेन सह विवादः कः न कोऽपि विवादः कर्त्तव्य इति भावः ॥ २ ॥

तदिति—मन्दभाग्यः=भाग्यहीनः अनावृतम्=कपाटादिशून्यं पक्षद्वारम्=पार्श्वद्वारम् यस्य तत् । गेहम् गृहम् ।

क्या अपराध है ? जो मैं बनैले हाथी के समान कठिन कारागार में बन्द किया गया हूँ । दैवी शक्ति का तो कोई निवारण कर ही नहीं सकता है, किन्तु मुझे राजा से मेल करना चाहिए, क्योंकि बली के साथ विरोध करने से परिणाम अच्छा नहीं होता ॥ २ ॥

अतः मैं अभागा कहाँ जाऊँ ? (देखकर) यह किसी सज्जन पुरुष का घर है जिसके बगल के दरवाजे की किवाड़ खुली है ।

इदं गृहं भिन्नमदत्तादण्डो विशीर्णसन्धिश्च महाकपाटः ।
ध्रुवं कुटुम्बी व्यसनाभिभूतां दशां प्रपन्नो मम तुल्यभाग्यः ॥ ३ ॥

तदत्र तावत् प्रविश्य तिष्ठामि ।

नेपथ्ये । जाध गोणा ! जाध ! (यातं गावौ ! यातम्)

आर्यक—(आकर्ण्य) अये ! प्रवहणमित एवाभिवर्त्तते ।

अन्वयः—इदम् गृहम् भिन्नम् विशीर्णसन्धिः अदत्तादण्डः (च) महाकपाटः मम तुल्यभाग्यः कुटुम्बी ध्रुवम् व्यसनाभिभूताम् दशाम् प्रपन्नः ।

इदं गृहमिति—इदं गृहम्=गेहम् भिन्नम् कुड्याच्छादनादिबन्धशैथिल्येन जर्जरीभूतम् (छिन्नभित्तिकम्) विशीर्णः=भज्यमानः सन्धिः बन्धस्थाम् यस्य न दत्तः अदत्तः दण्डः = विष्कम्भः यस्य सः महाकपाटः (अस्य गृहस्य वर्तते) अतः मम आर्यकस्य तुल्यम्—हतभाग्यसदृशम् = भाग्यम् दैवम् यस्य सः अहमिव हतभाग्य इत्यर्थः । कुटुम्बी=एतद्गृहाध्यक्षः ध्रुवम् = निश्चितम् व्यसनेन दारिद्र्यमहाविपत्त्या अभिभूताम् आस्कन्दिताम् दशाम्=दुर्दशाम् प्रपन्नः = प्राप्तः । अत्र गृहस्य जीर्णादिहेतुना गृहाध्यक्षस्य दारिद्र्यावस्थाप्राप्तिरूपसाध्यज्ञानात् अनुमानं नामालङ्कारम् । उपेन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ ३ ॥

सरलार्थः—पुरःस्थितमिदं निकेतनं भग्नमनवरुद्धार्गलः महाकपाटः वर्त्तते । मत्सदृशदुर्भाग्यः दुःखपूर्णमवस्थां निश्चितमवाप्तः अर्थात् यथाहं दरिद्रः विपन्नश्च तथा अयमपीति तर्कयामि ॥ ३ ॥

नेपथ्य इति—वर्द्धमाननाम्नः चारुदत्तभृत्यस्योक्तिरियम् । चारुदत्तभृत्येनानीयमानं गोरथमवलोक्य विकल्पमङ्ग्या तर्कयति ।

यह गृह पुराना होने से टूटा-फूटा है, सन्धिस्थान जीर्ण हैं, तथा महाकपाट की अर्गला नहीं लगाई गई है । इसलिए निश्चित है कि इस घर का मालिक मेरे ही समान अभागा है जो दरिद्रतारूपीआपत्ति से आक्रान्त होकर ऐसी हीनावस्था में वर्त्तमान है ॥ ३ ॥

इसलिए इसमें प्रविष्ट होकर तब तक ठहरता हूँ ।

नेपथ्य में—बढ़े चलो बैलों ! बढ़े चलो ।

आर्यक—(सुनकर) अरे बैलगाड़ी इसी ओर आ रही है ।

भवेद् गोष्ठीयानं न च विषमशीलैरधिगतं
वधूसंयानं वा तदभिगमनोपस्थितमिदम्।
बहिर्नेतव्यं वा प्रवर-जन-योग्यं विधिवशाद्
विविक्तत्वाच्छून्यं मम खलु भवेद्दैवविहितम् ॥ ४ ॥

(ततः प्रवहणेन सह प्रविश्य वर्द्धमानकश्चेटः)। हीणामहे! अणीदे मए

अन्वयः—इदं विषमशीलैः अधिगतम् गोष्ठीयानम् न च भवेत् शून्यम् वधूसंयानम् तदभिगमनोपस्थितम् वा (भवेत्) वा विविक्तत्वात् प्रवरजनयोग्यम् विधिवशात् बहिर्नेतव्यं दैवविहितम् मम भवेत् खलु।

भवेदिति—इदम् = गोशकटम् विषमशीलैः = अशिष्टाचरणैः (व्यभिचारिभिः) अधिगतम् = आक्रान्तम् गोष्ठीयानम् = गणिकासमाजयानम् न च = नहि (शान्ति दृष्ट्वा वेश्यानुष्ठेयोत्सवयानम् निषेधति) कस्येदमित्याकाङ्क्षायामाह—शून्यम्=जनरहितम् इदम् = पूर्वोक्तम् वधूसंयानम् = तस्याः वध्वा अभिगमनाय = इतोऽन्यत्र गमनाय उपस्थितम् भवेत् 'चतुर्थीतदर्थार्थे'ति समासे कस्याश्चिद्वध्वाः कुत्रचिद्गमनाय प्रवहणमिदं सज्जं गच्छतीति भावः। वा = अथवा विविक्तत्वात्=पूतत्वात् ('विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः) प्रवर–जन–योग्यम्=श्रेष्ठजनाधिरोहणयोग्यम् विधेः = विधानस्य वशात् बहिर्नेतव्यम्=वाहकेन बहिर्नेतुं योग्यम् भवेत् यादृशं तादृशं वा भवतु दैवेन = शुभभाग्येन विहितम् = उपस्थापितम् इदम् = शकटम् मम आर्यकस्य खलु निश्चयेन भवेत्। यद्वा तद्वा भवतु किन्तु शून्यमिदं प्रवहणम् मदर्थमेवात्र भाग्येनोपस्थापितम्। 'रूपं वाक्यं वितर्कवत्' इति दर्पणोक्तलक्षणात् रूपं नाम गर्भसन्धेरङ्गम्। शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४ ॥

सरलार्थः—दूषितस्वभावैः इदमुत्सवस्थानयानमध्यारूढं न भवेत् तर्हि कस्येदमिति चेत् एतत्प्रवहणं वधूवहनयोग्यं पटावृतत्वात् भवेदिति शेषः। अथवा श्रेष्ठजनयोग्यं वाह्यदेशे प्रापणीयमपि न भवेत्। किन्तु दैवानुकूलत्वात् कैरपि जनैः अनधिरूढं मदर्थमेव भवेदिति भावः ॥ ४ ॥

तत इति—हीमाणहे=आश्चर्यम् (पूर्वमविस्मृतस्य सम्प्रति यानास्तरणे विस्मर-

---

यह गाड़ी कहीं सामाजिक उत्सव के लिए नहीं जा रही है, जिस पर दुश्चरित्र मनुष्य बैठा हो, क्योंकि यह गाड़ी बिल्कुल शान्त है। या वधू को ले जाने के लिए उपस्थित यह वधूयोग्य गाड़ी है, अथवा श्रेष्ठजनों को ढोने योग्य यह पवित्र गाड़ी दैववश (दैव से अनुमोदित) मुझे बाहर ले जाने के लिए ही आई है ॥ ४ ॥

(इसके बाद वर्द्धमानक चेट बैलगाड़ी के साथ आता है)

वर्द्धमानक चेट—आश्चर्य है। गाड़ी को ढँकने का वस्त्र मैं ले आया।

जाणत्थलके। लदणिए! णिवेदेहि अज्जआए वशन्तशेणाए 'अवत्थिदे शज्जे पवहणे अहिलुहिअ पुप्फकलण्डअं जिण्णुज्जाणं गच्छदु अज्जआ।' (आश्चर्यम्। आनीतं मया यानास्तरम्। रदनिके! निवेदय आर्यायै वसन्तसेनायै 'अवस्थितं सज्जं प्रवहणम्, अधिरुह्य पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं गच्छतु आर्या)

आर्यकः—(आकर्ण्य) गणिकाप्रवहणमिदं बहिर्यानञ्च। भवतु, अधिरोहामि। (इति स्वैरमुपसर्पति)

चेटः—(श्रुत्वा) कधं णेउलशद्दे? ता आअदा क्खु अज्जआ। अज्जए! इमे णश्श-कडुआ वइल्ला, ता पिट्ठदो ज्जेव आलुहदु अज्जआ। (कथं नूपुरशब्दः? तदागता खलु आर्या! आर्ये, इमौ नस्य कटुको बलीवर्दौ; तत् पृष्ठत एवारोहतु आर्या)

(आर्यकस्तथा करोति)

णादेतद् बोध्यम् (प्राकृतभाषायामाश्चर्यार्थकमिदमव्ययम्) (गणिकायाः प्रवहणम् इदमिति परिचित्यैवमुक्तम्) पुष्पकरण्डकम् = पुष्पकरण्डकाख्यम् जीर्णोद्यानम् (असुसज्जत्वादियमुक्तिः)।

स्वैरम् = मन्दम् उपसर्पतु = गच्छतु जीर्णोद्यानस्य बहिःस्थितत्वाद्बहिर्यानमिति। उपसर्पति = शकटसमीपं गच्छति।

चेट इति—स्वैरमुपसर्पतः आर्यकस्य पादलग्नशृङ्खलाझणझणायितमाकर्ण्य पूर्वसङ्केतितायाः वसन्तसेनाया नूपुरशब्दं मन्वानस्य वर्द्धमानस्योक्तिरियम् कथं नूपुरशब्द इति? नस्येन = नासिकान्तर्लग्नसूत्रेण कटुकौ = कुपतित्वादतितीक्ष्णौ बलीवर्दौ अतः पृष्ठत एवारोहत्वार्या (अन्यथा) पुरत आरोहति शृङ्खलाङ्गप्रहारमाचरिष्यत इति भावः।

आर्यक इति—तथाकरोति = पश्चाद्भागेन प्रवहणमधिरोहति।

रदनिके! आर्या वसन्तसेना से कह दो—'सज्जित गाड़ी प्रस्तुत है, उस पर चढ़कर आर्या पुष्पकरण्डक नामक जीर्णोद्यान में चले।

आर्यक—(सुनकर) यह वेश्या की गाड़ी है और बाहर जायगी। अच्छा, तो इस पर चढ़ता हूँ। (धीरे से चढ़ जाता है)

चेट—(सुनकर) नूपुर का शब्द सुनाई पड़ता है? (क्योंकि आर्यक के पैर में शृङ्खला लगी हुई थी) अतः वसन्तसेना आ गई। आर्ये बैलों की नासिका नाथी हुई है जिससे वे क्रुद्ध हो रहे हैं, अत एव आप पीछे ही की ओर रहेंगी। (आर्यक पीछे की ओर खिसक जाता है)

चेटः—पादुष्फाल-चालिदाणं णेउलाणं वीशन्तो शद्दो, भलक्कन्ते अ पवहणे; तधा तक्केमि शम्पदं अज्जआए आलूढाए होदव्वं; ता गच्छामि। जाध गोणा! जाध। (इति परिक्रामति) (पादोत्फालचालितानां नूपुराणां विश्रान्तः शब्दः) माराक्रान्तं न प्रवहणम्, तथा तर्कयामि, साम्प्रतमार्यया आरूढया भवितव्यम्, तद्गच्छामि। यातं गावौ यातम्।

वीरकः—(प्रविश्य) अरे रे अरे! जअ-जअमाण-चन्दणअ-मङ्गलफुल्ल-भद्द-प्पमुहा:! (अरे रे अरे! जय-जयमान-चन्दनक-मङ्गल-पुष्पभद्र-प्रमुखाः!)

किं अच्छ वीसद्धा जो सो गोवालदारओ रुद्धो।
भेत्तूण समं वच्चइ णरवइ-हिअअं बन्धणं अ ॥ ५ ॥
(किं स्थ विश्रब्धाः? यः स गोपालदारको रुद्धः।
भित्वा समं व्रजति नरपतिहृदयं बन्धनञ्च ॥ ५ ॥)

चेट इति—पादयोरुत्फालनेन=आरोहणसमये चरणयोरुन्नयनेन चालितानाम्=स्थानान्तरं गतानाम् नूपुराणाम् शब्दः=सक्षणत्कारः खणखणाशब्दः विश्रान्तः—अभावं गतः साम्प्रतम् ॥ इदानीम् आर्यया=वसन्तसेनया आरूढया=आरुह्य स्थितया प्रवहणञ्च माराक्रान्तमतः (लिङ्गद्वयेन) अनुमिनोमि यत् वसन्तसेना प्रवहणमधिरूढेति भावः।

प्रविश्येति—वीरकः=कुत्सितः वीरः वीरकः एतदाख्यः सेनापतिरयम् जयमान-चन्दनकेत्यादयस्तु तदधीनसेनापतयः।

अन्वयः—विश्रब्धाः किम् स्थ यः गोपालदारकः रुद्धः स नरपतिहृदयम् बन्धनम् च समम् भित्त्वा व्रजति।

किमिति—हे रक्षकाः सर्वत्रैव शान्तिबुद्धया यूयं किम्=कथम् विश्रब्धाः=विश्वस्ताः (विपूर्वकाद्धौवादिकादनुदात्तेत स्रम्भुधातोर्निष्ठा) स्थ=तिष्ठथ एवमवस्थानं युष्माकं नोचितम् इत्याशयः। अत्र कारणमाह—यः गोपालदारकः=राजा भवितेति सिद्धादिष्टः स्वशत्रुं मत्वा राज्ञा पालकेन कारागारे रुद्धः=बद्धः (रुध्धातो निष्ठाक्तः) सः=भाविराज्याधिपतिः (इदानीमेव) नरपतिहृदयं बन्धनम् पालक-हृदयं शृङ्खलाम् च समम्=सहैव भित्त्वा=संविदार्य व्रजति=इतो गच्छति। अतः

चेट—पैर उठाकर गाड़ी पर चढ़ते समय बजते हुए नूपुर की ध्वनि बन्द हो गई, गाड़ी का बोझ भी भारी हो गया, इसलिए मैं अनुमान करता हूँ कि वसन्तसेना अब गाड़ी पर चढ़ गई होंगी। तब चलता हूँ। बढ़े चलो बैलों! बढ़े चलो। (घूमता है)

वीरक—(आकर) अरे रे! जय, जयमान, चन्दनक, मङ्गल, पुष्पभद्र प्रभृति प्रधान पुरुषो!

आप लोग विश्वास-पूर्वक निश्चल क्यों बैठे हैं? क्योंकि जो गोप बालक

अले पुरत्थिमे पदोली–दुआरे चिट्ठ तुमं, तुमं पि पच्छिमे, तुमं पि दक्खिणे, तुमं पि उत्तरे। जो वि एसो पाआरखण्डो, एदं अहिरुहिअ चन्दणेण समं गदुअ अवलोएमि। एहि चन्दणअ! एहि, इदो दाव। (अरे! पुरस्तात् प्रतोलीद्वारे तिष्ठ त्वं, त्वमपि पश्चिमे, त्वमपि दक्षिणे, त्वमपि उत्तरे। योऽपि एष प्रकारखण्डः, एतमधिरुह्य चन्दनेन समं गत्वा अवलोकयामि। एहि चन्दनक! एहि, इतस्तावत्)

(प्रविश्य सम्भ्रान्तश्चन्दनकः) अरे रे वीरअ–विसल्ल–भीमङ्गअ–दण्डकालअ–दण्डसूर–प्पमुहा! (अरे रे वीरक-विशल्य-भीमाङ्गद-दण्डकाल-दण्डशूरप्रमुखाः!)

यूयमत्रहिता भवत (भिंत्वा-भिदिर् विदारणे क्त्वा) अत्र बन्धनभेदनरूपकारणस्य नरपतिहृदयभेदनरूपतत्कार्यस्य च कारणतत्कार्ययोः पौर्वापर्यविपर्ययं कृत्वा यौगपद्येनाभिधानात् कार्यहेत्वोः पौर्वापर्यात्ययरूपातिशयोक्तिः तदुक्तम्। 'पौर्वापर्यात्ययः कार्यहेत्वोः सा अतिशयोक्तिः' इति दर्पणे सहार्थकसमशब्दबलाद्बन्धनरपतिहृदययोरेकभेदनस्यान्वयित्वात्सहोक्तिः। सा च कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्तिमूला। तदुक्तम्–'सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः। सा सहोक्तिमूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेदि'ति तल्लक्षणम् ॥ ५ ॥

सरलार्थः—कथं विश्वस्ताः यूयं कालं नयथ यः गोपालदारकः राज्ञा बद्धः स राज्ञश्चित्तं निगडञ्च युगपदेव भङ्क्त्वा पलायत इति भावः ॥ ५ ॥

अरे इति— रे जय! त्वं पुरस्तात्=पूर्वस्यां दिशि प्रतोल्याः=रथ्याः द्वारे=मुखे त्वम्=जयमानः अपि पश्चिमे प्रतोलीमुखे तिष्ठ त्वमपि=मङ्गल एवमेव यथासम्बोधनं ज्ञेयम्, परं चन्दनकस्य प्राकारखण्डोपरि वीरकेण सहारोहणं ज्ञेयम्। प्राकारखण्डः=दूरस्थवस्तुनिरीक्षणार्थं पाषाणेष्टिकादिनिर्मितोऽत्युच्चस्तम्भः।

प्रविश्येति—सम्भ्रान्तः=व्याकुलः वीरकविशल्यादयः सैनिकाः बोध्याः।

आर्यक कारागार में बन्द था, वह राजा के हृदय तथा बेड़ी को साथ ही तोड़कर भाग निकला है। (अर्थात् आप लोग उसके पकड़ने का प्रयत्न करें) ॥५॥

अरे! तुम सामने वाली पूर्वीय गली के मुहाने पर तैयार रहो, तुम भी पश्चिम की ओर, तुम भी दक्षिण की ओर और तुम भी उत्तर की ओर के मार्ग पर सतर्क खड़े रहो। और इस ऊँचे टीले पर चन्दन के साथ चढ़कर मैं निरीक्षण करता हूँ। आओ चन्दनक! तुम इस ओर आओ।

(व्याकुलता के साथ चन्दनक आकर)

चन्दनक–अरे! वीरक, विशल्य, भीमाङ्गद, दण्डकालक, दण्डशूर आदि वीरो!

आआच्छध वीसत्था तुरिअं जत्तेह लहु अरेज्जाह ।
लच्छी जेण रण्णो पहवइ गोत्तंतरं गंतुं ॥ ६ ॥
(आगच्छत विश्वस्तास्त्वरितं यतध्वं लघु कुरुत ।
लक्ष्मीर्येन न राज्ञः प्रभवति गोत्रान्तरं गन्तुम् ॥ ६ ॥

अवि अ (अपि च)

उज्जाणेसु सहासु अ मग्गे णअरीअ आवणे घोसे ।
तं तं जोहह तुरिअं संका वा जाअए जत्थ ॥ ७ ॥
(उद्यानेषु सभासु च मार्गे नगर्यापणे घोषे ।
तं समन्विष्यत त्वरितं शङ्का वा जायते यत्र ॥ ७ ॥

अन्वयः—विश्वस्ता आगच्छत त्वरितम् यतध्वम् लघु कुरुत येन राज्ञः लक्ष्मीः गोत्रान्तरम् गन्तुम् न प्रभवति ।

आगच्छतेति–हे वीरकादयः ! यूयम् विश्वस्ताः = आर्यकमवश्यमेव धरिष्याम इति विश्वस्ताः आगच्छत = आर्यकमनुगच्छत यतध्वम् = तद्धरणाय यत्नं कुरुत लघु = क्षिप्रम् कुरुत (येन सः नयनागोचरतां न व्रजेत्) येन = उपायेन राज्ञः = पालकस्य लक्ष्मीः = राज्यश्रीः गोत्रान्तरम् = पालकातिरिक्तं गोपालदारकं गन्तुं न प्रभवति = नोत्सहते । 'आर्याजातिः' इति भट्टाचार्याः, 'गाथा' इति पृथ्वीधरः ।

सरलार्थः–भो विश्वासिपुरुषाः क्षिप्रमायात तूर्णं चेष्टध्वं बन्दिग्रहणार्थमिति शेषः । येनोपायेन नृपस्य राज्यश्रीः कुलान्तरं यातुं न समर्था भवति तथा शीघ्रं विधत्त ॥

अन्वयः—उद्यानेषु सभासु च मार्गे नगर्यापणे घोषे त्वरितम् तम् अन्विष्यत यत्र शङ्का वा जायते ॥ ७ ॥

उद्योनेष्विति–उद्यानेषु=आक्रीडेषु सभासु = शालासु 'वासः कुटी द्वयोः शाला सभा' इत्यमरः, मार्गे=पथि नगर्याः आपणे उज्जयिन्याः वस्तुक्रयविक्रयस्थाने घोषे =आभीरपल्ल्याम् त्वरितम् = झटिति तम्=पलायमानमार्यकम् अन्विष्यत=गवेषयत तत्र स्थाने = यत्र यत्रेति भावः शङ्का = सन्देहः वा जायते तत्रापि गवेषयतेत्यर्थः । 'आर्या' इति भट्टाचार्यः 'गाथा' इति पृथ्वीधरः ॥ ७ ॥

विश्वस्त मन से आओ । आर्यक को पकड़ने का शीघ्र प्रयत्न करो, अभी से उसके अन्वेषण में लग जाओ जिससे कि क्षत्रिय राजा पालक की लक्ष्मी गोप आर्यक में न चली जाय ॥ ६ ॥

और भी—उद्यान, सभा, मार्ग, नगर का बाजार तथा घर अथवा जहाँ कहीं के लिए शङ्का हो उन सभी स्थानों में शीघ्र उस आर्यक तथा बंधन काटने वाले की खोज करो ॥ ७ ॥

रे रे वीरअ ! किं किं दरिसेसि भणाहि दाव वीसद्धं ।
भोत्तूण अ बन्धणअं को सो गोवालदारअं दरइ ॥ ८ ॥
(रे रे वीरक ! किं किं दर्शयसि भणसि तावद्विस्रब्धम् ।
भित्त्वा च बन्धनकं कः स गोपालदारकं हरति ॥ ८ ॥)
(युग्मकम्)

कस्स ट्ठमो दिणअरो कस्स चउत्थो अ वट्टए चन्दो ।
एट्ठो अ भग्गवगहो भूमिसुओ पंचमो कस्स ॥ ९ ॥
भण कस्स जम्म–छट्ठो जीवो णवमो तहेअ सूरसुओ ।
जीअंते चंचणए को सो गोवालदारअं हरह ॥ १० ॥
(कस्याष्टमो दिनकरः कस्य चतुर्थश्च वर्त्तते चन्द्रः ।

सरलार्थः–राजकीयकृत्रिमकाननेषु समितिषु पथि पुरमध्ये क्रयविक्रयशालायां गोपपल्ल्याम् अथवा यस्मिन् यस्मिन् स्थानेऽवस्थानसंशयः, तं तं सर्वं प्रदेशं क्षिप्रमनुसन्धानं कुरुत ॥ ७ ॥

रे रे इति–रे रे वीरक ! किम् किम्=गोपालदारकस्य चिह्नं दर्शयति तावदिति वाक्यालङ्कारे विस्रब्धम् विश्वस्तम् यथा स्यात्तथा भणसि=कथयसि (तदा महत्सौकर्यं स्यादिति शेषः) बन्धनकम्=लोहशृङ्खलाम् भित्त्वा=भेदनं कृत्वा यो गोपालदारकम्=आर्यकम् हरति=चोरयति स जनः कः अस्तीति शेषः । अत्र आर्यकस्य चिह्नानुक्तावपि वक्तुरतिव्याकुलत्वात् न्यूनपदतागुण एव तथोक्तं दर्पणे—'उक्तावानन्दमग्नादेः स्यान्न्यूनपदता गुणः' । गीतिर्जातिः ॥ ८ ॥

सरलार्थः–अरे वीरक ! किं किमुपदिशसि तथा विश्वस्तं किं किं कथयसि शृङ्खलं भङ्क्त्वा यः गोपतनयम् मुष्णाति स क इति परीक्ष्य अवरुध्यतामिति भावः ॥८॥

अन्वयः—चन्दनके मयि जीवति गोपालदारकम् हरति सः कः ? दिनकरः कस्य अष्टमः चन्द्रः च कस्य चतुर्थः भार्गवग्रहश्च षष्ठः भूमिसुतः कस्य पञ्चमः जीवः कस्य जन्मषष्ठः सूरसुतः तथैव नवमः भण ।

कस्येति—चन्दके=चन्दनकाख्ये मयि जीवति=प्राणयुते सति यः गोपालदारकम्=आर्यकम् हरति सः=पुरुषः कः अस्तीति शेषः । दिनकरः=सूर्यः कस्य=पुरुषस्य अष्टमः=जन्मराशेरष्टमस्थानस्थितः (अष्टमः सूर्यो नितराम् पीडाम् करोति

अरे वीरक ! तुम विश्वासपूर्ण कौन कौन से आर्यक के चिह्न दिखलाते हो । और गोप बालक आर्यक की बेड़ी तोड़कर कौन उसे कारागार से निकालकर ले भागा ? ॥ ८ ॥

किसकी आठवीं राशि पर सूर्य है ? किसकी चौथी राशि पर चन्द्रमा है ?

षष्ठश्च भार्गवग्रहो भूमिसुतः पञ्चमः कस्य ॥ ९ ॥)
(भण कस्य जन्मषष्ठो जीवो नवमस्तथैव सूरसुतः ।
जीवति चन्दनके कः स गोपालदारकं हरति ॥ १० ॥

वीरकः—भड़ ! चन्दणओ ! (भट ! चन्दनक !)
अवहरइ कोवि तुरिअं चंदणअ ! सवामि तुज्ज हिअएण ।
जह अद्धुइद-दिणअरे गोवालअ-दारओ खुड़िदो ॥११॥

गोपालदारकापहारिणमत्यन्तमुत्पीडयिष्यामीत्याशयः । एवमेव सर्वत्र । चन्द्रः=चन्द्रमा कस्य=जनस्य चतुर्थः नेत्ररोगंचतुर्थे इति चतुर्थचन्द्रस्य फलम्, नयनोत्पाटनं करिष्यामीत्यभिप्रायः । भार्गवग्रहः=शुक्रः कस्य षष्ठः=षष्ठस्थानस्थितः भृगुर्नाशं कुर्यादिति तत्फलम्, मरणं प्राप्स्यति इत्यभिप्रायः । भूमिसुतः=मङ्गलः कस्य पञ्चमः=पञ्चमराशिस्थो वर्तते । 'असून् क्षिणाति पञ्चमः इति तस्य फलम् इति मृत्युरेव भविष्यतीत्यभिप्रायः । जीवः=वृहस्पतिः कस्य=पुरुषस्य जन्मनः=जन्मराशेः षष्ठः=षष्ठस्थानस्थितः=अशुभमपि कुर्यादिति तत्फलम् । सूरस्य=सूर्यस्य सुतः=शनिः कस्य नवमः=जन्मराशेः नवमस्थानस्थितः 'धर्मे धनक्षयः' इति तत्फलम् । भण=कथय । आर्यकापहर्तुः शिरसि महाननर्थोऽवश्यम्भावीत्यर्थः । नचैवं प्राकृतभाषिणोऽल्पज्ञस्य मुखाज्ज्योतिः शास्त्रोक्तफलकथनं कथं सम्भवतीति नाशक्यम् केनापि श्रुतस्य अनिष्टफलस्याख्यानसम्भवात् । आद्या आर्या अपरा गीतिः ॥

वीरक इति—हे भट ! हे वीर ?

सरलार्थः—कस्य जनस्य जन्मराशेः अष्टमः सूर्यः चतुर्थस्थाने चन्द्रः षष्ठस्थाने शुक्रः पञ्चमे च भौमः वर्त्तते इति शेषः ॥ ९ ॥

सरलार्थः—कस्य जन्मराशेः षष्ठराशिस्थः वृहस्पतिः नवमस्थाने शनिः यः चन्दनके विद्यमाने गोपालदारकं मुष्णाति स अत्यन्तभाग्यहीन एव प्रतिभाति इति शेषः ॥ १० ॥

शुक्र किसकी छठीं राशि पर है ? मंगल किसकी पाँचवीं राशि पर है ? और यह कहो कि किसकी जन्म राशि से छठीं राशि पर वृहस्पति है और शनि किसकी नवम राशि पर है कि जो मुझ चन्दनक के जीते जी ही गोप बालक आर्यक को कारागार से छुड़ा ले गया । (उपरोक्त ग्रह उक्त राशियों पर रहने से अनिष्ट-कर होते हैं) ॥ ९–१० ॥

वीरक—हे वीर चन्दनक !

मैं तुम्हारे हृदय की शपथ खाकर कहता हूँ कि उसे कोई अभी हो अपहरण

(अपहरति कोऽपि त्वरितं चन्दनक ! शपे तव हृदयेन ।
यथा अर्द्धोदितदिनकरे गोपालक-दारकः खोडितः ॥ ११ ॥

चेटः—जाध गोणा ! जाध । (यातं गावौ ! यातम्)

चन्द—(दृष्ट्वा) अरे रे ! पेक्ख पेक्ख । (अरे रे ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व)

ओहारिओ पवहणो वच्चइ मज्झेण राअमग्गस्स ।
एदं, दाव विआरह, कस्स कहिं पवसिओ पवहणो त्ति ॥
(अपवारितं प्रवहणं व्रजति मध्येन राजमार्गस्य ।
एतत्तावद्विचारय कस्य कुत्र प्रेषितं प्रवहणमिति ॥ १२ ॥)

अन्वयः—चन्दनक ? तव हृदयेन शपे कः अपि त्वरितम् अपहरति यथा गोपालकदारकः अर्द्धोदितदिनकरे खुरितः ।

अपहरतीति—हे चन्दनक अहम् तव हृदयेन शपे=शपथं करोमि, सत्यं ब्रवीमीति यावत् । कोऽपि=लोकः त्वरितम्=शीघ्रम् अपहरति यथा अर्द्धोदितदिनकरे=सूर्योदयवेलायाम् गोपालदारकः=आर्यकः खुरितः=खण्डितः (बन्धनं खण्डयित्वा मोचितः इति भावः, खुर इति सौत्रोधातुः । आर्याजातिः ॥ ११ ॥

सरलार्थः—हे चन्दनक ! कोऽपि अल्पक्षणेनैवाचूचुरत् तव हृदयं स्पृष्ट्वा शपथं करोमि येन प्रकारेण स गोपालदारकः अतिप्रत्यूषे शृंखलं भेदयित्वा विमोचित इति भावः ॥ ११ ॥

चेट इति—चारुदत्तस्य भृत्यो वर्द्धमानको नाम ।

अन्वयः—अपवारितम् प्रवहणम् राजमार्गस्य मध्येन व्रजति कस्य कुत्र प्रेषितम् इति एतत् तावद् विचारय ।

अपवारितमिति—अपवारितम्=वसनेनाच्छादितम् (ण्यन्तात् अपूर्वकाद्वृञ्-धातोर्निष्ठाक्तः) प्रवहणम्=शकटम् राजमार्गस्य=घण्टापथस्य मध्येन=मध्यभागेन व्रजति=गच्छति कस्य=जनस्य कुत्र=कस्मिन् स्थाने प्रेषितम् इति एतत्=सर्वम् तावत् विचारय=जानीहि । अत्र गोपालदारकोऽन्वेष्टव्य इति भावः । गीतिजातिः ॥

करके ले गया है । क्योंकि अर्ध-उदित सूर्योदय के समय गोप बालक आर्यक निकल भागा है ॥ ११ ॥

चेट—बढ़े चलो बैलों ! बढ़े चलो ।

चन्दनक—(देखकर) अरे देखो, देखो—

वस्त्र से अवगुण्ठित बैलगाड़ी बीच सड़क से जा रही है । जरा विचार पूर्वक देखो कि यह किसकी गाड़ी है ? और कहाँ जा रही है । (कहीं इस पर आर्यक तो नहीं है ?) ॥ १२ ॥

वीरकः—(अवलोक्य) अरे पवहणवाहआ ! मा दाव एदं पवहणं वाहेहि । कस्स केरकं एदं पवहणं ? को वा इध आरूढो ? कहिं वा वजइ ? । (अरे प्रवहणवाहक ! मा तावदेतत् प्रवहणं वाहय । कस्यैतत् प्रवहणम् ? को वा इहारूढः ? कुत्र वा व्रजति ?)

चेटः—एशे क्खु पवहणे अज्जचालुदत्तश्श केलके, इध अज्जआ वशन्तशेणा आलूढा, पुप्फकरण्डअं जिण्णुज्जाणं कीलिदुं चालुदत्तश्श णीअदि । (एतत् खलु प्रवहणमार्यचारुदत्तस्य, क्रीडके इह आर्या वसन्तसेना आरूढा, पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं क्रीडितुं चारुदत्तस्य नीयते' इति)

वीरकः—(चन्दनकमुपसृत्य) एसो पवहणवाहओ भणादि— 'अज्ज-चालुदत्तश्श पवहणं, वशन्तशेणा आलूढा, पुप्फकरण्डअं जिण्णुज्जाणं णीअदि' त्ति । (एष प्रवहणवाहको भणति—'आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणम्, वसन्त-सेना आरूढा, पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं नीयते इति)

चन्द—ता गच्छदु ! (तत्गच्छतु)

वीरकः—अणवलोइदो ज्जेव ? । (अनवलोकितएव)

सरलार्थः—राजकीयपथस्य मध्यप्रदेशमाश्रित्य आच्छादितं यानं गच्छति । कस्य शकटं कुत्र प्रेषितमिति साकल्येन एतदेव आलोचय इति भावः ॥ १२ ॥

प्रवहणवाहक ! शकटवाहक ! वाहय=स्थानान्तरं प्रापय आरूढः=स्थितः व्रजति=गच्छति ।

चेट इति—क्रीडितुम्=उद्यानकेलिं कर्तुं चारुदत्तस्य (समीपे) नीयते=प्राप्यते ।

वीरक—(देखकर) अरे गाड़ीवान् ! गाड़ी आगे मत बढ़ाओ । यह किसकी गाड़ी है ? इस पर कौन चढ़ा है ? और यह कहाँ जायगी ?

चेट—यह आर्यचारुदत्त की गाड़ी है इस पर आर्या वसन्तसेना बैठी हैं । चारुदत्त के विनोद के लिए यह पुष्पकरण्डक नामक पुरातन उपवन में जाती है ।

वीरक—(चन्दन के निकट जाकर) यह गाड़ीवान कहता है—'यह आर्य चारुदत्त की गाड़ी है, वसन्तसेना इस पर चढ़ी है और गाड़ी पुष्पकरण्डक नामक पुरातन उपवन में जारही है ।

चन्दनक—अच्छा, जाने दो ।

वीरक—बिना निरीक्षण किए हुए ही ?

चन्द—अधइं । (अथकिम्)

वीरकः—कस्स पच्चाएण ? । (कस्य प्रत्ययेन ?)

चन्द—अज्जचारुत्तस्स (आर्यचारुत्तस्य)

वीरकः—को अज्जचारुदत्तो ? का वा वसन्तसेणा ? जेण अणवलोइदं वजई । (क आर्यचारुदत्तः ? का वा वसन्तसेना ? येनानवलोकितं व्रजति)

चन्द—अरे ! अज्जचारुदत्तं ण जाणासि ? ण वा वसन्तसेणिअं ? । जइ अज्जचारुदत्तं वसन्तसेणिअं वा ण जाणासि, ता गअणे जोण्हासहिदं चन्दं पि तुमं ण जाणासि । (अरे ! आर्यचारुदत्तं न जानासि ? न वा वसन्तसेनिकाम् ? यदि आर्यचारुदत्तं वसन्तसेनिकां वा न जानासि, तद् गगने ज्योत्स्नासहितं चन्द्रमपि त्वं न जानासि)

को तं गुणारविन्दं सीलमिअङ्कं जणो ण जाणादि ? ।
आवण्ण-दुक्ख-मोक्खंचउ-साअर-सारअं रअणं ।। १३ ।।
(कस्तं गुणारविन्दं शीलमृगाङ्कं जनो न जानाति ? ।)

वीरक इति—प्रत्ययेन = प्रतीत्या ।

अत्र उज्जयिनीगतविदितचारुदत्तवसन्तसेनयोरज्ञानं गगनगतसकललोकालोकनीययोश्चन्द्रचन्द्रिकयोरज्ञानमिवेति सादृश्यं बोधयन्ती असम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपा निदर्शना । तथा चोक्तं दर्पणे—संम्भवन्वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन्वाऽपि कुत्रचित् । यत्र विम्बानुविम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना ।

अन्वयः—गुणारविन्दम् शीलमृगाङ्कम् आपन्नदुःखमोक्षम् चतुःसागरसारम् रत्नम् तम् कः जनः न जानाति ।

क इति–गुणैःसौन्दर्यसौकुमार्यादिभिरिवदयादाक्षिण्यादिभिः अरविन्दम्=कमल-

---

चन्दनक—हाँ ।

वीरक—किसके विश्वास पर ?

चन्दनक—आर्य चारुदत्त के विश्वास पर ।

वीरक—आर्य चारुदत्त कौन है ? और वसन्तसेना कौन है ? कि बिना जाँच ही के यह गाड़ी चली जा रही है ।

चन्दनक-अरे ! आर्य चारुदत्त को नहीं जानते हो ? और न वसन्तसेना ही को जानते हो ? यदि तुम आर्य चारुदत्त और वसन्तसेना को नहीं जानते हो तो आकाश में चन्द्रिका के सहित चन्द्रमा को भी नहीं जानते हो ।

विपत्तियों का उद्धार करने वाला, चारों सागरों के उत्तम रत्न, गुण में

आपन्न-दुःखमोक्षं चतुःसागरसारं रत्नम् ॥ १३ ॥)

दो ज्जेव पूअणीआ एत्थ णअरीए तिलअभूदा अ ।
अज्जा वसन्तसेणा, धम्मणिही चारुदत्तो अ ॥ १४ ॥
(द्वावेव पूजनीयौ अत्र नगर्यां तिलकभूतौ च ।
आर्या वसन्तसेना धर्मनिधिश्चारुदत्तश्च ॥ १४ ॥)

वीरकः—अरे चन्दणओ ! (अरे चन्दनक !)

जाणमि चारुदत्तं वसन्तसेणं अ सुट्ठु जाणामि ।
पत्ते अ राअकज्जे पिदरं पि अहं ण जाणामि ॥ १५ ॥

मित्र शीलेन साधुस्वभावेन मृगाङ्कः=चन्द्रमा इव यद्वा शीले मृगाङ्क इव तम् चन्द्रसदृशलोकाह्लादकगुणशालिनम् आपन्नानाम्=विपद्ग्रस्तानाम् दुःखस्य= क्लेशस्य मोक्षः=मोचनम् यस्य तम् । एवम् चतुर्णाम् सागराणाम्=समुद्राणाम् सारम्=उत्तमोत्तमं रत्नम् इव तम्=चारुदत्तम् को जनः=लोकः न जानाति अपितु सर्वो जानातीत्याशयः । अत्र अरविन्दमिव मृगाङ्कमिवेतिविनिश्चयाल्लुप्तोपमाचतुः-सागरम्''''रत्नम् इति निरङ्गं केवलरूपकम् । आर्याजातिः ॥ १३ ॥

सरलार्थः—पद्मतुल्यलोभनीयगुणकं चन्द्रतुल्यनिर्मलस्वभावं आर्त्तजनत्राणैक-कारणं चतुःसागरनिधिभूतं विशिष्टरत्नमिव चारुदत्तं को न वेत्ति अपि तु सर्व एव जानातीति भावः ॥ १३ ॥

द्वाविति—अत्र नगर्याम् (उज्जयिन्याम्) आर्या (वेश्यात्वेऽपि साधुशीला) वसन्तसेना धर्मनिधिः चारुदत्तः च । (इमौ) द्वौ (अपि) पूजनीयौ (स्तः) तिलकभूतौ च (अर्हणीयौ) चन्दनवल्ललाटधार्यौ च । एकस्यामेव पूजनक्रियायामुभयोः कर्तृत्वेन विवक्षणात् तुल्ययोगितालङ्कारः आर्याजातिः ॥ १४ ॥

सरलार्थः—उदारस्वभावा वसन्तसेना धर्मैकधनश्चारुदत्तश्च उभौ एवास्यां नगर्यां शृङ्गारभूतौ पूज्यौ चेति भावः ॥ १४ ॥

कमल और स्वभाव में चन्द्रमा के समान शीतल आर्यचारुदत्त को कौन मनुष्य नहीं जानता है ? ॥ १३ ॥

इस नगरी में दो ही श्रेष्ठ व्यक्ति, पूजनीय हैं, एक आर्या वसन्तसेना और दूसरे धर्मनिधि चारुदत्त ॥ १४ ॥

वीरक—अरे चन्दनक !

मैं आर्य चारुदत्त को जानता हूँ और वसन्तसेना को अच्छी तरह जानता

(जानामि चारुदत्तं वसन्तसेनाञ्च सुष्ठु जानामि ।
प्राप्ते च राजकार्ये पितरमपि अहं न जानामि ॥ १५ ॥

आर्यकः—(स्वगतम्) अयं मे पूर्ववैरी, अयं मे पूर्वबन्धुः । यतः—

एककार्यनियोगेऽपि नानयोस्तुल्यशीलता ।
विवाहे च चितायाञ्च यथा हुतभुजोर्द्वयोः ॥ १६ ॥

अन्वयः—चारुदत्तम् वसन्तसेनाम् च सुष्ठु जानामि (किन्तु) राजकार्ये प्राप्ते पितरम् अपि अहम् न जानामि ।

जानामीति–सुष्ठुसम्यग्रूपेण राजकार्ये=असाधारणराजकर्मणि न जानामि=विश्वस्ततया न स्वीकरोमि चारुदत्तादीनां पुनः का कथा ? अत्राप्राकरणिकार्थात्पितृरूपात् प्राकरणिकचारुदत्तादिरूपार्थावगमादर्थापपत्तिरलङ्कारः आर्याजातिः ॥ १५ ॥

सरलार्थः—चारुदत्तं वसन्तसेनां च सम्यगवच्छामि किन्तु राज्यप्रयोजने उपस्थिते स्वं जनकमपि न वेद्मि । अर्थात् अपराधे सति स्वकीयो वा परकीयो वेति न गणयामीति भावः ॥ १ ॥

आर्यक इति–वीरकमुद्दिश्य अयम्=वीरकः मे=ममपूर्ववैरी (सम्प्रति प्रतिकूलकार्यकारितया (चन्दनकमुद्दिश्य अयं मे पूर्वबन्धुः स्वानुकूलकार्यसम्पादकतया) चेतसि चिन्तयति ।

एकस्य बन्धुत्वेऽपरस्य वैरित्वे कारणमुपन्यस्यति—यत–इति ।

अन्वयः—एककार्यनियोगे अपि अनयोः तुल्यशीलता न यथा विवाहे चितायाम् च द्वयोः हुतभुजोः ।

एकेति—एककार्ये=मम बन्धनरूपे कर्मणि नियोगेऽपि कृतिशीलेऽपि अनयोः तुल्यशीलता=सदृशस्वभावो न दृष्टान्तं दर्शयति-यथा एकस्मिन् दाहकर्मणि विवाहे=उद्वाहे चितायाञ्च=श्मशाने द्वयोः हुतंभुजोः=पावकयोः एकस्यामङ्गलजनकत्वादपरस्य माङ्गलिकत्वाविति । हुतं भुनक्तीति हुतपूर्वकाद् भुज् धातोः क्विप् ॥ १६ ॥

हूँ किन्तु राजा का कार्य उपस्थित होने पर मैं अपने पितरों को भी नहीं जानता हूँ ॥

आर्यक—(मन में) यह वीरक मेरा प्राचीन वैरी है और यह चन्दनक मेरा प्राचीन मित्र है क्योंकि—

एक ही राजकार्य में लगे हुए दोनों वीरक और चन्दनक के स्वभाव में बड़ा अन्तर है । जिस प्रकार वैवाहिक अग्नि और चिता की अग्नि में बड़ा भेद है । चन्दनक वैवाहिक अग्नि के समान सुखदायी है और वीरक चिता की अग्नि के समान दुखदाई है ॥ १६ ॥

चन्द—तुमं तन्तिलो सेणावई रण्णो पच्चईदो, एदे धारिदा मए वइल्ला, अवलोएहि। (त्वं तन्त्रिलः सेनापतिः राज्ञः प्रत्ययितः; एतौ धारितौ मया बलीवर्दौ, अवलोकय)

वीरकः—तुमं पि रण्णो पच्चइदा, वलवई, ता तुमं ज्जेव अवलोएहि। (त्वमपि राज्ञः प्रत्ययितो बलपतिः, तत् त्वमेव अवलोकय)

चन्द—मए अवलोइदं तुए अवलोइदं भोदि? (मया अवलोकितं त्वया अवलोकितं भवति?)

वीरकः—जं तुए अवलोइदं तं रण्णा पालएण अवलोइदं। (यत् त्वया अवलोकितं तत् राज्ञा पालकेनावलोकितम्)

चन्द—अरे! उण्णामेहि धुरं। (अरे! उन्नमय धुरम्)

(चेटस्तथा करोति)

सरलार्थः—पाणिग्रहणकर्मणि प्रेतदहनभूमौ वा स्थितयोः हुतभुजोरग्निस्वेन एकत्वेपि कार्यभेदेन यथा द्वैविध्यं तथैव एककार्यनियुक्तयोरपि वीरकचन्दनकयोरपि समाना प्रकृतिर्नेति भावः ॥ १६ ॥

चन्द इति—त्वम् = वीरकः तन्त्रिलः = प्रधानः सेनापतिः = सेनानायकः। 'तन्त्रं प्रधाने शुद्धान्ते सूत्रावपि परिच्छेदे' इत्यमरः। प्रत्ययः = विश्वासः अस्य संप्राप्त इति प्रत्ययितः = विश्रब्धः अवलोकय = प्रवहणं निरीक्षस्व।

वीरक इति—त्वमपि = चन्दनकोऽपि बलपतिः = सेनापतिः।

चन्द इति—मदवलोकनेन तव विश्वासो भविष्यति किम्!

वीरक इति—त्वदवलोकनं साक्षात्पालकनरपतेरवलोकनतुल्यमहं मन्ये।

चन्द—अरे सम्बोधनपदम् चारुदत्तभृत्यं प्रति। धुरम् = भारम् उन्नमय = अग्रं मुत्तोल्य अपसारय।

चन्दनक—तुम राजा के प्रधान विश्वस्त सेनापति हो। अतः यह मैंने बैलों को पकड़ लिया तुम इसका निरीक्षण करो।

वीरक—तुम भी राजा के विश्वस्त सेनापति हो, अतः तुम्ही निरीक्षण करो।

चन्दनक—क्या मेरे देख लेने से तुम्हारा देखना हो जायगा?

वीरक—यदि तुमने निरीक्षण कर लिया तो मानो राजा पालक ने निरीक्षण कर लिया।

चन्दनक—अरे! इस गाड़ी के अवगुण्ठन को उठाओ।

(चेट गाड़ी का वस्त्र उठाता है)

आर्यकः—(स्वगतम्) अपि रक्षिणो मामवलोकयन्ति ? अशस्त्रश्चास्मि मन्दभाग्यः। अथवा—

भीमस्यानुकरिष्यामि बाहुः शस्त्रं भविष्यति।
वरं व्यायच्छतो मृत्युर्न गृहीतस्य बन्धने ॥ १७ ॥

अथवा, साहसस्य तावदनवसरः।

चन्द—(नाटचेन प्रवहणमारुह्यावलोकयति)

आर्यकः—शरणागतोऽस्मि।

आर्यक इति—रक्षिणः =सैनिकाः।

अन्वयः—भीमस्य अनुकरिष्यामि बाहुः शस्त्रं भविष्यति व्यायच्छतः मृत्युः वरम् बन्धने गृहीतस्य न ॥ १७ ॥

भीमस्येति—भीमस्य=द्वापरप्रसिद्धभीमाख्यपाण्डवस्य अनुकरिष्यामि=अनुरूपमाचरिष्यामि (भीमस्येति शेष इत्यनेन षष्ठी 'तदाऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य'त्यत्र यथा कुमारसम्भवे) बाहुरेव शस्त्रं भविष्यति मल्लयुद्धमाचरिष्यामीति भावः। व्यायच्छतः=परपरिभवं कुर्वत इति पृथ्वीधराः, व्यायामं कुर्वत = इति भट्टाचार्याः। व्यायच्छतः =युद्धं कुर्वत इति वरम् मृत्युः=मरणम् वरम् बन्धने =कारागारे गृहीतस्य =बद्धस्य मृत्युर्न वरमिति भावः।

सरलार्थः—भीमवत् व्यवहारं दर्शयिष्यामि भीमो यथा शस्त्रं बिना बाहुयुद्धं कृतवान् तद्वदहमपि करिष्यामि। व्यायामं कुर्वतः निधनं श्रेष्ठम् किन्तु कारागारे निक्षिप्तस्य निर्जीववत् मृत्युर्न वरमिति भावः ॥ १७ ॥

अथवेति—साहसस्य =मल्लयुद्धाचरणरूपसाहसप्रदर्शनस्य अनवसरः = असमयः। अशस्त्रधारिभिः सह एव मल्लयुद्धस्य सम्भवात्।

आर्यक—(मन में) क्या रक्षकगण मुझे देखते हैं ? मैं अभाग्य वश शस्त्रविहीन हूँ। अथवा—

मैं भीम का अनुकरण करता हूँ, मेरी भुजा ही शस्त्र हो जायगी। (अर्थात् बाहुयुद्ध करूँगा), बाहुयुद्ध करते हुए मर जाना अच्छा है, किन्तु कारागार में बन्द होकर जीवित रहना भी अच्छा नहीं है ॥ १७ ॥

अथवा यह साहस (युद्ध) करने का अवसर नहीं है।

चन्दनक—(गाड़ी पर चढ़ कर देखता है)।

आर्यक—मैं आप की शरण में आ गया हूँ।

चन्द—(संस्कृतमाश्रित्य) अभयं शरणागतस्य ।

आर्यक :—

त्यजति किल तं जयश्रीर्जहति च मित्राणि बन्धुवर्गश्च ।
भवति च सदोपहास्यो यः खलु शरणागतं त्यजति ॥ १८ ॥

चन्द—कधं अज्जओ गोवालदारओ सेणवित्तासिदो विअ पत्तरहो साउणिअस्स हत्थे णिवड़िदो । (विचिन्त्य) एसो अणवराधो सरणाअदो अज्जचारुदत्तस्स पवहणं आरूढो पाणप्पदस्स मे अज्जसव्विलअस्स मित्तं, अण्णदो राअ-णिओओ । ता किं दाणिं एत्थ जुत्तं अणुचिट्ठिदुं ? । अधवा, जं भोदु, पढमं ज्जेव अभअं दिण्णं । (कथमार्यको गोपालदारकः श्येनवित्रासित इव पत्त्ररथः शाकुनिकस्य हस्ते निपातितः । एषोऽनपराधः शरणागत। आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणमारूढः प्राणप्रदस्य मे आर्यशर्विलकस्य

चन्द इति—संस्कृतमाश्रित्य = वैदग्ध्यार्थं संस्कृताश्रयणस्य शास्त्रे निर्देशात् । अभयम् = भयस्याभावः ।

अन्वयः—यः खलु शरणागतम् त्यजति तम् जयश्रीः त्यजति मित्राणि च जहति बन्धुवर्गः (तम्) जहाति सदा उपहास्यश्च भवति ।

त्यजतीति—(समर्थो मत्वा शरणागतस्य त्यागे सुतरामुपहासो भवतीत्याशयः । सर्वं स्पष्टम् जयश्रीकर्तृकत्यागादीनां शरणागतत्यागस्यावर्थ्योऽमूलकताकथनरूपकार्यं प्रति कारणत्वेनोपन्यासात् समुच्चयोऽलङ्कारः । आर्या जातिः ॥ १८ ॥

सरलार्थः—यः पुरुषः शरणार्थिनं त्यजति तं जनं विजयलक्ष्मीः त्यजति सुहृदः ज्ञातिसमूहश्च त्यजन्ति सर्वदा स सभ्यैः निन्दनीयो भवतीति शेषः ॥ १८ ॥

चन्द इति—श्येनेन = पक्षिविशेषेण (बाज इति भाषा) वित्रासितः = भयं

चन्दनक—(संस्कृत का आश्रय लेकर) शरणागत के लिए कोई भय का विषय नहीं है ।

आर्य्यक—जो मनुष्य शरणागत का परित्याग करता है, उसे विजयलक्ष्मी छोड़ देती है, उसे उसके मित्रगण छोड़ देते हैं यहाँ तक कि उसे उसके बन्धु-बान्धव भी त्याग देते हैं और वह सदा उपहास का पात्र भी बनता है ॥ १८ ॥

चन्दनक—गोप बालक आर्य्यक, बाज से डरे हुए पक्षी के समान व्याध के हाथ में पड़ गये हैं । (सोचकर) यह निरपराध शरणागत, आर्य्य चारुदत्त की गाड़ी पर चढ़ा हुआ आर्यक मेरे प्राणदायक आर्यशर्विलक का मित्र है । और

मित्रम्; अन्यतो राजनियोगः । तत् किमिदानीमत्र युक्तमनुष्ठातुम् ? । अथवा यद्-भवतु यद्भवतु, प्रथममेवाभयं दत्तम्)

भीदाभअप्पदाणं दत्तस्स परोवआर-रसिअस्स ।
जइ होइ होउ णासो तहवि अ लोए गुणो ज्जेव ॥ १९ ॥
(भीताभयप्रदानं ददतः परोपकाररसिकस्य ।
यदि भवति-भवतु नाशस्तथापि च लोके गुण एव ॥ १९ ॥)

(सभयमवतीर्य) दिट्ठो अज्जो । (इत्यर्धोक्ते) ण, अज्जआ वसन्तसेणा । तदो एसा भणादि—'जुत्तं णेदं, सरिसं णेदं जं अहं अज्जचारुदत्तं अहिसारिदुं गच्छन्ती राअमग्गे परिभूदा ।' (दृष्ट आर्यः । न, आर्या वसन्तसेना । तदेषा भणति—'युक्तं नेदम्, सदृशं नेदम्, यदहमार्यचारुदत्तमभिसर्तुं गच्छन्ती राजमार्गे परिभूता ।')

प्रापितः पत्रमेव रथो यस्य सः तथोक्तः चक्रवर्त्तिकादिः शाकुनिकस्य=पक्षिनाशकस्य (शकुनिं हन्तीति विग्रहे ठक्) हस्ते=करे निपतितः=आपतितः अनपराधः निर्दोषः शरणागतः=शरणगतत्वादपराधशून्यः प्राणप्रदस्य=मदभिन्नस्येति भावः ।

अन्वयः—भीताभयप्रदानम् ददतः परोपकाररसिकस्य यदि नाशः भवति भवतु तथापि च लोके गुण एव ।

भीतेति । भीताय=भया क्रान्तजनाय अभयप्रदानम्=भयालम्बप्रदानम् ददतः=कुर्वतः परोपकाररसिकस्य=परहिताकाङ्क्षिणः यदि नाशः=मृत्युः=(तर्हि) भवतु=यातु तथापि=एवमपि लोके=जगति गुण एव=प्रशंसैव । आर्या जातिः ॥ १९ ॥

सरलार्थः—भीताभयदानं कुर्वतः परोपकारानुरागिणः मरणं यदि भवति तद् भवतु नाम किन्तु संसारे भद्रमेव जायत इति भावः ॥ १९ ॥

सभयमिति—दृष्ट आर्य इत्यर्धोक्तेः आर्यकस्य महाविपत्तिमाशङ्क्य न आर्या वस

दूसरी ओर राजा की आज्ञा है । तो इस समय क्या करना उचित है ? अथवा, जो कुछ भी हो, पहले मैंने इसे अभयदान दिया है ।

डरे हुए को अभयदान देने में तथा परोपकार करने में तत्पर रहने पर, यदि किसी कारणवश मृत्यु भी हो जाय तो उसमें भी प्रशंसा होती है निन्दा नहीं । (अतः मुझे आर्यक की रक्षा करनी चाहिए, चाहे इसमें हमारी मृत्यु ही हो जाय) ॥ १९ ॥

(भय सहित उतर कर) मैंने आर्य को देख लिया । (इस प्रकार आधा कह चुकने पर) नहीं, आर्या वसन्तसेना को देख लिया । वह कहती है कि—'यह

वीरकः—चन्दणआ ! एत्थ मह संसओ समुप्पण्णो । (चन्दनक ! अत्र मम संशयः समुत्पन्नः)

चन्द—कधं दे संसओ ? । (कथं ते संशयः ?)

वीरकः—

सम्भम-घग्घरकण्ठो तुमं पि जादोसि जं तुए भणिदं ।
दिट्ठो मए क्खु अज्जो पुणोवि अज्जो वसन्तसेणेत्ति ॥ २० ॥

(सम्भ्रम-घर्घर-कण्ठस्त्वमपि जातोऽसि यत्त्वया भणितम् ।
दृष्टो मया खलु आर्यः पुनरप्यार्या वसन्तसेनेति ॥ २० ॥

एत्थ मे अप्पच्चओ । (अत्र मे अप्रत्ययः)

न्तसेना इति कथयति 'हसादीनां भवेद् भ्रंशो वाच्यादन्यतरद्वय' इति दर्पणोक्तो भ्रंशो नाम नाटचलक्षणम् तथाहि आर्या इति वक्तव्ये भीत्या आर्यं इति कथितम् ।

अन्वयः—त्वमपि सम्भ्रमघर्घरकण्ठः जातः असि यत् त्वया (पूर्वं) मया खलु आर्यः दृष्टः (इत्युक्त्वा) ततः आर्या वसन्तसेना (दृष्टा) इति च पुनः भणितम् ।

सम्भ्रमेति—सम्भ्रमेण = भीतिव्यग्रतया घर्घरं कण्ठः = स्वरः यस्य सः तथोक्तः । अन्यत् सर्वं स्पष्टम् ॥ २० ॥

सरलार्थः—त्वमपि भयव्यस्तास्पष्टस्वरः प्रतीयमानो भवसि भवता यत् कथितं तदपि न सुष्ठुतरं यतः मया आपि पुरुषोऽवलोकितः वसन्तसेनापि अवलोकिता इति यदि सत्यं भवेत्तदा घर्घरकण्ठः कथं यात इति भावः ॥ २० ॥

अत्रेति—अप्रत्ययः = तवोक्तौ न विश्वासः ।

उचित नहीं है, यह आपके योग्य नहीं है कि आर्य चारुदत्त से मिलने जाती हुई मुझे इस प्रकार आप सड़क पर रोक लें' ।

वीरक—चन्दनक ! यहाँ मुझे सन्देह उत्पन्न हो गया है ।

चन्दनक—तुम्हें सन्देह क्यों हो आया है ?

वीरक—तुम व्यस्त से मालूम पड़ते हो, तुम्हारी अस्पष्ट घर्घर आवाज हो गई है और तुमने पहले कहा कि आर्य को देखा और पुनः कहा कि—आर्या वसन्तसेना को देख लिया ॥ २० ॥

(इसी से मुझे अविश्वास हो गया है)

चन्द—अरे ! को अप्पच्चओ तुह ? । वअं दक्खिणत्ता अव्वत्तभासिणो । खस-खत्ति खड़ो-विलअ-कण्णाट—कण्ण-प्पावरण-दविड-चोल—चीण—वब्बर—खेर—खाण—मुख—मधु—घाट—पहुदाणं मिलिच्छजादीणं अणेअ—देस—भासाभिण्णा जहेट्ठं मन्त आम—'दट्ठो दिट्ठा वा, अज्जो अज्जआ वा ।' (अरे ! कः अप्रत्ययस्तव ? । वयं दाक्षिणात्या अव्यक्तभाषिणः । खस-खत्ति-खड़ा-खड़ट्टो-विलय-कर्णाट-कर्ण-प्रावरण-द्रविड़-चोल-चीन-वर्बर-खेर-खान-मुख-मधुघात-प्रभृतीनां म्लेच्छजातीनाम् अनेकदेशभाषाभिज्ञो यथेष्टं मन्त्रयामः—'दृष्टो दृष्टा वा, आर्यः आर्या वा ।')

वीरकः—णं अहं पि पलोएमि । राअ-अण्णा एसा । अहं रण्णो प्पच्चइदो । (ननु अहमपि प्रलोकयामि । राजाज्ञा एषा । अहं राज्ञः प्रत्ययितः)

चन्दः—ता किं अहं अप्पच्चाइदो संवुत्तो । (तत् किमहमप्रत्ययितः संवृत्तः ?)

वीरकः—णं सामि—णिओओ । (ननु स्वामिनियोगः)

चन्दः—(स्वगतम्). अज्जगोवालदारओ अज्जचारुदत्तस्स पवहणं अहिरुहिअ अवक्कमदि त्ति जइ कहिज्जदि, तदो अज्जचारुदत्तो रण्णा

चन्दनकेति—अरे ! सम्बोधनम् दाक्षिणात्याः = दक्षिणदेशीयाः अव्यक्तभाषिणः = असम्बद्धभाषिणः यथेष्टं मन्त्रयामः = अर्थलिङ्गादिक्रमननुसन्धायैव शब्दमुच्चारयामः ।

वीरक इति—स्वामिनः = पालकस्य नियोगः = अनुशासनम् ।

चन्दनक—अरे ! तुम्हें क्यों अविश्वास है ? हमलोग दक्षिण के रहनेवाले अस्पष्ट और अशुद्ध बोलते ही हैं । खस, खत्ति, खड़ा, खड़ट्टो, विलय, कर्णाट, कर्ण, प्रावरण, द्रविड़, चोल, चीन, बर्बर, खेर, खान, मुख, मधुघात आदि असभ्य जाति वाले हम अनेक देशभाषा से अनभिज्ञ होने के कारण मनमाना, 'देखा गया' या 'देखी गई' 'आर्य या आर्या' आदि बोला करते हैं ।

वीरक—अच्छा मैं भी देख लेता हूँ, क्योंकि ऐसी ही राजा की आज्ञा है । और मैं राजा का विश्वस्त पात्र हूँ ।

चन्दनक—तो क्या मैं अविश्वासी हो गया ?

वीरक—अरे, ऐसी राजा की आज्ञा है ।

चन्दनक—(मन में) यदि यह कहा जाय कि गोप-बालक आर्यक आर्य

सासिज्जइ, ता को एत्थ उवाओ ? । (विचिन्त्य) कण्णाट–कलह–प्पओअं कलेमि । (प्रकाशम्) अरे वीरअ ! मए चन्दणकेण पलोइदं पुणो वि तुमं पलोएसि, को तुमं ? । (आर्यगोपालदारकः आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणमधिरुह्य अपक्रामतीति यदि कथ्यते, तदा आर्यचारुदत्तो राज्ञा शिष्यते, तत् कोऽत्र उपायः ? । कर्णाट–कलह–प्रयोगं करोमि । अरे वीरक ! मया चन्दनकेन प्रलोकितं पुनरपि त्वं प्रलोकयसि, कस्त्वम् ?)

वीरकः—अरे तुमं पि को ? । (अरे त्वमपि कः ?)

चन्द—पूइज्जन्तो माणिज्जन्तो तुमं अप्पणो जादि ण सुमरेसि । (पूज्यमानो मान्यमानस्त्वमात्मनो जातिं न स्मरसि ?)

वीरकः—(सक्रोधम्) अरे ! का मह जादी ? । (अरे ! का मम जातिः ?)

चन्द—को भणउ ? । (को भणतु ?)

चन्द इति—आर्यचारुदत्तः राज्ञा = पालकेन शिष्यते = दण्डयिष्यते राजद्रोहि-मोचनरक्षणमहापराधादिति शेषः) कर्णाटकलहप्रयोगम् = कर्णाटदेशरीत्या विवादारम्भम् । प्रवहणम् = गोशकटम् अपक्रामति = अपसरति कथ्यते = उच्यते चारुदत्तः राज्ञा = पालकेन शिष्यते = दण्डयिष्यते (राजद्रोहिमोचनारक्षणं महा-पराधादिति शेषः) कर्णाटकलहप्रयोगम् = कर्णाटदेशानुरूपेण विरोधारम्भम करोमि = आचरामि (कर्णाटकदेशरीत्या निष्कारणविवादारम्भे आर्यकोऽवसरं प्राप्य इतोऽपसरिष्यति)

चारुदत्त की गाड़ी पर चढ़ कर जा रहा है, तो आर्यचारुदत्त भी राजा से दण्डित होते हैं, तब क्या उपाय है ? (सोचकर) कर्णाटक देशीय कलह प्रारम्भ करता हूँ । (प्रकट) अरे वीरक ? मुझ चन्दनक से देखे जाने पर भी, तुम देखने वाले कौन होते हो ?

वीरक—अरे तुम्हीं कौन होते हो ?

चन्दनक—अपने को पूजनीय समझने वाले वीरक ! अपनी जाति का स्मरण करो ।

वीरक—(क्रोध के साथ) अरे मेरी कौन जाति है ?

चन्दनक—नीच जाति का नाम कौन ले ?

वीरकः—भणउ। (भणतु)

चन्द—अहवा ण भणामि। (अथवा न भणामि)

जाणन्ती वि हु जादिं तुज्झ अ ण भणामि सील-विहवेण।
चिट्ठउ मह च्चिअ मणे किं हि कइत्थेण भग्गेण॥ २१॥

जानन्नपि खलु जातिं तव च न भणामि शीलविभवेन।
तिष्ठतु ममैव मनसि किं हि कपित्थेन भग्नेन॥ २१॥

वीरकः—णं भणउ भणउ। (ननु भणतु भणतु)

(चन्दनकः संज्ञां ददाति)

वीरकः—अरे! किं णेदं ?। (अरे! किन्तु इदम् ?)

अन्वयः—तव खलु जातिं जानन् अपि अहम् शीलविभवेन न च भणामि मम मनसि एव तिष्ठतु हि कपित्थेन भग्नेन किम् ?

जानन्निति—शीलविभवेन = आत्मनः साधुस्वभावसम्पत्त्या न च भणामि = न वदामि ('न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्' इति स्मरणादिति शेषः) कपित्थेन = गजभुक्तत्वादन्तः सारशून्येन कपित्थेनेति भावः (उपमितो बिल्वफलतुल्यसारं मत्वा भङ्क्ते सारहीन-मुदरमवलोक्य यथोपहासास्पदं भवति तद्वत्त्वमपि बाह्यतः सेनापतित्वं प्राप्तः जात्य-धर्ममनुसरन्नपि जातिहीनताभिव्यक्त्यावज्ञामवाप्स्यसीति) अत्र दृष्टान्तालङ्कारः। 'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनात्' इति लक्षणात्। आर्याजातिः॥२१॥

सरलार्थः—तव जातिं जानन्नपि स्वभावसंपत्त्या न वदामि मम चित्ते एव तिष्ठतु कपित्थाख्यफलविशेषखण्डनेन किं फलमिति भावः॥ २१॥

वीरक—नाम लो।

चन्दनक—अथवा नहीं कहूँगा।

मैं अपने उत्तम स्वभाव के कारण तुम्हारी जाति जानते हुए भी नहीं कहूँगा। मेरे मन ही में यह जाति रहे, कैथ के फोड़ने से क्या लाभ? (अर्थात् तुम्हारी जाति का नाम ले लेने ही से मुझे क्या मिल जायगा?)॥ २१॥

वीरक—नहीं कहो, कहो।

चन्दनक—इशारा से बतलाता है? (कि तुम नापित हो)

वीरक—अरे यह इशारा क्या है?

चन्द—

सिण्ण-सिलाअल-हत्थो पुरिसाणं कुच्च-गण्ठि-सण्ठवणो।
कत्तरि-वावुद-हत्थो तुमं पि सेणावई जादो ॥ २२ ॥
(शीर्णशिलातलहस्तः पुरुषाणां कूर्च्च-ग्रन्थि-संस्थापनः।
कर्त्तरी-व्यापृत-हस्तस्त्वमपि सेनापतिर्जातः ॥ २२ ॥)

वीरकः—अरे चन्दणआ! तुमं हि माणिज्जन्तो अप्पणो केरिकं जादिं ण सुमरेसि। (अरे! चन्दनक! त्वमपि मन्यमान आत्मनो कीदृक् जातिं न स्मरसि)

चन्द—अरे! का मह चन्दणअस्सचन्दविसुद्धस्स जादी?। (अरे! का मम चन्दनकस्य चन्द्रविशुद्धस्य जातिः?)

वीरकः—को भणउ?। (को भणतु?)

चन्द—भणउ। (भणतु भणतु)

अन्वयः—शीर्णशिलातलहस्तः पुरुषाणाम् कूर्च्चग्रन्थिसंस्थापनः कर्त्तरीव्यापृत-हस्तः त्वं सेनापतिरपि जातः।

शीर्णेति—शीर्णम् = चिरं क्षुरसम्बघाद घर्षितपृष्ठम् शिलातलम् = पाषाण-खण्डम् हस्ते=दक्षिणेतरपाणौ यस्य सः, पुरुषाणाम्=नृणाम् कूर्चग्रन्थिम्=श्मश्रुसमूहम् संस्थापयति=छित्त्वा छित्त्वा एकत्रीकरोति कर्त्तर्या=क्षुरेण व्यापृतः=समासक्तः हस्तः = दक्षिणपाणिः यस्य स; एवम्भूतस्त्वं नापितकर्मा त्वम् सेनापतिः = सेनानी जातः किमतः परमाश्चर्यमिति। अत्र गर्हणं नाम नाटचलक्षणम्। दूषणोद्घोषणा-यान्तु भर्त्सना गर्हणन्तु तत्, इति दर्पणोक्तेः ॥ २२ ॥

सरलार्थः—भग्नप्रस्तरकरः नराणां श्मश्रुगुच्छसंहर्ता नापित इति यावत् केश-वपनसाधनास्त्रविशेषे व्यासक्तहस्तः त्वमपि सैन्याध्यक्षः संपन्न इति भाव ॥२२॥

चन्दनक—बाएं हाथ में छूरा तेज करने के लिए पत्थर का टुकड़ा लिए हुए और दाहिने हाथ में दाढ़ छीलने वाले छूरे को लिए हुए तुम नापित भी सेनापति बन गए हो।

वीरक—अरे चन्दनक! माननीय तुम भी अपनी जाति का स्मरण नहीं करते हो।

चन्दनक—चन्दनक के समान शुभ्र मुझ चन्दनक की कौन जाति है?

वीरक—नीच जाति का कौन नाम ले?

चन्दनक—नाम लो।

वीरकः—(नाटयेन संज्ञां ददाति)

चन्द—अरे ! किं णेदं । (अरे ! किन्नु इदम्)

वीरकः—अरे ! सुणाहि सुणाहि । (अरे शृणु शृणु)

जादी तुज्झ विसुद्धा मादा भेरी पिदा वि दे पड़हा ।

दुम्मुह ! करड़अ-भादा तुमं पि सेणावई जादो ॥ २३ ॥

(जातिस्तव विशुद्धा माता भेरी पितापि ते पटहः ।

दुर्मुख ! करटकभ्राता त्वमपि सेनापतिर्जातः ॥ २३ ॥

चन्द—(सक्रोधम्) अहं चन्दणओ चम्मारओ ! ता पलोएहि पवहसं । (अहं चन्दनकश्चर्मकारः ! तत् प्रलोकय प्रवहणम्)

वीरक इति—संज्ञाम् = वाद्यवादननिर्माणरूपम् संकेतम् ददाति = चर्मकारस्त्वमिति बोधयति ।

अन्वयः—विशुद्धा तव जातिः ते माता भेरी पिता पटहः दुर्मुख ! करटकभ्राता-त्वम् अपि सेनापतिः जातः ।

जातिरिति—विशुद्धा सर्वथाशुद्धा (हीना जातिरिति भावः) ते = तव माता = जननी भेरी = वाद्यविशेषः पिता = जनकः पटहः = ढक्का (ढोल) हे दुर्मुख ! = कटुवादिन् करटकः = वाद्यविशेषः भ्राता जीवनोपायभूतत्वान्मातृभ्रात्रादिकत्व-मवसेयम् एवम्भूतस्त्वमपि सेनापतिर्जातः आर्या जातिः ॥ २३ ॥

सरलार्थः—तव निर्मला जातिः माता दुन्दुभिः पालकः पिता ढक्का एतैरेव स्वजीविका निर्वाह्यते । हे दुर्मुख ! कटंकसहोदर ! त्वमपि सेनानायकसंवृत्त इति तात्पर्यार्थः ॥ २३ ॥

चन्द इति—काश्चा वदति चन्दनकश्चर्मकारः = (चन्दनकश्चर्मकारः कथमपि नेत्यर्थः) ।

वीरक—इशारे से बतलाता है (कि चमार हो) ।

चन्दनक—अरे इस इशारे का क्या मतलब है ?

वीरक—अरे सुनो, सुनो—

हे प्रलापी ! तुम्हारी जाति बड़ी विशुद्ध है ? तुम्हारी माता दुन्दुभी है, पिता ढोल है, और तुम्हारे भाई करकट नामक बाजा है (इस प्रकार का चमार) किन्तु तुम सेनापाति हो गए हो ॥ २३ ॥

चन्दनक—(क्रोध के साथ) चन्दनक चमार है ? अच्छा तो गाड़ी देखिए ?

वीरकः—अरे पवहणवाहआ ! परिवत्तावेहि पवहणं पलोइस्सं। (अरे ! प्रवहणवाहक ! परिवर्त्तय प्रवहणं प्रलोकयिष्यामि)

चेटस्तथा करोति।

वीरकः प्रवहणमारोढुमिच्छति, चन्दनकः सहसा केशेषु गृहीत्वा पातयति, पादेन ताडयति च।

वीरकः—(सक्रोधमुत्थाय) अरे अहं तुए वीसत्थो राआण्णत्ति करेन्तो सहसा केसेसु गेण्हिअ पादेण ताड़िदो। ता सुणु रे! अविअरणमज्झे जइ दे चउरङ्गं ण कप्पावेमि, तदा ण होमि वीरओ। (अरे! अहं त्वया विश्वस्तो राजाज्ञांहि कुर्वन् सहसा केशेषु गृहीत्वा पादेन ताडितः तत् शृणु रे! अधिकरणमध्ये यदि ते चतुरङ्गं न कल्पयामि, तदा न भवामि वीरकः)

चन्द—अरे ! राअउलं अहिअरणं वा वच्च। किं तुए सुणअ-सरिसेण ?। (अरे ! राजकुलमधिकरणं वा व्रज। किं त्वया शुनकसदृशेन ?)

वीरकः—परिवर्त्तय = मदभिमुखं कुरु।

वीरक इति—राज्ञः = पालकस्य आज्ञप्तिम् = आज्ञाम् केशेषु गृहीत्वा—कचानाकृष्य। अधिकरणमध्ये = न्यायालये चतुरङ्गम् = चत्वारि (शिरोमुण्डनकशाघात-धनहरण-बहिष्करणानि) अङ्गानि यस्य तम चतुरङ्गम् = दण्डम् कल्पयामि = दापयिष्यामि (वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा)।

चन्द इति—राजकुलम् = साक्षान्नृपसन्निधौ शुनकसदृशेन = कुक्कुरोपमेन त्वया मम किम् (न किमप्यनिष्टं भावीति अभिप्रायः)।

वीरक—अरे गाड़ीवान ? गाड़ी रोको मैं देखूंगा।

(चेट गाड़ी रोक देता है)

(वीरक गाड़ी पर चढ़ना चाहता है, किन्तु चन्दनक केश पकड़ कर उसे भूमि पर गिरा देता है और पैर से मारता भी है)

वीरक—(क्रोधपूर्वक उठकर) अरे विश्वस्त मैं वीरक राजा की आज्ञाका पालन कर रहा था किन्तु उस पर तुमने केश पकड़ कर मुझे पैरों से मारा है। तो सुनो यदि न्यायालय में मैं तुम्हें चतुरंग दण्ड न दिलवाऊँ तो मेरा नाम वीरक नहीं। (चतुरङ्ग दण्ड = १. मस्तक मुण्डन, २. बेंत से मारना, ३. धन लेना, और ४. बहिष्कार है)

चन्दनक—अरे ! तुम राजा के न्यायालय में ही क्यों न जाओ ? कुत्ते के सदृश तुम क्या बिगाड़ सकते हो ?

वीरकः—तह। इति निष्क्रान्तः। (तथा)

चन्द—(दिशोऽवलोक्य) गच्छ रे पवहणवाहआ। गच्छ। जइ को वि पुच्छेदि, तदो भणसि 'चन्दणअ-वीरएहिं अवलोइदं पवहणं वच्चइ। अज्जे! वसन्तसेणे! इमं च अहिण्णाणं दे देमि। (इति खड्गं प्रयच्छति।) (गच्छ रे प्रवहणवाहक! गच्छ। यदि कोऽपि पृच्छति, ततो भणिष्यसि 'चन्दनक-वीरकाभ्याम् अवलोकितमिदं प्रवहणं व्रजति।' आर्ये! वसन्तसेने! इदञ्च अभिज्ञानं ते ददामि)

आर्यकः—(खड्गं गृहीत्वा सहर्षमात्मगतम्)

अये! शस्त्रं मया प्राप्तं स्पन्दते दक्षिणो भुजः।
अनुकूलञ्च सकलं हन्त संरक्षितो ह्यहम्॥ २४॥

वीरक इति—तथा = कुक्कुरतुल्य एवास्मि सोपालम्भोऽयमङ्गीकारः।

चन्द इति—दिशोऽवलोक्य = परितो विलोक्य (इतरः कोऽपि रक्षक आयाति न वेति) दर्शनाय रहस्यभङ्गिभिया व्याजेन आर्यकं सम्बोधयति = आर्ये वसन्तसेने इति अभिज्ञानम् = चिह्नम्।

अन्वयः—अये मया शस्त्रम् प्राप्तम् दक्षिणः भुजः स्पन्दते सकलम् अनुकूलं अहं संरक्षितः ह।

अये इति—मया शस्त्रम् प्राप्तम्, अतः कोऽपि जनः कथमपि किमपि कर्तुं न शक्नुयादिति भावः, दक्षिणभुजस्पन्दनेन बन्धुदर्शनमर्थलाभश्च शास्त्रे प्रोक्तः अतः राज्यावाप्तिरेव स्यादिति भावः हन्त इति हर्षे। सकलमनुकूलम् भाग्यादिति शेषः, अहं संरक्षितः (चन्दनकेनेति शेषः)। अत्र भावि कल्याणं प्रति बहुकारणोपन्यासात् समुच्चयोऽलङ्कारः॥ २४॥

सरलार्थः—अये! आर्यकेण मया खड्गं प्राप्तं दक्षिणबाहुः स्फुरति सर्वमेव अधिरुद्धम् अहं दैवेन रक्षितः इति भावः॥ २४॥

वीरक—अच्छा देखूंगा? (चला गया)

चन्दनक—(चारों ओर देखकर) जा रे गाड़ीवान्! जा। यदि कोई पूछे तो कहना कि 'यह गाड़ी चन्दनक और वीरक से देखी जा चुकी है। आर्ये वसन्तसेने! यह संकेत मैं तुम्हें देता हूँ। (तलवार देता है)

आर्यक—(तलवार लेकर, सहर्ष मन ही मन)

अहा! मुझे शस्त्र मिल गये। और मेरी दाहिनी भुजा फड़क रही है। अब सभी मेरे अनुकूल हो गया। मैं अब अच्छी तरह से रक्षित हो गया॥ २४॥

चन्द—अज्जए ! (आर्ये)

एत्थ मए विण्णविदा पच्चइदां चन्दणं पि सुमरेसि ।
ण भणामि एस लुद्धो णेहस्स रसेण वोल्लामो ॥ २५ ॥

(अत्र मया विज्ञप्ता प्रत्ययिता चन्दनमपि स्मरसि !
न भणामि एष लुब्धः स्नेहस्य रसेन वदामः ॥ २५ ॥

आर्यकः—

चन्दनश्चन्द्रशीलाढ्यो दैवादद्य सुहृन्मम ।
चन्दनं भोः ! स्मरिष्यामि सिद्धादेशस्तथा यदि ॥ २६ ॥

चन्द इति—आर्ये इत्यपि तथैव व्याजेन सम्बोधनम् ।

अत्रेति—अत्र मया विज्ञप्ता प्रत्ययिता चन्दनमपि स्मरसि एष; लुब्धः यहं न भणामि स्नेहस्य रसेन वदामः । अत्र = अधुना मया = चन्दनकेन विज्ञप्ता=सूचिता प्रत्ययिता = राज्यप्राप्त्युत्तरं मां स्मरिष्यसि एवम्भूतेऽर्थे विश्वासिता च । एषः = अहम् लुब्धः = पारितोषिकलाभेच्छया प्रेरितः न भणामि = वदामि किन्तु स्नेहस्य रसेन = स्वारस्येन वदामः ॥ २५ ॥

सरलार्थः—उपस्थितव्यापारे कथिता संजातप्रत्यया चन्दनमपि स्मरसि एषः लुब्धः न कथयामि किन्तु स्नेहवशेन कथयामीति भावः ॥ २५ ॥

अन्वयः—चन्द्रशीलाढ्यः चन्दनः दैवाद् अद्य मम सुहृद् सिद्धादेशः यदि भोः चन्दनं स्मरामि ।

चन्दन इति—चन्द्रवत् = हिमांशुवत् शीलेन=शीतलस्वभावेन आढ्यः=संयुक्तः चन्दनः अद्य दैवात् = भाग्यात् मम सुहृत् मित्रम् जातः = प्राप्तः सिद्धादेशः आर्यको राजा भविष्यतीति सिद्धकथनम् यदि तथा = सत्यम् भविष्यति तदा भोः चन्दनक् =त्वाम् अवश्यम् स्मरिष्यामि ॥ २६ ॥

चन्दनक—आर्ये !

मैं निवेदन करता हूँ कि तुम मुझे विश्वस्त मन से स्मरण रखना । पर मैं किसी लोभ से नहीं कह रहा हूँ बल्कि प्रेम के वशीभूत होकर कह रहा हूँ ॥

आर्यक—चन्दन के समान शीतल चन्दनक ! आज तुम दैववश हमारे मित्र बन गए । चन्दनक ! मैं तुम्हारा स्मरण रखूँगा, यदि सिद्ध ज्योतिषियों की बात सत्य निकली । (अर्थात् यदि मैं राजा हो गया तो आप का अधिक ध्यान रखूँगा) ॥ २६ ॥

चन्द—

अभअं तुह देउ हरो विण्हू वम्हा रवी अ चन्दो अ।
हत्तूण सत्तुवक्खं सुम्भ–णिसुम्भे जधा देवी ॥ २७ ॥

(अभयं तव ददातु हरो विष्णुर्ब्रह्मा रविश्च चन्द्रश्च।
हत्वा शत्रुपक्षं शुम्भनिशुम्भौ यथा देवी ॥ २७ ॥)

चेटः—(प्रवहणेन निष्क्रान्तः)

चन्द—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) अरे! णिक्कमन्तस्स मे पिअवअस्सो सव्विलओ पिट्ठदो ज्जेव अणुलग्गो गदो। भोदु, पाधाणदण्डधारओ वीरओ राअ-पच्चअ-आरो विरोधिदो। ता जाव अहं पि पुत्त–भादु पड़ि–बुदो एदं ज्जेव अणुगच्छामि। (इति निष्क्रान्तः) (अरे! निष्क्रामतो मम

सरलार्थः—चन्द्रवन्निर्मल। चन्दनः भाग्यवशेन मम मित्रं हे चन्दन! त्वां स्मरिष्यामि यदि सिद्धपुरुषस्य आज्ञा भवेत् अर्थात् राज्यफलप्राप्तौ त्वां न विस्मरिष्यामीति भावः ॥ २६ ॥

अन्वयः—देवी यथा शुम्भनिशुम्भौ (तथा) हरः विष्णुः ब्रह्मा रविः चन्द्रः शत्रुपक्षम् हत्वा तव अभयम् ददातु।

अभयमिति—देवी=दुर्गा यथा=येन प्रकारेण शुम्भनिशुम्भौ=शुम्भनिशुम्भाख्य-दैत्यौ हत्वा देवानां भयमपाकरोत् तथा हरः=शङ्करः तव=ते अभयं ददातु ॥२७॥

सरलार्थः—यथा दुर्गा शुम्भनिशुम्भौ हत्वा देवानामभयं दत्तवती तथैव शंकरः विष्णुः ब्रह्मा सूर्यः चन्द्रश्च शत्रुपक्षं हत्वा तुभ्यम् अभयं ददात्विति भावः ॥ २७ ॥

अरे=आत्मानं प्रत्यधीरतया नीचसम्बोधनम्। निष्क्रामतः=निःसरतः प्रिय-

---

चन्दनक—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य और चन्द्रमा तुम्हें अभय प्रदान करें। जिस प्रकार देवी ने शुम्भ–निशुम्भ राक्षस को मारा था उसी प्रकार तुम भी अपने शत्रु पालक राजा पर विजय प्राप्त करो ॥ २७ ॥

चेट—(गाड़ी पर चला गया)

चन्दनक—(नेपथ्य की ओर देख कर) अरे! स्थानान्तर में जाता हुआ मेरा प्रिय-मित्र शर्विलक आर्यक के पीछे ही गया है। अच्छा, राजा के विश्वासी

प्रियवयस्यः शर्विलकः पृष्ठत एवानुलग्नो गतः। 'भवतु, प्रधानदण्डधारको वीरको राजप्रत्ययकारी विरोधितः। तद्यावदहमपि पुत्रभ्रातृपरिवृत एतमेवानुगच्छामि)

इति प्रवहणविपर्ययो नाम षष्ठोऽङ्कः।

वयस्यः = परममित्रम् शर्विलकः पृष्ठतः = पश्चात् अनुलग्नः = अनुसृतः प्रधानदण्डधारकः = प्रधानसेनापतिः वीरकः = वीरकनामा विरोधितः = ताडनाद्यवज्ञया प्रकोपितः एतम् = आर्यकम् अनुगच्छामि = भाविराजत्वादनुसरामि।

इति षष्ठोऽङ्कः।

प्रधान सेनापति वीरक को मैंने क्रुद्ध कर दिया है, तो मैं भी पुत्र, भाई एवं सकल परिवार के साथ आर्यक ही के पास जाता हूँ।

(चला गया)

प्रवहण–विपर्यय नामक–षष्ठ–अङ्क समाप्त।

(ततः प्रविशति चारुदत्तो विदूषकश्च ।)

विदू—भो ! पेक्ख पेक्ख पुप्फकरण्डअ-जिण्णुज्जाणस्य सस्सिरीअदां । (भोः ! प्रेक्षस्व, प्रेक्षस्व, पुष्पकरण्डक-जीर्णोद्यानस्य सश्रीकताम्)

चारु—वयस्य ! एवमेवतत् । तथाहि—

वणिज इव भान्ति तरवः पण्यानीव स्थितानि कुसुमानि ।
शुल्कमिव साधयन्तो मधुकर-पुरुषाः प्रविचरन्ति ॥ १ ॥

सश्रीकताम् = शोभाम् ।

इत प्रभृति दशमाङ्कीयवसन्तसेनाप्रकाशपर्यन्तो विमर्शसन्धिः, तथा च शकारप्रहारजनितस्य वसन्तसेनायाश्चैतन्यलोपरूपविघ्नस्य चारुदत्तवधोद्यमरूपविघ्नस्य च भिक्षुपरिचर्यया वसन्तसेना-प्रकाशेन च अपगमात् परस्परानुरागवशादेवेदानीं परस्परप्राप्तिनिश्चयात् नियताप्तिर्नाम चतुर्थी कार्यावस्थाऽत्र द्रष्टव्या । यथा साहित्यदर्पणे—'अपायाभावतः प्राप्तिनियताप्तिस्तु निश्चिता' इति ।

तथा चिरसम्मेलनरूपस्य मुख्यफलस्य उपायभूतः परस्परानुरागो वसन्तसेनायाः पुनरपि पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानगमनोद्यमात् चारुदत्तस्य च तस्यास्तत्रैवानयनाग्रहात् गर्भसन्ध्यपेक्षया अतिरेकेणोद्भिन्नः । स च शकारप्रहारजनितेन वसन्तसेनायाश्चैतन्यलोपरूपान्तरायेण चारुदत्तवधोद्यमेन च सान्तराय इति । यथा तत्रैव—

'यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः । शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः ॥' 'अस्य च अपवादादीनि त्रयोदश अङ्गानि यथास्थानं निवेश्य लक्षणानि वक्ष्यामः' इति भट्टाचार्याः ।

अन्वयः—तरवः वणिजः इव भान्ति, कुसुमानि पण्यानि इव स्थितानि मधुकरपुरुषाः शुल्कम् इव साधयन्तः प्रविचरन्ति ।

वणिज इति—तरवः = वृक्षाः वणिजः = पण्यविक्रेतार इव भान्ति, पण्योपमकुसुमसमृद्धिशालित्वात् इति भावः । कुसुमानि पण्यानीव = विक्रेयवस्तूनीव सन्ति । भ्रमराः पुरुषाः = राजपुरुषा इव भ्रमरपुरुषाः शुल्कम् = राजकीयकरम् इव (मध्विति शेषः) साधयन्तः = गृह्णन्तः (सन्तः) प्रविचरन्ति । भ्रमरपुरुषा इवेति

(इसके बाद चारुदत्त और विदूषक का प्रवेश)

विदूषक—अहा ! देखिए, देखिए पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान की शोभा तो देखिए ।

चारुदत्त—मित्र ! उसी प्रकार है । यथा—

वृक्ष वणिजन के समान सुशोभित हो रहे हैं, फूल विक्रेय वस्तु के तुल्य

विदू—भो ! इमं असक्कार-रमणीअं सिलाअलं उवविसदु भवं। (भोः ! इदमसंस्काररमणीयं शिलातलमुपविशतु भवान्)

चारु—(उपविश्य) वयस्य ! चिरयति वर्द्धमानकः।

विदू—भणिदो मए 'वढ्ढमाणअ ! वसन्तसेणिअं गेण्हिअ लहुं लहुं आअच्छ' त्ति। (भणितो मया—'वर्द्धमानक ! वसन्तसेनां गृहीत्वा लघु लघु आगच्छ' इति)

चारु—तत् किं चिरयति ?।

विग्रहे—'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इति समासः। अत्रोपमाचतुष्टयस्य परस्परं गुणप्रधानभावेनाङ्गाङ्गित्वात्संकरः। आर्या जातिः॥ १॥

सरलार्थः—वृक्षाः व्यापारिण इव शोभन्ते विक्रेयद्रव्याणीव पुष्पाणि विराजितानि राजनियुक्ताः शुल्कग्राहिणः पुरुषविशेषा इव आददाना इव भ्रमरा इतस्ततः भ्रमन्ति॥ १॥

विदू इति—संस्काराभावेऽपि रमणीयम्। प्राकृतिकसौन्दर्ययुक्तमिति भावः।

चारु इति—चिरं करोतीत्यर्थे चिरशब्दात् 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्। चिरयतीति विलम्बं करोतीत्यर्थः।

विदू इति—लघु लघु = द्रुतम् द्रुतम् 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः।

अन्वयः—अस्य पुरः प्रवहणम् शनैः किम् याति ? तस्य अन्तरम् (किम्) मार्गते ? अक्षे भग्ने परिवर्तनम् प्रकुरुते किम् ? अथवा प्रग्रहः छिन्नः (किम् ?)। वर्त्मान्तोज्झितदारुवारितगतिः मार्गान्तरम् याचते किम् ?। अथवा स्वैरं प्रेरितगोयुगः स्वच्छन्दम् आगच्छति किम् ?।

वर्तमान हैं और भ्रमर राजपुरुष के समान राजभाग लेते हुए परिभ्रमण कर रहे हैं॥ १॥

विदूषक—अजी ! संस्काररहित होने पर भी इस मनोरम शिलाखण्ड पर आप बैठ जायें।

चारुदत्त—(बैठकर) मित्र ! वर्द्धमानक बहुत देर लगा रहा है।

विदूषक—मैंने तो कह दिया है—'वर्द्धमानक ! वसन्तसेना को लेकर जल्दी-जल्दी आओ'।

चारुदत्त—तब क्यों देर कर रहा है ?

किं यात्यस्य पुरः शनैः प्रवहणं तस्यान्तरं मार्गति ?
भग्नेऽक्षे परिवर्तनं प्रकुरुते ? छिन्नोऽथवा प्रग्रहः ?।
वर्त्मान्तोज्झित-दारु-वारित-गतिर्मार्गान्तरं याचते ?
स्वैरं प्रेरितगोयुगः किमथवा स्वच्छन्दमागच्छति ? ॥ २ ॥

किमिति—अस्य = प्रवहणस्य, पुरः = अग्रे, प्रवहणम् = प्रवहणसमूहः शनैः = शनैः शनैः, याति, तस्य = प्रवहणसमूहस्य, अन्तरम् = अवकाशम्, मार्गति = अन्विष्यति (किम् ?)। अग्रगामिनः शकटस्यातिसङ्कीर्णतया मन्दगामितया च द्रुतगतिमिच्छतोऽप्यस्य वर्द्धमानकस्यावकाशालाभात् अत्रागमने विलम्ब इति भावः। किंवा ? अक्षे = यानचक्रे 'अयाक्षमिन्द्रिये, ना द्यूताङ्गे—कर्ष-चक्रे' इत्यमरः। (एकस्मिन्) भग्ने सति परिवर्तनम् = अन्यचक्रयोजनम् प्रकुरुते ? (इदमपि विलम्बकारणमिति शेषः) अथवा प्रग्रहः = यानवृषभबन्धनरज्जुः, छिन्नः = त्रुटितः किम् ? (यत्संयोजनेऽयं विलम्ब इति शेषः)। किंवा वर्त्मान्ते = मार्गमध्ये उज्झितम् = त्यक्तम् (छित्वा केनचित्पातितम्) दारु = काष्ठम्, तेन वारिता = अवरुद्धा गतिः यस्य सः (तादृशः सन्) वर्द्धमानकः, मार्गान्तरम् = अन्यं = पन्थानम्, याचते = अन्विष्यति (तेनायं विलम्बः किमिति शेष) अथवा स्वैरम् = मन्दम् 'मन्दस्वच्छन्दयोः स्वैरः' इत्यमरः। प्रेरितम् = सञ्चालितम्, गोयुगम् = गोद्वयम्, येन तथोक्तः सः स्वच्छन्दम् = यथेच्छम्—आगच्छति-किम् (तेनायं विलम्ब इति शेषः) विलम्बस्य किं कारणमिति निश्चेतुं नाहं शक्नोमीति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २ ॥

सरलार्थः—अग्रे शकटं मन्दं मन्दं गच्छति किम्, अग्रतः गच्छतः शकटान्तरस्य अवकाशं प्रतीक्षते इत्यर्थः। किम् ? चक्रे खण्डिते सति नवचक्रनियोगं विधत्ते किम् ? बलीवर्दरज्जुः त्रुटिता किमथवा मार्गमध्यभागपरित्यक्तकाष्ठरुद्धगमनः अन्यं पन्थानमवलम्बते किम् अथवा मन्दं मन्दं चालितं बलीवर्दद्वयं स्वेच्छया आगच्छति किमिति भावः ॥ २ ॥

क्या उसके आगे-आगे मन्दगति से कोई दूसरी गाड़ी जा रही है जिससे आगे बढ़ने के लिए मार्ग अन्वेषण कर रहा है ? या कोई चक्र टूट जाने पर, चक्र-परिवर्तन कर रहा है ? अथवा बैलों को बाँधनेवाली रस्सी टूट गई है ? या बीच सड़क पर किसी ने लकड़ी काट कर छोड़ दी है जिससे रास्ता रुक गया है और वह दूसरे मार्ग से जाने का उपाय सोच रहा है ! अथवा बैलों को धीरे-धीरे हाँकता हुआ वर्द्धमानक स्वतन्त्रतापूर्वक आ रहा है ? (जिससे आने में इतना विलम्ब हो रहा है मैं कोई कारण निश्चित नहीं कर सकता हूँ) ॥ २ ॥

(प्रविश्य गुप्तार्यकप्रवहणस्थश्चेटः) जाध गोणा जाध । (यातं गावौ ! यातम्)

आर्यकः—(स्वगतम्)

नरपतिपुरुषाणां दर्शनाद्भीतभीतः
सनिगडचरणत्वात् सावशेषापसारः ।
अविदितमधिरूढो यामि साधोस्तु याने
परभृत इव नीडे रक्षितो वायसीभिः ॥ ३ ॥

प्रविश्येति—गुप्तः = गुप्तरूपेण वर्तमानः आर्यकः यस्मिन् तस्मिन् प्रवहणे तिष्ठतीति (तत्स्थः) चेटः 'सुपि स्थः' इति कः ।

अन्वयः—नरपतिपुरुषाणाम् दर्शनाद् भीतभीतः, सनिगडचरणत्वात् सावशेषापसारः, नीडे वायसीभिः रक्षितः परभृत इव साधोः याने अविदितम् (तु) अधिरूढः यामि ।

नरेति—नरपतिपुरुषाणाम् = रक्षकपुरुषाणाम् दर्शनाद्=दृष्टिगोचरत्वात्, भीतभीतः = अतित्रस्तः । अतिशायने द्विरुक्तिः । निगडेन = शृंखलेन 'अथ शृंखले अन्दुको निगडोऽस्त्री स्यात्' इत्यमरः । सहितं चरणं यस्य तस्य भावः तत्त्वम् तस्मात् (हेतोः) सावशेषः = अल्पावशिष्टः अपसारः = गमनशक्तिः यस्य सः तथोक्तः । अत एव नीडे = कुलाये वायसीभिः = काकीभिः अविदितम् = अज्ञातम् यथा स्यात्तथा परभृतः=कोकिलशावक इव रक्षितः, कोकिलाः हि (बाल्ये) स्वशावकबुद्ध्या काकीभिरेव रक्ष्यन्ते इति प्रसिद्धिः । साधोः=चारुदत्तस्य याने=शकटे (अविदितम्) यथा स्यात्तथा आरूढः यामि । श्रौती उपमा । मालिनी वृत्तम् ॥ ३ ॥

सरलार्थः—राजपुरुषाणां पक्षान्तरे शाकुनिकानामीक्षणात् अतिभीतः शृंखलबद्धैकपादत्वात् पक्षान्तरे शृंखलनियन्त्रितपद इव सावशिष्टपलायनः अहं काकीभिः कुलाये पालितः कोकिल इव अज्ञातं यथा स्यात्तथा चारुदत्तस्य शकटेऽधिष्ठितः गच्छामि ॥ ३ ॥

(गुप्तरूप से गाड़ी पर बैठे हुए आर्यक को लेकर चेट का प्रवेश)

चेट—बढ़े चलो बैलो ! बढ़े चलो ।

आर्यक—(मन ही मन)—

राजपुरुषों के देखने पर भयभीत, चरणों में शृङ्खला लगी रहने के कारण पूर्णरूप से भागने में कुछ असमर्थ, मैं—कौए के घोंसले में, काक की स्त्रियों द्वारा अविदित जिस प्रकार कोकिलाओं का बच्चा पालित होता है, उसी प्रकार सज्जन आर्य चारुदत्त की गाड़ी पर बैठकर सुरक्षित चला जा रहा हूँ ॥ ३ ॥

अहो ! नगरात् सुदूरमपक्रान्तोऽस्मि। तत् किमस्मात् प्रवहणादवतीर्य वृक्षवाटिकागहनं प्रविशामि ? उताहो प्रवहणस्वामिनं पश्यामि। अथवा कृतं वृक्षवाटिकागहनेन। अभ्युपपन्नवत्सलः खलु तत्रभवानार्यचारुदत्तः श्रूयते; तत् प्रशक्षीकृत्य गच्छामि।

स तावदस्माद्व्यसनार्णवोत्थितं निरीक्ष्य साधुः समुपैति निर्वृतिम्।
शरीरमेतद् गतमीदृशीं दशां धृतं मया तस्य महात्मनो गुणैः ॥ ४ ॥

अहो इति—अपक्रान्तः=अपसृतः, वृक्षवाटिकाभिः गहनम्=संकुलम् (स्थानम्) प्रविशामि (येन मां मदन्वेषका न पश्येयुरिति शेषः)। उताहो = अथवा, आहो उताहो किमुत विकल्पे किं किमूत च' इत्यमरः। प्रवहणस्वामिनम्=चारुदत्तम्। पक्षद्वयमुक्त्वा सिद्धान्तयति अथवेति—वृक्षवाटिकागहनेन = तत्र प्रवेशेन कृतम् = व्यर्थम्। अभ्युपपन्नाम् = शरणागतानाम् वत्सलः = पालकः।

अन्वयः—साधुः सः अस्मात्, व्यसनार्णवोत्थितम् (माम्) निरीक्ष्य निर्वृतिम् समुपैति, मया ईदृशीम् दशाम् गतम् एतत् शरीरम् तस्य महात्मनः गुणैः धृतम्।

स इति—साधुः सः=चारुदत्ताख्यः अस्मात्=शरणागतवात्सल्यात्, व्यसनम्= महाविपत्तिः अर्णव इव = समुद्र इव तस्मात् उत्थितम् = उत्तीर्णम् (मामिति शेषः) निरीक्ष्य = विलोक्य तावत् = वाक्यालङ्कारे निर्वृतिम् = परमानन्दम् समुपैति = समवाप्स्यति, (भविष्यत्काले वर्तमानप्रयोगः)। परसुखेन सुखिनो भवन्ति सज्जना इति भावः। मया ईदृशीम् = पलायनप्रच्छन्नताविदितात्मगोपनाद्यवस्थाम् गतम्= प्राप्तम् एतत् शरीरम्, तस्य महात्मनः = चारुदत्तस्य गुणैः = परोपकारितादिस्वाभाविकगुणैः धृतम् = त्रातम् चारुदत्तप्रवहणसम्बन्धादेव चन्दनकेन सावधानतयाऽहं रक्षित इत्याशयः। न चात्र मामित्यनुक्तौ न्यूनपदतादोषः शङ्क्यः 'उक्तावानन्दमग्नादेरि'त्यत्रादिपदेन भयोद्वेगादिग्रहणेन प्रकृते वक्तुर्भयविकलत्वात्। तस्या गुणवत्तास्वीकारात्। वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ ४ ॥

अजी ! मैं नगर से बहुत दूर निकल आया हूँ। तो क्या बैलगाड़ी से उतरकर अब मैं इस सघन वृक्षों के वन में प्रविष्ट हो जाऊँ ? अथवा इस गाड़ी के मालिक को देखूँ ? अथवा सघन वृक्षों के वन से जाना व्यर्थ है। सुनते हैं कि आर्य चारुदत्त शरणागतवत्सल हैं अतः उनसे मिलकर ही जाऊँगा।

शरणागतवत्सल आर्य चारुदत्त, मुझे इस विपत्ति-सागर से उत्तीर्ण हुआ देखकर अति प्रसन्न होंगे। इस प्रकार की संकटमयी अवस्था को प्राप्त मेरी देह साधु चारुदत्त ही के गुणों से रक्षित हुई है ॥ ४ ॥

चेटः—इमं तं उज्जाणं, ता जाव उवशप्पामि । (उपसृत्य) अज्जमित्तेअ ! । ((इदं तदुद्यानम्, तद् यावदुपसर्पामि । आर्य मैत्रेय !)

विदू—भो ! पिअं दे णिवेदेमि, वड्ढमाणओ मन्तेदि, आगदाए वसन्तसेणाए होदव्वं (भोः ! प्रियं ते निवेदयामि, वर्द्धमानको मन्त्रयति, आगतया वसन्तसेनया भवितव्यम्)

चारु—प्रियं नः प्रियम् ।

विदू—दासीए पुत्ता ! किं चिरइदोसि ? । (दास्याः पुत्र ! किं चिरायितोऽसि ?)

चेटः—अज्ज ! मित्तेअ ! मा कुप्प, जाणत्थलके विशुमलिदे त्ति कदुअ गदागदिं कलेन्ते चिलइदेम्हि । (आर्य ! मैत्रेय ! मा कुप्य, यानास्तरणं विस्मृतमिति कृत्वा गतागतिं कुर्वन् चिरायितोऽस्मि)

चारु—वर्द्धमानक ! परिवर्त्तय प्रवहणम् । सखे । मैत्रेय ! अवतारय वसन्तसेनाम् ।

सरलार्थः-तावत्सर्वलोकप्रसिद्धःसज्जनैकशरणः चारुदत्तःविद्यमानविपत्तिसागरः रक्षितम् माम् विलोक्य स्वचेतसि सुखं प्राप्स्यति एवंभूतां शोचनीयामावस्थां प्राप्य म्रियमाणमेतत् शरीरमुदाराशयस्य चारुदत्तस्य वात्सल्यादिगुणैःरक्षितमिति भावः ॥

चारु इति—परिवर्त्तय = द्वाराभिमुखं प्रवहणं कुरु, येन सुखमवतीर्योद्यानं प्रविशेदिति भावः ।

चेट—यही वह उद्यान है, वहीं चलता हूँ । (पहुँचकर) आर्य मैत्रेय !

विदूषक—मित्र ! मित्र ! तुम्हें शुभ समाचार सुनाता हूँ; वर्द्धमानक पुकार रहा है; वसन्तसेना आगई होगी ?

चारुदत्त—हम लोगों के लिए खुशी की बात है ।

विदूषक—दासी के पुत्र ! तुमने इतनी देर क्यों लगाई ?

चेट—आर्य मैत्रेय ! क्रुद्ध न होइए, गाड़ी का अवगुण्ठन वस्त्र भूल गया था अतः पुनः गाड़ी तक आने-जाने में देर हो गई ।

चारुदत्त—वर्द्धमानक ! गाड़ी को घुमाओ ! मित्र मैत्रेय ! वसन्तसेना को उतारो ।

विदू—किं णिअडेण वद्धा से गोडा ?। जेण सअं ण ओदरेदि। (उत्थाय प्रवहणमुद्घाट्य) भो ! ण वसन्तसेणा, वसन्त-सेणो क्खु एसो। (किं निगडेन बद्धावस्याः पादौ ? । येन स्वयं नावतरति । न वसन्तसेना, वसन्तसेनः खल्वेषः)

चारु—वयस्य ! अलं परिहासेन, न कालमपेक्षते स्नेहः। अथवा स्वयमेवावतारयामि। (इत्युत्तिष्ठति)

आर्यकः—(दृष्ट्वा) अये ! अयमेव प्रवहणस्वामी न केवलं श्रुतिर-मणीयो दृष्टिरमणीयोऽपि हन्त ! रक्षितोऽस्मि।

चारु—(प्रवहणमधिरुह्य) अये। तत् कोऽयम् ? !

'करिकर-समबाहुः सिंहपीनोन्नतांसः

विदू इति—वसन्तसेनः = कोऽप्यपरिचितः पुरुष इति भावः।

चारु इति—स्नेहः अनुरागातिरेकः कालम् = विलम्बनकारिसमययापिनमुपहा-सादिकम् न सहते इत्यर्थः।

आर्यक इति–श्रुतौ=श्रवणे रमणीयः (जनतामिस्सदैव प्रशस्यमानः इति भावः) दृष्टौ = साक्षात्कारेऽपि रमणीयः (गुणतः स्वरूपतश्चायं रमणीय इति भावः)। हन्त= भाग्येन रक्षितोऽस्मि (चारुदत्तसाक्षात्कारेणेति शेष।)

अन्वयः—यः महात्मा करिकरसमबाहुः सिंहपीनोन्नतांसः, पृथुतरसमवक्षाः, ताम्रलोलायताक्षः, इदम् असमानम्, पादलग्नम् एकम् निगडम् कथम् वहति ?

करीति—यो महात्मा करिणः=गजस्य करसमौ = शुण्डादण्डतुल्यौ बाहू यस्य सः (आजानुबाहुरित्यर्थः) सिंहस्येव पीनौ = परिपुष्टौ उन्नतौ=उच्छ्रितौ अंसौ =

विदूषक—क्या इसके पैरों में बेड़ी पड़ी हुई है ? कि जिससे स्वयं यह नहीं उतरती है ! (उठकर और गाड़ी को खोलकर) अरे यह तो वसन्तसेना नहीं वसन्तसेन है (स्त्री के बदले इसमें पुरुष बैठा है)

चारुदत्त—मित्र ! परिहास करना उचित नहीं है, अनुराग समय-विलम्ब नहीं चाहता। अथवा मैं स्वयं उतारता हूँ ! (उतारने के लिए उठता है)

आर्यक—(देखकर) अरे ! यही गाड़ी के मालिक हैं ? केवल सुनने ही में मनोरम नहीं हैं, देखने में भी सुन्दर हैं। अहा ! मैं रक्षित हो गया हूँ।

चारुदत्त—(गाड़ी पर चढ़कर) अरे ! तब यह कौन है ?

जिसकी भुजाएँ हाथी के शुण्ड के समान हैं, सिंह के समान स्थूल तथा उन्नत

पृथुतर-सम-वक्षास्ताम्रलोलायताक्षः ।
कथमिदमसमानं प्राप्त एवंविधो यो
वहति निगडमेकं पादलग्नं महात्मा ॥ ५ ॥

ततः को भवान् ? ।

आर्यकः—शरणागतो गोपालप्रकृतिरार्यकोऽस्मि ।

चारु—किं घोषादानीय योऽसौ राज्ञा पालकेन बद्धः ? ।

आर्यकः—अथकिम् ।

चारु—विधिनैवोपनीतस्त्वं चक्षुर्विषयमागतः ।

स्कन्धौ यस्य सः पृथुतरम्=अतिविशालम् समम्=साम्येन व्याप्तम्, वक्षः= उरःस्थलम्, यस्य सः, ताम्रे=रक्तवर्णे, लोले=चञ्चले, आयते=विशाले अक्षिणी= लोचने यस्य सः, एवंविधः सर्वाङ्गसौष्ठवोपलक्षितो राजते स एव (महात्मा) इदम्=अग्रे विद्यमानम् असमानम्=एवंविधसज्जनायोग्यम्, पादे लग्नम् एकं निगडम्=शृङ्खलाम्, कथम् ? वहति, एवंविधानां महापुरुषोचितलक्षणलक्षितानां वन्दिजनयोग्यशृङ्खलाधारणमतीवाश्चर्यकरमित्याशयः । प्रथमपादे लुप्तोपमे द्वे । मालिनी वृत्तम् ॥ ५ ॥

सरलार्थः—यः महाशयः हस्तिशुण्डसदृशभुजः आजानुलम्बित इति भावः, मृगेन्द्रमांसलस्कन्धः अतिविशालोरःस्थलः रक्तचपलनयनः केन हेतुना असदृशं चरणसंयुतं दृश्यमानं शृङ्खलं धारयति अयोग्यमिदं निगडबन्धनमिति भावः ॥ ५ ॥

आर्यक इति—गोपालः-गोपजातिः, प्रकृतिः=कारणम् यस्य सः । गोपवंशोद्भवः ।

अन्वयः—त्वम् विधिना एव उपनीतः, चक्षुर्विषयम् आगत, अहम् प्राणान् अपि जह्याम् तु शरणागतम् त्वाम् न (जह्याम्) ।

विधिनेति—हे आर्यक ! त्वम् विधिना=अनुकूलभाग्येन (एव) उपनीतः=

कंधा है, अत्यन्त विशाल वक्षःस्थल है, लालवर्ण की विस्तृत आँखें हैं—इस प्रकार के ये सुडौल महात्मा उपस्थित हैं, किन्तु इनके व्यक्तित्व के प्रतिकूल इनके एक पैर में शृङ्खला क्यों लगी है ? ॥ ५ ॥

तब आप कौन है ?

आर्यक—शरणागत, मैं गोपबालक आर्यक हूं ।

चारुदत्त—क्या जिसे राजा पालक ने घर से निकाल कर कारागार में बन्द किया था ?

आर्यक—हाँ, वही ।

चारुदत्त—हे आर्यक ! दैव के द्वारा तुम मेरी आँखों के सामने लाए गए

अपि प्राणानहं जह्यां न तु त्वां शरणागतम् ॥

(आर्यको हर्षं नाटयति)

चारु—वर्द्धमानक ! चरणान्निगडमपनय ।

चेटः—जं अज्जो आणवेदि । (तथा कृत्वा) अज्ज ! अवणीदाइं णिगळाइं । (यदार्यं आज्ञापयति । आर्य ! अपनीतानि निगडानि)

आर्यकः—स्नेहमयान्यन्यानि दृढतराणि दत्तानि ।

विदू—सङ्गच्छेहि णिअडाइं, एसो वि मुक्को, सम्पदं अम्हे वच्चिस्सामो । (सङ्गच्छ निगडानि, एषोऽपि मुक्तः, साम्प्रतं वयं प्रजिष्यामः)

उपस्थापितः सन् मम चक्षुर्विषयम् = नयनगोचरताम् आगतः (असि) अधुना अहम् प्राणानपि जह्याम् तु=किन्तु शरणागतम् त्वां कदापि न जह्याम् अकुतोभयं मत्सन्निधे वसेति भावः । 'व्यवसायश्च विरोधः प्रतिज्ञाहेतुसम्भवः' इति दर्पणोक्ते' अत्र व्यवसायो नाम विषमसन्धेरङ्गम् ॥ ६ ॥

सरलार्थः—भवान् देवेन उपस्थापितः सन् नयनगोचरं प्राप्तोऽस्ति । निश्चयेन अहं जीवनं त्यजेयं किन्तु शरणागतं न जह्यामिति भावः ॥ ६ ॥

आर्यक इति—स्नेहमयानि = प्रेमस्वरूपाणि, दृढतराणि = लौहनिगडापेक्षया अतिदृढानि निगडानि दत्तानि (त्वयेति शेषः) । अत्र अक्षरसंघातो नाम नाट्यलक्षणम् 'वर्णनाक्षरसंघातश्चित्रार्थैरक्षरैर्मितैः' इति दर्पणोक्तेः ।

विदू इति—निगडानि संगच्छ = संगतानि कुरु (चारुदत्तस्य चरणे संयोजय) एषः = आर्यकः, वयम् = आर्यकः वर्द्धमानकः अहं विदूषकश्चेति सर्वे । वसन्तसेनागमनाशया केवलमसौ चारुदत्त एवात्र प्रेमपाशे बद्धस्तिष्ठतु इति भावः । कौतुकोक्तिरियम् ।

हो । मैं अपने प्राण को भले ही त्याग दूँ किन्तु शरण में आये हुए तुम्हारी रक्षा अवश्य करूँगा ॥ ६ ॥

(आर्यक प्रसन्नता प्रकट करता है)

चारुदत्त—वर्द्धमानक ? इनके पैर की बेड़ी दूर करो ।

चेट—जैसी आपकी आज्ञा । (वैसा ही करके) आर्य ? बेड़ियों को दूर हटा दिया ।

आर्यक—तुमने प्रेममयी दूसरी कठिन बेड़ी से मुझे जकड़ दिया ।

विदूषक—बेड़ी जाय, ये भी बन्धन से मुक्त हो गए । अब हम लोग (वसन्तसेना के लिए) परिभ्रमण करते हैं ।

चारु—धिक, शान्तम् ।

आर्यकः—सखे ! चारुदत्त ! अहमपि प्रणयेनेदं प्रवहणमारूढः । तत् क्षन्तव्यम् ।

चारु—अलङ्कृतोऽस्मि स्वयंग्राहप्रणयेन भवता ।

आर्यकः—अभ्यनुज्ञातो भवता गन्तुमिच्छामि ।

चारु—गम्यताम् ।

आर्यकः—भवतु, अवतरामि ।

चारु—सखे ! नावतरितव्यम् । प्रत्यग्रापनीतसंयमनस्य भवतः अलघुसंचारा गतिः । सुलभपुरुषसञ्चारेऽस्मिन् प्रदेशे प्रवहणं विश्वासमुत्पादयति, तत् प्रवहणेनैव गम्यताम् ।

चारु इति—शान्तं पापम्, (आर्यकस्यैतादृशि विपत्कालेऽपि एवं कौतुकोक्तिरिति भावः) अनिन्दामीति तत्त्वम् ।

आर्यक इति—प्रणयेन = आज्ञां विनाऽपि विपद्ग्रस्तोऽहं यदि प्रवहणे आरोक्ष्यामि तदा भवान् न क्रुत्स्यतीति विश्वासेन । 'प्रणयः प्रेम्णि विश्रम्भे' इत्यभयवाक्येऽपि विश्वः ।

चारु इति—स्वयंग्राहः = अनुमतिं विनाऽपि स्वेच्छयैव ग्रहणम् (प्रवहणारोहणरूपः स्वीकारः) तज्जनितप्रेम्णेत्यर्थः । अलङ्कृतोऽस्मि = सनाथीकृतोऽस्मि (भवतो भाविमहाराजत्वादिति शेषः) ।

चारु इति—प्रत्यग्रम् = नवीनम् 'प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नवः' इत्यमरः । अपनीतम्=अपसारितम् संयमनम्=बन्धनम् यस्य तस्य गतिः=गमनम्, अलघुः = मन्दः संचारः = वेगः यस्याः सा (तादृशी) भविष्यति । सुलभः=प्रधान-

---

चारुदत्त—रहने दो, ऐसी बातें भी न करो ।

आर्यक—सखे ! चारुदत्त ? मैं भी कौतुक से इस गाड़ी पर चढ़ गया था । इसके लिए क्षमा करेंगे ।

चारुदत्त—आप स्वयं प्रेम से इस पर चढ़े, इससे मैं विभूषित हो गया ।

आर्यक—आपसे आज्ञा लेकर मैं जाना चाहता हूँ ।

चारुदत्त—जाइए ।

आर्यक—अच्छा, उतरता हूँ ।

चारुदत्त—सखे ! उतरिये नहीं । अभी तुरत आपके पैरों से बेड़ी हटी है, इससे शीघ्र चलने में आप असमर्थ होंगे । इस पथ पर राजपुरुष अधिक घूमते हैं ।

आर्यकः—यथाह भवान्।

चारु—क्षेमेण व्रज बान्धवान्,—

आर्यक—ननु मया लब्धो भवान् बान्धवः,

चारु—स्मर्त्तव्योऽस्मि कथान्तरेषु भवता,—

आर्यकः—स्वात्मापि विस्मर्यते ?।

चारु—त्वां रक्षन्तु पथि प्रयान्तममराः,—

मार्गत्वात् अनायासलभ्यः, पुरुषाणाम् = लक्षणया सर्वसाधारणलोकानाम् स्त्री-पुं-विशेषाणाम्, सञ्चारः = गमनागमनम् यस्मिन् तस्मिन् प्रवहणम् = आवृत-प्रवहणम् विश्वासम् = काचित् कुलजा गच्छतीति प्रतीतिम्।

यथाह = 'प्रवहणेनैव गम्यताम्' इत्याह।

अन्वयः—चा० बान्धवान् क्षेमेण व्रज, आ० मया भवान् बान्धवः लब्धः, चा० भवता कथान्तरेषु, अस्मि स्मर्त्तव्यः, आ०—स्वात्मा अपि विस्मर्य्यते ?, चा०—अमराः पथि प्रयान्तम् त्वाम्. रक्षन्तु, आ०—त्वया अहम् संरक्षितः, चा०—स्वैः भाग्यैः परिरक्षितः असि, आ०—हे तत्रापि ननु भवान् हेतुः।

अथ चारुदत्तार्यकयोः प्रश्नोत्तरक्रमेण कविः पद्यमाह—क्षेमणेति—बान्धवान् = मातृपितृभ्रातृप्रभृतीन् प्रति क्षेमेण = सानन्देन व्रज, (पथि विघ्नबाधो मा भवत्विति भावः)। मया = आर्यकेण, भवान् = चारुदत्तः, बान्धवः = प्राणरक्षणोपकारात् स्निग्धबान्धवः, लब्धः = भाग्येन प्राप्तः, भवता = आर्यकेण, कथान्तरेषु = कदाचित्कथनोपकथनक्रमेषु, अस्मि = अहम्. स्मर्त्तव्यः = स्मरणीयः। स्वात्मा अपि विस्मर्यते किम् ? (न विस्मर्यत इत्यर्थः) भवान् ममान्तरात्मा, अतो नाहं भवन्तं विस्मरिष्यामीत्याशयः। अमराः = देवाः पथि = मार्गे प्रयान्तम् त्वां

अतः गाड़ी पर रहने से आप पर कोई शंका न करेगा। इसलिए आप गाड़ी ही पर चढ़े हुए जाय!

आर्यक—जैसी आपकी आज्ञा।

चारुदत्त—अपने परिवार के पास आप कुशलतापूर्वक जाइए—

आर्यक—मैं तो अपना परिवार आप ही को पा गया,—

चारुदत्त—अवकाश मिलने पर मेरा भी स्मरण कर लेना,—

आर्यक—क्या अपनी आत्मा भी कहीं विस्मृत होती है ?

चारुदत्त—मार्ग में जाते हुए तुम्हारी रक्षा देवगण करें,—

आर्यकः—संरक्षितोऽहं त्वया,

चारु—स्वैर्भाग्यैः परिरक्षितोऽसि—,

आर्यकः—ननु हे ! तत्रापि हेतुर्भवान् ॥ ७ ॥

चारु—यत्, उद्यते पालके महती रक्षा न वर्त्तते, तत् शीघ्रमपक्रामतु भवान् ।

आर्यकः—एवं पुनर्दर्शनाय । (इति निष्क्रान्तः)

चारु—कृत्वैवं मनुजपतेर्महद्व्यलीकं ।

रक्षन्तु । अहं त्वयैव रक्षितः (अतो नान्यरक्षणापेक्षेति भावः) । त्वम् स्वकीयैः भाग्यैः (एव) रक्षितोऽसि (अतः मया किमपि नोपकृतं तवेत्याशयः) हे महात्मन् ! तत्राऽपि = भाग्यविहितरक्षणेऽपि ननु=निश्चयेन भवान् हेतुः (भाग्यमपि किञ्चिन्निमित्तमासाद्यैव फलति) मद्भाग्योदये भवानेव निमित्तमित्याशयः ॥ ७ ॥

सरलार्थः—त्वं कुशलेन स्वजनसमीपं गच्छ, आर्यकेण मया त्वं सुहृत्प्राप्तः, त्वया कथाप्रसङ्गेषु स्मरणीयोऽस्मि किम् स्वदेहोऽपि कुत्रचित् विस्मरणीयो भवति, देवाः मार्गं गच्छन्तं भवन्तं पालयन्तु, चारुदत्तेन त्वया सुरक्षितोऽस्मि, आत्मीयैः भागधेयैरेव यातोऽसि, हे श्रेष्ठ ! तादृशभाग्योत्पत्तावपि भवानेव कारणमिति भावः ॥७॥

चारु इति–पालके=राज्ञि उद्यते=दण्डदानायोद्दीप्ते यत्=यदि रक्षा महती=समीचीना न वर्तते=न भवितुं शक्नोति, तत्=तदा शीघ्रमपक्रामतु=झटिति पलायताम् ।

आर्यक इति—एवम् = अपक्रामामि पुनर्दर्शनाय = भवतः दर्शनं पुनः प्राप्यं स्यादिति प्रार्थयन् (सन्) ।

अन्वयः—मैत्रेय ! एवम् मनुजपतेः महद् व्यलीकम् कृत्वा, अस्मिन् क्षणम् अपि स्थातुम् न प्रशस्तम् हि, निगडम् पुराणकूपे क्षिप, हि क्षितिपतयः चारदृष्टया पश्येयुः ॥ ८ ॥

कृत्वेति—हे मैत्रेय ! एवम् = पूर्वोक्तप्रकारेण राजविद्विष्टार्यकस्य प्रवहणद्वारा

आर्यक—मैं तो आप ही से संरक्षित हो चुका हूँ ।

चारुदत्त—अपने भाग्य से रक्षित हुए हो,—

आर्यकः—उस भाग्य में भी हे मित्र ! आप ही कारण हैं ॥ ७ ॥

चारुदत्त—राजा पालक आपको पकड़ने में उद्यत हैं, अतः आपकी रक्षा अभी सम्भव नहीं है, आप यहाँ से शीघ्र चले जाँय ।

आर्यक—अच्छा, फिर भी आपका दर्शन कर पाऊं, यही लालसा है ।

(चला गया)

चारुदत्त—राजा पालक का इस प्रकार महान् अपराध करके.- (आर्यक की

स्थातुं हि क्षणमपि न प्रशस्तमस्मिन् ।
मैत्रेय ! क्षिप निगडं पुराणकूपे
पश्येयुः क्षितिपतयो हि चारदृष्ट्या ॥ ८ ॥

(वमाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा) सखे ! मैत्रेय ! वसन्तसेनादर्शनोत्सुकोऽयं जनः । पश्य—

अपश्यतोऽद्य तां कान्तां वामं स्फुरति लोचनम् ।

गुप्तानयनबन्धमोचनादिसहायताचरणेन मनुजपतेः = नृपतेः पालकस्य महत् = अधिकम् व्यलीकम् = पीडाम् 'पीडार्थेऽपि व्यलीकं स्याद्' इत्यमरः । कृत्वा वर्तमानस्य मम अस्मिन् प्रदेशे क्षणम् = तन्मात्रमपि स्थातुम् = स्थितिं कर्तुम् न प्रशस्तम् = नोचितम् । (रक्षिपुरुषा ज्ञास्यन्ति यत् चारुदत्तस्यैवापराध इति भयात्रा अत्र स्थातव्यम्) निगडम् = चरणोन्मोचितं बन्धनम्, पुराणकूपे = जलाहरणाभावाद्विजनप्राये कूपे क्षिप = पातय (येन ते तत्र पश्येयुः कदाचिद् दृष्ट्वापि, अस्माकमुपरि सन्दिग्धा न भवेयुश्चेति भावः) । ननु अस्माकमिदमतिगुप्तकार्यं राजा कथं ज्ञास्यतीत्याह—हि = यतः क्षितिपतयः चारदृष्ट्या पश्येयुः 'राजानश्चारचक्षुषः' इति नीतिः । बहवो गुप्तचरा अस्मिन् कार्ये नियुक्ता विचरन्तीति भावः । अत्र चारदृष्टिकरणकक्षितिपतिकर्तृकदर्शनरूपकारणेन पुराणकूपाधिकरणनिगडकर्मकक्षेपणरूपकार्यस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासः, अप्रस्तुतक्षितिपतिसामान्यात् प्रस्तुतपालकरूपक्षितिपतिविशेषप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा । 'चारदृष्ट्या' इति रूपकञ्च इत्येतेषामङ्गाङ्गित्वेन संकरः । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ ८ ॥

सरलार्थः—हे मैत्रेय ! इत्थं नराधिपस्य अत्यन्तमप्रियं विधाय अस्मिन् प्रदेशे मुहूर्त्तमपि वर्त्तितुं न युक्तम् । अतः प्राचीनोदपाने आर्यकपादापनीतं शृङ्खलं पातय, यतः राजानः चारचक्षुषा अवलोकयेयुः ॥ ८ ॥

वामेति—अयं जनः = चारुदत्तः ।

अन्वयः—अद्य ताम् कान्ताम् अपश्यतः मम वामम् लोचनम् स्फुरति, अकारणपरित्रस्तम् हृदयम् व्यथते ।

अपश्यत इति—अद्य = अधुना तां कान्ताम् = वसन्तसेनाख्याम् अपश्यतः = अनव-

---

रक्षा करके) इस जगह क्षण भर भी ठहरना उचित नहीं है । हे मैत्रेय ! इस बन्धन (बेड़ी) को पुराने कूप में गिरा दो, क्योंकि राजा दूतरूपी दृष्टि से कहीं देख न लें ॥ ८ ॥

(बाईं आँख के फड़कने का अनुभव करके) सखे मैत्रेय ! मैं वसन्तसेना को देखने के लिए उत्सुक हो रहा हूँ । देखो,—

इस समय प्रियतमा वसन्तसेना को बिना देखे मेरी बाईं आँख फड़क रही है ।

अकारणपरित्रस्तं हृदयं व्यथते मम ॥ ९ ॥

तदेहि, गच्छावः । (परिक्रम्य) कथमभिमुखमनाभ्युदयिकं श्रमणक-दर्शनम् । (विचार्य) प्रविशत्वयमनेन पथा, वयमप्यनेनैव पथा गच्छामः । (इति निष्क्रान्तः)

इत्यार्यकापहरणं नाम सप्तमोऽङ्कः ।

लोकयतः मम वामं लोचनं स्फुरति 'वामाक्षिस्पन्दनमर्थनाशं बन्धुवियोगं वा' इति गर्गवचनादिदं वसन्तसेनारूपबन्धुवियोगसूचकमेवेति भाव। (इति भट्टाचार्याः) तथा चैवम् अकारणपरित्रस्तम् = निष्कारणभयभीतम् (मम) हृदयम् व्यथते । इदं द्वितीयममंगलसूचकमिति भावः । अत्र कारणाभावेऽपि परित्रासव्यथयोः कार्य-योरुत्पत्त्या विभावनालङ्कारः । 'विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिरि'ति लक्षणात् ॥

सरलार्थः—अस्मिन् दिवसे सुचिरानुभूतां प्रियां वसन्तसेनामनवलोकयतः मम दक्षिणेतरं नयनं स्पन्दते अहेतुकमुद्विग्नं चित्तं च पीडितं भवतीति भावः ॥ ९ ॥

अभ्युदयम् = लौकिकोत्कर्षम् अर्हतीत्याभ्युदयिकम् 'तदर्हती'ति ठञ् । तन्न भवतीत्यनाभ्युदयिकम् = अमङ्गलसूचकम्, श्रमणकस्य=बौद्धसंन्यासिनः (मुण्डित-सर्वाङ्गस्य नग्नप्रायस्य) दर्शनम् । तदाह स्मृतिः—'अकेशं दुर्भगं नग्नमनपत्यञ्च पापिनम् । पश्यन्नशुभमाप्नोति यात्रायां प्रातरेव वा' इति ।

वामाक्षिस्पन्दम्—हृत्कम्पनश्रमणकदर्शनाद्यशकुनपरम्परा, अग्रे भविष्यतश्चारु-दत्तवसन्तसेनयोरनिष्टस्य सूचिकेति बोध्यम् ।

इत्यार्यकापहरणं नाम सप्तमोऽङ्कः ।

अकारण ही भयभीत होकर मेरा हृदय पीड़ित हो रहा है ॥ ९ ॥

तब आओ चलें । (घूम कर) क्यों यह सामने ही अमाङ्गलिक मुण्डित बौद्ध संन्यासी का दर्शन हुआ ? (सोचकर) यह इस रास्ते से जाय, हमलोग भी इसी रास्ते से जाते हैं ।

(चला गया)

इति सप्तम अङ्क समाप्त ।

अष्टमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति आर्द्रचीवरहस्तो भिक्षुः)

भिक्षुः—अज्ञा ! कलेध धम्मशञ्चअं । (अज्ञाः ! कुरुत धर्मसञ्चयम्)

शञ्जम्मध णिअपोटं णिच्चं जग्गेध झाण-पड़हेण

विशमा इन्दिअ-चोला हलन्ति चिलसञ्चिदं धम्मं ॥ १ ॥

(संयच्छत निजोदरं नित्यं जागृत ध्यानपटहेन ।

विषमा इन्द्रियचौरा हरन्ति चिरसञ्चितं धर्मम् ॥ १ ॥)

तत इति—आर्द्रम्=जलक्लिन्नम् चीवरम्=कौपीनम् हस्ते=करे यस्य सः भिक्षुः=बौद्धसंन्यासी अयं भिक्षुरूपधारी संवाहकः द्वितीयाङ्कोपवर्णितो द्यूतकरो वसन्तसेनया कृतोपकारो योग्यः ।

अन्वयः—निजोदरम् संयच्छत, ध्यानपटहेन नित्यम् जागृत, विषमाः इन्द्रिय-चौराः चिरसञ्चितम् धर्मम् हरन्ति ।

संयच्छतेति—हे अज्ञाः ! (इति गद्यस्थमिहानुषज्जते) यूयम् निजोदरम्=स्वजठरम् संयच्छत=स्ववशं कुरुत (स्वल्पभोजनादिनेति शेषः) । ध्यानम्=विहितासनासीनेनेश्वरस्वरूपस्य मानसिकसाक्षात्कारः, तदेव पटहः=ढक्का (निद्राद्रावणत्वात्) तेन नित्यम्=सदैव जागृत=सावधाना भवत, जागरणस्य किं प्रयोजनम् इत्याह—विषमाः=भयङ्कराः, इन्द्रियाणि=चक्षुःश्रोत्रादीनि एव चौराः, चिरसञ्चितम्=बहुकालेनोपार्जितम् धर्मं (धर्मरूपं धनम्) हरन्ति=चोरयन्ति । निद्राभिभूतस्य गृहस्थस्य धनं चौरा यथा अनायासेन हरन्ति, तथैव ईश्वरध्यानात्मकजागरण-शून्यस्य धर्मम्, प्रमाथीनीन्द्रियाणि प्रसह्य हरन्ति । अत्र ध्याने पटहत्वारोपः इन्द्रिये चौरत्वारोपश्च शाब्दः, धर्मे धनत्वारोपस्तु आर्थः, इत्येकदेशविवर्त्तिरूपकम्, जागरणं प्रति इन्द्रियचौरकर्तृकधर्मात्मकधनहरणस्य हेतुत्वात्काव्यलिङ्गम् । उक्तस्थानयोः । आर्या जातिः ॥ १ ॥

सरलार्थः—हे अज्ञाः ! स्वीयजठरं सङ्कोचयत, परमेश्वरचिन्तनप्रवाहरूपढक्कया विनिद्राः भवत, विषयोपभोगनिद्रया अभिभूताः कदापि न भवतेत्याशयः । चक्षु-

---

(इसके बाद सजल कौपीन हाथ में लिए हुए भिक्षुक आता है)

भिक्षुक—पुरुषो ! धर्म का उपार्जन करो ।

अपने पेट को संयमित रक्खो, परमात्मा के ध्यानरूपी नगाड़े से सदा जगे रहो । भयंकर चक्षु आदि इन्द्रियाँ चोर हैं, वे चिर-संचित धर्म-सम्पत्ति का अपहरण करती हैं ॥ १ ॥

अवि अ, अणिच्चदाए पेक्खिअ णवलं दाव धम्माणं शलणंम्हि ।
(अपि च, अनित्यतया प्रेक्ष्ये केवलं तावद्धर्माणां शरणमस्मि)

पञ्चजण जेण मालिदा इत्थिअ मालिअ गाम लक्खिदे ।
अवल अ चण्डाल मालिदे अवसंचि शे णल शग्ग गाहदि ॥ २ ॥
(पञ्चजना येन मारिताः स्त्रियं मारयित्वा ग्रामो रक्षितः ।
अवलश्च चाण्डालो मारितः अवश्यं स नरः स्वर्गं गाहते ॥ २ ॥)

रादिरूपचोराः चिरोपार्जितम् सुकृतं लोभपारवश्यात् मुष्णन्ति, अतः इन्द्रियनिग्रहे यत्नं कुरुत इति भावः ॥ १ ॥

अपि चेति—अनित्यतया (जागतिकं सर्वं वस्तु) प्रेक्ष्य, केवलम् (नित्यतया वर्तमानानाम्) धर्माणां शरणमस्मि = शरणागतोऽस्मि ।

अन्वयः—येन पञ्चजनाः मारिताः, स्त्रियम् मारयित्वा ग्रामः रक्षितः, अवलः चाण्डालः च मारितः, स नरः अवश्यम् स्वर्गम् गाहते ।

पञ्चेति—येन=पुरुषेण पञ्चजनाः=पञ्चेन्द्रियाणि, मारिताः=वशीकृताः स्त्रियम्=विषयोपभोगस्पृहावर्द्धिनीमविद्याम्. हत्वा = दूरीकृत्य, ग्रामः = स्वात्मा रक्षितः । यथा डाकिनीं स्त्रियं हत्वा मन्त्रविद्यावेदिभिर्ग्रामो रक्ष्यते तद्वदिति ध्वन्यते । अविद्यापसारेण ज्ञानोदयात् (हेतोः) अबलः शक्तिहीनः, चाण्डालः=अहंकारः (कामो वा) मारितो हतः स नरः अवश्यं स्वर्गं गाहते विघ्नाभावादिति भावः अत्रेन्द्रियादिरूपः पञ्चजनादेः भिन्नस्याऽपि अभेदेनोपवर्णनादतिशयोक्तिः, कथमुपरि कलापिनः कलापः' इत्यादिदर्पणोदाहृतवत् कथितपदत्वं च अत्र । संन्यासिनो मुखाज्जगतोऽनुकम्प्यत्वेनोक्तत्वात् गुण एव, तथा च 'कथितञ्च पदं पुनः (गुणः)' इत्युपक्रम्य 'विहितस्यानुवाद्यत्वे''''''नुकम्पायां प्रसादने' इत्यादिदर्पणोक्तेः यत्तु केचित् एवमशिक्षितनिर्विण्णस्य अक्षरार्थयोः सौन्दर्ये ज्ञानाभिनिवेशयोरभावादिति कथितपदत्वस्य गुणत्वे साधकमाहुस्तत्किञ्चित्तोषकरम् । तादृशकारणस्य दर्पणेऽनुक्तत्वात् जगद्गुरोः तस्य मतये स्वाभाविकानुकम्पाशीलत्वादिति विचार्यमार्यैः । वैतालीय छन्दः ॥ २ ॥

और धर्म के सिवा सबको क्षणभंगुर देखकर, मैं एकमात्र धर्म की शरण में आ गया हूँ ।

जिसने चोररूप पञ्चज्ञानेन्द्रियों का निग्रह कर डाला, (स्त्री) अविद्या का विनाश कर (ग्राम) आत्मा की रक्षा कर ली तथा जो अविद्या के नाश के कारण शिथिलीभूत पापों का विध्वंस कर चुका है वह मनुष्य अवश्य स्वर्ग में जाता है ॥

शिल मुण्डिद तुंण्ड मुण्डिद चित्त ण मुण्डिद कीश मुण्डिदे ।
जाह उणअ चित्त मुण्डिदे शाहु शुट्ठु शिल ताह मुण्डिदे ॥ ३ ॥

(शिरो मुण्डितं तुण्डं मुण्डितं चित्तं न मुंडितं किं मुंडितम् ? ।
यस्य पुनश्च चित्तं मुंडित साधु सुष्ठु शिरस्तस्य मुंडितम् ॥ ३ ॥)

गिहिद-काशाओदए एशे चीवले, जाव एदं लट्टिअ-शालकाहकेलके

सरलार्थः—येन नरेण पञ्चेन्द्रियाणि स्वस्वग्राह्यविषयेभ्यो निवार्य वशीकृतानि, अविद्यारूपनारीं विनाश्य आत्मस्वरूपग्रामो निर्विघ्नीकृतः, तथा निजेन्द्रियाणां वशीकरणात् बलहीनः चण्डालसधर्म्मा अहङ्कारः कामो वा विनाशितः, स जनः निश्चितमेव स्वर्गं प्राप्नोतीति भावः ॥ २ ॥

अन्वयः—यस्य शिरः मुण्डितम् तुण्डम् मुण्डितम् चित्तम् न मुण्डितम् किम् मुण्डितम्, पुनः यस्य च चित्तम् साधु मुण्डितम्, तस्य शिरः सुष्ठु मुण्डितम् ।

शिर इति—यस्य लोकस्य शिरः, तुण्डम्=मुखम् ('वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इत्यमरः) च मुण्डितम्=केशकर्त्तनेन सर्वतो भद्रीकृतम् किन्तु चित्तम्=हृदयम् न मुण्डितम्, (किमपि नेत्यर्थः) ? यस्य पुनः चित्तम् साधु=सम्यक्, मुण्डितम्-कामादिविनाशेन परिशोधितम्, तस्य शिरः=मस्तकम्, (उपलक्षणविधया तुण्डमपि) मुण्डितम् । मुण्डनं मनुनोक्तम्='कृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् । विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन्' इति । किन्तु 'चित्तशोधं विना सर्वा हस्तिस्नानमिव क्रिये'त्यभियुक्तोक्तिदिशा वाह्यमुण्डनं व्यर्थमिति भावः । अत्र चित्तमुण्डनमेव शिरोमुण्डमिति भेदेऽप्यभेदाभिधानादतिशयोक्तिः । वैतालीयं छन्दः ॥ ३ ॥

सरलार्थः—यस्य नरस्य मस्तकं केशहीनीकृतं, मुखञ्च श्मश्रुरहितीकृतम्, किन्तु चित्तं कामादिदोषं दूरीकृत्य न परिष्कृतम्, तस्य नरस्य किं मुण्डितम् ? न किमपीति भावः । यस्य जनस्य पुनः अन्तःकरणं सम्यक् विगतकिल्विषं कृतमित्यर्थः, तस्य शोभनं यथा स्यात्तथा मस्तकं परिष्कृतम् अशुद्धचित्तस्य दण्डिनः केशादिवपनं व्यर्थमिति भावः ॥ ३ ॥

जिसने शिर मुड़ा लिया, दाढ़ी भी मुड़ा ली किन्तु मन नहीं मुड़ाया अर्थात् मनसे विषय-वासनाओं को नहीं हटा दिया उसने कुछ भी नहीं मुड़ाया और जिसने अपने मन को उत्तम रीति से शुद्ध कर लिया है उसने शिर आदि भी अच्छी तरह मुड़ा लिया है ॥ ३ ॥

यह कौपीन गंदले जल में भीग गया है, अतः राजा के साले के

उज्जाणे पविशिअ पोक्खलिणी पक्खालिअ लहुं लहुं अवक्कमिश्शं। (परिक्रम्य तथा करोति) (गृहीत-काषायोदकमेतत् चीवरम्, यावदेतत् राष्ट्रिय-श्यालकस्य उद्याने प्रविश्य पुष्करिण्यां प्रक्षाल्य लघु लघु अपक्रमिष्यामि)

नेपथ्ये। चिट्ठ, ले दुट्टशमणका ! चिट्ठ। (तिष्ठ, रे दुष्टश्रमणक ! तिष्ठ)

भिक्षुः—(दृष्ट्वा सभयम्) ही अविदमाणहे ! एशे शे लाअशालशण्ठाणे आअदे। एक्केण भिक्खुणा अवलाहे किदे अण्णं पि जहिं जहिं भिक्खुं पेक्खदि, तहिं तहिं गोणं विअ णासं विन्धिअ ओवाहेदि। ता कहिं अशलणे शलणं गमिश्शं ?। अधवा भट्टालके ज्जेव बुद्धे मे शलणे (आश्चर्यम्। एष स राज-श्याल-संस्थान आगतः। एकेन भिक्षुणा अपराधे कृते, अन्यमपि यस्मिन् यस्मिन् भिक्षुं प्रेक्षते, तस्मिन् तस्मिन् गामिव नासिकां विद्ध्वा अपवाहयति। तत् कस्मिन् अशरणः शरणं गमिष्यामि ?। अथवा भट्टारक एव बुद्धो मे शरणम्।)

गृहीतेति—गृहीतं कषायोदकम् = दूषितजलगतमलादिकम् येन तत् (दूषितजलाशयगताविलजलावमज्जनादिति शेषः) चीवरम् = योगिजनोचितकौपीनम्। ('पुष्करिण्यां तु खातं स्यात्' छोटी पोखरी)। लघु=शीघ्रम् अपक्रमिष्यामि=निर्गमिष्यामि।

भिक्षुः—ही अविदमाणहे=महाश्चर्यम् (आश्चर्यार्थकमेतदव्ययम्) आश्चर्यञ्च एकेन भिक्षुणाऽपराधे कृते भिक्षुमात्रस्य दण्डदानाद्बोध्यम्। नासिकां विद्ध्वा=सूत्रेण नाथयित्वेत्यर्थः। अपवाहयति = दूरीकरोति। भट्टारकः=स्वामी 'स्वामी भट्टारको देवः' इत्यमरः। आपीयते मद्यमस्मिन्नित्यापानम् पानगोष्ठी 'करणाधिकरणयो'रितिल्युट्। 'आपानं पानगोष्ठिका' इत्यमरः। तन्मध्ये प्रविष्टस्य=आनीतस्य रक्तमूलकस्य (मूली

उद्यान में जाकर स्वच्छ तालाब में इसे धोकर जल्दी २ वहाँ से निकल आऊँगा।

(जाकर वैसा ही करता है)

नेपथ्य में—ठहर रे दुष्ट—बौद्ध—संन्यासी ! ठहर।

भिक्षुक—(देखकर भयपूर्वक) आश्चर्य है, यह तो राजा का शाला संस्थान आ गया। एक भिक्षुक के अपराध करने पर दूसरे भी जिस किसी भिक्षुक को यह देखता है, उसी को गौ के समान नासिका में मार २ कर निकाल बाहर करता है। तो असहाय मैं किसकी शरण में जाऊँ ? अथवा बुद्धिमान राजा ही मेरी रक्षा करेंगे।

(प्रविश्य सखड्गेन विटेन सह शकारः)

शकारः—चिट्ठ, ले दुट्टशमणका ! चिट्ठ आवाणअ-गज्झ-पविट्ठश्श विअ लत्तमूलअश्श शीशं दे मोडइश्शं । (इति ताडयति) (तिष्ठ: रे दुष्टश्रमणक ! तिष्ठ । आपानक-मध्य-प्रविष्टस्येव रक्तमूलकस्य शीर्षं ते भङ्क्ष्यामि)

विटः—काणेलीमातः ! युक्तं निर्वेद-धृत-कषायं भिक्षुं ताडयितुम् तत् किमनेन । इदं तावत् सुखोपगम्यमुद्यानं पश्यतु भवान् ।

अशरण-शरण-प्रमोदभूतैर्वनतरुभिः क्रियमाण-चारु-कर्म ।
हृदयमिव दुरात्मनामगुप्तं नवमिव राज्यमनिर्जितोपभोग्यम् ॥ ४ ॥

या मुरई) इव, शीर्षम् = अग्रभागम् 'मद्यपा मद्यपानकाले पत्रलकभागमपनीय मूलकमुपदंशीकुर्वन्ति' इति प्रसिद्धः ।

विट इति—काणेलीमातः (व्याख्यातपूर्वमेतत्) । रे नीच ! (शकारस्येदं सम्बोधनम्) निर्वेदेन = आत्मावमानेन तथाहि—'तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्' इति दर्पणः 'चित्तस्य खेदो निर्वेदस्तत्त्वज्ञानोदयादिभिः' इत्यपि च केचित् । धृतं कषायवस्त्रम्=गैरिकवसनम् येन तम् भिक्षुम्=भिक्षामात्रजीविकम् । अनेन= भिक्षुणा । किम्=किम्प्रयोजनम् ? (किमपि नेत्यर्थः) सुखोपगम्यं = सुखसाधनीभूतमुद्यानम् ।

अन्वयः—अशरणशरणप्रमोदभूतैः वनतरुभिः क्रियमाणचारुकर्म, दुरात्मनाम् हृदयम् इव अगुप्तम्, नवम् राज्यम् इव अनिर्जितोपभोग्यम् ।

अशरणेति—अशरणानाम्=गेहविहीनानाम् शरणानि गृहीभूताः, तदधस्तलसेविनां शीतातपापसारात् प्रमोदन्ते एभिरिति प्रमोदाः, तद्भूताः=आनन्ददायिनः, ते च ते इति तथोक्तस्तैः विशेषणं 'विशेष्येणे'ति समासः । वनतरुभिः=अरण्यवृक्षैः क्रियमाणं चारुकर्म = आश्रयहीनानामाश्रयदानरूपं सत्कर्म यस्मिंस्तत् (तादृशमुद्यानम्) दुरात्मनाम्=दुष्टान्तःकरणानाम् हृदयम् इव अगुप्तम् = स्वेच्छाचारितया, (अन्यत्र) यथेच्छव्यवहारितया च असंयतम् । तथा नवम् = अनुपदमायत्ती-

---

(तलवार लेकर विट के साथ शकार आकर)

शकार—ठहर रे दुष्ट श्रमणक ! ठहर । मदिरालय में गए हुए मद्यपी के रक्तमूलक के समान मैं तुम्हारे मस्तक को भग्न करता हूँ (मारता है)

विट—हे काणेली के पुत्र ! वैराग्य से गेरुआ वस्त्र धारण करने वाले भिक्षुक को मारना उचित नहीं है । तब इससे क्या लाभ ? आप सुख-प्राप्य इस उद्यान को देखें ।

गृह-विहीनों के लिए आश्रयस्वरूप एवं विनोदक... इन वृक्षों से किए गए

भिक्षुः—शाअदं ?। पशोददु उवाशके। (स्वागतम्, प्रसीदतु उपासकः)

शकारः—भावे! पेक्ख, पेक्ख, आक्कोशदि। (भाव! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व, आक्रोशति)

विट—किं ब्रवीति ?!

शकारः—उवाशके त्ति मं भणादि। किं हग्गे णाविदे ?। (उपासक इति मां भणति। किमहं नापितः ?)

विटः—बुद्धोपासक इति भवन्तं स्तौति।

कृतम् राज्यमिव अनिर्जितानि=अवशानि, उपभोग्यानि=तडागोपवनादीनि वस्तूनि (फलानि च) यस्मिन् तत् तथोक्तम्। एकत्र रक्षणाभावात् अन्यत्र नवत्वेन सुप्रबन्धाभावात्। पुष्पिताग्रावृत्तम्। अत्रोपमे द्वे। परस्परं नैरपेक्ष्येणानयोस्संसृष्टिः॥४॥

सरलार्थः—निराश्रयक्लान्तपथिकाश्रयदानेनामोदकरैः, वन्यवृक्षैः, निराश्रयाय आश्रयदानरूपसत्कार्ययुक्तमिदमुद्यानं दुर्जनानां हृदयमिव अरक्षितमयसंयतं वा, यथेच्छं सर्वैरेव गम्यमिति भावः, तथा शासनहीननवप्रतिष्ठापितराज्यमिव स्वेच्छयोपभोगार्हं दृश्यते इति भावः। 'अनेन पद्येन नवराज्यसाम्यप्रदर्शनात् आर्यकाधिकृतं राज्यं कियत्कालं विशृङ्खलं भविष्यतीति ध्वन्यते'॥ ४॥

शकार इति—आक्रोशति=गालिप्रदानं करोति।

विट इति—किं ब्रवीति=केन शब्देन गालिप्रदानं करोतीति प्रश्नः।

शकार इति—उपासक इति=नापितः इत्यर्थः (केशकर्त्तनकाले जनानाम् उप=समीपे आसकः=स्थास्नुः नापित एव भवतीति भावः) उच्चजातीयं मां नापितं कथयतीति गालिप्रदानमेवेत्याशयः। किमहं नापितः=असत्यमेतदिति भावः।

विट इति—स्तौति=अहिंसाप्रचारकबुद्धोपासनेन त्वयि भूतदया तिष्ठतीति भवन्तं प्रशंसति। भिक्षुताडनं न तवोचितमित्यपि ध्वन्यते।

मनोरम कार्य को देखो। यह दुर्जनों के हृदय के समान सर्वगम्य तथा नवीन राज्य के तुल्य बिना शासन किए ही उपभोग्य फल को देने वाला है॥ ४॥

भिक्षुक—मैं आप का अभिनन्दन करता हूँ। उपासक प्रसन्न हो गये।

शकार—विद्वन्! देखो देखो यह गाली दे रहा है।

विट—क्या कहता है ?

शकार—मुझे उपासक कहता है। क्या मैं हजाम हूँ ?

विट—बुद्ध उपासक कह कर आपका प्रशंसा करता है।

शकारः—शुणु, शमणका ! शुणु । (शृणु श्रमणक ! शृणु)

भिक्षुः—तुमं धण्णे, तुमं पुण्णे (त्वं धन्यः, त्वं पुण्यः)

शकारः—भावे ! धण्णे पुण्णे त्ति मं भणादि । किं हग्गे शलावके, कोश्टके, कोम्भकले वा ? । (भाव ! धन्यः पुण्य इति मां भणति । किमहं श्रावकः, कोष्ठकः, कुम्भकारो वा ?)

विटः—काणेलीमातः ! ननु धन्यस्त्वं पुण्यस्त्वमिति भवन्तं स्तौति ।

शकारः—भावे ! ता कीश एशे इध आगदे ? । (भाव ! तत् केन एष इहागतः)

भिक्षुः—इदं चीवलं पक्खालिदुं । (इदं चीवरं प्रक्षालयितुम्)

शकारः अले दुट्ठशमणका ! एशे मह वहिणीपदिणा शव्वुज्जाणाणं पवले पुप्फकलण्डुज्जाणे, दिण्णे, जहिं दाव शुणहका शिआला पाणिअं पिअन्ति । हग्गे वि पिवलपुलिशे मखुश्शके ण ण्हाआमि । तहिं तुमं

भिक्षुरिति—धन्यः पुण्यश्चेति भयेन मुखप्रेक्षितया च मिथ्या भाषणं करोति ।

शकार इति—श्रावकः = श्रावयतीति श्रावकः (वन्दिजनः) श्रुधातोर्ण्यन्तात 'ण्वुलतृचा' विति ण्वुल् । कोष्ठकः = भाण्डारिकः (द्यूतकरो वा) । कोष्ठः = कुसूलः (कोठिला) रचयत्वेन अस्त्यस्येति कोष्ठकः 'पुंसि कोष्ठोऽन्तर्जठरं कुसूलोऽन्तर्गृहं तथे'त्यमरः । यद्वा 'पाशककोष्ठव्यवहारी द्यूतकरः' इति भट्टाचार्याः । कुम्भकारः = कुलालः । बुद्धया शिल्पकलया च जीविकानिर्वाहकरणात् एते धन्याः, यथायथं लोकोपकारकरणात्पुण्याश्चेति शकारोक्तेरभिप्रायः । अन्ये तु शकारवचनत्वादनर्थका एते शब्दा इति वदन्ति ।

शकार—सुनो बौद्ध-संन्यासी ! सुनो ।

भिक्षुक—तुम धन्य हो, तुम पुण्यवान हो ।

शकार—विद्वन् ! यह मुझे 'धन्य' 'पुण्य' कहता है । क्या मैं चारण हूं, जुआड़ी हूं या कुम्हार हूं ?

विट—काणेलि के पुत्र ! तुम धन्य हो, 'तुम पुण्यात्मा हो' यह कह कर वह तुम्हारी प्रशंसा करता है ।

शकार—विद्वन् ! तो यह किसलिए यहाँ आया है ?

भिक्षुक—इस कौपीन को धोने के लिए ।

शकार—अरे दुष्ट बौद्ध संन्यासी ! मेरे बहन के पति राजा पालक ने सभी उद्यानों में श्रेष्ठ पुष्पकरण्डक उद्यान को दिया है । जिनमें कुत्ते और शृंगाल

पुक्खलिणीए पुलाणकुलुत्थ–जूश–शवलाइं दुश्श-गन्धिआइं चीवलाइं पक्खलेशि। ता तुमं एक्कपहालिअं कलेमि। (अरे दुष्टश्रमणक ! एतन्मम भगिनीपतिना सर्वोद्यानानां प्रवरं पुष्पकरण्डकोद्यानं दत्तम्, यस्मिन् तावत् शुनकाः शृगालाः पानीयं पिबन्ति, अहमपि प्रवरपुरुषो मनुष्यको न स्नामि। तस्यां त्वं पुष्करिण्यां पुराण–कुलत्थ–रूप–शवलानि दूष्यगन्धीनि चीवराणि प्रक्षालयसि। तत् त्वामेकप्रहारिकं करोमि)

विटः—काणेलीमातः ! तथा तर्कयामि, यथा अनेन अचिरप्रव्रजितेन भवितव्यम्।

शकारः कथं भावे जाणादि ? (कथं भावो जानाति ?)

विटः—किमत्र ज्ञेयम्। पश्य—

अद्याप्यस्य तथैव केशविरहाद्गौरी ललाटच्छविः

शकार इति—शुनकाः=श्वानः, शृगालाश्च। प्रवरपुरुषो मनुष्यक इति पुनरुक्तवत्। शकारोचितमेतद्भाषणम्। न स्नामि=जलमालिन्याशंकया स्नानं न करोमि। पुराणः कुलुत्थः=कलायसस्य विशेषः 'तस्य यूषवत्=चूर्णवत् शबलानि विचित्राणि' इति भट्टाचार्याः। 'कुलित्थः' इत्यपि पाठः। धूसरवर्णानीत्यभिप्रायः। दूष्यगन्धीनि=दुर्गन्धानि एकप्रहारिकम्=एक प्रहारेण मारणीयम्। एकेनैव प्रहारेण त्वां मारयामीत्याशयः।

विट इति—किमत्र ज्ञेयम्=किमपि ज्ञेयं नेत्यर्थः। सर्वं विस्पष्टमेवेति तत्त्वम्। तदेव पक्षेण दर्शयितुमाह पश्येति।

अन्वयः—केशविरहाद् अस्य ललाटच्छविः अद्यापि तथैव गौरी, च कालस्य अल्पतया चीवरकृतः स्कन्धे किणः न जातः, कषायवस्त्ररचना न अभ्यस्ता च, दूरम् निगूढान्तरः वस्त्रान्तः पटोच्छ्रयात् प्रशिथिलम् स्कन्धे न सन्तिष्ठते च।

अद्याप्यस्येति—केशविरहात्=केशाभावात् (परमपि) अस्य=भिक्षोः ललाट-

---

पानी पीते हैं। यहाँ तक कि प्रधान-पुरुष मैं मनुष्य होते हुए भी इनमें स्नान नहीं करता हूँ। उस स्वच्छ नदी में तुम पुराने कुलथी के चूर्ण से चित्रित एवं दुर्गन्धित कौपीन को धोते हो। अतः मैं तुम पर एक प्रहार (एक बेंत) का दण्ड देता हूँ।

विट—काणेली के पुत्र ! मैं तो अनुमान करता हूँ कि यह अभी नवीन ही बौद्ध-संन्यासी हुआ है।

शकार—आप कैसे जानते हैं ?

विट—इसमें जानने की क्या बात है ? देखो—

आज भी केश मुड़ाने के श्रमणक के ललाट का कान्ति गृहस्थों के समान

कालस्याल्पतया च चीवरकृत: स्कन्धे न जातः किणः ।
नाभ्यस्ता च कषाय-वस्त्र-रचना दूरं निगूढान्तरो
वस्त्रान्तश्च पटोच्छ्रयात् प्रशिथिलं स्कन्धे न सन्तिष्ठते ॥ ५ ॥

भिक्षुः—उवाशके ! एव्वं । अचिल-पव्वजिदे हग्गे । (उपासक ! एवम् । अचिरप्रव्रजितोऽहम्)

च्छविः निटिलकान्तिः, अद्यापि = इदानीमपि तथैव = गृहस्थाश्रम इव गौरी = वर्णा (दृश्यते) । केशविरहस्य बहुकालव्यापित्वे तु ललाटकान्तिरवश्यं मलिना भवेदित्याशयः । तत्तु न दृश्यते च = किञ्च कालस्य = प्रव्रज्याग्रहणसमयस्य अल्पतया = अचिरतया चीवरकृतः स्कन्धे किणः = सततघर्षणेन चिह्नम् न जातः । बहुकालव्यापिचीवरधारणेन किणोऽवश्यमेवोत्पद्येतेत्याशयः । कषायवस्त्रस्य रचना = गैरिकादिना रञ्जनविधानम् (च) न अभ्यस्ता = न सम्यक् साधिता । नवागतत्वादिति शेषः । तथा दूरम् = अत्यन्तम् निगूढम् = समावृतम् अन्तरम् = शरीरस्य मध्यभागः येन सः (तादृशः) वस्त्रस्य अन्तः = वस्त्रनिर्मितकृत्रिमकञ्चुकित्वग्रंथिः, पटोच्छ्रयात् = वस्त्रस्य विशालतया हेतुना, प्रशिथिलं यथा स्यात्तथा स्कन्धे न सन्तिष्ठते = न बद्धो भवति । स्खलन् सन् पतत्येवेति भावः । पुराणश्चेदयं श्रमणको भवेत्तदा देहेन साकं कृत्रिमकञ्चुकयाः सामञ्जस्यं स्यादेव । द्वयोर्वैषम्यादेवानुमीयते नवोऽयं संन्यासीति । अत्र प्रव्रज्याया अचिरत्वप्रतिपादनं प्रति बहुकारणोपन्यासात्समुच्चयः, समुच्चयकृतविच्छित्या ललाटगौरिमादिभिरचिरप्रव्रजितत्वरूपसाध्यज्ञानादनुमानालङ्कारश्च । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

सरलार्थः—इदानीमपि अस्य श्रमणकस्य अचिरकेशमुण्डनात् भालकान्तिः, गार्हस्थ्यावस्थायामिव शुभ्रोज्ज्वला, संन्यासग्रहणसमयस्य च अचिरतया सततस्कन्धावसक्तभिक्षुवस्त्रविशेषोत्पादितः चिह्नविशेषः नोत्पन्नः, गैरिकवस्त्ररञ्जननिपुणता न शीलिता, नाभ्यासङ्गतेति भावः अचिरप्रव्रज्याग्रहणेन लज्जया शरीरमध्यभागः अत्यन्ताच्छादितः, तथा प्रावरणवसनदैर्घ्यात् प्रशिथिलं यथा स्यात्तथा स्खलन् स्कन्धादधो गच्छतीति भावः ।

उज्ज्वल ही है । बहुत कम समय से बौद्धसंन्यासी होने के कारण कंधे पर झोली लटकाने का चिह्न नहीं पड़ा है । गेरुआ वस्त्र रंगने का अभी अभ्यास भी नहीं पड़ा है, या गेरुआ वस्त्र धारण करने का अभ्यास नहीं पड़ा है । बहुत दूर तक गुप्त अंगों को ढँक रखा है । और उत्तरीय भी वस्त्र की अधिकता के कारण शिथिल होकर कन्धे पर नहीं ठहर रहा है ॥ ५ ॥

भिक्षुक—उपासक ! हाँ ठीक है । मैं अभी हाल में परिव्राजक हुआ हूँ ।

शकारः—ता कीश तुमं जातमेत्तकज्जेव ण पव्वजिदे ?। (इति ताडयति) (तत् केन त्वं जातमात्र एव न प्रव्रजितः ?)

भिक्षुः—णमो बुद्धश्श। (नमो बुद्धाय)

विटः—किमनेन ताडितेन तपस्विना ?। मुच्यतां, गच्छतु।

शकारः—अले ! चिट्ठ दाव, जाव शम्पधालेमि। (अरे ! तिष्ठ तावत् यावत् सम्प्रधारयामि)

विटः—केन सार्द्धम ?

शकारः—अत्तणो हडक्केणं। (आत्मनो हृदयेन)

विटः—हन्त ! न गतः।

शकारः—पुत्तका ! हडक्का ! भट्टके ! पुत्तके ! एशे शमणके अवि णाम किं गच्छदु, किं चिट्ठदु ? (स्वगतम्) णावि गच्छदु, णावि चिट्ठदु। (प्रकाशम्) भावे ! शम्पधालिदं मए हडक्केण शह। एशे मइ हडक्के भणादि। (पुत्रक ! हृदय ! भट्टारक ! पुत्रक ! एष श्रमणकः अपि नाम किं गच्छतु, किं तिष्ठतु ? नापि गच्छतु, नापि तिष्ठतु। भाव ! सम्प्रधारितं मया हृदयेन सह। एतन्मम हृदयं भणति)

शकार इति—शकारत्वादपार्थकमेतत् जातमात्र एव प्रव्रजितः किम् ?' इति।
भिक्षुरिति—नमो बुद्धाय = मरणभयादिष्टदेवस्मरणं करोति।
शकार इति—सम्प्रधारयामि = भिक्षुकः गच्छतु, न वेति निश्चिनोमि।
विट इति—हन्त = खेदे न गतः = संन्यासी अस्मात्स्थानान्न गतः।
शकार इति—भट्टारक=स्वामिन्, पुत्रक=पुत्र, असमसम्बोधनदानात् अपार्थं-

---

शकार—तब क्यों तुम लड़कपन ही से परिव्राजक नहीं हुए हो ? (मारता है)

भिक्षुक—बुद्ध भगवान् को नमस्कार है।

विट—इस दीन को मारने से क्या लाभ ? छोड़ो, यह जाय।

शकार—अरे ! ठहरो। मैं इसके जाने के विषय में निश्चय करता हूँ।

विट—किसके साथ ?

शकार—अपने हृदय के साथ।

विट—हाय ! भिक्षुक गया नहीं।

शकार—पुत्रक ! हृदय ! राजन् ! पुत्रक ! क्या यह बौद्ध संन्यासी चला जाय ? या ठहरे ? (मन में) न जाय न ठहरे। (प्रकट) विद्वन् ! मैंने हृदय से निश्चय कर लिया। यह मेरा हृदय कहता है।

विटः—किं ब्रवीति ?।

शकारः—मावि गच्छदु, मावि चिट्ठदु, मावि ऊश्शशदु, मावि णीशशदु। इध ज्जेव झत्ति पड़िअ मलेदु। (मापि गच्छतु, मापि तिष्ठतु, मापि उच्छ्वसितु, मापि निःश्वसितु। इहैव झटिति पतित्वा म्रियताम्)

भिक्षुः—णमो बुद्धश्श। शलणागदम्हि। (नमो बुद्धाय। शरणागतोऽस्मि)

विटः—गच्छतु।

शकारः—णं शमएण। (ननु समयेन)

विटः—कीदृशः समयः ?।

शकारः—तधा कद्दमं फेलदु, जधा पाणिअं पङ्काइलं ण होदि। अधवा पाणिअं पुञ्जीकदुअ कद्दमे फेलदु। (तथा कर्दमं क्षिपतु, यथा पानीयं पङ्काविलं न भवति। अथवा पानीयं पुञ्जीकृत्य कर्दमे क्षिपतु)

विटः—अहो मूर्खता ?

क्रमेतत्। शकारोक्तत्वात्सह्यमेव। 'नापि गच्छतु नापि तिष्ठतु' इत्यपि निरर्थकमेव

शकार इति—उच्छ्वसितु = श्वासं गृह्णातु, निःश्वसितु = श्वासं त्यजतु।

शकार इति—समयेन = शपथेन 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः।

शकार इति—पङ्काविलम् = पङ्केन आविलम् = मलिनम्। जले पङ्कक्षेपणादाविलत्वमवश्यम्भावीति अपार्थकमेतत्। पुञ्जीकृत्य = राशीकृत्य (बोझ बांधकर)। तृणशः कणशो वा विकीर्णानां पदार्थानां पुञ्जीकरणं राशीकरणं वा लोके सम्भवति। नित्यसंहतानां जलानां तु तादृशकरणमसम्भाव्यमेवेति तत्करणाय कथनमपार्थकमेव।

विट—क्या कहता है ?

शकार—यह न जाय, न ठहरे, न उच्छ्वास ले और न निःश्वास ले। किन्तु यहीं तुरत गिर कर मर जाय।

भिक्षुक—बुद्ध को नमस्कार है। मैं शरण में आ गया हूँ। रक्षा करो।

विट—जाओ।

शकार—एक शपथ पर।

विट—कैसी शपथ ?

शकार—इस प्रकार कीचड़ फेंके कि पानी गन्दा न हो। अथवा पानी एकत्रित करके कीचड़ में फेंके।

विट—हाय रे ! मूर्खता !

विपर्यस्तमनश्चेष्टैः शिला-शकल-वर्ष्मभिः ।
मांसवृक्षैरियं मूर्खैर्भाराक्रान्ता वसुन्धरा ॥ ६ ॥

भिक्षुः—(नाट्येन आक्रोशति)

शकारः—किं भणादि ? । (किं भणति ?)

विटः—स्तौति भवन्तम् ।

शकारः—शुणु शुणु, पुणावि शुणु । (शृणु शृणु, पुनरपि शृणु)

(तथा कृत्वा निष्क्रान्तो भिक्षुः ।)

अन्वयः—विपर्यस्तमनश्चेष्टैः, शिलाशकलवर्ष्मभिः, मांसवृक्षैः मूर्खैः इयम् वसुन्धरा भाराक्रान्ता ।

विपर्यस्तेति—विपर्यस्ता = प्रतिकूला मनसः चेष्टा = व्यापारः येषां तैः, शिलायाः शकलवत् = खण्डवत् वर्ष्म = शरीरं येषां तैः; 'शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः । पाषाणकठिनकलेवरैः मांसवृक्षैः, मांसमयफलोत्पादकतरुभिः । मूर्खैः = अपार्थभाविभिः शकारतुल्यजनैः, इयम् वसुन्धरा भाराक्रान्ता । एतैर्मूर्खैर्नान्यो जगत उपकार इत्याशयः । अत्र द्वितीयपादे लुप्तोपमा तृतीये निरङ्गं केवलरूपकम्, अप्रस्तुतमूर्खसामान्यात् प्रस्तुतमूर्खविशेषशकारप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा च । एषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । 'दोषप्रख्यापवादः स्यादि'त्यपवादो नाम विमर्शसन्धिरङ्गम् ॥६॥

सरलार्थः—विरुद्धमनोवृत्तिविशिष्टैः, प्रस्तरखण्डवद्दृढदेहैः, मांसमयैः पादपैः, केवलदेहमांसवृद्धिकारिभिरिति भावः, विवेकलेशशून्यैर्जनैः पृथिवी भारनिपीडिता अर्थात् ईदृशाः मूर्खाः केवलं पृथिव्याः भारभूता एव न पुनरन्यः कश्चिदुपकार इति भावः ॥ ६ ॥

भिक्षुरिति—नाट्येन—कराङ्गुष्ठदर्शनरूपाश्लीलदर्शनभङ्ग्या ।

विट इति—स्तौति = देशोद्देश्येनेव कदलीफलभोगदर्शनभङ्ग्या भवन्तं प्रशंसति यद्वा दर्शिताङ्गुष्ठस्तेन स्तौति । (शकारस्यातिमौर्ख्याद्विटेन वञ्च्यतेऽयम्) ।

तथेति—तथा कृत्वा = शकारोक्तानुसारेण जले पङ्कं निक्षिप्य ।

विपरीत बुद्धि वाले, शिला-खण्ड के तुल्य कठोर शरीर वाले तथा मांसपूर्ण-वृक्ष अर्थात् स्थूलकाय मूर्खों के द्वारा ही यह पृथ्वी भारवती हो रही है ॥ ६ ॥

भिक्षुक—(अंग-भंगी द्वारा गाली देता)

शकार—क्या कहता है ?

विट—आपकी प्रशंसा करता है ।

शकार—सुनो, सुनो, एक बार पुनः सुनो ।

(वैसा करके भिक्षुक चला गया ।)

विटः—काणेलीमातः ! पश्योद्यानस्य शोभाम् ।

अमी हि वृक्षाः फल-पुष्प-शोभिताः कठोर-निष्पन्द-लतोपवेष्टिताः ।
नृपाज्ञया रक्षिजनेन पालिता नरा सदारा इव यान्ति निर्वृतिम् ॥ ७ ॥

शकारः—शुट्ठु भावे भणादि । (सुष्ठु भावो भणति)

बहु-कुसुम-विचित्तिदा अ भूमी कुशुम-भलेण विणामिदा अ लुक्खा ।
दुम-शिहल-लदा अ लम्बमाणा पणश-फला विअ वाणला ललन्ति ॥

(बहुकुसुमविचित्रिता च भूमिः कुसुमभरेण विनामिताश्च वृक्षाः ।
द्रुम-शिखर-लता च लम्बमानाः पनस-फलानीव वानरा ललन्ति ॥ ८ ॥)

विट इति—भिक्षुकर्तृकं जले पङ्कप्रक्षेपणं परीक्षितुकामं शकारं ज्ञात्वा भिक्षुरक्षणेच्छया उद्यानशोभादर्शनाय शकारमाकर्षति विटः । पश्योद्यानस्य शोभामिति—

अमी इति—नृपाज्ञया रक्षिजनेन पालिताः फलपुष्पशोभिताः, कठोरनिष्पन्दलतोपवेष्टिताः अमी वृक्षाः, सदाराः, नराः इव निर्वृतिम् यान्ति । श्रौती उपमा, लतावृक्षयोर्लिङ्गसाम्येन नायिकानायकव्यवहारसमारोपात्समासोक्तिश्चानयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ ७ ॥

सरलार्थः—फलपुष्पभूषिताः निश्चललतालिङ्गिताः राजाज्ञया वनपालरक्षिताः, पुरतः दृश्यमानाः तरवः सश्रीकाः मानवा इव परमसुखं लभन्ते ॥ ७ ॥

अन्वयः—भूमिः च बहुकुसुमविचित्रिता, वृक्षाः च कुसुमभरेण विनामिताः, द्रुमशिखरलता च लम्बमाना, वानराः पनसफलानि इव ललन्ति ।

बह्विति—भूमिः = उद्यानान्तःस्थिता पृथ्वी बहुभिः (चित्रविचित्रवर्णैः) कुसुमैः विचित्रिता, वृक्षाः कुसुमभरेण विनामिताः = नम्रीकृताः । द्रुमशिखरस्य = वृक्षाग्रभागस्य लता च लम्बमाना = अधोलम्बमाना वर्तते । तथा वानराः पनसफलानि = कण्टकिफलानि (कटहर) इव ललन्ति = शोभन्ते (क्षणमधो लम्बमाना-

---

विट—काणेली के पुत्र ! उद्यान की शोभा देखो ।

राजा की आज्ञा से माली अथवा रक्षकों द्वारा रक्षित फल एवं पुष्प से सुशोभित तथा वायु के अभाव से निश्चल लताओं द्वारा अच्छी तरह आलिङ्गित ये वृक्ष सपत्नीक पुरुषों के समान सुख का अनुभव कर रहे हैं ॥ ७ ॥

शकार—आपने बहुत ठीक कहा ।

विविध प्रकार से फूलों के गिरने से पृथ्वी विचित्र हो गई है । पुष्पों के भार से वृक्ष नम्र हो गये हैं, वृक्ष की फुनगी की लताएँ भी नीचे की ओर झुकी हैं और कटहल के समान वानर लटक रहे हैं ॥ ८ ॥

विटः—काणेलीमातः ! इदं शिलातलमध्यास्यताम् ।

शकारः—एशे म्हि आशिदे । (इति विटेन सह उपविशति) भावे ! अज्ज वि तं वशन्तशेणिअं शुमलामि; दुज्जण-वअणं विअ हडक्कादो ण ओशलदि । (एषोऽस्मि आसितः । भाव ! अद्यापि तां वसन्तसेनाम् स्मरामि, दुर्जनवचनमिव हृदयान्नापसरति)

विटः—(स्वगतम्) तथा निरस्तोऽपि स्मरति ताम् । अथवा—

स्त्रीभिर्विमानितानां कापुरुषाणां विवर्द्धते मदनः ।
सत्पुरुषस्य स एव तु भवति मृदुर्नैव वा भवति ॥ ९ ॥

वानराः पनसफलानीव शोभन्ते) अत्र—पनसफलानीवेत्यत्र श्रौती उपमा । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ८ ॥

सरलार्थः—उद्यानभूमिः नानावर्णकुसुमैः विभूषिता, विकसितकुसुमसम्भारयोगात् तरवः अवनीतललग्नीकृताः, वृक्षाग्रलग्नलता अधोलम्बिता सती स्थिता, कपयः पनसफलसमानवर्णत्वात् शोभन्ते, किञ्चिद्दीर्घगोलत्वादिति भावः ॥ ८ ॥

शकार इति—दुर्जनवचनम् = कटुवचनम् (यथा हृदये स्मृतं तिष्ठति तद्वदित्याशयः)

विट इति—तथा = पूर्वोक्तप्रकारेण (अनादरातिशयेन) प्रत्याख्यातः ।

अन्वयः—स्त्रीभिः विमानितानाम् कापुरुषाणाम्, मदनः विवर्धते, तु सत्पुरुषस्य स एव मृदुः भवति, नैव वा भवति ।

स्त्रीभिरिति—स्त्रीभिर्विमानितानाम्=रतियाच्ञायाम् निषिद्धानाम् । कापुरुषाणाम्= कामिनाम् मदनः विवर्द्धते । तु=किन्तु सत्पुरुषस्य = मानापमानाभिज्ञस्य (स्त्रीभि-

---

विट—काणेली के पुत्र ! इस शिला-खण्ड के ऊपर बैठ जाओ ।

शकार—यह मैं बैठ गया । (विट के साथ बैठ जाता है) विद्वन् ! आज भी वसन्तसेना की याद आती है । दुष्टों के वचन के समान वह हृदय से निकलती ही नहीं है ।

विट—(मन में) उस प्रकार अपमानित होने पर भी वसन्तसेना का स्मरण करता है । अथवा—

स्त्रियों से अपमानित दुष्ट पुरुषों का काम और भी बढ़ जाता है और उसी प्रकार स्त्रियों से अपमानित होने पर सत्पुरुषों का काम कम हो जाता है या

वह काम उत्पन्न ही नहीं होता है ॥ ९ ॥

शकारः—भावे ! कावि वेला थावड़कचेड़श्श भणिदश्श 'पवहणं गेण्हिअ लहुं लहुं आअच्छे'त्ति । अज्ज वि ण आअच्छदि त्ति, चिलम्हि वुभुक्खिदे । मज्झण्हे ण शक्कीअदि पादेहिं गन्तुं । ता पेक्ख पेक्ख—
(भाव ! कापि वेला स्थावरकचेटस्य भणितस्य प्रवहणं गृहीत्वा लघु लघु आगच्छेति । अद्यापि नागच्छतीति चिरमस्मि बुभुक्षितः । मध्याह्ने न शक्यते पादाभ्यां गन्तुम् । तत् पश्य पश्य—)

णहोमज्झगदे शूले दुप्पेक्खे कुविद–वाणल–शालिच्छे ।
भूमी दृढ़–शन्तत्ता हदपुत्तशते व्व गन्धाली ॥ १० ॥

विमानितत्वावस्थायाम्) स एव कामः मृदुः = स्वल्पः भवति, वा = अथवा नैव भवति (अपमानाभिभूतत्वेन रत्योत्साहानुदयात्) अत्र कापुरुषसामान्याभिधानात् प्रस्तुतशकाररूपतद्विशेषप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा ॥ ९ ॥

सरलार्थः—स्त्रीभिः स्वरतिप्रार्थनायां तिरस्कृतानां कुपुरुषाणां कामः विशेषेण वृद्धिं गच्छति, किन्तु उत्तमपुरुषस्य स्त्रीभिर्विमानितस्य कामः दुर्बलो जायते, अथवा नैव जायते, आत्मसम्मानह्रासबोधोद्रेकजनितविरक्त्युदयादिति भावः ॥ ९ ॥

शकार इति—प्रवहणं गृहीत्वा लघु लघु = क्षिप्रं क्षिप्रमागच्छ' इत्यादिष्टस्य स्थावरकनाम्नश्चेटकस्य कापि वेला = बहुः कालः व्यतीतः । चिरमस्मि बुभुक्षितः (शकटं विना गृहानुपस्थित्या भोजनालाभादिति शेषः) अतिक्षुधार्त्तः 'ननु तर्हि पादाभ्यामेव स्वगृहं किन्न गम्यते ? इत्याह—मध्याह्न इति—मध्याह्नमार्तण्डेन धरातलस्य तप्तायःपिण्डवत्तातप्यमानत्वात् पादाभ्यामपि गन्तुं न शक्यते ।

अन्वयः—नभोमध्यगतः सरः कुपितवानरसदृशः, दुष्प्रेक्ष्यः, हतपुत्रशता गान्धारी इव भूमिः दृढसन्तप्ता ।

शकार—विद्वन् ! स्थावरक नामक चेट को कहे कितनी देर बीत गई कि—'बैलगाड़ी लेकर जल्दी-जल्दी आओ' ? किन्तु वह चेट अभी तक नहीं आता है, मैं बहुत देर से भूखा हूँ । दोपहर के समय में पैरों चलने में समर्थ नहीं हो सकूँगा । अच्छा, देखो, देखो—

सूर्य आकाश के मध्य भाग में पहुँच गया है, क्रुद्ध वानर के समान सूर्य देखा नहीं जा सकता है अत्यन्त तीक्ष्ण होने के कारण । दुर्योधन आदि जिसके सौ लड़के मारे गए हैं उस गान्धारी के समान पृथ्वी अत्यन्त संतप्त हो गई ॥ १० ॥

(नभोमध्यगतः सूरो दुष्प्रेक्ष्यः कुपितवानरसदृक्षः ।
भूमिर्दृढसन्तप्ता हतपुत्रशतेव गान्धारी ॥ १० ॥)

विटः—एवमेतत्—

छायासु प्रतिमुक्तशष्पकवलं निद्रायते गोकुलं
तृष्णार्त्तैश्च निपीयते वनमृगैरुष्णं पयः सारसम् ।

नभ इति—नभसः=गगनस्य मध्यम्=मध्यभागम्, गतः सूरः=रविः (मध्याह्न-मार्त्तण्ड इत्यर्थः) कुपितवानरस्य सदृक्षः=तुल्यः । (समानमिमं पश्यन्ति जनाः इति विग्रहे-'समानान्ययो'रित्युपक्रम्य 'क्सोऽपि वाच्यः' इति क्सः) । दुष्प्रेक्ष्यः=दुःखेन प्रेक्षितुं योग्यः (अतितीव्रत्वादन्यत्र कुपितत्वेनदन्तनखा घातादिमहाभयादिति शेषः) हतम्—महाभारतसङ्ग्रामे (भीमेन) विनाशितम् पुत्राणाम् शतम् यस्याः सा तथोक्ता गान्धारी=दुर्योधनादीनां शतकौरवाणाम् जननी इव, भूमिः दृढम्= अतिसन्तप्ता (एकत्र प्रखरतरदिनकरकरसम्पर्केणान्यत्र पुत्रमरणोत्थमहाशोकेनेति शेषः) अत्र पूर्वार्द्धे आर्थी, उत्तरार्द्धे च श्रौती पूर्णोपमा मिथोऽनपेक्ष्यानयोस्संसृष्टिः । उत्कृष्टस्य सूर्यस्य अपकृष्टवानरेणोपमितत्वेन नानौचित्यदोषः शङ्क्यः चकारवचनत्वात् । आर्या जातिः ॥ १० ॥

सरलार्थ—क्रुद्धकपिसदृशः सूर्य गगनमध्यमारूढः, तथा पृथिवी मृतशतसंख्याकतनया, धृतराष्ट्रपत्नीव अत्यन्तसन्तप्तेति भावः, एकत्र शोकेन, अन्यत्रातपेनेति विशेषो बोद्धव्य इत्यभिप्रायः ॥ १० ॥

अन्वयः—गोकुलम् छायासु प्रतिमुक्तशष्पकवलम् निद्रायते, तृष्णार्त्तैः वनमृगैः उष्णम् सारसम् पयः निपीयते, सन्तापात् अतिशङ्कितैः नरैः नगरीमार्गः न सेव्यते, प्रवहणम् च तप्ताम् भूमिम् अपास्य क्वचित् संस्थितम् मन्ये ।

छायास्विति—गोकुलम्=गोगणः 'सजातीयैः कुलम' इत्यमरः । छायासु= आतपशून्यस्थानेषु प्रतिमुक्तः=त्यक्तः शष्पाणाम=बालतृणानाम्, कवलः=ग्रासः यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा निद्रायते=निद्रां प्राप्नोति । तृष्णया=पिपासया आर्त्तैः वनमृगैः=वनवासिपशुभिः उष्णम्=रविकरतापाभितप्तम्, सरस इदं सार-

---

विट—यह ठीक है ।

गोवृन्द घासपुञ्ज को छोड़कर छाया में नींद ले रहें हैं । प्यास से व्याकुल वन-पशु नदी का गर्म जल पी रहे हैं । मनुष्यगण आतप से अत्यन्त भयभीत होकर नगरी पथ पर नहीं चल रहे हैं । अतः मैं समझता हूँ कि सन्तप्त पृथ्वी त्यागकर गाड़ी कहीं छाया में ठहरी हुई है ॥ ११ ॥

सन्तापादतिशङ्कितैर्न नगरीमार्गो नरैः सेव्यते
तप्तां भूमिमपास्य च प्रवहणं मन्ये क्वचित् संस्थितम् ॥ ११ ॥

शकारः—भावे !

शिलशि मम णिलीणे भाव ! शुज्जश्श पादे
शउणि–खग–विहङ्गा लुक्खशाहाशु लीणा ।
णल–पुणिश–मणुश्शा उण्हदीहं शशन्ता
घल–शलण–णिशण्णा–आदपं णिव्वहन्ति ॥ १२ ॥

(भाव ! शिरसि मा निलीनो भाव ! सूर्यस्य पादः
शकुनि–खग–विहङ्गा वृक्षशाखासु लीनाः ।

सम् =सरोवरोद्भवम् पयः =जलम् निपीयते । सन्तापात् घर्मात् अतिशङ्कितैः = भीतभीतैः नरैः =पथिकजनैः नगरीमार्गः =स्वावासभूतनगरीपन्थाः न सेव्यते=न गम्यते । अतः प्रवहणम् =शकटम् तप्ताम् भूमिम् अपास्य =त्यक्त्वा क्वचित् = छायाप्रदेशे संस्थितम् = स्थितमस्ति । अत्र तापातिशयरूपकार्यं प्रति बहुकारणोपन्यासात्समुच्चयालंकारः तत्कृतविच्छित्या च प्रवहणस्य क्वचिदवस्थानरूपसाध्यस्य तापातिशयलिङ्गादनुमित्यानुमानालंकारः । प्रथमे पादे कर्तरि अन्यत्र च कर्मणि प्रत्ययात् भग्नप्रक्रमता । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ११ ॥

सरलार्थः—अर्द्धोपभुक्तनवतृणग्रासः गवां समूहः आतपशून्यस्थानेषु निद्रायते, वन्यपशुभिः पिपासाकुलैः सद्भिः सरोवरीयं तप्तं पानीयं साग्रहं पीयते, शीतजलाभावात् पिपासितत्वाच्चेति भावः, आतपात्यन्तभीतैः नरैः उज्जयिन्याः पन्थाः नाश्रीयते, अत एव सम्भावयामि यत्तव गोशकटम् तप्तां भूमिं परित्यज्य क्वचिच्छायास्थानेऽवस्थितमिति भावः ॥ ११ ॥

अन्वयः—भाव मम शिरसि सूर्यस्य पादः निलीनः, शकुनिखगविहङ्गा वृक्षशाखासु लीनाः, नरपुरुषमनुष्याः, उष्णदीर्घम् श्वसन्तः, गृहशरणनिषण्णाः आतपम् निर्वहन्ति ।

शिरसीति—हे भाव !=हे पण्डित ! पादः=किरणः 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः'

शकार—विद्वन् !

सूर्य की किरणें मेरे मस्तक पर गिर रही हैं; खगकुल वृक्ष की शाखाओं पर चुपचाप बैठे हैं और मनुष्यगण घरों के भीतर में बैठकर गर्म निश्वास छोड़ते हुए उष्णता का निवारण कर रहे हैं ॥ १२ ॥

नर–पुरुष–मनुष्या उष्णदीर्घं श्वसन्तो
गृह–शरण–निषण्णा आतपं निर्वहन्ति ॥ १२ ॥)

भावे अज्ज वि शे चेडे ःणाअच्छदि। अत्तणो विणोदणणिमित्तं किंपि गाइश्शं। (इति गायति) भावे! भावे! शुदं तुए! जं मए गाइदं। (भाव! अद्यापि स चेटो नागच्छति। आत्मनो विनोदननिमित्तं किमपि गास्यामि! श्रुतं त्वया? यन्मया गीतम्)

विटः—किमुच्यते? गन्धर्वो भवान्।

शकारः—कधं गन्धव्वो ण भविश्शं? (कथं गन्धर्वो न भविष्यामि?

हिङ्गुज्जले जीलक–भद्दमुत्थे वचाह गण्ठी शगुडा अ शुण्ठी।
एशे मए शेविद गन्धजुत्ती कधं ण हग्गे मधुल–श्शलेत्ति ॥ १३ ॥

(हिङ्गूज्ज्वला जीरक–भद्रमुस्ता वचाया ग्रन्थि सगुडा च शुण्ठी।

इत्यमरः, निलीनः=पतितः। शकुनिखगविहङ्गा इत्यनर्थान्तरम्। तद्वन्नरपुरुषमनुष्या इति, च। गृहशरणमित्यपि। एतत्सर्वं शकारवचनत्वान्न पौनरुक्त्यबहुत्वेऽपि दोषावहम् उष्णं दीर्घञ्च श्वसन्तः (सन्तः) आतपम् निर्वहन्ति-व्यतियन्ति। मालिनी वृत्तम् ॥

सरलार्थः—हे विद्वन्! मम मस्तके दिवाकरकिरणः पतितः, तरुशाखासु विविधस्वरूपाः पक्षिणः निर्भरं सुप्ताः, मानवाः गृहोपविष्टाः सन्तोऽपि बहुकालं व्याप्य श्वासं त्यजन्तः रौद्रसन्तापमतिवाहयन्ति ॥ १२ ॥

विट इति—गन्धर्वः=यथा मानवानां कत्थकः तथैव देवानां गन्धर्वः (संगीत-कलावान्) तद्वद्भवानस्तीति गर्भितं वाक्यम्।

अन्वयः—हिङ्गूज्ज्वला जीरकभद्रमुस्ता, वचायाःग्रंथिः, सगुडा शुण्ठी च, एषा गन्धयुक्तिः मया सेविता कथम् नाहम् मधुरस्वरः इति।

हिङ्गूज्ज्वलेति–हिङ्गुभिः रामठैः (हिङ्ग)'सहस्रवेधि जतुकं वाह्लीकं हिङ्गु राम-

---

विद्वन्! चेट अभी तक नहीं आ रहा है। मन के विनोद के लिए कुछ गाता हूँ। (गाता है)! जो कुछ मैंने गाया उसे आपने सुना?

विट—क्या कहते हैं? आप गायक हैं।

शकार—मैं गायक क्यों नहीं हूँ।

हींग के संयोग मे शुभ्र जीरा, मोथा, वच की गाँठ तथा गुड़ से मिली हुई सोंठ—इन के मेल से बने हुए गन्धयोग का मैंने सेवन किया है तो हमारे स्वर में मधुरिमा क्यों नहीं आ सकती है? ॥ १३ ॥

एषा मया सेविता गन्धयुक्तिः कथं नाहं मधुरस्वर इति ॥ १३ ॥)

भावे ! पुणोवि दाव गाइश्शं । (तथा करोति) भावे ! भावे ! शुदं तुए ? जं मए गाइदं । (भाव ! पुनरपि तावत् गास्यामि । भाव ! भाव ! श्रुतं त्वया ? यन्मया गीतम्)

विटः—किमुच्यते ? गन्धर्वो भवान् ।

शकारः—कधं गन्धव्वे ण भवामि ? (कथं गन्धर्वो न भवामि ?)

हिङ्गुज्जले दिण्ण-मरीच-चूण्णे वग्घल्लिदे तेल्ल-घिएण मिश्शे ।
भुत्ते मए पालहुदीअ-मंशे कधं ण हग्गे मधुलश्शलेत्ति ? ॥ १४ ॥

(हिङ्गूज्ज्वलं दत्तमरीचचूर्णं व्याघारितं तैलघृतेन मिश्रम् ।

ठम्' इत्यमरः । उज्ज्वला=सहिता, जीरकसहिता भद्रमुस्तेति जीरकभद्रमुस्ता 'शाकपार्थिवादीनाम्' इत्युत्तरपदस्य लोपः । 'जीरको जरणो जाजी' इत्यमरः । (जीरा) । 'स्याद्भद्रमुस्तको गुन्द्रा' इति चामरः । (नागरमोथा) । वचायाः= उग्रगन्धायाः 'वचोग्रगन्धा षड्ग्रन्था गोलोमी शतपर्विका' इत्यमरः । (घुड़वच) । ग्रन्थि=पर्व (पोर) । गुडेन सहिता शुण्ठी=(सोंठ) च एषा=बहुद्रव्यसम्मिश्रणरूपा, गन्धयुक्तिः गन्धवत्पदार्थयोगः । मया सेविता=भुक्ता, तर्हि कथं नाहं मधुरस्वरो भवेयमिति शेषः । यद्यप्यायुर्वेदनिकाये कापि नैतदौषधं स्वरमाधुर्यविधायि लिखितं तथापि शकारवचनत्वादपार्थकमपि सार्थकमेव । उपजातिर्वृत्तम् ।।

सरलार्थः—प्रभूतहिङ्गुसहिता, जीरकयुक्ता भद्रमुस्ता (नागरमोथा), वचानामकस्य पर्वभागः, गुडमिश्रिताशुण्ठी सुगन्धिद्रव्यविशेषमिश्रिता मया भुक्ता, अतः अहं केन हेतुना सुकण्ठः न भवेयम्, अर्थात् मधुरस्वरत्वावाप्तये सचेष्टोऽहमिति भावः ।।

विट इति—भवान् गन्धर्व एवेत्यत्र नास्ति सन्देहलवोऽपीत्याशयः ।

अन्वयः—हिंगूज्ज्वलम् दत्तमरीचचूर्णम् तैलघृतेन मिश्रम् व्याघारितम् परभृतीयमांसम् मया भुक्तम् कथम् नाहम् मधुरस्वर इति ।

हिंगूज्ज्वलमिति—हिङ्गुना उज्ज्वलम्=शोभायमानम् दत्तम्=क्षिप्तम् मरी-

---

विद्वन् ! मैं पुनः गाता हूँ (गाता है) भाव ! भाव ! जो कुछ मैंने गाया उसे आपने सुना ?

विट—क्या कहते हैं ? आप गायक हैं ।

शकार—मैं गायक क्यों नहीं हूँ ?

मैंने हींग से सुशोभित तथा मरीच के चूर्णयुक्त तेल और घी में बघारा हुआ कोकिल का मांस खाया है । इसलिये मेरा स्वर मधुर क्यों नहीं हो सकता है ?

भुक्तं मया परभृतीयमांसं कथं नाहं मधुरस्वर इति ॥ १४ ॥

भावे ! अज्जवि चेड़े णाअच्छदि । (भाव ! अद्यापि चेटो नागच्छति)

विटः—स्वस्थो भवतु भवान्, सम्प्रत्येव आगमिष्यति)

(ततः प्रविशति प्रवहणाधिरूढा वसन्तसेना चेटश्च)

चेटः—भीदे क्खु हग्गे । मज्झण्हिके शुज्जे । मा दाणिं कुविदे लाअशाल-शण्ठाणे हुविश्शदि । ता तुलिदं वहामि । जाध, गोणा ! जाध । (भीतः खल्वहम् । माध्याह्निकः सूर्यः । मा इदानीं कुपितो राजश्यालसंस्थानो भविष्यति । तत् त्वरितं वहामि । यातम्, गावौ यातम्) ।

वसन्त—हद्धी ! हद्धी ! ण क्खु वड्ढमाणअस्स अअं सरसंजोओ,

चानां चूर्णं यस्मिंस्तत्, तैलेन सहितं घृतम् 'शाकपार्थिवादीना'मित्युत्तरपदलोपः, तेन मिश्रम् = मिलितम् (सत्) व्याघारितम् = दर्वीपरिघट्टनेन पाचितम्, परभृतस्य इदं परभृतीयम् परभृतशब्दाद् घ प्रत्ययः । मांसम् = कोकिलमांसम् मया भुक्तम्, अतः कथन्नाहं मधुरस्वर इति भवेयम् । एतदपि नायुर्वेदसम्मतं तथापि शकारवचनत्वाद्विनोदकरमेव । उपजातिर्वृत्तम् ॥ १४ ॥

सरलार्थः—प्रभूतहिङ्गुसुरभीकृतम् निक्षिप्तमरीचचूर्णं, तैलयुक्तघृतेन सिक्तम्, कोकिलसम्बन्धि मांसम् मया सेवितम्, अतः कथन्नाहं सुस्वरो भवेयम्, परमसुस्वरकोकिलमांसभक्षणात्परमसुस्वरत्वस्यावश्यम्भावित्वादिति भावः ॥ १४ ॥

विट इति—स्वस्थः = प्रकृतिस्थः (होश में)

चेट इति—भीतः खल्वहम् = गमनविलम्बनाद् राजश्यालकर्तृकक्रोधानुमानेनातित्रस्तः ।

वसन्त इति—अयम् = वृषभकालने 'यातं गावौ यातम्' इत्याकारकः । स्वर-

---

भाव ! अभी तक चेट नहीं आ रहा है ।

विट—आप प्रकृतिस्थ हो लें, चेट अब शीघ्र ही आवेगा ।

(इसके बाद गाड़ी पर आरूढ़ वसन्तसेना और चेट आते हैं)

चेट—मैं भयभीत हो गया हूँ । दोपहर का सूर्य । कहीं राजश्यालक संस्थान मुझ पर क्रुद्ध न हो जांय । अतः जल्दी हाँकता हूँ ! बढ़े चलो बैलो । बढ़े चलो ।

वसन्तसेना—हाय ! हाय !! यह वर्धमानक का स्वर संयोग नहीं मालूम पड़ता है । यह क्या बात है ? क्या वर्द्धमानक की गाड़ी हाँकने की थकावट मिटाने के लिए आर्य चारुदत्त ने दूसरी गाड़ी और दूसरा गाड़ीवान भेजा है ?

किं ण्णेदं ? । किं ण क्खु अज्जचारुदत्तेण वाहणपडिस्समं परिहरन्तेण अण्णो मणुश्शो अण्णं पवहणं पेसिदं भविस्सदि ? फुरदि दाहिणं लोअणं वेवदि मे हिअअं, सुण्णाओ दिसाओ, सव्वं ज्जेव विसंठुलं पेक्खामि । (हा धिक् ! हा धिक् ! न खलु वर्द्धमानकस्यायं स्वरसंयोगः । किन्नु इदम् ? किं खलु आर्यचारुदत्तेन वाहनपरिश्रमं परिहरता अन्यो मनुष्योऽन्यत् प्रवहणं प्रेषितं भविष्यति ? । स्फुरति दक्षिणं लोचनम्, वेपते मे हृदयम्, शून्याः दिशः, सर्वमेव विसंष्ठुलं पश्यामि)

शकारः—(नेमिघोषमाकर्ण्य) भावे ! भावे ! आगदे पवहणे । (भाव ! भाव ! आगतं प्रवहणम्)

विटः—कथं जानासि ?

शकारः—किं ण पेक्खदि भावे ? बुड्ढशूअले विअ घुलघुलाअमाणं लक्खीअदि । (किं न प्रेक्षते भावः ? वृद्धशूकर इव घुरघुरायमाणं लक्ष्यते)

विटः—(दृष्ट्वा) साधु लक्षितम् । अयमागतः ।

संयोगः = कण्ठध्वनिः । दक्षिणं लोचनं स्फुरति = स्त्रीणामनिष्टसूचकमेतदित्यर्थः । विसंष्ठुलम् = विपरीतम् ।

शकार इति—नेमिः = चक्राधारः 'चक्राधारः प्रधिर्नेमिरि'त्यमरः । चिपिटाकारः चक्रप्रान्तलग्नः लोहपत्रमयः वस्तुविशेषः ('हाल' इति भाषायाम्) तस्य घोषम् = शब्दम् ।

शकार इति—घुरघुरायमाणम् = 'घुर घुर' इत्यव्यक्तं शब्दं करोतीति विग्रहे घुरघुरशब्दात् 'लोहितडाज्भ्य' इति क्यष् । 'वा क्यषः' इति परस्मैपदस्य वैकल्पिकत्वात्पक्षे आत्मनेपदम् घुरघुरायते, ततः शानचि मुकि च रूपम् । वृद्धशूकर इव = मुस्ताहरणार्थं भूमिं विलिखन् शूकरः 'घुर घुर' इति शब्दं करोतीति प्रसिद्धम् । तत्रापि वृद्धः अतिशयेन घुरघुरायते ।

मेरी दाहिनी आँख फड़क रही है, मेरा हृदय काँप रहा है, दिशाएँ शून्य हो रही हैं, अरे ! सभी प्रतिकूल ही देख रही हूँ ।

शकार—(गाड़ी की आवाज सुनकर) विद्वन् ! विद्वन् !! गाड़ी आ गई ।

विट—कैसे जानते हो ।

शकार—क्या आप नहीं देख रहे हैं ? बूढ़े सुअर की तरह घुर-घुर शब्द मालूम पड़ रहा है ।

विट—(देखकर) ठीक देखा । यह गाड़ी आ गई ।

शकारः—पुत्तका ! थावलका ! चेडा ! आगदे शि ? । (पुत्रक । स्थावरक ! चेट ! आगतोऽसि ?)

चेटः—(अथ किम्)

शकारः—पवहणे वि आगदे ? (प्रवहणमप्यागतम् ?)

चेटः—अध इं । (अथ किम्)

शकारः—गोणा वि आगदे । (गावावपि आगतौ ?)

चेटः—अध इं (अथ किम्)

शकारः—तुमं पि आगदे ? (त्वमपि आगतः ?)

चेटः—(सहासम्) भट्टके ! अहं पि आगदे । (भट्टारक ! अहमप्यागतः)

शकारः—ता पवेशेहि पवहणं । (तत् प्रवेशय प्रवहणम्)

चेटः—कदलेण मग्गेण ? । (कतरेण मार्गेण ?)

शकारः—एदेण ज्जेव पाआलखण्डेण । (एतेनैव प्राकारखण्डेन)

चेटः—भट्टके ! गोणा मलेन्ति, पवहणे वि भज्जेदि, हग्गे वि चेडे

चेट इति—कतरेण = द्वयोर्मार्गयोर्मध्ये कतरेणेति प्रश्नः । मार्गद्वयस्यानुमानं भवत्यनयोक्त्या ।

शकार इति—प्राकारखण्डेन = अल्पोच्चप्राकारभागेन ।

चेट इति—प्राकारखण्डेन प्रवेशने गावौ म्रियेते = बलेनारोहणेऽपि पुनः पतनात् मरिष्येते । एवं सर्वं ज्ञेयम् ।

शकार—पुत्रक ? स्थावरक ! चेट ! तुम आ गये ?

चेट—हाँ, आ गया ।

शकार—गाड़ी भी आ गई ?

चेट—हाँ गाड़ी भी आ गई ।

शकार—बैल भी आ गए ?

चेट—हाँ, बैल भी आ गए ।

शकार—तुम भी आ गए ?

चेट—(हँसकर) हाँ स्वामिन् ! मैं भी आ गया ।

शकार—तब गाड़ी ले आओ ।

चेट—किस रास्ते से ?

शकार—इस चहारदीवारी पर से ।

चेट—स्वामिन् ! बैल मर जाँयगे, गाड़ी टूट जायगी. और मैं भी मर जाऊँगा ।

मलामि । (भट्टारक ! गावौ म्रियेते, प्रवहणमपि भज्यते, अहमपि चेटो म्रिये)

शकारः—अले लाअशालए हग्गे; गोणा मले, अवले कीणिश्शं, पवहणे भग्गे अवलं घड़ाइश्शं, तुमं मले अण्णे पवहणवाहके हुविश्शदि । (अरे ! राजश्यालकोऽहम्; गावौ मृतौ, अपरौ क्रेष्यामि । प्रवहणं भग्नम् अपरं घटयिष्यामि; त्वं मृतः, अन्यः प्रवहणवाहको भविष्यति)

चेटः—शव्वं उववण्णं हुविश्शदि, हग्गे अत्तणकेलके ण हुविश्शं । (सर्वमुपपन्नं भविष्यति, अहमात्मीयो न भविष्यामि)

शकारः—अले ! शव्वं पि णश्शदु पाआलखण्डेण पवेशेहि पवहणं । (अरे ! सर्वमपि नश्यतु, प्राकारखण्डेन प्रवेशय प्रवहणम्)

चेटः—विभज्ज ले पवहण ! शमं शामिणा विभज्ज, अण्णे पवहणे भोदु । भट्टके गदुअ णिवेदेमि । (प्रविश्य) कधं ण भग्गे ? भट्टके ! एशे उवत्थिदे पवहणे । (विभङ्ग्धि, रे प्रवहण ! समं स्वामिना विभङ्ग्धि, अन्यत् प्रवहणं भवतु, भट्टारकं गत्वा निवेदयामि । कथं न भग्नम् ? भट्टारक ! एतदुपस्थितं प्रवहणम्)

शकार इति—गावौ मृतौ चेत्स्याताम् इति भावः । एवं सर्वत्र ।

चेट इति—आत्मीयः=एतच्छरीरसम्बन्धी, 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च' इत्यमरः । 'गहादिभ्य' इत्यनेन आत्मञ्छशब्दात् छः तस्य ईयादेशे आत्मीय इति ।

चेट इति—विभङ्ग्धि = विशेषेण भग्नं भव । स्वामिना समं स्वामी (शकारः) अपि भग्नो भवतु । अस्मिन् प्रहवणे भग्ने सति अन्यत्प्रवहणं भवत्विति स्वामिनं निवेदयामि ।

शकार—अरे ! मैं राजा का साला हूँ । बैल मर जांयगे तो दूसरे खरीद लेंगे । गाड़ी टूट जायगी तो दूसरी बनवा लूँगा । तुम मर जाओगे तो दूसरा गाड़ीवान रख लूँगा ।

चेट—सभी कुछ प्राप्त हो सकेंगे, किन्तु मैं आत्मीय नहीं मिलूँगा ।

शकार—अरे ! सब कुछ नष्ट हो जाने दो, तुम इसी टीले पर से चलो ।

चेट—बिलकुल भग्न हो जा, गाड़ी । शकार के साथ यह गाड़ी टूट जाय, दूसरी गाड़ी हो जायगी; मैं शकार से निवेदन करता हूँ । (आकर) अरे ? गाड़ी भग्न क्यों नहीं हुई ? स्वामिन् गाड़ी आ गई ।

शकारः—ण छिण्णा गोणा ? ण मला लज्ज ? तुमं पि ण मले ? । (न छिन्नौ गावौ ? न मृता रज्जवः ? त्वमपि न मृतः ?)

चेटः— अध इं । (अथ किम्)

शकारः—भाव ! आअच्छ, पवहणं पेक्खामो । भावे ! तुमं पि मे गुलु पलमगुलु पेक्खिअशि शादलके अब्भमन्तलके त्ति पुशक्कलणीएत्ति तुमं दाव पवहणं अग्गदो अलिलुह । (भाव ! आगच्छ, प्रवहणं पश्यावः । भाव ! त्वमपि मे गुरुः परमगुरुः प्रेक्ष्यसे, सादरकः अभ्यन्तरक इति पुरस्करणीय इति त्वं तावत् प्रवहणमग्रतः अधिरोह)

विटः—एवं भवतु । (इत्यारोहति)

शकारः—अधवा चिट्ठ तुमं । तुह वप्पकेलके पवहणे ? जेण तुमं अग्गदो अहिलुअशि । हग्गे पवहणशामी अग्गदो पवहणं अहिलुहामि ! (अथवा तिष्ठ त्वम् । तव वप्रीयं प्रवहणम् ? येन त्वमग्रतः अधिरोहसि । अहं प्रवहणस्वामी अग्रतः प्रवहणमधिरोहामि)

शकार इति—'मृत्तौ गावौ छिन्ना रज्जव' इति वक्तव्ये शकारत्वाद् व्यत्ययेन कथयति छिन्नौ गावावित्यादि ।

शकार इति—त्वमपि = त्वमेव, एवार्थे अपिशब्दः । सादरकः = आदरार्हः अभ्यन्तरकः = अन्तरङ्गः । अतः पुरस्करणीयः = अग्रपूज्यः ।

शकार इति—वप्रस्य = तातस्य, इदम् = वप्रीयम् प्रवहणं किम् इति काकुः । 'वप्रस्ताते स्त्रियां क्षेत्रे चरे रेणौ च रोधसि' इति त्रिकाण्डशेषः । गहादेराकृतिगणत्वात् वप्रशब्दात् 'गहादिभ्यश्च' इति शैषिकः छप्रत्ययः ।

शकार—बैल नहीं टूटे ? रस्सियाँ नहीं मरीं ? और तुम भी नहीं मरे ?

चेट—हाँ, सब बच गये ।

शकार—विद्वन् ! आइये गाड़ी देखें । भाव ! तुम मेरे गुरु हो, परम गुरु कहे जाते हो । तुम आदरणीय हो, अन्तरङ्ग हो एवं माननीय हो, अतः तुम्हीं पहले गाड़ी पर चढ़ो ।

विट—ऐसा ही सही । (गाड़ी पर चढ़ता है)

शकार—अथवा, तुम ठहरो । क्या तुम्हारे बाप की गाड़ी है ? जो तुम मुझ से पहले गाड़ी पर चढ़ते हो ? मैं गाड़ी का मालिक हूँ, अतः इस पर पहले मैं चढ़ता हूँ ।

विटः—भवानेवं ब्रवीति ।

शकारः—जइ वि हग्गे एवं भणामि, तधावि तुह एशे आदले अहिलुह भट्टकेत्ति भणिदुं । (यद्यपि अहमेवं भणामि, तथापि तव एष आदरः 'अधिरोह भट्टारक !' इति भणितुम्)

विटः—आरोहतु भवान् ।

शकारः—एशे शम्पदं अहिलुहामि । पुत्तका ! थावलका ! चेड़ा ! पलिवत्तावेहि पवहणं । (एष साम्प्रतमधिरोहामि । पुत्रक ! स्थावरक ! चेट ! परिवर्त्तय प्रवहणम्)

चेटः—(परावर्त्य) अहिलुहदु भट्टालके । (अधिरोहतु भट्टारकः)

शकारः—(अधिरुह्यावलोक्य च शङ्कां नाटयित्वा त्वरितमवतीर्य विटं कण्ठे अवलम्ब्य) भावे ! भावे ! मलेशि मलेशि पवहणाधिलूढ़ा लक्खशी चोले वा पडिवशदि । जइ लक्खशी तदा उभे वि मूशे, अध चोले तदा

विट इति—अग्रतः प्रवहणारोहणाय भवानेव मां प्रेरयति अतोऽहमग्रतः अधिरोढुं प्रवृत्तः, अतोऽत्र न मे कश्चिदपराध इत्याशयः ।

शकार इति—'हे भट्टारक ! प्रभो ! त्वमेवाग्रे प्रवहणमधिरोहे'ति त्वम्=(विटः) माम्—(शकारम्) निवेदय इत्युपदेशार्थं त्वामग्रेऽधिरोहणार्थं प्रेरयामीत्याशयः ।

शकार इति—त्वम् (विटः) अहम् =शकारः, इमौ इति द्वौ । राक्षसी चेत्तदा मुषितौ, चौरश्चेत्तदा खादितौ, अत्रापि राक्षसी चेत्तदा खादितौ,, चौरश्चेत्तदा मुषिताविति युज्यते । किन्तु शकारोक्तत्वाद्यथोक्तमेव साधु । आवयोरेव प्राणभयश्च चेटस्तु तत्परिचित एवानुमीयते यतोऽद्यापि जीवन्नेवात्रागत इति भावः ।

विट—आप ही ने तो ऐसा कहा है ?

शकार—यद्यपि मैं ही कह रहा हूँ कि आप पहले गाड़ी पर चढ़ें, फिर भी आपका यह कहना कर्तव्य है कि 'स्वामी पहले आप चढ़ें ।'

विट—आप ही पहले चढ़ें।

शकार—अच्छा अब मैं चढ़ता हूँ । पुत्रक ! स्थावरक ! चेट ! गाड़ी घुमाओ ।

चेट—(घुमाकर) मालिक, चढ़िए ।

शकार—(चढ़कर और देखकर, शंका का अभिनय करता हुआ उतर कर एवं विट के कंधे से लिपट कर) मित्र ! मित्र ! मर गये, मर गये ! गाड़ी

उभे वि खज्जे। (भाव! भाव! म्रियसे म्रियसे। प्रवहणाधिरूढा राक्षसी चौरो वा प्रतिवसति। यदि राक्षसी, तदा उभावपि मुषितौ; अथ चौरः तदा उभावपि खादितौ।

विटः—न भेतव्यम्। कुतोऽत्र वृषभयाने राक्षस्याः सञ्चारः। मा नाम, ते मध्याह्नार्क-ताप-च्छिन्न-दृष्टः स्थावरकस्य सकञ्चुकां छायां दृष्ट्वा भ्रान्तिरुत्पन्ना ?

शकारः—पुत्तका: ! थावलका ! चेड़ा ! जीवेशि ?। (पुत्रक ! स्थावरक ! चेट ! जीवसि ?)

चेट—अध इं। (अथ किम्)

शकारः—भावे ! पवहणाधिलूढा इत्थिआ पड़िवशदि। ता अवलोएहि। (भाव ! प्रवहणाधिरूढा स्त्री प्रतिवसति। तदवलोकय)

विटः—कथं स्त्री ! ।

अवनतशिरसः प्रयाम शीघ्रं पथि वृषभा इव वर्षताडिताक्षाः।

विट इति—वृषभयाने = प्रवहणे· राक्षस्याः = गवादिप्राणिभक्षिकायाः (इति भावः) सञ्चारः = सम्भवः। यद्यत्र राक्षसी स्यात्तदा वृषभौ वाहकश्च भक्षिताः स्युरित्यभिप्रायः। सम्भावयामि तरुणारुणकिरणोपहतदृष्टिकस्य तव बद्धकञ्चुकस्थावरकगात्रच्छायां दृष्ट्वा राक्षस्यादिविषयको भ्रम उत्पन्नः॥

अन्वयः—पथि वर्षताडिताक्षाः वृषभाः इव अवनतशिरसः (वयम्) शीघ्रम्

पर चढ़कर राक्षसी या चोर बैठा हुआ है। यदि राक्षसी है तो हम दोनों को लूट लेगी और यदि चोर है तो दोनों को खा जायगा।

विट—डरो नहीं। इस बैलगाड़ी पर राक्षसी का आना कहाँ सम्भव हो सकता है। दोपहर के सूर्य के ताप से तुम्हारी आँख चकाचौंध हो गई है, अतः कपड़ा पहने हुए स्थावरक को देखकर तुम्हें (राक्षसी या चोर का) भ्रम उत्पन्न हो गया है।

शकार—पुत्रक ! स्थावरक ! चेट ! क्या तुम जीवित हो ?

चेट—हाँ।

शकार—भाव ! गाड़ी पर चढ़कर स्त्री बैठी है। आप देखें।

विट—क्या स्त्री ?

मार्ग में वर्षा के जल से ताडित आँख वाले बैल के समान मैं सिर नीचे

मम हि सदसि गौरवप्रियस्य कुलजनदर्शनकातरं हि चक्षुः ॥१५॥

वसन्त—(सविस्मयमात्मगतम्) कधं मम णअणाणं आआसअरो ज्जेव राअस्सालो ! ता संसइदम्हि मन्दभाआ। एसो दाणिं मम मन्दभाइणीए ऊसरक्खेत्तपाड़िदो विअ वीअमुट्ठी णिप्फलो इध आगमणो संवुत्तो। ता किं एत्थ करइस्सम् ?। (कथं मम नयनयोरायासकर एव राजश्यालः। तत् संशयितास्मि मन्दभागा। एतदिदानीं मन्दभागिन्या ऊषरक्षेत्रपतित इव बीज-मुष्टिः निष्फलमिहागमनं संवृत्तम्। तत् किमत्र करिष्यामि ?)

प्रयाम, हि सदसि गौरवप्रियस्य मम चक्षुः कुलजनदर्शनकातरम् हि।

अवनतेति—पथि = मार्गे वर्षैः = वृष्टिभिः ताडिते = ताडितत्वादाकुले अक्षिणी येषां ते (तादृशाः वृषभा इव अवनतानि=परस्त्रीदर्शनसंकोचेन नम्रीभूतानि शिरांसि येषां ते तादृशा वयं शीघ्रम्=झटिति प्रयाम=इतोऽपसराम, हि—यतः, सदसि गौरवप्रियस्य=सभायां लब्धप्रतिष्ठस्य, मम, चक्षुः, कुलजनस्य = सत्कुलोत्पन्नस्त्रीजनस्य दर्शने = अवलोकने कातरम्=लज्जासङ्कोचाभिभूतत्वादसमर्थम् हि=निश्चयेन परस्त्री-प्रेक्षिणं मां सभ्या उपवहसिष्यन्ति अतोऽत्र नाहमुत्सहे इत्याशयः। अत्र चक्षुषः कातरत्वरूपकारणेन अवनतशिरःप्रयाणरूपकार्यस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासः। वृषभा इवेति श्रौती उपमा चेत्यनयोः सङ्करः। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ १९ ॥

सरलार्थः—स्वगौरवरक्षणाय अधोमुखाः सन्तः मार्गे वर्षणविन्दुनिरुद्धनयना वलीवर्दा इव सत्वरमितः अपगच्छामः, साधुजनसमाजे बहुमानाकाङ्क्षिणो मम नेत्रं कुलवधूदर्शनविमुखम्, कुलवधूदर्शनस्य सज्जनसमाजगर्हितत्वादिति भावः ॥१५॥

वसन्त इति—सविस्मयम्=साश्चर्यम् 'विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यमि'त्यमरः। (चारुदत्त-समीपे तत्प्रवहणमारुह्य गच्छन्त्याः मम कथं शकारप्रवहणारोहणं तत्साक्षात्कारश्चे-त्याश्चर्यबीजम्) संशयितास्मि = तदश्लीलप्रार्थनाप्रतिषेधेन प्राणभयाज्जीवने सन्दि-ग्धास्मीति भावः। ऊषरक्षेत्रम् = क्षारमृत्तिकामयभूमिः। 'स्यादूषः क्षारमृत्तिका' इत्यमरात् ऊषः=क्षारमृत्तिका, तां राति=गृह्णाति, इत्यूषरम्। ऊषोपपदात् राधातोः

करके शीघ्र चलता हूँ। मैं साधु-समाज में गौरवान्वित रहना चाहता हूँ। मेरी आंखें कुलस्त्रियों को देखने में नीचे झुक जाती हैं। अतः मैं उसे देखने में असमर्थ हूँ ॥ १५ ॥

वसन्तसेना—(विस्मयपूर्वक अपने मन में) राजश्यालक मेरी आँखों का काँटा आ गया। अतः मैं अभागिनी सन्देहापन्न हो गई हूँ। तो इस समय मैं अभागिनी ऊषर भूमि में मुट्ठी भर बीज बो देने के तुल्य निष्फल हो गई हूँ। तब अब क्या करना उचित है ?

शकारः—कादले क्खु एशे बुड्ढचेड़े पवहणं णावलोएदि। भावे! आलोएहि पवहणं। (कातरः खल्वेषः वृद्धचेटो प्रवहणं नावलोकयति। भाव! आलोकय प्रवहणम्)

विटः—को दोषः। भवत्वेवं तावत्।

शकारः—कधं शिआला उड्डेन्ति वाअशा वच्चेन्ति। ता जाव भावे अक्खीहिं भक्खीअदि, दन्तेहिं पेक्खिअदि, दाव हग्गे पलाइश्शं। (कथं शृगाला उड्डयन्ते, वायसा व्रजन्ति। तत् यावत् भावः अक्षिभ्यां भक्ष्यते, दन्तैः प्रेक्ष्यते, तावदहं पलायिष्ये)

विटः—(वसन्तसेनां दृष्ट्वा सविषादमात्मगतम्) कथमये मृगी व्याघ्रमनुसरति। भोः कष्टम्।

'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कः। तत्र पतितः = उप्तः बीजमुष्टिः=मुष्टिपरिमितधान्यादिबीजम्। तद्वत् ममेहागमनं निष्फलम्। श्रौती उपमा।

शकार इति—वृद्धत्वात् कातरत्वाच्च भृत्यः प्रवहणं नावलोकयतीति भावः।

शकार इति—'शृगाला व्रजन्ति' वायसा उड्डयन्ते, दन्तैः भक्ष्यते, अक्षिभ्याम् प्रेक्ष्यते, इति क्रमो ज्ञेयः। अक्रमेणाभिधानं शकारवचनत्वात्।

विट इति—'मृगी व्याघ्रमनुसरति' इति कथनेन शकारतो भाविनीं वसन्तसेनाया महाविपत्तिं सूचयति। अत्राप्रस्तुतव्याघ्रमृगीवर्णनात्, प्रस्तुतकारवसन्तसेनाप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः।

अन्वयः—हंसी शरच्चन्द्रप्रतीकाशम् पुलिनान्तरशायिनम् हंसं परित्यज्य वायसम् समुपस्थिता।

शकार—यह भयभीत बूढा चेट गाड़ी नहीं देखता है। विद्वन्! तुम गाड़ी देखो।

विट—इसमें क्या हर्ज है। मैं देखता हूँ।

शकार—क्यों सियार उड़ रहे हैं और कौए दौड़ रहे हैं? अतः जब तक (चोर या राक्षसी) मुझे आँखों से नहीं खा लेती तथा दाँतों से नहीं देख लेती, तबतक मैं भाग जाता हूँ।

विट—(वसन्तसेना को देखकर, दुःखपूर्वक अपने मन में) अरे! यह हरिणी व्याघ्र का पीछा क्यों कर रही है? अरे! दुःख है—

शरच्चन्द्रप्रतीकाशं पुलिनान्तरशायिनम् ।
हंसी हंसं परित्यज्य वायसं समुपस्थिता ॥ १६ ॥

(जनान्तिकम्) वसन्तसेने ! न युक्तमिदं नापि सदृशमिदम् ।

पूर्वं मानादवज्ञाय द्रव्यार्थे जननीवशात् ।

शरच्चन्द्रेति—हंसी=पक्षिणी शरदश्चन्द्रः=निर्मलश्चन्द्रः (शरत्काले आकाशस्य निर्मलत्वेन चन्द्रस्यापि तथात्वात्) अत्र षष्ठीसमासः । तस्य प्रतीकाशम् = तुल्यम् 'निभसङ्काशनीकाश-प्रतीकाशोपमादयः' इत्यमरः । अतिदिव्यमित्याशयः । पुलिनम् = नद्यास्तोयोत्थितभागः 'तोयोत्थितं तत्पुलिनम्' इत्यमरः । तस्य अन्तरे = अभ्यन्तरे शायिनम् (एतेन पवित्रत्वमतिसुरभितत्वञ्च हंसस्य सूच्यते) 'सुप्यजातौ णिनि'रिति णिनिः । हंसम्=प्रसिद्धं पक्षिविशेषम् परित्यज्य (दुर्भाग्येनेति शेषः) वायसम् = काकम् समुपस्थिता = संगता अर्थात् यशोराशिभासुरमपि निर्भयस्थानस्थायिनं चारुदत्तं विहाय वसन्तसेना क्रूरकर्माणमनर्हं गर्हास्पदमापत्तिमूलं शकारं सङ्गतेति भावः । अत्राप्रस्तुतहंसीहंसरूपात्समात् प्रस्तुतवसन्तसेनाशकारयोः समयोः प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा । शरच्चन्द्रप्रतीकाश'मित्यंशे लुप्तोपमा चानयोस्सङ्करः । अभिप्रायस्तु सादृश्यादद्भुतार्थस्य कल्पना' इति दर्पणोक्तेरभिप्रायाख्यः नाट्यलक्षणम् ॥

सरलार्थः—मराली, शारदशशिसन्निभं, तोयोत्थितस्वच्छमृदुसैकतभूमिमध्यवासिनम्, मरालं विसृज्य काकं समागता, वसन्तसेनायाः शकाराभिसरणं चारुदत्तपरित्यागानन्तरमत्यन्तमनुचितमिति भावः ॥ १६ ॥

जनेति—इयम्=शकारसमीपे आगमनम्, न युक्तम् = न उचितम् न योग्यम्= न तव प्रतिष्ठानुरूपम् (उभयत्रापि शकारस्याधमत्वम् वसन्तसेनाया उत्तमोत्तमत्वं कारणं ज्ञेयम्) ।

अन्वयः—मानात् पूर्वम् अवज्ञाय, द्रव्यार्थे जननीवशात् अशौण्डीर्यस्वभावेन वेशभावेन मन्यते ।

अयुक्तमेव द्रढयति—पूर्वमिति—मानात्=आत्मनः प्रतिष्ठागर्वात् पूर्वम् शकारम्

शरत्कालीन चन्द्रमा के समान शुभ्र एवं नदी की रेती पर स्थिति हंस को त्याग कर, हंसी कौए के पास आ पहुँची है । (अर्थात् निर्मल यशवाले एवं निरापद स्थान पर स्थित चारुदत्त को छोड़कर वसन्तसेना घृणित शकार के पास पहुँच गई है) ॥ १६ ॥

(धीरे से) वसन्तसेने ! यह उचित नहीं है, यह तुम्हारे योग्य नहीं है । 'पहले मानपूर्वक शकार का अनादर करके, पुनः द्रव्य के लोभ से माता के कहने पर'—

वसन्त—ण । (इति शिरश्चालयति) (न)

विटः—अशौण्डीर्यस्वभावेन वेशभावेन मन्यते ॥ १७ ॥

ननूक्तमेव मया भवतीं प्रति—'सममुपचर भद्रे ! सुप्रियञ्चाप्रियञ्च' !

वसन्त—पवहणविपज्जासेण आगदा सरणागदम्हि । (प्रवहणविपर्यासेनागता शरणागताऽस्मि)

विटः—न भेतव्यं न भेतव्यम् । भवत्वेनं वञ्चयामि । (शकारमुपगम्य) काणेलीमातः ! सत्यं राक्षस्येवात्र प्रतिवसति ।

(प्रार्थ्यमानमपीति शेषः) अवज्ञाय = अनादृत्य (त्वया सम्प्रति) द्रव्यार्थे = द्रव्यनिमित्तम् । निमित्ते सप्तमी । जननीवशात् = मातुराज्ञावशात्, अशौण्डीर्यम् = अनौदार्यम् स्वभावो यस्मिन् तादृशेन वेशभावेन = वेश्याजनाश्रयस्वभावेन मन्यते = पूज्यत्वेन (शकार इति शेषः) स्वीक्रियते । केवल धनलोभेन पुरुषाधमस्वीकरणं न तव स्वरूपानुरूपमिति भावः । अत्र वक्तुर्विटस्य वसन्तसेनापमानजनितविषादेनातिव्याकुलतया त्वयेति प्रधानीभूतकर्तृपदमपहाय वदतोऽपि तदुक्तौ न न्यूनपदताया दोषः शङ्क्यः—'उक्तावानन्दमग्नादे'रिति दर्पणीयवाक्यघटकादिपदेन विषादस्यापि संग्रहेण तस्य गुणत्वस्वीकारात् ॥ १७ ॥

सरलार्थः—प्रावृट्काले आत्मन उत्तमस्वामिमानात् प्रत्याख्याय अधुना मातुरधीनतया बहुधनलाभार्थमनुदारस्वभावसम्पादकेन वेश्यात्वेन हेतुना, शकारस्यान्तिके स्वयमेवोपस्थानं न्याय्यं सम्भाव्यते, उत्तमकुलप्रसूतानान्तु पूर्वं प्रत्याख्यानं पश्चात्तदन्तिकगमनञ्चैव सम्भाव्यते—इति भावः ॥ १७ ॥

वसन्तसेना—नहीं । (सिर हिलाती है)

विट—'वेश्याभाव के अनुकूल अनुदार स्वभाव के कारण शकार के निकट पुनः आई है' ॥ १७ ॥

मैं तो तुम्हारे प्रति पहले ही कह चुका हूं—'हे भद्रे ! रसिक और अरसिक नायक से तुम समान व्यवहार करो ।'

वसन्तसेना—गाड़ी के अदल-बदल हो जाने से मैं यहां आ पहुंची ! मैं आप की शरण में आ गई हूं; मेरी रक्षा कीजिए ।

विट—मत डरो, मत डरो । मैं शकार को ठगता हूं । (शकार के पास जाकर) काणेली के पुत्र ! इस पर तो सचमुच राक्षसी बैठी हुई है ।

शकारः—भावे ! भावे ! जइ लक्खशी पड़िवशदि, ता कीश ण तुमं मूशेदि ? अध चोल, ता किं ण तुमं भक्खिदे ? (भाव ! भाव ! यदि राक्षसी प्रतिवसति, तत् केन न त्वां मुष्णाति ? अथ चौरः तत् किं न त्वं भक्षितः ?)

विटः—किमनेन निरूपितेन। यदि पुनरुद्यानपरम्परया पद्भ्यामेव नगरीमुज्जयिनीं प्रविशावः, तदा को दोषः स्यात् ?।

शकारः—एव्वं किदे किं भोदि ? (एवं कृते किं भवति ?)

विटः—एवं कृते व्यायामः सेवितो धुर्याणाञ्च परिश्रमः परिहृतो भवति।

शकारः—एवं भोदु। थावलआ ! चेड़ा। णेह पवहणं। अधवा चिट्ठ चिट्ठ, देवदाणं वम्हणाणं च अग्गदो चलणेण गच्छामि। णहि णहि, पवहणं अहिलुहिअ गच्छामि। जेण दूलदो मं पेक्खिअ भणिश्शन्ति, 'एशो

शकार इति—मुष्णाति = चोरयति। शकारस्वभावात् वैपरीत्येनोक्तमत्रापि यथास्थानं योज्यम्।

विट इति—अनेन = प्रवहणस्थेन जनेन, निरूपितेन = रक्षस्त्वेन चौरतया वा निर्णीतेन, किम् = किं फलम् ? (किमपि नेत्यर्थः)। उद्यानपरम्परया = उद्यानस्थतरुश्रेणीस्थमार्गेण, (इत्थं गुप्तभावेन गमनात् राक्षस्या आतपाच्च भयं न स्यादिति दर्शितम्)

विट इति—व्यायामः = शारीरिकबलवर्धकः कायिकपरिश्रमः धुर्याणाम् = धूर्वहाणाम् 'धुरो यड्ढकौ' विति यत्। 'न भकुर्च्छुरां' मित्यनेनोपधादीर्घनिषेधे रूपम्। 'धूर्वहे धुर्यधौरेयधुरीणाः'। पद्भ्यामुज्जयिनीगमनेनावयोर्व्यायामः आरोहिशून्यशकटवहनेन वृषभयोश्च परिश्रमपरिहार इति भावः।

शकार इति—भविष्यन्ति (दर्शका इति शेषः)। राष्ट्रियस्य = राज्याधिपतेः

शकार—विद्वन् ! विद्वन् !! यदि राक्षसी बैठी है, तो उसने आपको क्यों नहीं लूट लिया ? और यदि चोर है तो क्यों नहीं खा गया ?

विट—इस प्रकार के अनुमान से क्या लाभ ? यदि उपवन ही उपवन पैदल चलकर हमलोग उज्जयिनी पहुँच जाते हैं तो उसमें क्या हर्ज है ?

शकार—ऐसा करने से क्या होगा !

विट—ऐसा करने से हमलोगों के लिए व्यायाम हो जायगा और गाड़ीवान तथा बैलों की थकावट दूर हो जायगी।

शकार—ऐसा ही कीजिए। स्थावरक ! चेट ! गाड़ी ले चलो अथवा

शे लट्टिअशाले भट्टालके गच्छदि।' (एवं भवतु। स्थावरक! चेट! नय प्रवहणम्। अथवा, तिष्ठ, तिष्ठ, देवतानां ब्राह्मणानाञ्चाग्रतः चरणेन गच्छामि। नहि, प्रवहणमधिरुह्य गच्छामि। येन दूरतो मां प्रेक्ष्य गणिष्यन्ति—'एष स राष्ट्रियश्यालो भट्टारको गच्छति।')

विटः—(स्वगतम्) दुष्करं विषमौषधीकर्त्तुम्। भवतु, एवं तावत्। (प्रकाशम्) काणेलीमातः! एषा वसन्तसेना भवन्तमभिसारयितुमागता।

वसन्त—सन्तं पावं सन्तं पावं। (शान्तं पापं शान्तं पापम्)

शकारः—(सहर्षम्) भावे! भावे! मं पवलपुलिशं मणुश्शं वाशदेवकं?। (भाव! भाव! मां प्रवरपुरुषं मनुष्यं वासुदेवकम्?)

श्यालः। राष्ट्रे=राज्ये अभिषिक्तः। ('राष्ट्रावारपाराद्घखौ' इति घः। तस्य 'आयनेयी'तीयादेशे रूपम)। राष्ट्रियस्य=राज्यस्वामिनः श्यालः भट्टारकः=धनाध्यक्षः।

विट इति—स्वगतम्=स्वमनस्येव (विचारयतीति शेषः) विषम्=प्राणवियोजकं द्रव्यम् औषधीकर्त्तुम्=अनौषधमौषधं कर्तुम् (प्राणरक्षणकर्मणि नियोजयितुम इति भावः) 'कृभ्वस्तियोगे' इत्थंभूततद्भावे च्विः, 'अस्य च्वौ'वितीत्वम्। दुष्करम्=अतिकठिनम् (असम्भाव्यमिति भावः)। दुरुपपदात्कृञः 'ईषद्दुःसुषु' इति कर्मणि कृच्छ्रार्थेखल्। अत्राप्रस्तुतादोषधात् प्रस्तुतस्य शकारस्य प्रतीतेर प्रस्तुतप्रशंसालंकारः। अभिसारयितुम्=अभिसारेण=अभितः गमनेन (स्वातन्त्र्येणे'त भावः) रमयितुम्।

वसन्त इति—शान्तं पापम्=अवाच्यमेतत् 'शान्तं पापमनिर्देश्ये' इत्यभिधानात्। अतिशये द्विरुक्तिः।

शकार इति—वासुदेवकम्=वासुदेवोपमम् (माम् अभिसारयितुमागता किम्? इति शेषः)

ठहरो, ठहरो देवगण और ब्राह्मणों के आगे मैं पैदल चलूं? नहीं, नहीं, मैं गाड़ी पर चढ़ कर चलता हूँ। जिससे कि दूर ही से मुझे देखकर कहेंगे कि—'यह राजश्यालक भट्टारक आ रहे हैं।'

विट—(मन में) विष की औषधि बनाना बड़ा कठिन है। अच्छा, ऐसा हो। (प्रकट), काणेली के पुत्र! यह वसन्तसेना आप से रमण करने के लिए गुप्त रूप से आई हैं।

वसन्तसेना—अरे ऐसा कहना पाप है पाप है।

शकार—(प्रसन्नतापूर्वक) विद्वन्! विद्वन्!! प्रधान पुरुष, मनुष्य मुझ वासुदेव के पास?

विटः—अथ किम्।

शकारः—तेण हि अपुब्वा शिलि शमाशादिदा, तश्शि णाले मए लोशाद्दा, शम्पदं पादेशुं पड़िअ पशादेमि। (तेन हि अपूर्वा श्रीः समासादिता, तस्मिन् काले मया रोषिता, साम्प्रतं पादयोः पतित्वा प्रसादयामि)

विटः—साधु अभिहितम्।

शकारः—एशो पादेशुं पड़ेमि। (इति वसन्तसेनामुपसृत्य) अत्तिके! अम्बिके! शुणु मम विण्णत्ति। (एष पादयोः पतामि। हे मातः! अम्बिके! श्रृणु मम विज्ञप्तिम्)

एशो पड़ेमि चलणेशु विशालणेत्ते!
हत्थञ्ज दशणहे! तव शुद्धदन्ति!
जं तं मए अवकिदं मदणातुलेण
तं खम्मिदाशि बलगन्ति! तव म्हि दाशे॥ १८॥

(एष पतामि चरणयोर्विशालनेत्रे! हस्ताञ्जलिं दशनखे! तव शुद्धदन्ति!

शकार इति—रोषिता = रोषं गमिता, ण्यन्ताद्रुषेर्निष्ठा।

शकार इति—हे मातः! हे अम्बिके!। पौनरुक्त्यमनौचित्यञ्च शकारस्व भावोत्थितम्। अश्लीलप्रार्थनायां मातृपदप्रयोगानौचित्यं बोध्यम्।

अन्वयः—विशालनेत्रे, दशनखे! शुद्धदन्ति! एषः (अहम्) तव चरणयोः पतामि, हस्ताञ्जलिम् (अपि करोमि) मदनातुरेण मया तत् यत् अपकृतम् तत् क्षामितासि, (हे) वरगात्रि तव दासः अस्मि।

एष इति—विशाले नेत्रे = नयने यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ विशालनेत्रे = विशाल-नयने! दश नखा यस्याः सा तत्सबुद्धौ दशनखे'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादि'त्युभयत्रापि पाक्षिकङीषभावः। शुद्धाः=स्वच्छा दन्ता यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ शुद्धदन्ति 'अग्रान्त-

---

विट—हाँ, आप ही के पास।

शकार—तब तो अपूर्व लक्ष्मी प्राप्त हो गई। उस समय मैंने इसे क्रुद्ध कर दिया था, अब चरणों पर गिर कर उसे प्रसन्न करता हूँ।

विट—बहुत ठीक कहा।

शकार—यह चरणों पर गिरता हूँ। (वसन्तसेना के पास जाकर) हे माँ! अम्बिके! मेरी प्रार्थना सुनो—

हे विस्तृतलोचने! मैं तुम्हारे चरणों पर गिरता हूँ। हे दश-नख-मय

यत्तन्मया अपकृत मदनातुरेण तत् क्षामितासि वरगात्रि ! तवास्मि दासः ॥१८॥)

वसन्त—(सक्रोधम्) अवेहि, अणज्जं मन्तेशि। (इति पादेन ताडयति)
(अपेहि, अनार्यं मन्त्रयसि)

शकारः—(सक्रोधम्)

जे चुम्बिदे अम्बिकमादुकेहिं गदे ण देवाणं वि जे पणामं।
शे पाडिदे पादतलेण मुण्डे वणे शिआलेण जधा मुदङ्गे ॥१९॥
(यच्चुम्बितमम्बिकामातृकाभिर्गतं न देवानामपि यत् प्रणामम्।
तत् पातितं पादतलेन मुण्डं वने शृगालेन यथा मृताङ्गम् ॥१९॥)

शुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च' त्यस्य वैकल्पिकत्वाद् दत्रादेशाभावपक्षे रूपम्। क्षामिताऽसि =प्रयोजकेन मया प्रयोज्या कर्त्री त्वमिति शेषः। मत्कर्तृं कृत्वकचचरणप्रणिपातेन सर्वमपराधं विस्मारिताऽसीत्यर्थः। वराणि गात्राणि=शरीराणि यस्यास्तत्सम्बोधने वरगात्रि। अत्र संयोगोपधत्वेनाप्राप्तोऽपि ङीष् 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्य' इति वार्तिकेन विधीयते। रतिदानेन ममाभिलाषं पूरयेति भावः। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ १८ ॥

सरलार्थः—हे आयतनयने! अहं तव पादयोः पतामि, हे शुभ्रदशनखे? हस्ताभ्यामञ्जलिं करोमि, हे कुन्दतुल्यदन्तयुक्ते! कामार्तेन विवेकशून्यमनस्कतया शकारेण मया तस्मिन् काले यदनिष्टमाचरितम्, हे नवनीतकोमलाङ्गि! तन्मर्षिता भवसि, तव परिचारको भवामि, ममाभिलाषं सपदि पूरयेति भावः ॥ १८ ॥

वसन्त इति—अपेहि=दूरमपसर, अनार्यम्=दुराचारिजनयोग्यम्।

यदिति—यत् (मम मुण्डम्) अम्बिकामातृभिः (पौनरुक्त्यमेतत्) वात्सल्येनेति शेषः। चुम्बितम्, यत् (च) देवानाम् अपि (किमुतान्येषामित्यशयः) प्रणामम् न गतम् (मानक्षतिशङ्कयेति भावः) शृगालेन वने मृताङ्गम् (भक्षणार्थं यथा पादतले पातितं जायते तथा त्वयापि मदीयम्) तत् मुण्डम् पादतलेन

चरणवाली! एवं निर्मल दाँतों वाली! प्रिये तुम्हें हाथ जोडता हूँ। हे मनोहर अंगोंवाली वसन्तसेने! मैंने पहले कामातुर होकर जो तुम्हारा अपमान किया था, उसी की अब क्षमा माँग रहा हूँ। मैं तुम्हारा सेवक हो गया हूँ ॥ १८ ॥

वसन्तसेना—(क्रोध के साथ) दूर हटो, तुम बुरे शब्दों का उच्चारण कर रहे हो। (चरणों से मारती है)

शकार—(क्रोधपूर्वक) जिस मस्तक का प्रेम से अम्बिका ने चुम्बन किया, तथा जो मस्तक प्रणाम करने के लिए देवताओं के आगे भी नहीं झुका, उस मस्तक को, जिस प्रकार वन में शृगाल मृतक शरीर को पैरों से

अले थावलआ । चेड़ा ! कहिं तुए एशा शमाशादिदा ? । (अरे स्थावरक ! चेट । कस्मिन् त्वया एषा समासादिता)

चेटः—भट्टके ! गाम-शअलएहिं लुद्धे लाअमग्गे, तदो चालुदत्तश्श लुक्खवाडिआए पवहणं थाविअ, तहिं ओदलिअ, जाव चक्कपलिवट्टिअं कलेमि, ताव एशा पवहणविपज्जाशेण इह आलूढेत्ति तक्केमि। (भट्टक ! ग्रामशकटैः रुद्धे राजमार्गे तदा चारुदत्तस्य वृक्षवाटिकायां प्रवहणं स्थापयित्वा, तस्मिन्नवतीर्य, यावत् चक्रपरिवृत्तिं करोमि, तावदेषा प्रवहणविपर्यासे इह आरूढेति तर्कयामि)

शकारः—कधं पवहण-विपज्जाशेण आगदा, ण मं अहिशालिदुं। ता ओदल ओदल मम केलकादो पवहणादो। तुमं तं दलिद्दशात्थवाह-पुत्तकं अहिशालेशि, मम केलकाइं गोणाइं वाहेशि; ता ओदल ओदल गब्भ-दाशि ! ओदल ओदल। (कथं प्रवहणविपर्यासेनागता, न मामभिसारयितुम्। तदवतर अवतर मदीयात् प्रवहणात्। त्वं तं दरिद्र—सार्थवाह-पुत्रकमभिसारयसि, मदीयौ गावौ वाहयसि; तदवतर अवतर गर्भदासि ! अवतर अवतर)

पातितम्। अम्बिकाचुम्बितस्यापि मुण्डस्य ममेयं दुर्दशा इत्यहो महदनुचितं तवेति भावः ॥ १९ ॥

सरलार्थः—यत् मम शिरः मातृभिः वात्सल्यातिरेकात् चुम्बितम्, देवसमीपेऽपि नतभावं न प्राप्तम्, स्वापकर्षबोधकव्यापारस्यैव प्रणामपदार्थत्वात्स्वोत्कर्ष-बोधनायैवं वदतीति भावः, तच्छिरः जम्बुकेन मृतशरीरमिव चरणेन दलितम्, वसन्तसेनया पादप्रहारेणापमानितमिति सारांशः ॥ १९ ॥

शकार इति—गर्भदासी = नीचसम्बोधनमिदम् (गर्भावस्थात एव दासी)

नीचे गिराता है, उसी प्रकार तुमने अपमान करने के लिए चरणों के तलुवे से गिरा दिया ॥ १९ ॥

अरे ! स्थावरक ! चेट !! तुमने इस वसन्तसेना को कहाँ से लाया ?

चेट—'स्वामिन् ! ग्रामीण गाड़ियों से सड़क अवरुद्ध थी, उस समय मैंने अपनी गाड़ी चारुदत्त के उपवन में खड़ी कर और उस पर से उतर कर जब तक चक्र-परिवर्तन करता हूँ, तब तक यह इसे दूसरी गाड़ी समझकर इस पर चढ़ गई होगी'। ऐसा मैं अनुमान करता हूँ।

शकार—'क्या गाड़ी के विपर्यय से यह आई है ? मुझ से रमण करने नहीं आई ? तब मेरी गाड़ी पर से उतर। तुम उस दरिद्र व्यापारी चारुदत्त

वसन्त—तं अज्जचारुदत्तं अहिसारेसि त्ति जं सच्चं अलङ्किदम्हि इमिणा वअणेण। सम्पदं जं भोदु, तं भोदु। (तमार्यचारुदत्तमभिसारयसि इति यत् सत्यम् अलङ्कृतास्मि अनेन वचनेन। साम्प्रतं यद्भवतु तद्भवतु)

शकारः—एदेहि दे दशणहुप्पलमण्डलेहि
हत्थेहि चाडुशद-ताड़ण-लम्पड़ेहि।
कट्टामि दे वलतणु णिअ-जाणकादो
केशेशु वालि-दइअं वि जहा जड़ाऊ॥ २०॥

(एताभ्यां ते दशनखोत्पलमण्डलाभ्यां हस्ताभ्यां चाटुशतताडनलम्पटाभ्याम्। कर्षामि ते वरतनुं निजयानकात् केशेषु बालिदयितामिव यथा जटायुः॥ २०॥

वसन्त इति—अलङ्कृताऽस्मि = कृतकृत्यास्मि (चारुदत्तस्य सत्पुरुषत्वेन आत्मनस्तत्सम्बन्धश्रवणादिति शेषः) एतेनास्या गुणग्राहित्वं सूच्यते।

अन्वयः—दशनखोत्पलमण्डलाभ्याम् चाटुशतताडनलम्पटाभ्याम्, एताभ्याम् हस्ताभ्याम्, यथा जटायुः बालिदयिताम् इव केशेषु, ते वरतनुम् निजयानकात् कर्षामि।

ताभ्यामिति—दशनखानि उत्पलमण्डलानीव=कमलसमूहा इव ययोस्ताभ्याम्, तथा चाटुशतानि, प्रियवचनशतानि, तानीव ताडनानि=प्रहाराः तत्र लम्पटाभ्याम् कुशलाभ्यामिति भावः। एताभ्यां स्वकीयहस्ताभ्याम् यथा जटायुः=गृद्ध्रराजः, बालिदयितां ताराम् केशेषु (गृहीत्वा रथादाचकर्ष तद्वत्) तव वरतनुमपि (त्वां मपीति भावः) निजयानकात्=स्वप्रवहणात् कर्षामि। अत्र रामदयितामिवेति वक्तव्ये वालिदयितामिवेत्यपार्थकम्। 'इव यथा' इति च पुनरुक्तम्। अतो नोपमायाश्चारुत्वम्॥ २०॥

से रमण करने जा रही है और मेरे बैलों पर मार दे रही है। अतः उतर-उतर जाओ। उतर-उतर।

वसन्तसेना—'तुम उस आर्य-चारुदत्त से रमण करने जा रही हो' इन वचनों से मैं सच में विभूषित हो गई। अच्छा, अब जो कुछ भी हो, मुझे कोई परवाह नहीं है।

शकार—जिसके दश नख ही कमलवृन्द के तुल्य हैं तथा जो प्रियवाक्य समूह के समान प्रहार में लोलुप है, उन हाथों से सुन्दर शरीरवाली! मैं तुम्हारा केश पकड़ कर अपनी गाड़ी पर तुम्हें उसी प्रकार खींचता हूँ, जिस प्रकार बालि की स्त्री तारा को जटायु ने खींचा था॥ २०॥

विटः—अग्राह्या मूर्द्धजेष्वेता स्त्रियो गुणसमन्विताः ।
न लताः पल्लवच्छेदमर्हन्त्युपवनोद्भवाः ॥ २१ ॥

तदुत्तिष्ठ त्वम् । अहमेनामवतारयामि । वसन्तसेने ! अवतीर्यताम् ।
(वसन्तसेना अवतीर्य एकान्ते स्थिता ।)

शकारः—(स्वगतम्) जे शे मम वअणावमाणेण तदा लोशग्गी शन्धुक्खिदे, अज्ज एदाए पादप्पहालेण अणेण पज्जलिदे, त शम्पदं माले-

---

सरलार्थः—मम दशसङ्ख्याकनखपुण्डरीकसमूहाभ्यां कराभ्यां ताडने कार्कश्य-वर्णनस्यौचित्येऽपि मौर्ख्यात् कोमलत्वं वर्णयतीति भावः, यथा लोको मिथ्याप्रिय-वाक्यश्रवणे आग्रहवान् तथा मम हस्तोऽपि ताडने साग्रह इति द्योतयन् वक्ति यत्प्रियवचनशतसहस्रप्रहाराभिलाषिभ्यां परिदृश्यमानाभ्यां यथा जटायुः ताराम् केशेषु गृहीत्वा तथैव ते सुन्दरशरीरम् स्वकीयप्रवहणात् आकृष्य पातयामि ।

अन्वयः—गुणसमन्विताः एताः स्त्रियः मूर्द्धजेषु अग्राह्याः, उपवनोद्भवा लताः पल्लवच्छेदम् न अर्हन्ति ।

अग्राह्या इति–गुणैः विनयौदार्यसौशील्यादिभिः, समन्विताः=सुशोभिताः एताः=वसन्तसेनाद्याः स्त्रियः=सत्कामिन्यः, मूर्धजेषु=केशेषु, अग्राह्याः=केशेष्वाकृष्य न पीडनीयाः, तथाहि—उपवनोद्भवाः=कृत्रिमवनोद्भवाः 'आरामः स्यादुपवनं कृत्रिमं वनमेव यत्' इत्यमरः । पल्लवनाम्=किसलयानाम् 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इत्यमरः । अग्रभागस्थनवपत्राणामिति भावः (कोपल इति भाषा) । छेदम्=छेदनम् न अर्हन्ति । अतिरमणीयपदार्थानां रमणीयकसाधकावयवविनाशेन सौन्दर्यापहर-णमतिगर्हास्पदमिति भावः । 'न ग्राह्या' इति वक्तव्ये 'अग्राह्या' इत्यभिधानेन विधेयाविमर्षश्च 'अमुक्ता भवता नाथे'ति दर्पणोदाहृतवत् ॥ २१ ॥

सरलार्थः—पुरतः परिदृश्यमानाः कामिन्यः केशेषु न ग्रहीतुमर्हाः, यतः कृत्रिमकानने सयत्नपरिवर्द्धिताः लताः किसलयभङ्गनार्हन्ति । सुन्दरपदार्थस्य सौन्दर्यापहरणे विधिनियमव्यत्ययकरणापराधापातादित्याशयः ॥ २१ ॥

शकार इति–यो मम रोषाग्निः 'अवेहि अणज्जं मन्तेशि' इत्यनेन महापमानस्तू

विट—इन गुणवती स्त्रियों का बाल पकड़कर नहीं खींचना चाहिए, और न उपवन में उत्पन्न होनेवाली लताओं का किसलय ही तोड़ना चाहिए ॥२१॥
अतः तुम उठो ! मैं वसन्तसेना को गाड़ी पर से उतारता हूँ । वसन्तसेने ! उतर
(वसन्तसेना उतर कर एकान्त में खड़ी हो गई ;)

शकार—(मन में) जब मेरे ... वचन के अपमान से मेरे ... अपमान से

मि णं। भोदु, एव्वं दाव (प्रकाशम्) भावे ! भावे ! (यः स मम वचनेनापमानेन तथा रोषाग्निः सन्धुक्षितः, अद्य एतया पादप्रहारेणानेन प्रज्वलितः, तत् साम्प्रतं मारयाम्येनाम्। । भवतु, एवं तावत्। भाव ! भाव !)

जदिच्छशे लम्बदशा–विशालं
पावालअं शुत्तशदेहि जुत्तम्।
मंशं च खादुं तह तुट्ठि कादुं
चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहू त्ति॥ २२॥

(यदिच्छसि लम्बदशा विशालं प्रावारकं सूत्रशतैर्हि युक्तम्)
मासञ्च खादितुं तथा तुष्टिञ्च कर्तुं चुहू चुहू चुक्कु चुहू कुहू इति॥२२॥

विटः—ततः किम् ?।

शकारः—मम पिअं कलेहि ! (मम प्रियं कुरु)

वचनेन वसन्तसेनयाः शब्देन सन्धुक्षितः, धुक्ष-धिक्ष-सन्दीपनक्लेशनजीवनेषु, इति भौवादिकाद् धूक्षधातोर्निष्ठा। एतया = वसन्तसेनया, पादप्रहारेण स प्रज्वलितश्चेति। 'ज्वलह्वलनमामि'ति वैकल्पिकमित्वेन रूपम्।

यदीति—यदि लम्बदशाविशालम् सूत्रशतैः युक्तम् प्रावारकम् इच्छसि हि, तथा चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहू (यथा स्यात्तथा) मांसम् च (खादितुम् इच्छसि) तुष्टिम् च (ममेति शेषः) कर्तुम् इच्छसि (तदा मम प्रियं कुरु) इत्यग्रे वक्ष्यमाणवाक्येनान्वयो बोध्यः। उपजातिर्वृत्तम्॥ २२॥

सरलार्थः—लम्बमानीभूतम्, एकमुत्तरीयवस्त्रम्, पारितोषिकत्वेन लब्धुमिच्छसि, मांसञ्च खादितुमिच्छसि, तथा मम सन्तोषञ्च कर्तुमिच्छसि, तदा मम प्रियं कुरु इत्यग्रिमवाक्येन सम्बन्धः॥ २२॥

उद्दीपित हुई थी; आज वही उस वसन्तसेना के पाद-प्रहार से जल उठी। इसलिए अब इस वसन्तसेना को मैं मारूँगा। अच्छा ठीक है, विद्वन् ! विद्वन् !

दीर्घ सूत्रों के विशाल एवं अनेक सूत्रों से निर्मित उत्तरीय (दुपट्टा) को यदि (पारितोषिक रूप में) लेना चाहते हो, यदि चुहू चुहू करके मांस खाना चाहते हो तथा मुझे प्रसन्न करना चाहते हो॥ २२॥

विट—तो मुझे क्या करना चाहिए ?

शकार—मेरा प्रिय करो।

विटः—नाहं करोमि, वर्जयित्वा त्वकार्यम् ।

शकारः—भावे ! अकज्जाह गन्धे वि णत्थि, लक्खशी कावि णत्थि ।
(भावः ! अकार्यस्य गन्धोऽपि नास्ति, राक्षसी क्वापि नास्ति)

विटः—उच्यतां तर्हि ।

शकारः—मालेहि वसन्तशेणिअं । (मारय वसन्तसेनाम्)

विटः—(कर्णौ पिधाय)

बालां स्त्रियञ्च नगरस्य विभूषणञ्च
वेश्यामवेश-सदृश-प्रणयोपचाराम् ।
एनामनागसमहं यदि मारयामि

विट इति—बाढम् = ध्रुवम्, अकार्यम् = दुष्कर्म एतेन वसन्तसेनायाः भावि अनिष्टम् सूचितम् ।

शकार इति—गन्धः = नाममात्रेणापि सद्भावः ।

अन्वयः—अहम् यदि बालाम् स्त्रियम् च, नगरस्य विभूषणम् च अवेशसदृश-प्रणयोपचाराम् वेश्याम्, अनागसम् एनाम् मारयामि, (तर्हि) केन उडुपेन परलोकनदम् तरिष्ये ।

बालामिति—अहम् = आर्यजनसम्भावितः (इत्याशयः) यदि बालाम् = बाल्यावस्थापन्नाम् स्त्रियम्=अबलाजातिम् (इति भावः) च 'सदैवावध्यभावेन स्त्रियं बालं समाचरेत्' इति शिष्टाचारविरोधेन । नगरस्य=उज्जयिन्याः; विभूषणम्=सर्वोत्कृष्टसुन्दरीम् गुणवतीञ्च । वेश्याम् —जन्मना वाराङ्गनाम् (अपि) अवेशसदृशौ=वेश्यागृहायोग्यौ, प्रणयः=गाढानुरागः (चारुदत्ते), उपचारश्च=सार्वत्रिकः सद्व्यवहारश्च, यस्यास्ताम्, (१) अनागसम्=निरपराधाम् 'आगोऽपराधो मन्तुश्चे'त्य-

---

विट—अवश्य करूँगा, किन्तु दुष्कार्य को छोड़कर ।

शकार—विद्वन् ! दुष्कार्य का तो इसमें गन्ध भी नहीं है । वह कोई राक्षसी नहीं है ।

विट—तब कहो ?

सकार—वसन्तसेना को मारो ।

विट—(कान मूंदकर)

यदि मैं, बाला, स्त्री, उज्जयिनी का विभूषण, एवं वेश्याओं के विरुद्ध कुल-

---

(१) आगोऽपराधः 'इण आगोऽपराधे चे'त्यसुन् इण आगादेशश्च अपराधेऽर्थे ।

केनोडुपेन परलोकनदीं तरिष्ये ॥ २३ ॥

शकारः—अहं ते भेड्क दइश्शं। अण्णं च विवित्ते उज्जाने इध मालन्तं को तुमं पेक्खिश्शदि। (अहं ते उडुपं दास्यामि। अन्यच्च विविक्ते उद्याने इह मारयन्तं कस्त्वां प्रेक्षिष्यते ?)

विटः—पश्यन्ति मां दश दिशो, वनदेवताश्च,
चन्द्रश्च दीप्तकिरणश्च दिवाकरोऽयम्।

अरः। एनाम् = वसन्तसेनाम्, मारयामि = हिंसामि तदा केन उडुपेन = प्लवेन (क्षुद्रनौकयाऽपीति भावः) परलोकस्य = यमलोकस्य नदीम् = वैतरणीम् तरिष्ये। अत्र विशेषणवाचकपदानां साभिप्रायत्वात् परिकरो नामालङ्कारः तथाहि—'उक्तिविशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः' इति दर्पणः। नगरस्य विभूषणमिति निरङ्गरूपकम्। संकरश्चानयोः वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ २३ ॥

सरलार्थः—यद्यहं तरुणीमबलामुञ्जयिन्या रत्नभूतां वेश्याजनानुपयुक्तप्रणयव्यवहारवतीं गणिकां निरपराधाम्, वसन्तसेनां हन्मि, तदा केन प्लवेन, कीदृशम् तरणसाधनमवलम्ब्येति यावत्, वैतरणीं पुराणप्रसिद्धां, नदीम्, अतिक्रमिष्यामि, अवश्यमेव नरकगामी भविष्यामिति भावः ॥ २३ ॥

शकार इति—उडुपम् = लघुतरणिम् दास्यामि (येन त्वं वैतरणीं तरिष्यसे इति शेषः) विविक्ते = विजने 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः।

अन्वयः—सुकृतिदुष्कृतिसाक्षिभूताः दश दिशः, वनदेवताः च, चन्द्रः च, दीप्तकिरणः, अयम् दिवाकरः च, धर्मानिलौ च, गगनम् च तथा अन्तरात्मा तथा भूमिः (च एतानि सर्वाणि) माम् पश्यन्ति।

पश्यन्तीति—सुकृतिः=धर्मः, दुष्कृतिः=पापम् तयोः साक्षिभूताः विशेषणञ्चेदं लिङ्गवचनभेदेन सर्वत्रैव योज्यम् दशदिशः=आशा वनदेवताश्च चन्द्रश्च (आकाशस्थत्वात् सर्वं द्रष्टुं समर्थोऽयम् इति भावः) रजनीशत्वाद्रात्रावपि द्रष्टुं समर्थोऽयम् इत्यपि, दीप्ताः किरणाः=मयूखाः 'किरणोस्रमयूखांशु' इत्यमरः। यस्य सः तादृशः दिनकरः=सूर्यश्च दिननायकत्वादयं जगतोदैनिकं कृत्यमखिलं द्रष्टुं शक्नोतीति

कामिनी के सदृश प्रेमवती वेश्या इस निरपराध वसन्तसेना को, मारता हूँ, यो परलोकरूपी नदी को किस नौका से पार करूँगा ? ॥ २३ ॥

शकार—मैं तुम्हें नौका दूँगा। और दूसरी बात यह है कि इस निर्जन उद्यान में मारते हुए तुम्हें कौन देखेगा ?

विट—पाप और पुण्य की साक्षी ये दिशाएँ मुझे देखती हैं। और वन-

धर्मानिलौ च गगनश्च तथान्तरात्मा
भूमिस्तथा सुकृति-दुष्कृति-साक्षिभूताः ॥ २४ ॥

शकारः—तेण हि पडन्तोवालिदं कटुअ मालेहि। (तेन हि पटान्तापवारितां कृत्वा मारय)

विटः—मूर्ख ! अपध्वस्तोऽसि।

शकार :—अधम्मभीलू एशे बुड्ढकोले। मोदु, थावलअं चेड़ अणुणेमि। पुत्तका ! थावलका ! चेड़ा ! शोण्णखड़आइं दइश्शं (अधर्मभीरुरेष वृद्धकोलः। भवतु, स्थावरक चेटमनुनयामि। पुत्रक ! स्थावरक ! चेट ! सुवर्णकटकानि दास्यामि)

धर्मः, अनिलः=वायुः, गगनम्=आकाशम् अन्तरात्मा=जीवः तथा सर्वाधारभूता भूमिश्च मां पश्यन्ति, सर्वथा नास्ति विजन इति भावः। 'तदुक्तम्' आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च। अहश्च रात्रिस्तदुभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्' इति आह्निकतत्त्वधृतायां स्मृतौ। अत्राप्रस्तुतानां दिगादीनां 'पश्यन्ती' त्येकया क्रिययाऽभिसम्बन्धात्तुल्ययोगितालङ्कारः। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥

सरलार्थः—पुण्यपापयोः साक्षात् द्रष्टारः, दशसङ्ख्यका दिशः, वनदेव्यश्च, निशाकरश्च, परिदृश्यमानः सूर्यश्च, धर्मराजपवनौ च, आकाशश्च जीवात्मा च पृथिवी च, मां विटम्, अवलोकयन्ति ॥ २४ ॥

शकार इति—पटान्तेन=वस्त्राञ्चलेन वारिताम्—समावृताम् येन दिगादयो न पश्यन्त्वित्याशयः।

विट इति—(१) अपध्वस्तः=अधमाधमः (निरपराधिनीहननोद्यमात् इति शेषः)।

शकार इति—वृद्धकोलः=वृद्धशूकरः 'वराहः शूकरो घृष्टिः कोलः' इत्यमरः।

देवता, चन्द्रमा तीक्ष्ण किरणों वाले सूर्य, धर्म, वायु, आकाश जीवात्मा तथा यह भूमि मुझे देखती हैं ॥ २४ ॥

शकार—इसलिए कपड़े का व्यवधान करके इसे मारिये।

विट—मूर्ख ! तुम अधःपतित हो गए हो।

शकार—यह वृद्धशूकरः (विट) अधर्मभीरु है। अच्छा इस कार्य के लिए स्थावरक चेट से विनय करता हूँ। पुत्रक ! स्थावरक ! चेट !! (वसन्तसेना को मारो) मैं तुम्हें सुवर्ण का कङ्कण दूँगा।

---

(१) अपपूर्वकात् ध्वंसधातोर्निष्ठा 'अनिदिताम्' इति नलोपः।

चेट—अहं पि पलिहिश्शं (अहमपि परिधास्यामि)

शकारः—शोवण्णं दे पीढ़के कालइश्शं। (सौवर्णं ते पीठकं कारयिष्यामि)

चेटः—अहं उवविशिश्श। (अहमपि उपवेक्ष्यामि)

शकारः—शव्वं दे उच्छिट्टं दइश्शं (सवं ते उच्छिष्टं दास्यामि)

चेट—अहं पि खाइश्शं (अहमपि खादिष्यामि)

शकारः—शव्वचेड़ाणं महत्तलकं कलइश्शं (सर्वचेटानां महत्तरकं करिष्यामि)

चेटः—भट्टके ! हुविश्शं। (भट्टक ! भविष्यामि)

शकारः—ता मण्णेहि मम वअणं। (तन्मन्यस्व मम वचनम्)

चेटः—भट्टके ! शव्वं कलेमि, वज्जिअ अकज्जं। (भट्टक ! सर्वं करोमि वर्जयित्वा अकार्यम्)

स्ववचनावहेलनयाऽधिक्षेपोक्तिरियं विटं प्रति। सुवर्णटकानि = स्वर्णनिर्मितवलयानि (प्रलोभनमिदम्)

शकार इति—पीठकम् = आसनम् 'पीठमासनम्' इत्यमरः। पीठमेव पीठकम 'संज्ञायाम्' इति कम्।

शकार इति—उच्छिष्टम्=भोजनावशिष्टभागम् (राजस्यालकत्वेन तद्भोजनस्यात्युत्तमत्वादवशिष्टभागस्यात्युत्तमत्वमिति भाव)

शकार इति—महत्तरकम् = सर्वप्रधानम्।

शकार इति—मन्यस्व = ममाज्ञां पालय।

चेट—मैं भी पहनूँगा।

शकार—तुम्हें सोने का आसन बनवा दूँगा।

चेट—मै भी उस पर बैठूँगा।

शकार—मैं तुम्हें सब बचा हुआ भोजन दे दूँगा।

चेट—मैं खा जाऊँगा।

शकार—मैं तुम्हें सब चेटों का प्रधान बना दूँगा।

चेट—मैं स्वामी ! बन जाऊँगा।

शकार—सब मेरी बात मान लो।

चेट—स्वामिन् ! मैं सब कुछ करूँगा। केवल दुष्कार्य को छोड़ कर।

शकारः—अकज्जाह गन्धे वि णत्थि (अकार्यस्य गन्धोऽपि नास्ति)

चेटः—भणादु भट्टके । (भणतु भट्टकः)

शकारः—एणं वशन्तशेणिअं मालेहि । (एनां वसन्तसेनां मारय)

चेटः—पशीददु भट्टके ! इअं मए अणज्जेव अज्जा पवहणपलिवत्तणेण आणीदा । (प्रसीदतु भट्टकः इयं मया अनार्येण आर्या प्रवहणपरिवर्त्तनेनानीता)

शकारः—अले चेडा ! तवावि ण पहवामि ? । (अरे चेट ! तवापि न प्रभवामि ?)

चेटः—पहवदि भट्टके शलीलाह, ण चालित्ताह । ता पशीददु पशीददु भट्टके । भाआमि क्खु अहं (प्रभवति भट्टकः शरीरस्य, न चारित्रस्य । तत् प्रसीदतु भट्टकः बिभेमि खलु अहम्)

शकारः—तुमं मम चेड़े भविअ कश्श भाआशि ? । (त्वं मम चेटो भूत्वा कस्मात् बिभेषि ?)

चेट इति—अनार्येण = नीचेन (अज्ञानतोऽपीहास्यानयस्य मरणहेतुकतया स्वस्यानार्यत्वं कथयति) आर्या = वसन्तसेना ।

शकार इति—तवापि—नीचभृत्यस्यापि न प्रभवामि ? = न प्रभुर्भवामि (स्वाज्ञां कार्रायतुमिति शेषः) भवाम्येवेति भावः ।

चेट इति—शरीरस्य=शरीरमात्रस्य (भृत्यादिना तत्पालनात्) । न चारित्रस्य = न व्यवहारस्य (चलन) चरित्रम् 'स्वार्थिकोऽण्' ।

शकार इति—मम=राजश्यालकस्य, (सर्वाधिकारस्वतन्त्रस्येति भावः) चेटः= भृत्यः (भृत्यत्वेन त्वमकुतोभयोऽसीति भावः) ।

शकार—दुष्कार्य का तो शेष भी नहीं है ।

चेट—कहिए, प्रभो ।

शकार—इस वसन्तसेना को मारो ।

चेट—प्रसन्न होइए । अधम मैं, इस आर्या वसन्तसेना को गाड़ी के विपर्यय से ले आया हूँ ।

शकार—अरे चेट ! क्या तुमसे भी यह कार्य कराने में मैं समर्थ नहीं हूँ ।

चेट—समर्थ हैं स्वामी पर शरीर पर, चरित्र पर नहीं । इसलिए प्रसन्न होइए, प्रसन्न होइए प्रभो । मैं डरता हूँ ।

शकार—तुम मेरे चेट होकर किससे डरते हो ?

चेटः—भट्टके ! पललोअश्श । (भट्टक ! परलोकात्)

शकारः—के शे पललोए । (कः स परलोकः ?)

चेटः—भट्टके ! शुकिद–दुक्किदश्श पलिणामे । (भट्टक ! सुकृत—दुष्कृतस्य परिणामः ?)

शकारः—केलिशे शुकिदश्श पलिणा । (कीदृशः सुकृतस्य परिणामः)

चेटः—जादिशे भट्टके बहु–शोवण्ण–मण्डिदे । (यादृशो भट्टकः बहुसुवर्णमण्डितः)

शकारः—दुक्किदश्श केलिशे ? (दुष्कृतस्य कीदृशः ?)

चेटः—जादिशे हग्गे पलपिण्डभक्षके भूदे । ता, अकज्जं ण कलइश्शं (यादृशोऽहं परपिण्डभक्षको भूतः तदकार्यं न करिष्यामि)

शकारः—अले ! ण मालिश्शशि ? । (इति बहुविधं ताडयति) (अरे ! न मारयिष्यसि ?)

चेट इति –सुकृतेन=धर्मेण युक्तम् दुष्कृतम्=पापम् तस्य 'शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपः' । धर्माधर्मयोः । परिणामः=परिपाकः (नतीजा इति भाषा०)

चेट इति—सुवर्णमण्डितः = समृद्धः (समृद्धत्वात्सुखप्राप्तिः तथा च सुखमेव सुकृतस्य परिणाम इति ध्वन्यते) ।

चेट इति—परेण दीयमानं पिण्डम् = ग्रासः (अन्न का कवल) तस्य भक्षकः । अर्थात् 'भोजनं च पराधीनम्' इत्यादि-नीतिवाक्येन पराधीनभोजनस्य कुत्सनात् दुष्कृतस्यैवायं परिणाम इति तात्पर्यम् ।

चेट—स्वामिन् ! परलोक से ।

शकार—वह परलोक कौन है ?

चेट—प्रभो ! पाप और पुण्य का परिणाम ।

शकार—पुण्य का परिणाम कैसा है ?

चेट—जैसे विविध सुवर्ण से विभूषित आप हैं । (अर्थात् आपने पुण्य किया था इसी से इतना सुख भोग रहे हैं) ।

शकार—और पाप का परिणाम कैसा है ?

चेट—जैसा कि मैं परान्न भोजी बना हूँ । (अर्थात् मैंने पाप किया था इसी से दुःख भोगना पड़ रहा है) इसलिए दुष्कार्य नहीं करूँगा ।

शकार—अरे ! नहीं मारोगे ?

चेटः—पिट्ठदु भट्टके, मालेदु भट्टके; अकज्जं ण कलइस्शं। (पड-यतु भट्टकः मारयतु भट्टकः, अकार्यं न करिष्यामि)

जेण म्हि गब्भदाशे विणिम्मिदे भाअधेअदोशेहिं।
अहिअं च ण कीणिस्सं तेण अकज्जं पलिहलामि॥ २५॥
(येनास्मि गर्भदासो विनिर्मितो भागधेयदोषैः।
अधिकञ्च न क्रेष्यामि तेनाकार्यं परिहरामि॥ २५॥)

वसन्त—भाव ! सरणागदम्हि। (भाव ! शरणागतास्मि)

विटः—काणेलीमातः मर्षय मर्षय। साधु स्थावरक ! साधु।
अप्येष नाम परिभूतदशो दरिद्रः प्रेष्यः परत्र फलमिच्छति नास्य भर्त्ता।

येनेति—येन (हेतुना) भागधेयदोषैः (भागदोषैः) गर्भदासः=गर्भात्प्रभृत्येव दासः (दासकुलोत्पन्नः इति यावत्)। विनिर्मितः=कृतः अस्मि, तेन (हेतुना) अधिकम् च (प्राक्तनपापादिति शेषः) न क्रेष्यामि (नोपार्ज्जयिष्यामि) वसन्त-सेनामारणेनेति शेषः (अतः) अकार्यम् (अनपराधस्त्रीहत्यारूपं गर्हित कार्यम्) परिहरामि (त्यजामि) आर्याजातिः॥ २५॥

सरलार्थ—यस्मात् पूर्वजन्माचरिताकार्यफलभूतदुरदृष्टपरिणतिवशात् आजन्म-भृत्यः कल्पितः, भवामि, विधात्रेति शेषः, तस्मात् कारणात् निन्दितं कर्म्मं त्यजामि गर्भदासफलादप्यधिकं नरकादिरूपम्, न सुकृतकर्म्मात्मकमूल्यदानेन सञ्चिनो-मीति भावः॥ २५॥

अन्वयः—परिभूतदशः दरिद्रः अपि एषः प्रेष्यः परत्र फलम् इच्छति, अस्य भर्त्ता न, तस्मात् अमी अद्य कथम् इव नाशम् न यान्ति, ये असदृशम् वर्द्धयन्ति, सदृशम् त्यजन्ति।

अपीति—परिभूता=तिरस्कृता (सम्प्रत्येव नराधमकारद्वारा पादताडनेनाधरी-

---

चेट—चाहे मुझे पर प्रहार कीजिए प्रभो ! या मारिए किन्तु मैं दुष्कार्य नहीं करूँगा।

पूर्व जन्म के लिए पापों के दोष के कारण जन्म से ही मुझे घृणित दास बनना पड़ा है। अब वसन्तसेना को मारकर अधिक पाप नहीं कमाऊँगा। इसलिए मैं दुष्कार्य का परित्याग करता हूँ॥ २५॥

वसन्तसेना—विद्वन् ! मैं तुम्हारी शरण में आ गया हूँ। मेरी रक्षा करो।

विट—काणेली के पुत्र ! क्षमा करो, क्षमा करो। धन्य हो स्थापरक! धन्य।

सय से अपमानित होने वाला निर्धन यह दा स्थावरक भी परलोक के फल

तस्मादमी कथमिवाद्य न यान्ति नाशं ये वर्द्धयन्त्यसदृशं त्यजन्ति ॥

अपि च—रन्ध्रानुसारी विषमः कृतान्तो
यदस्य दास्यं तव चेश्वरत्वम् ।

कृता) दशा=अवस्था यस्य तादृशः, दरिद्रः=अकिञ्चनः अपि (क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्तीति क्षीणस्यापि निष्करुणोऽपीति भावः) एषः=स्थावरकः प्रेष्यः=दासः परत्र=परलोके फलम्=सफलम् (सत्कर्मद्वारेति शेषः) इच्छति, किन्तु अस्य भर्त्ता=स्वामी (शकारः) न इच्छति, (शकारस्यैवातिसमृद्धत्वात्सत्कर्मणि स्पृहा भवितुमर्हति तथा च नास्तीति वैपरीत्यमवलोक्य खिद्यते मे चेत इति विटोक्तेराशयः) । तस्मात्=कारणात् अमी शकारादयो नराधमाः, अद्य=इदानीमेव (लक्षणयैतत्) कथमिव नाशं न यान्ति, ये जनाः असदृशम्=अकर्तव्यम् वर्द्धयन्ति सदृशम्=कर्तव्यम् (च) त्यजन्ति । अत्र नाशस्य हेतोः असदृशसवनसदृशत्यागयोः सतोरपि नाशरूपफलानुत्पत्तेर्विशेषोक्तिरलङ्कारः, तथाहि—'सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्ति'रिति दर्पणः । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ २६ ॥

सरलार्थं—दुरवस्थः, निर्धनः, भृत्यः सन्नपि चेटः परलोके, सद्गतिं, वाञ्छति, किन्तु चेटस्य स्वामी शकारः नेच्छतीति भावः । तस्माद्धेतोः येऽसमीक्ष्यकारिणः, अयोग्यं पालयन्ति योग्यञ्च कर्म परित्यजन्ति, ते जनाः शकारसदृशा इति भावः, संपदि क्षयं न प्राप्नुवन्ति, कुत्सितप्रभूणां नाश एवोचितः, येन सतां ग्लानिः, असताञ्चाभ्युत्थानं न प्राप्नुवन्ति, भावः ॥ २६ ॥

अन्वयः—कृतान्तः विषमः रन्ध्रानुसारी, यत् अस्य दास्यम्, तव ईश्वरत्वम् च, यत् अयम् त्वदीयाम् श्रियम् न भुङ्क्ते, यत् भवान् एतदाज्ञाम् न करोति ।

रन्ध्रेति—कृतान्तः=दैवम् 'कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मसु' इत्यमरः । विषमः=प्रतिकूलः, रन्ध्रम्=छिद्रम् 'छिद्रं निर्व्यथनं रोकं रन्ध्रम्' इत्यमरः । अनुसरतीति तच्छीलः 'सुप्यजातौ'विति णिनिः, अविचारितकर्मकारीत्यर्थः । यद्=यस्मात् अस्य=धर्माधर्मविचारदक्षस्य (स्थावरकस्य) दास्यम्, तव=अविमृश्यकारिणः (शकारस्य) ईश्वरत्वम्,=आधिपत्यम्, एवम् यद् अयम्=स्थावरकः स्वकीयाम्=स्वसम्बन्धिनीम् । युष्मच्छब्दस्य 'त्यदादीनि चे'ति वृद्धसंज्ञायाम् 'वृद्धाच्छः'

इच्छा करता है, किंतु इसका स्वामी शकार नहीं करता । इसलिए जो दुष्कार्य करते हैं तथा सुकार्य नहीं करते वे शीघ्र ही क्यों नहीं विनष्ट हो जाते हैं ॥ और भी—

दैव विपरीत करता है एवं छिद्रान्वेषी है । क्योंकि चेट जो कि धार्मिक है, उसे दास बनाया और शकार जो कि पापी है उसे स्वामी बनाया । और यह

श्रियं त्वदीयां यदयं न भुङ्क्ते
यदेतदाज्ञां न भवान् करोति ॥ २७ ॥

शकारः—(स्वगतम्) अधम्मभीलुए बुड्ढखीडे, पललोअभीलू एशे गब्भदाशे। हग्गे लट्ठिअशाले कश्श भाआमि वल-पुलिश-मणुश्शे ? । (प्रकाशम्) अले गब्भदाशे ! चेड़े ! गच्छ तुमं, ओवलके पविशिअ वीशन्ते एअन्ते चिट्ठ । (अधर्मभीरुको वृद्धशृगालः, परलोकभीरुरेष गर्भदासः । अहं राष्ट्रियश्यालः कस्माद्बिभेमि वर-पुरुष-मनुष्यः ? अरे गर्भदास ! चेट ! गच्छ त्वम्, अपवारके प्रविश्य विश्रान्त एकान्ते तिष्ठ)

इति छः । तस्य 'आयनेयीति' ईयादेशः । श्रियम्=सम्पत्तिम् न भुङ्क्ते = नानुभवति । यत् (च) भवान्=शकारः, एतस्य=भृत्यस्य आज्ञाम् न करोति । स्थावरकेण राज्यं भोक्तुं योग्यम् त्वया च दास्यमित्येतद्वैपरीत्येन घटयन्तं कृतान्तं धिगिति भावः । अत्र कृतान्तस्य' रन्ध्रानुसारित्वरूपमेकं कार्यं प्रति स्थावरकदास्यादीनां बहूनां कारणत्वेनोपन्यासात् समुच्चयः । पादत्रयगतवाक्यार्थं प्रति प्रथमपादगतवाक्यार्थस्य हेतुत्वात् काव्यलिङ्गञ्च ।

यत्त्वत्र केचित् 'कारणाभावेऽपि स्थावरकस्य दास्यरूपकार्योत्पत्तेः किं विभावना' स्यादुस्तन्मन्दम्, कृतान्तगतविषमत्वस्य रन्ध्रानुसारित्वस्य वा तत्र स्फुटं कारणत्वेनोपन्यासात् यच्च तैरेव—'धर्मरूपकारणसत्त्वेऽपि ईश्वरत्वरूपतत्कार्याभावाद्विशेषोक्ति'रित्युक्तं तन्नातीव रोचतेऽस्मभ्यम् तथाविधकारणस्य (धर्मरूपकारणस्य) अत्र पद्ये ग्रन्थकर्त्राप्रतिपादितत्वात् । स्वानुमानिककार्यकारणभावस्यात्रानुपयुक्तत्वाच्चेत्यवगच्छन्तु तत्रभवन्तो भवन्तस्तत्त्वज्ञाः उपजातिर्वृत्तम् ॥ २७ ॥

सरलार्थः—यमुनाभ्राता यमराज इति यावत्, विपरीतकार्यकारी, छिद्रान्वेषी च यस्मादस्य स्थावरकस्य दासत्वं शकारस्य च प्रभुत्वम्, 'तया चायं स्थावरकः धार्मिकः सन्निपि सुखसम्पदम्, नानुभवति, त्वञ्च शकारः पापी सन्नपि स्वामित्वेन चेटस्य भृत्यत्वेच च आदेशं न पालयसीति' भावः ॥ २७ ॥

शकार इति—वृद्धशृगाल इति—यथा शृगालाः स्वल्पेऽपि भयकारणे सत्वरं पलायन्ते तद्वदयमपि विट इति भावः । अपवारके=गुहस्थाने ।

भी उलटा हुआ कि—यह चेट तुम्हारा (शकार की) सम्पत्ति का उपभोग नहीं करता और तुम (शकार) चेट की आज्ञा पालन नहीं करते (तुम्हें चेट का दास होना था) ॥ २७ ॥

शकार—(मन में) वृद्ध-शूकर विट अधर्म भीरु है । और जन्म से ही दास स्थावरक परलोक से डरता है । किन्तु श्रेष्ठ पुरुष राष्ट्रिय-श्याल मैं किससे

चेटः—जं भट्टके आणवेदि । (वसन्तसेनामुपसृत्य) अज्जए ! एत्तिके मे विहवे । (इति निष्क्रान्तः) (यद्भट्टक आज्ञापयति । आर्ये ! एतावान् मे विभवः)

शकारः—(परिकरं बध्नन्) चिट्ठ वशन्तशेणिए ! चिट्ठ, मालइश्शं । (तिष्ठ वसन्तसेने ! तिष्ठ, मारयिष्यामि)

विटः—आ ! ममाग्रतो व्यापादयिष्यसि ? । (इति गले गृह्णाति)

शकारः—(भूमौ पतति) भावे भट्टकं मालेदि । (इति मोहं नाटयति । चेतनां लब्ध्वा) (भावो भट्टकं मारयति)

शव्वकालं मए पुट्टे मंशेण अ घिएण अ ।
अज्ज कज्जे शमुप्पण्णे जादे मे वैलिए कधं ॥ २८ ॥
(सर्वकालं मया पुष्टो मांसेन च घृतेन च ।
अद्य कार्ये समुत्पन्ने जातो मे वैरिकः कथम्) ॥ २८ ॥

चेट इति—एतावान् = आत्मना तवानिष्टाकरणमात्रकः, विभवः = सामर्थ्यम् । शकारद्वारा उपस्थाप्यमानेऽनिष्टे मत्तः साहाय्यं न भविष्यतीति निष्कृष्टोऽर्थः ।

शकार इति—परिकरम् = कटिवस्त्रम् 'प्रगाढगात्रिकाबन्धे पर्यङ्कपरिवारयोः । प्रयुज्यते परिकरः समूहारम्भयोरपि' इति शाश्वतः, इति महाचार्याः ।

विट इति—व्यापादयिष्यसि = मारयिष्यसीति काकुः । नेत्यर्थः ।

शकार इति—भट्टकम् = स्वामिनम् (अतीवानुचितमिदमिति भावः)

सर्वकालमिति—मया मांसेन घृतेन च सर्वकालं (त्वम्) अद्य कार्ये समुत्पन्ने कथं वैरिकः, जातः ।

वैरी एव वैरिकः । स्वार्थे कः । अथवा कुत्सितः वैरी 'कुत्सिते' इति कन् । यद्वा

डरूं ! (प्रकट) अरे ! अधम दास ! चेट ! तुम जाओ, अपने छिपने योग्य निकुञ्ज आदि में प्रवेश कर विश्रान्त होकर एकान्त में ठहरो ।

चेट—जैसी स्वामी की आज्ञा । (वसन्तसेना के पास जाकर) आर्ये ! (तुझे बचाने के लिए) मुझ में इतनी ही क्षमता है ।

शकार—(कमर में वस्त्र बाँधते हुए) ठहर वसन्तसेने ! ठहर । मैं मारूँगा ।

विट—अरे ! मेरे सामने मारोगे ? (गला पकड़ लेता है)

शकार—(पृथ्वी पर गिरता है) विद्वन् ! मालिक को मारते हो (मूर्च्छित हो जाता है । चैतन्य प्राप्त कर)

हर समय मांस और घृत के द्वारा मैंने तुम्हारा परि-पालन किया । किन्तु आज काम आ जाने पर तुम हमारे शत्रु क्यों हो गये ? ॥ २८ ॥

(विचिन्त्य) भोदु, लद्धे मए उवाए । दिण्णा बुड्ढखोड़ेण शिरश्चालण-शण्णा ता एदं पेशिअ वशन्तशेणिअं मालइश्शं । एव्वं दाव । (प्रका-शम्) भावे ! जं तुमं मए भणिदे, तं कधं हग्गे एव्वं वड्डकेहिं गल्लक-प्पमाणेहिं कुलेहिं जादे अकज्जं कलेमि ? । एव्वं एदं अङ्गीकलावेदुं मए भणिदं । (भवतु, लब्धो मया उपायः । दत्ता वृद्धशृगालेन शिरश्चालनसञ्ज्ञा, तदेतां पिष्ट्वा वसन्तसेनां मारयिष्यामि । एवं तावत् । भाव ! यत् त्वं मया भणितः, तत् कथमहमेवं बृहत्तरैः गल्लकप्रमाणैः कुलैर्जातोऽकार्य्यं करोमि ? । एवमेतदङ्गीकारयितुं मया भणितम् ।)

अज्ञातो वैरीत्यर्थे 'अज्ञाते' इति कः । इतः पूर्वं त्वां वैरिणमहं नावेदिषमिति भावः । मांसघृतादिभोजनदानेन प्रियमित्रबुद्ध्यैव त्वामपालयमिति निष्कर्षः ॥ २८ ॥

सरलार्थः—अनुदिनं मया शकारेण मांसेन घृतेन च वृद्धिं नीतः, अस्मिन् क्षणे प्रयोजने प्राप्ते सति किमर्थं मम शत्रुः समुत्पन्न इति भावः ॥ २८ ॥

विचिन्त्येति—वृद्धशृगालेन = विटेन, शिरश्चालनसंज्ञा = वसन्तसेना-मारणाय शिरस्तिर्यकसञ्चालनेनानुमतिदानम् । दत्ता = कृता । अत्रायमाशयः वार्द्धक्येन वायु-वशात्स्वाभाविकमपि विटस्य शिरःकम्पनं वसन्तसेनाहत्याविधावनुमतिदानसंकेत-मिवावधारयन्, विटकर्तृकस्वगलधारणञ्च 'गले धृत्वा तां मारये'ति मारणप्रकारो-पदेशं विनिश्चिन्वन् चाहमित्थमुक्तवान् इति मनस्येव विचिन्त्य—प्रकाशम् = विटं प्रति, (कथयतीति शेषः) भाव ! = पण्डित ! यत् 'मालइश्श' इति वाक्यम् = मुख्यकर्मत्वम् = गौणकर्म मया कर्त्रा भणितः = कथितः । गौणकर्मणि क्तः तत् कथमहमेवं गल्लकप्रमाणैः—कुक्कुरोपमैः बृहत्तरैः = महत्तरैः कुलैः = वंशैः, जातः (करणे तृतीया) करोमि (अकार्यमिति शेषः) कथमपि नेत्यर्थः । एतत्=वसन्त-सेनाहत्यारूपं कर्म । अङ्गीकारयितुम् (त्वयेति शेषः) मया भणितम् । सद्वंश्यत्वाद-हमकार्यं कर्तुं नार्हामि किन्तु भवतो हृदयमवगन्तुमेवेत्यमुक्तवानिति भावः ।

(सोचकर) अच्छा, मैंने उपाय प्राप्त कर लिया । शिर संचालित कर वृद्ध शृगाल (विट) ने संकेत दे दिया । तब इसे पीसकर वसन्तसेना को मारूँगा । यह ठीक है । (प्रकट) विद्वन् ! जो तुमने मुझसे कहा (वसंतसेना को मारने के लिए) तो कैसे मैं उच्च एवं कुत्ते के तुल्य कुल में उत्पन्न होकर, यह दुष्कार्य करूँ ? वसन्तसेना को मारने के लिए तुमने ही मुझे स्वीकार करने को कहा है ।

विटः—किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम् ।
भवन्ति सुतरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः ॥ २९ ॥

शकारः—भावे ! एशा तव अग्गदो लज्जाअदि, ण मं अङ्गीकलेदि, ता गच्छ, थावलअचेडे मए पिट्टिदे गदे वि । एशे पलाइअ गच्छदि, ता तं गेण्हिअ आअच्छदु भावे । (भाव ! एषा तवाग्रतो लज्जते, न मामङ्गीकरोति तद् गच्छ, स्थावरकचेटो मया पीडितो गतोऽपि । एष पलाय्य गच्छति, तत् तं गृहीत्वा आगच्छतु भावः ।)

अन्वयः—कुलेन उपदिष्टेन किम् ? अत्र शीलम् एव कारणम्, सुतराम् स्फीताः कण्टकिद्रुमाः सुक्षेत्रे भवन्ति ।

किमिति—कुलेन=सत्कुलेन उपदिष्टेन=उत्कर्षाधायकत्वविषया कथितेन किम् ? (नेत्यर्थः) अत्र=उत्कर्षविधौ शीलम्=स्वभावः एव कारणम्, सद्वंश्योऽपि दुराचारी दुष्कुलोऽपि शिष्टो भवति, नात्र कुलं कारणम्, किन्तु स्वभाव एवोत्कर्षापकर्षयोर्मूलमित्याशयः । तथाहि सुतरां संस्फीताः = सम्यगुपचय प्राप्ताः कण्टकिद्रुमाः=खदिरबर्बुरवदर्यादितरवः, सुक्षेत्रे = उत्कृष्टक्षेत्रे भवन्ति = उत्पद्यन्ते । अत्र सामान्यात् कण्टकिद्रुमात् प्रस्तुतस्य शकारस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासः ॥ २९ ॥

सरलार्थः—उदाहृतेन वंशेन किं प्रयोजनम्, समीचीनकार्यकरणे स्वभाव एव कारणं भवति, नतु कुलमिति भावः । एतदेव दृष्टान्तेन दृढीकरोति, यत् उत्कृष्टभूमौ कण्टकवन्तो वृक्षाः वर्धिता जायन्ते, प्रख्यातसद्वंशेऽपि दुष्टप्रकृतय उत्पद्यन्ते इति भावः ॥

शकार इति—न अङ्गीकरोति=स्वीकरोति (मद्वशे तिष्ठति) स्थावरकः पलाय्य गच्छति = धावन् सन् इतोऽपसरति । (तेन हि प्रवहणद्वारावयोर्गमनं न स्यादित्याशयः)

विट—उच्चता के लिए, सद्वंश में उत्पन्न होना ही कारण नहीं है, बल्कि यहाँ स्वभाव कारण है । (नीच कुल में उत्पन्न पुरुष भी उत्कृष्ट हो सकता है और उच्च कुल में उत्पन्न पुरुष भी निकृष्ट हो सकता है) बबूल आदि निकृष्ट वृक्ष उत्तम भूमि पर उत्पन्न होकर और भी अधिक बढ़ते-फैलते हैं ॥ २९ ॥

शकार—विद्वन् ! वसन्तसेना तुम्हारे सामने लज्जित होती है, मुझे स्वीकार नहीं करती है । तब जाओ; स्थावरक चेट मुझसे पीड़ित होने पर भी, यह भगा कर जाता है, इसलिए उसे पकड़ कर तुम (विट) आओ ।

विटः—(स्वगतम्)

अस्मत्समक्षं हि वसन्तसेना शौण्डीर्यभावान्न भजेत मूर्खम् ।
तस्मात् करोम्येष विविक्तमस्या विविक्तविस्रम्भरसो हि कामः ॥

(प्रकाशम्) एवं भवतु, गच्छामि ।

वसन्त—(पटान्ते गृहीत्वा) णं भणामि सरणागदम्हि । (ननु भणामि शरणागतास्मि)

विटः—वसन्तसेने ! न भेतव्यं न भेतव्यम् । काणेलीमातः ! वसन्तसेना तव हस्ते न्यासः ।

अन्वयः—वसन्तसेना शौण्डीर्यभावात् अस्मत्समक्षम् हि मूर्खम् न भजेत, तस्मात् एषः अस्याः विविक्तम् करोमि, हि कामः विविक्तविस्रम्भरसः (भवति)।

अस्मदिति—शौण्डीर्यभावात् = आत्मन औदार्येण । अस्माकम् = ममेत्यर्थः, समक्षम् = समीपे, मूर्खम् = शकारम्, न भजेत = न रन्तुमङ्गीकुर्यात् स्वौदार्यभङ्गाशंकयेति शेषः । तस्मात् = कारणात् एषः = अहम् अस्याः = वसन्तसेनायाः, विविक्तम् = (स्थानमिदं) शून्यम् करोमि । हि = यतः कामः विविक्ते = शून्ये, विस्रम्भे=विश्वासे च रसः=आनुकूल्यम् यस्य सः तादृशो भवति । एकान्तस्थायिनि विश्वासपात्रे च सति प्रेयसि प्रेयस्याः कामातुरता भवति, न चानैकान्ते न चाविश्वस्त इत्याशयः । अत्र सामान्येन कामस्यैकान्तरसत्वादिना विशेषस्य वसन्तसेनागतकामोद्बोधनस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासः । उपजातिवृत्तम् ॥ ३० ॥

सरलार्थः—सदारस्वभावसम्पन्नत्वात् वसन्तसेना मम सन्निधौ विवेकशून्यं न सेवेत, तस्मादहम्, वसन्तसेनायाः कृते विजनत्वं, विदधामि, यतः मदनः विजनविश्वासानुरागवान् भवतीति भावः, निरतिशयसुखसन्तानरूपास्वादः रहसि विश्वासे च सति प्रवर्तते इति सारांशः ॥ ३० ॥

विट—(मन में) उदात्तता के कारण हमारे सामने वसन्तसेना इस मूर्ख शकार को नहीं अङ्गीकार करती है । अतः इस स्थान को मैं निर्जन करता हूँ (स्वयं यहाँ से हट जाता हूँ) क्योंकि निर्जन स्थान में विश्वास पूर्ण दोनों में परस्पर काम का संचार होता है ॥ ३० ॥

(प्रकट) ऐसा हो हो । मैं जाता हूँ ।

वसन्तसेना—(वस्त्र की छोर पकड़ कर) अजी मैं शरणागत हूँ ।

विट—वसन्तसेने ! डरो मत, डरो मत । कानेली के पुत्र शकार ! वसन्तसेना तुम्हारे हाथ में धरोहर है ।

शकारः—एव्वं। मम हत्थे एशा णाशेण चिट्ठदु (एवं मम हस्ते एषा न्यासेन तिष्ठतु)

विटः—सत्यम् ?।

शकारः—सच्चं। (सत्यम्)।

विटः—(किञ्चिद् गत्वा) अथवा मयि गते नृशंसो हन्यादेनाम्। तदपवारितशरीरः पश्यामि तावदस्य चिकीर्षितम्। (इत्येकान्ते स्थितः)

शकारः—भोदु, मालइश्शं। अधवा कवडकावडिके एशे बम्हणे वुड्ढखोडे कदावि ओवालिद-शलीले गदिअ, शिआले भविअ, हुलुभलि कलेदि ! ता एदश्श वञ्चणाणिमित्तं एव्वं दाव कलइश्शं (कुसुमावचयं कुर्वन्नात्मानं मण्डयति) वाशू ! वाशू ! वसन्तशेणिए ! एहि। (भवतु, मारयिष्यामि। अथवा कपट-कापटिक एष ब्राह्मणो वृद्धशृगालः कदापि अपवारितशरीरो गत्वा शृगालो भूत्वा कपटं करोति। तदेतस्य वञ्चनानिमित्तम् एवं तावत् करिष्यामि। बाले ! बाले। वसन्तसेने। एहि)

विटः—अये ! कामी संवृत्तः। हन्त ! निर्वृतोऽस्मि। गच्छामि। (इति निष्क्रान्तः)

शकार इति—कपटेन = छलेन कापटिकः = धूर्तः, वृद्धशृगालः = तत्सदृशः। अपवारितशरीरः = (मत्कृत्यं द्रष्टुकामेन) लतागुल्मादिनाच्छन्नशरीरः कुसुमावचयेनात्ममण्डनम् वसन्तसेनाविषयक-स्वकामावेशं विटं प्रति ज्ञापयितुं बोध्यम्।

शकार—अच्छा मेरे हाथ में यह धरोहर रूप से रहे।

विट—सच ?

शकार—सच।

विट—(कुछ दूर जाकर) अथवा, मेरे चले जाने पर यह पापी वसन्तसेना को मार डालेगा। तब छिप कर इस पापी के चरित्र को देखता हूँ। (निर्जनस्थान में छिप जाता है)

शकार—अच्छा, मारूँगा। अथवा छल से यह धूर्त ब्राह्मण वृद्धशृगाल (विट) कहीं अपने को छिपाकर शृगाल बनकर कपट करता हो ? इसलिए इस धूर्तता के लिए मैं इस प्रकार करता हूँ। (पुष्प चुनकर अपना अंग सजाता है। बाले ! बाले !! वसन्तसेने ! आओ)

विट—अरे कामी बन गया। अहा ? मैं निश्चिन्त हो गया। जाता हूँ। (चला गया)

शकारः—
शुवण्णअं देमि पिअं वदेमि पडेमि शीशेण शवेट्टणेण ।
तधावि मं णेच्छशि शुद्धदन्ति ! किं शेवअं कश्टमआ मणुश्शा ॥ ३१ ॥

(सुवर्णकं ददामि, प्रियं वदामि, पतामि शीर्षेण सवेष्टनेन ।
तथापि मां नेच्छसि शुद्धदन्ति ! किं सेवकं कष्टमया मनुष्याः ॥३१॥

वसन्त--को एत्थ सन्देहो ? । (अवनतमुखी 'खलचरितम्' इत्यादि श्लोक-द्वयं पठति) (कोऽत्र सन्देहः ?)

विट इति—कामी=कामातुरः संवृत्तः=जातः (अतो वसन्तसेनया नास्य-स्माद्भूमिति भावः) । निर्वृतः=व्याकुलताशून्यः ।

अन्वयः—सुवर्णकम् ददामि, प्रियम्, वदामि सवेष्टनेन शीर्षेण पतामि, शुद्ध-दन्ति ! तथापि माम् न इच्छसि, मनुष्या सेवकम् प्रति कष्टमयाः किम् ?

सुवर्णकमिति—सुवर्णकम्=सुवर्णमुद्राम् (अशर्फी) 'सुवर्णंबिस्तौ हेम्नोऽक्षे' ऐत्यमरः । ददामि=तव प्रसादनार्थंनुपहरामि, प्रियम्=चाटुवचनम् वदामि=वच्मि सवेष्टनेन=उष्णीषयुक्तेन शीर्षेण=शिरसा पतामि (त्वच्चरणयोरिति शेषः) । हे शुद्धदन्ति ! शुभ्रदशनशालिनि ! तथापि=प्रसादनार्थं चरणप्रणिपातेऽपि कृते इत्यर्थः । माम्=कामुकम् न इच्छसि=न कामयसे, मनुष्याः=स्त्रीपुंसाधारणाः मानवजातयः, सेवकम्=दास इति किम् ? कष्टमयाः=प्रातिकूल्येन कष्टदायकाः भवन्ति (नैवं भवितुमुचितमिति भावः) । उपजातिवृत्तम् ॥ ३१ ॥

सरलार्थः—तव सन्तोषार्थं स्वर्णालङ्कारं ददामि, प्रियं वाक्यं वदामि, उष्णीषयुक्तेन मस्तकेन तव पादयोः पतामि हे निर्मलदशने ! पूर्वोक्तप्रकारेणानुनये क्रियमाणेऽपि परिचारकं मां शकारम्, कथन्न कामयसे, मानवाः प्रायेण क्लेश-प्रधानाः, बहुप्रयासेनापि तेषामभिलाषाः नैव पूर्यन्ते इति भावः ॥ ३१ ॥

शकार—सुवर्ण के अलंकार देता हूँ, प्रिय वाणी कहता हूँ, पगड़ी के सहित अपना मस्तक तुम्हारे चरणों पर रखता हूँ, फिर भी हे निर्मल दाँतों वाली ! तुम मुझे नहीं चाहती हो । क्या सेवकों के प्रति मालिक इसी प्रकार कष्टदायक व्यवहार रखते हैं ? ॥ ३१ ॥

वसन्तसेना—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । (नीचे शिर झुका कर 'खल का चरित' इत्यादि दो श्लोक पढ़ती है)

खल ! चरित्त-निकृष्ट ! जातदोषः कथमिह मां परिलोभसे धनेन ।
सुचरितचरितं विशुद्धदेहं न हि कमलं मधुपाः परित्यजन्ति ॥ ३२ ॥
यत्नेन सेवितव्यः पुरुषः कुलशीलवान् दरिद्रोऽपि ।

अन्वयः—खल ! चरित्तनिकृष्ट ! जातदोषः, इह, कथम् धनेनमाम्, परिलोभसे ? हि मधुपाः सुचरितम् विशुद्धदेहम् कमलम् न परित्यजन्ति ।

खलेति—रे खल=दुष्ट, चरितैः=कुकर्मभिरपि, निकृष्ट=नराधम, (एतेन स्वभावः चरितञ्च सर्वं दुष्टमिति दर्शितम्) । जाताः=उत्पन्नाः, दोषाः=क्रूरताऽविमृश्यकारितादयः, यस्य सः (तथोक्तः) स्वम् इह अश्लीलप्रार्थनायाम् कथम्=केन कारणेन धनेन=सुवर्णादिदानेन माम्=वेश्यात्वेऽपि गुणानुरागिणीमिति भावः । परिलोभसे=परिलोभयसे (अन्तर्भावितण्यन्तार्थस्य लुभधातोः प्रयोगः) । मुधाऽयं तव यत्न इत्याशयः, कथमित्याह—हि=यतः मधुपाः=मधुपायिन्यः (मधुकर्यः) मधु पिबन्तीत्यर्थः 'अतोऽनुपसर्गे' इति कः । सुचरितम्=शोभनम्, चरितम्=स्वभावः (गन्धमाधुर्य—रूपकमनीयता—स्पर्शसुखावहत्वादयो गुणा इति भावः) यस्य तत्, विशुद्धम्=विमलम् (सुरशिरःस्वारोहणादतिपवित्रम्) देहम्=आकृतिं कायम् 'कायो देहः क्लीबपुंसो'रित्यमरः । यस्य तत् कमलम् न परित्यजन्ति=परित्यज्य निर्गन्धं किंशुकादिकं न भजन्ते इति यावत् । तद्वदहमपि चारुदत्तं विहाय त्वां न भजिष्ये इति निष्कर्षः । अत्राप्रस्तुतात् मधुकर्तृकमलापरित्यागरूपात् समात्, प्रस्तुतस्य वसन्तसेनाकर्तृकचारुदत्तापरित्यागस्य समस्य प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालंकारः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ३२ ॥

सरलार्थः—हे दुर्जन, व्यवहारानभिज्ञ, समुत्पन्नदोषः सुरतविषये मां वित्तेन लुब्धां कर्तुं चेष्टसे, सर्वजनाह्लादकम् निर्मलाकारम् पद्मं मधुकर्यः नोज्झन्ति, अर्थात् यथा मधुकर्यः कमलं परित्यज्य शैवालादिकं न सेवन्ते तथैव परोपकारनिरतं विशुद्धचरित्रं चारुदत्तं परित्यज्य ममानुरागस्त्वयि कदापि न सम्भाव्यत इति भावः॥

यत्नेनेति—दरिद्रः अपि कुलशीलवान् यत्नेन सेवितव्यः सम्बन्धेन स्वीकर्त्तव्यः (वेश्याभिरिति शेषः) । हि (यतः) सदृशजनसमाश्रयः (सदृशः स्वगतगुणतुल्य-

हे खल ! तुम अपने व्यवहार से दुष्ट हो, (वंश से हीन) तथा मूर्खता आदि तुममें दोष हैं, फिर तुम मुझे धन से क्यों अनुरक्त करना चाहते हो । क्योंकि सुन्दर चरित्रवाले एवं निर्मल आकृतिवाले कमल को छोड़ कर क्या भ्रमर कहीं अन्यत्र जाते हैं । (अर्थात् मैं भी शुद्ध चरित्रवाले आर्य चारुदत्त को छोड़ कर आप पर अनुरक्त नहीं हो सकती हूँ ।) ॥ ३२ ॥

कुलवान् एवं सदाचारवान् पुरुष के निर्धन होनेपर भी उसकी सेवा यत्नपूर्वक

शोभा हि पणस्त्रीणां सदृशजनसमाश्रयः कामः ।। ३३ ।।

अवि अ। सहआरपादवं सेविता ण पलास-पादवं अङ्गीकारिस्सं।
(अपि च। सहकारपादपं सेवित्वा न पलाशपादपमङ्गीकरिष्यामि)

शकारः—दाशीए धीए ! दलिद्द-चालुदत्ताके शहआलपादवे कड़े, हगे उण पलाशे भणिदे, किंशुके वि ण कड़े। एव्वं तुमं मे गालि देन्ती अज्ज वि तं ज्ज व चालुदत्ताकं शुमलेशि ?। (दास्याः पुत्रि ! दरिद्र-चारुदत्तकः सहकारपादपः कृतः, अहं पुनः पलाशो भणितः, किंशुकोऽपि न कृतः। एवं त्वं मे गालि ददती अद्यापि तमेव चारुदत्तकं स्मरसि ?)

गुणशाली, जनः समाश्रयः=अधिष्ठानम्, यस्य सः (तादृशः) कामः, परस्त्रीणाम्=वारविलासिनीनाम् शोभा=शोभावर्द्धनः अतः चारुदत्तो दरिद्रोऽपि मयाऽऽत्मसदृशगुणशालितयाऽवश्यं सेव्य इत्याशयः। अत्र प्रस्तुताभ्यां पुरुषपणस्त्रीभ्यांसामान्याभ्याम्, प्रस्तुतयोः पुरुष-पणस्त्रीविशेषयोश्चारुदत्तवसन्तसेनयोः प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा, पणस्त्री शोभावर्द्धकत्वरूपकारणेन कुलशीलवत्पुरुषसेवनरूपकार्यस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासश्च, कामशोभयोर्हेतुकार्ययोरभेदेनाभिधानाद्धेतुरलङ्कारः 'तथाहि—'अभेदेनाभिधाहेतुहेतोर्हेतुमता सहे'ति दर्पणः। एषामङ्गाङ्गित्वेन संकरः। आर्याजातिः ।।

सरलार्थः—सद्वंशोत्पन्नः चरित्रवांश्च नरः निर्द्धनोपि आदरेण वेश्याभिरपि, आश्रयणीयः, यतः वारयोषितां शोभाजनकः अनुरूपकान्तविषयकानुराग एव, जनैश्श्लाघ्यो भवतीति भावः ।। ३३ ।।

अपि चेति—सहकारपादपम् (चारुदत्तमिति भावः) पलाशपादपम् (शकारमिति भावः) अप्रस्तुतप्रशंसा।

शकार इति—किंशुकोऽपि न कृतः 'पलाशे किंशुकः' इत्यमरप्रामाण्यात्पलाशकिंशुकयोरभेदेऽपि शकारस्वभावादपार्थकमुक्तम्।

करनी चाहिये। समान गुणवाले पुरुष से समागम होने पर मदन, वेश्याओं के लिए शोभाजनक है ।। ३३ ।।

और भी। आम्र वृक्ष की सेवा कर लेने पर, पलाश वृक्ष को मैं स्वीकार नहीं करूँगी।

शकार—दासी की पुत्री ! तुमने निर्धन चारुदत्त को आम का वृक्ष बना दिया, और मुझे पलाश का कहा, किंशुक का वृक्ष भी नहीं कहा। इस प्रकार मुझे गाली देती हुई तुम आज भी चारुदत्त ही का स्मरण करती हो।

वसन्त—हिअअगदो ज्जेव किं त्ति ण सुमरीअदि ?। (हृदयगत एव किमिति न स्मर्य्यते ?)

शकारः—अज्ज वि दे हिअअगद तुमं च शमं ज्जेव मोडेमि ! ता दलिद्द-शत्थवाहअ-मणुश्श-कामुकिणि ! चिट्ठ चिट्ठ (अद्यापि ते हृदयगतं त्वाञ्च सममेव मोटयामि । तद् दरिद्र-सार्थवाहकमनुष्यकामुकि ! तिष्ठ तिष्ठ)

वसन्त—भण भण, पुणो वि भण। सलाहणिआइं एदाइं अक्खराइं ।(भण भण, पुनरपि भण। श्लाघनीयानि एतानि अक्षराणि ।)

शकारः—पलित्ताअदु दाशीए पुत्ते दलिद्द-चालुदत्ताके तुमं (परित्रायतां दास्याः पुत्रो दरिद्र-चारुदत्तकस्त्वाम्)

वसन्त—परित्ताअदि, जदि मं पेक्खदि। (परित्रायते, यदि मां प्रेक्षते)।

शकारः—

किं शे शक्के वालिपुत्ते महिन्दे लम्भापुत्ते कालणेमी शुबन्धू ॥

लुदे लाआ दोणपुत्ते जडाऊ चाणक्के वा धुन्धुमाले तिशंकूः ? ॥३४॥

(किं स शक्रो बालिपुत्रो महेन्द्रः रम्भापुत्रः कालनेमिः सुबन्धुः ।

वसन्त इति हृदयगतः = हृदयेशः ।

शकार इति—मोटयामि = चूर्णयामि 'मुट्' संचूर्णने चुरादिः ।

वसन्त इति—श्लाघनीयानि = प्रशस्यानि श्लाघृ कत्थने, इत्यस्मात् 'तव्य-त्तव्यानीयरः, इत्यनीयर् । चारुदत्तनामगतान्यक्षराणि ।

किमिति—स चारुदत्तः किम् ? शक्रः (इन्द्रः) (किम्) बालिपुत्रः महेन्द्रः (अपार्थकमेतत्) पुनरुक्तञ्च, रम्भायाः पुत्रः कालनेमिः (रावणस्य मातुलोऽयं ननु रम्भायाः पुत्र इत्यपार्थकम्) सुबन्धुः=गद्यकविः (प्रकरणनुपयोगित्वेनैतदप्यपार्थं-

---

वसन्तसेना—जो हृदय में बैठा हुआ है, क्या उसका स्मरण नहीं किया जाता है ।

शकार—आज भी तुम्हारे हृदय में बैठे हुए चारुदत्त को तथा तुम्हें पीसकर साथ ही चूर्ण करता हूँ ? तब दरिद्र चारुदत्त को चाहने वाली ! ठहर-ठहर ।

वसन्तसेना—कहो-कहो, पुनः कहो, वे (चारुदत्त) पूजनीय अक्षर हैं ।

शकार—अधम पुत्र दरिद्र चारुदत्त तुम्हारी रक्षा करे ।

वसन्तसेना—यदि मुझे देखे तो मेरी रक्षा करेगा ।

शकार—क्या वह चारुदत्त, इन्द्र है, य, बालि का पुत्र महेन्द्र है, या रम्भा

रुद्रो राजा द्रोणपुत्रो जटायुश्चाणक्यो वा धुन्धुमारस्त्रिशंकुः ? ॥ ४ ॥

अथवा एदे वि दे ण लक्खन्ति। (अथवा एतेऽपि त्वां न रक्षन्ति)

चाणक्केण जधा सीदा मालिदा भालदे जुए।

एव्वं दे मोडइश्शामि जडाऊ विअ दोवदि ॥ ३५ ॥

(इति ताडयितुमुद्यतः।)

(चाणक्येन यथा सीता मारिता भारते युगे।

एवं त्वां मोटयिष्यामि जटायुरिव द्रौपदीम् ॥ ३५ ॥)

वसन्त—हा अत्ते ! कहिं सि ?। हा अज्जचारुदत्त ! एसो जणो असम्पुण्ण-मणोरधो ज्जेव विवज्जदि। ता उद्ध अक्कन्दइस्सं अधवा वसन्तसेणा उद्धे अक्कन्ददि त्ति लज्जणीअं क्खु एदं। णम अज्जचारुदत्तस्स।

कमेव) रुद्रो नाम राजा द्रोणपुत्रो जटायुः (इदमप्यपार्थकमेव) चाणक्यः=नीतिसम्राट्, धुन्धुमारस्त्रिशङ्कुश्च द्वाविमौ पुराणप्रसिद्धौ। शालिनीवृत्तम् ॥ ३४ ॥

सरलार्थः—चारुदत्तः इन्द्रः किम ? महैश्वर्यशाली अङ्गदो वा, अथवा रम्भातनयः रावणमातुलः कालनेमिः, अथवा सुबन्धुनामदैत्यः रुद्रनामकः राजविशेषः शङ्करो वा, अश्वत्थामा वा, गुरुडपुत्रो जटायुर्वा, अथवा, नन्दवंशविध्वंसकारी चाणक्यो वा, धुन्धुमारो वा, अथवा सूर्यवंश्यस्त्रिशङ्कुर्वा, येन प्रेक्षणमात्रेण त्वां रक्षेदिति भावः ॥

अथवेति—रक्षन्ति=रक्षिष्यन्ति 'वर्तमानसामीप्ये' इति भविष्यत्कालेपि वर्तमानव्यवहारः।

चाणक्येनेति—चाणक्येन भारते युगे यथा सीता मारिता एवम् जटायुः द्रौपदीमिव त्वां मोटयिष्यामि। (पद्यमात्रमपार्थकम्) ॥ ३५ ॥

सरलार्थः—द्वापरान्ते कलिप्रारम्भे जानकी यथा चाणक्येन विनाशिता, जटायुः यथा द्रौपदीं मारितवान्, तथैव भवतीं चूर्णयिष्यामीति भावः ॥ ३५ ॥

वसन्त इति—असम्पूर्णमनोरथः=अकृतभोगविलासः, विपद्यते=म्रियते ऊर्ध्वम्=

अप्सरा का लड़का कालनेमि है, या सुबन्धु है, या रुद्र राजा है, अथवा द्रोण का पुत्र जटायु है या चाणक्य है अथवा धुन्धुमार या त्रिशंकु है ? ॥ ३४ ॥

अथवा ये भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते हैं।

भारत-युग में जिस प्रकार चाणक्य ने सीता को मारा था, तथा जिस प्रकार जटायु ने द्रौपदी को मारा था उसी प्रकार मैं तुम्हें मारूँगा ॥ ३५ ॥

वसन्तसेना—हा मा ! तुम कहाँ हो ? हा आर्य चारुदत्त ! ...

(हा मातः ! कस्मिन्नसि ? । हा आर्य्यचारुदत्त ! एष जनः असम्पूर्णमनोरथ एष विपद्यते । तदूर्ध्वमाक्रन्दयिष्यामि । अथवा वसन्तसेना ऊर्ध्वमाक्रन्दतीति लज्जनीयं खल्वेतत् । नम आर्य्यचारुदत्ताय)

शकारः—अज्जवि गब्भदाशी तश्श ज्जेव पावश्श णामं गेण्हदि ? । (इति कण्ठे पीडयन्) शुमल गब्भदाशि ! शुमल (अद्यापि गर्भदासी तस्यैव पापस्य नाम गृह्णाति ? स्मर गर्भदासि ! स्मर)

वसन्त—णमो अज्जचारुदत्तस्स । (नम आर्यचारुदत्ताय)

शकारः—मल गब्भदाशि ! मल । (नाटयेन कण्ठे निपीडयन् मारयति) (म्रियस्व गर्भदासि म्रियस्व)

(वसन्तसेना मूर्छिता निश्चेष्टा पतति ।)

शकारः—(सहर्षम्)

एदं दोषकलण्डिअं अविणअश्शावाशभूदं खलं
लत्तं तश्श किलागदश्श लमणे कालागदं आअदं ।
किं एशो शमुदापहलामि णिअअं वाहूण शूलत्तणं
णीशाशे वि मलेइ अम्ब शुमला शीदा जधा भालदे ॥ ३६ ॥

अत्युच्चैः, आक्रन्दयिष्यामि = रोदयिष्यामि (भवन्तम्) । लज्जनीयम्=लज्जास्पदम् (तवैवेति शेषः) ।

मनोरथ के साथ ही मरती है । इसलिए ऊँचे स्वर से रोऊँगी । अथवा 'वसन्तसेना ऊँचे स्वर से रोती है' यह लज्जा का विषय है । आर्य-चारुदत्त को नमस्कार है ।

शकार—अब भी यह अधम दासी, उसी पापी का नाम ले रही है ? (कण्ठ में चोट पहुँचाते हुए) स्मरण कर अधम दासी ! स्मरण कर ।

वसन्तसेना—आर्य चारुदत्त को नमस्कार है ।

शकार—मर जा अधम दासी ! मर जा । (कण्ठ को दबाता हुआ मारता है)

(वसन्तसेना मूर्छित होकर एवं निश्चेष्ट होकर गिर जाती है)

शकार—(प्रसन्नतापूर्वक) मैं पापों का पात्र, दुर्व्यवहार की निवास-भूमि, जीर्णोद्यान में आए हुए चारुदत्त के साथ रमण के लिए आई हुई, समय के फेर से आई हुई, अनुरागिणी हुई इस वसन्तसेना को मारकर क्या मैं अपनी

एतां दोषकरण्डिकामविनयस्यावासभूतां खलां
रक्तां तस्य किलागतस्य रमणे कालागतामागताम् ।
किमेष समुदाहरामि निजकं बाह्वोः शूरत्वं
निःश्वसेऽपि म्रियते अम्बा सुमृता सीता यथा भारते ॥ ३६ ॥)
इच्छन्तं मम णेच्छति त्ति गणिआ पाशेण मालिदा
शुण्णे पुप्फकलण्डके त्ति शहशा पाशेण उत्ताशिदा ।
शे वा वञ्चिद भादुके मल पिदा मादेव शा दोप्पदी
जे शे पेक्खदि णेदिशं ववशिदं पुत्ताह शूलत्तणं ॥ ३७ ॥

अन्वयः—एषः दोषकरण्डिकाम्, अविनस्यावासभूताम् खलाम्, आगतस्य तस्य रमणे आगताम् कालागतम्, रक्ताम् एताम् (वसन्तसेनाम् हृत्वा) निजकम् बाह्वोः शूरत्वम् किम् समुदाहरामि भारते यथा सीता सुमृता (तथैव) अम्बा वसन्तसेनाऽपि (मम) निःश्वासे अपि म्रियते ।

एतामिति—दोषाणाम् = हठगर्वादीनाम्, करण्डिका = वंशपात्रिका (पिटारी भा०) ताम् आगतस्य = पूर्वसङ्केतेनोपस्थितस्य (जीर्णोद्याने इति शेषः) तस्य = चारुदत्तस्य, रमणे = सुरतनिमित्तम् 'निमित्तात्कर्मयोगे' इति सप्तमी । आगताम्, कालागताम् = कालप्रेरिताम्, रक्ताम् = चारुदत्तेऽनुरक्ताम्, एताम् = वसन्तसेनाम् (हत्वा) निजकं बाह्वोः शूरत्वं किं समुदाहरामि?(किमपि नेत्यर्थः) तथाहि—भारते=महाभारतयुद्धे भारतवर्षे वा, यथा सीता सुमृता (हतोपममपार्थकञ्चैतम्) तथैव अम्बा (लोकन्यायविरुद्धमेतत्) (माता) मम निःश्वासेऽपि = निःश्वासपातेऽपि मृता । निःश्वासवायुस्पर्शतोऽपि मृताया मारणे का मे बाह्वोः प्रशंसेति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३६ ॥

सरलार्थः—पापादीनां पात्रभूतां दुर्व्यवहारस्याश्रयीभूतां क्रूरस्वभावां चारुदत्तं रमयितुमुपस्थितां तत्रानुरागिणीं, मृत्युप्रेरितां वसन्तसेनां विनाश्य अहम् स्वकीयबाह्वोः वीर्यं प्रकटयामि, किमर्थम्, शूरशिरोमणेः नार्याः हनने बलमाहात्म्याभावादिति भावः । यथा महाभारतोपाख्याने जानकी मृता तथैव माता वसन्तसेना मम-निःश्वासपातेऽपि प्राणैः वियुज्यते मम बाहुबलस्य न काप्यावश्यकतेति भावः ॥३६॥

भुजाओ दिखाऊँ ! माता वसन्तसेना तो मेरे श्वास लेने मात्र से उसी प्रकार मर जायगी जिस प्रकार भारत युग में सीता जी मरी थीं ॥ ३६ ॥

मेरे चाहने पर भी वसन्तसेना मुझे नहीं चाहती है, अतः मेरे बाहुपाश से वह शून्य पुष्पकरण्डक पुरातन उपवन में मारी गई, बाहुपाश से वह मयभीत की

(इच्छन्तं मां नेच्छतीति गणिका मया मारिता
शून्ये पुष्पकरण्डके इति सहसा पाशेन उत्त्रासिता ।
स वा वञ्चितो भ्राता मम पिता मातेव सा द्रौपदी
योऽसौ पश्यति नेदृशं व्यवसितं पुत्रस्य शूरत्वम् ॥ ३७ ॥

भोदु, सम्पदं वुड्ढखोड़े आगमिश्शदित्ति । ता ओशलिअ चिट्ठामि । (तथा करोति) (भवतु, साम्प्रतं वृद्धशृगाल आगमिष्यतीति तदपसृत्य तिष्ठामि

विटः—(प्रविश्य चेटेन सह) अनुनीतो मया स्थावरकश्चेटः। तद् यावत् काणेलीमातरं पश्यामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) अये ! मार्ग एव पादयो-

---

इच्छन्तमिति—इच्छन्तम् (रन्तुमिति शेषः) माम् नेच्छति इति = कारणात् शून्ये पुष्पकरण्डके पाशेन (बाहुपाशेन) गणिका (वसन्तसेना मारिता, तथा पाशेन = बाहुपाशेनैव सहसा उत्त्रासिता = (भयं गमिता) । स मम भ्राता वञ्चितः स वा मम पिता वञ्चितः तथा द्रौपदीव सा मम भ्राता च वञ्चितः, योऽसौ भ्राता पिता याऽसौ माता चेति तात्पर्यम्, पुत्रस्य भ्रातुश्चेति ज्ञेयम् ईदृशम् = वसन्तसेनाहननोपबृंहितम् शूरत्वम् व्यवसितम्=उद्योगम् च न पश्यति । आत्मीयस्य गुणोत्कर्षं आत्मीयेनावश्यं द्रष्टव्य इति भावः तत्तु न जातमित्येव वञ्चनेति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३७ ॥

सरलार्थः—तामेव रन्तुमिच्छन्तं मां सा नेच्छति, अत एव मया जनरहितेपुष्पकरण्डकनामकोद्याने । रज्जुरूपेण भुजेन पीडयित्वा, नाशिता, रोषेण भयं प्रापिता, मम सहोदरः प्रतारितः, मम जनकोऽपि मया प्रतारितः, द्रुपदनन्दिनीव प्रसिद्धा पञ्चलिङ्गक्षतयोनिकात्ववेश्यात्वमिति शास्त्रनिर्धारितत्वात्स्वमातुः वेश्यात्वंवर्णयति, साऽपि मया वञ्चिता पिता माता ममानुष्ठितं स्त्रीविनाशरूपं नावलोकयते अतस्तौ चक्षुषः फलं नाधिगताविति भावः ॥ ३७ ॥

भवत्विति—वृद्धशृगालः=विटः=अपसृत्य=वसन्तसेनामृतिस्थानात् दूरं गत्वा । न चेत् मामेव तन्मारकं विद्यादिति भावः ।

प्रविश्येति—अनुनीतः = आनुकूल्येन स्थापितः । मार्गे एव पादयोर्निपतितः—

गई । वह मेरे भाई, मेरे पिता तथा द्रौपदी के तुल्य मेरी माता वंचित रह गई, जिसने अपने पुत्र की इस प्रकार वीरता नहीं देखी ॥ ३७ ॥

अच्छा अब वह वृद्ध शृगाल विट आवेगा, अतः दूर हट कर बैठता हूँ । (दूर हट जाता है)

विट—(चेट के साथ विट आकर) स्थावरक चेट को मैं ने ठीक करके के

निपतितः। अनेन च पतता स्त्री व्यापादिता। भोः पाप! किमिदमकार्यमनुष्ठितं त्वया? तवापि पापिनः पतनात् स्त्रीवधदर्शनेनातीव पातिता वयम्। अनिमित्तमेतद् यत्सत्यं वसन्तसेनां प्रति शङ्कितं मे मनः सर्वथा देवताः स्वस्ति करिष्यन्ति। (शकारमुपसृत्य) काणेलीमातः! एवं मया अनुनीतः स्थावरकश्चेटः।

शकारः—भावे! शाअदं दे? पुत्तका! थावलका! चेड़ा! तवावि शाअदं?। (भाव! स्वागतं। ते पुत्रक, स्थावरक! चेट! तवापि स्वागतम्)

चेटः—अधइं। (अथ किम्)

विटः—मदीयं न्यासमुपनय।

मार्गगतो दूरादेव मच्चरणयोरुद्देशे अनुनयानयनार्थं दण्डवत् पतितः, स्त्री = वसन्तसेना व्यापादिता भवेत्, इत्यहं तर्कये इत्याशयः। नीचस्य नमनमनिष्टं जनयतीति विटस्यानुमानम्। पतनात् = 'स्त्रीहत्याजनितघोरपापेनाधः पतनात्, स्त्रीवधदर्शनेन (कर्तृभूतेन) वयं पातिताः दूरादेव शकारं प्रति उक्तिरियम् एतदग्रे स्वमनस्येवाह-अनिमित्तमित्यादि-अनिमित्तम् = अपशकुनम्, वसन्तसेनां प्रति = वसन्तसेनाया जीवनसत्ताविषये, मनः शङ्कितम् = जीवति न वाम ति संशयग्रस्तम्। 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणवृत्तयः' इत्यभियुक्तोक्तेरिति भावः। स्वस्ति = कल्याणम् 'स्वस्त्याशीः क्षेमपुण्यादौ' वित्यमरः।

आया। तब काणेलीपुत्र शकार को देखता हूँ। (घूमकर और देखकर) अरे रास्ते ही में पैरों पर गिरी है। इस पतित ने तो स्त्री को मार डाला। ऐ पापी! तुमने यह दुष्कार्य क्यों किया? तुम पापी के पतन से, स्त्री का वध देखने से हम लोग भी पतित हो गए। सच में, बिना कारण ही वसन्तसेना के प्रति मेरा मन शङ्कित हुआ था। देवगण हर प्रकार से कल्याण करेंगे। (शकार के पास जाकर) काणेली के पुत्र! मैं स्थावरक के चेट को मनाकर ले आया।

शकार—विद्वन्! तुम्हारा अभिनन्दन करता हूँ। पुत्रक! स्थावरक! चेट! तुम्हारा भी स्वागत है।

चेट—हाँ।

विट—मेरी धरोहर लाओ।

१. शरणागत-बाल-स्त्री-हिंसकान् संवसेन्न तु। चीर्णव्रतामपि सदा कृतघ्नसहितानिमान्॥ इति स्त्रीहत्यायां पातित्यमुक्तं स्मृतौ।

शकारः—कीदिशो ? (कीदृशः ?)

विटः—वसन्तसेना ।

शकारः—गदा । (गता)

विटः - क्व ? ।

शकारः—भावश्श ज्जेव पिट्ठुदो । (भावस्यैव पृष्ठतः)

विटः—(सवितर्कम्) न गता खलु सा तया दिशा ।

शकारः—तुमं कदमाए दिशाए गड़े ? । (त्वं कतमया दिशा गतः ?)

विटः—पूर्वया दिशा ।

शकारः—शा वि दक्खिणाए गड़ा । (सापि दक्षिणया गता)

विटः—अहं दक्षिणया ।

शकारः—शा वि उत्तलाए । (सापि उत्तरया)

विटः—अत्याकुलं कथयसि । न शुध्यति मे अन्तरात्मा । तत् कथय सत्यम् !

विट इति—अत्याकुलम्=असम्बद्धम् । न शुद्धयति=संशयशून्यो न भवति ।

शकार—कैसी ?

विट—वसन्तसेना ।

शकार—वह गई ।

विट—कहाँ ?

शकार—आप ही के पीछे-पीछे ।

विट—(विचारपूर्वक) उस ओर तो वह नहीं गई है ।

शकार—तुम किस ओर गए थे !

विट—पूर्व की ओर ।

शकार—वह भी दक्षिण की ओर गई ।

विट—मैं दक्षिण की ओर गया था ।

शकार—वह भी उत्तर की ओर गई ।

विट—घबड़ा कर कह रहे हो । मेरी अन्तरात्मा शुद्ध नहीं हो रही है । इसलिए सच सच कहो ।

शकारः—शवामि भावश्श शीशं अत्तणकेल्केहिं पादेहिं ता, शण्ठावेहि हिअअं, एशा मए मालिदा। (शपे भावस्य शीर्षमात्मीयाभ्यां पादाभ्याम्, तत् संस्थापय हृदयम् एषा मया मारिता)

विटः—(सविषादम्) सत्यं त्वया व्यापादिता ?।

शकारः—जइ मम वअणे ण पत्तिआअसि, ता पेक्ख पढमं लट्टिअशालसण्ठाणाह शूलत्तणं। (इति दर्शयति) (यदि मम वचने न प्रत्ययसे, तत् प्रेक्षस्व प्रथमं राष्ट्रिय-श्याल-संस्थानस्य शूरत्वम्)

विटः—हा ! हतोऽस्मि मन्दभाग्यः। (इति मूर्च्छितः पतति)

शकारः—ही ही ! उवलदे भावे। (ही ही ! उपरतो भावः)

चेटः—शमश्शशदु शमश्शशदु भावे। अविचालिअं पवहणं आणन्तेण ज्जेव मए पढमं मालिदा (समाश्वसितु समाश्वसितु भावः। अविचारितं प्रवहणमानयतैव मया प्रथमं मारिता)

शकार इति—आत्मीयाभ्याम्=स्वकीयाभ्याम् 'आत्मन इमौ इत्यर्थे वृद्धाच्छः' इति छः तस्येयादेशे आत्मीयाविति रूपम्' ताभ्याम्। पादाभ्याम् भावस्य=पण्डितस्य (विटस्य) शीर्षम्=मस्तकम् (स्पृष्ट्वा) शपे=शपथं करोमि (शपथकरणस्येदृशी मुद्रा लोके वेदे च प्रसिद्धा किन्तु शकारसम्बन्धेन युज्यत एव)। हृदयं संस्थापय=स्थिरीकुरु। मारिता वसन्तसेना (मया)

शकार इति—प्रत्ययसे=विश्वसिष। दर्शयति (मारितां वसन्तसेनामिति शेषः)।

शकार इति—ही=विस्मये 'अहो ही च विस्मये' इत्यमरः। तस्यातिशये द्विरुक्तिः। उपरतः=मृतः, वसन्तसेनामरणादयमपि मृत इत्याश्चर्यमिति भावः।

चेट इति—अविचारितम्=शकारस्य योग्या इयमस्ति न वेति विचारशून्यम्।

शकार—आपके मस्तक को अपने पैरों से स्पर्श कर मैं शपथ खाता हूँ—हृदय को स्थिर कर सुनो—'मैंने वसन्तसेना को मार डाला।'

विट—(विषादपूर्वक) सच में तुमने मार डाला ?

शकार—यदि मेरी बात पर विश्वास नहीं करते हो, तो पहले राजश्यालक संस्थान का वीरत्व देखो। (गिरी हुई वसन्तसेना को दिखलाता है)

विट—हाय ! मैं अभागा तो मर गया (मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है)

शकार—अरे ! भाव (विट) मर गया।

चेट—भाव ! धैर्य धारण कीजिए, धैर्य धारण कीजिए। बिना विचारे गाड़ी पर ले आकर पहले तो मैंने ही उसे मार डाला।

विटः—(समाश्वस्य सकरुणम्) हा वसन्तसेने !
दाक्षिण्योदकवाहिनी विगलिता याता स्वदेशं रतिः
हा हालङ्कृतभूषणे ! सुवदने ! क्रीडारसोद्भासिनि ! ।
हा सौजन्यनदि ! प्रहासपुलिने ! हा मादृशामाश्रये !
हा हा नश्यति मन्मथस्य विपणिः सौभाग्यपण्याकरः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हा हा अलंकृतभूषणे ! सुवदने ! क्रीडारसोद्भासिनि ! हा सौजन्यनदि ! प्रहासपुलिने ! हा मादृशाम् आश्रये ! दाक्षिण्योदकवाहिनी विगलिता, रतिः स्वदेशम् प्रयाता, सौभाग्यपण्याकरः मन्मथस्य विपणिः हा हा नश्यति ।

दाक्षिण्य इति—हा हा=महाविषादे 'हा विषादशुर्गतिषु' इत्यमरः । तस्यातिशये द्विरुक्तिः । अलंकृतानि भूषणानि यया तत्सम्बुद्धौ । भूषणानामेव भूषणीभूते इत्यर्थः । (एतेन लोकोत्तरसौन्दर्यमस्या व्यज्यते) सुवदने ! क्रीडायाः=विविधकामक्रीडायाः रसेन=अनुरागेण उद्भासते=शोभते इति तत्सम्बुद्धौ । सौजन्यस्य=साधुतागुणस्य (जलरूपस्य) नदी=नदीरूपा तत्सम्बुद्धौ 'अम्बार्थनद्यो'रिति=ह्रस्वः । प्रहास एव पुलिनम्=जलोत्थित भागः (पानी से निकला हुआ रेतीला किनारा) यस्यास्तत्सम्बुद्धौ । मादृशाम्=वेश्यागामित्वेऽपि गुणग्राहिणाम् आश्रये=आश्रयदायिनि ! आश्रयः अस्ति अस्यामिति विग्रहे 'अर्शआदिभ्य' इत्यच् । तत्रापि तत्सम्बुद्धौ । दाक्षिण्यमेवोदकं तस्य वाहिनी=नदी 'स्रवन्त्यामपि वाहिनी' इत्यमरः । विगलिता=विनष्टा । रतिः=कामस्य कामिनी स्वदेशम्=स्वर्गम् याता=गता, (रतिरेव वसन्तसेनारूपेणात्रावतीर्य पुनर्दिवङ्गतेत्याशयः) सौभाग्यम्=कान्तप्रियत्वं एव पण्यम्=विक्रेयद्रव्यम् तस्य आकरः=खनिः 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यादि'त्यमरः । मन्मथस्य मदनस्य विपणिः=पण्यवीथिका (दुकान) हा हा नश्यति=नष्टा । भूते च वर्तमानवद्व्यवहारः । प्रथमे पादे परम्परितरूपकम्, तृतीये एकदेशविवर्तिरूपकम्, चतुर्थे एकदेशविवर्तिरूपकम्, एतेषां संसृष्टत्वात् संसृष्टिश्च । शा० वि० वृत्तम् ॥३८॥

सरलार्थः—औदार्यजलप्रवाहिणी विनष्टा, स्वर्लोकं स्मरपत्नी गता, अलङ्कारालङ्कारस्वरूपे, सुमुखि, केल्यनुरागप्रकाशिके, सुजनतातरङ्गिणि हास्यसैकते ? मत्स-

विट—(धैर्य धारण कर, करुणापूर्वक) हा वसन्तसेने !

हा अलंकार की विभूषणे ! सुवदने ! लीलारसोद्भासिनि ! सुजनता की नदी ! हासपुलिने ! हा मुझ जैसों की आश्रय दायिनि ! वसन्तसेने !! उदारता, रूपी जल की नदी विलुप्त हो गई, वसन्तसेना के रूप में अवतीर्ण रति पुनः स्वर्ग में चली गई । हाय ! हाय !! सौभाग्यरूप विक्रेयरूप द्रव्य की निधि एवं कामदेव का बाजार लुट गया ॥ ३८ ॥

(सास्रम्) कष्टं भोः ! कष्टम् ।

किं नु नाम भवेत् कार्यमिदं येन त्वया कृतम् ।
अपापा पापकल्पेन नगरश्रीर्निपातिता ॥ ३९ ॥

(स्वगतम्) अये ! कदाचिदयं पाप इदमकार्यं मयि संक्रामयेत् ? भवतु, इतो गच्छामि ।

शकारः—(उपागम्य धारयति)

विटः—पाप ! मा मा स्प्राक्षीः । अलं त्वया । गच्छाम्यहम् ।

हृदयजनाश्रयभूते ! अद्य त्वं नष्टा, इति हेतोः सौभाग्यरूपविक्रेयद्रव्याश्रयभूता मदनस्य पण्यवीथिका नष्टा, तेन महत्कष्टमिति भावः ॥ ३८ ॥

अन्वयः— किम् नु नाम कार्यम् भवेत् येन त्वया इदम् कृतम्, पापकल्पेन (त्वया) अपापा नगरश्रीः निपातिता ।

किमिति—किन्नु नाम = कीदृशं तन्नाम कार्यम् = फलम् भवेत्, येन = यत्फलमुद्दिश्य त्वया = नराधमेन इदम् = अनपराद्धस्त्रीहत्यारूपं दुष्कर्मं कृतम्, पापकल्पेन = ईषदूनपातेन 'ईषदसमाप्तौ कल्प'बिति कल्पप्प्रत्ययः । अपापा = निरपराधा नगरस्य साक्षाच्छ्रीः = लक्ष्मीः, निपातिता = मारिता । वसन्तसेनया अन्तकरणेन महापातित्वमेव त्वया न कृतम्, अपितु नगरमिदमपि श्रीहीनं सम्पादितमिति भावः ।

अत्र पापकल्पेनेत्यार्थी उपमा नगरश्रीरिति निरङ्गं केवलरूपकञ्च, अनयोः संसृष्टिः ।

सरलार्थः—भवता येन हेतुना वसन्तसेनाहननरूपं दुष्कर्मं अनुष्ठितम्, तेन कार्येण किं फलम्, न किमपीति भावः, मूर्त्तिमता पापेन त्वया निरपराधा नगरशोभा, वसन्तसेनेति यावत् विनाशिता, इति महद् दुःखदमिति भावः ॥ ३९ ॥

स्वगतमिति—अयं पापः = पापात्मा शकारः, संक्रामयेत् = मय्येवारोपयेत् ।

विट इति—मा = निषेधे सम्भ्रमे च द्विरुक्तिः, 'आलापाद् गात्रसंस्पर्शात्' इति

(अश्रुपूर्ण होकर) कष्ट है; महाकष्ट है ।

वसन्तसेना को मारकर जो तुमने दुष्कार्य किया है, उससे तुम्हारा कौन सा प्रयोजन सिद्ध होता है ? जिससे पाप-पूर्ण तुमने निर्दोष एवं उज्जयिनी की लक्ष्मी वसन्तसेना को मार डाला ! ॥ ३९ ॥

(मन में) अरे ! कहीं यह पापी शकार इस दुष्कार्य को मेरे ऊपर आरोपित न कर दे ? अच्छा, तो मैं यहाँ से जाता हूँ ।

शकार—(आकर विट को पकड़ता है)

विट—पापी ! मुझे स्पर्श न करो । तुम्हारा प्रयास व्यर्थ है । मैं जाता हूँ ।

शकारः—अले ! वशन्तशेणिअं शअं ज्जेव्व मालिअ मं दुशिअ कहिं पलाअशि ? । शम्पदं ईदिशे हग्गे अणाधे पाविदे । (अरे ! वसन्तसेनां स्वयमेव मारयित्वा मां दूषयित्वा कुत्र पलायसे ? । साम्प्रतम् ईदृशोऽहमनाथः प्राप्तः)

विटः—अपध्वस्तोऽसि ।

शकारः—

अत्थं शदं देमि शुवण्णअं दे कहावणं देमि शवोड्डिअं दे ।
एशे दुशेट्ठाणं पलक्कमे मे शामाण्णए भोदु मणुश्शआणं ॥ ४० ॥
(अर्थान् शतं ददामि सुवर्णकं ते कार्षापणं ददामि सवोडिकं ते ।
एष दोषस्थानं पराक्रमो मे सामान्यको भवतु मनुष्यकाणाम् ॥ ४० ॥)

स्मृत्या पतितगात्रसंस्पर्शनादपि पापसंक्रमात् । स्प्राक्षीः=स्पर्शं कुरु । मा मामिति वा ।

शकार इति—अनाथः=अशरणः, प्राप्तः=जातः (स्त्रीहत्यापराधारोपात्) ।

विट इति—अपध्वस्तोऽसि=अधःपतितोऽसि ।

अन्वयः—शतम् अर्थान् सुवर्णकम् ते ददामि, सवोडिकम् कार्षापणम् (ते ददामि) दोषस्थानम् मम एष पराक्रमः, मनुष्यकाणाम् सामान्यकः भवतु ।

अर्थानिति—शतम्=प्रचुरमिति भावः, अर्थान्=विभवान् 'अर्थारैविभवा अपी'-त्यमरः । सुवर्णकम्=स्वर्णमुद्राश्चैकाम् ते=तुभ्यम् ददामि (उत्कोचरूपेण पारितोषिकरूपेण वा ददामि इति भावः) वोडिना=विंशत्या कपर्दकैः, सहेति सवोडिकम् कार्षापणम्=राजमुद्राम् 'कार्षापणः (मुद्रा) कार्षिकः स्यात् कार्षिके ताम्रिके पणः' (पैसा) इत्यमरः । 'वोडिर्विंशतिकपर्दको गौडे प्रसिद्धः' इति पृथ्वीधरः । दोषस्य=अपराधस्य स्थानम्=आस्पदीभूतम् एषः=वसन्तसेनाहत्याप्रयोजकः मे=मम पराक्रमः=वीरता, मनुष्यकाणाम्=सर्वेषां विटचेटप्रभृतीनामस्माकम् (यद्वा अस्मादितरमनुष्याणाम्) सामान्यकः=साधारणो भवतु । एककर्तृकघाते प्राणदण्डः, बहुकर्तृकत्वे तु न । यद्वा प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्येति नयेन अन्येषां जनसाधारणानामुपरि पातनीयोऽयमपराध इत्याशयः ॥ ४० ॥

शकार—अरे ! स्वयं ही वसन्तसेना को मार कर तथा मुझ पर कलंक लगाकर तुम कहाँ भागे जाते हो ? इस समय मैं ऐसा असहाय हो गया ।

विट—तुम अधःपतित हो गये हो ।

शकार—मैं तुम्हें सौ संख्या के बराबर धन देता हूँ, स्वर्णमुद्रा देता हूँ, बीस कौड़ी के सहित कर्षापण (सोलह पण के बराबर कौड़ी समूह) देता हूँ, अतः यह वसन्तसेना को मारने वाला मेरा दोष किन्हीं अन्य साधारण मनुष्यों पर लागू हो जाय ॥ ४० ॥

विटः—धिक्, तवैवास्तु।

चेटः—शन्तं पावं। (शान्तं पापम्)

शकारः—(हसति)

विटः—

अप्रीतिर्भवतु विमुच्यतां हि हासो धिक् प्रीतिं परिभवकारिकामनार्याम्।
मा भूच्च त्वयि मम सङ्गतं कदाचिद्-आच्छिन्नं धनुरिव निर्गुणं त्यजामि॥

सरलार्थः—शतसंख्याकानि धनानि तुभ्यं स्वर्णमुद्राश्चैकां प्रयच्छामि, विंशतिकपर्दकयुक्तं षोडशपणञ्च तुभ्यं ददामि; वसन्तसेनाहत्यारूपः पराक्रमः सर्वेषामेव त्रयाणामस्माकं साधारणो भवतु, हे विट! त्वमेतदेव भण यत् वसन्तसेना सर्वैः सम्भूयास्माभिर्मारितेति भावः॥ ४०॥

चेट इति—शान्तं पापम्=नैतद्वाच्यम् इत्यर्थः 'शान्तं पापमनिर्दिश्ये' इत्यमरः।

अन्वयः—हि हासः विमुच्यताम्, अप्रीतिः, भवतु, अनार्याम् परिभवकारिकाम् प्रीतिम् धिक्, कदाचित् च त्वयि मम सङ्गतम् मा भूत्। आच्छिन्नम् धनुः इव निर्गुणम् त्यजामि।

अप्रीतिरिति—हि=निश्चयेन हासः=असामयिकं हसनम्, विमुच्यताम्=त्यज्यताम् (अनौचित्यादिति भावः) त्वया साकम् अप्रीतिः=स्नेहाभावः, भवतु, प्रीतौ किं दूषणमित्याह:अनार्याम्=दुर्जनसंसर्गेण दूषितत्वादश्रेष्ठाम् परिभवकारिकाम्=अनादरकारिणीम् 'अनादरः परिभवः' इत्यमरः। करोतीति कारिका 'ण्वुल्तृचौ'विति ण्वुल्। अकादेशे 'प्रत्ययस्था' दितीत्वे टापि रूपम्। परिभवस्य कारिकेति शेषषष्ठ्या समासः। परिभवं करोतीति विग्रहे तु 'कर्मण्यण्'स्यात्तेन नोक्तरूपसिद्धिः। प्रीतिम् धिक्। कदाचिदपि त्वयि मम सङ्गतं माभूत् (त्वद्विधनराधमसंसर्गस्य महानर्थकरत्वादस्याशयः) अतः आच्छिन्नम्=त्रुटितम् निर्गुणम्=मौर्वीशून्यम् धनुरिव दयादाक्षिण्यादिरहितं त्वां त्यजामि। पूर्णोपमा। प्रहर्षिणी वृत्तम्॥४१॥

विट—तुम्हें धिक्कार है। यह क्षेप तुम पर ही रहेगा।

चेट—ऐसा न कहो शकार! अर्थात् जिसका पाप है, उसी पर रहेगा।

शकार—(हँसता है)

विट—निरर्थक हँसी का परित्याग करो। तुम्हारे साथ अब मेरी प्रीति (मित्रता) नहीं रहेगी। ऐसी मित्रता को धिक्कार है जिससे कि अपमान एवं दुर्जनता की गन्ध आती रहती है। तुम्हारे साथ हमारा सम्मेलन कभी भी न हो। निर्गुण (डोरी से रहित) एवं टूटे धनुष के समान तुम्हें छोड़कर जाता हूँ॥ ४१॥

शकारः—भावे ! पशीद पशीद ! एहि णलिणीए पविशअ कीलेम्ह
(भाव ! प्रसीद प्रसीद ! एहि, नलिन्यां प्रविश्य क्रीडावः)

विटः—अपतितमपि तावत् सेवमानं भवन्तं
पतितमिव जनोऽयं मन्यते मामनार्यम् ।
कथमहमनुयायां त्वां हतस्त्रीकमेनं
पुनरपि नगरस्त्री-शङ्कितार्द्धाक्षिदृष्टम् ॥ ४२ ॥

सरलार्थः–निश्चितं हास्यमिदं परित्यज्यताम्, त्वया सार्द्धमसौहार्दं भवतु, लोकतिरस्कारजनिकां प्रीतिं धिक्, कदाचिदपि त्वयि मम सम्मेलनं न भवतु, त्वत्सम्मेलनस्य पापजनकत्वादिति भावः, अत एव मौर्वीहीनं धनुरिव दाक्षिण्यादिगुणशून्यं त्वां त्यजामीति भावः ॥ ४१ ॥

शकार इति—नलिन्याम् = कमलपूर्णसरस्याम् ।

अन्वयः—अयम् जनः तावत् अपतितम् अपि माम् भवन्तम् सेवमानम्, पतितम् इव अनार्यम् मन्यते, अहम् हतस्त्रीकम् नगरस्त्रीशङ्कितार्द्धाक्षिदृष्टम् एनम् त्वाम् पुनरपि कथम् अनुयायाम् ।

अपतितमिति–अयम् जनः = सर्वसाधारणो लोकः जनतेति यावत् । तावदिति वाक्यालङ्कारे अपतितम् = निष्पापम् अपि माम्, भवन्तम् = महापातकिनं त्वाम् सेवमानम् पतितमिव अनार्यम् = अधमम् मन्यते । अहम् हतस्त्रीकम् = स्त्रीघातिनम् अत एव नगरस्त्रीभिः शङ्कितेन = संशयेन अर्द्धाक्षिभिः = अर्द्धमुद्रितलोचनैः । अर्द्धानि अक्षाणीति विग्रहे 'अर्द्धं नपुंसकमि'ति समासः, अर्द्धाक्षीणि तैः । दृष्टम् (अनिष्टाशङ्कया संकुचितदृष्ट्या दृष्टमित्याशयः) एनम् त्वां पुनरपि कथमनुयायाम् कथमपि नेत्यर्थः ।

अत्र विटकर्तृकशकारानुगमनाभावं प्रति जनताकर्तृकविटविषयकपातित्यानुसन्धानस्य हेतुत्वात्काव्यलिङ्गमलङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥ ४२ ॥

सरलार्थः–साधारणलोकः पातित्यहीनमपि मां भवन्तं सेवमानं दुर्जनं मन्यते, नितरामहं स्त्रीवधकारिणं पुरकामिनीभिः सङ्कुचितनयनैर्दृष्टं त्वां पुनरपि कथमनुगच्छेयम्, न कथमपीति भावः ॥ ४२ ॥

शकार—विद्वन् ! प्रसन्न होइए, प्रसन्न होइए । आइये, कमलयुक्त इस तालाब में खेल करें ।

विट—मैं स्वयं ही अथवा साधारण जनता आप के साथ रहने से पापरहित भी मुझे, पतित के समान असाधु रूप में समझेगी । वसन्तसेना को मारने वाले तथा नगर की स्त्रियों से सशंक कनखियों से देखे जाने वाले तुम पर क्षुब्ध होकर कैसे तुम्हारा अनुसरण करूँ ॥ ४२ ॥

(सकरुणम्) वसन्तसेने !

अन्यस्यामपि जातौ मा वेश्या भूस्त्वं हि सुन्दरि ! ।
चारित्र्यगुणसम्पन्ने ! जायेथा विमले कुले ॥ ४३ ॥

शकारः—मम केलके पुप्फकलण्डक–जिण्णुज्जाणे वशन्तशेणिअं मालिअ केहि पलाअसि ? ! एहि, मम आवुत्तश्श अग्गदो ववहालं देहि । (इति धारयति) (मदीये क्रीडके पुष्पकरण्डक–जीर्णोद्याने वसन्तसेनां मारयित्वा कस्मिन् पलायसे । एहि, मम आवुत्तस्य अग्रतो व्यवहारं देहि)

विटः—आः ! तिष्ठ जाल्म ! (इति खड्गमाकर्षति)

अन्वयः—सुन्दरि अन्यस्याम् जातौ अपि त्वम् वेश्या मा भूः चारित्र्यगुणसम्पन्ने विमले कुले जायेथाः ।

अन्यस्यामिति—हे सुन्दरि ! अन्यस्याम् = भाविन्याम् जातौ = जन्मनि 'जातिः सामान्यजन्मनोः' इत्यमरः, अपि वेश्या मा भूः=नैव भव, (ईदृशदुर्मरणस्य तत्रापि सम्भवादिति भावः) चरितमेव चारित्र्यम् 'चातुर्वर्ण्यादित्वात्'स्वार्थे ष्यञ् । सच्चरित्रम् (सत्पुरुषविषयकानुरागित्वरूपम्) गुणाः = दयादाक्षिण्यादयः, तैः सम्पन्ने विमले कुले = सत्कुले जायेथाः = उत्पद्येथाः ॥ ४ ॥

सरलार्थः—हे सुन्दरि ! अपरस्मिन् कस्मिन्नपि जन्मनि गणिका न भूयाः, हे चारित्र्यगुणसम्पन्ने ! निर्दोषे कुले उत्पद्येथाः ॥ ४३ ॥

शकार इति—आवुत्तस्य=भगिनीपतेः भगिनीपतिरावुत्तः' इत्यमरः, पालकस्य भूपालस्य । व्यवहारम् = नानाविधसन्देहनिरासार्थमुत्तरम् (कैफियत) देहि । (अहमभियोगमारोपयिष्यामीति शेषः) । व्यवहारलक्षणमाह कात्यायनः='विनापि नानार्थेऽव सन्देहे हरण हार उच्यते ।' 'नानासन्देहहरणाद् व्यवहार' इति स्मृतः ।

विट इति—जाल्म=असमीक्ष्यकारिन् 'जाल्मोऽसमीक्ष्यकारी स्याद्' इत्यमरः । अत्र सम्फेटो नाम विमर्शसन्धेरङ्गम् 'सम्फेटो रोषभाषणम्' इत्यमरः ।

(करुणापूर्वक) वसन्तसेने !

हे सुन्दरि ! दूसरे जन्म में भी तुम वेश्या न होना, चरित्र गुण से युक्त, वसंन्तसेने ! तुम किसी निर्मल कुल में जन्म लेना ॥ ४३ ॥

शकार—मेरे पुष्पकरण्डक नामक पुरातन उपवन में वसन्तसेना को मारकर कहाँ भागे जाते हो ? आओ, मेरे बहिन के पति पालक के सामने अपने दोष का उत्तर दो । (पकड़ता है)

विट—अरे पामर ! ठहर । (तलवार निकालता है)

शकारः—(समयमुपसृत्य) किं ले ! भीदेशि ? ता गच्छ। (किं रे ! भीतोऽसि ? तद्गच्छ)

विटः—(स्वगतम्) नयुक्तमवस्थातुम् । भवतु, यत्र आर्यशर्विलक-चन्दनकप्रभृतयः सन्ति, तत्र गच्छामि । (इति निष्क्रान्तः)

शकारः—णिधणं गच्छ। अले थावलका ! पुत्तका ! कीलिशे मए किदे ?। (निधनं गच्छ । अरे स्थावरक ! पुत्रक ! कीदृशं मया कृतम्)

चेटः—भट्टके ! महन्ते अकज्जे किदे । भट्टक ! महदकार्यं कृतम्)

शकारः—अले चेड़े ! किं भणाशि अकज्जे किदेत्ति ?। भोदु, एव्वं दाव। (नानाभरणान्यवतार्यं) गेण्ह एदं अलङ्कारअं, मए तावदिण्णे जेत्तिके वेले अलङ्कलेमि, तेत्तिकं वेलं मम अण्णं तव। (अरे चेट ! किं भणसि अकार्यं कृतमिति ?। भवतु, एवं तावत् । गृहाण इममलङ्कारं मया ताव-द्दत्तम्, यावत्यां वेलायामलङ्करोमि, तावतीं वेलां मम अन्या तव)

चेटः—भट्टके ज्जेव एदे शोहन्ति, किं मम एदेहिं ?। (भट्टके एव एते शोभन्ते, किं मम एतैः ?)

शकार इति—धारणसमये ममालङ्काराणि, मञ्जूषायां स्थापनसमये तवेति भावः ।

शकार—(भय से हटकर ।) अरे क्या तुम डर गये । तब जाओ ।

विट—(मन में) अब यहाँ ठहरना उचित नहीं है । अच्छा, जहाँ आर्य शर्विलक, चन्दनक आदि गए हैं, वहीं मैं भी जाता हूँ। (चला गया)

शकार—मत जाओ । अरे स्थावरक ! पुत्रक ! चेट ! मैंने कैसा कार्य किया ?

चेट—स्वामिन् ! बहुत बड़ा दुष्कार्य किया ।

शकार—अरे चेट ! क्या कहता है, मैंने दुष्कार्य किया ? अच्छा, हो सकता है । (विविध अलंकारों को उतार कर) यह आभूषण लो, मैंने तुम्हें दे दिया । जिस समय तक मैं तुम्हें सजाता हूँ उस समय तक तुम मेरे लिए दूसरे हो ।

चेट—आप के ही शरीर में ये आभूषण सुशोभित होते है, मुझे इनसे क्या प्रयोजन ?

शकारः—ता गच्छ, एदाइं गोणाइं गेण्हिअ मम केलकाए पाशाद-वालग्गपादोलिआए चिट्ठ, जाव हग्गे आअच्छामि। (तद् गच्छ, एतौ गावौ गृहीत्वा मदीयायां क्रीडार्थायां प्रासाद-वालाप्रतोलिकायां तिष्ठ, यावदहमागच्छामि)

चेटः—जं भट्टके आणवेदि। (इति निष्क्रान्तः) (यद्भट्टक आज्ञापयति)

शकारः—अत्तपलित्ताणे भावे गदे अदंशणं, चेडं वि पाशाद-वालग्ग-पदोलिआए णिगलपूलिदं कदुअ थावइश्शं। एव्वं मन्ते लक्खिदे भोदि। ता गच्छामि। अधवा, पेक्खामि दाव एदं, किं एशा मिदा अधवा पुणो वि मालइश्शं। (अवलोक्य) कधं शुमिदा। भोदु, एदिणा पावालएण पच्छादेमि णं। अधवा णामङ्किदे एशे, ता के वि अज्जपुलिशे पच्छहिजा-णेदि। भोदु, एदिणा वादालीपुञ्जिदेण शुक्ख-पण्ण-पुड़ेण पच्छादेमि। (तथा कृत्वा विचिन्त्य) भोदु, एव्वं दाव, सम्पदं अधिअलणं गच्छिअ ववहालं लिहावेमि। जहा अत्थश्श कालणादो शत्थवाह-चालु-दत्ताकेण मम केलकं पुप्फकलण्डकं जिण्णुज्जाणं पवेशिअ वशन्तशेणिआ वावादिदे-त्ति। (आत्मपरित्राणे भावो गतः अदर्शनम्, चेटमपि प्रासादवालाग्रप्रतोलिकायां निगडपूरितं कृत्वा स्थापयिष्यामि। एवं मन्त्रो रक्षितो भवति। तद्गच्छामि। अथवा, पश्यामि तावदेनाम्, किमेषा मृता। अथवा पुनरपि मारयिष्यामि ?।

शकार इति=प्रासादस्याभ्यन्तरे बाला=नवा या अग्रप्रतोलिका=उत्कृष्ट-रथ्या (सुन्दर गली) तस्याम्।

शकार इति— भावो विद्वान् (विट इति भावः) आत्मपरित्राणे=स्वरक्षणार्थम्। मिथ्यारोपितवसन्तसेनावधापराधादात्मानं गोपायितुम्। निगडपूरितम्=निगडि-तम् (हथकड़ी से जकड़ा हुआ)। एवम्=एवं कृते, मन्त्रः=वसन्तसेनाहनन-गुप्तविषयः रक्षितः=केनाप्यविज्ञातः। एतेन=स्वकीयेन, प्रावारकेण=उत्तरीयवस्त्रेण

शकार—तब जाओ। इन बैलों को लेकर मेरे महल की नवनिर्मित वीथी में ठहरो। तब तक मैं भी आता हूँ।

चेट—जैसी स्वामी की आज्ञा। (चला गया)

शकार—आत्मरक्षा के लिए विट विलुप्त हो गया। चेट को भी महल की नवनिर्मित वीथी में बेड़ी डालकर रख छोडूँगा। अतः वसन्तसेना को मारने की बात गुप्त रह जाती है, तब जाता हूँ। अथवा इसे (वसन्तसेना को) तब तक देखता हूँ, क्या यह मर गई ? अथवा पुनः मारूँ ? अच्छी तरह से मर गई है।

कथं सुमृता । भवतु, एतेन प्रावारकेण प्रच्छादयामि एनाम् । अथवा नामाङ्कित एषः, तत् कोऽपि आर्यपुरुषः प्रत्यभिजानाति । भवतु, एतेन वातालीपुञ्जितेन शुष्कपर्णपुटेन प्रच्छादयामि । भवतु, एवं तावत्, साम्प्रतमधिकरणं गत्वा व्यवहारं लेखयामि । यथा; अर्थस्य कारणात् सार्थवाहचारुदत्तेन मदीयं पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं प्रवेश्य वसन्तसेना व्यापादितेति)

चालुदत्तविणाशाअ कलेमि कवडं णवं ।
णअलीए विशुद्धाए पशुघादं व्व दालुणं ॥ ४४ ॥
(चारुदत्त–विनाशाय करोमि कपटं नवम्)
नगर्यां विशुद्धायां पशुघातमिव दारुणम् ॥ ४४ ॥

एषः = प्रावारकः नामाङ्कितः = मन्नाम्ना चिह्नितः । आर्यः = शिक्षितः (लेखनकलाभिज्ञः) वातस्य आलिः = समूहः 'वीथ्यालिरावलिः पंक्ति'रित्यमरः । तया पुञ्जितम् = एकत्रीकृतम् तेन । व्यवहारम् = अभियोगम् (मुकद्मा) 'विवादो व्यवहारः स्याद्' इत्यमरः । अधिक्रियते = निर्णीयते गुणदोषादिकमत्रेत्यधिकरणम् — न्यायालयः (कचहरी) । 'करणाधिकरणयो'रिति ल्युट् । लेखयामि = विवादलेखनपञ्जिकायाम् अङ्कयामीत्यर्थः ।

चर्वित—विशुद्धायाम् = दोषरहितायाम्, नगर्याम् = उज्जयिन्याम्, पशुघातम् इव दारुणम्, चारुदत्तविनाशाय नवम् = अभूतपूर्वम् कपटम् = छलम् करोमि ॥ ४४ ॥

सरलार्थः—पवित्रायां पुर्यां छागादिपशुहत्यामिव नृशंसं कूटप्रयोगं, चारुदत्तविनाशाय प्रागनुद्भावितं विदधामि, निरपराधचारुदत्तमपि कूटव्यवहारानयनेन नगरान्निर्यातयिष्यामीति भावः ॥ ४४ ॥

अच्छा, इस वस्त्र से मैं इसे ढक देता हूँ । अथवा इस वस्त्र पर तो नाम अंकित है अतः कोई सभ्यजन इस बात को जान जायगा । अच्छा, वायु के झोको से एकत्रित किए हुए इन सूखे पत्तों से इसे ढंक देता हूँ ।' (पत्तों से ढँककर और सोचकर) अच्छा यह ठीक है, अब न्यायधीश के पास जाकर अभियोग लिखवाता हूँ कि धन के लोभ से आर्य चारुदत्त ने मेरे पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान में वसन्तसेना को ले जाकर मार डाला ।

निर्मल नगरी में दारुण पशुघात के समान चारुदत्त के विनाश के लिए मैं नवीन छल करता हूँ ॥ ४४ ॥

भोदु, गच्छामि। (इति निष्क्रम्य दृष्ट्वा सभयम्) अविदमादिके ! जेण जेण गच्छामि मग्गेण, तेण ज्जेव एशे दुट्टशमणके गहिदकाशाओदकं चीवलं गेण्हिअ आअच्छदि। एशे मए णशि छिदिअ वाहिदे किदवेले कदाविमं पेक्खिअ 'एदेण मालिदे' त्ति पआशइश्शदि। ता कधं गच्छामि। (अवलोक्य) भोदु, एदं अद्धपड़िदं पाकालखण्डं उल्लङ्घिअ गच्छामि। (भवतु, गच्छामि। अविदमादिके ! येन येन गच्छामि मार्गेण, तेनैव एष दुष्टश्रमणकः गृहीतकाषायोदकं चीवरं गृहीत्वा आगच्छति। एष मया नासां छित्वा वाहितः कृतवैरः कदापि मां प्रेक्ष्य 'एतेन मारिता' इति प्रकाशयिष्यति। तत् कथं गच्छामि ?। भवतु एतदर्द्धपतितं प्राकारखण्डमुल्लङ्घ्य गच्छामि)

एशे म्हि तुलिद-तुलिदे लङ्का-णअलीए गअणे गच्छन्ते।
भूमीए पाआले हणूमशिहले विअ महेन्दे॥ ४५॥

(इति निष्क्रान्तः)

(एषोऽहं त्वरित-त्वरितो लङ्कानगर्यां गगने गच्छन्।

भवत्विति—अविदमादिके=शकारादिभाषायां भयविषादविस्मयद्योतकमेकवाव्ययमिदम्। वाहितः=बहिष्कृतः (अत एव कृतवैरः) एतेन=शकारेण मारिता (वसन्तसेना इति शेषः) प्रकाशयिष्यति=यद्दोषमुद्घोषयिष्यति, तत् कथम्=केन मार्गेण (गुप्तेन) गच्छामि (यन्नायं पश्येदित्याशयः)। अर्द्धपतितम् अर्द्धं पतितम् 'द्वितीये'ति समासः, (यद्वा) 'अर्द्धं च तत्पतित'मिति 'विशेषण'मिति वा समासः। अर्थंमन्तम्।

एष इति—त्वरितस्त्वरितःहनूमच्छिखरे गगने लङ्कानगर्याम् (महेन्द्र इव) गच्छन् भूम्याम् पाताले (पतितोऽस्मीति शेषः) अपार्थकमेतत्। अथवा पुरा हनूमान्

अच्छा, जाता हूँ। (निकलकर और देखकर भयपूर्वक) अरे भयोत्पादक ? जिस-जिस रास्ते से मैं जाता हूँ उसी-उसी रास्ते से यह दुष्टबौद्ध-संन्यासी भी गेरुआ कौपीन लेकर आता है। मैंने इसकी नासिका छेदकर इसे बहिष्कृत कर दिया है, अतः यह मेरा शत्रु कहीं मुझे देखकर यह न कह दे कि—'शकार ने वसन्तसेना को मारा है'। तब किधर से जाऊँ ? (देखकर) अच्छा, इस अर्द्धपतित चहारदीवारी को लाँघकर जाता हूँ।

शीघ्र लंका नगरी में जाते हुए हनुमान् जी जिस प्रकार आकाश, पाताल,

भूम्यां पाताले हनूमच्छिखरे इव महेन्द्रः ।। ४५ ।।)

संवाहको भिक्षुः—(प्रविश्य अपटीक्षेपेण) पक्खालिदे एशे मए चाव-लखण्डे, किं णु क्खु शाहाए शुक्खावइश्शं ? इध वाणला विलुम्पन्ति । किं णु क्खु शाहाए भूमीए ? धूलीदोशे होदि । ता कहिं पशालिअ शुक्खावइश्शं । (दृष्ट्वा) भोदु, इज वादालीपुञ्जिदे शुक्ख-वत्त-शञ्चए पशालइश्शं । (तथा कृत्वा) णमो बुद्धश्श (इत्युपविशति) भोदु, धम्म क्खलाइं उदाहलामि । 'पञ्च जण जेण मालिदा' (इत्यादि पूर्वोक्तं पठति) अधवा, अलं मम एदेण शग्गेण । जाव ताए वुद्धोवाशिआए पच्चुवकालं ण कलेमि, जाए दशाणं शुवण्णकाणं किदे जूदिकलेहिं णिक्कीदे, तदो तदो पहुदि ताए किदं विअ अत्ताणअ अअगच्छामि । (दृष्ट्वा) किं णु क्खु पेण्णोदले शमुश्शशदि ? । अधदा—(प्रक्षालितमेतन्मया चीवरखण्डम् किं नु खलु शाखायां शोषयिष्यामि ? । इह वानरा विलुम्पन्ति । किं नु खलु भूम्याम् ? । धूलिदोषो भवति । तद् कुत्र प्रसार्य्य शोषयिष्यामि ? । भवतु, इह वातालीपुञ्जिते शुष्क-पत्रसञ्चये प्रसारयिष्यामि । नमो बुद्धाय । भवतु, धर्माक्षराणि उदाह-

---

भूमित उत्प्लुतः महेन्द्राद्रिमुल्लङ्घ्य गगनमार्गेण गच्छन् लङ्कां प्रविश्य यथाहमपि भूमित उत्प्लुत्य भग्नप्राकारखण्डमुल्लङ्घ्य गगनमार्गेण किञ्चिद्दूरं गत्वा पातालव-न्निम्नप्रदेशे पतितोऽस्मीति यथाकथञ्चिद्योज्यम् । महेन्द्रशिखरे हनूमानिवेति वक्तव्ये विपरीतपाठः शकारोचित एव (गाथा) इति पृथ्वीधरः ।। ४५ ।।

सरलार्थः—अतिशयेन त्वरान्विताः महेन्द्रगिरिश्रृङ्गे, धारायास्तलस्थे भुवने व्योममार्गे लङ्काख्यपुर्यां व्रजन् भूमितले यथेच्छं गच्छामीति भावः ।। ४५ ।।

प्रविश्येति—शाखायाम् (लम्बयित्वा) शोषयिष्यामि । विलुम्पन्ति=शाखान्ते विकृष्य छिन्दन्ति । किं भूम्याम् (प्रसार्य शोषयिष्यामि ? नेत्यर्थः) तदाह धूलिदोषो

पृथ्वी एवं महेन्द्र पर्वत के शिखर पर चढ़ कर गए थे उसी प्रकार मैं भी इस प्राकार खण्ड पर चढ़कर जाता हूँ ।। ४५ ।।

(संवाहक भिक्षुक अचानक आता है)

संवाहक-भिक्षुक—इस कौपीन को मैंने धो लिया क्या वृक्ष की डालियों पर इसे सुखा लूँ ? यहाँ बन्दर इसे फाड़ डालेंगे । तो क्या पृथ्वी पर सुखाऊँ ! धूलि लग जायगी । तब कहाँ फैलाकर सुखाऊँ ? (देखकर) अच्छा, यहाँ वायु के झोंकों से एकत्रित सूखे पत्तों की राशि पर फैलाता हूँ । (फैलाकर) बुद्ध भगवान्

रामि । अथवा अलं ममैतेन स्वर्गेण । यावदस्या बुद्धोपासिकायाः प्रत्युपकारं न करोमि, यया दशानां सुवर्णकानां कृते द्यूतकाराभ्यां निष्क्रीतः, ततः प्रभृति तया क्रीतमिवात्मानमवगच्छामि । किं नु खलु पर्णोदरे समुच्छ्वसिति ? अथवा—

वादादवेण तत्ता चीवल-तोएण तिम्मिता पत्ता ।
एदे विथिण्णपत्ता मण्णे पत्ता विअ फुल्लन्ति ॥ ४६ ॥
(वातातपेन तप्तानि चीवरतोयेन स्तिमितानि पत्राणि ।
एतानि विस्तीर्णपत्राणि मन्ये पत्राणीव स्फुरन्ति ॥ ४६ ॥)

भवतीति । एतेन = बुद्धनामकीर्त्तनजन्यपुण्योदयलभ्येन, स्वर्गेण अलम् = व्यर्थम् । बुद्धोपासिकायाः = सदयहृदयायाः (वसन्तसेनाया इत्याशयः) प्रत्युपकारम् = उपकारस्य निष्क्रयीभूतमुपकारम् । दशानां सुवर्णानां कृते द्यूतकराभ्यामयं निगृहीत आसीदयं सवाहकः, 'स चायं स्वकीयहस्ताभरणदानेन वसन्तसेनया मोचितः' इति द्वितीयांके द्रष्टव्यम् ।

अन्वयः—वातातपेन तप्तानि, चीवरतोयेन स्तिमितानि एतानि पत्राणि, विस्तीर्णपत्राणि इव स्फुरन्ति (इति) मन्ये ।

वातेति—वातेन=वायुना युक्तः आतपः, तेन तप्तानि=वायुना परिशोष्य पुनः आतपेन तप्तीकृतानि, पुनः चीवरस्य = वस्त्रस्य तोयेन=जलेन स्तिमितानि=आर्द्रीकृतानि 'ष्टिम् आर्द्रीभावे' इति धातोर्देवादिकात्परस्मैपदिनः क्तः । एतानि = राशीकृतानि पत्राणि, विस्तीर्णानि = प्रसारितानि पत्राणि = पक्षाः, येषां तानि पत्राणि विष्णुप्रभृतेर्वाहनानि । 'पत्रं स्याद्वाहने पर्णे पक्षे च शरपक्षिणाम्' इति विश्वः । इव स्फुरन्ति = फुरफुरायन्ते । अत्र श्रौतोपमालङ्कारः आर्या जातिः ॥ ४६ ॥

सरलार्थः—वातेन शोषितानि आतपेन च तप्तानि कौपीनगलितजलार्द्रीकृतानि राशिकृतपर्णानि पक्षिण एवसञ्चलन्तीति मन्ये ॥ ४६ ॥

को प्रणाम है । (बैठ जाता है) अच्छा, धार्मिक अक्षरों का उच्चारण करता हूँ । ('पञ्चेन्द्रियों का जिसने दमन कर दिया' आदि पूर्वोक्त श्लोक पढ़ता है) अथवा, इस स्वर्ग से मुझे क्या लाभ ? जब तक मैं उस बुद्धोपासिका वसन्तसेना का प्रत्युपकार नहीं करता हूँ, 'जिसने दस सुवर्ण के लिए मुझे जुआड़ियों से छुड़ा लिया'—तभी से मैं समझता हूँ कि उसने मुझे खरीद लिया । (देखकर) पत्तों के गर्भ से कौन साँस ले रहा है ? अथवा—

वायु और धूप से सूखे हुए पत्ते कौपीन के जल से आर्द्र हो गये हैं । अतः पत्ते फैल रहे हैं, मानो वे पक्षियों के समान फुदक रहे हैं ॥ ४६ ॥

(वसन्तसेना संज्ञां लब्ध्वा हस्तं दर्शयति)

भिक्षुः—हा हा ! शुद्धालङ्कालभूशिदे इत्थिआ-हत्थे णिक्कमदि । कधं दुदिए वि हत्थे ? (बहुविधं निर्वर्ण्य) पच्चभिजाणामि विअ एदं हत्थं । अथवा, किं विचालेण ? शच्चं शे ज्जेव हत्थे, जेणा मे अभअं दिण्णं । भोदु, पेक्खिश्शं । (नाट्येनोद्घाट्य दृष्ट्वा प्रत्यभिज्ञाय च) शा ज्जेव बुद्धोवाशिआ । (हा हा शुद्धालङ्कारभूषितः स्त्रीहस्तो निष्क्रामति । कथं द्वितीयोऽपि हस्तः ? । प्रत्यभिजानामीव एत हस्तम् । अथवा, किं विचारेण सत्यं स एव हस्तः, येन मे अभयं दत्तम् । भवतु, प्रेक्षिष्ये । सैव बुद्धोपासिका)

(वसन्तसेना पानीयमाकाङ्क्षति)

भिक्षुः—कधं उदअं मग्गेदि, दूले च दिग्घिआ । किं दाणिं एत्थ कलाइश्शं ? । भोदु, एदं चीवलं शे उवलि गालइश्शं । (तथा करोति) (कथमुदकं मार्गयांत, दूरे च दीर्घिका । किमिदानीमत्र करिष्यामि ? । भवतु, एतच्चीवरमस्या उपरि गालयिष्यामि ।)

(वसन्तसेना संज्ञां लब्ध्वा उत्तिष्ठति । भिक्षुः पटान्तेन वीजयति)

भिक्षुरिति – शुद्धैः = विशुद्धधातुघटितत्वाद्देदीप्यमानैः ।

भिक्षुरिति—गालयिष्यामि = निष्पीडयिष्यामि । अगत्या वस्त्रनिष्पीडनोदकैरेवैनामुज्जीवयिष्यामीत्याशयः ।

(चैतन्य प्राप्त कर वसन्तसेना हाथ दिखलाती है)

भिक्षुक—अरे ! विशुद्ध अलंकारों से विभूषित स्त्री का हाथ निकला है । ऐं वह दूसरा हाथ भी ! (अनेक प्रकार से सोचकर) मैं इस हाथ को पहचानता-सा हूं । अथवा सच, यह वही हाथ है जिसने जुआड़ियों से मुझे अभय-दान दिया था । अच्छा, देखता हूं । (अभिनयपूर्वक खोल कर, देखकर और पहचान कर) वही बुद्धोपासिका यह वसन्तसेना है ।

(वसन्तसेना पानी के लिए इशारा करती है)

भिक्षुक—क्या जल माँग रही है ? नदी तो दूर पर है । अब यहाँ मैं क्या करूँ ? अच्छा, इस कोपीन को इसके ऊपर निचोड़ता हूँ । (निचोड़ता है)

(वसन्तसेना चैतन्य प्राप्त कर उठ बैठती है । भिक्षुक वस्त्र से हवा करता है)

वसन्त—अज्ज ! को तुमं ? । (आर्य्य ! कस्त्वम् ?)

भिक्षुः—किं मं ण शुमलेदि बुद्धोवाशिआ दश–शुवण्णाणिक्कीदं ? । (किं मां न स्मरति बुद्धोपासिका दश–सुवर्ण–निष्क्रीतम् ?)

वसन्त—सुमरामि, ण उण जधा अज्जो भणादि । वरं अहं उवरदा ज्जेव । (स्मरामि, न पुनर्यथा आर्यो भणति । वरमहमुपरतैव)

भिक्षुः—बुद्धोवाशिए ! किं ण्णेदं ? । (बुद्धोपासिके ! किं नु इदम् ?)

वसन्त—(सनिर्वेदम्) जं सरिसं वेसभावस्स । (यत् सदृशं वेश-भावस्य)

भिक्षुः—उट्ठेउ उट्ठेउ वुद्धोवासिआ एदं पादव-समीवजादं लद ओलम्बिअ । (इति लतां नामयति) (उत्तिष्ठतु उत्तिष्ठतु बुद्धोपासिका एतां पादपसमीप–जातो लतामवलम्ब्य (वसन्तसेना गृहीत्वा उत्तिष्ठति)

वसन्तेति—आर्यः = भवान् भणति = दशसुवर्णनिष्क्रीतमात्मानं कथयति । एतच्छ्रवणापेक्षया मरणमेव वरम् । स्वप्रशंसाश्रवणमार्यविगर्हितमिति भावः ।

भिक्षुरिति—इदम् = पत्रस्तूपाभ्यन्तरे (ढेर में) मूर्च्छितावस्थयाऽवस्थानम्, किम् = कथम् (तव जातमिति शेषः) ।

वसन्तेति—सनिर्वेदम् = स्वावमाननया सहितम् । वेशभावस्य = वेश्यालय-जन्मनः, सदृशम् = योग्यम् । केनचिद्दुराचारिणा कृतमेतदित्याशयः ।

वसन्तसेना—आर्य ! आप कौन हैं ?

भिक्षुक—अरी बुद्धोपासिका क्या मुझे तुम नहीं पहचानती हो जिसे तुमने दश सुवर्ण में खरीद लिया है ?

वसन्तसेना—स्मरण करती हूँ । किन्तु जिस प्रकार आप कहते हैं उस प्रकार नहीं, उपहास करना व्यर्थ है ।

भिक्षुक—बुद्धोपासिके ! क्या यह बात नहीं है ? (कि दश सुवर्ण में आप ने मुझे खरीदा है ?)

वसन्तसेना—(दुःख के साथ) यह वेश्याओं के योग्य ही है ।

भिक्षुक—इस वृक्ष के समीप उत्पन्न होने वाली लता के सहारे बुद्धो-पासिके ! उठो–उठो । (लता को नीचे झुकाता है)

(वसन्तसेना लता पकड़ कर उठती है)

भिक्षुः—एदश्शिं विहाले मम धम्मवहिणिआ चिट्ठदि, तहिं शमश्शशिदमणा भविअ उवाशिआ गेहं गमिश्शदि। ता शेणं शेणं गच्छदु बुद्धोवाशिआ। (इति परिक्रामति। दृष्ट्वा) ओशलध अज्जा! ओशलध। एशा तलुणी इत्थिआ, एशो भिक्खु त्ति शुद्धे मम एशे धम्मे। (एतस्मिन् विहारे मम धर्मभगिनी तिष्ठति, तस्मिन् समाश्वस्तमना भूत्वा उपासिका गेहं गमिष्यति। तत् शनैः शनैः गच्छतु बुद्धोपासिका। अपसरत आर्याः! अपसरत। एषा तरुणी स्त्री, एष भिक्षुरिति शुद्धो मम एष धर्मः)

हत्थशञ्जदो मुहशञ्जदो इन्दिअशञ्जदो शे क्खु माणुशे।
किं कलेदि लाअउले तश्श पललोओ हत्थे णिच्चलो॥ ४७॥

(हस्तसंयतो मुखसंयत इन्द्रियसंयतः स खलु मानुषः।
किं करोति राजकुलं तस्य परलोको हस्ते निश्चलः॥ ४७॥)

भिक्षुरिति—कस्या अपि स्त्रियः परपुरुषकर्तृकाङ्गस्पर्शनं लोकवेदविगर्हितम्, इति मनस्यादाय लतावलम्बेनोत्थानमुपदिशतीति बोध्यम्।

भिक्षुरिति—एतस्मिन् = आसन्नवर्त्तिनि, विहारे = बौद्धाश्रमे, 'विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालये' इति मेदिनी। समाश्वस्तमनाः = स्वस्थचित्ता। उपासिका = भवती, भिक्षुः = विषयवासनारहितः संन्यासी। शुद्धः = दोषरहितः।

हस्तेति—(यो जनः) हस्तयोः संयतः = परधनदारस्पर्शादिरहितः, मुखे संयतः = वाक्पारुष्यदोषोद्घोषादिरहितः, इन्द्रियेषु संयतः = शब्दस्पर्शरूपादिष्वनासक्तः, स खलु स एव मानुषः = प्रशंसनीयो मानवः, तस्य = जनस्य राजकुलम् किं करोति (किमपि नेत्यर्थः) एवम् तस्य परलोकः = स्वर्गः (च) हस्ते निश्चलः = हस्तगत एव (प्रचुरपुण्यप्रतापात् ध्रुवा तस्योत्तमगतिरित्याशयः)।

अत्र 'स खलु मानुषः' इति कथनेन 'न पुनरन्यः' इत्यन्यस्य व्यपोहनादार्थी

भिक्षुक—इस विहार (बौद्धों का मन्दिर) में मेरी धर्म-बहन रहती हैं। धैर्य धारण कर उस उपासिका के घर चलो। धीरे-धीरे चलो बुद्धोपासिका। (घूमता है, देखकर) शीघ्र चलो-आर्ये! शीघ्र चलो। यह युवती स्त्री है, यह भिक्षुक कामरहित निर्दोष है, मेरा यह दया करना धर्म है।

जो किसी की वस्तु नहीं लेता, असत् वचन उच्चारण नहीं करता तथा जो

(इति निष्क्रान्ताः)

इति वसन्तसेनामोटनो नामाष्टमोऽङ्कः ।

परिसंख्या, अर्थापत्तिश्चानयोः परस्परनिरपेक्षतया संसृष्टिः । गाथाविशेषोऽयमिति प्राञ्चः । धर्माक्षरोदाहरणमिति बोध्यम् ।

सरलार्थः—यो नरः परद्रव्यापहरणशून्यः संयतमुखः, संयतेन्द्रियः स एव मनुष्यत्वेन गण्यः, तस्य नरस्य राजगृहावस्थिताः पुरुषाः विचारालयो वा किमनिष्टं कर्तुं शक्नोति, तस्य पुरुषस्य स्वर्गः स्थिरः, न तस्य दण्डभीतिर्न वा परलोकक्षतिरिति भावः ॥ ४७ ॥

इतीति—वसन्तसेनायाः मोटनम् = कण्ठनिपीडनम् यस्मिन् सः ।

निष्क्रान्ताः—पूर्वं निष्क्रान्तविटचेटशकारैस्सहायनयोर्बहुत्वात् 'निष्क्रान्ता' इति बहुत्वम् ।

अष्टमोऽङ्कः समाप्तः ।

इन्द्रियों को वश में किये हुए है, उस शुद्ध-विशुद्ध मनुष्य का राजकुल कर ही क्या सकता है ! उसके हाथ में तो उसका परलोक भी स्थिर है ॥ ४७ ॥

(सब लोग चले गये)

वसन्तसेना–मोटन–नामक–अष्टम–अङ्क समाप्त

नवमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति शोधनकः)

शोधनकः—आणत्तम्हि अधिअरणभोइएहिं-'अरे सोहणआ ! ववहार-मण्डवं गदुअ आसणाइं सज्जीकरेहि' त्ति । ता जाव अधिअरणमण्डव सज्जिदुं गच्छामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) एदं अधिअरणमण्डवं, एस पविसामि । (प्रविश्य सम्मार्ज्य आसनमाधाय) विवित्तं कारिदं मए अधिअरणमण्डवं, विरइदा मए आसणा, ता जाव अधिअरणिआणं उण णिवेदेमि । (परिक्रम्यावलोक्य च) कधं एसो रट्ठिअस्सालो दुट्ठ-दुज्जण-मणुस्सो इदो एव्व आअच्छदि, ता दिट्ठिपधं परिहरिअ गमिस्सं । (इत्येकान्ते स्थितः) (आज्ञप्तोऽस्मि अधिकरणभोजकैः—'अरे शोधनक ! व्यवहारमण्डपं गत्वा आसनानि सज्जीकुरु' इति । तद् यावदधि-करणमण्डपं सज्जितुं गच्छामि । इदमधिकरणमण्डपम्, एष प्रविशामि । विविक्तं कारितं मया अधिकरणमण्डपम्, विरचितानि मया आसनानि । तद् यावदधिक-

---

तत इति—शोधनकः, शोधयति = धूलितृणाद्यपगमात् परिष्करोति स्थानम्, इति विग्रहे णिजन्तशुध्धातोर्नन्द्यादित्वाल्ल्युः । 'संज्ञाया'मिति कन् ।

शोधेति—अधिक्रियते = विवादस्य निर्णयाऽधिकरूपेण (विविच्य) क्रियतेऽस्मिन्निति विग्रहे—'करणाधिकरणयो'रिति ल्युट । न्यायालयः (कचहरी) तस्य भोजकैः = भोगकर्तृभिः (न्यायाधीशैः प्राड्विवाकप्रभृत्यधिकारिभिः) व्यवहारः= व्यवस्थानम् (फ़ैसला) तस्य मण्डपम् = भवनविशेषः (इजलास) । 'परस्पर मनुष्याणां स्वार्थविप्रतिपत्तिषु । वाक्यान्न्यायाद् व्यवस्थानं व्यवहार उदाहृतः .' इति मिताक्षरा । विविक्तम्=पूतम् (सम्मार्जनेन परिष्कृतम्) कारितं मया (सम्मा-र्जन्या इति शेषः) अधिकरणिकानाम्=न्यायाधिकारिणाम् (ऑफिसर) (समीपे)

(इसके बाद शोधनक प्रवेश करता है)

शोधनक—न्यायालय के कार्यकर्त्ताओं ने मुझे आज्ञा दी है कि 'अरे शोध-नक ! न्याय-मंडप में जाकर आसनों को सुसज्जित करो' । अतः तबतक न्याय-मण्डप को सज्जित करने जाता हूँ । (घूमकर और देखकर) यही विचार-मण्डप है, इसमें प्रविष्ट होता हूँ । (भीतर जाकर, सफाई कर तथा आसन रखकर) न्याय-मंडप को झाड़-बुहारकर साफ कर दिया, और आसनों को भी मैंने यथास्थान

रणिकानां निवेदयामि। कथमेष राष्ट्रियश्यालो दुष्ट-दुर्जन-मनुष्य इत एव आग-च्छति। तद् दृष्टिपथं परिहृत्य गमिष्यामि)

(ततः प्रविशति उज्ज्वलवेषधारी शकारः)

शकारः—ण्हादेऽहं शलिलजलेहिं पाणिएहिं
उज्जाणे उववणकाणणे णिशण्णे।
णालीहिं सह जुवदीहिं इत्थिआहिं
गन्धव्वे विअ शुहिदेहि अङ्गकेहिं॥ १॥

खणेण गण्ठी खणजूलके मे खणेण वाला खणकुन्तला वा।
खणेण मुक्के खण उद्धचूडे चित्तो विचित्तो हगे लाअशाले॥ २॥

(स्नातोऽहं सलिलजलैः पानीयैः उद्याने उपवनकानने निषण्णः।
नारीभिः सह युवतीभिः स्त्रीभिः गन्धर्व इव सुहितैरङ्गकैः॥ १॥

निवेदयामि = परिष्कृतमधिकरणमिति कथयामि। राष्ट्रे=राज्ये अधिकृतः 'राष्ट्रावा-रपाराद् घखौ' इति घः। तस्येयादेशे, राष्ट्रियः=राजा तस्य श्यालः। यदि 'राज-श्यालस्तु राष्ट्रियः' इत्यमरात्समीहितार्थसिद्धौ श्यालकपदमत्राधिकमिति चेत् शकारवचनत्वेन पौनरुक्त्येऽपि न क्षतिः। दुष्टः (प्रकृत्या), दुर्जनः (व्यवहारेण) मनुष्यः (केवलं जन्मना)। दृष्टिपथम्=साक्षात्कारम्।

स्नात इति—सुहितैः=सुसङ्घटितैः, अङ्गकैः=अनुकम्प्यैरङ्गैः अनुकम्पायां'—मिति कः। करचरणाद्यवयवैर्विशिष्टः, अहम्, उद्याने निषण्णः—स्थितः गन्धर्व इव स्त्रीभिः सह पानीयैः स्नातः स्नानं कृतवान्। पुनरुक्तमत्र जलादिकं शकारवचनत्वाद्युक्त-मेव। प्रहर्षिणी वृत्तम्॥ १॥

सरलार्थः—संप्रत्यहं कृतस्नानः सुपरिष्कृतोऽलङ्कृताङ्गश्च युवतिभिर्गायकैश्च सहोपवने गन्धर्व इव समुपविष्टोऽस्मि॥ १॥

रख दिया। अब न्यायविचारकों से जाकर निवेदन करता हूँ। (घूमकर और देखकर) दुष्ट एवं खल मनुष्य राजश्यालक इसी ओर क्यों चला आ रहा है? अतः इसकी दृष्टि से बचकर जाता हूँ। इस प्रकार एकान्त में खड़ा हो जाता है।

(इसके बाद शुभ्र वस्त्र पहने हुए शकार आता है)

शकार—सम्पूर्ण अङ्गों से विशिष्ट उपवन में स्थित मैं गन्धर्व के समान युवती कामिनियों के साथ स्नान कर चुका हूँ॥ १॥

किसी क्षण बालों को बाँध लेता हूँ, क्षण में उनका जूड़ा बना लेता हूँ, क्षण में उन्हें स्वाभाविक रूप में छोड़ देता हूँ, क्षण में उन्हें बिखरा देता हूँ, तथा

(क्षणेन ग्रन्थिः क्षणजूटको मे क्षणेन बालाः क्षणकुन्तला वा।
क्षणेन मुक्ताः क्षण ऊर्ध्वचूडा चित्रो विचित्रोऽहं राजश्यालः ॥ २ ॥)

अवि अ। विश गण्ठि-गब्भपविट्ठेण विअ क्रीडएण अन्तलं मग्गआणेण पाविदं मए महदन्तलं। ता कश्श एदं किविण-चेट्ठिअं पाडइश्शं ?। (स्मृत्वा) आं शुमलिदं मए—दलिद्द-चालुदत्तश्श एदं किविण-चेट्ठिअं पाडइश्शं। अण्णं च, दलिद्दे क्खु शे, तश्श शव्वं शम्भावीअदि। भोदु, अधिअलणमण्डवं गदुअ अग्गदो ववहालं लिहावइश्शं। जधा चालुदत्तकेण वशन्तशेणीआ मोडिअ मालिदा। जाव अधिअलणमण्डवं ज्जेव गच्छामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एदं तं अधिअलणमण्डवं। एत्थ पविशामि। (प्रविश्यावलोक्य च) कधं आशणाइं दिण्णाइं चिट्ठन्ति। जाव आअच्छन्ति अधिअलणभोइआ, दाव एदश्शिं दुव्वचत्तले मुहुत्तअं उवविशिअ पडिवालइश्शं। (तथा स्थितः) (अपि च। बिस-ग्रन्थि-गर्भ-

---

क्षणेनेति—क्षणेन ग्रन्थिः=कचान्तं बन्धनम्, क्षणे जूटकः=उपरि राशीकृत्य बन्धविशेषः, क्षणेन बालाः=केशाः क्षणे कुन्तलाः 'चिकुरः कुन्तलो बालाः' इत्यमरेण पुनरुक्तमेतत्। क्षणेन मुक्ताः=स्वाभाविकतया लम्बमानाः क्षणे ऊर्ध्वचूडाः=शिखा (चोटी)। एवम्भूतो मे केशपाशो विलसतीति भावः। राजश्यालोऽहं विचित्रः= बहुरूपकइव दृश्यमानः अद्भुतः। चित्रो विचित्र इत्यपि पुनरुक्तम्। उपजातिर्वृत्तम्।

सरलार्थः—अपि च कदाचिन्मे चिकुराः क्षणेन ग्रन्थिसहिताः, क्षणानन्तरमेव जटिलाः, कदाचित् प्रसाधन्या क्षणेन पृथग् पृथग् विन्यस्ता भवन्ति। क्षणेनोर्ध्वचूडश्च भवामि। अत एवंविधकेशप्रसाधनवैचित्र्येण विचित्रो राजश्यालको जातोऽस्मि ॥

अपि चेति—बिसस्य=कमलदण्डस्य ग्रन्थिः=पर्व। 'ग्रन्थिर्ना पर्वपरुषी' इत्यमरः।

क्षण ही भर में उन केशपाशों की वेणी बना लेता हूँ, इस प्रकार राजश्यालक, मैं चित्र-विचित्र रूप धारण कर रहा हूँ ॥ २ ॥

और भी—मृणाल ग्रन्थि के अन्दर प्रविष्ट कीट के समान छिद्र (अपराध) खोजते हुए मैंने ब.़ा भारी छिद्र (वसन्तसेना की हत्या) प्राप्त कर लिया। तो इस महान् अपराध को किसके ऊपर आरोपित कर दूँ ? (स्मरण करके) अहा ! स्मरण हो आया। इस महान् अपराध को निर्धन चारुदत्त पर आरोपित करता हूँ। दूसरी बात यह कि वह दरिद्र है, अतः उस पर सब कुछ लागू हो सकता है। अच्छा, न्याय-मंडप में जाकर पहले ही से अभियोग लिखवाऊँगा, कि

प्रविष्टेनेव कीटकेनान्तरं मार्गमाणेन प्राप्तं मया महदन्तरम्। तत् कस्येदं कृपणचेष्टितं पातयिष्यामि ?। आं, स्मृतं मया, दरिद्रचारुदत्तस्येदं कृपणचेष्टितं पातयिष्यामि। अन्यच्च, दरिद्रः खलु सः, तस्य सर्वं सम्भाव्यते। भवतु, अधिकरणमण्डपं गत्वा अग्रतो व्यवहारं लेखयिष्यामि। यथा चारुदत्तेन मोटयित्वा वसन्तसेना मारिता। तद्यावदधिकरणमण्डपमेव गच्छामि। एतत्तदधिकरणमण्डपम्, अत्र प्रविशामि। कथमासनानि दत्तानि तिष्ठन्ति। यावदागच्छन्ति अधिकरणभोजकाः, तावदेतस्मिन् दूर्वाचत्वरे मुहूर्त्तमुपविश्य प्रतिपालयिष्यामि।)

शोधनकः—(अन्यतः परिक्रम्य पुरो दृष्ट्वा) एदे अधिअरणिआ आअच्छन्ति। ता जाव उवसप्पामि। (इत्युपसर्पति) (एते अधिकरणिका आगच्छन्ति। तद् यावदुपसर्पामि)

ग्रन्थते इति ग्रन्थिः 'सर्वधातुभ्य इन्'। तस्य गर्भे = अन्तरे प्रविष्टेन कीटकेन=लघुकीटकेन इव अन्तरम् = बहिर्निःसरणमार्गम्, अपराधञ्च, मार्गमाणेन = अन्वेषणं कुर्वता 'मार्ग-अन्वेषणे' इति चौरादिकस्य 'आ धृषाद्वे'ति वैकल्पिकणिजभावपक्षे शानचि मुकि रूपम्। मया=शकारेण, महदन्तरम्=महच्छिद्रम् प्राप्तम् वसन्तसेनाविघातरूपो महापराधश्चेत्यर्थः। कस्य = जनस्य (उपरि) इदम् = हत्यात्मकम्, कृपणचेष्टितम्=क्षुद्रव्यवहारम्, पातयिष्यामि=आरोपणं करिष्यामि। सर्वम्=स्त्रीहननं कृत्वा सर्वस्य हरणम् सम्भाव्यते = दरिद्रत्वात् युज्यते। व्यवहारम्=विवादस्य (घटनात्मकं) विवरणम्, लेखयिष्यामि=विवादपञ्जिकायामङ्कयिष्यामि लेखद्वारा। (नालिश करूँगा इति) विषयं दर्शयति—चारुदत्तेन वसन्तसेना। मोटयित्वा = गलदेशे निष्पीडय 'मुट्-संचूर्णने' इति चौरादिकात् क्त्वा। 'मारिता' इति। दूर्वाचत्वरे = दूर्वारोहणेन मरकतमणिमण्डित इव श्यामायमाने प्राङ्गणे। प्रतिपालयिष्ये = प्रतीक्षिष्ये (प्रतीक्षां करिष्ये)।

चारुदत्त ने गला टीप कर वसन्तसेना को मार डाला। अतः तब तक न्यायमण्डप में ही जाता हूँ। (घूमकर और देख कर) यही वह न्याय-मण्डप है, इसमें प्रवेश करता हूँ। (प्रविष्ट होकर और देखकर) आसन लगाए जा चुके हैं, जब तक न्यायालय के कार्यकर्तागण आते हैं तब तक इस दूर्वामय प्रांगण में क्षण भर बैठकर उनके आने की बाट जोहता हूँ। (उसी प्रकार बैठ गया)।

शोधनक—(दूसरी ओर घूमकर और आगे देखकर) ये न्याय-कर्मचारी आरहे हैं। तब तक निकट चलता हूँ। (चलता है)

(ततः प्रविशति श्रेष्ठि-कायस्थादि-परिवृतोऽधिकरणिकः)

अधि—भो भोः श्रेष्ठि-कायस्थौ ! ।

श्रेष्ठि-कायस्थौ—आणवेदु अज्जो । (आज्ञापयतु आर्यः)

अधि—अहो ! व्यवहारपराधीनतया दुष्करं खलु परचित्तग्रहणमधिकरणिकैः ।

छन्नं कार्यमुपक्षिपन्ति पुरुषा न्यायेन दूरीकृतं
स्वान् दोषान् कथयन्ति नाधिकरणे रागाभिभूताः स्वयम् ।

श्रेष्ठी = वैश्यः, वस्तूनामुपादेयतारतम्यवेत्तेत्यर्थः, (जौहरी) । कायस्थः = विषयलेखकः (जातिविशेषः) । आदिना देशकालपात्रज्ञादीनां ग्रहणम् ।

अधोति—व्यवहारस्य = परप्रस्तावितविवादस्य पराधीनतया अन्याधीनतया परयोः = वादिप्रतिवादिनोः, चित्तग्रहणम्=मनोभावावबोधः (कार्यम्), अधिकरणिकैःदुष्करम् = दुरधिगम्यम् । दुरुपपदात्कृञः 'ईषद्दुःसुष्वि'ति खल् । तद्योगे 'अधिकरणकैरि'त्यत्र 'नलोके'ति षष्ठीनिषेधात् 'कर्तृकर्मणो'रिति तृतीया ।

अन्वयः—पुरुषाः, न्यायेन, दूरीकृतम्, कार्यम्, छन्नम्, उपक्षिपन्ति, रागाभिभूताः, स्वयम्, स्वान्, दोषान्, अधिकरणे न कथयन्ति, पक्षापरपक्षवर्द्धितबलैस्तैः, दोषैः, नृपः, स्पृश्यते, संक्षेपात्, द्रष्टुः, अपवादः, एव, सुलभः, गुणः, दूरतः ।

दुष्करतायां हेतुमाह—छन्नमिति-पुरुषाः=वादिनः प्रतिवादिनश्च जनाः, न्यायेन= नीत्या, दूरीकृतम्=रहितम्, कार्यम्=स्वसम्बद्धाभियोगादिकम्, छन्नम्=नीतिसङ्गतम् यथा स्यात्तथा (इव) असत्यमित्यर्थः । उपक्षिपन्ति=न्यायालये उपस्थापयन्ति, तथा रागेण = स्वापराधगोपनाभिप्रायेण अभिभूताः = आक्रान्ताः, (सन्तः) स्वान् दोषान् (वास्तविकानपीति शेषः) अधिकरणे न कथयन्ति । अत एव न्यायकर्तृभिर्व्यवहा-

---

(इसके बाद बनिया, कायस्थ आदि से घिरे न्यायाधीश आते हैं ।)

न्यायाधीश—ऐ बनिया तथा कायस्थ !

बनिया-कायस्थ—आर्य ! आज्ञा दें ।

न्यायाधीश—अहो ! न्याय-पराधीन होने के कारण वादी-प्रतिवादी का मनोभाव जान लेना हम जैसे न्यायाधीशों के लिए बड़ा कठिन है ।

वादी एवं प्रतिवादीगण सत्य बात को छिपाकर अनीतिपूर्ण असत्य अभियोग उपस्थित करते हैं, क्रोध के वशीभूत हो न्यायालय में अपने दोषों को

तैः पक्षापरपक्षवर्द्धितबलैर्दोषैर्नृपः स्पृश्यते
संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुर्गुणो दूरतः ॥ ३ ॥

अपि च—

छन्नं दोषमुदाहरन्ति कुपिता न्यायेन दूरीकृताः
स्वान् दोषान् कथयन्ति नाधिकरणे सन्तोऽपि नष्टा ध्रुवम् ।

रतत्त्वमज्ञेयं भवति, तेन दोषान्तरमाह—पक्षः = वादिपक्षः, अपरपक्षः=प्रतिवादिपक्षः, ताभ्यां वर्द्धितं बलम् = अपवादजननसामर्थ्यम्, येषां तैः=अवास्तविकनिर्णयसम्बन्धेनोद्‌गतैः, दोषैः = दुरितैः नृपः स्पृश्यते = सम्बध्यते, (परम्परासम्बन्धेन राजापि पापी भवतीति भावः ।) एवम् संक्षेपात्=पराजितेन दोषारोपात् द्रष्टुः = न्यायाधीशस्य अपवादः = अपयशः, एव सुलभः, किन्तु गुणः=कीर्त्तिः, दूरतः=दूरे तिष्ठतीत्यर्थः । पराजिता निर्णेतारं निन्दन्ति, विजयिनस्तु-स्वप्रमाणपत्रमात्मकौशलञ्च प्रशंसन्ति, इति भावः । अत्र चतुर्थचरणगतवाक्यार्थं प्रति पूर्ववाक्यार्थो हेतुरिति काव्यलिङ्गमलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

सरलार्थः—प्रायेण जना न्यायालये अन्याय्यं गुप्तकार्यमुपस्थापयन्ति, स्वयं स्वदोषान् न्यायाध्यक्षसमक्षं न ब्रुवन्ति, एवं च वादि-प्रतिवादिनोर्दोषप्रभावैरभिभूतचेता भूपतिर्न्यायकर्त्ताऽपि भवति । किं बहुना न्यायकर्त्तुः सदा निन्दैव भवति नतु प्रशंसा सा तु दुर्लभतमा ॥ ३ ॥

अन्वयः—सन्तः अपि कुपिताः न्यायेन दूरीकृताः दोषम् छन्नम् उदाहरन्ति स्वान् दोषान् अधिकरणे न कथयन्ति । पक्षापरपक्षदोषसहिताः ये पापानि संकुर्वते (ते) ध्रुवम् नष्टाः, संक्षेपात् द्रष्टुः अपवादः एव सुलभः गुणः दूरतः ।

उक्तमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—छन्नमिति—सन्तः = सुचरित्राः अपि (किमुतान्येऽस्यपि सन्मार्गाः) कुपिताश्चेत् न्यायेन दूरीकृताः=अन्यायिनो (भूत्वा) दोषम् = (व्यक्तमपि दूषणम्) छन्नम् = नीतिसम्मतम्, उदाहरन्ति, पुनः वास्तविकानपि

नहीं कहते हैं । पक्ष और विपक्ष से परिवर्द्धित दोष ही राजा तक पहुँच पाता है । (अतः उचित न्याय होना असंभव है) संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि न्यायाधीश पर प्रायः दोष लगाया जाता है और उसके दूरवर्त्ती गुण सुलभ नहीं है ॥ ३ ॥

और भी—

क्रुद्ध होकर सत्य बात छिपाकर वादी–प्रतिवादी अन्यायपूर्ण असत्य अभियोग उपस्थित करते हैं । सज्जनगण भी न्यायालय में अपने दोषों को नहीं कहते

ये पक्षापरपक्षदोषसहिताः पापानि संकुर्वते
संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुर्गुणो दूरतः ॥ ४॥

यतः—अधिकरणिकः खलु—

शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशलो वक्ता न च क्रोधन—
स्तुल्यो मित्र-पर-स्वकेषु चरितं दृष्ट्वैव दत्तोत्तरः ।

स्वान् दोषान् अधिकरणे न कथयन्ति, तथा पक्षापरपक्षयोर्दोषः=दुरभिसन्ध्यादिः (बुरी नियत आदि) तेन सहिताः ये पापानि=असत्यालापेन जायमानानि दुरितानि संकुर्वते भूषणार्थाभावात् 'सम्परिभ्यां'मिति न सुट् । ते ध्रुवम्=अवश्यम्, नष्टाः, भवन्ति । तथा च संक्षेपात्=पराजितपक्षेण आरोपात् द्रष्टुः=विचारकस्य अपवाद एव सुलभः, गुणस्तु दूरत एव तिष्ठतीति शेषः । अत्रापि काव्यलिङ्गमेव । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४ ॥

सरलार्थः—अपि च न्यायालये उपस्थिताः सज्जना अपि क्रुद्धाः सन्तः परकीयं गुप्तमपि दोषं कथयन्ति किन्तु स्वकीयं दोषं न प्रकटीकुर्वन्ति, अत एव ते निश्चयेन सन्मार्गभ्रष्टा एव भवन्ति । निर्णायको राजाऽपि वादिप्रतिवादिनोः परस्परं दोषोद्भावनप्रभावादपि को दोषीति निर्णेतुमशक्नुवानः समुचितनिर्णयाभावादन्ते पापभागी भवति निर्दोषे दोषानुरूपफलदानात् । अतः संक्षेपतो निर्णेतुर्निन्दालाभः सुगमः प्रशंसा तु सुदुर्लभा भवति ॥ ४ ॥

अन्वयः—शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशलः वक्ता क्रोधनः न, मित्रपरस्वकेषु तुल्यः, चरितम् दृष्ट्वा एव दत्तोत्तरः, क्लीबान् पालयिता, शठान् व्यथयिता, धर्म्यः अतिलोभान्वितः, द्वार्भावे परसत्त्वबद्धहृदयः राज्ञः कोपापहः च (एवंभूतः अधिकरणिकः भवितुं योग्य इति शेषः)

शास्त्रज्ञ इति—शास्त्रज्ञः समधिगतराजधर्मनीतिविधिः । शास्त्राणि जानातीत्यर्थे 'आतोऽनुपसर्गे' इति कः । कपटस्य=वादिप्रतिवादिभ्यां विहितस्य धर्मस्य अनुसारे=अवबोधे कुशलः, वक्ता=वाग्मिज्ञः (वाक्पाटवेन पराशयप्रकाशकः), क्रोधनः क्रुध्यति

है । अतः निश्चय ही वे भी नष्ट हो जाते हैं । तथा उभयपक्षीय दोष से दूषित हो वे पाप करते हैं । संक्षेप में विचारक पर दोष लगाना सहज है और उसके दूरवर्ती गुणों को प्रकट करना सुलभ नहीं है ॥ ४ ॥

इसलिए न्यायाधीश को—

धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि जानना चाहिए । वादी-प्रतिवादी के कपट व्यवहार को समझने में दक्ष, वक्ता तथा क्रोधरहित होना चाहिए । मित्र, शत्रु

क्लीबान् पालयिता शठान् व्यथयिता धर्म्योऽतिलोभान्वितो
द्वार्भावे परतत्त्वबद्धहृदयो राज्ञश्च कोपापहः ॥ ५ ॥

श्रेष्ठिकायस्थौ—अज्जस्स वि णाम गुणे दोसो त्ति वुच्चदि। जइ एव्वं ता चन्दालोए वि अन्धआरोत्ति वुच्चदि। (आर्यस्यापि नाम गुणे दोष इत्युच्यते। यद्येवम्, तदा चन्द्रालोकेऽप्यन्धकार इत्युच्यते।)

इति क्रोधनः 'क्रुधमण्डार्थेभ्यश्चे'ति युच्। क्रोधस्य तमःप्रधानतया बुद्धेर्लोपात् न्यायान्यायनिर्णयसामर्थ्यजनकता। मित्रम् = सुहृत्, परः = शत्रुः, स्वकः=स्वपरिवारः, तेषु तुल्यः=समदर्शी। अन्यथा मुखप्रेक्षितया कार्यकरणे अन्यायः लोकापवादश्च स्यात्, चरितम्=वादिप्रतिवादिनोस्तात्कालिकं व्यवहारम्, दृष्ट्वैव=ज्ञात्वैव दत्तम् उत्तरम् = निर्णयः, येन तम्, क्लीबान् = पौरुषशून्यान् पालयिता 'क्लीबे विक्रमहीनेऽपि' इति हलायुधः, 'क्लीबं नपुंसके षण्डे वाच्यलिङ्गमविक्रमे' इत्यमरः, 'क्लीबृ-अधाष्टर्ये' (भ्वा० आ० से०) 'इगुपधे'ति कः। 'पाल रक्षणे' इति चौरादिकात् 'तृन्' इति ताच्छीलिकस्तृन्, तद्योगे 'न लोके'ति षष्ठीनिषेधः। शठान् = वञ्चकान् व्यथयिता = दण्डयिता। अत्रापि पूर्ववत्तृन्। धर्म्यः = धर्मादनपेते (धार्मिके जने) अतिलोभान्वितः=तत्संसर्गादतीवेच्छायुक्तः, 'धर्मपथ्यर्थन्यायाद'दिति यत्प्रत्ययः। द्वारः = उपायस्य भावे=विद्यमानतायाम् 'द्वारं निर्गमेऽभ्युपाये' इति हैमः, 'उपाये निर्गमे द्वारम्' इति वा त्रिकाण्डशेषः। द्वार्द्वारयोरर्थैक्यादेतद्बोध्यम्। परस्य=वादिनः प्रतिवादिनो वा तत्त्वे=याथार्थ्यावबोधे बद्धम्=सुसज्जितम् हृदयं येन सः (तादृशः) तथा राज्ञः=कदाचित्क्रुद्धस्य नृपस्येत्याशयः, कोपम् = अशक्यवारणं क्रोधम्, अपहन्ति = नीतिसम्मतवाक्येन शमयति इति तथोक्तः अधिकरणस्येदं लक्षणमिति निष्कृष्टोऽर्थः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

सरलार्थः—यः न्यायकर्त्ता नीतिशास्त्रवेत्ता, वादिप्रतिवादिनोः कपटज्ञानशाली वाक्पटुः, क्रोधशून्यः, मित्रात्मीयशत्रुषु समः, व्यवहारे दर्शनानन्तरमेव समुचितोत्तरप्रदाता, असमर्थानां रक्षकः, खलानां शास्ता, धार्मिकः, लोभशून्यः, संशये सति तत्त्वनिर्णायकः, राज्ञः क्रोधापनयनकुशलश्च स एव श्लाघ्यो भवति ॥ ५ ॥

एवं पुत्रादि स्वजनों में तुल्यदृष्टि रखना चाहिए, उन लोगों के अभियोग का उचित रूप से विचार कर निर्णीत वाक्य कहना चाहिए। उन्हें दुर्बलों का पालन और धूर्तों को दण्ड देना चाहिए, उन्हें धर्म में आस्था, वस्तुओं के प्रति लोभरहितता रखनी चाहिए। तथा उन्हें संदेह होने पर उनके वास्तविक तत्त्व को जानने में संलग्न तथा राजा के कोप को दूर करने वाला होना चाहिए ॥ ५ ॥

बनिया-कायस्थ—यदि आप में भी गुण-दोष कहा जाता है। और यदि ऐसी बात है तो चन्द्र की चन्द्रिका में भी अन्धकार कहा जायगा।

अधि—भद्र ! शोधनक ! अधिकरणमण्डपस्य मार्गमादेशय ।

शोधनकः—एदु एदु अधिअरणभोइओ एदु । (एतु एतु अधिकरणभोजक एतु)

इति परिक्रामन्ति ।

शोध—एदं अधिअरणमण्डवं, ता पविसन्तु अधिअरणभोइआ । (एतदधिकरणमण्डपम्, तत्प्रविशन्तु अधिकरणभोजकाः)

(सर्वे च प्रविशन्ति)

अधि—भद्र शोधनक ! बहिर्निष्क्रम्य ज्ञायताम्—कः कः कार्य्यार्थी इति।

शोध—जं अज्जो आणवेदि (इति निष्क्रम्य) अज्जा ! अधिअरणिआ भणन्ति—'को को इध कज्जत्थी' त्ति (यदार्य आज्ञापयति । आर्याः ! अधिकरणिका भणन्ति—'कः कः इह कार्यार्थी' इति)

शकारः—(सहर्षम्) उवत्थिए अधिअलणिएँ (साटोपं परिक्रम्य) हग्गे वलपुलिशे मणुश्शे वासुदेवे लट्टिअशाले लाअशाले कज्जत्थी (उपस्थितः अधिकरणिकः । अहं वरपुरुषः मनुष्यः वासुदेवः राष्ट्रियश्यालः राजश्यालः कार्यार्थी)

आप इति—कार्यार्थी = विवादनिर्णयार्थी (फरियादी)

शकार इति—साटोपम् = सगर्वम् ।

न्यायाधीश—भद्र ! शोधनक ! न्याय-मण्डप का मार्ग दिखलाओ ।

शोधनक—आइए आइए न्यायाधीश ! आइये ।

(चलते हैं)

शोधनक—यही न्याय-मण्डप है। आप न्यायाधीशगण इसमें प्रवेश करें ।

(सभी प्रवेश करते हैं)

न्यायाधीश—भद्र शोधनक ! बाहर जाकर पता लगाओ कि 'कौन कौन विचार-प्रार्थी हैं ।'

शोधनक—जैसी आपकी आज्ञा । (बाहर जाकर) सज्जनो ! न्याय के कार्यकर्त्तागण कहते हैं कि 'कौन-कौन यहाँ न्याय कराने आए हैं ?

शकार—(प्रसन्नतापूर्वक) उपस्थित हैं न्यायाधीश ! (अहङ्कारपूर्वक दो चार डग चलकर) प्रधान-पुरुष, मनुष्य, वासुदेव, राष्ट्र का साला, राजस्यालक ने कार्यार्थी हूँ ।

शोध—(ससम्भ्रमम्) हीमादिके ! पढ़मं ज्जेव रट्ठिअशालो कज्जत्थी । भोदु, अज्ज ! मुहुत्तं चिट्ठ, दाव अधिअरणिआणं णिवेदेमि । (उपगम्य) अज्ज ! एसो क्खु रट्ठिअशालो कज्जत्थी ववहारे उवत्थिदो (हन्त ! प्रथममेव राष्ट्रियश्यालः कार्यार्थी । भवतु, आर्य ! मुहूर्तं तिष्ठ, तावदधिकरणिकानां निवेदयामि । आर्याः ! एष खलु राष्ट्रियश्यालः कार्यार्थी व्यवहारे उपस्थितः)

अधि—कथं प्रथममेव राष्ट्रियश्यालः कार्यार्थी । यथा—सूर्योदये उपरागो महापुरुषविनिपातमेव कथयति । शोधनक ! व्याकुलेनाद्य व्यवहारेण भवितव्यम् ! भद्र ! निष्क्रम्य उच्चताम्—गच्छ, अद्य न दृश्यते तव व्यवहार इति ।

शोध—जं अज्जो आणवेदि । (निष्क्रम्य शकारमुपगम्य) अज्ज ! अधिअरणिआ भणन्ति—'अज्ज गच्छ, ण दीशदि तव ववहारा ।' (यदार्थं

शोधेति—विस्मयविषादसूचकमव्ययमिदम्-'हीमादिके' इति (प्राकृतभाषायामिति शेषः) । अयत्नप्राप्तभोजनस्य निश्चिन्तस्यापि शकारस्य अधिकरणमण्डपे कार्यमिति विस्मयः, सर्वप्रथममस्यैव दर्शनेन दुष्टतया च विषादः, इति ज्ञेयम् । उपवहारे = व्यवहारनिमित्तम् ।

अधि इति—उपरागः = ग्रहणम् 'उपरागो ग्रहः' इत्यमरः, उपरज्यते अनेन 'रञ्ज-रागे' (भ्वा० उ० अ०) 'हलश्च' इति घञ् 'घञि च भावकरणयोः' इति नलोपः । भावे वा घञ् । 'उपरक्तो व्यसनार्त्ते राहुग्रस्तेन्दुसूर्ययोः' । सूर्योदयकालिकग्रहणस्य फलं यथा ज्योतिषे-'प्रातर्ग्रहः सूचयते विनाशं रवेर्वरेण्यस्य जनस्य सद्यः ॥' इति ।

शोधनक—(घबड़ाया हुआ) हाय ! सर्वप्रथम राजा का साला ही कार्यप्रार्थी है ? अच्छा आर्य ! क्षण भर ठहरिए । तब तक मैं न्याय के अधिकारियों से निवेदन कर आऊँ । (जाकर) आर्यगण ! यह कार्यार्थी राजा का साला न्याय कराने के लिए उपस्थित है ।

न्यायाधीश—क्या सर्वप्रथम राजा का साला ही कार्यार्थी है । जिस प्रकार सूर्योदय के समय सूर्यग्रहण किसी प्रधान-पुरुष के विनाश की सूचना देता है । आज न्याय-परामर्श में व्याकुलता छा जायगी । भद्र ! बाहर कहो कि 'जाओ, आज तुम्हारे अभियोग पर विचार नहीं होगा' ।

शोधनक—जैसी श्रीमान् की आज्ञा (बाहर शकार के निकट जाकर)

आज्ञापयति । आर्य! अधिकरणिका भणन्ति—'अद्य गच्छ, न दृश्यते तव व्यवहारः ।')

शकारः—(सक्रोधम्) किं ण दीशदि मम ववहाले ? । जइ ण दीशदि, तदो आउत्तं लाआणं पालअं बहिणीवदि विण्णविअ बहिणि अत्तिकं च विण्णविअ एदं अधिअलणिअं दूले फेलिअ एत्थ अण्णं अधिअलणिअं ठावइश्शं । (इति गन्तुमिच्छति) किं न दृश्यते मम व्यवहारः ? । यदि न दृश्यते, तदा आवुत्तं राजानं पालकं भगिनीपतिं विज्ञाप्य भगिनीं मातरञ्च विज्ञाप्य एतमधिकरणिकं दूरीकृत्य अत्र अन्यमधिकरणिकं स्थापयिष्यामि)

शोध—अज्ज ! रट्टिअशालअ ! मुहुत्तअं चिट्ठ, दाव अधिअरणिआणं णिवेदेमि । (अधिकरणिकमुपगम्य) एसो रट्टिअशालो कुविदो भणादि । (इति तदुक्तं भणति) (आर्य ! राष्ट्रियश्याल ! मुहूर्त्तकं तिष्ठ, तावदधिकरणिकानां निवेदयामि । एष राष्ट्रियश्यालः कुपितो भणति)

अधि—सर्वमस्य मूर्खस्य सम्भाव्यते ! भद्र ! उच्यताम्—आगच्छ, दृश्यते तव व्यवहारः ।

शकार इति—आवुत्तं भगिनीपतिञ्च पुनरुक्तम् । भगिनीं मातरञ्चेति लोकवेदविरुद्धम् । शकारत्वादुपेक्ष्यमेव ।

अधि इति—व्यवहारः = विवादः, दृश्यते = निर्णीयते ।

आर्य ! न्याय के अधिकारीगण कहते हैं कि—'जाओ, आज तुम्हारे अभियोग पर विचार नहीं होगा ।'

शकार—(क्रोध के साथ) मेरे अभियोग पर क्यों विचार नहीं होगा ? यदि विचार नहीं होगा तो आवुत्त बहन के पति, राजा पालक से कहकर तथा बहन एवं माता को सूचित कर इस न्यायाधीश को निकलवाकर इसके स्थान पर किसी दूसरे न्यायाधीश को नियुक्त करवाऊँगा । (जाना चाहता है)

शोधनक—आर्य ! राष्ट्रिय श्यालक ! क्षण भर ठहरिये, तब तक मैं न्याय के अधिकारियों से कह आता हूँ । (न्यायाधीश के पास जाकर) यह राजा का साला क्रुद्ध होकर कहता है । (जो उसने कहा था उसे कह सुनाया)

न्यायाधीश—यह मूर्ख सब कुछ कर सकता है । भद्र ! कह दो कि—'आओ, तुम्हारे अभियोग पर विचार होगा ।'

शोध—(शकारमुपगम्य) अज्ज ! अधिअरणिआ भणन्ति—आअच्छ दीशदि तव ववहारो ! ता पविसदु अज्जो । (आर्य ! अधिकरणिका भणन्ति—'आगच्छ, दृश्यते तव व्यवहारः । तत् प्रविशतु आर्यः')

शकारः—पढ़मं भणन्ति—'ण दीशदि, शम्पदं दीशदि' त्ति । ता णाम भीदभीदा अधिअलणभोइआ । जेत्तिअ हग्गे भणिश्शं तेत्तिअं पत्तिआवइश्शं । भोदु, पविशामि । (प्रविश्योपसृत्य) शुशुहं अम्हाणं, तुम्हाणं पि शुहं देमि ण देमि अ । (प्रथमं भणन्ति—'न दृश्यते, साम्प्रतं दृश्यते' इति । तत् नाम भीतभीता अधिकरणभोजकाः । यावदहं भणिष्यामि, तावत् प्रत्याययिष्यामि । सुसुखमस्माकम्, युष्माकमपि सुखं ददामि न ददामि च)

अधि—(स्वगतम्) अहो ! स्थिरसंस्कारता व्यवहारार्थिनः । (प्रकाशम्) उपविश्यताम् ।

शकारः—आ ! अत्तणकेलका शे भूमो । ता जहिं मे लोअदि तहिं उवविशामि । (श्रेष्ठिनं प्रति) एश उवविशामि । (शोधनकं प्रति) णं एत्थ उवविशामि । (इत्यधिकरणिकमस्तके हस्तं दत्त्वा) एग उवविशामि । (इति

शकार इति—प्रत्याययिष्यामि = विश्वासमुत्पादयिष्यामि । युष्माकम् अपि सुख दातुं शक्नोमि, न दातुमर्हाम्यपि, यादृशो ममेच्छेति भावः ।

अधि इति—अहो = इत्याश्चर्यं व्यवहारार्थिनः = व्यवहारस्य निर्णयमिच्छतः । शकारस्येति भावः । स्थिरसंस्कारता=दृढनिश्चयः (सर्वेषां सुखं दुःखं वा स्वातन्त्र्येणाहं दातुं शक्नोमीति सिद्धान्ते इति शेषः) ।

शोधनक—(शकार के पास जाकर) आर्य ! न्याय के अधिकारीगण कहते हैं—'आओ, तुम्हारे अभियोग पर विचार होगा' तब आर्य चलें ।

शकार—पहले कहते हैं—'विचार नहीं होगा ।' तब कहते हैं, विचार होगा । न्याय के अधिकारीगण भयभीत हो गये हैं । जो कुछ मैं कहूंगा उसपर विश्वास करवा लूंगा । अच्छा प्रवेश करता हूं । (प्रविष्ट होकर और समीप पहुंच कर) हमलोगों को सुख मिले । तुमलोगों को भी सुख दूंगा, अथवा नहीं दूंगा ।

न्यायाधीश—(मन में) इस कार्यार्थी शकार की निर्भीकता कैसी है ! (प्रकट) बैठ जाइये ।

शकार—अरे ! यह तो मेरी अपनी भूमि है, इसलिए मेरी जहां इच्छा होगी वहां बैठूंगा । (श्रेष्ठि के प्रति) यह बैठता हूं । (शोधनक के प्रति) अभी

भूमौ उपविशति) (आः ! आत्मीया एषा भूमिः, तद् यस्मिन् मे रोचते, तस्मिन्नुपविशामि । एष उपविशामि । नन्वत्र उपविशामि । एष उपविशामि)

अधि—भवान् कार्यार्थी ? ।

शकारः—अधइं । (अथ किम्)

अधि—तत् कार्यं कथय ।

शकारः—कण्णे कज्जं कधइश्शं । एवं वड्ढके गल्लक्कप्पमाणाह कुले हग्गे जादे । (कर्णे कार्यं कथयिष्यामि ! एवं वृहति गल्लकंप्रमाणस्य कुले अहं जातः)

लाअशशुले मम पिदा लाआ तादश्श होइ जामादा ।
लाअशिआले हग्गे ममावि वहिणीवदी लाआ ॥ ६ ॥
(राजश्वशुरो मम पिता राजा तातस्य भवति जामाता ।
राजश्यालोऽहं ममापि भगिनीपती राजा ॥ ६ ॥)

अधि इति—कार्यार्थी अस्ति किमिति प्रश्नः ।

शकार इति—गल्लकंप्रमाणस्य = कुक्कुरतुल्यस्य । हतोपममिदम् ।

राजेति—मम पिता राजश्वसुरः, राजा (च) (मम) तातस्य जामाता भवति, अहम् राजश्याल; राजा अपि मम भगिनीपतिः । अत एवाहं कुक्कुरोपमोऽतिगौरवान्वित इत्याशयः । शकारवचनत्वाद्विनोदकरमेतत् । आर्या जातिः ॥ ६ ॥

सरलार्थः—मम पिता अत्रत्यस्य राज्ञः श्वशुरः, राजाऽपि मत्पितुर्जामाता, अहं राज्ञः श्यालः, राजाऽपि मम भगिनीपतिरस्ति ॥ ६ ॥

यहाँ बैठता हूँ । (न्यायाधीश के मस्तक पर हाथ रख कर) यहाँ बैठता हूँ । (पृथ्वी पर बैठ जाता है ।)

न्यायाधीश—आप कार्यार्थी हैं ?

शकार—हाँ !

न्यायाधीश—तो अपना कार्य सुनाइये ।

शकार—कान में कहूँगा । इस प्रकार मैं विशाल कुत्ते के कुल में उत्पन्न हुआ हूँ ।

मेरे पिता राजा के ससुर हैं, स्वयं राजा मेरे पिता के जमाता हैं, मैं राजा का साला हूँ एवं मेरी बहन के पति राजा हैं ॥ ६ ॥

अधि—सर्वं ज्ञायते।

किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम्।
भवन्ति नितरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः ॥ ७ ॥

तदुच्यतां कार्यम्।

शकारः—एव्वं भणामि—अवलद्धाह वि ण अ मे किं पि कलइश्शदि। तदो तेण वहिणीपदिणा परितुट्टेण मे कीलिदुं लक्खिदं शव्वुज्जाणाणं पवलं पुप्पकलण्डके जिण्णुज्जाणे दिण्णे। तहि च पेक्खिदुं अणुदिअहं शोशावेदुं शोधावेदुं पोत्थावेदुं लुणावेदुं गच्छामि। देव्वजोएण पेक्खामि ण पेक्खामि वा, इत्थिआशलोलं णिवडिदं। (एवं भणामि—अपराद्धस्यापि न च मे किमपि करिष्यति। ततस्तेन भगिनीपतिना परितुष्टेन मे क्रीडितुं रक्षितुं सर्वोद्यानानां प्रवरं पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं दत्तम्। तत्र च प्रेक्षितुमनुदिवसं शोषयितुं शोधयितुं पोषयितुं लावयितुं गच्छामि। दैवयोगेन प्रेक्षे न प्रेक्षे वा, स्त्रीशरीरं निपतितम्)

किमिति—पद्यमिदमष्टमांके व्याख्यातम् ॥ ७ ॥

सरलार्थः—यतस्तव स्वभावेनैव कुलमनुमीयते ततो वृथावंशवर्णनम् न कर्त्तव्यम् सुक्षेत्रेऽपि कण्टकिनो द्रुमाः प्रवृद्धा भवन्ति ॥ ७ ॥

शकार इति—एवम् 'वड्डके' इत्यादि पूर्वोक्तरीत्या कथनेन हेतुना अपराद्धस्यापि = कृतदोषस्यापि, मे = मम किमपि = कारावासादिकम् (राजा इति शेषः) न करिष्यति। एतेन 'युष्माभिरपि मम दण्डः सत्यपराधे न कर्त्तव्यः, अन्यथा युष्माकमनिष्टं साधयिष्यामी'ति सूचितम्। शोषयितुम् = अतिविलक्षप्रदेशमिति शेषः। धूल्यादिप्रक्षेपेण शुष्कं कर्तुम् शुषेर्दैवादिकात् 'तुमुन्ण्वुला'विति तुमुन्। शोधयितुम्=

न्यायाधीश—सब जानते हैं।

कुल की प्रशंसा करने से क्या लाभ? स्वभाव ही सर्व-प्रधान कारण है। क्षुद्र मन्दार आदि के वृक्ष भी उत्तम खेत में पड़ने से अधिक बढ़ते फैलते हैं। ७।

अब अपना कार्य उपस्थित कीजिए।

शकार—कहता हूँ—मेरे अपराध करने पर भी राजा मुझे कुछ दण्ड नहीं दे सकते हैं। अतः बहन के पति उस राजा ने प्रसन्न होकर मुझे विहार करने के लिए एवं रक्षा करने के लिए सभी उद्यानों में प्रधान पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान दिया। वहाँ प्रतिदिन देखने के लिए, दुर्जनों का दमन करने के लिए, बेकार

अधि—अथ ज्ञायते का स्त्री विपन्नेति ?।

शकारः—हंहो अधिअलणभोइआ ! किं त्ति ण जाणामि तं तादिशिं णअलमण्डणं कञ्चणशदभूशणिअं। केण वि कुपुत्तेण अत्थकल्लवत्तश्श कालणादो शुण्णं पुप्फकलण्डकं जिण्णुज्जाणं पवेशिअ बाहुपाश-वलक्कारेण वशन्तशेणिआ मालिदा, ण मए। (इत्यर्द्धोक्ते मुखमावृणोति) (हंहो अधिकरणभोजकाः ! किमिति न जानामि तां तादृशीं नगरमण्डनं काञ्चनशतभूषणाम्। केनापि कुपुत्रेण अर्थकल्यवर्त्तस्य कारणात् शून्यं पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं प्रवेश्य बाहुपाशबलात्कारेण वसन्तसेना मारिता, न मया)

अधि—अहो नगररक्षिणां प्रमादः ! । भोः श्रेष्ठिकायस्थौ ! न मयेति व्यवहारपदं प्रथममभिलिख्यताम्।

अनभिमततृणगुल्माद्यपसारणेन वृक्षादिकं विशुद्धं कर्तुम्। पोषयितुम् (आलवाले जलदानेन वर्द्धयितुम्) लावयितुम्=आवश्यकतया पुष्पफलमूलादिकं छेदयितुम्। प्रेक्षे 'न प्रेक्षे वा' इत्यपार्थम्।

शकार इति—अर्थकल्यवर्त्तस्य = अनित्यातिक्षुद्रधनस्य। बाहुपाशाभ्यां बलात्कारः=निष्पीडनम्। तेन। 'न मया' मया न मारिता इत्यर्थः। मुखसंवरणमुक्तिस्खलनसूचनार्थम्।

अधि—नगररक्षिणाम्=(चौकीदार) प्रहरिणां तन्निरीक्षकाणाञ्च, (दफादार

वृक्षों को काट निकालने के लिए, लगे हुए वृक्षों को सींचने के लिए तथा तुच्छ तृणों को काटने के लिए मैं जाता हूँ। संयोगवश वहाँ स्त्री का शरीर पड़ा हुआ देखा या नहीं देखा।

न्यायाधीश—क्या जानते हो वह कौन स्त्री मरी पड़ी थी ?

शकार—ऐ न्याय के अधिकारीवर्ग ! क्या मैं उसे नहीं जानता हूँ जो इस प्रकार उज्जयिनी नगरी की शोभा है तथा जो विविध अलंकारों से विभूषित रहती है। किसी कुपुत्र ने क्षणस्थायी धन के कारण निर्जन पुष्पकरण्डक पुरातन उपवन में ले जाकर बाहुपाश में आबद्ध करके वसन्तसेना को मार डाला, मैंने नहीं मारा।

(इस प्रकार आधा कह कर मुख ढँक लेता है)

न्यायाधीश—अरे ! यह नगर-रक्षकों की असावधानता है। ऐ श्रेष्ठि एवं कायस्थ ! 'मैंने नहीं मारा' इस विचारणीय पद को सर्वप्रथम लिख लीजिए।

कायस्थः—जं अज्जो आणवेदि। (तथा कृत्वा) अज्ज! लिहिदं। (यदार्य आज्ञापयति। आर्य! लिखितम्)

शकारः—(स्वगतम्) हीमादिके! उत्तालाअन्तेण विअ पाअशपिण्डालकेण अज्ज मए अत्ता एव्व णिण्णाशिदो। भोदु, एवं दाव। (प्रकाशम्) अहो अधिअलणभोइआ! णं भणामि, मए ज्जेव दिट्ठा, किं कोलाहलं कलेध?। (इति पादेन लिखितं प्रोञ्छति) (हन्त! उत्ताम्यतेव पायसपिण्डारकेण अद्य मया आत्मैव निर्नाशितः। भवतु, एवं तावत्, अहो अधिकरणभोजकाः! ननु भणामि—मयैव दृष्टा। किं कोलाहलं कुरुत?)

अधि—कथं त्वया ज्ञातं यथा खल्वर्थनिमित्तं बाहुपाशेन व्यापादिता?।

शकारः—हंहो! णूणं पडिशूण्णाए मोघट्टाण्णाए गीवालिआए णिशुव-

आदि) प्रमादः=अनवधानता। अन्यथा नेयं हत्या स्यात्। व्यवहारपदम्=विचारणीयः शब्दः अनावश्यकत्वेऽपि 'न मया मारिता' इत्युक्त्वा अनेनैव मारितेति तात्पर्यमवसीयते।

शकार इति—ऋच्छतीत्यारकः 'ण्वुल्तृचा'विति कर्तरि ण्वुल् तस्य 'युवो' रित्येकादेशे रूपम्। पायसपिण्डस्य आरकस्तेनेव। हविर्लोलुपेनेवेति भावः। उत्ताम्यता, उत्पूर्वकात्, तमुत्काङ्क्षायाम्। इति दैवादिकात्परस्मैपदिनः शतृप्रत्ययः। अस्थिरमानसेन, मया आत्मैव निर्नाशितः='न मया' इति सन्देहास्पदवचनोपन्यासेन मय्येवापराधनिश्चयस्य सम्भवादिति भावः।

कायस्थ—जैसी श्रीमान् आज्ञा। (वैसा करके) आर्य! लिख लिया।

शकार—(मन में) अफसोस! परान्नलोभी मनुष्य के समान व्यस्त चित्त वाले मैंने आज अपने से अपनी आत्मा को नष्ट कर दिया। अच्छा, ऐसा ही हो। (प्रकट) ऐ अधिकारीवृन्द! कहता हूँ कि मैंने ही देखा है। तुमलोग कोलाहल क्यों मचा रहे हो? (पैर से लिखे हुए को मिटाता है)

न्यायाधीश—तुमने यह कैसे जाना कि धन के कारण बाहुपाश में आबद्ध करके मारा।

शकार—अलंकारों से रहित होने से, गले में हार-सूत्रावली के न रहने से तथा आभूषणों के प्रत्येक स्थानों के आभूषण से शून्य रहने से मैं ऐसा समझता हूँ।

णकेहिं आहलणट्ठाणेहिं तक्केमि। (हंहो ! नूनं परिशून्यया मोघस्थानया ग्रीवालिकया निःसुवर्णकैराभरणस्थानैस्तर्कयामि)

श्रेष्ठिकायस्थौ—जुज्जदि विअ। (युज्यत इव)

शकारः—(स्वगतम्) दिट्ठिआ पच्चुज्जीविदम्हि। अविदमादिके !। (दिष्ट्या प्रत्युज्जीवितोऽस्मि।)

श्रेष्ठिकायस्थौ—भोः ! कअं एसो ववहारो अवलम्बदि ?। (भोः ! कमेष व्यवहारोऽवलम्बते?)

अधि—इह हि द्विविधो व्यवहारः।

श्रेष्ठिकायस्थौ—केरिसौ ?। (कीदृशौ ?)

अधि—वाक्यानुसारेण अर्थानुसारेण च। यस्तावत् वाक्यानुसारेण,

शकार इति—परिशून्यया = परितः कनकगुटिकाविरहितया, मोघस्थानया= स्वस्थाने व्यर्थस्थितया (सूत्रमात्रावशेषेण सौन्दर्याधायकत्वाभावादिति शेषः)। ग्रीवायाः = कण्ठस्य आलिका=हारसूत्रावली, तया। तर्कयामि=अनुमिनोमि, तथैवम् निःसुवर्णकैः सुवर्णकेभ्यः निष्क्रान्तैः 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति पञ्चमीसमासः, कनकालंकारशून्यैरित्यर्थः। आभरणस्थानैः = करवक्षःस्थलनासिकाप्रभृतिभिरवयवैश्च तर्कयामि = धनलोभादेवेयं केनचिद् घातितेति सम्भावयामि। अत्र ज्ञप्त्याख्यं नाटचलक्षणम्, तथाहि—ज्ञप्तिः केनचिदंशेन किञ्चिद्यत्रानुमीयते' इति दर्पणोक्तेः।

श्रेष्ठि इति—युज्यते इव=सम्भवेदपि (अनुपदमेव 'न मये'त्युक्तत्वात् सन्देहोक्तिरियम्।

शकार इति—दिष्ट्या = प्रारब्धेन। अविदमादिके = शकारभाषायां हर्षसूचकमव्ययम्।

श्रेष्ठि इति—अधिकरणिकः पृच्छति—'भोः'। व्यवहारः=अभियोगनिर्णयः द्विविधो भवति।

अधि इति—वाक्यानुसारेण·वादिप्रतिवादिनोः (मुद्दई, मुद्दालेह) वाक्यानुसारेण (इजहार)। अर्थानुसारेण = विचारकबुद्धिगृहीतार्थानुसारेण।

श्रेष्ठिकायस्थ—यही हो सकता है

शकार—(मन में) अहा ! भाग्य से मैं पुनः जीवित हो गया।

श्रेष्ठिकायस्थ—इस विवाद का निर्णय किस पुरुष की अपेक्षा करता है।

न्यायाधीश—इस विवाद-निर्णय में दुविधा है।

श्रेष्ठिकायस्थ—कैसी दुविधा ?

न्यायाधीश—वाक्य के अनुसार और अर्थ के अनुसार। जो वाक्य के

स खल्वर्थिप्रत्यर्थिभ्यः, यश्चार्थानुसारेण, स चाधिकरणिकबुद्धिनिष्पाद्यः ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—ता वसन्तसेणामादरं अवलम्बादि ववहारो ? । (तद् वसन्तसेनामातरमवलम्बते व्यवहारः ?)

अधि—एवमिदम् । भद्र । शोधनक ! वसन्तसेनामातरमनुद्वेजयन्नाह्वय ।

शोध—तह । (इति निष्क्रम्य गणिकामात्रा सह प्रविश्य) एदु एदु अज्जा । (तथा । एतु एतु आर्या)

वृद्धा—गदा मे दारिआ मित्तघरअं अत्तणो जोव्वणं अणुभविदुं । एसो उण दीहाऊभणादि—'आअच्छ, अधिअरणिओ सद्दावेदि ।' ता मोहपरवसमिव अत्ताणअं अवगच्छामि, हिअअं मे थरथरेदि । अज्ज ! आदेसेहि मे अधिअरणमण्डवस्स मग्गं । (गता मे दारिका मित्रगृहमात्मनो यौवनमनुभवितुम् । एष पुनर्दीर्घायुर्भणति—'आगच्छ, अधिकरणिकः शब्दापयति ।' तन्मोहपर-

---

श्रेष्ठि इति—वसन्तसेनायाः कः परिचितः इति तन्मातैव कथयिष्यतीति तात्पर्यम् ।

अधि इति—अनुद्वेजयन्=वसन्तसेनामरणानिवेदनेन व्याकुलतामजनयन् तन्निवेदने शोकाकुलतया किमपि याथार्थ्यं नाभिधास्यतीति तात्पर्यम् ।

वृद्धेति—यौवनम् = तारुण्यम्, यूनो भावः 'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' 'अन्' इति प्रकृतिभावः । लक्षणया यौवनसुखमनुभवितुमित्यर्थः दीर्घायुः = आयुष्मान् वात्सल्यादियमुक्तिः, शब्दापयति = आकारयति । तत्=पूर्वोक्तकारणद्वयात् हेतोः,

---

अनुसार है वह कार्यार्थियों के वाक्य पर निर्भर है, और जो अर्थ के अनुसार निर्णय है उसे न्यायाधीश अपनी बुद्धि से निर्णय करता है ।

श्रेष्ठिकायस्थ—तब वसन्तसेना की माता इस निर्णय की अपेक्षा करती है ।

न्यायाधीश—ऐसी बात है । भद्र शोधनक ! उद्वेग न उत्पन्न करते हुए वसन्तसेना की माता को बुलाओ ।

शोधनक—अच्छा । (बाहर जाकर और वसन्तसेना की माता के साथ आकर) आइए-आइए आर्या ।

वृद्धा—मेरी पुत्री मित्र चारुदत्त के घर पर अपने यौवन का सुख अनुभव करने गई है । और यह दीर्घायु मुझसे कहता है कि 'आओ, न्यायाधीश बुलाते हैं ।'

वशमिवात्मानमवगच्छामि हृदयं थरथरायते। आर्य! आदिश मे अधिकरण-मण्डपस्य मार्गम्)

शोध—एदु एदु अज्जा। (एतु एतु आर्या) (उभौ परिक्रामतः)

शोध—एदं अधिअरणमण्डवं, एत्थ पविसदु अज्जा। (एतदधिकरण-मण्डपम्, अत्र प्रविशतु आर्या) (इत्युभौ प्रविशतः)

वृद्धा—(उपसृत्य) सुहं तुम्हाणं भोदु भावमिस्साणं (सुखं युष्माकं भवतु भावमिश्राणाम्)

अधि—भद्रे ! स्वागतम्। आस्यताम्।

वृद्धा—तधा। (तथा) (इत्युपविष्टा)।

शकारः—साक्षेपम्। आगदाशि वुड्ढकुट्टणि ! आगदाशि (आगतासि वृद्धकुट्टनि ! आगतासि !

अधि—अये ! तत् त्वं किल वसन्तसेनाया माता ?।

मोहपरवशम् = किंकर्त्तव्यविमूढम्। थरथरायते = 'थरथर' इत्येवं वेपते। 'थरथर' इत्यव्यक्तानुकरणात् 'कर्तुः क्यङ्' इति क्यङ्।

वृद्धेति—भावेषु=विद्वत्सु 'भावो विद्वान्' इत्यमरः, मिश्राणाम् = श्रेष्ठानाम्।

शकार इति–वृद्धा चासौ कुट्टनी। 'पुंवत् कर्मधारये'ति पुंवद्भावः। कुट्टयति= छेदयति धर्मम् इति विग्रहे 'कुट्ट छेदने' (चु. प. से.) 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति बाहुलकात्कर्त्तरि ल्युट्। परनारीं पुंसा योजयित्र्याः कुट्टनीति व्यपदेशः।

इसलिए मैं मूर्च्छित-सी हुई जा रही हूँ, हृदय काँप रहा है। आर्य ! न्यायमंडप का मुझे रास्ता बतलाइये।

शोधनक—इस ओर से चलिए, आइये।

(दोनों चलते हैं)

शोधनक—यही न्याय-मण्डप है, इसमें आप प्रवेश करें।

(दोनों प्रवेश करते हैं)

वृद्धा—(जाकर) आप विद्वद्गणों का कल्याण हो।

न्यायाधीश—भद्रे ! स्वागत है। बैठिए।

वृद्धा—अच्छा (बैठ जाती है)

शकार—(अहंकारपूर्वक) आ गई वृद्ध-कुट्टिनी आ गई।

न्यायाधीश—अरी ! तू वसन्तसेना की माता है ?

वृद्धा—अघइं। (अथकिम्)

अधि—अथेदानीं वसन्तसेना क्व गता ?।

वृद्धा—मित्तघरअं। (मित्रगृहम्)

अधि—किं नामधेयं तस्या मित्रम् ?।

वृद्धा—(स्वगतम्) हद्धी हद्धी अदिलज्जणीअं क्खु एदं (प्रकाशम्) जणस्स पुछणीओ अअं अत्थो, ण उण अधिअरणिअस्स (हा धिक् हा धिक्, अतिलज्जनीयं खल्वेतत्। जनस्य पृच्छनीयोऽयमर्थः, न पुनरधिकरणिकस्य)

अधि—अलं लज्जया, व्यवहारस्त्वां पृच्छति।

श्रेष्ठिकायस्थौ—ववहारो पुच्छदि, णत्थि दोसो, कधेहि। (व्यवहारः पृच्छति, नास्ति दोषः, कथय)

वृद्धा—कधं ववहारो !। जइ एव्वं, ता सुणन्तु अज्जमिस्सा। सो क्खु,

---

वृद्धा इति—अतिलज्जनीयम् = लज्जास्पदम्। जनस्य पृच्छनीयः=साधारण-जनस्य पृच्छनीयः, न तु पुनरधिकरणिकस्य, (पृच्छनीय इत्याशयः) 'कृत्यानां कर्तरि वे'तिषष्ठी। साक्षान्न्यायकर्त्ता मद्दुहितुः 'प्रेयांसं पृच्छति किन्नामधेयोऽसा' वित्येव लज्जाकारणम्, अन्यश्चेत्पृच्छेन्न तल्लज्जास्पदं स्यादिति तत्त्वम्।

अधि इति—अलम् = व्यर्थम् 'अलं व्यर्थसमर्थयोः' इत्यमरः। व्यवहारः = विवादनिर्णयः। (नत्वहमित्यर्थः) विवादस्य हेतोरहं पृच्छामि न च कौतुकवशा-दित्याशयः।

श्रेष्ठि इति—नास्ति दोषः=नामपृच्छायां तत्कथने च नास्ति नीचता इति भावः।

वृद्धेति—विस्मये कथं शब्दः, विस्मयश्च=अकस्माद् व्यवहारश्रवणाद्बोध्यः। नहा

वृद्धा—हाँ।

न्यायाधीश—इस समय वसन्तसेना कहाँ गई है ?

वृद्धा—मित्र के घर।

न्यायाधीश—उसके मित्र का क्या नाम है ?

वृद्धा—(स्वगत) हाय ! हाय !! यह बड़े लज्जा का विषय है (प्रकट) यह प्रश्न साधारण जनता के पूछने का है, न्यायाधीश का नहीं।

न्यायाधीश—लज्जा करना व्यर्थ है। किसी विवाद के निर्णय के लिए पूछा जा रहा है।

श्रेष्ठिकायस्थ—न्याय-व्यवहार पूछ रहा है, इसमें कोई दोष नहीं है। कहो।

वृद्धा—क्या न्याय व्यवहार के लिए ? तब आप विद्वद्गण सुनें। वे व्यापारी

सत्थवाह-विणअदत्तस्स णत्तिओ, साअरदत्तस्स तणओ, सुगहिदणामहे-ओ अज्ज चारुदत्तो णाम सेट्ठिचत्तरे पडिवसदि; तहिं मे दारिआ जोव्वण-सुहं अणुभवदि। (कथं व्यवहारः ? यद्येवं तदा शृण्वन्तु आर्यमिश्राः। स खलु सार्थवाहविनयदत्तस्य नप्ता, सागरदत्तस्य तनयः, सुगृहीतनामधेय आर्यचारुदत्तो नाम श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति, तत्र मे दारिका यौवनसुखमनुभवति)

शकारः—शुदं अज्जेहिं ? लिहीअदु एदे अक्खला। चालुदत्तेण शह मम विवादे। (श्रुतमार्यैः ? लिख्यन्तामेतान्यक्षराणि। चारुदत्तेन सह मम विवादः)

श्रेष्ठिकायस्थौ—चारुदत्तो मित्तो त्ति णत्थि दोसो। (चारुदत्तो मित्र-मिति नास्ति दोषः)

अधि—व्यवहारोऽयं चारुदत्तमवलम्बते !

श्रेष्ठिकायस्थौ—एव्वं विअ। (एवमिव)

पौत्रः, सुगृहीतम् = अतिधर्मात्मतया प्रातरुच्चार्यम् नामधेयं यस्य सः। श्रेष्ठिनां चत्वरे = वणिजाम् आवासभूमौ। दारिका = पुत्रिका।

श्रेष्ठि इति—मित्रम् = सुरतसखा। इति हेतोः नास्ति दोषः। चारुदत्तस्य गुणित्वात् वसन्तसेनायाश्च गुणग्राहित्वान्मित्रता युज्यत एवेत्याशयः।

अधि इति—अवलम्बते=आश्रयीकरोति। अस्मिन् घोरे कर्मणि चारुदत्तः कर्तृ-त्वेन द्रष्टृत्वेन वाऽवश्यं भवेदिति भावः। इदञ्च तदानीन्तनस्य व्यवहारस्य वैचि-त्र्यम्, यन्नाम मूर्खाधिराजस्य मिथ्याभाषिसार्वभौमस्य शकारस्य कथनमात्रेणैव विवादविचारः प्रस्तुतः। वसन्तसेना हता, न वा, सैव, अन्या वा, इति पर्यवेक्षणं घटनास्थलनिरीक्षणशवनिरीक्षणतदायनादिकञ्च पूर्वमेव कर्तव्यमासीत्।

विनयदत्त के नाती, सागरदत्त के पुत्र, स्वनामधन्य, आर्य चारुदत्त हैं जो बनिये के महल्ले में रहते हैं। उनके पास मेरी लड़की अपने यौवन के सुख का अनुभव करने गई है।

शकार—आप लोगों ने सुना ? इन अक्षरों को लिख लीजिए। मेरा विवाद चारुदत्त के साथ है।

श्रेष्ठिकायस्थ—चारुदत्त मित्र है, इसमें कोई दोष नहीं है।

न्यायाधीश—यह विवाद-निर्णय चारुदत्त की अपेक्षा करता है।

श्रेष्ठिकायस्थ—यह ठीक है।

अधि—धनदत्त ! वसन्तसेना आर्यचारुदत्तस्य गृहं गतेति लिख्यतां व्यवहारस्य प्रथमः पादः । कथमार्यचारुदत्तोऽपि अस्माभिराह्वाययितव्यः । अथवा व्यवहारस्तमाह्वयति । भद्र ! शोधनक ! गच्छ, आर्यचारुदत्तं स्वैरमसम्भ्रान्तमनुद्विग्नं सादरमाह्वय, 'प्रस्तावेनाधिकरणिकस्त्वां द्रष्टुमिच्छति' इति ।

शोध—जं अज्जो आणवेदि । (यदायं आज्ञापयति ।) (इति निष्क्रान्त्य चारुदत्तेन सह प्रविश्य च) एदु एदु अज्जो । (एतु एतु आर्यं)

चारु—(विचिन्त्य)

परिज्ञातस्य मे राज्ञा शीलेन च कुलेन च
यत्सत्यमिदमाह्वानमवस्थामभिशङ्कते ॥ ८ ॥

अधि इति–धनदत्त सम्बोधनमिदमेतन्नामकस्य कायस्थस्य । 'अथेदानीं वसन्तसेना क्व गता' इति प्रश्नोऽन्यः 'मित्त घरअं' 'अज्ज चारुदत्तो णाम' इति च वृद्धाया उक्तेः 'वसन्तसेना आर्यचारुदत्तस्य गृहं गता' इति निश्चय इति भावः । प्रथमः पादः = अंशः । आह्वाययितव्यः = आगमयितव्यः, स्वैरम् = मन्दम् 'मन्दस्वच्छन्दयोः स्वैरः' इत्यमरः । असम्भ्रान्तम् = अद्रुतम् तत्प्रतिष्ठाहानेरिति शेषः । अनुद्विग्नम् = अव्याकुलम् । (विवादो न श्रावयितव्यः अन्यथा तच्छ्रवणेन व्याकुलचित्ततया स सर्वं याथार्थ्येन न कथयिष्यतीत्याशयः । प्रस्तावेन = अवसरेण (मौका) । 'प्रस्तावः स्यादवसरः' इत्यमरः ।

अन्वयः—राज्ञा शीलेन कुलेन च परिज्ञातस्य मे इदम् आह्वानम् यत्सत्यम् अवस्थाम् अभिशङ्कते ।

परीति–राज्ञा=तत्प्रतिनिधिना, शीलकुलाभ्याञ्च परिज्ञातस्य मम इदमाह्वानम्

न्यायाधीश—धनदत्त ! व्यवहार का प्रथम चरण लिखिए कि 'वसन्तसेना आर्य चारुदत्त के घर गई । क्या हम लोग आर्य चारुदत्त को भी बुलावें ? अथवा विवाद ही उन्हें बुलाता है । भद्र शोधनक ! जाओ, आर्य चारुदत्त को विनम्र होकर, धीरे-धीरे उद्विग्नरहित होकर एवं आदरपूर्वक बुलाओ, विवाद-निर्णय के लिए न्यायाधीश आपको बुला रहे हैं ।

शोधनक—जैसी श्रीमान् की आज्ञा । (बाहर चला गया और पुनः चारुदत्त के साथ आकर) चलें, चलें आर्य ।

चारुदत्त—(सोचकर) राजा हमारे स्वभाव और कुल को जानते हैं, फिर भी यह बुलाहट, सच में निर्धनता के कारण शंका पैदा कर रही है । दरिद्रता में

सवितर्कं (स्वगतम्)

ज्ञातो हि किन्तु खलु बन्धनविप्रयुक्तो
मार्गागतः प्रवहणेन मयाऽपनीतः।
चारेक्षणस्य नृपतेः श्रुतिमागतो वा
येनाहमेवमभियुक्त इव प्रयामि ॥ ९ ॥

अथवा, किं विचारितेन, अधिकरणमण्डपमेव गच्छामि। भद्र ! शोधनक ! अधिकरणस्य मार्गमादेशय।

ध्रुवमेव अवस्थाम्=साम्प्रतिकीमकिञ्चनावस्थाम् अभिलक्ष्यीकृत्य शङ्कते। दारिद्र्यदोषस्य गुणराशिनाशित्वेन 'आह्वाने तन्निबन्धनमनिष्टाशङ्कनमि'ति भावः ॥ ८ ॥

सरलार्थः—यद्यपि राजा मदीयं कुलं शीलं च सम्यग् जानाति तथापि न्यायालये तत्कर्तृकाह्वानं कामपि मदीयां दुरवस्थां द्योतयति ॥ ८ ॥

अन्वयः—बन्धनविप्रयुक्तः, मार्गागतः, प्रवहणेन मयाऽपनीतः, ज्ञातः हि किन्तु खलु वा चारेक्षणस्य नृपतेः श्रुतिम् आगतः, येन अहं अभियुक्तः इव एवम् प्रयामि।

ज्ञात इति—बन्धनात्=कारागृहगोपनरूपात्, विप्रयुक्तः=मुक्तः, मार्गेण=तत्क्रमेण आगतः (मद्गृहसमीपे इति शेषः) पश्चात् प्रवहणेन = स्वगोरथेन मया अपनीतः=अन्यत्रापवाहितः (आर्यकः इति शेषः) (पालकेन) ज्ञातः किन्तु खलु, वा=अथवा, चारेक्षणस्य चारः=दूतः (एव) ईक्षणम्=नयनम्, यस्य तस्य 'राजानश्चारचक्षुषः' इति नीतिः। नृपतेः=राज्ञः, श्रुतिम् आगतः, भवेत्। येन हेतुना अहम् अभियुक्त इव=अपराधीव एवम्=राजानुचरेण सह अधिकरणिकाहूतः प्रयामि=अधिकरणं गच्छामि। अत्र निरङ्गं केवलरूपकम्, अभियुक्तइवेत्युपमा तथा आर्यकपदानुपादानात् न्यूनपदतादोषः। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ९ ॥

सरलार्थः—कारागारात्पलायितः, पथि मिलितस्ततः स्वगोयानेनान्यत्र गुप्तप्रेषितो मया स आर्यक इति किं राज्ञा ज्ञातो गुप्तचरमुखात् येनाहमद्य न्यायालये समाहूतोऽपराधीव गच्छामि ॥ ९ ॥

हर प्रकार की शंकाएँ हुआ करती हैं ॥ ८ ॥

(तर्क के साथ, मन में) कारागार के बंधन से भ्रष्ट होकर आर्यक पथ से चलता हुआ मेरे घर के समीप आया और मैंने अपनी गाड़ी पर चढ़ाकर उसे दूर हटा दिया, क्या राजा ने यह दृश्य स्वयं देख लिया, अथवा किसी दूत ने यह राजा को सुना दिया, जिससे कि मैं अपराधी के तुल्य न्यायालय में चल रहा हूँ।

अथवा इस तर्क वितर्क से क्या लाभ ? न्याय-मण्डप में ही चलता हूँ। भद्र शोधनक ! न्याय मण्डप का रास्ता बतलाओ।

शोध—एदु एदु अज्जो (एतु एतु आर्यः) (इति परिक्रामतः)

चारु—(सशङ्कम्) तत् किमपरम् ।

रूक्षस्वरं वाशति वायसोऽयममात्यभृत्या मुहुराह्वयन्ति ।
सव्यञ्च नेत्रं स्फुरति प्रसह्य ममानिमित्तानि हि खेदयन्ति ॥ १० ॥

शोध—एदु एदु अज्जो सैरं असम्भन्तं । (एतु एतु आर्यः स्वैरमसंभ्रान्तम्)

चारु—(परिक्रम्याग्रतोऽवलोक्य च)

शुष्कवृक्षस्थितो ध्वाङ्क्ष आदित्याभिमुखस्तथा ।

चारु इति—तत् किमपरम्=पूर्वापेक्षया अपरमनिष्टसूचकमपि किम् ? तथाहि—रूक्षस्वरमिति—अयम् वायसः (काकः) रूक्षस्वरम् कर्णकटु (यथा स्यात्तथा) वाशति=क्रां क्रां करोति । 'दारुणनादस्तरुकोटरोपगो वायसो महाभयदः' इति बृहत्संहिता । अमात्यभृत्याः (सचिवानुचराः) मुहुः (वारंवारम्) आह्वयन्ति (शोधनकानन्तरं तदाह्वानार्थमन्येऽपि गताः इत्यनुमीयते) प्रसह्य=हठात् । सव्यम्=वामम् 'वामं शरीरं सव्यं स्याद्' इत्यमरः । नेत्रम् स्फुरति 'वामनयनस्पन्दनं बन्धुविच्छेदं धनहानिं वा' इति गर्गवचनम् । हि=यस्मात् अनिमित्तानि=अपशकुनानि कर्मणः शेषत्वविवक्षायां षष्ठी । खेदयन्ति=पीडयन्ति । अत्रानिमित्तसूचनकार्यं प्रति नानाकारणाभिधानात्समुच्चयोऽलंकारः ॥ १० ॥

सरलार्थः—अयं काकः कर्कशस्वरं शब्दायते, मन्त्रिसेवका अपि वारंवारं मामाह्वयन्ति, मम वामनेत्रस्फुरणं भवति, अतः कोऽप्यनिष्टोऽवश्यंभावीत्यनुमीयतेऽधुना ।

शोधनक इति—अधिकरणिकाज्ञानुसारेण कथयति=स्वैरमसम्भ्रान्तमिति ।

शुष्केति—शुष्कवृक्षस्थितः, तथा आदित्याभिमुखः ध्वाङ्क्षः वायसः 'ध्वाङ्क्षा-

---

शोधनक—आइए, आइए आर्य ।

(चलते हैं)

चारुदत्त—(सशंक होकर) तब दूसरा क्या है ?

कौआ कठोर शब्द उच्चारण कर रहा हैं। न्यायालय के चपरासी बार-बार बुला रहे हैं तथा हठात् मेरी बाईं आंख फड़क रही है । इस प्रकार ये अनिमित्तक अशुभसूचक चिह्न मुझे पीडित कर रहे हैं ।। १० ।।

शोधनक—मन्द २ एवं निश्चिन्त होकर आर्य इस रास्ते चले आइए ।

चारुदत्त—(घूमकर और देखकर) सूर्य की ओर मुख करके सूखे पेड़

मयि चोदयते वामं चक्षुर्घोरमसंशयम् ॥ ११ ॥

पुनरन्यतोऽवलोक्य । अये ! कथमयं सर्पः ।

मयि विनिहितदृष्टिर्भिन्ननीलाञ्जनाभः
स्फुरित-विततजिह्वः शुक्लदंष्ट्राचतुष्कः ।
अभिपतति सरोषो जिह्मिताध्मातकुक्षि-
र्भुजगपतिरयं मे मार्गमाक्रम्य सुप्तः ॥ १२ ॥

त्मघोषपरभृद्बलिभुग्वायसा अपि' इत्यमरः घोरम् वामं चक्षुः मयि चोदयते = प्रेरयति 'चुद-संचोदने चुरादिः । असंशयमेतत् । संशयस्याभावः 'अव्यय'मित्यादिनाऽभावेऽर्थेऽव्ययीभावः । महाभीतिसूचकमिदम्, तथाहि 'छिन्नाग्रेऽङ्गच्छेदः कलहः शुष्कद्रुमस्थिते ध्वाङ्क्षे । पुरतश्च पृष्ठतो वा गोमयसंस्थे धनप्राप्तिः । ऐन्द्रादिदिग्बलाकी सूर्याभिमुखो गृहे रुवन् गृहिणः । राजभयचौरबन्धनकलहाः स्युः पशुभयञ्च ॥ 'वक्तरि क्रोधसंयुक्ते' इति परिहारात् 'ध्वाङ्क्ष' इति न दुःश्रवः शब्दः ॥ ११ ॥

सरलार्थः—शुष्कवृक्षोपरि स्थितः काकः सूर्याभिमुखः क्रूरस्वरेण शब्दं करोति । वामं नेत्रं मम स्फुरतीति च निःसन्देहं घोरमनिष्टं मदीयं सूचयति ॥ ११ ॥

अन्वयः—मयि विनिहितदृष्टिः, भिन्ननीलाञ्जनाभः, स्फुरितविततजिह्वः, शुक्लदंष्ट्राचतुष्कः, जिह्मिताध्मातकुक्षिः, मे मार्गम् आक्रम्य सुप्तः अयम् भुजगपतिः सरोषः अभिपतति ।

मयीति—मयि विनिहिता = दत्ता दृष्टिर्येन सः भिन्नम् = परिपाकेन पूर्णविकसितम् अत एव नीलम् = अतिनीलवर्णम् यत् अञ्जनम् तस्याभेवाभा यस्य तः । स्फुरिता = फुरफुरायमाणा वाश्रृशब्दे इति दैवादिक आत्मनेपदी धातुः । तस्य वाशतिरूपं चिन्त्यम् । वितता-लम्बमाना रसना यस्य सः, दंष्ट्राणाम् = तीक्ष्णदन्तानाम्, चतुष्कम् = चतुष्टयम्, शुक्लम् = शुभ्रम् दंष्ट्राचतुष्कम् यस्य सः । जिह्मतम् = वक्रीकृतम्, आध्मातम् = वायुभक्षणेन प्रफुल्लम् कुक्षिः = उदरम्, यस्य सः, मे मार्गम् = गन्तव्याध्वानम् आक्रम्य = अभिव्याप्य सुप्तः = सुप्तवत् निक्षिप्तशरीरः, अयम्

पर बैठा हुआ कौआ अपनी भयंकर बाईं आँख मेरी ओर प्रेरित कर रहा है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है, (इससे चारुदत्त के मन में भय उत्पन्न हो रहा है) ॥ ११ ॥

(पुनः दूसरी ओर देखकर) अरे यह सर्प है !

यह मेरी ओर दृष्टि गड़ाए हुए है, कज्जल के समान इसके शरीर की कान्ति नीली है, इसकी लम्बी जीभ बाहर लपलपा रही है, इसके चार शुभ्र दाँत दिखलाई पड़ रहे हैं, इसका उदर वायु से पूर्ण एवं टेढ़ा-मेढ़ा हो रहा है, इस

अपि च। इदम्—

स्खलति चरणं भूमौ न्यस्तं न चार्द्रतमा मही
स्फुरति नयनं वामो बाहुर्मुहुश्च विकम्पते।
शकुनिरपरश्चायं तावद्विरौति हि नैकशः
कथयति महाघोरं मृत्युं न चात्र विचारणा ॥ १३ ॥

भुजगानाम् सर्पाणाम् पतिः = महासर्पः, सरोषः = क्रुद्धः सन् अभिपतति=आभिमुख्येन आगच्छति। अत्र भिन्ननीलाञ्जनाभः, इत्यंशे लुप्तोपमा। मालिनी वृत्तम् ॥

सरलार्थः—मदभिमुखं स्थितः करालदंष्ट्रः कृष्णसर्पोऽपि जिह्वां मुहुर्मुहुर्निष्कास्य कुटिलगतिः सन् मध्येमार्गं सुप्तः सक्रोधं मां निरीक्षमाणः शनैरभिपतन् किमपि मदनिष्टं सूचयति ॥ १२ ॥

अन्वयः—भूमौ न्यस्तम् चरणम् स्खलति, मही च न आर्द्रतमा, नयनम् (वामम्) स्फुरति, वामः बाहुः च मुहुः विकम्पते, अपरः च अयम् शकुनिः तावत् नैकशः विरौति हि। महाघोरम् मृत्युम् कथयति, अत्र विचारणा न।

स्खलतीति—मही पृथ्वी आर्द्रतमा = पङ्किला न (पङ्किलत्वात्पिच्छिला नेति भावः) येन पतनं स्यात्। शकुनिः=पक्षी, विरौति=शब्दायते, नैकशः इति 'गमिकर्मीकृतनैकनीवृता' इतिवत् अभावार्थकेन न-शब्देन समासः। वारम्वारमित्यर्थः। विचारणा=तर्कः 'ण्यासश्रन्थ' इत्यादिना स्त्रियां युच्। स्पष्टम्। अत्र भूमेरार्द्रत्वहेतोरभावेऽपि स्खलनरूपकार्योत्पत्तेर्विभावना, मृत्युसूचकरूपमेकं कार्यं प्रति चरणस्खलनवामनयनस्फुरणादीनांवहूनांकारणानामुपन्यासात्समुच्चयश्चानयोरङ्गाङ्गित्वेन संकरः। प्रथमे पादे भूमाविति प्रक्रम्य पुनर्महीत्युपादानाद्भग्नप्रक्रमता, तृतीये हि-पदस्य निरर्थकत्वञ्च चतुर्थे कर्तृपदानभिधानान्न्यूनपदता च।

यात्रासमये यातुश्चरणस्खलनमपशकुनम् तथाहि—'स्वपादयानस्खलनं नृपाणां भङ्गः क्वचिद्यानपलायनञ्च। द्वाराभिघातध्वजशस्त्रपाताः प्रस्थानविघ्नं कथयन्ति यातुः' इति वसन्तराजशाकुने। हरिणी वृत्तम् ॥ १३ ॥

प्रकार यह विशाल सर्पराज मेरे पथ पर आकर पड़ गया है और क्रोधपूर्वक मेरी ओर आ रहा है। (रास्ते में सामने से सर्प का मिलना अनिष्टसूचक है) ॥१२॥

और भी यह—

पृथ्वी शुष्क होने से पिच्छिल नहीं है, फिर भी भूमि पर मेरा पैर लड़खड़ा रहा है। मेरी बाईं आंख फड़क रही है, मेरी बाहें भा बार २ कांप रही हैं और दूसरे यह पक्षी भी निरंतर मेरे प्रतिकूल बाल रहे हैं, इस प्रकार ये दुर्लक्षण मेरी अति भयंकर मृत्यु की सूचना दे रहे हैं, इसमें तो कुछ संशय है ही नहीं ॥१३॥

सर्वथा देवताः स्वस्ति करिष्यन्ति ।

शोध—एदु एदु अज्जो । इमं अधिअरणमण्डवं पविसदु अज्जो ।
(एतु एतु आर्यः ! इममधिकरणमण्डपं प्रविशतु आर्यः ।)

चारु—(प्रविश्य समन्तादवलोक्य ।) अहो ! अधिकरणमण्डपस्य परा श्रीः । इह हि—

चिन्तासक्त–निमग्न–मन्त्रि–सलिलं–दूतोर्म्मिशङ्खाकुलं
पर्यन्त–स्थित–चार–नक्र–मकरं नागाश्व–हिंस्राश्रयम् ।

सरलार्थः—अपि च संप्रति पिच्छिलभूमेरभावेऽपि पादस्खलनं मुहुर्मुहुर्वामनेत्र-स्फुरणम्, वामबाहुस्पन्दनं च भवति, अयं काकादिविहगोऽपि क्रूरं शब्दं बारं बारं करोति, एतत्सर्वं दुःशकुनं मदीयं मृत्युमेव सूचयति, नात्र कोऽपि सन्देहः ॥१३॥

हि = यतः इह = अधिकरणमण्डपे—

अन्वयः—चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलम् दूतोर्मिशङ्खाकुलम्, पर्यन्तस्थित-चारनक्रमकरम् नागाश्वहिंस्राश्रयम्, नानावाशककङ्कपक्षिरुचिरम् कायस्थसर्पास्पदं नीतिक्षुण्णतटम् च राजकरणम्, हिंस्रैः समुद्रायते ।

चिन्तेति–चिन्तायाम्=राष्ट्रोन्नतिविचारे आसक्ताः=उद्यताः (अत एव) निमग्नाः =तल्लीनाः मन्त्रिणः = सलिलानीव यस्मिन् तत्, अगाधत्वेनान्तःशुद्धत्वेन चानयोः साम्यम् । दूताः, ऊर्म्मयः=तरङ्गाः,शङ्खाः=कम्बवः इव तैराकुलम्=पूर्णम् । पर्यन्ते= सीमान्तादिदेशे स्थिताः=जनताभावावगमार्थमिति शेषः । चाराः=गुप्तचराः, नक्राः= कुम्भीराः (नाकजलजंतु) मकराः=जलचरविशेषाः (मगर) इव । यत्र तत् । नक्रम-करा यथा जलब्रुडिता एव वारिगतान् जनान् सहसा क्रामन्ति तद्वदिमेऽपि गुप्तचरा गुप्तभावेन तद्भावमवबुध्य तान् रक्षकैर्ग्राहयन्तीति भावः । नागाः=हस्तिनः, अश्वाः= घोटकाः,हिंस्राः=ग्राहादयः इव तेषाम् आश्रयः=स्थितिः यस्मिन् तत् (उभयेषां महा-

---

देवगण हर प्रकार से मेरा कल्याण करेंगे ।

शोधनक—आइए, आइए आर्य । इस न्याय-मण्डप में आप प्रवेश करें ।

चारुदत्त—(भीतर पहुँचकर और चारों ओर देख कर) अहा ! न्याय-मण्डप की कैसी अपूर्व शोभा है ! । यहाँ तो—

जहाँ, राज्यविषयक विविध भावनाओं में संलग्न मंत्री जल के तुल्य हैं, जहाँ दूतगण, तरंग एवं शंख के सदृश आकुल हो रहे हैं, जहाँ प्रान्तदेश में स्थित गुप्त-चर मगर एवं घड़ियाल के तुल्य हैं; जहाँ हाथी और घोड़े ग्राह आदि भयंकर

नाना–वाशक–कङ्क–पक्षि–रुचिरं कायस्थ–सर्पास्पदं
नीति–क्षुण्ण–तटञ्च राज–करणं हिस्रैः समुद्रायते ॥ १४ ॥

भवतु । (प्रविशन् शिरोघातमभिनीय सवितर्कम्) अहम् ! इदमपरम् ।

कायत्वात्साम्यम्) । नाना=विविधम् वाश्यन्ते=शब्दायन्ते इति वाशकाः=वादिनः प्रतिवादिनस्तदितरे च, कङ्कपक्षिणः='हाड़गिला' इति भाषायां ख्याताः । पक्षि-विशेषा इव तैः रुचिरम्=सुन्दरम् (वादिप्रतिवादिन इव कङ्का अपि अविरतं रवं कुर्वन्तीति भावः । कायस्थाः=लेखकाः तज्जातिविशेषाः सर्पा इव भुजगा इव तेषाम् आस्पदम्=प्रतिष्ठाप्राप्तिस्थानम् 'आस्पदम् प्रतिष्ठायाम्' इति सिद्धम् । कौटिल्येन उभयोः साम्यम् । नीतिः सामदानादिस्वरूपा, क्षुण्णम्=भग्नम् तटमिव यस्मिंस्तत्, 'क्षुदिर् संपेषणे' इति रौधादिकात् क्तः 'रदाभ्या'मिति नत्वम् । विषमत्वाद् दुर्गमत्वाच्चोभयत्र साम्यम् राज्ञः करणम्=विचारालयविशेषः । हिंस्रैः=घातुकैः 'शरारुर्घातुको हिंस्रः' इत्यमरः । हिंसंतीति हिंस्राः 'नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः' इति रः । एकत्र नेत्ररौद्रयादिभिः प्रतापव्यंजकाकारचेष्टाविशेषैः, अन्यत्र उत्तुङ्गतरङ्गभङ्गिभिर्विभीषिकाजनकैः, समुद्रायते=समुद्र इवाचरति । 'कर्तुः क्यङ्' इति क्यङ् ।

अत्र सर्वत्र लुप्तोपमा, 'समुद्रायते' इत्यंशे क्यङ्गतोपमा, आसामङ्गाङ्गित्वेन संकरश्च । शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् ॥ १४ ॥

सरलार्थः—इदं न्यायालयस्थानं समुद्र इव प्रतिभाति, अत्र चिन्तानिमग्ना मन्त्रिण एव जलतुल्याः, दूता एव तरङ्गशङ्खतुल्याः, पार्श्वस्थिता गुप्तचरा एव नक्रमकरसदृशाः करिणोऽश्वाश्चैव हिंस्रजलजंतुसंनिभाः, नानाविधशब्दकारिणः कर्मचारिगणा एव कंकपक्षिसदृशाः, लेखकाः कायस्था एव सर्पनिभाः, नीतिरेव समुद्रसलिलाद्धिंस्रजन्तूनां बहिर्निःसरणतुल्या, तया तटस्य क्षोभो विभाति ॥ १४ ॥

भवत्विति—अपरम्=अन्यत् (अपशकुनमिति शेषः) ।

जलजंतुओं के सदृश प्रतीत हो रहे हैं; जहाँ विविध प्रकार से बोलते हुए वादी-प्रतिवादीजन, कंक पक्षी के समान मनोरम लग रहे हैं; तथा जहाँ लेखक कायस्थ सर्प के समान कुटिल मालूम पड़ रहे हैं, एवं जहाँ नीति ही भग्न तट है, वह न्यायालय, हिंसात्मक आचरणों के द्वारा समुद्र के समान व्यवहार कर रहा है ॥ १४ ॥

अच्छा । (प्रवेश करते हुए शिर पर चोट का अभिनय कर तर्कपूर्वक) अरे यह दूसरा भी—

सव्यं मे स्पन्दते चक्षुर्विरौति वायसस्तथा ।
पन्थाः सर्पेण रुद्धोऽयं स्वस्ति चास्मासु दैवतः ॥ १५ ॥

तावत् प्रविशामि । (इति प्रविशति)

अधि—अयमसौ चारुदत्तः । य एषः—

घोणोन्नतं मुखमपाङ्गविशालनेत्रं
नैतद्धि भाजनमकारणदूषणानाम् ।

सव्यमिति—मे (मम) सव्यम् (वामम्) चक्षुः (नयनम्) स्पन्दते (स्फुरति) तथा वायसः (काकः) विरौति (विकृतशब्दं करोति) अयम् (गन्तव्यः) पन्थाः सर्पेण रुद्धः=सङ्कीर्णः (आसीत्) इदमपरं शिरोघातरूपमप्यापतितमिति तात्पर्यम् । दैवतः=(इष्टदेवः) च स्वस्ति (मङ्गलम्) (करिष्यतीति शेषः) । देव एव देवता 'देवात्तल्' इति तल् ततः 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति स्वार्थिकोऽण् । दैवतः ।

अत्र 'उक्तावानन्दमग्नादे'रिति दर्पणोक्तपरिहारात् 'करिष्यतीत्यादीनां पदाना मनुक्तत्वेऽपि न्यूनपदतायां न दोषः ॥ १५ ॥

सरलार्थः—संप्रति दुःशकुनरूपेण मम वामनेत्रस्फुरणं संमुखे काकस्य क्रूरशब्दः, मार्गस्य सर्पकर्तृकावरोधो वर्तते, अतोऽत्र देव एव मङ्गलं कर्तुं समर्थो नान्यः ।१५।

'इदमेतददःशब्दाः तच्छब्दसमानार्थतया विधेया एव भवितुं युक्ताः' इति दर्पणोक्तेः असौ=सः, इत्यर्थः ।

अन्वयः—घोणोन्नतम् अपाङ्गविशालनेत्रम्, मुखम् हि एतत् अकारणदूषणानाम् न भाजनम्, नागेषु, गोषु, तुरगेषु तथा नरेषु आकृतिः सुसदृशम् वृत्तम् न विजहाति ।

घोणोन्नतमिति—घोणा=नासा 'घोणा नासा च नासिका' इत्यमरः । उन्नता यस्मिंस्तत् । घोणोन्नतम् 'वाहिताग्न्यादिषु' पूर्वनिपातः (अस्याकृतिगणत्वादिति भावः) । अपाङ्गतः इत्यपाङ्गौ (अगि-गतौ भ्वा०प०से०) ततः 'नन्दिग्रहिपचादिभ्य'इत्यच् । 'अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ' इत्यमरः ।तत्र विशाले=सुदीर्घे नेत्रे यस्मिन् तत् । एतादृशं मुखम् (बिभर्तीति शेषः) हि=यस्मात् एतत्=रूपसौष्ठवम् अकारणदूषणानाम्=परप्राणधनहरणात्मकपापानाम् निर्हेतुकानाम् न भाजनम्=न

मेरी बाईं आँख फड़क रही है, कौआ बोल रहा है तथा यह मार्ग सर्प से अवरुद्ध है । (ये सभी लक्षण अशुभसूचक हैं) अतः अब देवगण ही इनसे मेरा कल्याण करेंगे ॥ १५ ॥

तब तक प्रवेश करता हूँ । (प्रवेश करता है) ।

न्यायाधीश—यही चारुदत्त हैं ? जो ये—

ऊँची नासिका एवं ... तक फैली हुई विस्तृत आँखों वाला ...

नागेषु गोषु तुरगेषु तथा नरेषु
नह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम् ॥ १६ ॥

चारु—भोः ! अधिकृतेभ्यः स्वस्ति ? । हंहो नियुक्ताः ! अपि कुशलं भवताम् ? ।

अधि—(ससम्भ्रमम्) स्वागतमार्यस्य ? । भद्र ! शोधनक ! आर्यस्यासनमुपनय ।

पात्रम् (न कर्तुं इति यावत्) । तथाहि—नागेषु = गजेषु, गोषु, तुरगेषु, नरेषु च तथा, आकृतिः = आकारः (उत्कृष्टाऽपकृष्टा वा) सुसदृशम्=सर्वथायोग्यम्, वृत्तम्= चरित्रम् इत्यर्थः । (उत्कृष्टायामुत्कृष्टम् अपकृष्टायामपकृष्टम्) न हि जहाति=न हि त्यजति । (सर्वेऽपि स्वस्वाकृत्यनुसारं सदसच्चरित्रात्मकं फलं लभन्ते, तथा चायं रूपवान्, न कदाचिदपि परोत्पीडको भवितुमर्हतीति भावः रूपानुसारफलं सामुद्रिकशास्त्रत उन्नेयम् । अत्र अर्थान्तरन्यासः, नरेष्वितिप्रस्तुतेन साकम् अप्रस्तुतानां नागादीनां वृत्तरूपैकधर्माभिसम्बन्धाद्दीपकश्चानयोरङ्गाङ्गित्वेन संकरः । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ १६ ॥

सरलार्थः—अस्य चारुदत्तस्य नासिका उन्नता नेत्रं चाकर्णविशालं वर्त्तते, तेन सामुद्रिकशास्त्ररीत्या नायमपराधभाजनम् अनुमीयते, यतो हस्तिगवाश्वमनुष्येषु यादृशः प्रशस्तोऽप्रशस्तो वा आकारस्तादृश आचारोऽपि भवति ॥ १६ ॥

चारु इति—अधिकृतेभ्यः = राज्ञा निर्णयकार्ये नियुक्तेभ्यः (विचारकेभ्यः) स्वस्ति = मङ्गलं किम् ? । 'नमः स्वस्ती'ति चतुर्थी । 'हंहो = सम्बोधनपदम् नियुक्ताः श्रेष्ठिकायस्थादयः ? अपि = प्रश्ने 'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासंभावनास्वपी' त्यमरः । भवताम्—कुशलमस्तीति प्रश्नः ।

निष्कारण दोषारोपण का पात्र नहीं हो सकता है । हाथी, गौ, अश्व तथा मनुष्य में उनके आकार अपने अनुकूल चरित्र का परित्याग नहीं करते । यथा 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' । अर्थात् आकृति के अनुरूप ही गुण होते हैं ॥ १६ ॥

चारुदत्त—आप न्यायकर्त्ताओं का कल्याण हो । ऐ अधिकारीगण ! आप लोग कुशल से तो हैं न ?

न्यायाधीश—(व्यस्त से होकर) आपका अभिनन्दन करता हूँ । भद्र शोधनक ! आर्य चारुदत्त के लिए आसन लाओ ।

शोध—(आसनमुपनीय) एदं आसणं, एत्थ उवविसदु अज्जो। (इदमासनम्, अत्रोपविशतु आर्यः)

चारु—(उपविशति)

शकारः—(सक्रोधम्) आगदेशि ले इत्थिआघादआ ! आगदेशि ?। अहो ! णाए ववहाले ! अहो ! धम्मे ववहाले ! जं एअदाह—इत्थिआघादकाह आशणे दीअदि (सगर्वम्) भोदु, णं दीअदु। (आगतोऽसि रे, स्त्रीघातक ! आगतोऽसि ? अहो ! न्याय्यो व्यवहारः ! अहो ! धर्म्यो व्यवहारः ! यदेतस्मै स्त्रीघातकाय आसनं दीयते। भवतु ननु दीयताम्)

अधि—आर्यचारुदत्त ! अस्ति भवतोऽस्या आर्याया दुहित्रा सह प्रसक्तिः प्रणयः प्रीतिर्वा ?।

चारु—कस्याः ?।

अधि—अस्याः (इति वसन्तसेनामातरं दर्शयति)

शकार इति—अहो न्याय्यो व्यवहारः अहो=सोल्लुण्ठनोक्तिः। न्यायादनपेतो न्याय्यः 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्। धर्मादनपेतः धर्म्यः। अत्रापि पूर्ववत् यत्। नायं न्याय्यः न चायं धर्म्यश्चेत्याशयः। ननु दीयताम्=अस्य फलमचिरादेव प्राप्स्यसीत्यधिकरणमवगूरयतीति भावः।

अधि इति—प्रसक्तिः=प्रसङ्ग (अश्लीलसम्बन्धः)। प्रणयः=मिथ उपकारजन्या आन्तरिकी बन्धुता। प्रीतिः=सुमधुरभाषणमात्रजन्या मित्रता। एष्वन्यतमं किञ्चिदस्तीति प्रश्नः। आर्येतिपदोपादानात्तदा गणिकास्वपि आदरातिशयः सूच्यते अथवा स्वधर्मानुसाराचरणे सर्वोपि सम्मान्यत एवेति सनातनी रीतिः।

शोधनक—(आसन लाकर) यह आसन है। आप इस पर बैठें।

चारुदत्त—(बैठ जाता है।)

शकार—(क्रोध के साथ) आ गए स्त्रीघातक ! आ गए। अरे न्याय का निर्णय है ! धर्म का निर्णय है ! ! तो इस स्त्रीघातक को आसन दिया जा रहा है ? (अहंकार के साथ) अच्छा दीजिए।

न्यायाधीश—आर्य चारुदत्त ! इस वृद्धा आर्या की लड़की के साथ आपका रमण-संसर्ग है, या प्रणय है अथवा प्रेममात्र है ?

चारुदत्त—किसकी ?

न्यायाधीश—इसकी। (वसन्तसेना की माता को दिखाते हैं)।

चारु—(उत्थाय) आर्ये ! अभिवादये ।

वृद्धा—जाद ! चिरं मे जीव ! (स्वगतम्) अअं सो चारुदत्तो । सुणिक्खित्तं क्खु दारिआए जोव्वणं । (जात ! चिरं में जीव । अयं स चारुदत्तः । सुनिक्षिप्तं खलु दारिकया यौवनम्)

अधि—आर्य ! गणिका तव मित्रम् ? ।

चारु—(लज्जां नाटयति)

शकारः—

लज्जाए भीलुदाए या चालित्तं अलिए ! णिगूहिदुं ।
शअं मालिअ अत्थकालणा दाणिं गूहदि ण तं हि भट्टके ॥ १७ ॥

(लज्जया भीरुतया वा चारित्रमलीक ! निगूहितुम् ।)

चारु इति—वसन्तसेनायाः पत्नीस्थानीयत्वेन तन्मातुश्च श्वश्रूत्वादिदं चारुदत्त-कर्तृकमभिवादनम् । विचित्रेयं तदानीन्तनी रीतिः वेश्या प्रणामस्य विषयः तत्रापि ब्राह्मणजातीयस्य चारुदत्तस्य । अथवा 'नष्टस्य कान्या गतिः' इति बोध्यम् ।

वृद्धेति—सुनिक्षिप्तम् = सुष्ठु समर्पितम् । महापुरुषत्वेनास्य सर्वसुखास्पदीभूतत्वादिति भावः ।

अधि इति—गणिका=सामान्यभोग्या नायिका (वसन्तसेनेति भावः) मित्रम्=रतिबन्धुः ? इति प्रश्नः ।

चारु इति—नाटयति=अधरीकृतेन मस्तकेन, भूमिविलेखनपरेण चरणाङ्गुष्ठेन च लज्जानाटनं बोध्यम् ।

अन्वयः—अलीक ! लज्जया भीरुतया वा चारित्रम् निगूहितुम्, अर्थकारणात् स्वयम् मारयित्वा इदानीम् गूहति तत् न भट्टकम् ।

लज्जयेति—अलीक !=मिथ्याभाषिन् लज्जया=त्रपया भीरुतया=भीतिस्वभावेन वा चारित्रम्, चरधातोः अर्त्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः' इतीत्रप्रत्ययः । चरित्रम्

चारुदत्त—(उठकर) आर्ये ! प्रणाम करता हूँ ।

वृद्धा—पुत्र ! चिरंजीवी हो । (मन में) यही वह चारुदत्त है । मेरी पुत्री का यौवन योग्य पुरुष में अर्पित है ।

न्यायाधीश—आर्य ! वेश्या आपकी सङ्गिनी है ?

चारुदत्त—(लज्जा का अभिनय करते हैं)

शकार—हे असत्यप्रिय ! लज्जा से अथवा कायरता से अपने चरित्र को

स्वयं मारयित्वा अर्थकारणादिदानीं गूहसि न तद्धि भद्रकम् ॥ १७ ॥)

श्रेष्ठिकायस्थौ—अज्जचारुदत्त ! भणाहि, अलं लज्जाए, ववहारो क्खु एसो। (आर्यचारुदत्त ! भण, अलं लज्जया, व्यवहारः खल्वेषः)

चारु— (सलज्जम्) भो अधिकृताः ! मया कथमीदृशं वक्तव्यम्, यथा गणिका मम मित्रमिति अथवा यौवनमत्रापराध्यति, न चारित्रम्।

अधि—व्यवहारः सविघ्नोऽयं त्यज लज्जां हृदि स्थिताम् ।
ब्रूहि सत्यमलं धैर्य्यं छलमत्र न गृह्यते ॥ १८ ॥

तस्य भावः चारित्रम्='हायनान्तयुवादिभ्यः' इति भावेऽण्। (चलत्) निगूहितुम्=गोपयितुम् (चेष्टसे इति शेषः) नैतद्भवितुमर्हतीति भावः। अर्थकारणात्=क्षुद्र-विभवनिमित्तम् स्वयं स्त्रियं मारयित्वा इदानीम्=अधिकरणसमीपे गूहसि=अपह्नुते (भवानिति शेषः) तत् गूहनम् न भद्रकम्=न सज्जनोचितम्, वैतालीयं छन्दः ॥१७॥

सरलार्थः—भोः चारुदत्त, यदि धनलोभात् वसन्तसेनां स्वयं हत्वा संप्रति लज्जया भीरुतया वा तद्व्यवहारं गूहितुमिच्छसि, तद् वृथैव, यतो राजा न्यायाधीशो गुप्तचरद्वारा, सर्वं निगूढव्यापारमपि ज्ञातुं प्रभविष्यति ॥ १७ ॥

चारु इति—न वक्तव्यमिति भावः। स्वयं स्वकीयानाचारप्रकाशने लज्जाविर्भावादिति भावः। यौवनमपराध्यति=उत्तालतारुण्यतारल्यावेगवशादेव वेश्यापरवशोऽहं संवृत्त इत्याशयः।

व्यवेति—अयम् व्यवहारः सविघ्नः (शठकपटप्रकारेणोपस्थापितत्वात् गुप्तत-रत्वाच्च प्राणदण्डात्मकविघ्नफलकः) (अतः) हृदि स्थिताम् लज्जां त्यज सत्यम् ब्रूहि, अलम् धैर्यम् (धैर्यावलम्बनेन व्यर्थमित्यर्थः) अत्र (व्यवहारे) छलम् न गृह्यते ॥ १८ ॥

रक्षा करना चाहते हो। (यह असम्भव है) धन के कारण स्वयं स्त्री को मार कर अब इस समय उसे छिपाना चाहते हो। यह गोपन साधुजनों के योग्य नहीं है ॥ १७ ॥

श्रेष्ठिकायस्थ—आर्य चारुदत्त ! बतलाओ, लज्जा करना व्यर्थ है। यह निर्णय का स्थल है।

चारुदत्त—(लज्जापूर्वक) ऐ न्याय के अधिकारीगण यह मैं कैसे कहूँ कि वेश्या मेरी संगिनी है। अथवा इस विषय में केवल यौवन अपराधी है, चरित्र नहीं।

न्यायाधीश—यह व्यवहार विघ्नमय है, अतः हृदयस्थित लज्जा का परित्याग करो। सच-सच कहो, धैर्य धारण कर चुप रहना उचित नहीं है, इस स्थान पर कपटपूर्ण बातें नहीं ग्रहण की जाती हैं ॥ १८ ॥

अलं लज्जया, व्यवहारस्त्वां पृच्छति ।

चारु—अधिकृत ! केन सह मम व्यवहारः ? ।

शकारः—(साटोपम्) अले ! मए शह ववहाले (अरे मया सह व्यवहारः)

चारु—त्वया सह मम व्यवहारः सुदुःसहः ।

शकारः—अले ! इत्थिआघादआ ! तं तादिशिं लअणशदभूशणिअं वशन्तशेणिअं मालिअ, शम्पदं कवड़कावड़िके भविअ णिगूहेशि ? । (अरे स्त्रीघातक ! तां तादृशीं रत्न-शत-भूषणिकां वसन्तसेनां मारयित्वा, साम्प्रतं कपटकापटिको भूत्वा निगूहसि)

चारु—असम्बद्धः खल्वसि ।

सरलार्थः—अत्राभियोगेऽन्तरायः समुपस्थितः, अतः लज्जां दूरीकृत्य सत्यं वृत्तान्तं कथय, छलाश्रयणं न युक्तमत्र, अन्यथा समुचितनिर्णयः कथं भविष्यति ॥

अलमिति—व्यवहारः त्वां पृच्छति (न मया परिहासेन पृच्छयत इति भावः)

शकार इति—साटोपम्=सगर्वम् (तथाविधस्वभावात् राजश्यालकत्वाच्चैतत्)

चारु इति—त्वया=खलेनेति भावः । मम=साधोः व्यवहारः=विवादः सुदुःसहः= असह्यः, दुरुपपदात् सहधातोः 'ईषद्दुःसुषु' इति कर्मणि खल् । ततः सुपदेन 'सुप्सुपेति' समासः ।

'दुर्जनेन समं वैरं प्रीतिश्चापि न कारयेत्' इत्यादिनीतिवाक्येन दुर्जनेन साकम् संसर्गमात्रस्यैवातिगर्हितत्वेन दुःखमयत्वनिश्चयादिति भावः ।

शकार इति—रत्नशतम्=प्रचुररत्नानि भूषणं यस्यास्ताम् कपटेन कापटिकः= धूर्त्तः । निगूहसि=गुप्तं करोषि । नैतन्न्याय्यं धर्म्यं वा, तथैवं निगूहितमपि व्यक्तं भविष्यतीति भावः ।

चारु इति—असम्बद्धः=असम्बद्धभाषी मिथ्यावादीति भावः)

लज्जा करना बेकार है । न्याय-निर्णय का यह तुमसे प्रश्न है ।

चारुदत्त—अधिकारियों ! मेरा विवाद-निर्णय किसके साथ है ?

शकार—(अहंकार के साथ) अरे ! मेरे साथ व्यवहार है ।

चारुदत्त—तुम्हारे साथ मेरा व्यवहार होना दुःखपूर्ण है ।

शकार—अरे स्त्री-घातक ! स्वर्णादिक सैकड़ों रत्न-विभूषणों से युक्त उस वसन्तसेना को मारकर अब कपट की धूर्तता करके उसे छिपा रहे हो ?

चारुदत्त—तुम असम्बद्ध प्रलाप करते हो ।

अधि—आर्य चारुदत्त! अलमनेन। ब्रूहि सत्यम्। अपि गणिका तव मित्रम्?।

चारु—एवमेव।

अधि—आर्य! वसन्तसेना क्व?।

चारु—गृहं गता।

श्रेष्ठिकायस्थौ—कधं गदा? कदा गदा? गच्छन्ती वा केण अणुगदा? (कथं गता? कदा गता? गच्छन्ती वा केन अनुगता?)

चारु—(स्वगतम्) किं प्रच्छन्नं गतेति ब्रवीमि?

श्रेष्ठिकायस्थौ—अज्ज! कधेहि। (आर्य! कथय)

चारु—गृहं गता। किमन्यत् ब्रवीमि।

शकारः—मम केलकं पुष्फकलण्डक-जिण्णुज्जाणं पवेशिअ, अत्थ-णिमित्तं बाहु-पाश-वलक्कालेण मालिदा। अए! शम्पदं वदशि घलं गदेत्ति। (मदीयं क्रीडकं पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं प्रवेश्य अर्थनिमित्तं बाहुपाश-बलात्कारेण मारिता। अये! साम्प्रतं वदसि—गृहं गतेति)

अधि इति—अनेन = मिथ्याभाषिणा शकारेण साकं वार्त्तया अलम् = व्यर्थम्।

श्रेष्ठि इति—केन = जनेन अनुगता = सह गतेति भावः।

चारु इति—प्रच्छन्नम् = गुप्तभावेन (क्रियाविशेषणम्) गता इति ब्रवीमि किम् (स्वमनस्येव विचारयति)

शकार इति—अर्थनिमित्तम् = विभवार्थम्, बाहू एव पाशौ ताभ्यां यो बलात्कारः बलप्रयोगः, तेन।

न्यायाधीश—आर्य चारुदत्त! इन व्यर्थ बातों से क्या लाभ? सच कहो। क्या वेश्या तुम्हारी संगिनी है?

चारुदत्त—हाँ, है।

न्यायाधीश—आर्य! वसन्तसेना कहाँ है?

चारुदत्त—घर गई।

श्रेष्ठिका०—कैसे गई? कब गई? या वह किसके साथ गई?

चारुदत्त—(मन में) क्या कह दूँ, वह गुप्त रूप से गई?

श्रेष्ठिका०—आर्य! कहिए।

चारुदत्त—घर गई। और दूसरा क्या कहूँ?

शकार—मेरे क्रीडक पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान में लेजाकर धन के कारण बाहुपाश

चारु—आः, असम्बद्धप्रलापिन्!

अभ्युक्षितोऽसि सलिलैर्न बलाहकानां
चाषाग्रपक्षसदृशं भृशमन्तराले ।
मिथ्यैतदाननमिदं भवतस्तथापि
हेमन्तपद्ममिव निष्प्रभतामुपैति ॥ १९ ॥

अन्वयः—बलाहकानाम् सलिलैः अन्तराले चाषाग्रपक्षसदृशम् भृशम् न अभ्युक्षितः, असि, तथापि भवतः इदम् आननम् हेमन्तपद्मम् इव निष्प्रभताम् उपैति एतद् मिथ्या ।

अभ्युक्षित इति—बलाहकानाम्=जलदानाम् 'अभ्रं मेघो वारिवाहः स्तनयित्नुर्वलाहकः' इत्यमरः । सलिलैः अन्तराले = मेघमालास्थानभूतलयोर्मध्यभागे (गगने इत्यर्थः) चाषः = प्रातर्दर्शनीयः पक्षिविशेषः 'नीलकण्ठ' इति लोके प्रसिद्धः । स्वर्ण-चातक इति भट्टाचार्याः । तस्य अग्रपक्षः = पक्षाग्रभागः तस्य सदृशम्, भृशम् = अत्यन्तम् (च) यथा स्यात्तथा न अभ्युक्षितः = न सिक्तः । 'उक्ष=सेचने (भ्वा०प० से०) क्तप्रत्ययः । तथापि = इदम् भवतः आननम् = मुखम् हेमन्तस्य (मार्गशीर्षपौषयोर्मिलितं नाम) पद्मम् इव निष्प्रभताम् = हतश्रीकताम् (मालिन्यम्) उपैति = प्राप्नोति । अतः एतत् = तव कथनम्, मिथ्या = असत्यम् । हेमन्तकाले हिमकणस्पर्शमात्रेण पद्मानि शीर्यन्ते इति स्वभावः, तद्वदिदं तवाननमपि मलिनं जातमिति भावः । वृष्टिबिन्दुस्पर्शेन चाषस्यापि पक्षो मलिनीभवतीति प्रसिद्धिः । निर्हेतुकमुखमालिन्यदर्शनात् ध्रुवं त्वं मिथ्यावादीति भावः ।

अत्र निष्प्रभहेतोरभावेऽपि निष्प्रभतारूपकार्योत्पत्तेर्विभावना, वसन्ततिलका-वृत्तम् ॥ १९ ॥

सरलार्थः—तव मुखं हेमन्तकालिकमलवद्विच्छायं नीलकण्ठपक्षवत् श्यामं जातम् । अथ च स्वेदसिक्तं शरीरं मेघजलसंसिक्तमिव दृश्यते, अतः एव त्वं सर्वं यत् संप्रति ब्रवीषि तत्सर्वथा वृथा, सत्यभाषिणां तु नोपर्युक्तलक्षणं क्वापि दृष्टम् ॥ १९ ॥

में पकड़ कर उसे मार डाला और अब कहता है कि 'वह घर चली गई' ।

चारुदत्त—ऐ अनर्गल बोलने वाले !

आकाश में मेघों के जल से, स्वर्ण-चातक के पंख अग्रभाग के तुल्य तुम सिक्त नहीं हो । फिर भी हेमन्तकालीन कमल के समान तुम्हारा यह मुख मिथ्या बोलने के कारण मलिन हो रहा है । (स्वर्णचातक का पंख मेघ के जल से मलिन हो जाता है किन्तु आपका (शकार का) मुख अकारण ही क्यों मलिन हो गया, इसका कारण यह है कि झूठ बोलते समय प्रायः मनुष्यों का मुख मलिन हो जाया करता है) ॥ १९ ॥

अधि—(जनान्तिकम्)

तुलनञ्चाद्रिराजस्य समुद्रस्य च तारणम् ।
ग्रहणञ्चानिलस्येव चारुदत्तस्य दूषणम् ॥ २० ॥

(प्रकाशम्) आर्यचारुदत्तः खल्वसौ कथमिदमकार्यं करिष्यति ! (घोणेत्यादि पठति)

शकारः—किं पक्खवादेण ववहाले दीशदि ? । (किं पक्षपातेन व्यवहारो दृश्यते)

अधि—अपेहि मूर्ख ! ।

अन्वयः—अद्रिराजस्य तुलनम् समुद्रस्य तारणम् अनिलस्य (च) ग्रहणम् इव चारुदत्तस्य दूषणम् ।

तुलनमिति—अद्रीणां = पर्वतानाम् राजा तस्य 'राजाहःसखिभ्य' इति टच् । हिमालयस्य तुलनम् = उत्तोलनम् इव, तथा समुद्रस्य तारणम् = बाहुभ्यां तीर्त्वा परतीरयानम् इव तथा अनिलस्य = पवनस्य ग्रहणम् = वस्त्रादिना धरणम् इव, चारुदत्तस्य दूषणम् = स्त्रीहत्यालाञ्छनम् । असम्भवं वर्तत इति भावः । नायं 'दोषार्हं' इत्याशयः ॥ २० ॥

सरलार्थः—चारुदत्तस्य वसन्तसेनावधरूपदोषवार्त्ता यदि सत्या तर्हि हिमालयस्य हस्ताभ्यामुत्तोलनं, समुद्रस्य बाहुभ्यां संतरणं, वायोर्ग्रहणम्, एतत्सर्वमपि सत्यं भविष्यति, अतः शकारस्य मिथ्योक्तिरेव ॥ २० ॥

प्रकाशमिति—न करिष्यतीत्यर्थः । एतेन चारुदत्तस्य सज्जनता व्यज्यते ।

शकार इति—पक्षपातेन = चारुदत्तपक्षग्रहणेन व्यवहारः = विवादनिर्णयः । दृश्यते = मया तर्क्यते । कथमन्यथा अनवसरे तत्प्रशंसनं तददोषत्वनिरूपणञ्च क्रियते इति भावः ।

न्यायाधीश—(धीरे से)

हिमालय को उठाने के समान, सागर को पार करने के तुल्य तथा वायु को वस्त्र आदि में बाँध रखने के समान चारुदत्त पर उक्त दोषारोपण करना असंभव है ।

(प्रकट) आर्य चारुदत्त इस दुष्कार्य को कैसे कर सकते हैं ? (ऊंची नासिका इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक पढ़ता है) ।

शकार—क्या पक्षपातपूर्ण व्यवहार उपस्थित हो रहा है ?

अधि०—दूर हट मूर्ख !

वेदार्थान् प्राकृतस्त्वं वदसि न च ते जिह्वा निपतिता
मध्याह्ने वीक्षसेऽर्कं न तव सहसा दृष्टिर्विचलिता।
दीप्ताग्नौ पाणिमन्तः क्षिपसि स च ते दग्धो भवति नो
चारित्र्याच्चारुदत्तं चलयसि न ते देहं हरति भूः॥ २१॥

अन्वयः—त्वम् प्राकृतः वेदार्थान् वदसि ते जिह्वा न च निपतिता, मध्याह्ने अर्कम् वीक्षसे तव दृष्टिः सहसा न विचलिता, दीप्ताग्नौ अन्तःपाणिम् क्षिपसि ते स दग्धो न भवति, चारित्र्यात् चारुदत्तम् चलयसि, भूः ते देहम् न हरति च।

वेदार्थानिति—त्वम्=शकारः प्राकृतः=शूद्रादिवन्नीचः (सन्नपि) 'विवर्णः पामरो नीचः प्राकृतश्च पृथग्जनः' इत्यमरः। वेदार्थान् वदसि तथापि ते=तव जिह्वा न निपतिता 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम्' इति निषिध्य बलाद्विवरणे जिह्वास्खलनमप्यभिहितं स्मृतौ। 'वेदवक्तुश्च शूद्रस्य जिह्वा स्खलति वै ध्रुवम्' इति सौरागमः। तवाप्येवं तत्स्खलनमिवोचितमित्यर्थः। मध्याह्ने=अह्नो मध्ये। अह्नो मध्यमिति विग्रहे 'संख्याविसाये'त्येतज्ज्ञापितः सर्वोऽप्येकदेशोऽह्ना समस्यत इत्यर्थकेन 'पूर्वापराधरोत्तरम्' इत्यनेन समासे 'राजाहःसखिभ्य' इति टच् 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः' इत्यह्नादेशः। अर्कम्=सूर्यं वीक्षसे-पश्यसि तथापि तव दृष्टिः सहसा=तत्क्षणमेव न विचलिता=नोपहता। मध्याह्नमार्त्तण्डावलोकनेन दृष्ट्युपघातः तत्क्षणमेव भवति तत् तवाप्युचितमासीदिति भावः। दीप्ताग्नौ=जाज्वल्यमाने वह्नौ अन्तः=अभ्यन्तरे पाणिम् करम् क्षिपसि=प्रवेशयसि तथापि ते=तव हस्तः दग्धः=भस्मसात् न भवति। एतद्भवितुं योग्यमासीदिति भावः। तथा चारित्र्यात्=शिष्टाचारात् चारुदत्तम् चलयसि पातयसि। कम्पनार्थस्य चलेः घटादित्वान्मित्संज्ञा 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः। तथापि भूः=पृथ्वी ते=तव देहम् न हरति=न ग्रसति (ग्रसनमेवोचितम् इति भावः)। 'करोत्यभव्यं महतामतिक्रमः' इति शास्त्रात् सज्जनचारुदत्तस्योपरि मिथ्यादोषारोपात् त्वं सद्यः कथन्न म्रियसे इति निष्कर्षः। अत्र शकारकर्तृकवेदार्थवादरूपवस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् चारित्र्याच्चारुदत्तस्य चालनं प्राकृतादीनां वेदार्थवादादिकमिव नितरामन्याय्यमिति सादृश्यं बोधयतीति निदर्शनालंकारः स च नानात्वान्मालारूपः। वेदार्थाध्ययनादिरूपे कारणे सत्यपि रसनापातादिरूपतत्कार्यानुत्पत्तेर्विशेषोक्तिश्च साऽपि नानात्वान्मालारूपा। अनयोर्मिथो निरपेक्षतया

साधारण अधम मनुष्य होते हुए तुम वेदार्थों का उच्चारण करते हो, फिर भी तुम्हारी जीभ गिर नहीं पड़ती? दोपहर के समय तुम सूर्य की ओर ताकते हो और उसी क्षण तुम्हारी दृष्टि विचलित नहीं हो जाती? प्रज्वलित अग्नि में अपना हाथ छोड़ देते हो फिर भी तुम्हारा हाथ भस्म नहीं हो जाता? चारु-

आर्यचारुदत्तः कथमकार्यं करिष्यति।

कृत्वा समुद्रमुदकोच्छ्रयमात्रशेषं
दत्तानि येन हि धनान्यनपेक्षितानि।
स श्रेयसां कथमिवैकनिधिर्महात्मा
पापं करिष्यति धनार्थमवैरिजुष्टम्? ॥ २२ ॥

संसृष्टिः तथा चात्र महदतिक्रमं दृष्ट्वाद्विग्नस्य वक्तुरुक्तौ 'तथापि' तस्य न्यूनतायामपि 'उत्तावानन्दमग्नादेः' इति दर्पणोक्तपरिहारात् न न्यूनपदतादोष। 'म्रौ भ्नौ मो नो गुरुश्चेद्वसुशररसैरुक्ता सुमधुरा' इति लक्षणात्सुमधुरावृत्तम् ॥ २१ ॥

सरलार्थः—रे मूर्ख! चारुदत्तं ते दोषारोपणं तथा मिथ्या, यथा शूद्राणां वेदार्थकथनेऽपि जिह्वापतनाभावः, मध्याह्ने चिरं सूर्यावलोकनेऽपि दृष्टेरविघातः, प्रज्वलिताग्नौ हस्तस्य स्थापनेऽपि तस्य दाहाभावः, अतः संप्रति चारुदत्तस्योपरि हत्यारोपणेन तव शरीरं पृथ्वीमध्ये न विलीनमिति महदाश्चर्यम् ॥ २१ ॥

अन्वयः—हि येन समुद्रम् उदकोच्छ्रयमात्रशेषम् कृत्वा अनपेक्षितानि धनानि दत्तानि, श्रेयसाम् एकनिधिः महात्मा सः, धनार्थम् अवैरिजुष्टम् पापम् कथमिव करिष्यति।

चारुदत्त आर्यं इत्युक्तार्थं प्रमाणयन्नाह कृत्वेति—हि=तथाहि येन=चारुदत्तेन जनेन समुद्रम्=सागरम् उदकोच्छ्रयमात्रशेषम्। उदकान्तम् उच्छ्रयः=उत्सेधः 'नगोद्यारोह उच्छ्राय उत्सेधश्चोच्छ्रयश्च सः' इत्यमरः। 'श्रिञः'एरच्' इत्यच्। आधिक्यमिति भावः। स एव तन्मात्रम् मयूरव्यंसकादित्वादस्वपदविग्रहः समासः। केवलजलाधिक्यमेवेत्यर्थः। शेषः अवशिष्टांशो यस्य तम्। तथाविधं कृत्वा (दानार्थमखिलरत्नानि ततः आहृत्य जलमात्रावशिष्टं तं कृत्वेति निष्कर्षः। अनपेक्षितानि=अनवरतागणितापरिमेयधनराशिलाभेन समृद्धैरर्थिभिरनीप्सितानि धनानि। यद्वा 'आत्मभोगनिरपेक्षाणि (निजभोगार्थं किञ्चिदप्यरक्षता येन सर्वाण्येव धनानि प्रार्थिभ्यो दत्तानीति भट्टाचार्याः)। श्रेयसाम्=कल्याणानाम् एकनिधिःप्रधानाश्रयः, महात्मा स चारुदत्तः धनार्थम्=अलङ्कारलोभात् अवैरिजुष्टम्=चारुदत्तस्य वैरिणाऽपि असेवितम् पापम्=स्त्रीवधात्मकं कुकर्म, कथमिव करिष्यति?=कथमपि नेत्यर्थः।

दत्तको मिथ्या दोषारोपण द्वारा चरित्र भ्रष्ट करते हो फिर भी पृथ्वी तुम्हारी देह का अपहरण नहीं कर लेती? ॥ २१ ॥

आर्य चारुदत्त दुष्कार्य कैसे करेगा?

समुद्र में केवल जल की प्रचुरता अवशिष्ट रह गई (चारुदत्त ने रत्नादि

बांट दिये)। जिसने बिना अपने लिए धन बचाये ही सब धन दान कर दिया,

शकारः—किं पक्खवादेण ववहाले दीशदि ?। (किं पक्षपातेन व्यवहारो दृश्यते)

वृद्धा—हदास ! जो तदाणिं णासीकिदं सुवण्णभण्डअं रत्तिं चोरेहिं अवहिदं त्ति तस्स कारणादो चदुस्समुद्दसारभूदं रअणावलिं देदि, सो दाणिं अत्थकल्लवत्तस्स कारणादो इमं अकज्जं करेदि ?। हा जादे। एहि मे पुत्ति !। (इति रोदिति) हताश ! यस्तदानीं न्यासीकृतं सुवर्णभाण्डकं रात्रि चौरैरपहृतमिति। तस्य कारणात् चतुःसमुद्रसारभूतां रत्नावलीं ददाति, स इदानीमर्थकल्यवर्त्तस्य कारणादिदमकार्यं करोति ?। हा जाते ! एहि मे पुत्रि !)

अधि—आर्यचारुदत्त ! किमसौ पद्भ्यां गता ? उत प्रवहणेनेति ?।

अत्रातिशयोक्तिरलङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ २२ ॥

सरलार्थः—अयं चारुदत्तः शत्रुजनेनापि कर्त्तुमशक्यं वसन्तसेनास्त्रीहननरूप पापं कथं करिष्यति, तदपि धनलोभेन ? यतोऽनेन याचकेभ्यः प्रशस्तं समुद्रजं रत्नजातमपि, तथा चान्यदपि धनं किं बहुना सर्वस्वमपि दत्त्वा निर्धनत्वं स्वं प्रकटीकृतं अतः पुण्यवतां शिरोमणिर्नोक्तपापकारी संभविष्यतीति त्वमसत्यं वदसि ॥ २२ ॥

वृद्धेति—हता = भाग्येन विनाशिता आशा=सौख्याशा यस्य सः तत्सम्बुद्धौ। (शापोक्तिरियम्) रात्रिं प्राप्य। तस्य—तत्प्रतिदानस्य कारणात्। अर्थकल्यवर्त्तस्य= क्षणिकस्य धनस्य कारणात्। अकार्यम्=हत्यारूपं कुकर्म करोति ?=करोति किम ? इति काकुः (न कर्तुं शक्नोति भावः)।

वह मङ्गल का अद्वितीय आश्रय महात्मा चारुदत्त शत्रुओं का धन भी न लेने वाला, धन के लिए यह पाप कैसे कर सकता है ? ॥ २२ ॥

शकार—क्या पक्षपातपूर्ण व्यवहार हो रहा है ?

वृद्धा—हाय ! जो उस समय धराहर रक्खे हुए सुवर्ण अलंकार के रात्रि में चोरों के द्वारा अपहृत हो जाने पर, उसके बदले चारों समुद्र के सारभूत रत्नावली को देता है, वह इस समय क्षणस्थायी वैभव के कारण ऐसा दुष्कार्य करता है ? हा वत्से ! आओ मेरी पुत्री। (रोती है)

अधि०—आर्य चारुदत्त ! क्या वह पैरों से चलकर गई है ? अथवा गाड़ी पर चढ़कर ?

चारु—ननु ! मम प्रत्यक्षं न गता; तन्न जाने, किं पद्भ्यां गता, उत प्रवहणेनेति ।

प्रविश्य सामर्षो वीरकः ।

पादप्पहार–परिभव–विमाणणा–वद्धगरुअ–वेरस्स ।
अणुसोअन्तस्स इअं कधं पि रत्ती पभादा मे ॥ २३ ॥

(पाद–प्रहार–परिभव–विमानना–बद्ध–गुरुक–वैरस्य ।
अनुशोचत इयं कथमपिं रात्रिः प्रभाताः मे ॥ २३ ॥)

ता जाव अधिअरणमण्डवं उवसप्पामि। (प्रवेष्टकेन) सुहं अज्ज-मिस्साणं ? । (तद् यावदधिकरणमण्डपमुपसर्पामि । सुखम् आर्यमिश्राणाम् ?)

चारु इति—ननु = हे 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः ।

अन्वयः—पाद–प्रहार–परिभव-विमानना-बद्धगुरुकवैरस्य अनुशोचतः मे इयम् रात्रिः कथमपि प्रभाता ।

पादेति–पादप्रहारेण=चन्दनककृतचरणाघातेन यः परिभवः=अनादरः तेन या विमानना = अपमानः तथा बद्धम् = उत्पादितम् गुरुकम् = महत् वैरम्=चन्दनकेन वैरभावं यस्य तस्य, अत एव अनुशोचतः = चन्दनककृतापराधस्य प्रतिशोधरूपं कर्म्म मया कथं न कृतम् ॥ इति पश्चात्तापं कुर्वतः । मम=इयं रात्रिः कथमपि महता कष्टेन प्रभाता = रात्रिर्व्यतीता प्रातः संवृत्तमिति भावः । आर्या जातिः ॥ २३ ॥

सरलार्थः—चन्दनककर्तृकपादप्रहाररूपापमानेन क्षुभितचेतसोऽत एव प्रवृद्धवैरस्य मे शोकं कुर्वतो यथा कथंचन चिन्तासक्ततया रात्रिर्व्यतीता प्रभातो जातः ॥

तदिति—प्रवेष्टकेन = भुजेन 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः । दक्षिणभुजेन प्रणम्येति शेषः । (सलाम इति) भाषायाम् । सुखम् = कुशलमिति भावः । किमिति काकुः ।

चारुदत्त—वह मेरे सामने नहीं गई । अतः मैं नहीं जानता हूँ कि वह पैदल गई अथवा गाड़ी पर चढ़कर ?

वीरक—(क्रोध के साथ प्रवेश करके) ।

चन्दनक के पादाघात के तिरस्कार से अपमानित होने से मैं चन्दन का महान् शत्रु हो गया हूँ । उनसे किस प्रकार बदला लेना चाहिए, यही सोचते हुए यह रात्रि व्यतीत हो गई और सवेरा हो गया ॥ २३ ॥

तब तक न्याय-मण्डप में प्रवेश करता हूँ । (दाहिना हाथ फैलाकर) आप लोग कुशलपूर्वक तो हैं न ?

अधि—अये ! नगररक्षाधिकृतो वीरकः । वीरक ! किमागमन-प्रयोजनम् ? ।

वीरकः । हो ! बन्धण–भेअण–सम्भमे अज्जकं अण्णेसन्तो ओवारिदं पवहणं वच्चदि त्ति विआरं करन्तो अण्णेसन्तो 'अरे ! तु ए वि आलोइदे मए वि आलोइदव्वो' त्ति भणन्तो ज्जेव चन्द्रेणमहत्तरएण पादेण ताडिदो म्हि । एदं सुणिअ अज्जमिस्सा पमाणं । (हो ! बन्धनभेदनसम्भ्रमे आर्यकमन्विष्यन्, अपवारितं प्रवहणं व्रजतीति विचारं कुर्वन् अन्विष्यन्—'अरे ! त्वयापि आलोकिते मयापि आलोकयितव्यः' इति भणन्नेव, चन्दनमहत्तरकेण पादेन ताडितोऽस्मि । एतत् श्रुत्वा आर्यमिश्राः प्रमाणम् ।)

अधि—भद्र ! जानीषे कस्य तत् प्रवहणमिति ? ।

वीरकः—इमस्स अज्जचारुदत्तस्स । वसन्तसेणा आरूढा, पुप्फकरण्ड-

अधि इति—नगररक्षायाम् अधिकृतः = नियुक्तः ।

वीरक इति–हो = अव्ययमिदं विस्मये 'अहो हि च विस्मये' इत्यमरः । बन्धनस्य = निगडशृङ्खलायाः भेदः = त्रोटनम् तस्मिन् सम्भ्रमः = त्वरा 'सम्भ्रमस्त्वरा' इत्यमरः । तस्मिन् = तत्समये इति भावः । अपवारितम् = प्रच्छन्नम् (वस्त्रावृतमित्याशयः) । विचारम् = तर्कम् (अस्मिन् आर्यकोऽस्ति न वेति वितर्कम्) अन्विष्यन् = प्रवहणे आर्यकं पश्यन् । त्वया = चन्दनकेन । मयापि = वीरकेणापि, महानेव-महत्तरकः = सेनापतिरित्यर्थः, स चासौ चन्दनश्चेति 'वाहिताग्न्यादिषु' इति पूर्वनिपातः । चन्दनमहत्तरकः तेन । आर्यमिश्राः = मान्याः, प्रमाणम् = चन्दनको दण्ड्यो न वेति निर्णये प्रमाणपुरुषः ।

अधि०—अरे ! नगर की रक्षा के लिए नियुक्त वीरक ! वीरक ! तुम्हारे आने का क्या कारण है ?

वीरक—हा ! बन्धन-शृङ्खला तोड़ने के समय की घबड़ाहट में आर्यक को खोजता हुआ, वस्त्र से अवगुण्ठित गाड़ी जाती है, इस पर विचार करता हुआ एवं खोजता हुआ—'अरे तुम्हारे (चंदन के) निरीक्षण कर लेने पर मुझे भी निरीक्षण कर लेना चाहिए ।' यह कहता हुआ मैं सेनापति चन्दन के पैरों से मारा गया हूँ । यह सुन लेने पर अब आप ही लोग इसका निर्णय करें ।

अधि०—भद्र ! जानते हो कि वह किसकी गाड़ी थी !

वीरक—इस आर्य चारुदत्त की गाड़ी थी, वसन्तसेना उस पर बैठी थी,

कजिण्णुज्जाणं कीलिदुं णीअदि त्ति पवहणवाहएण कहिदं। (अस्य आर्यचारुदत्तस्य, वसन्तसेना आरूढा, पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं क्रीडितुं नीयत इति प्रवहणवाहकेन कथितम्)

शकारः—पुणोवि शुदं अज्जेहिं ?। (पुनरपि श्रुतमार्यैः)

अधि—एष भो ! निर्म्मलज्योत्स्नो राहुणा ग्रस्यते शशी।
जलं कूलावपातेन प्रसन्नं कलुषायते ॥ २ ॥

वीरक ! पश्चादिह भवतो न्यायं द्रक्ष्यामः। य एषोऽधिकरणद्वारि अश्वस्तिष्ठति, तमेनमारुह्य गत्वा पुष्पकरण्डकोद्यानं दृश्यताम्—अस्ति तत्र काचिद्विपन्ना स्त्री न वेति ?।

शकार इति—पुनरपि श्रुतमार्यैः=‘पुप्फकलण्डकजिण्णुज्जाणं पवेसिअ’ इति मत्पूर्वोक्तम इदानीं वीरकमुखात्पुनरपि आर्यैः श्रुतम् ?=श्रुत्वा प्रमाणितम् ? इति प्रश्नः। (मदुक्तौ प्रमाणमिदमित्याशयः)।

अन्वयः—भो ! निर्मलज्योत्स्नः एषः शशी राहुणा ग्रस्यते प्रसन्नम् जलम् कूलावपातेन कलुषायते।

एष इति—भो इति भाव्यं सम्बोधयति। निर्मला शुभ्रा ज्योत्स्ना=चन्द्रिका (प्रकाशः) यस्य स तादृशः एषः=प्रसिद्ध शशी=चन्द्रः राहुणा ग्रस्यते। गुणगौरश्चारुदत्तः नारीहत्यादोषेण अभिसम्बध्यते इत्याशयः। प्रसन्नम्=विमलम् जलम्=उदकम् कूलस्य=तटस्य ‘कूलं रोधश्च तीरं च प्रतीरं च तटं त्रिषु’ इत्यमरः। अवपातेन=अवभ्रंशनेन कलुषायते=मलिनं भवतीति भावः। चारुदत्तस्य अतिविशुद्धं चरित्रं वसन्तसेनावधापराधोपरोधेन मलिनं भवतीति भावः। अत्राप्रस्तुताभ्यां शशिजलाभ्यां समाभ्यां समयोः प्रस्तुतयोश्चारुदत्तच्चारित्र्ययोः प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसाद्वयम्। तयोश्च मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः॥ २४ ॥

सरलार्थः—संप्रति दैववशात् यथा चन्द्रस्य राहुकर्तृकं ग्रहणं, वर्षाकाले नद्या निर्मलस्यापि जलस्य तटपातेन मालिन्यं च भवति तथा चारुदत्तस्य पापाचरणं जातमिति मयाऽनुमीयते॥ २४ ॥

‘पुष्पकरण्डक पुरातन उपवन में क्रीडा करने जा रही है’ ऐसा गाड़ीवान ने कहा था।

शकार—पुनः आप लोगों ने सुन लिया न ?

अधि०—निर्मल चन्द्रिका से युक्त यह इन्दु राहु से ग्रसा जा रहा है, विमल जल, तट के पतन से गँदला हो रहा है। (अर्थात् निर्मल चरित्र वाला आर्य चारुदत्त स्त्री-हत्यारूप अयश से कलंकित हो रहा है)॥ २४ ॥

वीरक ! पीछे, यहाँ आपका न्याय देखेंगे। जो यह न्यायालय के द्वार पर

वीरकः—जं अज्जो आणवेदि। (इति निष्क्रान्तः प्रविश्य च) गदो म्हि तहिं, दिट्ठं च मए इत्थिआकलेवरं सावदेहिं विलुप्पन्तं। (यदार्यं आज्ञापयति। गतोऽस्मि तस्मिन्, दृष्टञ्च मया स्त्रीकलेवरं श्वापदैर्विलुप्यमानम्।)

श्रेष्ठिकायस्थौ—कथं तुए जाणिदं इत्थिआकलेवरं त्ति ?। (कथं त्वया ज्ञातं स्त्रीकलेवरमिति)

वीरकः—सावसेसेहिं केस–हत्थ–पाणि–पादेहिं उवलक्खिदं मए। (सावशेषैः केश–हस्त–पाणि–पादैरुपलक्षितं मया)

अधि—अहो ! धिक् वैषम्यं लोकव्यवहारस्य।

यथा यथेदं निपुणं विचार्यते तथा तथा सङ्कटमेव दृश्यते।

वीरक इति—श्वापदैः = हिंस्रजन्तुभिः, विलुप्यमानम् = भक्ष्यमाणम्।

वीरक इति—सावशेषैः = भुक्तावशिष्टैः, केशैः = पुरुषकेशविलक्षणैः शिरोरुहैः, हस्तपाणिपादैः = नायिकोचितभूषणानामनवरतधारणात्सम्प्रति तच्छून्यैरपि तद्घर्षणचिह्नोपलक्षितैः करचरणादिभिः।

अधि इति—लोकव्यवहारस्य = लोकचरितस्य (मानवजातिव्यवहारस्येति भावः) 'लोकस्तु भुवने जने, इत्यमरः। वैषम्यम् = पूर्वापरपरीत्येन परिवर्त्तनम् धिक् = निन्दामीत्यर्थः। 'धिग्योगे द्वितीया'......'धिगुपर्यादिषु त्रिष्वि'ति वचनात्। तथाहि चारुदत्तः पूर्वं महापवित्रचरित्र आसीत्, स चेदानीमर्थनिमित्तमनर्थं (स्त्रीघातरूपम्) कृत्वा दुश्चरित्रो जात इति चरित्रवैषम्यमेव निन्दामीत्याशयः।

अन्वयः—यथा यथा इदम् निपुणम् विचार्यते तथा तथा सङ्कटम् एव दृश्यते, अहो व्यवहारनीतयः सुसन्नाः, तु मतिः पङ्कगता गौः इव सीदति।

यथेति—यथा यथा = येन येन रूपेण इदम् = वसन्तसेनाहननात्मकं कुकर्म

अश्व स्थित है, इस पर चढ़कर, उस पुष्पकरण्डक जीर्ण उपवन में जाकर देखो—वहाँ कोई मरी स्त्री पड़ी है या नहीं' ?

वीरक—जैसी श्रीमान की आज्ञा। (चला गया, पुनः आकर) वहाँ से हो आया, स्त्री की देह देखी थी, उसे हिंसक जन्तु खा रहे थे।

श्रेष्ठिका०—तुमने कैसे जाना कि वह स्त्री की देह है ?

वीरक—अवशिष्ट (लम्बे) केश (आभूषण युक्त) हाथ पैर के द्वारा मैंने जाना कि वह स्त्री है।

अधि०—अरे ! लोक-व्यवहार की विषमता को धिक्कार है !

जितना ही इस पर सूक्ष्म रूप से विचार किया जाता उतना ही यह

अहो ! सुसन्ना व्यवहारनीतयो मतिस्तु गौः पङ्कगतेव सीदति ॥ २५ ॥

चारु—(स्वगतम्)

यथैव पुष्पं प्रथमे विकासे समेत्य पातुं मधुपाः पतन्ति ।
एवं मनुष्यस्य विपत्तिकाले छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ २६ ॥

निपुणम् = सम्यक् विचार्यते = प्रमाणसापेक्ष्येण निर्णीयते, तथा तथा = तेन तेनैव रूपेण सङ्कटम्=दुःखावस्थापन्नम् एव दृश्यते । अहो—विषादे, व्यवहारस्य=विवादस्य नीतयः=नियमाः (कानून) । सुसन्नाः = वादिप्रार्थनानुसारेण वीरकसाक्ष्यलाभेन च संलग्नाः (लागू हो गये) तु=परन्तु तथापि मतिः=मम बुद्धिः पङ्कगता गौरिव सीदति । चारुदत्तस्य सदोषत्वसिद्धावपि मम मतिस्तत्र दृढा न भवतीत्याशयः । अत्र कारणाभावेऽपि मत्यवसादरूपकार्योत्पत्तेर्विभावनालङ्कारः, किंवा व्यवहारनीतीनां सुसन्नत्वरूपकारणे सत्यपि मत्यवसादाभावरूपकार्यानुत्पत्तेर्विशेषोक्तिः ? इति सन्देहादनयोः सन्देहसङ्करोऽलङ्कारः, पङ्कगता गौरिवेति श्रौतोपमया सङ्कीर्यते । वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ २५ ॥

सरलार्थः—यथा यथा सूक्ष्मरूपेण विचार्यते मया तथा तथा न्यायनिर्णये संकटमेवानुभूयते, प्रमाणाधारेण चारुदत्त एवापराधी प्रतीयते, अतो मम बुद्धिः पङ्के पतिता गौरिव किमपि निर्णेतुं न प्रभवति तस्मात् सर्वथाऽसमर्थैव जाता ॥ २५ ॥

यथेति— मधुपाः (अलयः) यथैव प्रथमे विकासे (विकासारम्भावस्थायाम्) समेत्य (संगम्य) पातुम् (मकरन्दमिति शेषः) पुष्पम् पतन्ति (दूरादप्यागच्छन्ति) एवम् (तथैव) विपत्तिकाले मनुष्यस्य छिद्रेषु (कार्यभ्रंशेषु) अनर्थाः (आपत्तयः) बहुलीभवन्ति (अबहुलाश्च बहुला भवन्तीत्यर्थः) अभूततद्भावे 'कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः 'अस्य च्वौ'इतीत्वम् । तथा च वसन्तसेना जीर्णोद्यानात् प्रवहणविपर्यासेन शकारसविधे गता, न तु स्वगृहम् इति प्रवहणविपर्यासरूपे मम छिद्रे समुपस्थिते शकारकृताभियोगवीरकसाक्ष्यादयोऽनर्था अहमहमिकया आपतिता इति निष्कर्षः । अत्राप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः पूर्वार्द्धे श्रौती उपमा, अनयोस्संसृष्टिः उपजातिर्वृत्तम् ॥ २६ ॥

सरलार्थः—यथा पुष्पस्य प्रथमविकासक्षण एव भ्रमराः स्वयमेवागत्य इतस्तत

संकटपूर्ण होता दिखलाई पड़ता है । निर्णय एवं नीतिपूर्वक जितना ही विचार करता हूँ उतनी ही मेरी बुद्धि कीचड़ में फंसे बैल के समान किंकर्त्तव्यविमूढ हो रही है ॥ २५ ॥

चारुदत्त—(मन में) जिस प्रकार फूल के प्रथम विकास के समय उसका रस-पान करने के लिए भ्रमर उस पर एक साथ ही आ गिरते हैं । उसी प्रकार आपत्ति के समय मनुष्यों की भूल में विविध प्रकार की विपत्तियाँ आ गिरती हैं ॥

अधि—आर्यचारुदत्त ! सत्यमभिधीयताम् ।

चारु—

दुष्टात्मा परगुणमत्सरी मनुष्यो
रागान्धः परमिह हन्तुकामबुद्धिः ।
किं यो यद्वदति मृषैव जातिदोषात्
तद् ग्राह्यं भवति ? न तद्विचारणीयम् ॥ २७ ॥

आपतन्ति तथैव प्रायेण मनुष्यस्य विपत्तिकाले नानाविधा अनर्थाः प्रकटीभवन्ति अतः संप्रति युगपदेव सकलोऽप्यनर्थराशिरस्माकं हविधे समवेतः ॥ २६ ॥

अन्वयः—इह दुष्टात्मा परगुणमत्सरी रागान्धः परम् हन्तुकामबुद्धिः यः मनुष्यः जातिदोषात् मृषा एव यत् वदति, तत् किम् ? ग्राह्यम् भवति । तत् न विचारणीयम् ?

दुष्टात्मेति—इह=संसारे दुष्टः आत्मा=बुद्धिर्यस्य सः 'आत्मा जीवे धृतौ बुद्धौ' इत्यमरः परपीडोत्पादनेन नीचबुद्धिः, परस्य गुणे=दयादाक्षिण्यादौ मत्सरी= ईर्ष्यालुः 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे'इत्यमरः । सोऽस्यास्तीति । 'अत इनिठनौ' वितीनिः । रागेण=विषयाभिलाषेण अन्धः=उचितानुचितविचारशून्यः । परम्=अन्यम् हन्तुं कामो यस्याः सा तादृशी बुद्धिर्यस्य सः । 'तुम् काममनसोरपि' इति मकारस्य लोपः । परोपपीडक इत्यर्थः । परमिति कारकसापेक्षत्वात्समासः मनुष्यःजातिदोषात्= दुकुष्कुलजन्मदोषात् मृषैव=असत्यमेव यत् वदति, तत् किं ग्राह्यम् ? मन्तव्यं भवति ? नेत्यर्थः । कीदृशं तद्भवतीत्याह–न तद्विचारणीयम्=तत्कथनम् अश्रद्धेयमित्यर्थः । प्रकृते सकलदुर्गुणाकारः शकार यद्वदति तदग्राह्यमिति निष्कर्षः । अत्राप्रस्तुताद् दुर्जनसामान्यात् प्रस्तुतस्य दुर्जनविशेषस्य शकारस्य प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कार । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ २७ ॥

सरलार्थः—अयं शकारोऽतिदुष्टात्मा मात्सर्ययुक्तः क्रोधी परानिष्टकारी स्वजातिदोषादेव मृषा वदति, तस्मादस्य वचनं न ग्राह्यम्, प्रत्युत विचार्य न्यायमाचरणीयम् ॥ २७ ॥

अधि०– आर्य चारुदत्त ! सच-सच बात कहो ।

चारुदत्त—इस जगत् में दूसरे के गुणों से विद्वेष करने वाला दुष्टात्मा, कामान्ध तथा दूसरों को विनष्ट करनेवाला मनुष्य, अपनी दुर्जनता के वश जो कुछ झूठ आरोप करता है, क्या वह मान्य होता है ? क्या उस पर विचार नहीं करना चाहिए ? ॥ २७ ॥

अपि च—योऽहं लतां कुसुमितामपि पुष्पहेतो-
राकृष्य नैव कुसुमावचयं करोमि।
सोऽहं कथं भ्रमरपक्षरुचौ सुदीर्घे
केशे प्रगृह्य रुदतीं प्रमदां निहन्मि? ॥ २८ ॥

शकारः—हंहो अधिअलणभोइआ! किं तुम्हे पक्खवादेण ववहालं पेक्खध? जेण अज्जवि एशे हदाशचालुदत्ते आशणे धालीअदि। (हंहो अधिकरणभोजका! किं यूयं पक्षपातेन व्यवहारं प्रेक्षध्वम्? येन अद्यापि एष

अन्वयः—यः अहम् पुष्पहेतोः कुसुमिताम् लताम् अपि आकृष्य कुसुमावचयम् नैव करोमि, सः अहम् भ्रमरपक्षरुचौ सुदीर्घे केशे प्रगृह्य रुदतीम् प्रमदाम् कथम् निहन्मि?

य इति—योऽहं पुष्पहेतोः=कुसुमकारणात् कुसुमानि अस्याः सञ्जातानि इति कुसुमिता तारकादित्वादितच्। ताम् लतामपि चेतनानाम् का कथा, जडां लतामपीत्यर्थः। आकृष्य=नमयित्वा, पुष्पाणाम् अवचयम् न करोमि। आकर्षणे पीडा स्यादिति बुद्धयेति भावः। सोऽहम् भ्रमरस्य पक्षः तस्य रुचिः=कान्तिः, तद्वद्रुचिर्वर्णो यस्मिन् सः तस्मिन् अतिकृष्णवर्णे इति भावः। सुदीर्घे केशे प्रगृह्य=गृहीत्वा रुदतीम्=केशग्रहणेन रोदनं कुर्वतीम्। शत्रन्ताद्रुदेः 'उगित'श्चेति ङीप्। 'स्त्रियं कथं निहन्मि?' कथमपि नेत्याशयः। अत्र वस्तुसम्बन्धः सम्भवन्नेव आकर्षणादौ यथा लतायाः पीडा भवति, तथैव प्रमदाया अपि स्यादिति सादृश्यं बोधयति अतः निदर्शना। किं निहन्मि 'इत्यर्थान्तरम् 'न निहन्मि' इत्यन्यार्थागमात् अर्थापत्तिश्च 'भ्रमरपक्षरुचा'वित्यंशे लुप्तोपमा चेत्येषामङ्गाङ्गित्वेन संकरः। तथा च कुसुमशब्देन प्रक्रम्य पुष्पपदप्रयोगाद्भग्नप्रक्रमता दोषश्च। तस्य हेतोरिति पाठेन समाधेयः सः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ २८ ॥

सरलार्थः—मदीय ईदृशः स्वभावो यत् पुष्पितां लतामपि स्वयमाकृष्य तदीयपुष्पावचयं न जातु चित् कुर्याम् तत्कथमहं केशेष्वाकृष्य रुदतीं प्राणप्रियां रमणीं हन्तुं प्रभवेयम्, अतः शकारकर्तृकहत्यारोपे विचारः कर्त्तव्यः॥ २८ ॥

अद्यापि=अपराधित्वनिश्चयेऽपि आसने धार्यते=उपवेश्यते। पूर्वन्तु वादिगति-

---

और भी—जो मैं फूल लेने के लिए विकसित लता को भी झुकाकर पुष्प-चयन नहीं करता हूँ। वही मैं भ्रमर के पंख के समान नील कान्ति वाले, लम्बे केशों को खींच कर रोती हुई कामिनी को कैसे मारूँगा? (जो निर्जीव लता पर भी दया करता है वह सजीव स्त्री को कैसे मार सकता है?) ॥ २८ ॥

शकार—अरे न्याय के अधिकारी वर्ग? क्या आप लोग पक्षपात से विवाद-

हृतश्चारुदत्त आसने धार्यते)

अधि—भद्र शोधनक ! एवं क्रियताम् ।

(शोधनकस्तथा करोति)

चारु-विचार्यतां भो अधिकृताः ! विचार्यताम् । (इत्यासनादवतीर्य भूमावुपविशति)

शकारः—(स्वगतम् । सहर्षं नर्तित्वा) ही अणेण मए, कड़े पावे अण्णश्श मत्थके णिवड़िदं ता जहिं चालुदत्ताके ! उवविशदि, तहिं हग्गे उवविशामि (तथा कृत्वा) चालुदत्ता ! पेक्ख पेक्ख मं, ता भण मए मालिदे त्ति । (ही, अनेन मया कृतं पापमन्यस्य मस्तके निपातितम् । तद् यत्र चारुदत्त उपविशति, तस्मिन्नहमुपविशामि । चारुदत्त ! प्रेक्षस्व माम्, तद् भण भण मया मारितेति)

चारु—भो अधिकृताः ! । (दुष्टात्मा इति पूर्वोक्तं पठति । सनिःश्वासं स्वगतम्)

वादिनोऽन्यायालये आसनमेव निषिद्धम् तत्राप्ययमपराधी सिद्धः तेन सुतरामस्यासने उपवेशनम् अधिकरणिकानामेवान्याय इति भावः ।

अधि इति—एवं क्रियताम् = चारुदत्त आसनादवतार्यताम् ।

तथा करोति—आसनात् तमवतारयति ।

शकार इति—ही = विस्मयानन्दे ।

निर्णय कर रहे हैं ? जिससे कि अब तक यह अधम चारुदत्त आसन पर बैठा हुआ है ।

अधि०—भद्र शोधनक ! ऐसा ही करो । (चारुदत्त को आसन से उतारो) ।

(शोधनक चारुदत्त को आसन पर से उतारता है)

चारुदत्त—विचार कीजिए अधिकारियो ! विचार कीजिए । (आसन से उतर कर पृथ्वी पर बैठ जाता है) ।

शकारः—(मनमें, हर्षपूर्वक नाचकर) अहा अपना किया हुआ पाप दूसरे के मस्तक पर गिरा दिया । तब जहाँ चारुदत्त बैठा है, मैं वहाँ पर बैठता हूँ और उस पर हँसता हूँ । (हँसकर) चारुदत्त ! देखो मुझे देखो, इसलिए कहो कि 'वसन्तसेना को मैंने मारा है' ।

चारुदत्त—ऐ न्यायाधीशो ! (दुष्टात्मा आदि पूर्वोक्त पुनः पढ़ता है । निःश्वास लेता हुआ मन में) ।

मैत्रेय भोः ! किमिदमद्य ममोपघातो
हा ब्राह्मणि ! द्विजकुले विमले प्रसूता ।
हा रोहसेन ! नहि पश्यसि मे विपत्ति
मिथ्यैव नन्दसिं परव्यसनेन नित्यम् ॥ २९ ॥

प्रेषितश्च मया तद्वार्त्तान्वेषणाय मैत्रेयो वसन्तसेनासकाशम्, शकटिकानिमित्तञ्च तस्य प्रदत्तान्यलङ्करणानि प्रत्यर्पयितुम् । तत् कथंचिरयते?।

मैत्रेयेति—भोः मैत्रेय ! (चारुदत्तः स्ववयस्यं सम्बोधयति) अद्य इदम् (अतर्कितविपदापतनम्) किम् (कथं जातम्) (येन मम उपघातः उपस्थित इति शेषः) हा ब्राह्मणि ! (हे भार्ये धूते !) विमले (विशुद्धे) द्विजकुले (ब्राह्मणवंशे) प्रसूता (त्वं जाता) सा कलङ्कितस्वपतिसम्बन्धेन कलङ्कितेति शेषः। हा रोहसेन ! (तदाख्यपुत्र) मे विपत्तिम् न हि पश्यसि। परव्यसनेन (केवलबालक्रीडया) मिथ्यैव नित्यम् नन्दसि। मन्मरणानन्तरं त्वमपि स्वावन्त्र्येण बाल्यसुखं नानुभविष्यसीत्याशयः। तत्र जातादिपदानुक्तावपि 'उक्तावानन्दे'ति दर्पणोक्तपरिहारान्न न्यूनपदत्वदोषः प्रत्युत गुण एव वक्तुर्विषादग्रस्तत्वात्। 'मनश्चेष्टासमुत्पन्नः श्रमः खेद इति स्मृतः' इति दर्पणोक्तेः खेदो नाम विमर्षसन्धेरङ्गम्, आक्रन्दः प्रलपितं शुचा' इति दर्पणोक्तेः आक्रन्दो नाम नाट्यालङ्कारश्च। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ २९ ॥

सरलार्थः—हे मैत्रेय नर्मसचिव ! अद्य कथं मयि सहसेदृशी विपत्तिरापतिता, हे ब्राह्मणि धर्मपत्नि ! पतिव्रते ! सत्कुलोत्पन्ने। हा रोहसेन मदेकतनय ! त्वमाकस्मिकां मम विपत्ति न जानासि सर्वदा क्रीडासक्तोऽसि ॥ २९ ॥

प्रेषित इति—'वसन्तसेना कथमस्ति' इति वृत्तान्तज्ञानायेत्यर्थः। 'वार्त्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः। मैत्रेयः=तदाख्यो विदूषकः। शकटिकानिमित्तम्=रोहसेनस्य क्रीडनार्थं लघु-स्वर्णशकटिकानिर्माणार्थम्, तस्य=रोहसेनस्य (निमित्तम्) प्रदत्तानि=वसन्तसेनया अर्पितानि। चिरायते=विलम्बते, चिरं करोतीत्यर्थे चिर-

---

हे मित्र मैत्रेय ! इस विपत्ति से कैसी मेरी मृत्यु हो रही है। हा धूते ! (चारुदत्त की पत्नी) तुम विमल ब्राह्मण के वंश मे उत्पन्न हुई थी (किन्तु हमारे दोष से तुम भी दूषित हो गई) हा पुत्र रोहसेन ! तुम मेरी विपत्ति को नहीं देख रहे हो, तुम व्यर्थ ही झूठ खेल में नित्य मग्न होकर आनन्दित होते हो ॥ २९ ॥

उसकी खोज के लिए मैंने मैत्रेय को वसन्तसेना के पास भेजा है। रोहसेन के खेलने के निमित्त गाड़ी बनवाने के लिए वसन्तसेना ने जो अलंकार दिये थे उन्हें उसे लौटाने के लिए भेजा है। तब क्यों देर कर रहा है ?

(ततः प्रविशति गृहीताभरणो विदूषकः)

विदू—पेसिदोम्हि अज्जचारुदत्तेण वसन्तसेणासआसं तहिं अलङ्क-रणाइं गेण्हिअ, जधा—'अज्जमित्तेअ ! वसन्तसेणाए वच्छो रोहसेणो अत्तणो अलङ्कारेण अलङ्करिअ जणणीसआसं पेसिदो; इमस्स आहरणं दादव्वं, ण उण गेण्हिदव्वं, ता समप्पेहि त्ति ! ता जाव वसन्तसेणासआसं ज्जेव गच्छामि। (परिक्रम्यावलोक्य च आकाशे) कधं भावरेभिलो। भो भावरेभिल ! किं णित्तिंम तुमं उव्विग्गो उव्विग्गो विअ लक्खीअसि ? । (आकर्ण्य) किं भणासि ? 'पिअवअस्सो चारुदत्तो अधिअरणमण्डवे सद्दाइदो त्ति ?।' ता णहु अप्पेण कज्जेण होदव्वं। (विचिन्त्य) ता पच्छा वसन्तसेणासआसं गमिस्सं। अधिअरणमण्डवं दाव गमिस्सं (परिक्रम्या-वलोक्य च) इदं अधिअरणमण्डवं, ता जाव पविसामि। (प्रविश्य) सुहं अधिअरणभोइआणं ?। कहिं मम पिअवअस्सो ?। (प्रेषितोऽस्मि आर्य-चारुदत्तेन वसन्तसेनासकाशम्, तस्मिन्नलङ्करणानि गृहीत्वा, यथा—'आर्यमैत्रेय ! वसन्तसेनया वत्सो रोहसेन आत्मनोऽलङ्कारेणालङ्कृत्य जननीसकाशं प्रेषितः, अस्या आभरणं दातव्यम् न पुनर्ग्रहीतव्यम्, तत् समर्पये'ति। तद्यावत् वसन्तसेनासका-शमेव गच्छामि। कथं भावरेभिलः। भो भावरेभिल ! किं निमित्तं त्वमुद्विग्न इव

शब्दात् 'तत्करोती'ति णिच्। अत्र 'वसन्तसेनावार्त्तान्वेषणाय तत्सकाश'मिति पा-ठस्यौचित्येऽपि वैपरीत्येन तत्स्थापनात् अस्थानस्थपदतादोषः। 'तीर्थे तदीये गज-सेतुबन्धाद्' इति दर्पणोदाहरणवत्।

विदू इति—तस्मिन्=वसन्तसेनासविधे। अस्याः=वसन्तसेनायाः। आकाशे= विना पात्रमित्यर्थः। इदमेवाकाशभाषितं नाम। आकाशे=आकाशाभिमुखम्, आका-शवच्छून्यं वा भाषितमिति तदर्थः तथाहि='किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयु-

---

(इसके बाद आभूषण लिए हुए विदूषक आता है)

विदूषक—मैं आर्य चारुदत्त के द्वारा वसन्तसेना के पास भेजा गया हूँ, उन अलङ्कारों को लेकर, यथा आर्य मैत्रेय ! वसन्तसेना के द्वारा पुत्र रोहसेन आभूषणों से अलंकृत होकर माता के पास भेजा गया था, उसके आभूषणों को दे दो, पुनः न लेना, इसलिए दे आओ। अतः वसन्तसेना के पास चलता हूँ। (घूमकर और आकाश की ओर देखकर) क्या भाव रेभिल। विद्वन् रेभिल ! तुम व्यस्त से क्यों प्रतीत होते हो ? (सुनकर) क्या कहते हो ? प्रिय मित्र आर्य चारुदत्त

लक्ष्यसे ! । किं मणसि ? प्रियवयस्यश्चारुदत्तः अधिकरणमण्डपे शब्दायित इति ? तत् न खलु अल्पेन कार्येण भवितव्यम् । तत् पश्चात् वसन्तसेनासकाशं गमिष्यामि । अधिकरणमण्डपं तावत् गमिष्यामि ? अयमधिकरणमण्डपः, तद्यावत् प्रविशामि । सुखमधिकरणभोजकानाम् ? । कस्मिन् मम प्रियवयस्यः ? ।)

अधि—नन्वेष तिष्ठति ।

विदू—वअस्स ! सोत्थि दे ? । (वयस्य ! स्वस्ति ते ?)

चारु—भविष्यति ।

विदू—अवि क्खेमं दे ? । (अपि क्षेमं ते ?)

चारु—एतदपि भविष्यति ।

विदू—भो वअस्स ! किं णिमित्तं उव्विग्गो उव्विग्गो विअ लक्खीअसि ? कुदो वा सद्दाइदो ? (भो वयस्य ! किं निमित्तमुद्विग्न उद्विग्न इव लक्ष्यसे ? कुतो वा शब्दायितः ?)

ज्यते । श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत् स्यादाकाशभाषितम्' इति दर्पणः । रेभिलः= कश्चिद्बन्धुः । शब्दायितः=आहूतः 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे' इत्येतद्विहितक्यङ्प्रत्यान्तशब्दाय—नामधातोः कर्मणि क्तः ।

विदू इति—स्वस्ति=मङ्गलस्ति न वेति प्रश्नः ।

चारु इति—भविष्यति= अधुना नास्तीत्याशयः ।

विदू इति—क्षेमम्=रक्षा अस्तीति प्रश्नः । 'क्षेमं कल्याणरक्षयोः' इति त्रिकाण्डशेषः ।

न्याय-मण्डप में बुलाये गये हैं ? तब इसमें कोई छोटा कारण नहीं होगा । (सोचकर) तब वसन्तसेना के पास पीछे जाऊँगा । तब तक न्यायमण्डप ही में जाऊँगा । (घूमकर और देखकर) यही न्याय-मण्डप है, इसमें प्रवेश करता हूं । (प्रविष्ट होकर) अधिकारी वर्ग ! सुखपूर्वक तो हैं न ? मेरे प्रिय मित्र कहाँ हैं ?

अधि०—इस स्थान पर बैठे हैं ।

विदूषक—मित्र ! तुम्हारा कल्याण हो ।

चारुदत्त—कल्याण होगा ।

विदूषक—आप कुशलपूर्वक तो हैं न ?

चारुदत्त—यह भी होगा ।

विदूषक—हे मित्र ! किस कारणवश आप उद्विग्न से प्रतीत हो रहे हैं ? और किस कारण से यहाँ बुलाए गये हैं ?

चारु—वयस्य !

मया खलु नृशंसेन परलोकमजानता ।
स्त्री रतिर्वा विशेषेण शेषमेषोऽभिधास्यति ॥ ७० ॥

विदू—किं किं ? । (किं किम् ?)

अन्वयः—नृशंसेन परलोकम् अजानता मया खलु स्त्री, वा अविशेषेण रतिः, शेषम् एषः अभिधास्यति ।

मयेति–नृशंसेन=क्रूरेण 'नृशंसो घातुकः क्रूरः' इत्यमरः । नॄन् शंसति हिनस्तीति विग्रहे 'कर्मण्यण्' इत्यण् । शंसु हिंसायाम् (भ्वा. प. से.) । परलोकम् = नरकादिकम् अजानता (स्त्रीवधे महानरकनिपतनं भवतीत्यनवगच्छता) मया स्त्री = काचिन्नारी वा = अथवा अविशेषेण = अभेदेन रतिः = साक्षान्मदनभार्या, शेषम् = पूर्वोक्तवाक्यस्य शेषमागम् = 'मारिता' इति स्वरूपकम्, एष = अनृतवादी शकारः, अभिधास्यति = कथयिष्यति । एतदमङ्गलं वक्तु नास्ति मम सामर्थ्यमित्याशयः । तन्निबन्धनेन शकारोपस्थापिताभियोगेन न्यायालयेऽधिकारिभिः शब्दायितोऽहमिति शेषः । अत्र स्त्रीहत्यारूपानिष्टार्थस्य शेषमितिपदसूचितमारितेतिपदेन विध्याभासकरणात् आक्षेपालङ्कारस्य द्वितीयो भेदः । मया ध्रुवं न मारिते'ति विशेषप्रतिपत्तिरत्र बोध्या । तथाहि—'वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये' । इत्युपक्रम्य= 'अनिष्टस्य तथार्थस्य विध्याभासः परो मतः' इति दर्पणोक्तेः । तथा भेदेऽपि वसन्तसेनायाः रतित्वेन व्यपदेशात् अतिशयोक्तिः । 'शेषमेषः' इत्यंशे छेकानुप्रासः, उत्तरार्द्धे वृत्त्यनुप्रासश्च एषां मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः । तथा चात्र 'नाहं नृशंसः, नाहं परलोकानभिज्ञः, न मया वसन्तसेना मारितेत्यभिप्रायस्य भङ्ग्यन्तरेण (विरुद्धलक्षणया) कथनात् मनोरथो नाम नाट्यलक्षणम् तथाहि 'मनोरथस्त्वभिप्रायस्योक्तिभङ्ग्यन्तरेण यत् ।' इति दर्पणे ॥ ३० ॥

सरलार्थः—मया नास्तिकेन क्रूरेण रतिस्वरूपा स्त्री वसन्तसेना····अस्याग्रे स्वयं 'मारिते'ति वक्तुमशक्यत्वात् शकार एव तत् कथयिष्यति ॥ ३० ॥

विदू इति—किं किमिति=सम्भ्रमे द्विरुक्तिः । 'सम्भ्रमस्त्वरा' इत्यमरः । त्वरा

चारुदत्त—सखे !

परलोक को नहीं जानने वाला कठोर मैंने स्त्री अथवा विशेष रति वसन्तसेना को—शेष यह शकार बतलावेगा । (अर्थात् 'मार डाला' यह हमारे मुख से भी नहीं निकल सकता है) ॥ ३० ॥

विदूषक—क्या क्या ?

चारु—(कर्णे) एवमेवम् ।

विदू—को एव्वं भणादि ? । (क एवं भणति ?)

चारु—(संज्ञया शकारं दर्शयति) नन्वेष तपस्वी हेतुभूतः, कृतान्तो मां व्याहरति ।

विदू—(जनान्तिकम्) एवं कीस ण भणीअदि गेहं गदे त्ति ? । (एवं केन न भण्यते गेहं गतेति ?)

चारु—उच्यमानमप्यवस्थादोषान्न गृह्यते ।

विदू—भो भो अज्ज ! जेण दाव पुरट्ठावण-विहारारामदेउल-तडाग-कूव-जूवेहिं अलङ्किदा णअरी उज्जइणी, सो अणीसो अत्थकल्लवत्तकारणादो एरिसं अकज्जं अणुचिट्ठदि त्ति ? । (सक्रोधम्) अरे रे काणेलीसुदा ! राअस्साल-सण्ठाणआ ! उत्सुङ्खलआ ! किद-जण-दोसभण्डआ ! बहु-सुवण्णामण्डिद-मक्कड़आ ! भण भण मम अग्गदो, जो दाणिं मम पिअवअस्सो कुसुमिदं माघवीलदं पि आकिट्टिअ कुसुमावचअं ण

चात्र महानिष्टस्य आकस्मिकश्रवणाद्बोध्या । 'सम्भ्रमेण प्रवृत्तो' इति वार्तिकेन द्विरुक्तिः ।

चारु इति—'कर्णे एवम् = गोप्यवृत्तस्य कथनमनयैव भङ्ग्या भवति । कथनञ्च यथा—'अलङ्कारलाभार्थं मया वसन्तसेना मारिता' इति ममोपरि अभियोग आपतित इति ।

चारु इति—संज्ञया=तर्जनीसंकेतेन । तपस्वी=क्षुद्रः हेतुभूतः=निमित्तमात्रम् । किन्तु कृतान्तः = भाग्यम् व्याहरति = 'अनेनैव मारिते'ति कथयति ।

चारु इति—अवस्थायाः = दारिद्र्यावस्थायाः दोषात् = अनादरजनकत्व-दोषात् न गृह्यते = सत्यत्वेन न स्वीक्रियते ।

चारुदत्त—(कान में) इस प्रकार ।

विदूषक—ऐसा कौन कहता है ?

चारुदत्त—(संकेत से शकार को दिखलाता है) यह क्षुद्र प्रत्यक्ष कारण है, किन्तु वास्तव में दैव मुझे इस प्रकार कह रहा है ।

विदूषक—(धीरे से) यह कौन नहीं कहता है कि वह घर गई ?

चारुदत्त—कहे जाने पर भी दरिद्रता के कारण कौन सुनता है ?

विदूषक—ऐ सभ्य-गणों ! जिसने निर्धनों के लिए भवन-निर्माण, बौद्ध-भवन, उपवन, देवमन्दिर, तालाब, कूप एवं यज्ञस्तम्भों से उज्जयिनी नगर को विभूषित किया, वह निर्धन, क्षणस्थायी धन के लोभ में पड़कर क्या ऐसा दुष्कार्य

करेदि, कदावि आकिट्टिदाए पल्लवच्छेदो भोदित्ति, सो कधं एरिसं अकज्जं उहअलोअविरुद्धं करेदि ?। चिट्ठ रे कुट्टणिपुत्ता ! चिट्ठ, जाव एदिणा तव हिअअकुडिलेण दण्डकट्ठेण मत्थअं दे सदखण्डं करेमि। (भो भो आर्याः! येन तावत् पुरस्थापन-विहारारामदेवकुल तड़ाग-कूपयूपैरलङ्कृता नगरी उज्जयिनी, सः अनीशः अर्थकल्यवर्त्तकारणादीदृशमकार्यमनुतिष्ठतीति ?। अरे रे काणेलीसुत ! राज्यश्यालसंस्थानक! उच्छृङ्खलक! कृतजनदोषभण्ड! बहुसुवर्णमण्डितमर्कटक! भण भण ममाग्रतः, य इदानीं मम प्रियवयस्यः कुसुमितां माधवीलतामप्याकृष्य कुसुमावचयं न करोति आकृष्टया पल्लवच्छेदो भवतीति; न कथमीदृशमकार्यमुभयलोकविरुद्धं करोति ?। तिष्ठ रे कुट्टनीपुत्र! तिष्ठयावदेतेन तव हृदयकुटिलेन दण्डकाष्ठेन मस्तकं ते शतखण्डं करोमि।

पुरस्थापनं = धर्मशालादिनिर्माणम्, विहारः=बौद्धाश्रमः, आरामः=उपवनम्, देवकुलम् = देवालयः, तडागः = पद्मसमूहपूरितकृत्रिमजलाशयः, 'पद्माकरस्तडागोऽस्त्री'त्यमरः। कूपः = रज्जुबद्धपात्रग्राह्यजलो जलाशयविशेषः, यूपः = यज्ञस्तम्भः (यज्ञः) तैः = तेषां स्थापनैः अनीशः = इदानीमप्रभुः (निर्धनः) अर्थकल्यवर्त्तस्य = क्षणिकक्षुद्रविभवस्य, कारणात् = हेतोः, ईदृशम् = स्त्रीहत्यारूपम्, अकार्यम् = कुकर्म अनुतिष्ठति ? (काकुः) कथमपि नेत्यर्थः। काणेलीनाम्न्याः = कुलटायाः सुतः पुत्रः तत्सम्बोधने। कृता जनानां दोषाः=नानाविधपापात्मकव्यवहाराः, येन स चासौ भण्डश्च तत्सम्बुद्धौ। (भांड इति भाषा०) कृतजनदोषाणां भाण्डम् तत्सम्बुद्धौ भाण्ड इति वा पाठः। सर्वदोषाकरः। बहुभिः सुवर्णैः=सुवर्णघटितैः भूषणैः, मण्डितः=विभूषितः, मडि-भूषायाम् (भ्वा. प. से.) इत्यतः क्तः स चासौ मर्कटश्चेति तत्सम्बोधने। कुत्सिते चेटि कः। नर्त्तकवानरवद्विविधकृत्रिमभावप्रदर्शक! उभयलोकविरुद्धम् = इहामुत्र विगर्हितम्। तव हृदयवत्कुलिटेन।

कर सकता है ? (क्रोध के साथ) अरे रे काणेली के पुत्र ! राजा के साले संस्थानक! उच्छृङ्खल! जनता को दूषित करने वाले पात्र! विविध सुवर्ण से अलंकृत बन्दर! कहो, कहो, मेरे सामने कहो—इस समय जो मेरा प्रिय मित्र पुष्पित माधवी लता को झुकाकर पुष्प-चयन नहीं करता कि कहीं उसे झुकाने से पल्लव न टूट जाय, वह दोनों लोकों के प्रतिकूल यह दुष्कार्य कैसे कर सकता है ? ठहर रे कुट्टिनी के पुत्र ! ठहर जबतक तुम्हारे हृदय के समान वक्र इस डण्डे से तुम्हारा मस्तक टुकड़े-टुकड़े करता हूँ।

शकारः—(सक्रोधम्) सुणन्तु अज्जमिश्शा ! चालुदत्ताकेण शह मम विवादे ववहाले वा, ता कीश एशे काकपदशीशमत्थका मम शिले शद-खण्डे कलेदि ?। मा दाव ले दाशीए पुत्ता ! दुट्टवडुका ! । (श्रृण्वन्तु श्रृण्वन्तु आर्यमिश्राः ! चारुदत्तेन सह मम विवादो व्यवहारो वा, तत् केन एष काकपदशीर्षमस्तकः मम शिरः शतखण्डं करोति ?। मा तावत रे दास्याः पुत्र ! दुष्टवटुक !)

(विदूषको दण्डकाष्ठमुद्यम्य पूर्वोक्तं पठति । शकारः सक्रोधमुत्थाय ताड-यति । विदूषकः प्रतीपं ताडयति । अन्योन्यं ताडयतो) विदूषकस्य कक्षदेशा-दाभरणानि पतन्ति)

शकारः—(तानि गृहीत्वा दृष्ट्वा ससाध्वसम्) पेक्खन्तु पेक्खन्तु अज्जा ! एदे क्खु ताए तवश्शिणीए केलका अलङ्काला (चारुदत्तमुद्दिश्य) इमश्श अत्थकल्लवत्तश्श कालणादो एशा मालिदा वावादिदा अ ! प्रेक्षन्तां प्रेक्ष-न्तामार्याः ! एते खलु तस्यास्तपस्विन्या अलंकाराः । अस्य अर्थकल्यवर्तस्य कारणा-देषा मारिता व्यापादिता च)

शकार इति—काकपदवत् (विषमम्) शीर्षं यस्य तत्सम्बुद्धौ । शीर्षमस्त-केति पुनरुक्तिः । मा तावत्=पुनर्मैवं वदेत्यर्थः ।

शकार इति—साध्वसेन=भयेन सहितम् । ससाध्वसम् 'दरस्त्रासो भीतिर्भीः साध्वसं भयम्' इत्यमरः । सभयम् । विदूषकः पुनरपि न ताडयेदिति भयम् । तपस्विन्याः=शोच्यायाः । वसन्तसेनाया इति भावः ।

शकार—(क्रोध के साथ) पूज्यवरो ! सुनिए—सुनिए । चारुदत्त के साथ मेरा विवाद या व्यवहार है, तो यह काकपद के समान मस्तक वाला पुरुष क्यों मेरा सिर टुकड़े-टुकड़े करता है ? ऐसा मत कर रे अधमपुत्र ! दुष्ट ब्राह्मण ;

(विदूषक काठ का दण्ड उठाकर पूर्वोक्त पढ़ता है । क्रोध के साथ शकार उठकर मारता है । विदूषक भी बदले में मारता है । परस्पर मार-पीट करते समय विदूषक के कांख से अलंकार गिरते हैं)

शकार—(उन्हें लेकर एवं देखकर भयपूर्वक) देखें, देखें, आर्यगण ! ये उसी तपस्विनी के अलंकार है । (चारुदत्त के प्रति लक्ष करके) इसी क्षणस्थायी अलंकार के कारण वसन्तसेना मारी गई ।

(अधिकृताः सर्वे अधोमुखाः स्थिताः)

चारु—(जनान्तिकम्)

अयमेवंविधे काले दृष्टो भूषणविस्तरः ।
अस्माकं भाग्यवैषम्यात् पतितः पातयिष्यति ॥ ३१ ॥

विदू—भो ! कीस भूदत्थं ण णिवेदीअदि ? । (भोः ! केन भूतार्थो न निवेद्यते ?)

चारु—वयस्य !

दुर्बलं नृपतेश्चक्षुर्नैतत् तत्त्वं निरीक्षते ।

अन्वयः—अस्माकम् भाग्यवैषम्यात् एवंविधे काले पतितः दृष्टः अयम् भूषणविस्तरः पातयिष्यति ।

अयमिति—अस्माकम् = मम, भाग्यस्य=प्रारब्धस्य वैषम्यात् = प्रातिकूल्यात् एवंविधे = अपराधनिर्णयात्मके काले = अवसरे पतितः = तव कक्षात् परिभ्रष्टः, दृष्टः = अधिकरणिकप्रभृतिभिः साक्षादवलोकितः, अयं भूषणविस्तरः = अलङ्कार-राशिः, पातयिष्यति = महाविपत्तिगर्त्ते मां भ्रंशयिष्यति । एतदवलोकनेन ममा-पराधस्य दृढीकरणादिति भावः ॥ ३१ ॥

सरलार्थः—शकारविदूषकयोः कलह एव मद्भाग्यदोषादापतितोऽयं भूषण-राशिः वसन्तसेनाहत्यप्रमाणमेव साधयिष्यति ॥ ३१ ॥

विदू इति—भूतः = सत्यः 'युक्ते क्ष्मादावृते (क्ष्मादौ = ऋते) भूतं प्राण्य-तीते'इत्यमरः । अर्थः = विषयः । तथाहि—'वसन्तसेनयैव मत्पुत्रकाय कनकशक-टिकानिर्माणार्थं दत्तानीमानि स्वर्णभूषणानि, मया पुनः वसन्तसेनायै प्रत्यर्पयितु-मस्य हस्ते समर्पितानि' इति कथं नाभि धीयते इति भावः ।

अन्वयः—नृपतेः चक्षुः दुर्बलम् एतत् तत्त्वम् न निरीक्षते, वस्तुतः केवलम् दैन्यम् एव, अश्लाघ्यम् मरणम् भवेत् ।

दुर्बलमिति—नृपतेः = नृपतिप्रतिनिधित्वेन वर्तमानस्य न्यायकर्तुः चक्षुः विचा-

---

(न्याय के अधिकारी वर्ग नीचे मुख करके स्थित होते हैं)

चारुदत्त—(धीरे से) हमलोगों के भाग्य के दोष से, इस विपत्ति के समय गिरा हुआ एवं न्यायकारियों से देखा हुआ यह अलंकारसमूह मुझे और भी विपत्ति सागर में डुबा देगा ॥ ३१ ॥

विदूषक—अजी ! सत्य बात क्यों नहीं कह दी जाती है ?

चारुदत्त—मित्र !

राजा के न्यायकर्ताओं की आँखें अशक्त हैं, वे तात्त्विक बात नहीं देखती हैं ।

केवलं वदतो दैन्यमश्लाघ्यं मरणं भवेत् ॥ ३२ ॥

अधि—कष्टं भोः ! कष्टम् ।

अङ्गारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः ।
ग्रहोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः ॥ ३३ ॥

त्मकं नेत्रम् एतत् तत्त्वम्=त्वयोक्तं सत्यार्थम् न निरीक्षते=नावलोकयति । ननूक्त्वा परीक्षताम् इत्याह—वदतः=सत्यार्थं कथयतः (मम) केवलं दैन्यम्=कातर्यम् एव (प्रकाशितं भवेदिहि शेष) तेन च अश्लाघ्यम्=प्रतिगर्हितम् मरणम्=प्राणदण्डः भवेत् । तथाहि—'मरणं वरमार्याणां न च दैन्यप्रकाशनम्' इत्यभियुक्तोक्तेः ॥३२॥

सरलार्थः—हे मित्र राज्ञो दृष्टिर्दुर्बला भवति ततो नात्र तत्त्वं द्रष्टुं समर्था, अतोऽपराधनिराकरणाय किमपि कथनं वृथैव भविष्यति, अस्माकं मरणं सुनिश्चितमेव दृश्यते ॥ ३२ ॥

अन्वयः—अङ्गारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः, पार्श्वे धूमकेतुः इव अयम्, अपरः ग्रह उत्थितः ।

अङ्गारकेति—अङ्गारकेण=मङ्गलग्रहेण विरुद्धस्य=जातवैरस्य,प्रक्षीणस्य=मकरराशिस्थितत्वेन नीचास्थनस्तितता दुर्बलस्य बृहस्पतेः तदाख्यग्रहस्य पार्श्वे धूमकेतुरिव=महोत्पातसूचकस्ताराविशेष एव । अयमपरो ग्रह उदितः । अयमर्थोऽत्र बोध्यः अङ्गारकेण विरोधः, नीचस्थानस्थितिः, पार्श्वे धूमकेतूदयश्च यथा बृहस्पतेरस्तक्रियायां हेतुस्तथैव शकाराभियोगः, दारिद्र्यम्, अयमपरोऽलंकारसमूहश्च चारुदत्तस्य ध्रुवं विनाशहेतुरित्याशयः । अतोऽत्र अप्रस्तुतात् समरूपात् बृहस्पतेः प्रस्तुतस्य समरूपस्य चारुदत्तस्य प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालंकारः । 'धूमकेतुरिवे' त्यंशे श्रौती उपमा सङ्करश्चानयोः । ग्रहाणामुच्चनीचत्वव्यवस्था चेत्थम्—'मेषो वृषस्तथा नक्रः कन्याकर्कझषास्तुला । सूर्यादीनां क्रमादेते कथिता उच्चराशयः । सूर्यादीनां जगुर्नीचं स्वोच्चभाच्च सप्तमम् इति ॥ ३३ ॥

सरलार्थः—विरुद्धमङ्गलग्रहतुल्यशकारस्य क्षीणबृहस्पतितुल्यचारुदत्तस्य पार्श्वे

तथा बात कहना केवल अपनी दीनता प्रकट करना है, लाभ कुछ नहीं है। फिर भी निन्दनीय मृत्यु होगी ही ॥ ३२ ॥

अधि०—दुःख है, दुःख ।

मंगल के विरुद्ध होने पर क्षीण बृहस्पति के बगल में यह दूसरा धूमकेतु ग्रह उदित हो गया है। (अर्थात शकार तो चारुदत्त के विरुद्ध था ही इधर विदूषक को काँख से आभूषण गिरकर उसके दोष को और भी पुष्ट करता है) ॥

श्रेष्ठिकायस्थौ—(विलोक्य वसन्तसेनामातरमुद्दिश्य) अवहिदा दाव अज्जा एदं सुवण्णभण्डअं अवलोएदु, सो ज्जेव एसो ण वेत्ति ।) अवहिता तावत् आर्या एतत् सुवर्णभाण्डकमवलोकयतु, तदेवेदं न वेति)

वृद्धा—(अवलोक्य) सरिसो एसो, ण उण सो । (सदृश एषः, न पुनः सः)

शकारः—आं बुड्ढकुट्टणि ! अक्खीहिं मन्तिदं वाआए मूकिदं । (आं वृद्धकुट्टनि ! अक्षिभ्यां मन्त्रितं वाचा मूकितम्)

वृद्धा—हदास ! अवेहि । (हताश ! अपेहि)

श्रेष्ठिकायस्थौ—अप्पमत्तं कधेहि, सा ज्जेव एसो ण वेत्ति । (अप्रमत्तं कथय, स एव एष न वेति)

वृद्धा—अज्ज ! सिप्पिकुशलदाये ओबन्धेदि दिट्ठिं, ण उण सो । (आर्य ! शिल्पिकुशलतया अवबध्नाति दृष्टिम्, न पुनः सः)

अयं विदूषकस्य कक्षाभागतो भूषणानां निपतनं धूमकेतुनामकान्यग्रहोदयनमिव जातम् । एतेनापराधः सप्रमाणो भविष्यति ।। ३३ ।।

शकार इति—अक्षिभ्यां मन्त्रितम् = सदृश एष इति कथितम् । (किन्तु) वाचा मूकितम् = 'न पुनः सः' इति वचसा तिरोहितम् । तथा च दृष्टश्चेत्कथं कथयसि न पुनः न इति भावः ।

श्रेष्ठि इति—अप्रमत्तम् = सावधानेनेति भावः ।

वृद्धाइति—शिल्पिनः = स्वर्णकारस्य कुशलतया = नैपुण्येन दृष्टिम् = मम चक्षुः अवबध्नाति = आकर्षति (अतिसादृश्यादिति भावः) ।

श्रेष्ठिका०—(देखकर, वसन्तसेना की माता के प्रति) सावधानी से आप इस सुवर्ण अलंकार को देखें कि यह आपका है या नहीं ?

वृद्धा—(देखकर) उस समान है, पर वही नहीं है ।

शकारः—अरी वृद्ध कुट्टिनी ! आँख से कहा, और वाणी से छिपा लिया ।

वृद्धा—हाय ! दूर हटो ।

श्रेष्ठिका०—सावधान होकर कहो कि यह वही है या नहीं ?

वृद्धा—आर्य ! शिल्पी की कुशलता मेरी दृष्टि को खींचती है, किन्तु यह अलंकार वही नहीं है ।

अधि—भद्रे ! अपि जानासि एतान्याभरणानि ?।

वृद्धा—णं भणामि,—णहु णहु अणभिजाणिदो अहवा कदावि सिप्पिणा घड़िदो भवे। (ननु भणामि—न खलु न खलु अनभिज्ञातः, अथवा कदापि शिल्पिना घटितो भवेत्)

अधि—पश्य श्रेष्ठिन् !।

वस्त्वन्तराणि सदृशानि भवन्ति नूनं
रूपस्य भूषणगुणस्य च कृत्रिमस्य।
दृष्ट्वा क्रियामनुकरोति हि शिल्पिवर्गः
सादृश्यमेव कृतहस्ततया च दृष्टम् ॥ ३४ ॥

जानासि—वसन्तसेनाया अयम् अन्यस्या वेत्यवगच्छसि ?

न खलु—(जानासि) (अयमलंकारसमूहः) अनभिज्ञात एव (मम) अथवा (पक्षान्तरमाह) शिल्पिना=चतुरस्वर्णकारेण (तथा) घटितो भवेत् = वसन्तसेनालंकारसदृशत्वेन निर्मितो भवेत्।

अन्वयः—कृत्रिमस्य रूपस्य भूषणगुणस्य च सदृशानि वस्त्वन्तराणि नूनम् भवन्ति। हि शिल्पिवर्गः कृतहस्ततया दृष्ट्वा क्रियाम् अनुकरोति, सादृश्यम् च दृष्टम् एव।

वस्त्विति—कृत्रिमस्य=रचितस्य 'ड्वितः क्त्रिः'। 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इत्येताभ्यामिदं सिद्धम्। रूपस्य तथा भूषणगुणस्य = सौन्दर्याधायकाकारप्रकारादेः, सदृशानि = तुल्यानि वस्त्वन्तराणि = अन्यान्यपि वस्तूनि नूनम्=निश्चयेन भवन्ति। हि = यतः शिल्पिवर्गः, कृतहस्ततया=शिक्षाप्रावीण्येन (हस्तकौशलेन) दृष्ट्वा = अन्यनिर्मितवस्तुगतनिर्माणकलाविशेषमभिलक्ष्य, क्रियाम् = तत्कृतिम् अनुकरोति=तदनुरूपेण वस्त्वन्तरं निर्माति, तयोः = अनुकार्यानुकरणयोः, सादृश्यम्=साम्यम् (अस्माभिः) च=अपि दृष्टमेव। अयमलङ्कारसमूहः वसन्तसेनाया एव नान्यस्येति वक्तुमशक्यम् यतः शिल्पिनो नैपुण्येन भूषणानां मिथोभेदेऽप्यभेदो दृश्यत एवेति भावः।

अधि०—भद्रे ! इन आभूषणों को जानती हो ?

वृद्धा—कहती हूँ,—ये आभूषण अनजान नहीं हैं, अथवा शिल्पी ने शायद बना दिया होगा।

अधि०—देखो श्रेष्ठी !

कृत्रिम आभूषणों के रूप के अनुरूप निश्चय ही दूसरे अलंकार बन जाते हैं। शिल्पी वर्ग शिक्षा की निपुणता से किसी वस्तु को देखकर उसी के सदृश अनुकरण कर लेते हैं। ऐसी घटनाएँ हमलोग—देख चुके हैं ॥ ३४ ॥

श्रेष्ठिकायस्थौ—अज्जचारुदत्तस्स केरकाइं एदाइं ? । (आर्यचारुदत्तीयान्येतानि)

चारु०—न खलु न खलु ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—ता कस्स ? । (तत् कस्य ?)

चारु०—इहात्रभवत्या दुहितुः ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—कधं एदाइं ताए विओअं गदाइं ? । (कथमेतानि तस्या वियोगं गतानि ?)

चारु०—एवं गतानि । आं इदम् ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—अज्जचारुदत्त ! एत्थ सच्चं वत्तव्वं । पेक्ख पेक्ख । (आर्यचारुदत्त ! अत्र सत्यं वक्तव्यम् । प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व)

अत्राप्रस्तुतप्रशंसालंकारः ॥ ३४ ॥

सरलार्थः—लोके कुशलः स्वर्णकारः यथा कस्यचनाभूषणस्याकृत्यादिकं दृष्ट्वा तदनुरूपं भूषणान्तरं निर्मातुं प्रभवति तथाऽत्रापि वसन्तसेनातिरिक्तजनस्यापि भूषणान्तरं भवितुमर्हति । ततो नेदं वसन्तसेनाभूषणमिति निश्चिनोमि ॥ ३४ ॥

श्रेष्ठि इति—चारुदत्तस्य इमानि चारुदत्तीयानि 'वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा' इति वृद्धसंज्ञायाम् 'वृद्धाच्छः' इति छः, 'आयनेयी'तीयादेशे रूपमिदम् ।

चारु इति—इह (वर्तमानायाः) अत्रभवत्याः=पूज्यायाः, दुहितुः=पुत्र्याः वसन्तसेनाया इत्यर्थः ।

चारुदत्त इति—एवम्=अनेन प्रकारेण । आम्=स्मरणे (एवं घटितम्) वसन्तसेनाया अभावे ममापि जीवनमनावश्यकमेवेतिमनस्यनुसन्धाय स्वीकारोक्तिप्रायमुक्तम् ।

श्रेष्ठिका०—आर्य चारुदत्त के ये अलंकार हैं ?

चारुदत्त—नहीं नहीं ।

श्रेष्ठिका०—तब किसके है ?

चारुदत्त—इस वृद्धा की लड़की के हैं ।

श्रेष्ठिका०—उससे वे अलंकार अलग कैसे हुए ?

चारुदत्त—इस प्रकार गये । हाय ! यह ।

श्रेष्ठिका०—आर्य चारुदत्त ! यहाँ सच बोलना चाहिए । देखो, देखो—

सच्चेण सुहं क्खु लव्भइ सच्चालावि ण होइ पादई।
सच्चं त्ति दुवेवि अक्खरा मा सच्चं अलिएण गूहेहि॥ ३५॥
(सत्येन सुखं खलु लभ्यते सत्यालापी न भवति पातकी।
सत्यमिति द्वे अपि अक्षरे मा सत्यमलीकेन गूहय॥ ३५॥)

चारु—आभरणानि आभरणानीति न जाने, किन्त्वस्मद् गृहादानीतानीति जाने।

शकारः—उज्जाणं पवेशिअ पढ़मं मालेशि, कवड़—कावेड़ि-आए शम्पदं णिगूहेशि। (उद्यानं प्रवेश्य प्रथमं मारयसि, कपट—कापटिकया साम्प्रतं निगूहसि)

अधि—आर्यचारुदत्त ! सत्यमभिधीयताम्।

सत्यमिति—सत्येन (सत्यवचसा) सुखम् लभ्यते खलु = निश्चयेन (जनैरिति शेषः) सत्यालापी (सत्यवक्ता) पातकी (पापी) न भवति। 'सत्यम्' इति अपि अक्षरे (वर्तते सारभूते इति शेषः) (अतः) सत्यम् अलीकेन अनृतेन, मा (न) निगूहय (आवृणु)। नीचेन महत् आवरणमतीवानुचितम् इति भावः। वैतालीयं छन्दः॥ ३५॥

सरलार्थः—आर्य ! चारुदत्त ! मृषा कथनेन सत्यं न निगूहय यत् सत्यं तत् कथय, यतः सत्यात् स्वर्गप्राप्तिरसत्यात् नरकावाप्तिः, वस्तुतः 'सत्यम्' इत्यक्षरद्वयमेव सर्वथा हितकरं लोके नान्यः॥ ३५॥

चारु इति—आभरणानि=भूषणानि, आभरणानि न जाने (किन्तु) अस्मद्गृहात्। आनीतानि इत्येव जाने।

शकार इति—कपटस्य=छलस्य, कापटिका=धूर्त्तता, तया।

सत्य से सुख प्राप्त होता है, सत्य बोलने वाला पतित नहीं होता है। अतः, सत्य इन दो सार अक्षरों को झूठ से न गूँथो॥ ३५॥

चारुदत्त—वही अलङ्कार है या नहीं यह मैं नहीं जानता, किन्तु मेरे घर से आया है—यह जानता हूँ।

शकार—पहले तो उद्यान में ले जाकर उसे मारा और अब कपट की धूर्तता से उसे छिपाते हो।

अधि०—आर्य चारुदत्त ! सच बोल —

इदानीं सुकुमारेऽस्मिन् निःशङ्कं कर्कशाः कशाः ।
तव गात्रे पतिष्यन्ति सहास्माकं मनोरथैः ॥ ३६ ॥

चारु—अपापानां कुले जाते मयि पापं न विद्यते ।
यदि सम्भाव्यते पापमपापेन च किं मया ॥ ३७ ॥

(स्वगतम्) न च मे वसन्तसेनाविरहितस्य जीवितेन कृत्यम् । (प्रकाशम्) भोः ! किं बहुना ।

इदानीमिति—सुकुमारे (ऋजौ) अस्मिन् तव गात्रे कर्कशाः (अतिकठिनाः) कशाः (वेत्रदण्डाः) 'अश्वादेस्ताडनी कशा' इत्यमरः, अस्माकम् मनोरथैः ("त्वं जीव'-इति स्वरूपकैः) सह, निःशङ्कम् (म्रियस्वजीव वेत्यपेक्षाशून्यम् यथा स्यात्तथा) इदानीम् पतिष्यन्ति । कर्कशकशाभिघातेन त्वज्जीवनं यथा लुप्तं भविष्यति तथैवास्माकं त्वज्जीवनाभिलाषा अपि । अत्र सहोक्तिलंकारः पतनक्रियारूपवस्तुनः सहार्थबलात् कशा-गात्रयोर्द्वयोः पदार्थयोरन्वितत्वात् तथाहि—'सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयो'रिति दर्पणोक्तेः ॥ ३६ ॥

सरलार्थः—सम्प्रति तव कोमलेऽस्मिन् शरीरे मदाज्ञया कर्कशाः कशा अस्माकं मनोरथैः सह पतिष्यन्ति । अतः सत्यं वद ॥ ३६ ॥

अपापानामिति—अपापानाम् कुले जाते मयि पापम् (वसन्तसेनाहत्यात्मकम्) न विद्यते, (तथापि) यदि पापम् सम्भाव्यते (युष्माभिर्मन्यते) तदा अपापेन च मया किम् ? (स्वमनसा धर्मात्मानमात्मानं मन्यता मया किं स्यादिति भावः) । अत्र आत्मनो निष्पापत्वे अपापकुलजातत्वं हेतुरिति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः ॥

सरलार्थः—निष्पापानां कुले समुत्पन्ने मयि पापं नास्ति । एवं सत्यपि यदि पापं निश्चीयते तर्हि 'अहं पापशून्योऽस्मी'तिकथनेन किम् अतो यद्रोचते भवते तत्करोतु ॥

स्वगतमिति—जीवितेन = जीवनेन, कृत्यम्=प्रयोजनम् न च = नास्तीत्यर्थः । तस्य दुःखमयत्वात् ।

इस समय तुम्हारे सुकुमार शरीर पर कठोर बेंत पड़ेंगे हमलोगों के मनोरथों के साथ, उन्हें निर्भीक हो कर सहो ॥ ३६ ॥

चारुदत्त—निष्कलंक कुल में पैदा होने वाले मुझमें पाप नहीं वर्त्तमान है, और यदि मुझमें पाप संभव है तो मुझ निष्पाप के जीवित रहने ही से क्या लाभ ? ॥ ३७ ॥

(मन ही में) मुझे वसन्तसेना के जीवन के बिना जीना व्यर्थ है । (प्रकट) बजी अधिक कहने से क्या लाभ ।

मया किल नृशंसेन लोकद्वयमजानता ।
स्त्रीरत्नञ्च विशेषेण शेषमेषोऽभिधास्यति ॥ ३८ ॥

शकारः—वावादिदा । अले ! तुमं पि भण—'मये वावादिदा' त्ति । (व्यापादिता । अरे ! त्वमपि भण—मया व्यापादिता इति)

चारु—त्वयैवोक्तम् ।

शकारः—शुणेध शुणेध भट्टालका ! एदेण मालिदा, एदेण ज्जेव शंशए छिण्णे । एदश्श दलिद्दचालुदत्ताश्श शालीले दण्डे धालीअदु । (शृणुत शृणुत भट्टारकाः ! एतेन मारिता, एतेनैव संशयश्छिन्नः । एतस्य दरिद्रचारुदत्तस्य शारीरो दण्डो धार्यताम्)

अधि—शोधनक ! यथाह राष्ट्रियः । भो राजपुरुषाः ! गृह्यतामयं चारुदत्तः ।

मयेति—व्याख्यातपूर्वमेतत् ।

सरलार्थः—मया इहलोकं परलोकं चाविदता क्रूरेण स्त्रीरत्नम्……अतः परमवशिष्टं पद शकारः एव कथयिष्यति नाहं वक्तुं समर्थः ॥ ३८ ॥

शकार इति—वाक्यशेषं पूरयति = व्यापादितेति ।

चारु इति—मदुक्तेः प्रयोजनाभाव इति भावः ।

शकार इति—भट्टारकाः = राजानः 'राजा भट्टारको देवः' इत्यमरः । निर्णेतारः इति यावत् । संशयः = 'अनेन मारिता, न वा' इति भ्रमः छिन्नः = अपाकृतः' तदनुमत्या तदपराधस्य सिद्धान्तितत्वात् (व्यापादितेति कथनादित्याशयः) शारीरः = शरीरस्यायमित्यर्थे 'तस्येदम्' इत्यण् । दण्डस्त्रिविधः, अर्थदण्डः-दैहिकदण्डः, प्राणदण्डश्चेति, तत्र, प्राणदण्डस्यैवात्रावसरः प्राणनाशहेतुकत्वात् ।

अधि इति—राष्ट्रियः = शकारः, यथाह = 'दण्डो धार्य्यता'मिति यथा आह, तदनुसारेणायं गृह्यतामित्यन्वयः बोध्यः ।

दोनों लोकों को नहीं जानने वाले कठोर मैंने स्त्री रत्न को—शेष शकार कहेगा । अर्थात् 'वसन्तसेना को मारा है' यह शकार कहेगा ॥ ३८ ॥

शकार—मार डाला । अरे ! तुम भी कहो कि मैंने वसन्तसेना को मार डाला ।

चारुदत्त—आपने तो कह ही दिया ।

शकार—सुनिए, सुनिए, सभ्यगण ! इसी ने मारा है, इसी ने संशय को भग्न भी कर दिया । इस दरिद्र चारुदत्त को शारीरिक दण्ड दीजिए ।

अधि०—शोधनक ! जैसा कि शकार कहता है—'राजपुरुषो ! इस चारुदत्त को पकड़ो ।

(राजपुरुषाः गृह्णन्ति)

वृद्धा—पसीदन्तु पसीदन्तु अज्जमिस्सा (जो दाव चोरेहिं अवहिदस्स इत्यादिपूर्वोक्तं पठति) ता जदि वावादिदा मम दारिआ, वावादिदा, जीवदु मे दीहाऊ। अण्णं च—अत्थि-पच्चत्थिणं ववहारो, अहं अत्थिणी, ता मुञ्चध एदं (प्रसीदन्तु प्रसीदन्तु आर्यमिश्राः। तद् यदि व्यापादिता मम दारिका, व्यापादिता, जीवतु मे दीर्घायुः। अन्यच्च अर्थिप्रत्यर्थिनोर्व्यवहारः अहमर्थिनी, तत् मुञ्चत एनम्)

शकारः—अवेहि गब्भदाशि ? गच्छ, किं तव एदिणा ? ! (अपेहि गर्भदासि ! गच्छ, किं तव एतेन)

अधि—आर्ये ! गम्यताम्। हे राजपुरुषाः ! निष्क्रामयतैनाम्।

वृद्धा—हा जाद ! हा पुत्तअ !। (इति रुदती निष्क्रान्ता) (हा जात ! हा पुत्रक !)

वृद्धा इति—व्यापादिता एव किन्तेनेति भावः। दीघायुः=चारुदत्तः (वात्सल्योक्तिरियम्)। जीवतु=प्राणदण्डोऽस्य मा भवतु। अन्यच्च=प्राणदण्डाभावे अन्यदपि कारणमस्तीति भावः। तथाहि—वसन्तसेनाया मातृत्वादहमर्थिनी, (मुद्दई) सैव कथयामि 'त्यज्यतामयं चारुदत्त' इति। तत्=तस्मात्कारणात् एनम्=चारुदत्तम्, मुञ्चत=त्यजत। शकारस्तु उदासीनः अस्ति, इति नात्र तस्याधिकार इति निष्कर्षः

अधि इति—एनाम् = वृद्धाम्। अत्रायमाशयः—प्राणहरणाभियोगे राजापि वादी (मुद्दई) भवति न तु मृतव्यक्तिपक्षीय एव केवलम् इति, तेन निश्चितेऽपराधे राज्ञ एवाधिकारः, दण्डं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुम्, अतः राजकीयव्यवस्थानुसारेण चारुदत्तस्य निग्रहरूपामुक्तिर्निश्चिता, न तु अनुग्रहरूपा मुक्तिः (मोचनम्) इत्याशयः

(राजपुरुष पकड़ते हैं)

वृद्धा—आप लोग प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। ('जिसे चोरों ने चुरा लिया' आदि पूर्वोक्त पुनः पढ़ती है) तो यदि मेरी पुत्री मारी गई तो मारी गई, यह (चारुदत्त) चिरजीवी जीवित रह जाय। फिर वादी-प्रतिवादी का व्यवहार है। मैं वादिनी हूँ अतः चारुदत्त को छोड़ दो।

शकार—दूर हट गर्भदासी ! जाओ, तुम्हें इससे क्या प्रयोजन है ?

अधि०—आर्ये ! जाओ, हे राजपुरुषो ! इसे निकालो।

वृद्धा—हा वत्स ! हा पुत्र ! (रोती हुई चली गई)

शकार :—(स्वगतम्) किदं मए एदश्श अत्तणो शलिशं । शम्पदं गच्छामि । (इति निष्क्रान्तः) (कृतं मया एतस्य आत्मनः सदृशम् साम्प्रतं गच्छामि)

अधि—आर्यचारुदत्त ! निर्णये वयं प्रमाणम्, शेषे तु राजा । तथापि शोधनक ! विज्ञाप्यतां राजा पालकः—

अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत् ।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह ॥ ३९ ॥

शोध—जं अज्जो आणवेदि । (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य सास्रम्) अज्ज ! गदम्हि तहिं । राआ पालओ भणादि—'जेण अत्थकल्लवत्तस्स

शकार इति—सदृशम् = आत्मयोग्यतानुरूपम् कर्म इत्यर्थः । कविना—वैचित्र्येण दुश्चरित्रचित्रणं चित्रितमित्यहो चित्रम् :

अधि इति—चारुदत्तस्य विश्वविदितसाधुतास्मरणात् आह—आर्यचारुदत्त इति । निर्णये=वादिप्रतिवाद्यपराधनिश्चये, वयम् = अहम् 'अस्मदो द्वयोश्च' त्येकत्वेऽपि बहुवचनप्रयोगः । प्रमाणम् = अधिकारवन्तः । शेषे = अपराधनिश्चयोत्तरम्, तु राजा समर्थ इति शेषः ।

अयमिति—अयम् विप्रः (चारुदत्तः) पातकी (हत्याकरणात्पाप्यपि), नहि वध्यः (ब्राह्मणजातीयत्वादवध्यः, तथाहि—मनुरब्रवीत्—'वपनं द्रविणादानं देशान्निर्यातनं तथा । एष हि ब्रह्मबन्धूनां वधो नान्योऽस्ति दैहिकः' इति) । तु किन्तु अक्षतैः (सम्पूर्णैः) विभवैः सह अस्मात् राष्ट्रात् (राज्यात्) निर्वास्यः (बहिष्कार्यः) । इति पालकं नृपति निवेदयेत्याशयः ॥ ३९ ॥

सरलार्थः—'अयं पापी ब्राह्मण, इति न हन्यव्य' इति मनोरादेशात् स्वकोयैर्धनैः सहाक्षतो राज्यःदस्मान्निष्कासनीयः ॥ ३९ ॥

शोध इति—अर्थकल्यवर्त्तस्य = क्षुद्रविभवस्य । डिण्डिमम् (ढोल) । मङ्क्त=

शकार—(मन में) मैंने इसके अनुकूल कार्य कर दिया । अब जाता हूँ । (चला गया)

अधि०—आर्य चारुदत्त ! निर्णय करने में हमलोग अधिकारी हैं और आगे राजा की इच्छा । फिर भी शोधनक ! राजा पालक को इसकी सूचना दे दो ।

मनु के अनुसार यह पातकी ब्राह्मण मारा नहीं जा सकता है । सम्पूर्ण वैभव के साथ इसे राष्ट्र से बहिष्कृत कर दो ॥ ३९ ॥

शोधनक—जैसी आप की आज्ञा । (बाहर चला गया, पुनः आकर सजल

कारणादो वसन्तसेणा वावादिदा, तं ताइं ज्जेव आहरणाइं गले बन्धिअ डिण्डिमं ताड़िअ दक्खिण-मसाणं णइअ सूले भज्जेध त्ति। जो को वि अवरो एरिसं अकज्जं अणुचिट्ठदि, सो एदिणा सणिआरदण्डेण सासीअदि।' (यदार्यं आज्ञापयति) आयाः! गतोऽस्मि तस्मिन्। राजा पालको भणति 'येन अर्थकल्यवर्त्तस्य कारणात् वसन्तसेना व्यापादिता, तं तान्येव आभरणानि गले बद्ध्वा डिण्डिमं ताडयित्वा, दक्षिण-श्मशानं नीत्वा, शूले भङ्क्त' इति। यः कोऽपि अपरः ईदृशमकार्यमनुतिष्ठति, स एतेन सनिकारदण्डेन शिष्यते)

चारु—अहो! अविमृश्यकारी राजा पालकः। अथवा—

ईदृशे व्यवहाराग्नौ मन्त्रिभिः परिपातिताः।
स्थाने खलु महीपाला गच्छन्ति कृपणां दशाम् ॥ ४० ॥

मारयत, निकारेण = निकृष्टीकरणेन (अनादरेण) सह यो दण्डः तेन। शिष्यते दण्डितो भवतीति भावः। शास् धातोः कर्मणि तिङ् 'शास इदङ्हलोः' इतीत्वम्। 'शासिवसिघसीनां'मिति षत्वम्।

चारु इति—अविमृश्यकारी = स्वयं विवेकशून्यः शास्त्रीयव्यवस्थाविचारशून्यश्च। कथमन्यथा मनूक्ति नानुसृतवानित्याशयः।

अन्वयः—ईदृशे व्यवहाराग्नौ मन्त्रिभिः परिपातिताः महीपालाः कृपणाम् दशाम् गच्छन्ति स्थाने खलु।

ईदृशे इति—व्यवहारः एव अग्निः = प्रतापाश्रयत्वाद्वह्निः तत्र। कृपणाम् = क्रूरत्व-रूपाम् दशाम् = अवस्थाम्। स्थाने खलु = युक्तमेव। शेषं स्पष्टम्। अधिकारिणामेव दूषणं नतु राज्ञ इत्याशयः। अत्राप्रस्तुतमहीपालसामान्यात्प्रस्तुतपालकरूपमहीपालविशेषप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालंकारः ॥ ४० ॥

नेत्र होकर) आर्यगण! मैं उसके पास से हो आया। राजा पालक कहते हैं कि जिस क्षणस्थायी अलंकार के कारण वसन्तसेना जिससे मारी गई है, उसके गले में उन्हीं अलंकारों को बाँधकर, नगाड़ा पीटकर, दक्षिण श्मशान में लेजाकर शूली पर चढ़ा दो। जो कोई दूसरा इस प्रकार का दुष्कार्य करेगा, वह इसी प्रकार घृणापूर्ण दण्ड से शिक्षा ग्रहण करेगा।

चारुदत्त—अरे! राजा पालक अविचारक है। अथवा—

मन्त्रियों के द्वारा इस प्रकार व्यवहाररूपी अग्नि में निक्षिप्त राजा शोचनीय अवस्था को प्राप्त करते हैं ॥ ४० ॥

अपि च—ईदृशैः श्वेतकाकीयैः राज्ञः शासनदूषकैः ।
अपापानां सहस्राणि हन्यन्ते च हतानि च ॥ ४१ ॥

सखे—मैत्रेय ! गच्छ, मद्वचनादम्बामपश्चिममभिवादयस्व । पुत्रञ्च मे रोहसेनं परिपालयस्व ।

विदू—मूले छिण्णे कुदो पादवस्स पालणं ? । (मूले छिन्ने कुतः पादपस्य पालनम् ?)

चारु—मा मैवम् ।

सरलार्थः—ईदृशे व्यवहारानले सचिवैः पातिता राजानो दयनीयां दशां प्राप्नुवन्ति । राज्ञां पतने सचिवा एव निमित्तं नान्ये ॥ ४० ॥

अन्वयः—श्वेतकाकीयैः, राज्ञः शासनदूषकैः, ईदृशैः, अपापानाम् सहस्राणि हन्यन्ते हतानि च ।

ईदृशैरिति—श्वेतकाकीयैः=शुभ्रवर्णकाकसदृशैः (बकतुल्यैः) अन्तःकृष्णैर्बहिरुज्ज्वलैरित्यर्थः । पाखण्डिभिरित्याशयः । राज्ञः=नियोक्तुः, शासनम्=नियमम् दूषयन्तीति तैः अन्यायेन निर्णयं कुर्वद्भिः । ईदृशैः=अधिकरणिकादिभिर्जनैः । अपापानाम्=धर्मात्मनाम् । सहस्राणि हन्यन्ते, हतानि च यथाहमिदानीमन्यायेन हन्यते । अत्राप्यप्रस्तुतप्रशंसा ॥ ४१ ॥

सरलार्थः—ईदृशैः कृष्णमपि काकं, श्वेतमिति ब्रुवाणैः नृपस्य शासनं दूषितं कुर्वद्भिः सचिवैः परःसहस्राः पापशून्या अपि वध्यन्ते घातिता अपि भवन्ति ।४१।

सख इति—अम्बाम्=जननीम्, अपश्चिमम्=अचरमम् । मन्मरणोत्तरं तस्यास्त्वमेव पुत्रस्थानीयः प्रणामं कुर्या इत्यर्थः । जननीमिव तां पालयेति भावः ।

विदू इति—मूले=त्वयि, छिन्ने=मृते, पादपस्य=रोहसेनस्य, कुतः=कथम् पालनम्=रक्षणम् ? । अप्रस्तुतप्रशंसा ।

चारु इति—एवं मा वदेति भावः ।

और भी—

इस प्रकार अनिष्ट जनक श्वेत कौए के समान राजा के शासन-दूषकों से हजारों निष्पाप प्राणी मारे गये हैं और मारे जाते हैं ॥ ४१ ॥

मित्र मैत्रेय ! जाओ, मेरे वचन से मेरी माता को पूर्णरूप से अभिवादन करो । मेरे पुत्र रोहसेन का भी पालन करना !

विदूषक—जड़ ही कट जाने पर वृक्ष का पालन कहाँ हो सकता है ?

चारुदत्त—ऐसा मत कहो ।

नृणां लोकान्तरस्थानां देहप्रतिकृतिः सुतः ।
मयि यो वै तव स्नेहो रोहसेने स युज्यताम् ॥ ४२ ॥

विदू—भो वअस्स ! अहं ते पिअवअस्सो भविअ, तुए विरहिदाई पाणाइं धारेमि ? । (भो वयस्य ! अहं ते प्रियवयस्यो भूत्वा, त्वया विरहितान् प्राणान् धारयामि ?)

चारु—रोहसेनमपि तावद्दर्शय ।

विदू—एव्वं जुज्जदि । (एवं युज्यते)

अधि—भद्र ! शोधनक ! अपसार्य्यतामयं बटुः ।

(शोधनकस्तथा करोति)

अधि—कः कोऽत्र भोः ! चण्डालानां दीयतामादेशः ।

नृणामिति—सुतः लोकान्तरस्थानाम् (मृतानाम्) नृणाम् देहप्रतिकृतिः ('आत्मा वै जायते पुत्रः' इति स्मृतेः साक्षात्प्रतिमूर्तिरेव) (अतः) तव मयि यःस्नेहः सः (मन्मरणानन्तरम्) रोहसेने युज्यताम् वै (ध्रुवम्) । अत्र परार्द्धं प्रति पूर्वार्द्ध-वाक्यार्थो हेतुरिति काव्यलिङ्गमेव । तथा चात्र 'स्युरेवं तु पुनर्वैवे, त्यवधारण-वाचकाः' इत्यमरप्रमाण्यात् 'वै' इत्यस्य निश्चयार्थतया न निरर्थकत्वदोषः ।४२।

सरलार्थः—परलोकं गतानां जनानां सुतः शरीरप्रतिकृतिर्भवति तस्मात् यावान् स्नेहो मयि तवासीत् तावान् स इदानीं रोहसेने मत्सुते भवतु—इति युक्तम् ।।४२।।

चारु इति—रोहसेनं दर्शय = पुत्रं द्रष्टुमिच्छामि, तं दर्शयेति भावः ।

आदेशः चण्डालानाम् = स्याच्चण्डालस्तु जनितो ब्राह्मण्यां वृषलेन यः'इत्यम-रोक्तानाम् । आदेशः = चारुदत्तवधाय आदेशः (आज्ञा) ।

सुत, मनुष्यों के परलोक जाने पर उसकी देह की प्रतिमूर्ति है । (आत्मा वै जायते पुत्रः) इसलिए मुझ पर जो तुम्हारा प्रेम है उसे रोहसेन में समर्पित कर दो ॥ ४२ ॥

विदूषक—हे मित्र ! तुम्हारा प्रिय मित्र होकर, तुमसे वियुक्त होकर मैं अपने प्राण को कैसे धारण कर सकता हूँ ?

चारुदत्त—तब तक रोहसेन को भी दिखला दो ।

विदूषक—हाँ, यह ठीक कहते हो ।

अधि०—भद्र शोधनक ! इस ब्राह्मण को हटाओ ।

(शोधनक उसे हटाता है)

अधि०—कौन है ? यहाँ कौन है ? चाण्डालों को आदेश दो ।

(इति चारुदत्तं विसृज्य निष्क्रान्ताः सर्वे राजपुरुषाः)

शोध—इदो आअच्छदु अज्जो। (इत आगच्छतु आर्यः)

चारु—(सकरुणम् 'मैत्रेय भोः ! किमिदमद्य' इत्यादि पठति। आकाशे)

विष-सलिल-तुलाग्नि-प्रार्थिते मे विचारे
क्रकचमिह शरीरे वीक्ष्य दातव्यमद्य।
अथ रिपुवचनात्त्वं ब्राह्मणं मां निहंसि
पतसि नरकमध्ये पुत्रपौत्रैः समेतः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—अद्य इह मे शरीरे क्रकचम् दातव्यम् वीक्ष्य विचारे विषसलिलतुलाग्निप्रार्थिते अथ रिपुवचनात् ब्राह्मणम् माम् निहंसि, पुत्रपौत्रैः, समेतः, त्वम् नरकमध्ये पतसि।

विषेति—'अद्य=अधुना इह=अस्मिन् मे=मम शरीरे=देहे क्रकचम्=करपत्रम् (आरा-इतिभाषा०) दातव्यम्=शाणदण्डार्थी चण्डालैः चालयितव्यम्' इति वीक्ष्य=चेतसि विचार्य विचारे=एतदभियोगनिर्णये विषम् सलिलम् तुला=तोलनयन्त्रम्, अग्निश्च एभिः प्रार्थिते=अर्थात् यद्ययमपराधी तदा विषसलिला दिपरीक्षया परीक्षस्व माम् तथाहि—'यद्यहं पापी भवेयं तदा विषपानेन मम चैतन्यलोपो भवतु' इति संकल्प्य विषं भक्षयेत्, तत्र पापसत्त्वे चैतन्यलोपः, इतरथा न, इति विषपरीक्षा। एवं संकल्प्य सलिले प्रविशेत् पापसत्त्वे निमज्जनम् अन्यथा न, इति सलिलपरीक्षा। एवं कृत्वा तुलात्मारोहेत् पापित्वे गुरुः अन्यथा लघुः, इति तुलापरीक्षा। तथासंकल्पेन अग्निप्रवेशे पापित्वे दाहः, अन्यथा नेत्यग्निपरीक्षा। तदाह योगी याज्ञवल्क्यः-'तुलाग्न्यापो विषं कोषो दिव्यानीह विशुद्धये। महाभियोगेष्वेतानि शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि' इति। एवंविधायां परीक्षायां याचितायामपि। अथानन्तरम् रिपोः शकारस्य वचनात् (यदि) ब्राह्मणम् माम् निहंसि=परीक्षा मकृत्वैव मारयसि (तदा) पुत्रपौत्रैः समेतः नरकमध्ये पतसि=पतिष्यसि। भविष्यत्यत्सामीप्ये वर्त्तमानता। निपराधस्य दण्डनादिति भावः। तथाहि—'अद-

---

(इस प्रकार चारुदत्त को निकाल कर सभी राजपुरुष चले गए)

शोधनक—इधर आइए आर्य !

चारुदत्त—(करुणापूर्वक, 'मित्र मैत्रेय ! यह आज क्या है।' आदि पढ़ता है। आकाश की ओर।)

आज मेरे शरीर पर चांडालों के द्वारा आरा चलेगा यह जानकर मैंने प्रार्थना की कि मुझे विष खिलाकर परीक्षा कर लो, जल में डुबाकर परीक्षा करलो,

अयमागतोऽस्मि ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति व्यवहारो नाम नवमोऽङ्कः ।

ण्डयान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् । अयशो महदाप्नोति नरकं चापि गच्छति ।' इति मनूक्तेः । मालिनी वृत्तम् ॥४३ ॥

सरलार्थः—विषभक्षण सलिलमज्जन-तुलारोहणाग्निस्पर्श-प्रभृतिदिव्यपरीक्षाद्वारा ममापराधनिश्चयं कृत्वा तदनु क्रकचेन मच्छरीरपाटनं युक्तमासीत् नतु केवलं शकारवचनमात्रेणैव मां ब्राह्मणं ब्रह्मकर्मनिष्ठं मारयसि, अतः हे पालक नृपाधम ! पुत्रपौत्रादिसहितस्त्वं नरकं याहि ॥ ४३ ॥

अयमिति—'इदो आअच्छदु अज्जो' इति पूर्वकथितवाक्यस्योत्तरमाह—अयमागतोऽस्मीति ।

दशमाङ्कस्य प्रारम्भे लेख्यं पद्यमिदम्—शकुनिकपटजाले (पाश) रजितं प्राज्यराज्यं द्रुतमुपगतमन्तं सान्वयं कौरवाणाम् । स्फुरति जयपताकाऽद्यापि सत्पाण्डवानां जगति जयति सत्यं नानृत भोः कदाचित् ।

नवमोऽङ्कः समाप्तः ।

तुला यन्त्र, या अग्नि से परीक्षा कर लो । किन्तु उस शत्रु शकार के वचन से यदि मुझ ब्राह्मण को उक्त परीक्षा किये बिना ही मार रहे हो, तो पुत्र और पौत्र के साथ तुम नरक के बीच में जा गिरोगे ॥ ४३ ॥

मैं यह आया ।

(सब चले गये)

व्यवहार नामक—नवम अङ्क समाप्त ।

दशमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चाण्डालद्वयेनानुगम्यमानश्चारुदत्तः)

उभौ—तक्कि ण कलअ कालणं णव–वह–बन्ध–णअणे णिउणा ।
अचिलेण शीश–छेअण शूलालोवेशु कुशलम्ह ॥ १॥
(तत् किं न कलय कारणं नव-वध-बन्ध-नयने निपुणौ ।
अचिरेण शीर्षच्छेदनशूलारोपेषु कुशलौ स्वः ॥ १ ॥)

ओशलध अज्जा ! ओशलध एशे अज्जचालुदत्ते । (अपसरत आर्याः ! अपसरत एष आर्यः चारुदत्तः)

दिण्ण–कलवील–दामे गहिदे अम्हेहि वज्झपुलिसेहिं ।

तत इति—चाण्डालद्वयेन = शूलारोपद्वयेन, अनुगम्यमानः = ध्रियमाणः ।

अन्वयः—तत् कारणम् किन्न कलय नववधबन्धनयने निपुणौ अचिरेण शीर्षच्छेदशूलारोपेषु कुशलौ स्वः ।

तदिति—पथ पृच्छतः पश्यतश्च जनान् प्रति उक्तिरियम् हे जनसमूह ! तत् = प्रसिद्धम्, कारणम् = दक्षिणश्मशाने अस्याकर्षणे हेतुम्, किम् = कथम्, न कलय = नावधारय, स्वयमेव किन्न जानीहि, तथा च नवौ = प्रतिदिन नवनवत्वेनादिश्यमानौ, यौ वधबन्धौ = मारण बन्धनञ्च तयोर्नयन = तदर्थं तत्कर्मोचितदेशे अपराद्धजनाकर्षणे, निपुणौ = आवां कुशलौ तथा अचिरेण शीर्षच्छेदनानि, शूलेषु आरोपाश्च तेषु कुशलौ स्वः । वधार्थमेवामुं वध्यस्थानं नयाव इत्याशयः । गाथाविशेषः ॥१॥

सरलार्थः—भोः त्वं कथं न हेतुं विद्धि दक्षिणमार्गेणावयोर्गमनस्य । आवां कस्यचनापराधिनो वधबन्धनव्यापारे कुशलौ स्वः । शीघ्रतया शिरश्छेदने शूलोपरि आरोपणे चावयोश्चातुर्यं सर्वे जानन्ति । सम्प्रति चारुदत्त शूलारोपणं कर्तुं, दक्षिणश्मशानं प्रति गन्तुमिच्छावः ॥ १ ॥

अपेति—अस्माकं गमनमार्गात् अपसरत = इतस्ततो भवत ।

(इसके बाद दो चाण्डालों के सहित चारुदत्त का प्रवेश)

दोनों चाण्डाल—आप इस श्मशान में आने का कारण क्यों नहीं सोचते ? हम दोनों हत्या और बन्धन के आकर्षण में दक्ष हैं तथा सहसा मारने एवं शूली पर चढ़ाने में निपुण हैं । अर्थात् हम लोग मनुष्यों का वध करने के लिए उन्हें यहाँ लाते हैं ॥ १ ॥

हटिए सज्जनगण ! हटिए । यह आर्य चारुदत्त—

मरण के समयानुकूल करवीर पुष्प की माला धारण किए हुए तथा प्राण-

दीवे व्व मन्दणेहे थोअं थोअं खअं जादि ॥ २ ॥
(दत्त-करवीर-दामा गृहोत आवाभ्यां वध्यपुरुषाभ्याम् ।
दीप इव मन्दस्नेहः स्तोकं स्तोकं क्षयं याति ॥ २ ॥)
चारु—(सविषादम्)
नयनसलिलसिक्तं पांशुरूक्षीकृताङ्गं पितृवनसुमनोभिर्वेष्टितं मे शरीरम् ।
विरसमिह रटन्तो रक्तगन्धानुलिप्तं बलिमिव परिभोक्तुंवायसास्तर्कयन्ति॥

अन्वयः—दत्तकरवीरदामा, आवाभ्याम् वध्यपुरुषाभ्याम् गृहीतः मन्दस्नेहः दीपः इव स्तोकम् स्तोकं क्षयम् याति ।

दत्तेति—दत्तम्=गले क्षिप्तम्, करवीरस्य-पुष्पविशेषस्य ('कनइल' इति लोके प्रसिद्धस्य) दाम=माल्यम् यस्य सः, प्राणदण्डाभियुक्तस्य गले करवीरकुसुममाल्यं बद्ध्वा वध्यस्थान वधाय नयनं भवति स्मेति तदानीन्तनी रीतिः श्रौती उपमा, आर्या जातिः ॥ २ ॥

सरलार्थः—धृतरक्तकरवीरपुष्पमाल्यं चारुदत्तः आवाभ्यां घातुकाभ्यां बद्धः क्षीणतैलः प्रदीप इव शनैः शनैः कथंचन क्षयं याति। गमनमार्गं त्यक्त्वाऽन्यत्र गच्छत यूयम् ।

अन्वयः—इह विरसम् रटन्तः वायसा नयनसलिलसिक्तम्, पांशुरूक्षीकृताङ्गम्, पितृवनसुमनोभिः वेष्टितम् रक्तगन्धानुलिप्तम्, मे शरीरम् बलिम् इव परिभोक्तुम् तर्कयन्ति ।

नयनेति—इदानीम् विरसम् = कर्णकटु यथा स्यात्तथा रटन्तः = शब्दं कुर्वन्तः वायसाः=काकाः, नयनयाः सोललेन = अश्रुणा (शोकवशाज्जायमानेनेति शेषः) सिक्तम् । पांशुभिः=धूलिभिः, रूक्षीकृतम्=धूसरीकृतम् अङ्गम् यस्य तत्, पितृवनस्य=श्मशानस्य 'श्मशानं स्यात्पितृवनम्' इत्यमरः । सुमनोभि=पुष्पैः वेष्टितम् तथा रक्तगन्धेन=रक्तचन्दनेन अनुलिप्तम् = संलिप्तम् यत् मम शरीरम् (वधात्परं शवरूपेण भूमौ लुण्ठितम् इति शेषः) । बलिम्=उपहाररूपेण दत्तमन्नपिण्डमिव, परिभोक्तुम् तर्कयन्ति = सम्भावयन्ति । सतताभ्यासादिति भावः । श्रौती उपमा, मालिनीवृत्तम् ॥ ३ ॥

सरलार्थः—मदीयं शरीरमश्रुसिक्तं धूलिधूसरितं श्मशानोद्भूतपुष्पयुक्तं रक्त-

दण्ड देनेवाले चाण्डालों से पकड़े हुए चारुदत्त, स्वल्प तेल वाले दीपक के समान धीरे-धीरे क्षीण हुए जा रहे हैं ॥ २ ॥

चारुदत्त—(दुःख के साथ) इस समय कर्कश शब्द करते हुए कौए, शोकातुर होने के कारण अश्रुजल से अभिषिक्त, धूलि से संस्काररहित रूखे अंगवाले, श्मशान के पुष्प से परिवेष्टित तथा लाल चन्दन से अनुलिप्त, वध के बाद भूमि में पड़ी मेरी देह को बलि के समान खाने के लिए अनुमान कर रहे हैं ॥ ३ ॥

चाण्डालौ—ओशलध अज्जा। ओशलध। (अपसरत आर्याः! अपसरत)

किं पेक्खध छिज्जन्तं शप्पुलिशा! काल-पलशु-धालाहिं।
शुणअ-शउणाधिवाशं शज्जणपुलिश-द्दुमं एदं ॥ ४ ॥

(किं प्रेक्षध्वे छिद्यमानं सत्पुरुषाः! कालपरशु-धाराभ्याम्।
सुजन-शकुनाधिवासं सज्जन-पुरुषद्रुममेतम् ॥ ४ ॥)

आअच्छ ले चालुदत्ता! आअच्छ। (आगच्छ रे चारुदत्त! आगच्छ)

चारु—पुरुषभाग्यानामचिन्त्याः खलु व्यापाराः; यदहमीदृशीं दशामनुप्राप्तः।

सर्वगात्रेण विन्यस्तै रक्तचन्दनहस्तकैः।

चन्दनानुलिप्त च दृष्ट्वा क्रूरस्वरेण शब्दं कुर्वन्तः बलिमिव भोक्तुं काका उत्प्रेक्षन्ते ॥ ३ ॥

अन्वयः—सत्पुरुषाः! कालपरशुधाराभ्याम् छिद्यमानम् सुजनशकुनाधिवासम् एतम् सज्जनपुरुषद्रुमम् किम् प्रेक्षध्वे?

किमिति—हे सत्पुरुषाः=प्रवरपुरुषाः कालस्य परशु धारयतः इति कालपरशुधारी ताभ्याम् 'कर्मण्यण्' इत्यण्। आवाभ्याम्=चाण्डालाभ्याम्, छिद्यमानम्, सुजनाः=सज्जना एव शकुनाः 'खग' इत्युपक्रम्य 'शकुन्तिपक्षिशकुनिशकुन्तशकुनद्विजाः' इत्यमरः। पक्षिणः तेषामधिवासभूतस्तम्। सज्जनपुरुषः एव द्रुमस्तम्। प्रेक्षध्वे? एतद्दर्शनं निषिद्धम् इत्याशयः। प्रमाणमग्रे वक्ष्यते। शकुनत्वारोपः द्रुमत्वारोपस्य निमित्तम् इति परम्परितरूपकमलंकारः। आर्याजातिः ॥ ४ ॥

सरलार्थः—किं यूयं विलोकयत? सत्पुरुषपक्षिणामावासवृक्षरूपमेतमार्यचारुदत्तं सम्प्रति दुर्दैववशात्कालपरशुधाराभिर्विदीर्यमाणम्? ॥ ४ ॥

चारु इति—पुरुषाणां स्त्रीणाञ्च भाग्यानामित्यर्थः। 'पुमान् स्त्रियेत्येकशेषः। अचिन्त्याः=अप्रतर्क्यविभवाः, व्यापाराः। दशामेव दर्शयति—

सर्वेति—पुरुषः अहम् सर्वगात्रेषु विन्यस्तैः (लिप्तैः) रक्तचन्दनहस्तकैः (रक्त-

---

दोनों चाण्डाल—दूर होइये, सज्जनो! दूर होइये।

हे सज्जनो! कालरूप कुठार की धाराओं से मारे जाते हुए साधु-जनरूप पक्षियों के आधार एवं सज्जनरूपी इस वृक्ष चारुदत्त को क्यों देखते हैं? ॥ ४ ॥

अरे चारुदत्त! आ।

चारुदत्त—पुरुषों के भाग्य का व्यापार (परिवर्तन) अचिन्तनीय है जो कि मैं इस प्रकार की शोचनीय अवस्था में पहुँच गया।

संपूर्ण शरीर पर हाथ से लाल चंदन का छापा मारा गया है तथा तिल,

पिष्टचूर्णावकीर्णश्च पुरुषोऽहं पशूकृतः ॥ ५ ॥
(अग्रतो निरूप्य) अहो ! तारतम्यं नराणाम् । (सकरुणम्)
अमी हि दृष्ट्वा मदुपेतमेतन्मर्त्यं धिगस्त्वित्युपजातवाष्पाः ।
अशक्नुवन्तः परिरक्षितु मां स्वर्गं लभस्वेति वदन्ति पौराः ॥ ६ ॥

चन्दनरचितहस्ताचिह्नैः (छाप) हस्त इव प्रतिकृतिरित्यर्थं 'इवे प्रतिकृतौ' इति कन् । पिष्टचूर्णैः (तण्डुलादिचूर्णैः) अवकीर्णः (व्याप्तः) च पशूकृतः (अपशुरपि बलि-पशुः कृतः) 'कृभ्वस्तियोग' इति च्विः । 'च्वौ चे'ति दीर्घः ॥ ५ ॥

सरलार्थः—यथा बलिदानसमये सर्वाङ्गेषु छागपशू रक्तचन्दनलिप्तहस्तचिह्नित-सर्वाङ्गस्तण्डुलपिष्टतिलचूर्णोद्धूलितो भवति तथाऽहमपि चारुदत्तो वध्यत्वेन जातः॥

अग्रत इति—तारतम्यम् = उच्चनीचत्वरूपं वैषम्यम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—हि अमी पौराः, एतत् मदुपेतम् दृष्ट्वा 'मर्त्यम् धिक् अस्तु' इति उपजातवाष्पाः माम् परिरक्षितुम् अशक्नुवन्तः 'स्वर्गम् लभस्व' इति वदन्ति ।

अमी इति—हि = तथाहि, अमी = एते पौराः=पुरे भवा जनाः पुरभवा इत्यर्थे 'तत्र भवः' इत्यनेनाण् एतत्=चित्रवधरूपं मरणम्, मयि उपेतम् 'सप्तमी'ति योग-विभागात्समासः मदुपेतम् । दृष्ट्वा मर्त्यम् = मरणधर्माणम्' म्रियत इत्यर्थे 'हसिमृ' इत्यादिना तन् । स्वार्थे यत् । धिक् अस्तु । 'हा ईदृशाऽपि साधुशीलः म्रियते' इत्युक्त्वा उपजातवाष्पाः = रुदन्तः । मां परिरक्षितुमशक्नुवन्तः (असमार्थ्यादिति भावः) हे चारुदत्त स्वर्गं लभस्व-इति (सानुकम्पम्) वदन्ति । अत्र राज्ञः तदधि-कारिणाश्चाविमृश्यकारित्वान्नीचत्वम् पौराणाश्चोत्तमत्वम् सत्संकल्पत्वादित्येवो-च्चनीचत्वमित्याशयः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ६ ॥

सरलार्थः—एते नागरिकाः सम्प्रति मां वध्यचिह्नयुक्तं बलिपशुतुल्यं दृष्ट्वाऽधि-कुर्वन्तो मयि सहानुभूतिदृष्ट्या साश्रवो विलपन्ताऽपि मद्रक्षणेऽसमर्थाः सन्तः 'स्वर्गं प्राप्नुहि'ति कथयन्ति संतप्तचित्ताः केवलं भवन्ति मद्दुर्दशानिरीक्षणेन ॥ ६ ॥

तण्डुल, कुंकुम आदि अनुलिप्त है; इस प्रकार पुरुष होता हुआ भी मैं पशु के समान कर दिया गया हूँ ॥ ५ ॥

(आगे की ओर देखकर) अरे ! मनुष्यों का उत्तम अधमत्व रूप वैषम्य देखिये (करुणापूर्वक) ।

ये पुरवासीगण मुझे अकारण वधरूप अपमान से दुःखित होते देखकर मनुष्यों की निन्दा करते हैं (कि ऐसे साधु पुरुष की भी इस प्रकार मृत्यु हो रही है ?) और उनकी आँखें अश्रु से परिपूर्ण हो जाती हैं। इस प्रकार मेरी रक्षा करने में असमर्थ होते हुए ये कहते हैं कि तुम्हें स्वर्ग प्राप्त हो ॥ ६ ॥

चाण्डालौ—ओशलध अज्जा ! ओशलध । किं पेक्खध ? । (अपसरत आर्याः ! अपसरत । किं प्रेक्षध्वे ?)

इन्देप्पवाहिअन्ते, गोप्पसवे संक्रमं च तालाणं ।
शुपुलिश-पाण-विपत्तो चत्तालि इमे ण दट्ठव्वा ॥ ७ ॥
(इन्द्रः प्रवाह्यमाणो गोप्रसवः संक्रमश्च ताराणाम् ।
सत्पुरुषप्राणविपत्तिः चत्वार इमे न द्रष्टव्याः ॥ ७)

एकः—हण्डे आहीन्ता ! पेक्ख पेक्ख । (हण्डे आहीन्त ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व)

णअली·पधाणभूदे वज्झअन्ते कदन्तअण्णाए ।
किं लुअदि अन्तलिक्खे ? आदु अणब्भे पड़दि वज्जे ? ॥१८॥
(नगरीप्रधानभूते वध्यमाने कृतान्ताज्ञया ।

अन्वयः—प्रवाह्यमाणः इन्द्रः, गोप्रसवः, ताराणाम् संक्रमः, सत्पुरुषाणाम् प्राण विपत्तिः च, इमे चत्वारः न द्रष्टव्याः ।

इन्द्र इति—प्रवाह्यमाणः = नद्यादौ प्रवाहयितुं नीयमानः, इन्द्रः = इन्द्रध्वजः । तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यं गोप्रसवः, ताराणाम्=ऋक्षाणाम् संक्रमः=संक्रान्तिः स्थानात्स्थाना-न्तरगमनम् सत्पुरुषाणाम् । प्राणविपत्तिः=मरणम् च इमे चत्वारः न द्रष्टव्याः (अशु-भाधायकत्वादिति शेषः) । तथाहि—कालिकापुराणे–'उत्थापयेत्तूर्यरवैः सर्वलोकस्य वै पुरः । रहो विसर्जयेत्केतुं विशेषोऽस्य प्रपूजने ॥ मैथुनञ्च गोप्रसवं केतुपातं सतो वधम् । नक्षत्राणाञ्च सञ्चारं शुभार्थी नावलोकयत्' इति ॥ ७ ॥

सरलार्थः—जलप्रवाहार्थं नीयमान इन्द्रध्वजः, प्रसवकालिकी गौः, तारापतनं, सत्पुरुषप्राणनाशश्चेति चतुष्टयं नावलोकनीयं सद्भिः ॥ ७ ॥

एक इति—हण्डे=नीचसम्बोधनमिदम् । आहीन्त ! 'डित्थादिवत् रूढः शब्दः' इति भट्टाचार्याः । द्वितीयस्य चाण्डालस्य नाम ।

अन्वयः—कृतान्ताज्ञया नगरीप्रधानभूते वध्यमाने किम् अन्तरिक्षम् रोदिति ? अथवा अनभ्रम् वज्रं पतति ?

नगरीति—कुतोऽपि कारणादुत्पद्यमानं महाशब्दं श्रुत्वा चाण्डालस्योक्तिरियम्-

---

चाण्डाल०—दूर हटिये सज्जनो ! दूर हटिये । क्या देखते हैं ?

विसर्जन करने के लिए ले जाते हुए इन्द्रध्वज, गौ का प्रसव, नक्षत्र का अधःपतन तथा सज्जन पुरुषों की आपत्ति–इन चारों दृश्यों को नहीं देखना चाहिए ॥ ७ ॥

एक—अरे भाई ! देखो-देखो—

दैव के आदेश से उज्जयिनी नगर के प्रधान पुरुष चारुदत्त को वध के लिए

किं रोदिति अन्तरिक्षम् ? अथवा अनभ्रं पतति वज्रम् ? ॥ ८ ॥)

द्वितीयः—अले गोहा ! (अरे गोह !)

णअ लुअदि अन्तलिक्खे णेअ अणब्भे पडदि वज्जे ।
महिलाशमूहमेहे णिवडदि णअणम्बुधाराहिं ॥ ९ ॥
(न च रोदित्यन्तरिक्षं नैवानभ्रे पतति वज्रम् ।
महिलासमूहमेघात् निपतति नयनाम्बु धाराभिः ॥ ९ ॥

अवि अ—वज्झम्मि णाअमाणे जणश्श शव्वश्श लोदमाणश्श ।
णअणशलिलेहि शित्ते लच्छातो ण उण्णमइ लेणु ॥ १० ॥

कृतान्तस्य = भाग्यस्य आज्ञया = निदेशेन नगर्याः = उज्जयिन्याः प्रधानभूते पुरुषे (चारुदत्ते) वध्यमाने सति ॥ ८ ॥

सरलार्थः—नागरिकशिरोमणौ चारुदत्ते यमतुल्यशासकस्याज्ञया आवाभ्यां निर्दोषाभ्यां वधार्थं नीयमाने सति अन्तरिक्षं किं रोदनं करोति, अथवा मेघरहितेऽप्याकाशे सत्यपि वज्रपातः ॥ ८ ॥

द्वितीय इति—गां हन्तीति गोहः तत्सम्बोधने । मूलविभुजादित्वात् कः । 'यचिमम्' मस्य टेर्लोपः । प्रथमचाण्डालस्य नाम ।

न चेति—अन्तरिक्षम् (गगनम्) न च रोदिति, नैव(वा)अनभ्रम् (अबलाहकम्) वज्रम् पतति । किन्तर्हि ? महिलासमूहः (चारुदत्तावलोकनाय प्रासादपृष्ठस्थस्त्रीसमूहः) मेघ इव 'उपमित व्याघ्रादिभि'रिति समासः) तस्मात् । धाराभिः (अविरलप्रवाहैः) नयनाम्बु निपतति । अत्र महिलासमुदाये समेघसाम्यं वाच्यम् नेत्राम्बुनि वृष्ट्युदकसाम्यञ्च गम्यभूतेन एकदेशविवर्त्तिनी उपमा, गीतिजातिः ।९।

सरलार्थः—नहि अन्तरिक्षं रोदनं करोति, नापि मेघरहितेऽपि नभसि वज्रपातो भवति, किन्तु नारीवृन्दजलदात् धारारूपेण शोकाश्रुजलं पतति ॥ ९ ॥

प्रस्तुत करने पर क्या आकाश रो रहा है ? अथवा बिना बादल के वज्रपात हो रहा है ? ॥ ८ ॥

द्वितीय—अरे गोह !

न तो आकाश ही रो रहा है और न बिना बादल के वज्रपात ही हो रहा है । किन्तु नारीवृन्दरूप मेघ से नेत्रजल की धारा गिर रही है । (अर्थात् चारुदत्त के मृत्युदण्ड का समाचार पाकर उज्जयिनी की सारी रमणियाँ रोने लगीं) ॥ ९ ॥

और भी—

चारुदत्त को वध के लिए ले जाते समय सभी मनुष्य रो पड़े, और उनके

(अपि च—वध्ये—नीयमाने जनस्य सर्वस्य रुदतः ।
नयनसलिलसिक्तो रथ्यातो न उन्नमति रेणुः ॥ १० ॥)

चारु—(निरूप्य सकरुणम्)

एताः पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो मां वातायनार्द्धेन विनिःसृतास्याः ।
हा ! चारुदत्तेत्यभिभाषमाणा बाष्पं प्रणालीभिरिवोत्सृजन्ति ॥ ११ ॥

चाण्डालौ—आअच्छ ले चालुदत्ता ! आअच्छ। इमं घोशणट्ठाणं, आहणेध डिण्डिमं, घोशेध घोशणं । (आगच्छ रे चारुदत्त ! आगच्छ । इदं घोषणास्थानम्, आहत डिण्डिमम्, घोषयत घोषणाम्)

वध्य इति—वध्ये (चारुदत्ते) नीयमाने रुदतः (तन्मरणविषादेनेति शेषः) सर्वस्य (नतु तत्परिवारस्यैव, एतेन सत्पुरुषत्वं व्यज्यते) जनस्य नयनसलिलेन सिक्तः रेणुः रथ्यातः प्रतोलीतः (रथ्या प्रतोली' इत्यमरः) (गली) न उन्नमति (नोत्तिष्ठति) । अत्र रथ्यातो रेणून्नमनसम्बन्धेऽपि तदसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलंकारः । आर्या जातिः ॥ १० ॥

सरलार्थः—वधार्थं नीयमाने चारुदत्ते नागरिकाणां सुजनानां रुदतामश्रुजलैः रथ्याभूमिः सिक्ता ततो धूलिरपि नोर्ध्वं याति ॥ १० ॥

अन्वयः—वातायनार्द्धेन विनिसृतास्याः एताः पुनः हर्म्यगताः स्त्रियः 'हा चारुदत्त !' इत्यभिभाषमाणाः प्रणालीभिः इव बाष्पम् उत्सृजन्ति ।

एता इति–वातायनस्य = गवाक्षस्य, अर्द्धेन विनिःसृतानि आस्यानि आननानि यासां ताः । एताः=वर्तमानाः पुनः हर्म्यगताः=प्रासादस्थाः स्त्रियः 'हा चारुदत्त' इति कथयन्त्यः प्रणालीभिः = पयोनालिकाभिः इव, बाष्पम्=अश्रुजलम् उत्सृजन्ति-(मम शोकाद्रुदन्तीति यावत्) अत्र 'प्रणालीभिरिवेतिजात्युत्प्रेक्षा, इन्द्रवज्रा वृत्तम्॥

सरलार्थः—इमा वाननां नार्यो निजभवनगवाक्षार्धभागेन बहिष्कृतमुखाः 'हा चारुदत्त' इति मिथ आलपन्त्यः प्रणालीभिरिवाश्रुधारां समुत्सृजन्ति ॥ ११ ॥

चाण्डालाविति—आहत=वादयतेति भावः । घोषणाम्=सर्वश्रव्यां राजाज्ञाम्

अश्रु जल से मार्ग आर्द्र हो गए जिससे धूल नहीं उड़ रही है ॥ १० ॥

चारुदत्त—(देखकर करुणापूर्वक)

ये महल में स्थित स्त्रियाँ खिड़की से मुख निकाल कर 'हा चारुदत्त !' इस प्रकार कहती हुई, पनाले के जलपात के समान आँसू गिरा रही हैं ॥ ११ ॥

दोनों चाण्डाल—आ रे चारुदत्त ! आ । यही घोषणा का स्थान है, नगाड़ा बजाओ और राजनिर्णय को घोषित कर दो।

उभौ—शुणाध अज्जा ! शुणाध । एशे शत्थवाहविणअदत्तश्श णत्तिके शाअलदत्तश्श पुत्तके अज्जचालुदत्ते णाम । एदिणा किल अकज्जकालिणा गणिआ वशन्तशेणा अत्थकल्लवत्तश्श कालणादो शुण्णं पुप्फकलण्डअ-जिण्णुज्जाणं पवेशिअ बाहुपाशवलक्कालेण मालिदेत्ति, एशे शलोत्ते गहिदे, शअं च पड़िवण्णे । तदो लण्णा पालएण अम्हे आणत्ता एदं मालेदुं । जदि अवले ईदिशं उअलोअविरुद्धं अकज्जं कलेदि, तं पि लाआ पालए एव्वं ज्जेव शाशदि । (शृणुत आर्याः । शृणुत । एष सार्थवाह-विनयदत्तस्य नप्ता सागरदत्तस्य पुत्रकः आर्यचारुदत्तो नाम । एतेन किल अकार्यकारिणा गणिका वसन्तसेना अर्थकल्यवर्त्तस्य कारणात् शून्यं पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं प्रवेश्य बाहु-पाशबलात्कारेण मारितेति, एष सलोप्त्रो गृहीतः, स्वयञ्च प्रतिपन्नः, ततो राज्ञा पालकेन वयमाज्ञप्ता एतं मारयितुम् । यद्यपर ईदृशमुभयलोकविरुद्धमकार्यं करोति, तमपि राजा पालक एवमेव शास्ति)

चारु—(सनिर्वेदं स्वगतम्)

मख-शत-परिपूतं गोत्रमुद्भासितं मे सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात् ।

लुप्यते=अन्तर्हितं क्रियते इति लोप्त्रम् = चोरितधनम् लुप्लृछेदने (तु० उ० से०) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । 'चोरिका—स्तैन्य—चौर्ये च स्तेयम्' इत्युपक्रम्य-'लोप्त्रन्तु तद्धनम्' इत्यमरः । तेन सहेति सलोप्त्रः । स्वयञ्च प्रतिपन्नः=स्वीकृत-वान् (कबूल किया) । अत्र विनयदत्तसागरदत्तादिपितृपितामहादिगुरुजनकीर्त्त-नात् प्रसङ्गो नाम विमर्शसन्धेरङ्गम्, 'प्रसङ्गो गुरुकीर्त्तनम्' इति दर्पणोक्तेः ।

अन्वयः—मखशतपरिपूतम्, मे गोत्रम् सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात् उद्भासितम् मरणदशायाम् वर्तमानस्य मम तत् पापैः असदृशमनुष्यैः घोषणा-याम् घुष्यते ।

मखेति—मखानाम्=यज्ञानाम् शतैः=अगणितयज्ञानुष्ठानेन, परिपूतम्=पवित्री-

---

दोनों—सुनिए आर्यगण ! सुनिए । यह व्यापारी विनयदत्त का नाती, सागरदत्त का पुत्र आर्य चारुदत्त है । इस दुष्कार्य करने वाले चारुदत्त ने क्षण-स्थायी धन (अलंकार) के लिए वेश्या वसन्तसेना को पुष्पकरण्डक पुरातन उपवन में ले जाकर बाहुपाश में आबद्ध कर मार डाला । वह अलंकार के साथ पकड़ा गया और स्वयं इसे स्वीकार भी कर लिया । इसलिए राजा पालक ने हम लोगों को इसे मारने के लिए आज्ञा दी है । यदि कोई दूसरा भी दोनों लोक के विरुद्ध ऐसा दुष्कार्य करता है तो उसे भी राजा पालक इसी प्रकार अनुशासित करते हैं ।

चारुदत्त—(दुःख के साथ, मन में) जो हमारा उत्तम-कुल पहले विविध

मम मरणदशायां वर्त्तमानस्य पापैस्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥

(उद्वीक्ष्य कर्णौ पिधाय) हा प्रिये ! वसन्तसेने !

शशि-विमल-मयूख-शुभ्र-दन्ति ! सुरुचिर-विद्रुम-सन्निभाधरोष्ठि ! ।
तव वदनभवामृतं निपीय कथमवशो ह्ययशोविषं पिबामि ॥ १३ ॥

कृतम् मे=(चारुदत्तस्य) यत् । गोत्रम्=कुलम्, सदसि=धार्मिकसभायाम् निबिडेषु=यज्ञनिमन्त्रितसमागतसभ्यसज्जनसमाकीर्णेषु चैत्येषु=यज्ञशालासु पूजोत्सवास्पदेषु च । चीयतेऽसौ चैत्याग्निः 'चित्याग्निचित्ये चे'ति साधुः । चित्यस्य=अग्नेः, इदम् गृहम्=चैत्यम्=यज्ञशालादिकम् । 'तस्येदम्' इत्यण् । ब्रह्मघोषैः=वेदध्वनिभिः पुरस्तात्=पूर्वम् उद्भासितम्=उत्कर्षेण प्रकाशितमासीत् । मरणदशायां वर्त्तमानस्य=मरणोन्मुखस्य, मम, तत् गोत्रम्, पापैः=पापकथाभिः—'धनलोभेन वसन्तसेना व्यापादिते'ति दुर्वृत्तान्तैः । असदृशमनुष्यैः=अयोग्यजनैः (चाण्डालैः) घोषणायाम् घुष्यते । तेन मम मत्कुलस्य च महल्लाञ्छनमिति भावः । अत्र पूर्वार्द्धपरार्द्धयोः सङ्घटनाकरणात् विषमालंकारः—'विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम्' इति दर्पणोक्तेः । मालिनी वृत्तम् ॥ १२ ॥

सरलार्थः—मम कुलं पुरा परःशतयज्ञैः सभायां मण्डपे वेदघोषैश्च पवित्रमिति जनैर्घोषितमासीत्, इदानीन्तु मम मृत्युसमये समुपस्थिते एतैः पापिभिर्जनैरनुचिता घोषणा क्रियते । इति परमसह्यं जायते ॥ १२ ॥

उद्वीक्ष्येति—उद्वीक्ष्य=आकाशे दृष्टिं बद्ध्वा, मृतवसन्तसेनया सहालापार्थमूर्ध्वावलोकनम् बोध्यम् ।

अन्वयः—शशिविमलमयूखशुभ्रदन्ति ! सुरुचिरविद्रुमसन्निभाधरोष्ठि ! तव वदनभवामृतम् निपीय, अवशः कथम् हि अयशोविषम् पिबामि ।

शशीति—शशिनः=चन्द्रमसः, विमलाः मयूखाः=पादाः, तद्वत् शुभ्राः=श्वेता दन्ताः यस्यास्तत्सम्बुद्धौ । 'नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्ते'त्यादिना ङीष् । तथा सुतरां रुचिरः=सुन्दरः, यः विद्रुमः=प्रवालः (मूंगा) तत्सन्निभः (अतिरक्तवर्णः) अधरः=अधस्ताद्वर्त्तमानः ओष्ठः यस्यास्तत्सम्बुद्धौ । अत्रापि पूर्ववत् ङीष् । तव वदनभवामृतम्=चुम्बनसमये अधरसुधारसम् इति भावः । निपीय (पश्चात्) अवशः=

यज्ञानुष्ठानों से पवित्र हो चुका है तथा सभा एवं निमन्त्रित मनुष्यों से आकीर्ण यज्ञमन्दिरों में वेद-ध्वनियों से पूर्णतया प्रकाशित हो चुका है, वही मेरा कुल मेरी मरणावस्था में पापी अयोग्य चाण्डालों के द्वारा घोषणा स्थल में पुकारा जा रहा है ॥ १२ ॥

(ऊपर देखकर और कानों को मूँदकर) हा प्रिये ! वसन्तसेने !!

चन्द्रमा की निर्मल किरण के समान उज्ज्वल दाँतों वाली ! मनोरम प्रवाल

उभौ—ओशलध अज्जा ! ओशलध । (अपसरत आर्याः ! अपसरत)

एशे गुण-लअणणिही शज्जणदुक्खाणं उत्तलणशेदू ।
असुवण्ण-मण्डणअं अवणीअदि अज्ज णअलीदो ॥ १४ ॥
(एष गुणरत्ननिधिः सज्जनदुःखानामुत्तरणसेतुः ।
असुवर्णमण्डनकम् अपनीयतेऽद्य नगरीतः ॥ १४ ॥)

पराधीनः (अहम्) कथं हि = केन रूपेण खलु । अयशः = अकीर्तिः एव विषम् तत् पिबामि । इति त्वं कथयेति भावः । अत्रापि संघटनया विषमालंकारः । पूर्वार्धेलुप्तोपमाद्वयम् 'अयशोविषम्' इति निरङ्गरूपकञ्चैत्येषां संसृष्टिः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ १३ ॥

सरलार्थः—हा चन्द्रकिरणतुल्यदशने ! सुन्दरविद्रुमसदृशाधरोष्ठि ! तव पुरा अधरामृतं पीत्वा कथं संप्रति दुष्कीर्त्तिविषं पिबेयम् । सुधापानोत्तरं विषपानं सर्वथा यद्यप्यसङ्गतं तथापि असमर्थतया जनस्तं करोत्येव ॥ १३ ॥

अन्वयः—गुणरत्ननिधिः, सज्जनदुःखानाम् उत्तारणसेतुः, एषः अद्य नगरीतः, असुवर्णमण्डनकम् अपनीयते ।

एष इति—गुणाः = शौर्यौदार्यादयः एव रत्नानि तेषाम् निधिः = समुद्रः, तथा सज्जनदुःखानाम् उत्तरणे = लङ्घने सेतुः (तत्स्वरूपः) एषः = चारुदत्तः, अद्य नगरीतः = उज्जयिनीतः, न विद्यते सुवर्णमण्डनम् = कनकभूषणम् यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा अपनीयते = दूरीक्रियते । लोके 'मुमूर्षुदशायां म्रियमाणस्य कर्णाक्षिनासिकादीन्यङ्गानि स्वर्णेन पूर्यन्ते' इति प्रायः प्रसिद्धिः । प्रमाणं शास्त्रे मृग्यम् । चारुदत्तस्यातिदारिद्र्यात्तदपि नेत्यहो महाकष्टकरमेतदित्याशयः । गाथा छन्द इति पृथ्वीधरः ॥ १४ ॥

सरलार्थः—अयं चारुदत्तः सद्गुणनिधिः सत्पुरुषदुःखसमुद्रोत्तारणाय सेतुरूपः सुवर्णादिरिक्तालङ्काररूपोऽद्य नगरीतो दूरीक्रियते, अस्य वधेन नगरी शून्या भविष्यति ॥ १४ ॥

के तुल्य अधरपल्लव वाली ! प्रियतमे ! तुम्हारे मुखरूपी अमृत का पान कर चुकने पर इस समय असहाय होकर मैं कैसे अयश रूप विष का पान कर रहा हूँ ? ॥

दोनों—बगल होइये सज्जनो ! बगल होइए ।

दया-दाक्षिण्य आदि गुणों के निधि सज्जनों के दुःख को पार करने में सेतु (पुल) ये चारुदत्त आज सुवर्ण-अलंकार से रहित होकर इस नगरी से बहुत दूर करके हटाए जा रहे हैं ॥ १४ ॥

अण्णं च—सव्वे क्खु होइ लोए लोओ सुहसण्ठिदाणं तत्तिल्ला ।
विणिवड़िदाणं णलाणं पिअकाली दुल्लहो होदि ॥ १५ ॥
(अन्यच्च—सर्वः खलु भवति लोके लोकः सुखसंस्थितानां चिन्तायुक्तः ।
विनिपतितानां नराणां प्रियकारी दुर्लभो भवति ॥ १५ ॥)

चारु—(सर्वतोऽवलोक्य)

अमी हि वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः प्रयान्ति मे दूरतरं वयस्याः ।
परोऽपि बन्धुः समसंस्थितस्य मित्रं न कश्चिद्विषमस्थितस्य ॥ १६ ॥

सर्वं इति—लोके (संसारे) सर्वः खलु लोकः (जनः) सुखसंस्थितानाम् (सम्पत्तिजन्यसौख्यवताम्) धनिनामिति भावः । चिन्तायुक्तः (मङ्गलकामनानुचिन्तनपरायणः) भवति । किन्तु विनिपतितानाम् (विपन्नानाम्) दरिद्राणाम् इति यावत् । प्रियकारी (शुभाकाङ्क्षी जनः) दुर्लभः भवति । 'अस्यैव चारुदत्तस्य सम्पत्तिसमृद्धिदशायां बहवोऽनुयायिनः शुभचिन्तकाश्चासन्, तस्यैव पुनरिदानीमकिञ्चनत्वावस्थायामेकोऽपि हितकारी न हि दृश्यते' । इत्याशयः । अत्राप्रस्तुतजनसामान्यात् प्रस्तुतचारुदत्तरूपपुरुषविशेषस्य प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः । गाथा छन्द इति पृथ्वीधरः ॥ १५ ॥

सरलार्थः—सुखिनां जनानां कृते जगति सर्वोऽपि जनश्चिन्तासमन्वितो भवति, परन्तु विपत्समुद्रे निमग्नानां जनानां कृते हितचिन्तको जनो दुर्लभ एव भवति ।

अन्वयः—अमी वयस्याः हि वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः मे दूरतरम् प्रयान्ति । समसंस्थितस्य परः अपि बन्धुः, विषमस्थितस्य कश्चित् मित्रम् न ।

अमीति—अमी-दूरतः दृश्यमानाः, वयस्याः = वयसा तुल्याः (समानावस्थाः सुहृद इत्यर्थः । "नौवयोधर्म..." इति यत् । 'वयस्यः स्निग्धः सवयाः' इत्यमरः । वस्त्रान्तेन = पटाञ्चलेन निरुद्धम् = गोपितम्, वक्त्रम् = मुखम् यैस्ते तादृशाः सन्तः मे= चारुदत्तस्य दूरतरम् = अतिदूरमार्गम्, प्रयान्ति (मामिमामवस्थामुपगतं दृष्ट्वा स्वाह्वानभयात् दूरत एव मुखं संगोप्य अपसरन्तीति भावः) । तथा च समस्थितस्य = सम्पन्नावस्थापन्नस्य परः=अन्यः, (असम्बन्ध्यपि जनः) बन्धुः = आत्मीयः भवति (लाभाशयेति शेषः) किन्तु विषमस्थितस्य=विपन्नावस्थापन्नस्य (जनस्य)

और भी—संसार में प्रायः सभी जन सुखी एवं धनशाली मनुष्यों के शुभेच्छु हुआ करते हैं । किन्तु विपत्ति में पड़े हुए मनुष्यों के प्रियकारी दुर्लभ होते हैं ॥ १५ ॥

चारु०—(चारों ओर देखकर) ये मेरे मित्रगण भी वस्त्र से मुख ढक कर मुझसे दूर हटकर जा रहे हैं । सम्पन्न अवस्था में अनात्मीय गण भी बन्धु हो जाते है किन्तु विपत्ति में पड़े रहने पर मित्र भी बन्धु नहीं बनता है ॥ १६ ॥

चाण्डालौ—ओशालणं किदं, विवित्तं लाअमग्गं, ता आणेध एदं दिण्णवज्झचिण्हं । (अपसारणं कृतम्, विविक्तो राजमार्गः, तदानयतैनं दत्त-बध्यचिह्नम्)

चारु—(निःश्वस्य 'मैत्रेय भो ! किमिदमद्य' इत्यादि पठति)

नेपथ्ये—हा ताद ! हा पिअवअस्स ! । (हा तात ! हा प्रियवयस्य ।)

चारु—(आकर्ण्य सकरुणम्) भोः स्वजातिमहत्तर ! इच्छाम्यहं भवतः सकाशात् प्रतिग्रहं कर्त्तुम् ।

चाण्डालौ—किं अम्हाणं हत्थादो पड़िग्गहं कलेशि ? । (किमस्माकं हस्तात् प्रतिग्रहं करोषि ?)

चारु—शान्तं पापम् । नापरीक्ष्यकारी दुराचारः पालक इव चाण्डालः । तत् परलोकार्थं पुत्रमुखं द्रष्टुमभ्यर्थये ।

काश्चत् = आत्मीयोऽपि मित्रम् = हितकारी न भवतीति शेषः । अत्र अर्थान्तरन्यासः उपजातिर्वृत्तम् ॥ १६ ॥

सरलार्थः—एते हि मे सुहृदो मद्दर्शनभिया वस्त्राञ्चलेन स्वस्वमुखं पिधाय दूरतरमार्गेण यान्ति । सत्यमुक्तं यत् सुखदशायामन्योऽपि जनः स्वजनवद् हितकारो भवति, विपत्तिदशायां तु स्वजनोऽपि परो भवति भाषणमपि कर्तुं नोत्सहते ॥ १६॥

चाण्डालाविति—विविक्तः = विजनः 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः । एनम् = चारुदत्तम् । वध्यचिह्नम् = करवीरदामादिकम् ।

नेपथ्य इति—'हा तात !' इति रोहसेनोक्तिः 'हा प्रिय वयस्य' इति विदूषकोक्तिः ।

चारु इति—स्वजातिषु = चाण्डालवर्गेषु महत्तरकः = सर्वमहान् ।

चाण्डालाविति—अस्माकम्=चाण्डालानाम् हस्तात् प्रतिग्रहम्=दानस्वीकरणम् ।

चारु इति—शान्तं पापम्=नैतद्वाच्यम् इत्यर्थः । चाण्डालहस्तात्प्रतिग्रहस्य निषे-

---

चाण्डाल—जनता को हटा दिया । राजपथ शून्य हो गया, अब चारुदत्त को, वध करने वाले समय के चिह्नों से ठीक कर ले आओ ।

चारुदत्त—(निश्वास लेकर, 'हे मैत्रेय ! आज यह क्या' आदि पढ़ता है)

नेपथ्य में—हा तात ! हा प्रिय मित्र ! ।

चारुदत्त—(सुनकर करुणापूर्वक) हे अपनी जाति के प्रधान चाण्डाल ! मैं आपके द्वारा कुछ दान लेना चाहता हूँ ।

चाण्डाल—क्या हम लोगों के हाथ से प्रतिग्रह करते हो ?

चारु०—इस प्रकार न कहो । अविचारक एवं दुराचारी पालक के समान

चाण्डालौ—एव्वं कलीअदु। (एवं क्रियताम्)

नेपथ्ये—हा ताद ! हा आवुक ! (हा तात ! हा आवुक !)

चारु—(श्रुत्वा सकरुणम्। 'भो। स्वजातिमहत्तर !' इत्यादि पठति)

चाण्डालौ—अले पउला ! खणं अन्तलं देध। एशे अज्जचालुदत्ते पुत्तमुहं पेक्खदु। (नेपथ्याभिमुखम्) अज्ज इदो इदो, आअच्छ ले दालआ ! आअच्छ। (अरे पौराः ! क्षणमन्तरं दत्त। एष आर्यचारुदत्तः पुत्र-मुखं प्रेक्षताम्। आर्य ! इत इतः, आगच्छ रे दारक ! आगच्छ)

(ततः प्रविशति दारकमादाय विदूषकः)

विदू—तुवरदु तुवरदु भद्दमुहो, पिदा दे मारिदुं णीअदि। (त्वरतां त्वरतां भद्रमुखः, पिता ते मारयितुं नीयते)

धादिति शेषः। एवञ्च 'प्रतिग्रह'मित्यस्यानुग्रहमित्यर्थः। 'अनुग्रहं मयि कुरु' इत्य-हमिच्छामिति तदर्थः। न च निग्रहसमर्थकस्य राज्ञोऽनुशासनेन विरुद्धमेतदस्माकं तदधीनानामिति वाच्यम्, चाण्डाला अपि भवन्तः समीक्ष्यकारिणः राजा तु पालको महाऽसमीक्ष्यकारीति स्वस्वस्वाभाविकत्वस्यातिभेदात्। ननु कोऽत्रानु-ग्रहः ? इत्याह—तदिति—परलोकार्थी = परलोके शुभगतिप्राप्त्यर्थम्। 'पुत्रमुख-दर्शनेनापि परमपुण्यप्राप्ते'रिति भावः।

नेपथ्य इति—अवति = रक्षति (भा० प० से०) बाहुलकादुकण्। 'अत उपधायाः' इति वृद्धिः। आवुकः = पिता 'अथावुकः पिता' इत्यमरः।

अन्तरम्—आगमनायावकाशम्। आर्य = विदूषक ! दारक = रोहसेन !।

विदू इति—भद्रम् = कल्याणकारकम् मुखं यस्य सः चारुदत्तपुत्रः।

चाण्डाल नहीं हैं। मैं परलोक के लिए पुत्र का मुख देखने की प्रार्थना करता हूँ।

चाण्डाल—ऐसा ही कीजिए।

नेपथ्य में—हे तात ! हे जनक !!

चाण्डाल—अरे पुरवासियो ! जरा अवकास दो; आर्य चारुदत्त अपने पुत्र का मुख देख लें। (नेपथ्य की ओर मुख करके) आर्य ! इस ओर से, आ रे बालक ! आ।

(इसके बाद बालक को लेकर विदूषक आता है)

विदूषक—जल्दी करो, जल्दी करो बालक ! तुम्हारे पिता मारने के लिए लाये जा रहे हैं।

दारकः— हा ताद ! हा आवुक ! । (हा तात ! हा आवुक !)

विदू—हा पिअवअस्स ! ! कहिं मए तुमं पेक्खिदव्वो ? । (हा प्रियवयस्य ! कस्मिन् मया त्वं प्रेक्षितव्यः ?)

चारु—(पुत्रं मित्रञ्च वीक्ष्य) हा पुत्र ! हा मैत्रेय ! । (सकरुणम्) भोः ! कष्टम् ।

चिरं खलु भविष्यामि परलोके पिपासितः ।
अत्यल्पमिदमस्माकं निवापोदकभोजनम् ॥ १७ ॥

किं पुत्राय प्रयच्छामि ? । (आत्मानमवलोक्य । यज्ञोपवीतं दृष्ट्वा) आं, इदं तावदस्ति मम च ।

विदू इति—प्रेक्षितव्यः = पुनरवलोकनीयः । संसारे न कदाचिदपीति भावः ।

चिरमिति—परलोके चिरम् खलु पिपासितः भविष्यामि, (कुतः ? इत्याह—इदमिति) प्रकरणागतेन पुत्रेण दास्यमानम् इदमित्याशयः, निवापस्य = पितृदानस्य 'पितृदानं निवापः स्यात्' इत्यमरः । उदकम् सपिण्डनादूर्ध्वं महालयादावत्सरे पित्रुद्देशेन पुत्रेण दीयमानः उदकाञ्जलिः । तद्रूपं भोजनम् अस्माकम् अत्यल्पम् = पुत्रस्याल्पवयस्कत्वात्तेन दीयमानमपि जलमत्यल्पमेव भविष्यतीत्याशयः । चिरेणायं तारुण्यं लप्स्यते तावदहं पिपासितः परलोके निवसिष्यामीति यावत् । अत्रकाव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ १७ ॥

सरलार्थः—अहं मरणोत्तरं परलोकेऽपि पिपासाकुलो भवेयम् तस्मिन् समये दीयमानमपि सर्वसाधारणं तिलोदकदानं पिण्डार्पणं च तृष्णाप्रशमाय नालं भविष्यति । यतोऽहं सांसारिकसुखे सतृष्णः सन्नसमये परलोकं यामि ॥ १७ ॥

किमिति—आत्मनोऽकिञ्चनत्वात्खेदं करोति—किं पुत्राय प्रयच्छामीति । आम् =

बालक—हा तात ! हा जनक !!

विदूषक—हा प्रिय मित्र ! अब किसी स्थान पर मैं तुम्हें देख सकता हूँ ?

चारुदत्त—(पुत्र और मित्र को देखकर) हा पुत्र ! हा मैत्रेय !! (करुणापूर्वक) हाय ! कष्ट का विषय है—

परलोक में मैं चिरकाल तक पिपासाकुल रहूँगा । पुत्र से दिया हुआ पितृजल हमारे भोजन के लिए बहुत अल्प होगा । (अर्थात् हमारा पुत्र अभी सात ही वर्ष का है अतः जब तक वह बड़ा न हो जायगा तब तक मुझे परलोक में जल कैसे मिल सकेगा ?) ॥ १७ ॥

मैं पुत्र के लिए क्या दूँ ? (अपने अंगों पर दृष्टि दौड़ा कर तथा यज्ञोपवीत

अमौक्तिकमसौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम् ।
देवतानां पितॄणाञ्च भागो येन प्रदीयते ॥ १८ ॥
(इति यज्ञोपवीतं ददाति)

चाण्डालः—आअच्छ ले चालुदत्ता ! आअच्छ । (आगच्छ रे चारुदत्त ! आगच्छ)

द्वितीयः—अले ! अज्जचालुदत्तं णिंलुववदेण णामेण आलवशि ? । अले ! पेक्ख । (अरे ! आर्यचारुदत्तं निरुपपदेन नाम्ना आलपसि ? । अरे ! प्रेक्षस्व)

अब्भुदए अवशाणे तहे अ लत्तिन्दिवं अहदमग्गा ।
उद्दामे व्व किशोली णिअदी क्खु पड़िच्छिदं जादि ॥ १९ ॥

स्मरणार्थं । मिदमव्ययम् । इदम् = यज्ञापवीतम् देयमस्तीति शेषः ।

अन्वयः—अमौक्तिकम्, असौवर्णम्, ब्राह्मणानाम् विभूषणम्, येन देवतानाम् पितॄणाम् च भागः प्रदीयते ।

(इदं यज्ञोपवीतम्) अमौक्तिकमिति अमौक्तिकम् = मुक्ताभिरासंचितम् असौवर्णम्, सुवर्णैः रहितम् ब्राह्मणानाम् विभूषणम् = विशिष्टम् भूषणम् । एतदाश्रित्यैव ब्राह्मवर्चस्काभिवृद्ध्या जगत्पूज्यत्वलाभादिति भावः । येन=यज्ञोपवीतेन देवतानां भागः = अर्चनादावुपहाररूपेण भोजनांशः, पितॄणाञ्च भागः = श्राद्धादौ पिण्डादिरूपः प्रदीयते । 'सर्वत्रोपवीतिना भाव्यम् । 'प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा । पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद् दर्भपाणिना' इत्यादिस्मरणात् ॥१८॥

सरलार्थः—इदं यज्ञोपवीतं ब्राह्मणानां कृते मुक्तासुवर्णातिरिक्तं सदपि वस्तुतो भूषणस्वरूपं, यतोऽनेनैव देवपितृकार्यं कर्त्तुं प्रभवन्ति ते ॥ १८ ॥

द्वितीय इति—निरुपपदेन = आर्य-श्री पूज्येत्याद्युपाधिशून्येन ।

अन्वयः—अभ्युदये, अवसाने अहतमार्गा तथैव नियतिः, उद्दामा किशोरी इव रात्रिन्दिवम् खलु प्रतीष्टम् याति ।

देखकर) अच्छा यह हमारे पास भी है ।

यज्ञोपवीत बिना मोती से गूँथा हुआ तथा बिना सुवर्ण का बना हुआ ब्राह्मणों का परम अलंकार है; जिसके द्वारा देवता तथा पितरों का अंश दिया जाता है ॥ १८ ॥

(यज्ञोपवीत देता है)

चाण्डाल—आ रे चारुदत्त ! आ ।

द्वितीय—अरे ! बिना उपाधि के ही आर्य चारुदत्त का नाम पुकार रहे हो ? अरे देखा—उन्नति और अवनति में रात्रि और दिन की अप्रतिहत गति रहती है,

(अभ्युदये अवसाने तथैव रात्रिन्दिवमहतमार्गा ।
उद्दामेव किशोरी नियतिः खलु प्रतीष्टं याति ॥ १९ ॥
अण्णं च—शुक्खा ववदेशा शे किं पणमिअ मत्थए ण कादव्वं ।
लाहुगहिदे वि चन्दे ण वन्दणीए जणपदश्श ? ॥ २० ॥
(अन्यच्च—शुष्का व्यपदेशा अस्य किं प्रणम्य मस्तके न कर्त्तव्यम् ।
राहुगृहीतोऽपि चन्द्रो न वन्दनीयो जनपदस्य ? ॥ २० ॥)

अभ्युदय इति—अभ्युदये = समुन्नतौ अवसाने = अवनतौ तथैव = तेनप्रकारेण अहतः = केनाप्यनिवार्यः मार्गः = प्रवृत्तिपथः यस्या सा तादृशी नियतिः = भाग्यम् 'भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः । नियच्छति इति विग्रहे'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' इति क्तिच् । नियम्यतेऽनयेत्यर्थे 'स्त्रियां क्तिन्' इति क्तिन् वा । उद्दामा = उन्मुक्तं दाम = बन्धनं यस्याः सा, किशोरी=हस्तिनी इव रात्रिन्दिवम्= अहोरात्रम् 'रात्रौ च दिवा चेत्यर्थे 'अचतुरविचतुरे'त्यादिना निपात्यते । खलु (सर्वकालमेव) प्रतीष्टम् = यथेष्टम् याति । भाग्ये नैतादृशी दशामयमुपगतस्तेन न कश्चिदस्य गौरवहानिरिति भावः । अत्र श्रौती उपमा । आर्या जातिः ॥ १९ ॥

सरलार्थः—उन्नतौ, अवनतावपि सर्वदा नियतिः (विधेरिच्छा) यौवनमदोन्मत्ता किशोरी इव अप्रतिहतगमना सती प्रणयिनमिव जनं कामयितुं याति अर्थात् यथा कदाचित् प्रणयार्थं याति कदाचित् प्रणयकलहं कृत्वा ततो विरक्ता भवति तथा विधेरिच्छापि कदाचित् सुखं ददाति कदाचिच्च दुःखं ददाति ॥ १९ ॥

अन्वयः—व्यपदेशाः शुष्काः, तस्य प्रणम्य मस्तके न कर्त्तव्यम् किम् राहुगृहीतः अपि चन्द्रः जनपदस्य न वन्दनीयः ?

ननु विभवलोभात्स्त्रीघातं कुर्वाणोऽयं कथन्नावमान्य इत्याह—

शुष्का इति—व्यपदेशाः = कपटस्वरूपाः (वसन्तसेनाहत्यापवादाः), शुष्काः= मिथ्याभूताः । अस्य (कुलशीलादिकमिति शेषः) प्रणम्य मस्तके न कर्त्तव्यम्=न धार्यं किम् ? अपि तु कर्त्तव्यमेव । ननु शकारेण नारीवधापराधोपरोधेनायं दूषित- इति कथमादरणीय इत्याशङ्कायामाह 'राहु' इति—राहुणा गृहीतः=ग्रस्तः अपि चन्द्रः=शशी आह्लादकः चन्दतीत्यर्थे 'चदि आह्लादने' (भ्वा. प. से.) इत्यस्मात् 'स्फायितञ्चिवञ्ची'त्यादिना रक् । सर्वानन्दप्रद इति भावः । जनपदस्य = तद्वासिनः जनस्य न वन्दनीयः ? = अपि तु वन्दनीय एव अत्र जनपदवन्द्यरूपधर्मसाम्यवतः

उनके क्रम में कोई विकार नहीं आता । उन्मुक्तबन्धना यौवनसम्पन्ना हस्तिनी के समान दैव स्वच्छन्द गति से चलता है । नियति की गति दुर्निवार है ॥ १९ ॥

और भी—झूठे दोषारोपण के कारण क्या माथे चारुदत्त का कुल, नाम आदि

बालकः—अरे रे चाण्डाला! कहिं मे आवुकं णेध ?। (अरे रे चाण्डालाः कुत्र मम पितरं नयत ?)

चारु—वत्स !

अंसेन बिभ्रत् करवीरमालां स्कन्धेन शूलं हृदयेन शोकम्।
आघातमद्याहमनुप्रयामि शामित्रमालब्धुमिवाध्वरेऽजः॥ २१॥

चन्द्ररूपस्य वस्तुनः प्रकृतचारुदत्तवन्द्यत्वबोधनार्थं प्रतिबिम्बभावेनावस्थापनात् दृष्टान्तालंकारः। आर्या जातिः॥ २०॥

सरलार्थः—अस्य 'अरे चारुदत्ते'ति निरुपाधिशून्यं नामोच्चारणं कथं क्रियते ? अयं सादरं शिरसा नमस्करणीयः, यतो राहुग्रस्तोऽपि चन्द्रो जनैरभिवन्दनीय एव भवति॥ २०॥

अंसेनेति—अंसेन=गलेन 'अंसः स्कन्धे विभागे चे'ति विश्वः। करवीरमालाम् (तत्कुसुममालाम्)। स्कन्धेन शूलम्, हृदयेन शोकम् (अकालमृत्युजनितां शुचम्) बिभ्रत् (वहन्) (अहम्) अध्वरे (यज्ञोत्सवे) अजः (छागः) इव आघातम् (प्रहारम्) आलब्धुम् (संलब्धुम्) अद्य (अधुना) शामित्रम् (वध्यदेशम्) ('शमित्रा यज्ञे'इत्येतन्निष्पन्नशमितृशब्दात् शमितरि भवम् इत्यर्थे 'तत्र भवः'इत्यनेनाण्) अनुप्रयामि पश्चाद्गच्छामि। अत्र अप्रस्तुतानां करवीरमालादीनां त्रयाणां 'बिभ्रद्' इत्येकया क्रिययाऽभिसम्बन्धात्तुल्ययोगिता, 'अध्वरे अज इवे'ति श्रौती उपमा चानयोः परस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः। इन्द्रवज्रा वृत्तम्॥ २१॥

सरलार्थः—वत्स ! अहं सम्प्रति चारुदत्तस्त्वत्पिता वध्यपुरुषोचितचिह्नत्वेन रक्तकरवीरस्रजं कण्ठदेशे, स्कन्धेन शूलं स्वघातसाधनं, मनसा शोकं च दधानः, यज्ञे बलिरूपश्छाग इव वध्यस्थानं दक्षिणश्मशानम् समुद्दिश्य तत्र मरणमन्वासादितम् अत एतौ घातकौ चाण्डालौ अनुगच्छामि नानयोरत्र कोऽपि दोषः किन्तु मद्विपरीतदैवस्येति क्रोध एनयोर्न कार्यः॥ २१॥

प्रणाम करके मस्तक पर रखने योग्य नहीं है ? राहु से ग्रसित चन्द्रमा क्या जनता से पूजनीय नहीं होता है ?॥ २०॥

बालक—अरे रे चाण्डालो ! मेरे पिता जी को कहां लिये जा रहे हो ?

चारुदत्त—पुत्र !

कंठ में करवीर की माला धारण कर, कंधे में शूल तथा हृदय में शोक धारण कर मैं, यज्ञ में छाग के समान वध प्राप्त करने के लिए इस समय वध्यस्थान पर इन चाण्डालों के पीछे-पीछे जा रहा हूं॥ २१॥

चाण्डालः—दालआ ! । (दारक !)

ण हु अम्हे चाण्डाला चाण्डालउलम्मि जादपुब्बा बि ।
जे अहिभवन्ति शाहुं ते पाबा ते अ चाण्डाला ॥ २२ ॥
(न खलु वयं चाण्डालाः चाण्डालकुले जातपूर्वा अपि ।
ये अभिभवन्ति साधुं ते पापास्ते च चाण्डालाः ॥ २२ ॥

दारकः—ता कीस मारेध आवुकं ? । (तत् केन मारयत आवुकम् ?)

चाण्डालः—दीहाओ ! अत्त लाअणिओओ क्खु अबलज्झदि, ण क्खु अम्हे । (दीर्घायुः ! अत्र राजनियोगः खलु अपराध्यति, न खलु वयम्)

दारकः—वावादेध मं, मुञ्चध आवुकं। (व्यापादयत माम्, मुञ्चत आवुकम्)

चाण्डालः—दीहाओ ! एवं भणन्ते चिलं मे जीव । (दीर्घायुः ! एवं भणन् चिरं मे जीव)

नेति—चाण्डालकुले = अन्त्यजवंशे जातपूर्वा अपि वयम् न खलु चाण्डालाः, (जन्मना चाण्डालाः न तु कार्यणेत्याशयः) तर्हि के ते ? इत्याशङ्क्याह—'ये' इति । ये = जनाः साधुम् अभिभवन्ति=पीडयन्ति, ते पापाः, चाण्डालाश्च । स्पष्टम् । अत्र सत्यपि चाण्डालकुलजन्मस्वरूपे कारणे तत्कार्यस्य चाण्डालत्वस्याभावाद्विशेषोक्तिः । आर्या जातिः ॥ २२ ॥

सरलार्थः—अस्माकं केवलं चाण्डालकुले जन्मैव किन्तु न वयं कर्मणा चाण्डालाः, वस्तुतस्तु त एव चाण्डाला ये सत्पुरुषं निरपराधमपि सन्तं मारयन्ति संतापयन्ति वा राजस्यालकशकारसदृशाः पालकनृपतितुल्या वा ॥ २२ ॥

चाण्डाल इति—नियोगः = आज्ञा

दारक इति—यदि मानवो मारणीय एव तर्हि मामेव मारय मम पितरं त्यजेति भावः ।

चाण्डाल—बालक !

चाण्डाल-कुल में उत्पन्न होने पर भी हम लोग चाण्डाल नहीं हैं। किन्तु जो साधुजन को पीड़ित करते हैं वे ही पापी हैं एवं चाण्डाल हैं ॥ २२ ॥

बालक—तब मेरे पिता को कौन मारता है ।

चाण्डाल—चिरंजीवी ! इसका अपराधी राजा का आदेश है, हमलोग नहीं ।

बालक—मुझे मार डालो और पिता जी को छोड़ दो ।

चाण्डाल—दीर्घायु ! इस प्रकार कहते हुए तुम चिरंजीवी होओ ।

चारु—(साश्रं पुत्रं कण्ठे गृहीत्वा)

इदं तत् स्नेहसर्वस्वं सममाढ्यदरिद्रयोः ।
अचन्दनमनौशीरं हृदयस्यानुलेपनम् ॥ २३ ॥

('अंसेन बिभ्रत्' इत्यादि पुनः पठति । अवलोक्य स्वगतम् । 'अमी हि वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः' इत्यादि पुनः पठति)

विदू—भो भद्दमुहा ! मुञ्चध पिअवअस्सं चारुदत्तं, मं वावादेध । (भो भद्रमुखौ ! मुञ्चतं प्रियवयस्यं चारुदत्तम्, मां व्यापादयतम्)

चारु—शान्तं पापम् । (दृष्ट्वा स्वगतम्) अद्य अवगच्छामि । ('समसस्थित' इत्यादि पठति । प्रकाशम् । 'एताः पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो माम्' इत्यादि पुनः पठति)

इदमिति—इदम् (सुतरूपं वस्तु) तत् (प्रसिद्धम्) स्नेहसर्वस्वम् (वात्सल्यात्मकस्य प्रेम्णः निष्कर्षभूतम्) आढ्यदरिद्रयोः (धनिनिर्धनयोः) समम् (तुल्यमानन्ददायकम्) अचन्दनम् (चन्दनशून्यम्) अनौशीरम् (उशीरस्य = वीरणमूलस्य इदम् औशीरम् 'तस्येद'मित्यण् । तन्न भवतीत्यनौशीरम् वीरमूलद्रव्यभिन्नम् हृदयस्य (अन्तःकरणस्य) अनुलेपनम् = (परमशैत्यसम्पादकम्) अत्र रूपकम् ॥ २३ ॥

सरलार्थः—इदं स्वस्वपुत्रगाढालिङ्गनं धनिकदरिद्रयोः कृते समानमेव वात्सल्यस्नेहसर्वस्वं हृदयशीतलतासम्पादनस्य मलयजचन्दनोशीरव्यतिरिक्तं विलक्षणमनुलेपनं सर्वातिशायि वर्त्तते ॥ २३ ॥

विदू इति—भद्रं मुखं ययोस्तौ तत्सम्बुद्धौ । मुखप्रेक्षितेयं विदूषकस्य चाण्डालौ प्रति ।

चारु इति—शान्तं पापम् = 'मत्स्थाने विदूषक एव म्रियताम्' इति श्रव्यमपि नास्तीति महदनुचितमिति भावः । 'विदूषकः जीवतु अहमेव म्रिये' इत्येव युक्त-

---

चारुदत्त—(अश्रु-पूर्ण पुत्र को गले से लगाता है)

यह पुत्रस्नेह धनी तथा निर्धन के लिए समान सर्वस्वधन है । चन्दन तथा खश से भिन्न यह हृदय का शीतल लेप है ॥ २३ ॥

('कण्ठ में करवीर की माला' आदि पुनः पढ़ता है । देखकर मन ही में 'ये बन्धु, मुख कपड़े से ढँक कर' आदि पुनः पढ़ता है)

विदूषक—ऐ भद्रपुरुषो ! प्रिय मित्र चारुदत्त को छोड़ दो, बदले में मुझे मार डालो ।

चारुदत्त—ऐसा कभी मत कहना । (देखकर मन ही मन) आज समझ

चाण्डाल:—ओशलध अज्जा ! ओशलध । (अपसरत आर्याः ! अपसरत)

किं पेक्खध शप्पुलिशं अजशवशेण प्पणट्ठजीवाशं ।
कूवे खण्डिदपाशं कञ्चणकलशं विअ डुव्वन्तं ॥ २४ ॥
(किं प्रेक्षध्वे सत्पुरुषम् अयशोवशेन प्रनष्टजीवाशम् ।
कूपे खण्डितपाशं काञ्चनकलशमिव मज्जन्तम् ॥ २४ ॥)

चारु—(सकरुणम् । 'शशिविमलमयूखम्' इत्यादि पठति)

अपर:—अले ! पुणो वि घोशेहि । (अरे ! पुनरपि घोषय)

चाण्डाल:—(तथा करोति)

मित्याशयः । अक्कन्छामि = सम्पत्तौ बहवो हितकारिणो विपत्तौ नैव कोऽपीत्यहं जानामीत्यर्थः ।

अन्वयः—खण्डितपाशम् कूपे मज्जन्तम् काञ्चनकलशम् इव अयशोवशेन प्रनष्टजीवाशम् सत्पुरुषम् किम् प्रेक्षध्वे ।

किमिति—खण्डितः = द्वैधीकृतः पाशः=उद्वहनसूत्रम् (उद्वहनं वा) यस्य तम् अतएव कूपे मज्जन्तम् = ब्रुडन्तम् कञ्चनस्यायं काञ्चनः, कलशः = घटः, तम् इव, अयशोवशेन = स्त्रीहत्यात्मकापकीर्त्तिवशेन प्रनष्टा जीवस्य = जीवनस्य आशा यस्य तम् (तादृशम्) प्रनष्टेत्यत्र 'नशेः षान्तस्ये'त्यनेन णत्वनिषेधः । सत्पुरुषम्= चारुदत्तम्, किम् = कथम्, प्रेक्षध्वे=पश्यथ, ईदृशसत्पुरुषप्राणहरणदर्शनमनवलोकनीयमिति भावः । अत्र 'कलशमिवे'ति श्रौती उपमा । आर्या जातिः ॥ २४ ॥

सरलार्थः—किं यूयं वसन्तसेनाहत्यारूपदुष्कीर्त्तिशालितया जीवितविषये निरस्ताशं सज्जनपुरुषं चारुदत्तं द्रष्टुमुत्सहध्वे । अयं तु सम्प्रति सुवर्णघट इव कूपे जलार्थं रज्जुबद्धग्रीवो दुर्दैववशात् मध्ये रज्जुच्छेदात् जले निमज्जन् इव दृश्यमानः दुःखप्रद एव इति न दर्शनीयः ॥ २४ ॥

रहा हूँ, (सम्पन्न अवस्था में' इत्यादि पुनः पढ़ता है । (प्रकट) 'ये महल स्थित नारियाँ' आदि पुनः पढ़ता है ।

चाण्डाल—दूर हटें, आप लोग दूर हटें ।

रस्सी टूट जानेपर कूप में गिरते हुए स्वर्ण—कलश के समान झूठे कलंक के कारण जीवन की आशालुप्त हो जानेवाले साधुपुरुष चारुदत्त को क्या देखते हो ?॥

चारुदत्त—करुणापूर्ण होकर । 'चन्द्रमा की निर्मल किरण' आदि पढ़ता है ।

दूसरा—अरे पुनः घोषणा कर दो ।

चाण्डाल—(राजघोषणा सुनाता है)

चारु—प्राप्तोऽहं व्यसनकृशां दशामनार्यां यत्रेदं फलमपि जीवितावसानम् ।
एषा च व्यथयति घोषणा मनो मे श्रोतव्यं यदिदमसौ मया हतेति ॥

(ततः प्रविशति प्रासादस्थो बद्धः स्थावरकः)

स्थाव—(घोषणामाकर्ण्य सवैक्लव्यम्) कधं अपावे चलुदत्ते वावादी अदि ! हग्गे णिअलेण शामिणा बन्धिदे । भोदु, आक्कन्दामि । शुणाध अज्जा ! शुणाध, एत्थ दाणिं मए पावेण पवहणपड़िवत्तेण पुप्फकलण्डअजिण्णुज्जाणं वशन्तशेणा णीदा, तदो मम शामिणा 'मं ण कामेशि' त्ति कदुअ बाहुपाशवलक्कालेण मालिदा, ण उण एदिणा अज्जेण । कधं विदूलदाए ण्

अन्वयः—अहम् व्यसनकृशाम् अनार्याम् दशाम् प्राप्तः, यत्र इदम् फलम् अपि जीवितावसानम् च एषा घोषणा मे मनः व्यथयति, यत् 'असौ मया हता' इति इदम् श्रोतव्यम् ।

प्राप्त इति—अहम् = चारुदत्तः व्यसनेन=शकाराभियोगरूपविपत्त्या कृशाम्= हीनाम् (दारिद्र्यदशातोऽपि नीचाम्) अनार्याम् = नीचादपि नीचाम् 'अर्यं स्वामिवैश्ययोः' इति विशिष्य विधानादन्यत्रार्थे 'ऋहलोरि'ति ण्यत् । दशाम् = अवस्थाम् = प्राप्तः, यत्र=दशायाम् इदम्=वक्ष्यमाणम् फलमपि, जीवितावसानम्= जीवितस्य = जीवनस्य, अवसानम् = समाप्तिर्यस्मिंस्तत् तथोक्तम् जातम् । च = किञ्च एषा घोषणा मे मनः=हृदयम् व्यथयति पीडयति यत्=यस्मात् 'असौ वसन्तसेना मया = चारुदत्तेन हता' इति = इत्थंप्रकारकम् इदम् = घोषणावाक्यम् श्रोतव्यम् = मया श्रूयमाणम् इति भावः, भवति । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ २५ ॥

सरलार्थः—अहमतिनिन्दनीयां दुष्टजनोचितां शूलारोपणरूपां दशामधिगतः, यत्फलं मृत्युरेव, नैष मां तथा दुःखाकरोति यथा 'मया वसन्तसेना मारिता' इति या घोषणा डिण्डिमनादपुरःसरा सा मया दुर्दैववशादाकर्णनीया स्वयमिदानीमिति यतोऽहं निर्दोषस्ततो दण्डप्राप्तौ दुःखम् ॥ २५ ॥

स्थाव इति—विशेषेण वलवते=आत्मत्राणार्थमितस्ततो गच्छतीत्यथ 'वलुङ्-गतौ

चारुदत्त—शकार के अभियोग रूप विपत्ति के कारण में दरिद्रता से भी हीनगति 'स्त्री हत्या' करने की अवस्था में पहुँच गया हूँ और इस अवस्था का फल है जीवन की समाप्ति । मेरे हृदय को यह घोषणा पीडित कर रही है कि 'मैंने वसन्तसेना को मारा है' यह मुझे सुनना पड़ेगा ॥ २५ ॥

(इसके बाद महल पर स्थित वृद्ध स्थावरक का प्रवेश)

स्थावरकः—(घोषणा सुनकर, विकलतापूर्वक) क्या कलंकित करके

कोवि शुणादि ?। ता किं कलेमि ?। अत्ताणअं पाडेमि। (विचिन्त्य) जइ एव्वं कलेमि, तदा अज्जचालुदत्ते ण वावादीअदि। भोदु, इमादो पाशादवालग्ग-पदोलिकादो एदिणा जिण्णगवक्खेण अत्ताणअं णिक्खिवामि। वलं हग्गे उवलदे, ण उण एशे कुलपुत्तविहआणं वाशपादवे अज्जचालुदत्ते। एव्वं जइ विवज्जामि, लद्धे मए पललोए। (इत्यात्मानं पातयित्वा) ही ही। ण उवलदम्हि। भग्गे मे दण्डणिअले। ता चाण्डालघोशं शमण्णेशामि। (दृष्ट्वा उपसृत्य) हंहो चाण्डाला ? अन्तलं अन्तलं। (कथमपापश्चारुदत्तो व्यापाद्यते ? अहं निगडेन स्वामिना बद्धः। भवतु, आक्रन्दामि। शृणुत आर्याः ! शृणुत, अत्र इदानीं मया पापेन प्रवहणपरिवर्तेन पुष्पकरंडकजीर्णोद्यानं वसन्तसेना नीता, ततो मम स्वामिना 'मां न कामयसी'ति कृत्वा बाहुपाशबलात्कारेण मारिता, न पुनरेतेन आर्येण। कथं विदूरतया न कोऽपि शृणोति ?। तत् किं करोमि ?। आत्मानं पातयामि। यद्येवं करोमि, तदा आर्यं चारुदत्तो न व्यापाद्यते। भवतु, अस्याः प्रासादबालाग्रप्रतोलिकातः एतेन जीर्णगवाक्षेण आत्मानं निक्षिपामि। वरमहमुपरतो न पुनरेष कुलपुत्रविहगानां वासपादप आर्यचारु-

---

(भ्वा. आ.) 'नन्दिग्रहिपचादिभ्य' इत्यच्। विक्लवः=विह्वलः, तस्य भावः 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः' इति भावे ष्यञ् वैक्लव्यम् तत्रेत्यवैक्लव्यम्-तेन सहेति सवैक्लव्यम्। अपापः न अपराधरहितः (वसन्तसेनायाः शकारेण मारितत्वादित्याशयः) स्वामिना=शकारेण। आक्रन्दामि दूरत आह्वानं करोमि। विदूरतया=अतिदूरतया। आत्मानम्=स्वशरीरम् 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वाभावो ब्रह्म वर्ष्मं चे'त्यमरः। वर्ष्मं=शरीरम्। प्रासादे=द्विभूमे गृहविशेषे बाला=लघ्वी या अग्रप्रतोलिका=सम्मुखस्था रथ्या, तस्याः। उपरतः=प्रांशुपतनान्मृतः। कुलपुत्राः=सद्वंश्याः जना एव विहगाः=पक्षिणः तेषाम् वासाय पादपः=वृक्षः। पादैः पिबतीत्यर्थे 'सुपि स्थः' इत्यत्र

चारुदत्त मारे जा रहे हैं ? मुझे स्वामी शकार ने बेड़ी से जकड़ दिया है। अच्छा, चिल्लाता हूँ। सुनिए आर्यगण ! सुनिए। मुझ पापी ने गाड़ी के विपर्यय से पुष्पकरंडक नामक पुरातन उपवन में वसंतसेना को लाया। इसके बाद स्वामी ने यह कहकर कि 'वसन्तसेना मुझे नहीं चाहती है' बाहुपाश में जकड़ कर शकार ने उसे मार डाला, किन्तु इस चारुदत्त ने नहीं मारा है। क्या दूर होने के कारण मेरी बात कोई नहीं सुनता ? तब क्या करूँ ? महल पर से स्वयं कूदता हूँ। (सोचकर) यदि ऐसा करता हूँ तो आर्य चारुदत्त नहीं मारे जाते हैं। अच्छा,

दत्तः । एवं यदि विपद्ये, लब्धो मया परलोकः । ही ही ! नोपरतोऽस्मि । भग्नो मे दंडनिगडः । तच्चाण्डालघोषं समन्विष्यामि । हंहो चांडालौ ! अन्तरमन्तरम्)

चाण्डालौ—अले ! के अन्तलं मग्गेदि ? । (अरे ! कः अन्तरं मार्गयति ?)

चेट :—(शुणाध—इति पूर्वोक्तं पठति)

चारु—अये !

कोऽयमेवंविधे काले कालपाशस्थिते मयि ।
अनावृष्टिहते सस्ये द्रोणमेघ इवोदितः ? ॥ २६ ॥

'सुपी'तियोगविभागेन कः । 'आतो धातो'रित्यालोपः एवम् = पतनेन । विपद्ये मृतः स्याम् । परलोकः = वैकुण्ठलोकः निर्दोषविप्रस्य प्राणरक्षणात् । दण्डहेतुको निगडः=श्रृङ्खला । भग्नः = दैवात्स्वयमेव त्रुटितः । चाण्डालघोषम्=चाण्डालघोषणाशब्दम् । अन्तरम् = अवकाशम् (देहि किञ्चिद्वक्तव्यमस्तीति शेषः) ।

अन्वयः—सस्ये अनावृष्टिहते द्रोणमेघः इव, एवंविधे काले मयि कालपाशस्थिते अयम् कः उदितः ?

क इति—सस्ये = धान्ये अनावृष्ट्या=वर्षाभावेन हते=म्रियमाणे इति भावः (हतस्य पुनरुज्जीवनासम्भवादिति शेषः) द्रोणः=सस्यप्रपूरको मेघः । तथाहि—'त्रियुते शाकवर्षे तु चतुर्भिः शेषितक्रमात् । आवर्त्तं विद्धि संवर्त्तं पुष्करं द्रोणमम्बुदम् । आवर्त्तो निर्जलो मेघः संवर्त्तश्च बहूदकः । पुष्करः पुष्करजलो द्रोणः सस्यप्रपूरकः' इति ज्योतिस्तत्त्वे । तद्वत् एवंविधे काले = म्रियमाणदशायामिति यावत् । मयि कालपाशस्थिते=शूलाग्रे आरोपयितुमुपस्थापिते इति भावः । अयं कः उदितः= उपागतः । कोऽयमकारणमनुकम्पयितुमिहागत इत्याशयः । अत्र—छेकानुप्रासश्छन्दालंकारः । 'द्रोणमेघ इवे'त्यंशे श्रौती उपमा । अनयोः संसृष्टिः ॥ २६ ॥

महल के नवीन वरंडा में स्थित इस जीर्ण खिड़की से मैं कूदता हूँ । मेरा मरना उचित है किन्तु कुलपुत्र रूप पक्षियों के आश्रय चारुदत्त का मरना नहीं । यदि मैं इस प्रकार मरता हूँ तो मुझे स्वर्ग मिलता है । (कूद कर) हा ! हा ! ! मैं मरा नहीं । मेरी बेड़ी टूट गई । तब घोषणा—स्थान खोजता हूँ । (देखकर और वहाँ जाकर) अरे चांडालो ! अवकाश दो अवकाश ।

दोनों चाण्डाल—अरे ! कौन अवकाश खोज रहा है !

चेट—('सुनिए'—यह पूर्वोक्त पढ़ता है)

चारुदत्त—अरे !

वर्षा के बिना सूखते हुए धान के लिए द्रोणानामक मेघ (धान बढ़ानेवाला

भोः ! श्रुतं भवद्भिः ? ।

न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः ।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमो भवेत् ॥ २७ ॥

अन्यच्च—तेनास्म्यकृतवैरेण क्षुद्रेणात्यल्पबुद्धिना ।
शरेणेव विषाक्तेन दूषितेनापि दूषितः ॥ २८ ॥

सरलार्थः—कोऽयं मृत्युजालबद्धे मयि वर्त्तमाने एवंविधदुर्दिनसमये वर्षाभावतः शुष्कप्राये सस्यक्षेत्रे जलधाराभिः सस्यसमृद्धिकारकतया प्रसिद्धो द्रोणाह्वमेघ इव मान्निरपराधताप्रकाशनेन जीवनरक्षार्थं समुपस्थितः स धन्यवादार्हः ॥ २६ ॥

भोरिति—भवद्भिः = इहोपस्थितदर्शकमानवैः श्रुतम् = 'नाहमपराद्धः' इत्यवगतं न वेति प्रश्नः ।

आत्मनो मरणभयं निरस्यन्नाह—

न भीत इति—मरणात् मृत्योः न भीतः अस्मि केवलम् यशः दूषितम् (वसन्तसेनाहत्योद्घोषणेनेति शेषः) हि (तथाहि) मे (मम) विशुद्धस्य (स्त्रीवधदोषरहितस्य) मृत्युः (मरणम्) पुत्रजन्मसमः (महोत्सवतुल्य आनन्ददायीति भावः) आर्थी उपमा ॥ २७ ॥

सरलार्थः—सम्प्रति 'स्त्रीहत्यानिमित्तकं शूलारोपणरूपं मरणम् मदीयम्' इति हेतुस्ततो भयमनुभवाम्यहं दुर्यशःप्राप्त्या । यदि नाहमपराधीति प्रमाणितः स्यात्तदा तु मृत्युर्मम कृते पुत्रोत्पत्तितुल्यसुखप्रदो भवेत् ॥ २७ ॥

अन्वयः—अकृतवैरेण क्षुद्रेण अत्यल्पबुद्धिना दूषितेन विषाक्तेन शरेण इव तेन अस्मि दूषितः ।

तेनेति—अकृतवैरेण=न कृतं वैरं यस्य तेन । क्षुद्रेण=नीचेन, क्षुद्रबुद्धिना (अन्यथा निर्हेतुकमपकारं न कुर्यात्) । दूषितेन=स्त्रीहत्यया स्वयं दूषितेन, विषेण=गरलेन अक्तः=लिप्तः । 'अञ्जु-धातोः क्तः 'अनिदिताम्' इति नलोपः । तेन तादृशेन शरेण=बाणेन इव अस्मि=अहम् दूषितः=सदोषः कृतः निर्दोषेऽपि शरीरे विषाक्तो

मेघ) के समान, काल के पाश में स्थित मेरी इस विपत्ति में कौन उपस्थित हो गया ? ॥ २६ ॥

अजी ! आप लोगों ने सुना,—

मैं मृत्यु से नहीं डर गया हूँ, बल्कि इसलिए डर गया हूँ कि मेरा यश कलंकित हो गया । यदि मेरी निष्कलंक मृत्यु होती तो मुझे पुत्रजन्म के समान सुख मिलता ॥ २७ ॥

और भी—बिना कारण वैरी बने हुए दुर्बुद्धि उस नीच शकार के 'स्त्री-हत्या' रूपी कलंक से कलंकित एवं विषैले बाण से मैं दूषित हो रहा हूँ । (अर्थात् स्वयं

चाण्डालौ—थावलअ ! अवि शच्चं भणाशि ?। (स्थावरक ! अपि सत्यं भणसि ?)

चेटः—शच्चं । हग्गे वि, मा कश्श वि कधइश्शशिद्धि पाशादवालग्गपदोलिकाए दण्डणिअलेण वन्धिअ णिक्खित्ते । (सत्यम् । अहमपि, 'मा कस्यापि कथयिष्यसी'ति प्रासादबालाग्र-प्रतोलिकायां दण्डनिगडेन बद्ध्वा निक्षिप्तः)

(प्रविश्य शकारः । सहर्षम्)

मंशेण तिक्खामिलिकेण भत्तें शाकेण शूपेण शमच्छकेण ।
भूत्तं मए अत्तणअश्श गेहे शालिश्श कूलेण गुलोदणेण ॥ २९ ॥

मांसेन तिक्ताम्लेन भक्तं शाकेन सूपेन समत्स्यकेन ।
भुक्तं मया आत्मनो गेहे शालेः कूलेन गुडोदनेन ॥ २९ ॥

वाणो यथा दोष जनयति तद्वदनपराद्धेऽपि मयि स दुष्टः शकारः हत्यामारोपयदित्याशयः । श्रौती उपमा ॥ २८ ॥

सरलार्थः—येन सह मया कदाचिदपि किंचिद्वैरकार्यं नाचरितं वस्तुतस्तथापि स नीचप्रकृतिको मूर्खो राजश्यालकः शकारो विषसंपृक्तो बाण इव दोषयुक्तः सन् मां दूषितवान्, इत्येव मम खेदविषयः ॥ २८ ॥

चेट इति—शकारस्योक्तिमनुवदन्नाह—'मा कस्यापि सविधे (वसन्तसेनावधवृत्तान्तम्) कथयिष्यसि'इति (शकारेण) कथयित्वा····निक्षिप्तः ।

मांसेनेति—मया आत्मनः (स्वस्य) गेहे = गृहे (कलमादेः धान्यस्य 'शालयः कमलाद्याश्चे'त्यमरः) भक्तम्, मांसेन, तिक्ताम्लेन (तिक्तयुक्तमम्लम् तिक्ताम्लम् तेन) समत्स्यकेन शाकेन सूपेन कूलेन (स्तूपेन पुञ्जीकृतेन, 'कूल स्तूपे तडागे च सैन्यपृष्ठप्रतीरयोः' इति विश्वः) गुडोदनेन (गुडमिश्रितौदनेन पायसेनेत्यर्थः) सह भुक्तम् । धन्योऽहमिति भावः । शकारोचितमिदं भोजनम् ॥ २९ ॥

वसन्तसेना की हत्या करके शकार उस दोष को मुझ पर आरोपित कर मुझे व्यर्थ कलंकित कर रहा है) ॥ २८ ॥

दोनों चाण्डाल—स्थावरक क्या सच कह रहे हो ?

चेट—हाँ, सच । मैं भी कहीं इस दुर्घटना को दूसरे से न कह दूँ, इसी भय से शकार ने मुझे भी बेड़ी से जकड़ कर महल के नवीन रथ्या मे डाल आया था ।

शकार—(आकर, प्रसन्नतापूर्वक)

मैंने, अपने घर में, शालि चावल का भात, मांस के साथ, तिक्त एवं अम्ल (तीता-खट्टा) साग के साथ, दाल के साथ, उत्तम मछली के सहित तथा प्रचुर गुड मिलाकर (पायस) खूब खाया ॥ २९ ॥

(कर्णं दत्त्वा) भिण्ण-कंश-खङ्खणाए चाण्डालवाआए शलशंजोए जधा अ एशे उक्खालिदे वज्झडिण्डिमशद्दे पड़हाणं अ शुणीअदि, तधा तवकेमि, दलिद्द-चालुदत्ताके: वज्झट्ठाणं णीअदि त्ति। ता पेक्खिश्शं शत्तुविणाशे णाम महन्ते हलक्कश्श पलिदोशे होदि। शुदं अ मए, जेवि किल शत्तुं वावादअन्तं पेक्खदि तश्श अण्णश्शि जम्मन्तले अक्खिलोगे ण होदि। मए क्खु विशगण्ठिगब्भपविट्टेण विअ कीड़एण किं पि अन्तलं मग्गमाणेण उप्पाड़िदे ताह दलिद्द-चालुदत्ताह विणाशे। शम्पदं अत्तण-केलिकाए पाशादवालग्ग-पदोलिकाए अहिलुहिअ अत्तणो पलक्कमं पेक्खामि। (तथा कृत्वा दृष्ट्वा च) हीही ! एदाह दलिद्द-चालुदत्ताह वज्झं णीअमाणाह एवड्ढे जणशम्मद्दे, जं वेलं अम्हालिशे पवले वलामणुण्शे वज्झं णीअदि, तं वेलं कीदिशे भवे ?। (निरीक्ष्य) कधं एशे शे णव-वलद्दके विअ मण्डिदे दक्खिणं दिशं णीअदि। अध किं णिमित्तं मम केलिकाए पाशाद-वालग्गपदोलिकाए शमीवे घोशणा णिवड़िदा णिवालिदा अ ?। (विलोक्य) कधं थावलके चेडे वि णत्थि इध ?। मा णाम तेण इदो गदुअ मन्तभेदे किदे भविश्शदि ? ता जाव ण अण्णेशामि। (इत्यवतीर्य उपसर्पति) (भिन्न-कांस्यखङ्खनायाश्चाण्डालवाचाया: स्वरसंयोग: यथा च एष उद्गीतो वध्यडिण्डि-मशब्द: पटहानाञ्च श्रूयते, तथा तर्कयामि, दरिद्रचारुदत्तो वध्यस्थानं नीयत

सरलार्थ:—अद्य मया चारुदत्तस्योपरि शूलारोपणदण्डविधानात् प्रसन्नेन सता स्वगृहे भोजनसमये तिक्ताम्लरससंस्कृतेन मांसेन, शाकेन, मत्स्यखण्डसहितेन द्विदलेन च सह भक्तम् तथा शालितण्डुलसिद्धमन्नम् गुडौदनं च पर्याप्तं खादितम् ।।२९।

कर्णमिति—कर्णं दत्त्वा=श्रवणमुद्रामभिनीय। भिन्नम्=पाषाणादौ क्षेपणेन स्फुटितम् (फूटा हुआ) यत् कांस्यम् तद्वत् खङ्खन्त्या:=खन्खन् इति शब्दाय-मानाया:, चाण्डालवाचाया: स्वरसंयोग: श्रूयते इति परेणान्वय:। उद्गीत:=उच्चै-र्जायमान इति भाव:। पटहानाम्=ढक्कानाम्। अन्यस्मिन्नित्यधिकं जन्मान्तरेणैव

(कान देकर) पत्थर आदि पर गिरकर भिन्न कांस्य पात्र के खनखन....शब्द के समान चांडालों की घोषणा—वाक्य का यह स्वर मालूम पड़ता है। वध के समय का उच्च स्वर एवं नगाड़े की आवाज सुनाई पड़ रही है, अतः मैं अनुमान करता हूँ कि दरिद्र चारुदत्त वध-स्थान पर ले जाया जा रहा है। इसलिए देखूँ, क्योंकि

इति । तद् प्रेक्षिष्ये । शत्रुविनाशे नाम महान् हृदयस्य परितोषो भवति । श्रुतञ्च मया, योऽपि किल शत्रुं व्यापाद्यमानं प्रेक्षते, तस्य अन्यस्मिन् जन्मान्तरे अक्षि-रोगो न भवति । मया खलु विषग्रन्थिगर्भप्रविष्टेनेव कीटकेन, किमपि अन्तरं मार्गयता उत्पादितस्तस्य दरिद्रचारुदत्तस्य विनाशः । साम्प्रतमात्मीयायां प्रासाद-बालाग्र-प्रतोलिकायामधिरुह्य आत्मनः पराक्रमं प्रेक्षे । हीही ! एतस्य दरिद्र चारुदत्तस्य वध्यं नीयमानस्य एतावान् जनसमर्दः; यां वेलामस्मादृशः प्रवरो वरमनुष्यो वध्यं नीयते तां वेलां कीदृशो भवेत् । कथमेष स नव-बलीवर्द इव मण्डितो दक्षिणां दिशं नीयते । अथ किं निमित्तं मदीयायाः प्रासाद-बालाग्र-प्रतोलिकायाः समीपे घोषणा निपतिता निवारिता च ? । कथं स्थावर-कश्चेटोऽपि नास्तीह ? । मा नाम तेन इतो गत्वा मन्त्रभेदः कृतो भविष्यति । तद् यावदेनमन्विष्यामि)

गतार्थत्वात् तथाहि=अन्यद् जन्म जन्मान्तरम् इति भावः । विषस्य ग्रंथेः=पर्वणः गर्भे=अन्तरे प्रविष्टेन कीटकेन=ह्रस्वेनकीटेन 'ह्रस्वे' इति कन् । अन्तरम्=छिद्रम् मार्गयता ही=विस्मये । तदतिशये च द्विरुक्तिः । दरिद्रस्यापि बहवो दर्शकाः, इत्येववि-स्मयकारणम् । यां वेलाम्=कालम् (अभिव्याप्य) । यस्यां वेलायामित्यर्थः । तां वेलाम्=(अभिव्याप्य) तस्यां वेलायाम् इत्यर्थः । एषः=चारुदत्तः । मण्डितः=विभूषितः । मडि-भूषायाम् (भ्वा० प० से०) क्तः । निपतिता=घोषिता । निवारिता च=निवर्तिता च मन्त्रस्य=वसन्तसेनावधरूपगुप्तवृत्तान्तस्य, भेदः=प्रकाशम् । एनम्=स्थावरकम् ।

शत्रु के विनाश में मेरे हृदय में अत्यन्त सन्तोष होता है । मैंने सुना भी है कि जो कोई मरते हुए शत्रु को देखता है उसे दूसरे जन्म में आँख का रोग नहीं होता । विष वृक्ष की गाँठ के छिद्र में प्रविष्ट कीड़े के समान छिद्र खोजते हुए मैंने निर्धन-चारुदत्त का विनाश उपस्थित कर दिया । इस समय अपने महल की नूतन रथ्या पर चढ़कर अपना पराक्रम देखता हूँ । (चढ़ कर और देखकर) अरे ! इस दरिद्र चारुदत्त को वध के लिए ले जाते समय इतना जन-समुदाय का कोलाहल ? जिस समय हम जैसे प्रधान श्रेष्ठ पुरुष वध के लिए ले जाए जाँयगे उस समय न मालूम कितना अधिक होगा ? (देखकर) कैसा यह चारुदत्त नवीन बैल के समान सज्जित दक्षिण दिशा की ओर ले जाया जा रहा है । मेरे महल की नवीन रथ्या के समीप किस लिए घोषणा हुई और समाप्त हो गई ?

(इति अवतीर्य उपसर्पति)

चेट :—(दृष्ट्वा) भट्टालआ ! एशे शे आगडे । (भट्टारका! ! एष स आगतः)

चाण्डालौ—

ओशलध, देध मग्गं दालं ढक्केध होध तुण्हीआ ।

अविणअ-तिक्ख-विशाणे दुट्ठवइल्ले इदो एदि ॥ ३० ॥

(अपसरत, दत्त मार्गम्, द्वारं पिधत्त भवत तूष्णीकाः ।

अविनयतीक्ष्णविषाणो दुष्टबलीवर्द इत एति ॥ ३० ॥

चेट इति—हे भट्टारकाः = दर्शकान् सम्बोधयति । एष सः = वसन्तसेनाया वास्तविक घातकः । शकार इत्यर्थः ।

अपेति—अपसरत, मार्गम् दत्त, (अस्य सामीप्याद् दूरं तिष्ठत, अस्यागमनाया वकाशञ्च दत्त अन्यथाऽनिष्टमयमाचरिष्यतीत्याशयः) द्वारम् (गृहप्रवेशमुखम्) पिधत्त (कपाटावृतं कुरुध्वम् येनायमन्तर्न प्रविशेदिति भावः) 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोरिति' पिधत्तेत्यत्राकारलोपः । तूष्णीका; (मौनाङ्गीकारिणः) भवत (अन्यथा गालिप्रदानेनायमुत्तरयिष्यतीत्याशयः) । 'तूष्णींशीलस्तु तूष्णीकः' इत्यमरः । तूष्णीं शीलमस्येत्यर्थे 'शीले को मलोपश्चे'ति वार्तिकेन साधुः । 'केऽणः' इति ह्रस्वस्तु भाष्यकारप्रयोगात् 'न कपि' इत्यत्र 'न' इति योगविभागाद्वा न भवति अत्र हेतुमाह—अविनयः (औद्धत्यम् एव) तीक्ष्णम् विषाणम् (शृङ्गम्) यस्य सः । दुष्टबलीवर्दः = दुष्टवृषभः (तत्स्वरूपः शकारः) इतः (अत्र) एति (आगच्छति) । आर्या जातिः ॥ ३० ॥

सरलार्थः—यस्याशिष्टाचरणरूपं तीक्ष्णं शृङ्गं वर्त्तते स दुष्टवृषभ इव दुःखदः शकारोऽत्रागच्छति, ततस्तत्कृते मार्गप्रदानं विधाय, स्वगृहद्वारं पिधाय तूष्णीं भूत्वा निभृतं यूयं तिष्ठत यतस्तत्साक्षात्कारो न भवेदन्यथा विपत्तिरापतेद्युष्मासु ॥

(देखकर) अरे क्या स्थावरक चेट भी यहाँ नहीं है ? यहाँ से जाकर कहीं वह गुप्त भेद न खोल दे । तब तक उसे खोजूंगा ।

(उतर कर जाता है)

चेट :—(देखकर) स्वामियों ! यह, वह आ गया ।

दोनों चाण्डाल—हटो, रास्ता दो । दरवाजा बन्द कर लो, चुप हो जाओ क्योंकि असाधु तीक्ष्ण-शृङ्गवाला दुष्टबैल शकार इधर आ रहा है ॥ ३० ॥

शकारः—अले ! अले ! अन्तलं अन्तलं देध । (उपसृत्य) पुत्तका ! थाव-लका ! चेडा । एहि गच्छम्ह । (अरे ! अरे ! अन्तरमन्तरं दत्त । पुत्रक ! स्थावरक ! चेट ! एहि गच्छावः)

चेटः—ही ही ! अणज्ज ! वशन्तशेणिअं मालिअ ण पलितुट्ठेशि, शम्पदं पणइजण-कप्पपादवं अज्ज चालुदत्तं मालइदुं ववशिदे शि ।

(ही ही ! अनार्य । वसन्तसेनिकां मारयित्वा न परितुष्टोऽसि ? साम्प्रतं प्रणयिजनकल्पपादपम् आर्यचारुदत्तं मारयितुं व्यवसितोऽसि)

शकारः—णहि लअणकुम्भशदिशे हग्गे इत्थिअं वा वादेमि । (नहि रत्नकुम्भसदृशोऽहं स्त्रियं व्यापादयामि)

सर्वे—अहो ! तुए मारिदा, ण अज्जचारुदत्तेण । (अहो ! त्वया मारिता, न आर्य चारुदत्तेन)

शकारः—के एव्वं भणादि ? । (क एवं भणति)

सर्वे—(चेटमुद्दिश्य) णं एसो साहु । (नन्वेष साधुः)

शकार इति—अरे = औद्धत्यात्सर्वान् तत्रस्थान् नीचसम्बोधनेन सम्बोधयति । अन्तरम् = यातुमवकाशम् ।।

चेट इति—प्रणयिजनानाम्—याचकानाम् कल्पपादपम् = तद्वत् अभीष्टपूरकम् । व्यवसितः = व्यापृतः ।

शकार इति—रत्नकुम्भसदृशः = रत्नकुम्भवत् श्रेष्ठः । सोऽहं कथं स्त्रियं हन्तुमर्हः ? इत्याशयः ।

शकार—अरे ! अरे ? अवकाश दो अवकाश । (जाकर) पुत्रक ! स्थाव-रक ? चेट !! आओ चलें ।

चेट—अरे अनार्य ! वसन्तसेना को मारकर सन्तुष्ट नहीं हुआ ? अब याचकों के लिए कल्पतरु आर्य चारुदत्त को मारने के लिए प्रवृत्त है ?

शकार—रत्नघट के समान श्रेष्ठ मैं स्त्री को नहीं मारता हूँ ।

सभी—अरे वसन्तसेना को तुमने मारा है, चारुदत्त ने नहीं ?

शकार—ऐसा कौन कहता है ?

सभी—(चेट की ओर संकेत कर) यह सज्जन ।

शकारः—(अपवार्यं समयम्) अविदमादिके अविदमादिके !। कधं थावलके चेड़े सुट्ठ ण मए शञ्ज दे। एशे क्खु मम अकज्जश्श शक्खी। (विचिन्त्य) एव्वं दाव कलइश्शं (प्रकाशम्) अलिअं भट्टालका ! हंहो ! एशे चेड़े शुवण्णचोलिआए मए गहिदे, पिट्ठिदे, मालिदे वद्धे अ। ता किदवेले एशे जं भणादि, किं शच्चं !। (अपवारितकेन चेटस्य कटकं प्रयच्छति। स्वैरकम्) पुत्तका ! थावलका ! चेड़ा ! एदं गेण्हिअ अण्णधा भणाहि। (हन्त ! कथं स्थावरकश्चेट, सुष्ठु न मया संयतः। एष खलु मम अकार्यस्य साक्षी। एवं तावत् करिष्यामि। अलीकं भट्टारकाः ! अहो ! एष चेटः सुवर्णचोरिकया मया गृहीतः, पीडितः, मारितः, बद्धश्च। तत् कृतवैर एष यद्भणति किं सत्यम् ?। पुत्रक ! स्थावरक ! चेट ! एतद् गृहीत्वा अन्यथा भण)

शकार इति—'अविदमादिके' इत्येकमेवाव्ययम् भयविस्मयसूचकम्। अतिशये द्विरुक्तिः। सुष्ठु=साधु। संयतः=निगडेन बद्धः। भट्टारकाः=हे भट्टारकाः स्वानुकूल्यार्थं मुखप्रेक्षितया सम्बोधनं द्रष्टृणामेतत्। अलीकम्=असत्यम्। सुवर्णस्य=स्वर्णलंकारस्य। चोरिकया=चौर्येण चोरणम्। चुर-स्तेये (चु०प०से०), अप्रत्ययात्'। संज्ञापूर्वकत्वान्न गुणः। चुरा शीलमस्य 'छत्रादिभ्यो णः' चौरः। चौरस्य कर्म इत्यर्थे 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्चे'ति वुञ्। गृहीतः=धृतः। पीडितः=भर्त्सितः, मारितः=ताडितः। बद्धः=निगडेनेति शेषः। तत्=तस्मात्कारणात्। कृतं वैरं येन सः। किं सत्यम्=नेत्यर्थः। अपवारितकेन=दर्शकेभ्यः संगोप्य कथनेन। स्वैरकम्=मन्दस्वरेणेति भावः। अत्र 'कथं स्थावरकश्चेट'....इत्युपक्रम्य....'साक्षी'त्यन्तं यावत् पश्चात्तापो नाम नाट्यालङ्कारः तथाहि—'मोहावधीरितार्थस्य पश्चात्तापः स एव तु' इति दर्पणः। 'पुत्रक'.... इत्युपक्रम्य....'अन्यथा भणे'त्यन्तं यावत् प्रोत्साहनं नाम नाट्यालङ्कारः। तथाहि-'प्रोत्साहनं स्यादुत्साहगिरा कस्यापि योजनाद्'इति दर्पणः।

शकार—(धीरे से भयपूर्वक) हाय ! हाय !! मैंने स्थावरक चेट को क्या अच्छी तरह नहीं बांधा था ? यह हमारे दुष्कार्य का साक्षी है (सोचकर) इस प्रकार करूँगा। (प्रकट) झूठ बात है सज्जनो !। अरे ! सुवर्ण-चोरी करने पर यह चेट मुझसे पकड़ा गया, पीडित किया गया, मारा गया और बांधा भी गया। अतः शत्रु बनकर यह जो कहता है, क्या वह सत्य है ? (गुप्त रूप से चेट को कंकण देता है, और मन्द स्वर में) पुत्रक ! स्थावरक ! चेट ! इसे लेकर, इसके विपरीत मुझे निर्दोष घोषित कर दो।

चेटः—(गृहीत्वा) पेक्खध पेक्खध भट्टालका ! हंहो ! शुवण्णेण मं पलोभेदि । (प्रेक्षध्वं प्रेक्षध्वं भट्टारकाः ! । हंहो ! सुवर्णेन मां प्रलोभयति)

शकारः—(कटकमाच्छिद्य) एशे शे शुवण्णके, जश्श कालणादो मए वड्ढे । (सक्रोधम्) हंहो चाण्डाला ! मए क्खु एशे शुवण्णभण्डाले णिउत्ते, शुवण्णं चोलअन्ते मालिदे, पिट्टिदे, ता जदि ण पत्तिआअध, ता पिट्टिं दाव पेक्खध । (एतत् तत् सुवर्णकम् । यस्य कारणात् मया बद्धः । हंहो चाण्डालौ ! मया खल्वेष सुवर्णभाण्डारे नियुक्तः सुवर्णं चोरयन् मारितः पीडितः । तद् यदि न प्रत्ययध्वे, तदा पृष्ठं तावत् प्रेक्षध्वम्)

चाण्डालौ—(दृष्ट्वा) शोहणं भणादि । वितत्ते चेड़े किं ण प्पल, वदि ? । (शोभनं भणति । वितप्तश्चेटः किं न प्रलपति ?)

चेट इति—हंहो=आश्चर्यार्थकमिदमव्ययम् । प्रलोभयति—'चारुदत्तेन व्यापादिता' इति मिथ्या वक्तुमिति शेषः ।

शकार इति—आच्छिद्य=तद्धस्ताद्बलादाकृष्य । (छीनकर) । प्रत्ययध्वे=विश्वासं कुरुथ । पृष्ठम्=चौर्याभियोगे मत्कृतप्रहारचिह्नाङ्कितम् इति शेषः । अत्रेदं बोध्यम्—'अनुपदमेव प्रासादतः पतनेन चेटस्य पृष्ठे अभिघातजं चिह्नमभूत् तदेवायं शकारः स्वानुकूल्यार्थी स्वप्रहारजनितमवधारयति अहो ! 'किमकार्यं कदर्याण म्' इति सत्यम् ।

चाण्डालाविति—शोभनम्=युक्तम् । भणति=कथयति (शकार इति शेषः) वितप्तः—कर्कशप्रहारेण विक्षुभितः । प्रलपति=मिथ्या वदति । 'प्रलापोऽनर्थकं वच' इत्यमरः ।

चेटः—(कंकण लेकर) देखिये-देखिये सज्जनो ! यह सुवर्ण देकर मुझसे अन्यथा कहवाना चाहता है !

शकार—(कंकण छीनकर) यही वह सुवर्ण है जिसके कारण मैंने इसे बाँधा था। (क्रोध के साथ) अरे चाण्डालो ! मैंने इसे सुवर्ण के खजाने में नियुक्त किया था और वहाँ चोरी करने से मैंने इसे खूब मारा-पीटा इस पर यदि विश्वास न हो तो इसके पीठ के चिह्नों को देखो ।

दोनों चाण्डाल—(देखकर) आप ठीक कहते हैं । प्रहार से संतप्त चेट क्या झूठ प्रलाप नहीं करता है ।

चेटः—हीमादिके ! ईदिशे दाशभावे, जं शच्चं कं पि ण पत्तिआअदि । (सकरुणम्) अज्जचालुदत्त ! एत्तिके मे विहवे । (इति पादयोः पतति) । हन्त ! ईदृशो दासभावः यत् सत्य कमपि न प्रत्याययति । आर्यचारुदत्त ! एतावान् मे विभवः)

चारु०—(सकरुणम्)

उत्तिष्ठ भोः ! पतित-साधुजनानुकम्पिन् !
निष्कारणोपगतबान्धव ! धर्मशील ! ।
यत्नः कृतोऽपि सुमहान् मम मोक्षणाय
दैवं न संवदति किं न कृतं त्वयाऽद्य ।। ३१ ।।

चेट इति—हीमादिके=दुःखविस्मयार्थकमव्ययम् । दासभावः=दासता । कमपि (जनमिति शेषः) न प्रत्याययति=विश्वासयति (दासभाव इति शेषः) विभवः=सामर्थ्यम् । अतोऽधिकं कर्तुं न शक्नोमीत्याशयः ।

अन्वयः—भोः पतितसाधुजनानुकम्पिन् ! निष्कारणोपगतबान्धव ! धर्मशील ! उत्तिष्ठ । त्वया मम मोक्षणाय सुमहान् यत्नः कृतः अपि दैवम् न संवदति । किन्न कृतम् (त्वया) ।

उत्तिष्ठेति—पतितान्=विपत्तिसमुद्रे मग्नान् साधुजनान्=सत्पुरुषान् अनुकम्पते तच्छीलः तत्सम्बुद्धौ । 'सुप्यजातौ णिनि'रिति णिनिः । निष्कारणम् उपगतः 'सुप्सुपे'ति योगविभागात्समासः । स चासौ बान्धवश्चेति 'विशेषण'मिति समासः । तत्सम्बुद्धौ । अनायासेनोपस्थितः । हे धर्मशील उत्तिष्ठ । त्वया मम मोक्षणाय=मोक्षप्राप्त्यर्थं, सुमहान् यत्नः कृतः अपि दैवम् = मम दुर्भाग्यम् न संवदति = नानुकूलं भवति । अतः मम मोक्षणं न जातम् । किन्तु तदर्थं त्वया किन्न कृतम् ? सर्वं कृतमित्यर्थः । अत्र पूर्वार्द्धे विशेषणस्य साभिप्रायत्वात्परिकरोऽलङ्कारः । अप्रकारणिकार्थात् प्राकरणिकार्थस्यापतनरूपार्थापत्तिरलङ्कारश्च । तदुक्तम्—'कार्यात्ययोपगमनं विरोधनमिति स्मृतम्' इति दर्पणोक्तेः विरोधनं नाम 'विमर्शसन्धेरङ्गम् । वसन्ततिलकावृत्तम् ।। ३१ ।।

चेट—हाय ! दासत्व इतना हीन है कि कोई उस पर विश्वास भी नहीं करता ! (करुणापूर्वक) आर्य चारुदत्त ! (आपको बचाने के लिए) मुझ में इतनी ही शक्ति थी । (चरणों पर गिरता है)

चारुदत्त—(करुणापूर्वक) हे विपत्ति सागर में मग्न सज्जनों पर दया करनेवाले ! अकारण आगत बन्धु ! धर्मशील ! उठो ! मेरा उद्धार करने के लिए, आप के घोर प्रयत्न करने पर भी यदि दैव साथ नहीं देता है तो

चाण्डालौ—भट्टके ! पिट्टिअ एदं चेडं णिक्खालेहि। (भट्टक पीडयित्वा एतं चेटं निष्कासय)

शकारः—णिक्कम ले !। (इति निष्क्रामयति) अले चाण्डाला ! किं विलम्वेध ? मालेध एदं। (निष्क्रम रे !। अरे चाण्डालो ! किं विलम्बेथे ! मारयतमेनम्)

चाण्डालौ—जदि तुवलशि, ता शअं ज्जेव मालेहि। (यदि त्वरयसे, तद् स्वयमेव मारय)

रोह—अले चाण्डाला ! मं मारेध, मुञ्चध, आवुकं। (अरे चाण्डालो ! मां मारयतम् मुञ्चतमावुकम्)

शकार—शपुत्तं ज्जेव एदं मालेध। (सपुत्रमेव एतं मारयतम्)

चारु—सर्वमस्य मूर्खस्य सम्भाव्यते। तद् गच्छ पुत्र ! मातुः समीपम्।

रोह—किं मए गदेण कादव्वं ?। (किं मया गतेन कर्त्तव्यम् ?)

सरलार्थः—हे दुःखपतितसज्जनानामुपरि कृपाकारिन् ! निष्कारणं बन्धुभावेन समुपस्थित ! परमधार्मिक ! त्वं मम पादयोरुपरि पतनादुत्तिष्ठ। मम मोक्षणार्थं त्वया महान् प्रयासः कृतस्तथापि मम दुर्भाग्यवशात् सर्वोऽपि विफलो जातः। त्वयाऽद्य किं न कृतम् अर्थात् सर्वमपि यावच्छक्यं प्रयतनं कृतम् ॥ ३१ ॥

रोह इति—चारुदत्तस्य रक्षार्थं चारुदत्तपुत्रेण रोहसेनेन याच्ञाचरणात् याच्ञा नाम नाट्यालङ्कारः। 'याच्ञा तु क्वापि याच्ञा या स्वयं दूतमुखेन वा' इति दर्पणः।

आपका इसमें क्या दोष है ? आज आपने कौन सा बन्धु-कार्य नहीं किया ? ॥३१॥

दोनों चाण्डाल—प्रभो ! मार कर इस चेट को निकालिए।

शकार—निकल रे ! (निकालता है) अरे चाण्डालो क्यों देर करते हो ? इस चारुदत्त को मारो।

दोनों चाण्डाल—यदि जल्दी करते हैं, तो आप ही मारिए।

रोहसेन—अरे चाण्डालो ! मुझे मारो पिता जी को छोड़ दो।

शकार—पुत्र के साथ इसे मारो।

चारुदत्त—यह मूर्ख सभी प्रकार का अनर्थ कर सकता है ! अतः जाओ पुत्र ! ! माता के पास जाओ।

रोहसेन—मैं जाकर क्या करूंगा ?

चारु—आश्रमं वत्स ! गन्तव्यं गृहीत्वाद्यैव मातरम् ।
मा पुत्र ! पितृदोषेण त्वमप्येवं गमिष्यसि ॥ ३२ ॥

तद्वयस्य ! गृहीत्वैनं व्रज ।

विदू—भो वअस्स ! एव्वं तुए जाणिदं, तुए विणा अहं पाणाइं धारेमि त्ति ? । (भो वयस्य ! एवं त्वया ज्ञातम्, त्वया विना अहं प्राणान् धारयामीति ?)

चारु—वयस्य ! स्वाधीनजीवितस्य न युज्यते तव प्राणपरित्यागः ।

आश्रममिति—वत्स (आयुष्मन्) अद्यैव मातरम् गृहीत्वा, आश्रमम् (तपोवनम्) गन्तव्यम् । 'आश्रमम्' इत्यत्र 'गन्तव्यम्' इति कृत्यप्रत्ययसंबन्धात् 'कृत्यानामि'ति योगविभागेन 'कृत्यानां कर्मणि' उभयप्राप्ता'विति षष्ठी नेत्यर्थात् 'कां दिशां गन्तव्यम्' । पुत्र (हे पुत्र) पितृदोषेण (ममापराधेन) त्वम् अपि एवम् (अहमिवाकालमृत्युम्) मा गमिष्यसि (मा यास्यसि) । त्वरितमेव गृहं त्यक्त्वा मात्रा साकमन्यत्र गच्छ न चेदयं शकारस्त्वामपि मिथ्यापराधोपरोधेन घातयिष्यतीति भावः ॥ ३२ ॥

सरलार्थः—हे पुत्र ! अमुना मन्निकटाज्जनन्या सह गृहं याहि, अन्यथा 'वसन्तसेना तव पित्रा हते' त्यपवादरूपपित्रपराधेन त्वमपि मत्तुल्यां दशामनुभविष्यसि ॥ ३२ ॥

चारु इति—स्वस्य अधीनम् = वशम्, जीवितम्=जीवनम्, यस्य तस्य, प्राणपरित्यागः=मद्वियोगेन मरणम् न युज्यते = नोचितम् । अहं तु पराधीनतया म्रिये, स्वतन्त्रोऽपि त्वं कथं मर्त्तुमिच्छसीति महदनुचितमिति भावः ।

चारुदत्त—हे पुत्र ! अपनी माता को लेकर आज ही तपोवन चले जाना । क्योंकि हे सुत ! मुझ पिता के दोष से तुम भी कहीं न अकाल मृत्यु के गाल में चले जाओ ? अर्थात् आज ही गृहस्थाश्रम का परित्याग कर निर्विघ्न तपोवन की शरण में चले जाना ॥ ३२ ॥

अतएव हे मित्र ! इसे लेकर जाओ ।

विदूषक—हे सखे ! इतना तो तुम जानते ही हो कि तुम्हारे बिना मैं कैसे प्राण धारण कर सकता हूँ ?

चारुदत्त—मित्र ! जिसका जीवन अपने अधीन है उसे प्राण त्यागना उचित नहीं है ।

विदू—(स्वगतम्) जुत्तं ण्णेदं तधावि ण सक्कुणोमि पिअवअस्सविरहिदो पाणाइं धारेदुं त्ति । ता वम्हणीए दारअं समप्पिअ पाणपरिच्चाएण अत्तणो पिअवअस्सं अणुगमिस्सं । (प्रकाशम्) भो वअस्स ! पराणेमि एदं लहुं । (युक्तम् नेदम् । तथापि न शक्नोमि प्रियवयस्यविरहितः प्राणान् धारयितुमिति । तत् ब्राह्मण्या दारकं समर्प्य प्राणपरित्यागेनात्मनः प्रियवयस्यमनुगमिष्यामि । भो वयस्य ! पराणयामि एनं लघु)

शकारः—अले ! णं भणामि शपुत्ताकं चालुदत्ताकं वावादेध त्ति । (अरे ! ननु भणामि सपुत्रकं चारुदत्तकं व्यापादयतमिति)

चारु—(भयं नाटयति)

चाण्डालौ—णहि अम्हाणं ईदिशी लाआण्णत्ती, जंघा शपुत्तं चालुदत्तं वावादेध त्ति । ता णिक्कम ले दालआ ! णिक्कम (इति निष्क्रामयतः) इमं तइअं घोशणट्ठाणं । ताडेध डिण्डिमं । (पुनर्घोषयतः) (नहि अस्माकमीदृशी राजाज्ञप्तिः, यथा सपुत्रं चारुदत्तं व्यापादयतमिति तत् निष्क्रम रे दारक ! निष्क्रम । इदं तृतीयं घोषणास्थानम् ताडयत डिण्डिमम्)

इदम् = प्राणत्यजनम्, न युक्तम् = चारुदत्तोक्तयुक्तेर्हेतोर्न युज्यते । ब्राह्मण्याः धूतायाः (क्रोडे इति शेषः) दारकम् = पुत्रम् । एनम् = रोहसेनम्, लघु = शीघ्रम्, पराणयामि = इतोऽपनयामि । अत्र प्राणपरित्यागस्य आत्मन्येवात्मना प्रतिज्ञातप्रायत्वात् व्यवसायो नाम विमर्शसन्धेरङ्गम् तथाहि 'व्यवसायश्च विज्ञेयः प्रतिज्ञाहेतुसम्भवः' इति दर्पणे ।

राजाज्ञप्तिः—राज्ञः आज्ञप्तिः = आज्ञा ।

विदूषक—(मन में) यद्यपि यह उचित नहीं है, फिर भी प्रिय मित्र के बिना मैं अपना प्राण धारण करने में सर्वथा असमर्थ हूँ । इसलिए ब्राह्मणी को यह बालक समर्पित कर, अपना प्राण त्याग कर मैं प्रिय मित्र चारुदत्त का अनुसरण करूँगा । (प्रकट) हे मित्र ! इस बालक को यहाँ से शीघ्र हटाता हूँ ।

शकार—अरे ! मैं कहता हूँ कि पुत्र के सहित चारुदत्त को मारो ।

चारुदत्त—(भय का अभिनय करता है)

दोनों चाण्डाल—हम लोगों को ऐसी राजा की आज्ञा नहीं है कि 'पुत्र के सहित चारुदत्त को मारो' । अतः निकल रे बालक ! निकल । (निकालते हुए), यह तीसरा घोषणा-स्थान है, नगाड़ा बजाओ । (पुनः घोषणा करता है)

शकारः—(स्वगतम्) कधं एशे ण पत्तिआअन्ति। पौला (प्रकाशम्) हंहो चालुदत्ता ! वडुका ! ण पत्तिआअदि एशे पौलजणे। ता अत्तणकेलिकाए जीहाए भणाहि मए वशन्तशेणा मालिदे त्ति (कथमेतत् न प्रत्ययन्ते पौराः। अरे चारुदत्त ! बटुक ! न प्रत्ययते एष पौरजनः, तदात्मीयया जिह्वया भण—'मया वसन्तसेना मारिता' इति)

चारु—(तूष्णीमास्ते)

शकारः—अले चाण्डालगोहे ! ण भणादि चालुदत्तवडुके; ता भणावेध इमिणा जज्जल-वंशखण्डेण शङ्कुलेण तालिअ तालिअ (अरे चाण्डाल गोह ! न भणति चारुदत्तवटुकः। तद्भणयत अनेन जर्जरवंशखण्डेन शङ्कुलेन ताडयित्वा ताडयित्वा)

चाण्डालः—(प्रहारमुद्यम्य) भो चालुदत्त ! भणाहि। (भोः चारुदत्त ! भण)

चारु—(सकरुणम्)

एतत्=चारुदत्ते विदितं वसन्तसेनाया मारणम् न प्रत्ययन्ते=न विश्वसन्ति। अस्य साधुशीलत्वादिति शेषः। आत्मन इयम् आत्मीया तया=स्वकीयया इत्यर्थः। 'वृद्धाच्छः' इति छः।

गोह इति चाण्डालयोरेकस्य नाम। शङ्कुलेन=वादनदण्डेन।

प्रहारम्=प्रहारं कर्तुम् इति भावः। उद्यम्य=उद्यतो भूत्वा (पृच्छतीति शेषः)।

शकार—(मन में) ये पुरवासी इस पर क्यों विश्वास नहीं करते हैं। (प्रकट) अरे चारुदत्त ब्राह्मण ! ये पुरवासी विश्वास नहीं करते हैं, इसलिए तुम स्वयं कहो कि 'मैंने वसन्तसेना को मारा है'।

चारुदत्त—(चुप हो जाते हैं)

शकार—अरे चाण्डाल गोह ! ब्राह्मण चारुदत्त नहीं कहता है। इस जीर्ण बांस के टुकड़े से नगाड़े पर चोट मारने के सदृश इसे मार-मार कर इससे कहवाओ।

चाण्डाल—(मारने का उपक्रम करके) अरे चारुदत्त कह।

चारुदत्त—(करुणापूर्वक)

प्राप्यैतद्व्यसनमहार्णवप्रपातं न त्रासो न च मनसोऽस्ति मे विषादः ।
एको मां दहति जनापवादवह्निर्वक्तव्यं यदिह मया हता प्रियेति ॥३३॥

शकारः—(पुनस्तथैव)

चारु—भो भोः पौराः ! ('मया खलु नृशंसेन' इत्यादि पुनः पठति)

शकारः—वावादिदा । (व्यापादिता)

चारु—एवमस्तु ।

अन्वयः—एतद्व्यसनमहार्णवप्रपातम् प्राप्य मे त्रासः, न, मनसः, विषादः च न । एकः जनापवादवह्निः, माम् दहति 'मया प्रिया हता' इति इह यत् वक्तव्यम् ।

प्राप्येति—एतत् व्यसनम्=विपत्तिः इव महार्णवः=समुद्रः तस्मिन् प्रपातम्=पतनम् प्राप्य वर्त्तमानस्य मे=मम त्रासः=मरणभयम्, न=नास्ति 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' इति सिद्धान्तादिति भावः । मनसः विषादश्च नास्ति । आत्मनो निरपराधत्वस्य स्वयमनुभवात् हृदयेऽपि विषादो नास्त्येव किन्तु एकः=केवलम् 'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा' इति कोषः । जनानाम् अपवादः 'धनलोभेन वसन्तसेना मारिता' इति स्वरूपकम् अपयशः, एव वह्निः अग्निः नितरां मां दहति=सन्तापयति । तथा 'मया प्रिया वसन्तसेना हता' इति जनतायाः पुरस्तात् यत् वक्तव्यम् तत्तु नितरां दहतीति भावः । एकान्तमिथ्यात्वेनानौचित्यात् । अत्र 'व्यसनमहार्णवे' इति 'अपवादवह्निः' इति च निरङ्गकेवलरूपकद्वयम् संसृष्टिश्चात्र । प्रहर्षिणीवृतम् ॥ ३ ॥

सरलार्थः—दैवदुर्विलासादकस्मादीदृशदुरन्तदुःखसमुद्रे निमज्जनान्न किमपि मे भयं विषादो वा किन्तु केवलं 'प्रियतमा वसन्तसेना मया धनलोभान्मारितेति वक्तव्यमि'ति लोकापवादानलो मां दहति अर्थात् मिथ्यापवादान्मरणं वरमिति रोचते मे ॥ ३३ ॥

शकार इति—तथैव—'अले चाण्डालगोहे'……इत्यादि पुनर्वक्ति ।

इस विपत्ति रूप महासागर में गिर कर मुझे भय नहीं है और न मेरे मन में दुःख ही है । मुझे मनुष्यों की एक अपवादरूपी अग्नि ही भस्मसात् कर रही है जो कि इन सबों के सामने कहना पड़ेगा कि 'मैंने प्रितमा वसन्तसेना को मारा है' ॥ ३३ ॥

शकार—(पुनः वैसा ही कहता है) ।

चारुदत्त—ऐ पुरवासियो ! ('मुझ नृशंस ने' इत्यादि पुनः पढ़ता है ।)

शकार—'तुमने वसन्तसेना को मारा है' ।

चारुदत्त—हाँ ।

प्रथमः—अले ! तव अत्त वज्झवालिआ (अरे ! तवात्र वध्यपालिका)

द्वितीयः—अले ! तव । (अरे ! तव)

प्रथमः—अले ! लेक्खअं कलेम्ह । (इति बहुविधं लेखकं कृत्वा) अले ! जदि ममकेलिका वज्झवालिआ, ता चिट्ठदु दाव मुहुत्तअं । (अरे ! लेखकं कुर्मः अरे ! यदि मदीया वध्यपालिका, तदा तिष्ठतु तावन्मुहूर्त्तम्)

द्वितीयः—किं णिमित्तं ? । (किं निमित्तम् ?)

प्रथमः—अले ! भणिदोम्हि पिदुणा शग्गं गच्छन्तेण । जधा 'पुत्त ! वीरअ ! जइ तुह वज्झवाली होदि, मा शहशा वावादअशि - वज्झं । (अरे ! भणितोऽस्मि पित्रा स्वर्गं गच्छता । यथा 'पुत्र ! वीरक ! यदि तव वध्यपाली भवति, मा सहसा व्यापादयसि वध्यम्)

द्वितीयः—अले ! किं णिमित्तं ? (अरे ! किं निमित्तम् ?)

प्रथमः—कदावि कोवि शाहू अत्थं दइअ वज्झं मोआवेदि । कदावि

प्रथम इति—अत्र = अस्मिन् दिने, वध्यस्य = वध्यवधस्य, पालिका = वारः (वारी इति भाषा०) एतेन द्वयोः क्रमिकत्वं हनने प्रतीयते ।

प्रथम इति—लिख्यते इति लेखकः=गणना, तम् । 'अल्पः लेखः' इत्यर्थे 'अल्पे चे'ति कः तेन लेखक इति साधुः, । अद्य कस्य वध्यवधवारः' इति गणनया निरूप्यते इत्याशय । 'भावे' इति घञ् । मुहूर्त्तं तिष्ठतु = अवध्यभावेन चारुदत्त। कञ्चित्कालमतिवाहयतु ।

प्रथम इति—प्रशस्तो वीरः' इत्यर्थे 'प्रशंसायाम्' इति कप्रत्ययः । वीरक=वीरश्रेष्ठ । सहसा=झटिति मा व्यापादयसि=न व्यापादयिष्यसि ।

प्रथम—अरे ! यहाँ वध करने की आज तुम्हारी बारी है ।

द्वितीय—अरे ! तुम्हारी है !

प्रथम—अच्छा आओ हिसाब लगा लें (तरह-तरह से गणना करके) यदि वध करने की आज हमारी बारी है तो क्षण भर ठहर जाओ ।

द्वितीय—किसलिए ?

प्रथम—अरे ! स्वर्गारोहण करते हुए पिता:जी ने मुझे आदेश किया था कि 'पुत्र वीरक ! यदि वध करने की तुम्हारी बारी हो तो वध्य पुरुष को सहसा मत मारना' ।

द्वितीय—अरे ! किसलिए ?

प्रथम—कभी कोई साधु पुरुष धन देकर वध्य पुरुष को छुड़ा लेता है ।

लण्णो पुत्ते होदि, तेण वद्धावेण शव्वज्झाणं मोक्खे होदि। कदावि हत्थी बन्धं खण्डेदि, तेण शम्भमेण वज्झे मुक्के होदि। कदावि लाअपलिवत्ते होदि, तेण शव्ववज्झाणं मोक्खे होदि। (कदापि कोऽपि साधुरर्थं दत्वा वध्यं मोचयति। कदापि राज्ञः पुत्रो भवति, तेन वृद्धिमहोत्सवेन सर्ववध्यानां मोक्षो भवति। कदापि हस्ती बन्धं खण्डयति, तेन सम्भ्रमेण वध्यो मुक्तो भवति। कदापि राजपरिवर्त्तो भवति, तेन सर्ववध्यानां मोक्षो भवति)

शकारः—किं किं लाअपलिवत्ते होदि ?। (किं किं राजपरिवर्त्तो भवति)

चाण्डालः—अले ! वज्झवालिआए लेक्खअं कलेम्ह। (अरे ! वध्यपालिकाया लेखकं कुर्मः)

शकारः—अले ! शिग्घं मालेध चालुदत्तं। इत्युक्त्वा चेटं गृहीत्वा (एकान्ते स्थितः) (अरे ! शीघ्रं मारयतं चारुदत्तम्)।

चाण्डालः—अज्ज चालुदत्त ! लाअणिओओ क्खु अवलज्झदि, ण क्खु अम्हे चाण्डाला। ता शुमलेहि जं शुमलिदव्वं। (आर्यचारुदत्त ! राजनियोगः खलु अपराध्यति, न खलु वयं चाण्डालाः। तत् स्मर यत् स्मर्त्तव्यम्)

बन्धम् = बन्धनशृङ्खलाम्। तेन = तदुत्पन्नेन सम्भ्रमेण = त्वरया। वध्यः मुक्तो भवति = रोधकहन्त्रादीनां तदानीं पलायनसम्भवादित्याशयः।

शकार इति—किम् किम् = किमुक्तं किमुक्तम् ? उद्वेगे किंशब्दस्य द्विरुक्तिः।

चाण्डाल इति—लेखकं कुर्मः = गणनां कुर्मः; तस्य क्रमेण राजपरिवर्त्तप्रसङ्गोऽप्युत्थितः इत्याशयः। तथापि पालकस्यापि राज्ञः परिवर्त्तप्रतीतेस्तस्य च भावित्वाद् गुणवत्त्वाच्च दर्पणोक्तप्रथमपताकास्थानमिदम् तथाहि—'सहसैवार्थसम्पत्तिर्गुणवत्युपचारतः। पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम्'। इति।

कभी राजा को पुत्र उत्पन्न हो जाता है जिससे कि बड़े महोत्सव के साथ सभी वध्य पुरुषों को छोड़ दिया जाता है। कभी हाथी बन्धनस्तम्भ तोड़ कर निकल पड़ता है जिस घबड़ाहट में वध्य पुरुष मुक्त हो जाता है। कभी राज्य-परिवर्त्तन हो जाता है जिससे सभी वध्य पुरुषों की मुक्ति हो जाती है ?

शकार—अरे ! क्या-क्या राजपरिवर्त्तन होता है ?

चाण्डाल—अरे ! वध करने की किसकी वारी है, उसकी गणना कर रहे हैं।

शकार—अरे ! चारुदत्त को शीघ्र मारो। (यह कहकर चेट को पकड़ कर एकान्त में ठहर जाता है)

चाण्डाल—आर्य चारुदत्त ! राजा का आदेश ही यहाँ अपराधी है, हम

चारु—प्रभवति यदि धर्मो दूषितस्यापि मेऽद्य
प्रबलपुरुषवाक्यैर्भाग्यदोषात् कथञ्चिद् ।
सुरपतिभवनस्था यत्र तत्र स्थिता वा
व्यपनयतु कलङ्कं स्वस्वभावेन सैव ॥ ३४ ॥

भोः ! क्व तावन्मया गन्तव्यम् ? ।

चाण्डालः—(अग्रतो दर्शयित्वा) अले ! एदं दीशदि दक्खिणमशाणं, जं पेक्खिअ वज्झा झत्ति पाणाइं मुञ्चन्ति । पेक्ख पेक्ख । (अरे ! एतत्

अन्वयः—अद्य भाग्यदोषात् प्रबलपुरुषवाक्यैः, दूषितस्य अपि मे धर्मः यदि कथञ्चित् प्रभवति (तदा) सुरपतिभवनस्था यत्र तत्र स्थिता वा सा एव स्वस्वभावेन कलङ्कम् व्यपनतु ।

प्रभवतीति—अद्य भाग्यस्य=ममैव दुर्भाग्यस्य दोषात्=वशात्, प्रबलपुरुषस्य=न्यायाधीशस्य वाक्यैः 'अपसार्यतामयं बटुः' 'दीयतां चाण्डालानामादेशः' इत्यादिवचनैः । यद्वा मम दुर्भाग्यादेव हेतोः प्रबलानि यानि पुरुषस्य नीचपुरुषस्य (शकारस्य) वाक्यानि 'केनापि कुपुत्रेण वसन्तसेना मारिता' इत्यादीनि मिथ्यावचनानि, तैः, दूषितस्यापि=स्त्रीवधात्मकपापारोपेण कलङ्कितस्यापि । मे=मम धर्मः=सत्यधर्मः कथञ्चिदपि=किञ्चिदपि प्रभवति-स्वप्रतापं दर्शयितुं शक्नोति । तदा सुरपतिभवनस्था" अमरावतीस्था । ननु वेश्या कथममरावतीं प्राप्नुयादित्याह-यत्र तत्र=नरकादौ स्थिता वा सैव=वसन्तसेनैव, स्वस्वभावेन=आत्माभिप्रायप्रकाशनेन कलङ्कम्=अपवादम्, व्यपनयतु=दूरीकरोतु । अत्राशंसा नाम नाट्यालंकारः—

सरलार्थः—शकारवचनप्रामाण्येन संप्रति अहं यद्यप्यपराधी निर्णीतस्तथा यदि मे किञ्चन सञ्चितपुण्यं स्यात् तर्हि तत्फलवशात्सैव वसन्तसेना स्वर्गादन्यतो वा स्थानात्कथञ्चनागत्य मन्निर्दोषताप्रकटनं कुर्यात्तदैव कलङ्कमार्जनं सम्भवेन्नान्यथा ।

चाण्डालगण नहीं । अतः जो स्मरण करना हो उसे स्मरण करो ।

चारुदत्त—मेरे भाग्य के दोष से राज-पुरुष के वाक्यों से कलङ्कित आज मेरे धर्म में यदि कुछ प्रभाव हो तो इन्द्र के भवन में स्थित या जहाँ कहीं भी स्थित वसन्तसेना हो अपने स्वभाव से मेरे कलङ्क को दूर हटावे ॥ ३४ ॥

अजी मुझे कहाँ चलना चाहिए ?

चाण्डाल—(आगे की ओर दिखाकर) अरे ! यह दक्षिण श्मशान

दृश्यते दक्षिणश्मशानम्, यत् प्रेक्ष्य वध्या झटिति प्राणान् मुञ्चन्ति । प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व)

अद्धं कलेवलं पडिवुत्तं कट्टन्ति दीहगोमाआ ।
अद्धं पि शूललग्गं वेशं विअ अट्टहाशश्श ।। ३५ ।।
(अर्द्धं कलेवरं प्रतिवृत्तं कर्षन्ति दीर्घगोमायवः ।
अर्द्धमपि शूललग्नं वेश इवाट्टहासस्य ।। ३५ ।।

चारु—हा ! हतोऽस्मि मन्दभाग्यः । (इति सावेगमुपविशति)

शकारः—ण दाव गमिश्शं, चालुदत्ताकं वावादअन्तं दावं पेक्खामि ।

अन्वयः—दीर्घगोमायवः, प्रतिवृत्तम्, अर्द्धम् कलेवरम् कर्षन्ति, शूललग्नम् अर्द्धम् अपि अट्टहासस्य वेशः इव (वर्त्तते) ।

अर्द्धमिति—दीर्घाः=विशालकायाः गोमायवः (न तु ह्रस्वकायास्तेषां शूलारोपितवध्यशरीराण्यप्राप्याण्येव स्युः । यद्वा शूलारोपितशवमाहर्त्तुमूर्द्ध्वंलम्बितार्धकाया अत एव दीर्घीभूता) गोमायवः=शृगालाः, प्रतिवृत्तम्=लम्बितम्, अर्द्धम्=अधस्तनमर्द्धमागम्, कलेवरम्=शरीरम्, कर्षन्ति=भक्षयितुमाकर्षन्ति । शूललग्नम्, अर्द्धम्=उपरितनशरीरार्द्धभागः (अपि), अट्टहासस्य=अतिहसितस्य वेशः=स्वरूपम्, इव (वर्तते इति शेषः) अट्टहासे यथा मुखाभ्यन्तरस्थदशनादीनां स्फुटमवभासस्तद्वदिहापि शूलारोपणावस्थायां स्वाभाविको बोध्यः । अत्र 'अट्टहासः' इवेति गुणोत्प्रेक्षा । तथा पूर्वकृतकार्यस्य संगृहीतत्वात् आदानं नाम विमर्षसन्धेरङ्गम् 'कार्यसंग्रहः आदानम्' इति लक्षणात् । आर्याजातिः ।। ३५ ।।

सरलार्थः—अत्र श्मशाने शूलारोपितानां वध्यजनानां लम्बमानस्य शरीरस्याधस्तनस्य भागं बृहत्कायाः शृगालाः स्वाभिमुखमाकृष्य भक्षयन्ति, ऊर्ध्वतनोभागस्तु शूले निबद्धो दृश्यते तत्र च मरणसमये स्वभावतो भृशं विवृतोष्ठं प्रकटितदन्तं तदीयं मुखमट्टहासकालिकीमनुकृतिं दधदिव प्रतीयते । अतो महती भीषणता लक्ष्यते श्मशानस्य ।। ३५ ।।

दिखलाई पड़ रहा है, जिसे देखकर वध्य पुरुष शीघ्र प्राण-त्याग कर देते हैं । देखो, देखो,—

शरीर ऊपर उठाकर शृगाल, शूल से आधी लटकी हुई देह को खाने के लिए खींच रहे हैं । शूल में आबद्ध शरीर का ऊपरी अर्द्ध भाग, दाँत मुख आदि खुला रहने से विकट हास का रूप मालूम पड़ रहा है ।। ३५ ।।

चारुदत्त—हाय ! मैं अभागा मारा गया । (वेग के साथ बैठ जाता है)

शकार—मैं अभी नहीं जाऊँगा, तब तक मारे जाते हुए चारुदत्त को देखता

(परिक्रम्य दृष्ट्वा) कधं उपविट्टे। (न तावद् गमिष्यामि, चारुदत्तं व्यापाद्यमानं तावत् प्रेक्षे। कथमुपविष्टः)

चाण्डालः—चालुदत्त ! किं भीदेशि ?। (चारुदत्त ! किं भीतोऽसि ?)

चारु—(सहसोत्थाय) मूर्ख !। ('न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः।' इत्यादि पुनः पठति)

चाण्डालः—अज्जचालुदत्त ! गअणदले पडिवशन्ता चन्दशुज्जा वि विपत्तिं लहन्ति, किं उण जणा मलणभीलुआ माणवा वा। लोए कोवि उट्ठिदो पडदि, को वि पडिदो उट्ठेदि। (आर्य चारुदत्त ! गगनतले प्रतिवसन्तौ चन्द्रसूर्यावपि विपत्तिं लभेते; किं पुनर्जना मरणभीरुका मानवा वा। लोके कोऽपि उत्थितः पतति, कोऽपि पतित उत्तिष्ठति)

उट्ठन्तपडन्ताह वशणपाड़िआ शवश्श उण अत्थि।
एदाइ हिअए कदुअ सन्धालेहि अत्ताणअ ॥ ३६ ॥
(उत्तिष्ठत्पततो वसनपातिका शवस्य पुनरस्ति।
एतानि हृदये कृत्वा सन्धारयात्मानम् ॥ ३६ ॥)

विपत्तिम् = अस्तगमनग्रहणादिरूपाम्। जनाः = जननधर्माणः। विपत्तिम् = मरणादिरूपाम्, न लभन्ते ? अपि तु लभन्त एवेत्याशयः।

अन्वयः—उत्तिष्ठत्पततः शवस्य पुनः वसनपातिका अस्ति एतानि हृदये कृत्वा आत्मानम् सन्धारय।

उत्तिष्ठदिति—उत्तिष्ठन् चासौ पतन् चेति तस्य शवस्य = मृतशरीरस्य (अपि) पुनः वसनस्येव = पताकापटस्येव पातिका = पतनक्रिया (उपर्यधःक्रमेण स्फुरणमिति यावत् ('धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्यः' इति ण्वुल्। एतानि = मात्थावल-

---

हूँ। (घूम कर और देखकर) बैठ क्यों गया ?

चाण्डाल—चारुदत्त ! क्या डर गये ?

चारुदत्त—(सहसा उठकर) मूर्ख ! ('मृत्यु से नहीं डर रहा हूँ किन्तु डरा इसलिए हूँ कि मेरा यश कलङ्कित हो गया' इत्यादि पुनः पढ़ता है)

चाण्डाल—आर्य चारुदत्त ! आकाश प्रान्त में स्थित चन्द्रमा और सूर्य भी अस्त-गमनरूप विपत्ति का अनुभव करते हैं। फिर जननशील पशु-पक्षी एवं मरण-भीरु मनुष्यों का क्या कहना है ? संसार में कोई उठकर गिरता है और कोई गिर कर उठता है।

(उत्थान) में, पताका के उत्थान और पतन समान शव (मृत देह) का भी

(द्वितीयचाण्डालं प्रति) एदं चउट्ठं घोशणट्ठाणं। ता उग्घोशम्ह। (एतच्चतुर्थं घोषणास्थानम्। तदुद्घोषयावः)

(पुनस्तथैव उद्घोषयतः)

चारु—हा प्रिये ! वसन्तसेने ! ('शशिविमलमयूख' इत्यादि पुनः पठति)

(ततः प्रविशति ससम्भ्रमा वसन्तसेना भिक्षुश्च)

भिक्षुः—हीमाणहे ! अट्ठाणपलिश्शन्तं शमश्शाशिअ वशन्तशेणिअं णअन्ते अणुग्गहिदम्हि पव्वज्जाए। उवाशिके ! कहिं तुमं णइश्शं ?। (हन्त ! अस्थानपरिश्रान्तां समाश्वास्य वसन्तसेनां नयन् अनुगृहीतोऽस्मि प्रव्रज्यया। उपासिके। कुत्र त्वां नेष्यामि)

सितानि (उत्थानपतनहेतुभूतानि) हृदये कृत्वा = विचार्य, आत्मानम् = मनः, सन्धारय = स्थिरीकुरु ॥ ३६ ॥

सरलार्थः—पताकाया यथा कदाचिदूर्ध्वस्फुरणं निर्वातावस्थायामधःपतनञ्च दृश्यते तद्वन्मनुष्यस्य कदाचिदुत्थानं कदाचित्पतनञ्च भवति किंपुनरधिकं शवावस्थायामपि तस्य शूलारोपपतनाभ्यां दशाविपर्ययो भवतीत्यहो विधेर्विलसितम्। अत्र नास्ति कस्यापि सामर्थ्यमिति हृदये धैर्यं बधान ॥ ३६ ॥

भिक्षुरिति—हीमाणहे=हर्षाश्चर्यसूचकमव्ययम्। अस्थाने=निर्जनस्थाने परिश्रान्ताम्=शकारकृतघातेन मूर्च्छिताम्, समाश्वास्य=उपचारेण सुस्थिरीकृत्य, नयन् = इष्टदेशं प्रापयन्, प्रव्रज्यया = बौद्धसंन्यासाश्रयणेन, 'प्रव्रज्यते' इत्यर्थे 'अप्रत्ययात्'

शूल पर उत्थान—पतन होता है। इसे हृदय से समझ कर अपनी आत्मा को स्थिर करो। अर्थात् संसार में उत्थान और पतन का नित्य नियम देखकर अपने पतन के समय तुम भी दुःखी मत होओ ॥ ३६ ॥

(द्वितीय चाण्डाल के प्रति) यह चौथा घोषणा स्थान है, अतएव आओ घोषित करें।

(पुनः उसी प्रकार घोषणा करते हैं)

चारुदत्त—हा प्रिये ! वसन्तसेने !! ('चन्द्रमा की निर्मल किरण के समान' इत्यादि पुनः पढ़ता है)

(इसके बाद आकुल वसन्तसेना और भिक्षुक का प्रवेश)

भिक्षुक—अहा ! अस्थान पुरातन उपवन मे श्रान्त वसन्तसेना को परिचर्या से स्थिर कर इसे ले जाता हुआ मैं अनुगृहीत हो गया। उपासिके ! तुम्हें कहाँ ले चलूँ ?

वसन्त—अज्जचारुदत्तस्स ज्जेव गेहं। तस्स दंसणेण मिअलांछणस्स विअ कुमुदिणिं आणंदेहि मं। (आर्यचारुदत्तस्यैव गेहम्। तस्य दर्शनेन मृगलाञ्छनस्येव कुमुदिनीमानन्दय माम्)

भिक्षुः—(स्वगतम्) कदलेण मग्गेण पविशामि ? (विचिन्त्य) लाअमग्गेण ज्जेव पविशामि। उवाशिके ! एहि, इमं लाअमग्गं; (आकर्ण्य) कि णु हु एशे लाअमग्गे महंते कलअले शुणीअदि ?। (कतरेण मार्गेण प्रविशामि ?। राजमार्गेणैव प्रविशामि। उपासिके ! एहि, अयं राजमार्गः, किं नु खल्वेष राजमार्गे महान् कलकलः श्रूयते ?)

वसन्त—(अग्रतो निरूप्य) कधं पुरदो महाजणसमूहो ?। अज्ज ! जाणाहि दाव किं ण्णेदं त्ति। विसमभरक्कंता विअ वसुन्धरा एअवासोण्णदा उज्जइणी वट्टदि। (कथं पुरतो महाञ्जनसमूहः ?। आर्य ! जानीहि तावत्किन्विदमिति। विषमभरक्रान्तेव वसुन्धरा एकवासोन्नतोज्जयिनी वर्तते)

चाण्डालः—इमं अ पच्छिमं घोशणट्ठाणं, ता तालेध डिंडिमं उग्घोशेध घोशणं। (तथा कृत्वा) भो चालुदत्त ! पडिवालेहि। मा भाआहि,

---

इत्यप्रत्ययः। अनुगृहीतः अस्मि। प्रव्रज्याग्रहणमद्यैव मे सफलं वसन्तसेनायाः प्राणरक्षणात्। संन्यासित्वादेवाहं तत्र गतः, इतरथा तत्र गमनासम्भवेन तत्प्राणरक्षणमसम्भवं स्यादिति निष्कर्षः।

वसन्त इति—गेहम्=गृहम् (गमयेति शेषः)। मृगस्य=शशस्य, लाञ्छनम्=चिह्नम् यस्मिन् तस्य चन्द्रस्येत्यर्थः। दर्शनेन, कुमुदिनीम् इव चारुदत्तस्य दर्शनेन मामानन्दयेत्यर्थः।

वसन्तसेना—आर्य्य चारुदत्त के ही घर पर। उनके दर्शन से, चन्द्रमा से कुमुदिनी के समान मुझे आनन्द दो।

भिक्षुक—(मन में) किस मार्ग से प्रवेश करूं ? (सोचकर) राजपथ से ही प्रवेश करूँ। उपासिके ? आओ यह राजपथ है। (सुनकर) इस राजपथ पर महान् कोलाहल क्यों सुनाई पड़ रहा है ?

वसन्तसेना—(आगे की ओर देखकर) आगे यह बड़ा जन-समुदाय क्यों उपस्थित है ? आर्य ! पता लगाइये कि यह क्या है ? अतिशय भार से आक्रान्त पृथ्वी के समान उज्जयिनी नगरी जनसमूह से एक ओर उन्नत हो रही है।

चाण्डाल—यह पाँचवां घोषणा स्थान है। अतः नगाड़ा बजाओ तथा राज-

लहु ज्जेव मालीअशि ! (इदं च पश्चिमं घोषणास्थानम्, तत्ताडयत डिण्डिमम् । उद्घोषयत घोषणाम् । भोश्चारुदत्त ! प्रतिपालय । मा भैः, शीघ्रमेव मार्यसे)

चारु—भगवत्यो देवताः ! ।

भिक्षुः—(श्रुत्वा, ससंभ्रमम्) उवासिके !तुमं किल चालुदत्तेण मालिदाशि त्ति चालुदत्तो मालिदुं णीअदि । (उपासिके ! त्वं किल चारुदत्तेन मारितासीति चारुदत्तो मारयितुं नीयते)

वसन्त—(ससंभ्रमम्) हद्धी हद्धी, कधं मम मंदभाइणीए किदे अज्ज-चालुदत्तो वावादीअदि ? । भो ! तुरिदं तुरिदं आदेसेहि मग्गं । (हा धिक् हा धिक्, कथं मम मन्दभागिन्याः कृते आर्य-चारुदत्तो व्यापाद्यते ? । भोः ! त्वरितं त्वरितमादिश मार्गम्)

भिक्षुः—तुवलदु तुवलदु बुद्धोवाशिआ अज्ज चालुदत्तं जीअंतं शमश्शाशिदुं । अज्जा ! अंतलं अंतलं देध । (त्वरतां त्वरतां बुद्धोपासिकाऽऽर्य-चारुदत्तं जीवन्तं समाश्वासयितुम् । आर्याः ! अन्तरमन्तरं दत्त)

पश्चिमम् = अन्तिमम् । प्रतिपालय=प्रहारस्य प्रतीक्षां कुरु शीघ्रमेव मार्यसे= एकप्रहारेणैव हनिष्यसे तेन तव कष्टं न भविष्यतीति भावः)

चारु इति—हे देवताः ! (प्रसन्ना भवत येन मेऽपवादः नश्यतु) इति शेषः ।

भिक्षुरिति—जनतामुखेरितमाकर्ण्य कथितम् इति ज्ञेयम् ।

भिक्षुरिति—आर्याः !=हे महाशयाः (जनसमवायसम्बोधनम्) । अन्तरम्= आवयोर्गन्तुमवकाशम्, दत्त = मार्गात्किञ्चिदपसरतेत्याशयः ।

घोषणा घोषित कर दो । (वैसा करके) ऐ चारुदत्त ! प्रहार की प्रतीक्षा करो, डरो मत, शीघ्र ही मारे जाओगे ।

चारुदत्त—भगवती देवी !

भिक्षुक—(सुनकर आकुलता के साथ) उपासिके ! तुम चारुदत्त से मारी गई हो अतः चारुदत्त को शूली पर लटकाने के लिए ले जाया जा रहा है ।

वसन्तसेना—(घबड़ा कर) क्या मुझ अभागिनी के कारण आर्य चारुदत्त मारे जा रहे हैं ? अरे ! जल्दी-जल्दी उस मार्ग पर ले चलो ।

भिक्षुक—जल्दी करो, जल्दी करो बुद्ध की उपासिका आर्य चारुदत्त के जीवन को धैर्य धारण कराने के लिए । सज्जनो ! अवकाश दो, अवकाश दो ।

वसन्त—अंतलं अंतलं। (अन्तरमन्तरम्)

चाण्डालः—अज्जचालुदत्त ! शमिणिओओ अवलज्झदि। ता शुमलेहि जं शुमलिदव्वं। (आर्य चारुदत्त ! स्वामिनियोगोऽपराध्यति। तत्स्मर यत्स्मर्तव्यम्)

चारु—किं बहुना। ('प्रभवति–' इत्यादि श्लोकं पठति)

चाण्डालः—(खड्गमाकृष्य) अज्जचालुदत्ते ! उत्ताणे भविअ समं चिट्ठ। एक्कप्पहालेण मालिअ तुमं शग्गं णेम्ह। (आर्यचारुदत्त। उत्तानो भूत्वा समं तिष्ठ। एक प्रहारेण मारयित्वा त्वां स्वर्गं नयावः)

(चारुदत्तस्तथा तिष्ठति)

चाण्डालः—(प्रहर्तुमीहते, खड्गपतनं हस्तादभिनयन्) ही, कधं (ही कथम्)

आअट्ठिदे शलोशं मुट्ठीए मुट्ठिणा गहीदे वि।
धलणीए कीश पडिदे दालुणके अशणिशण्णिहे खग्गे ॥३७॥

चाण्डाल इति—स्वामिनः = राज्ञः, नियोगः = आदेशः, अपराध्यति=त्वद्वधादेशकरणेन अपराधं करोति। अत्र नास्माकमपराध इति भावः।

चाण्डाल इति—उत्तानः = पृष्ठतः शयानो भूत्वा। समम् = ऋजुकायम् (यथास्यात्तथा तिष्ठेति भावः)

चाण्डाल इति—विस्मये हीशब्दः। वितर्के च कथंशब्दः।

वसन्तसेना—अवकाश, अवकाश।

चाण्डाल—आर्य चारुदत्त ! यह स्वामी के आदेश के कारण आप मारे जा रहे हैं इसलिए जो कुछ स्मरण करना हो, कर लो।

चारुदत्त—अधिक क्या ? ('धर्म में यदि प्रभाव हो' इत्यादि श्लोक पुनः पढ़ता है)।

चाण्डाल—(तलवार खींचकर) आर्य चारुदत्त ! ऊपर वक्ष और नीचे पीठ करके सीधे लेट जाओ ! एक ही तलवार के प्रहार से मारकर हम लोग तुम्हें स्वर्ग पहुँचा दें।

(चारुदत्त उसी प्रकार लेट जाता है)

चाण्डाल—(प्रहार करना चाहता है। हाथ से तलवार का पतन अभिनय करते हुए) हाय ! क्या है ?

क्रोधपूर्वक खींची हुई एवं मुट्ठी से (तलवार की) मूठ पकड़े रहने पर भी

(आकृष्टः सरोषं मुष्टौ मुष्टिना गृहीतोऽपि ।
धरण्यां किमर्थं पतितो दारुणकोऽशनिसंनिभः खड्गः ॥३७॥)

जधा एदं शंवुत्तं, तधा तक्केमि ण विवज्जदि अज्जचालुदत्ते त्ति । भअवदि शज्झवाशिणि ! पशीद पशीद । अवि णाम चालुदत्तश्श मोक्खे भवे, तदो अणुगहीदं तुए चाण्डालउलं भवे ।

यथैतत्संवृत्तम्, तथा तर्कयामि न विपद्यत आर्यचारुदत्त इति । भगवति सह्यवासिनि । प्रसीद प्रसीद । अपि नाम चारुदत्तस्य मोक्षा भवेत्, तदानुगृहीतं त्वया चाण्डालकुलं भवेत्)

अपरः—जधाण्णत्तं अणुचिट्ठम्ह । (यथाज्ञप्तमनुतिष्ठावः)

अन्वयः—सरोषम् आकृष्टः मुष्टौ मुष्टिना गृहीतः अपि अशनिसन्निभः, दारुणकः खड्गः केन धरण्याम् पतितः ?

आकृष्ट इति—सरोषम्=बलपूर्वकमिति भावः । चारुदत्तं प्रति क्रोधानुदयात् । कृत्रिमा सरोषता स्यादपि । आकृष्टः=कोशान्निष्कासितः । मुष्टौ=खड्गमुष्टौ, मुष्टिना गृहीतः अपि, अशनिसन्निभः=वज्रतुल्यः । दारुणकः=अतिभयङ्करः । खड्गः=केन हेतुना धरण्याम्=भूतले पतितः । आर्थी उपमा । उद्गीतिः जातिरिति पृथ्वीधरः ॥

सरलार्थः—सक्रोधं कर्त्तव्यवशादादौ मुष्टिमध्ये कोपादाकृष्य स्थापितः पश्चाद् दृढं मुष्टिना धारितोऽयं मदीयो महासिर्दारुणवज्रसंनिभः सन्नपि किमर्थमकस्मात् कराद् भ्रष्टो भूमौ पतितः । एतेन चारुदत्तस्य जीवनरक्षा भविष्यतीति सूच्यते ततो मारणमनुचितमस्येति । भावः ॥ ३७ ॥

यथेति—न विपद्यते = न मरिष्यत इत्यर्थः । भविष्यत्सामीप्ये वर्तमानता । सह्यवासिनि = सह्याद्रिनिवासिनि भगवति । (चाण्डालानामाराध्यत्वात्सम्बोधनम्) । अनुगृहीतम् = साधुपुरुषप्राणरक्षणेन कीर्त्युदयादित्याशयः ।

अपर इति—आज्ञप्तम् = 'चारुदत्तो व्यापाद्यताम्' इति राजादेशम् अनतिक्रम्येति यथाज्ञप्तम् 'अव्ययमि' त्यादिना यथार्थेऽव्ययीभावः । तथा च खड्गस्य पतने जाते शूलारोपेण मारयाम इत्याशयः :

वज्र के तुल्य कठोर तथा भीषण तलवार पृथ्वी पर क्यों गिर गई ॥ ७॥

क्योंकि तलवार गिर गई इससे मैं अनुमान करता हूँ कि चारुदत्त की मृत्यु न होगी । सह्यनिवासिनि ! देवि !! प्रसन्न हो, प्रसन्न हो ! चारुदत्त मृत्यु मुख से छूट जाय ? तो यह चाण्डालकुल आप से अनुगृहीत हो जाय ।

दूसरा—राजा के आदेशानुसार कार्य करें ।

प्रथमः—भोदु, एव्वं कलेम्ह। (भवतु, एवं कुर्वः)

(इत्युभौ चारुदत्तं शूले समारोपयितुमिच्छतः)

(चारुदत्तः 'प्रभवति–' इत्यादि पुनः पठति)

भिक्षुर्वसन्तसेना च—(दृष्ट्वा) अज्जा! मा दाव मा दाव। अज्जा! एसा अहं मंदभाइणी, जाए कारणादो एसो वावादीअदि। (आर्याः! मा तावन्मा तावत्। आर्याः एषाहं मन्दभागिनी यस्याः कारणादेष व्यापाद्यते).

चाण्डालः—(दृष्ट्वा)

का उण तुलिदं एशा अंशपडंतेण चिउलभालेण।
मा मेत्ति वाहलंती उट्ठिदहत्था इदो दि ॥ ३८ ॥
(का पुनस्त्वरितमेषांसपतता चिकुरभारेण।

चारु इति—एतावत्पर्यन्तं विमर्षसन्धिः।

भिक्षुरिति—मा तावत् = चारुदत्तं मा मारयेति शेषः। एषाहं जीवामि इति शेषः। इत आरभ्य समाप्तिपर्यन्ते उपसंहारसन्धिः। तथा चात्र वसन्तसेनाचारुदत्तयोश्चिरसम्मेलनोत्पत्तेः फलागमो नाम चरमकार्यावस्था निबद्धा। यथा 'सावस्था फलयोगः स्याद् यः समग्रफलोदयः'। तथा वसन्तसेनाचारुदत्तयोः परस्परानुराग-रूपबीजवन्तो मुखसन्ध्यादिषु निवेशिता नानार्था अत्र परस्परसम्मेलनरूपमुख्य-फलोपयोगितया निबद्धाः। तथा च 'बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्। एकार्थमुपनीयन्तो यत्र निर्वहणं हि तत्।'

अस्य च सन्धिप्रभृतीनि चतुर्दशाङ्गानि यथास्थानं निवेश्य लक्षणानि वक्ष्यामः।

अन्वयः—अंसपतता, चिकुरभारेण उत्थितहस्ता एषा का पुनः 'मा–मा' इति व्याहरन्ती इतः त्वरितम् एति।

का पुनरिति–अंसे=स्कन्धे, पतता=व्याकुलतया गमनात् विपर्यस्तेन, चिकुरभारेण=केशसमूहेन, उपलक्षिता उपलक्षणे तृतीया। तथा, उत्थितः='चारुदत्तं मा व्यापादये'ति संकेतयितुमुद्गतो हस्तो यस्याः सा, एषा=पुरोदृश्यमाना का पुनः (स्त्री)'मा

प्रथम—अच्छा ऐसा ही करें!

(दोनों चाण्डाल चारुदत्त को शूली पर चढ़ाने की इच्छा करते हैं)

चारुदत्त—(यदि धर्म में प्रभाव हो' इत्यादि पुनः पढ़ता है)

भिक्षुक और वसन्तसेना—(देखकर) सज्जनो! ऐसा न कीजिए, न कीजिए। सज्जनो! यह मैं अभागिनी हूँ जिसके कारण वे मारे जा रहे हैं।

चाण्डाल—(देखकर) केश कलाप कंधे पर लटक रहे हैं हाथ उठाए

मा मेति व्याहरन्त्युत्थितहस्तेव एति ॥ ३८ ॥)

वसन्त—अज्जचालुदत्त ! किं ण्णेदं ? (आर्य चारुदत्त ! किं न्विदम् ?)

(इत्युरसि पतति)

भिक्षुः—अज्जचालुदत्त ! किं ण्णेदं ? (आर्य चारुदत्त ! किं न्विदम् ?)

(इति पादयोः पतति)

चाण्डालः—(सभयमुपसृत्य) कधं वशंतशेणा ? । णं खु अम्हेहिं शाहु ण वावादिदे । (कथं वसन्तसेना ? । ननु खल्वस्माभिः साधुर्न व्यापादितः)

भिक्षुः—(उत्थाय) अले, जीवदि चालुदत्ते । (अरे, जीवति चारुदत्तः)

चाण्डालः—जीवदि वश्शशदं । (जीवति वर्षशतम्)

मा' इति व्याहरन्ती=कथयन्ती (सती) इतः=अस्यां दिशि, त्वरितम्=झटिति, एति= आगच्छति । आर्या जातिः ॥ ३८ ॥

सरलार्थः—का एषा पुनः रक्षणार्थमिव शीघ्रगमनेन स्कन्धदेशे विकीर्णान् केशान् बिभ्रती ऊर्ध्वबाहुः 'मा मा मारय मा मा मारय निरपराधमेतं विप्रजन-मि'ति वारंवारमुच्चैः कथयन्ती मत्समीप आगच्छतीति न जाने ॥ ३८ ॥

वसन्त इति—उरसि पतनेन अनुरागरूपबीजापगमनात् सन्धिर्नाम उपहारस-न्धेरङ्गं 'बीजोपगमनं सन्धि'रिति दर्पणोक्तेः ।

चाण्डाल इति—कथम् = आश्चर्यमित्यर्थः न व्यापादितः = भाग्यवशान्न मारितः, अन्यथा महान् पश्चात्तापः स्यादिति भावः ।

भिक्षुरिति—जीवति चारुदत्तः ? । प्रश्नश्चायमानन्दसम्भ्रमादविचारितः । पूर्वमेव चारुदत्तपादयोरस्य पतितत्वादिति बोध्यम् ।

चाण्डाल इति–वर्षाणाम् शतं जीवति=जीविष्यति (कालमुखतो निःसरणात् ।

हुई, न कीजिए, न कीजिए' ऐसा कहती हुई यह कौन जल्दी-जल्दी इसी ओर आ रही है ? ॥ ३ ॥

वसन्तसेना—आर्य चारुदत्त ! यह क्या बात है ? (हृदय पर गिर जाती है)

भिक्षुक—आर्य चारुदत्त ! यह क्या बात है ? (चरणों पर गिर जाता है)

चाण्डाल—(भयपूर्वक समीप आकर) क्या वसन्तसेना ? भाग्यवश हम लोगों ने साधु चारुदत्त को न मारा ।

भिक्षुक—(उठकर) अरे चारुदत्त जीवित हैं ।

चाण्डाल—सौ वर्ष तक जीयें ।

वसन्त—(सहर्षम्) पच्चुज्जीविदम्हि ! (प्रत्युज्जीवितास्मि)

चाण्डाल:—ता जाव एदं वुत्तं लाइणो जण्णवाडगदश्श णिवेदेम्ह ।

(तद्यावदेतत् वृत्तं राज्ञो यज्ञवाटगतस्य निवेदयाव:)

(इति निष्क्रामतः)

शकार:—(वसन्तसेनां दृष्ट्वा, सत्रासम्) हीमादिके, केण गब्भदाशी जीवाविदा ? । उक्कंताइं मे पाणाइं । भोदु, पलाइश्शं । (आश्चर्यम्, केन गर्भदासी जीवनं प्रापिता ? । उत्क्रान्ता मे प्राणा: । भवतु, पलायिष्ये)

(इति पलायते)

चाण्डाल:—(उपसृत्य) अले, णं अम्हाणं ईदिशी लाआणत्ती—जेण शा वावादिदा, तं मालेध त्ति । ता लट्ठिअशालअं ज्जेव अण्णेशम्ह ।

(अरे, नन्वस्माकमीदृशी राजाज्ञप्ति:—येन सा व्यापादिता, तं मारयतेति । तद्राष्ट्रियश्यालमेवान्विष्याव:)

वसन्त इति—प्रत्युज्जीविताऽस्मि = तज्जीवनेनाहमपि जीवतास्मि । अन्यथा ममापि मरणमवश्यं स्यादिति भाव: ।

चाण्डाल इति—वृत्तम्=वसन्तसेनागमनरूपं वृत्तान्तम् । यज्ञवाटगतस्य = यज्ञमण्डपे उपस्थितस्य । समीपे इति शेष: ।

इति—निष्क्रामत: = निष्क्रमितुं प्रवृत्तौ जातौ । चाण्डालाविति शेष: ।

शकार इति—हीमादिके = एकमेव भयविस्मयसूचकमव्ययम् । (शकारभाषायामिति शेष:) जीविता = रक्षितो । णिजन्ताज्जीवधातो: कर्मणि क्त: । प्राणा: उत्क्रान्ता: भिक्षुसाक्ष्यात् वसन्तसेनासाक्षात्काराच्च वधाभियोगस्य मय्येव निश्चेष्यमाणत्वेन प्राणदण्डसम्भवादिति भाव: ।

चाण्डाल इति—राष्ट्रियश्यालकम्=शकारम् । अन्विष्याव: (मारयितुमिति शेष:) । शकारस्य महादुष्टस्वभावत्वात्, स्वाधिकारबाह्यमपि कस्याप्यविचारितमारणं तदर्थं

वसन्तसेना—(प्रसन्नतापूर्वक) पुनर्जीवित हो गई ।

चाण्डाल—तब यह वृत्तान्त यज्ञशाला में गए हुए राजा से कह आवें ।

(चला गया)

शकार—(वसन्तसेना को देखकर भयपूर्वक) हाय ! यह अधमदासी कैसे जीवित हो गई । मेरा प्राण निकलना चाहता है । अच्छा भागता हूँ ।

(भागता है)

चाण्डाल—(आकर) अरे ! हम लोगों को राजा की ओर से ऐसी आज्ञा है

(इति निष्क्रान्तौ)

चारु—(सविस्मयम्)

केयमभ्युद्यते शस्त्रे मृत्युवक्त्रगते मयि।
अनावृष्टिहते सस्ये द्रोणवृष्टिरिवागता ॥ ३९ ॥

(अवलोक्य च)

वसन्तसेना किमियं द्वितीया समागता सैव दिवः किमित्थम्।
भ्रान्तं मनः पश्यति वा ममैनां वसन्तसेना न मृताऽथ सैव ॥ ४० ॥

शकारान्वेषणं चाण्डालस्य नानुपपद्यते। अत्र शकारमारणकार्यस्यान्वेषणात् विबोधो नाम उपसंहारसन्धेरङ्गम् तथाहि—'विबोधः कार्यमार्गणम्' इति दर्पणोक्तेः।

इतीति—चाण्डालौ निष्क्रान्ताविति बोध्यम्।

केयमिति—शस्त्रे = खड्गे। शस्यत अनेनेत्यर्थे शसु-हिंसायाम् (भ्वा.प.से.) 'दाम्नीशसयुयुजस्तुदे'त्यादिना करणेऽर्थे ष्ट्रन् प्रत्ययः। 'तितुत्रतथे'त्यादिना इण्निषेधे शस्त्रमिति साधुः। अभ्युद्यते (मद्वधार्थमुत्थापिते) (अतः) मयि, मृत्युवक्त्रगते (सति) इयम् का नारी सस्ये अनावृष्टिहते (हतप्राये) द्रोणवृष्टिः (पूर्वव्याख्यातमेघविशेषस्य वर्षणमिव) आगता (मां जीवयितुमुपस्थितेति भावः)। अत्र श्रौती उपमा ॥ ३९ ॥

सरलार्थः—मन्मारणार्थमुत्तोलिते महाखड्गे अथ च मृत्युमुखे पतितप्राये मयि जाते अवर्षणेन नष्टप्राये सस्यक्षेत्रे सस्यप्रवृद्धिकारकद्रोणनामकमेघवृष्टिसदृशी सहसा समागताऽसौ का वसन्तसेनाऽथवा तद्रूपधारिणी तदतिरिक्ता देवी वा ॥ ३९ ॥

वसन्तेति—इयम् (पुरोवर्त्तमाना स्त्री) किम् द्वितीया वसन्तसेना ? (सर्वथा तत्सारूप्यात्)। (यद्वा) सा एव (वसन्तसेनैव) दिवः (परलोकात्) इत्थम् (स्वदेहेनैव) समागता ?। वा (अथवा) भ्रान्तम् (प्राणदण्डहत्यापवादाभ्यां व्याकुलीभूततया विक्षिप्तम्) मम मनः एनाम् (स्त्रियं वसन्तसेनात्वेनेति शेषः) पश्यति। अथवा वसन्तसेना न मृता (इयम्) सा (वसन्तसेना) एव। अत्र प्रकृत-

---

कि 'जिसने वसन्तसेना को मारा हो उसे मारो'। इसलिए राजा के साले को ही खोजें।

(दोनों चले गये)

चारुदत्त—(आश्चर्यपूर्वक) मेरे ऊपर प्रहार करने के लिए शस्त्र उठ चुकने पर एवं मुझे मृत्यु के मुख में चले जाने पर वर्षा के बिना सूखे हुए धानों पर द्रोण-वृष्टि के समान यह कौन आ गई ? ॥ ३९ ॥

(देखकर) क्या यह दूसरी वसन्तसेना है ? या वही वसन्तसेना स्वर्ग से

अथवा,—

किं नु स्वर्गात्पुनः प्राप्ता मम जीवातुकाम्यया ।
तस्य रूपानुरूपेण किमुतान्येयमागता ॥ ४१ ॥

वसन्त—(सास्रमुत्थाय, पादयोर्निपत्य) अज्जचालुदत्त ! सा ज्जेव अहं

वसन्तसेनायां द्वितीयात्वादिकं संशय्य पश्चात् 'सैवे'तिनिश्चयान्निश्चयान्तः सन्देहोऽलङ्कारः, तथाहि 'सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः । शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्तः' इति दर्पणोक्तेः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ४० ॥

सरलार्थः—किमियं द्वितीया वसन्तसेनैव समायाता अथवा सैव स्वर्गात् पुनरागता, किं वा विपत्तिपराकाष्ठादर्शनेन भ्रान्तं मदीयं मनो विलोकयत्येनाम्, अथवा वस्तुतस्तु वसन्तसेना न मृता किन्तु जीवत्येव ततः पुनरेव मद्भाग्यात्समुपस्थिता सैव किम्, इति मया तर्क्यते ॥ ४० ॥

ननु वसन्तसेनाहत्याभियोगानिश्चयादहं वध्यो निर्धारितः शूले आरोप्यश्चासम्, इति कथं सा जीविता भवेदित्याशङ्क्याह—किन्न्विति—मम जीवातुः (जीवनम् जीवत्यनेनेत्यर्थे 'जीव=प्राणधारणे (भ्वा. प. से.) इत्यतः 'जीवेरातुः' इत्यातुः प्रत्ययः । 'जीवातुरस्त्रियां भक्ते जीविते जीवनौषधे' इति मेदिनी ।) तस्य काम्या (इच्छा) 'काम्यच्चे'ति काम्यजन्तात् 'अप्रत्ययात्' इति स्त्रियामप्रत्ययः । तया । स्वर्गात् पुनः किन्तु प्राप्ता (आगता) । (किंवा) इयम् अन्या (स्त्री) तस्याः (वसन्तसेनायाः) रूपानुरूपेण (रूपमादृश्येनोपलक्षिता) किमुत आगता । सर्वथा तदागमनस्यासम्भवादित्याशयः । अत्र पूर्वार्द्धे क्रियोत्प्रेक्षा परार्द्धे तु शुद्धसन्देहः, मिथोनैरपेक्ष्येणानयोस्संसृष्टिश्च । 'केयमभ्युद्यते शस्त्रे' इत्यारभ्य 'किन्तु स्वर्गादि'त्येतत्पर्यन्तमुपगूहनं नामोपसंहारसन्धेरङ्गम् 'तद्भवेदुपगूहनम् । यत्स्यादद्भुतसम्प्राप्तिः' इति दर्पणोक्तेः ॥ ४१ ॥

सरलार्थः—अथवा मम जीवनौषधदानेच्छया सैव वसन्तसेना पुनर्मृत्युलोकं स्वर्गात् सम्प्राप्ता किम् ? किंवा तदनुरूपाकृतिं दधती वसन्तसेनातो भिन्ना काऽपि देवी समागता किम् ? ॥ ४१ ॥

उतर आई है ? अथवा मेरा भ्रान्त मन इस स्त्री को वसन्तसेना समझ रहा है ? अथवा वसन्तसेना मरी नहीं है, वही सम्मुख खड़ी है ? ॥ ४० ॥

अथवा—मेरी रक्षा करने के लिए यह पुनः स्वर्ग से चली आई है ? अथवा उसी के रूप से मिलती-जुलती यह कोई दूसरी स्त्री आ गई है ? ॥ ४१ ॥

वसन्तसेना—(सजल आँखों से युक्त हो, उठकर तथा चरणों पर गिरकर)

पावा, जाए कारणादो इअं तुए असरिसो अवत्था पाविदा। (आर्यचारुदत्त ! सैवाहं पापा, यस्याः कारणादियं त्वयाऽसदृश्यवस्था प्राप्ता)

(नेपथ्ये)

अच्चरिअं, अच्चरिअं, जीवदि वसंतसेना (आश्चर्यमाश्चर्यं, जीवति वसन्तसेना) (इति सर्वे पठन्ति)

चारु—(आकर्ण्य सहसोत्थाय स्पर्शसुखमभिनीय निमीलिताक्ष एव हर्षगद्गदाक्षरम्) प्रिये ! वसन्तसेना त्वम् ?।

वसन्त—सा ज्जेवाहं मंदभाआ। (सैवाहं मन्दभाग्या)

चारु—(निरूप्य सहर्षम्) कथं वसन्तसेनैव ?। (सानन्दम्)

कुतो बाष्पाम्बुधाराभिः स्नपयन्ती पयोधरौ।
मयि मृत्युवशं प्राप्ते विद्येव समुपागता ॥ ४२ ॥

असदृशी—अयोग्या (सापवादमृत्युदण्डनिर्द्धारणरूपा)।

वसन्तसेना त्वम् ? इति काक्वा प्रश्नः।

कुत इति—मयि मृत्युवशम् प्राप्ते (सति) बाष्पस्य ऊष्माश्रूणः 'बाष्पमूष्माश्रु' इत्यमरः। अम्बुधाराभिः पयोधरौ (स्तनौ) स्नपयन्ती (क्षालयन्ती) स्ना-शौचे इत्यतः णिचिअतिह्रीव्ली'त्यादिना पुकि 'ग्लास्ना' इति वैकल्पिकमित्वात् ह्रस्वे। शत्रन्तान्ङीपि रूपम्। विद्या (मृतसञ्जीवनी ऋक्) इव कुतः (कस्मात्स्थानात्) समुपागता यत्स्पर्शमात्रेण म्रियमाणोऽपि जीवित इति भावः। श्रौती उपमा ॥४२॥

सरलार्थः—मयि मृत्योरधीनतां प्राप्ते सति नेत्राश्रुधाराभिः कुचौ स्नपयन्ती मृतसंजीवनी विद्यासदृशी त्वं कुतः समुपस्थिता ॥ ४२ ॥

आर्य चारुदत्त !। मैं वही पापिनी वसन्तसेना हूँ जिसके कारण आप इस शोचनीय अवस्था में पहुँच गए !

नेपथ्य में—आश्चर्य है, आश्चर्य है। वसन्तसेना जीवित है।

(यही सभी पढ़ते हैं)

चारुदत्त—(सुनकर, सहसा उठकर, स्पर्श सुख का अनुभव करते हुए, आँख मुकुलित करके, प्रसन्नतापूर्वक गद्गद वाणी में) प्रिये ! तुम वसन्तसेना हो ?

वसन्तसेना—हाँ मैं वही अभागिनी हूँ।

चारुदत्त—(देखकर हर्षपूर्वक) क्या वसन्तसेना ही हो। (आनन्दपूर्वक) मुझे मृत्यु के वश में होने पर, अश्रुजल की धाराओं से दोनों कुचों को अभिषिक्त करती हुई संजीवनी बूटी के समान तुम कहाँ से आ पहुँची ? ॥ ४२ ॥

प्रिये वसन्तसेने !

त्वदर्थमेतद्विनिपात्यमानं देहं त्वयैव प्रतिमोचितं मे ।
अहो प्रभावः प्रियसंगमस्य मृतोऽपि को नाम पुनर्ध्रियेत ? ॥ ४३ ॥
अपि च प्रिये ! पश्य,—
रक्तं तदेव वरवस्त्रमियं च माला
कान्तागमेन हि वरस्य यथा विभाति ।

अन्वयः—त्वदर्थम् विनिपात्यमानम्, एतत् मे देहम् त्वया एव प्रतिमोचितम् । प्रियसङ्गमस्य अहो प्रभावः, कः नाम मृतः अपि पुनः ध्रियेत ? ।

त्वदर्थमिति—त्वदर्थम्=त्वद्वधापराधनिमित्तम्, विनिपात्यमानम्=माार्य्यमाणम् एतत् मे=मम, देहम्=शरीरम् 'कायो देहः क्लीबपुंसोः इत्यमरः । त्वयैव प्रतिमोचितम्=शूलादवतारितम् । प्रियसङ्गमस्य=प्रियजनसम्मेलनस्य अहो आश्चर्यंकरः, प्रभावः=सामर्थ्यम् । को नाम जनः मृतोऽपि पुनः ध्रियेत ? (प्राणैरिति शेषः) जीवेदिति भावः ? न कोऽपीत्याशयः । किन्तु प्रियसम्मेलनस्यायं प्रभावो यन्मां म्रियमाणमप्यजीवयदिति निष्कर्षः । अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः । चतुर्थचरणे अर्थापत्तिश्चानयोर्मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः । तथा देहशब्दस्य कोषादुभयलिङ्गत्वसिद्धावपि पुंस्येव प्रयोगदर्शनादत्र क्लीबे प्रयोगात् 'भाति पद्मः सरोवरे' इति दर्पणोदाहृतिवदप्रयुक्तत्वदोषः । उपजातिर्वृत्तम् ॥४३॥

सरलार्थः—हे वसन्तसेने ! त्वत्कृतेऽद्य सा ममेयं तनु मृत्युदशां गता आसीत्, त्वयैव सहसा आगत्य स्वयं मृत्योः सा परिरक्षिता अहो प्रियजनसंगमस्यायं प्रभावः अन्यथा यो जनो मृतः स पुनः कथं जोवनलाभं कुर्यात् ॥ ४३ ॥

अन्वयः—कान्तागमेन वरस्य यथा हि विभाति (तथैव) तत् एव वरवस्त्रम् इयम् माला च (विभाति) तथैव एते वध्यपटहध्वनयः च विवाहपटहध्वनिभिः समानाः जाताः ।

रक्तमिति—कान्तायाः=भार्य्यायाः, आगमेन=प्राप्त्या (विवाहावस्थायाम्) वरस्य=परिणेतुः यथाहि=यथैव विभाति (वैवाहिकवसनभूषणादिकमिति शेषः)

प्रिये ! वसन्तसेने !!

तुम्हारे ही कारण मारी जाती हुई यह मेरी देह तुम्हारे ही द्वारा रक्षित भी हुई है । अहा ! प्रियजन के सम्मेलन का कैसा प्रभाव है ! मरकर भी कौन जी सका है ? (अर्थात् मैं तो प्रायः मर चुका था किन्तु तुम्हारे आ जाने से बच गया) ॥

और भी, प्रिये ! वसन्तसेने !!

प्रियतमा की प्राप्ति के समय अथवा विवाह के समय जिस प्रकार वर की

एते च वध्यपटहध्वनयस्तथैव
जाता विवाहपटहध्वनिभिः समानाः ॥ ४४ ॥

वसन्त—अदिदक्खिणदाए किं ण्णेदं ववसिदं अज्जेण ? । (अतिदक्षिणतया किं न्विदं व्यवसितमार्येण ?)

चारु—प्रिये ! त्वं किल मया हतेति—

पूर्वानुबद्धवैरेण शत्रुणा प्रभविष्णुना ।

तथैव तदेव = वध्यावस्थायां यन्मया पिनद्धं तदेवेत्यर्थं) वरम्=शूलारोपोचितम्, वस्त्रम् रक्तवस्त्रमिति यावत् । इयम् माला=कर्णिकारकुसुमरचिता माला च विभाति तथैव एते वन्यपटहध्वनयश्च = घोषणावाद्यढक्काश्च विवाहपटहध्वनिभिः समाना जाताः । अत्र पूर्वार्द्धे श्रौती परार्द्धे चार्थी उपमा । अनयोः परस्परं नैरपेक्ष्यात् संसृष्टिः । तथा पटहशब्दस्य द्विरुच्चारणेऽपि उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यविषयत्वान्न कथितपदता दोषः । एतेनात्मनो भाविविवाहसूचनादिदमपि दर्पणोक्तं प्रथमपताकास्थानम् । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ४४ ॥

सरलार्थः—प्रिये वसन्तसेने ! अद्यास्माकं सुकृतिवशात् तव समागमो वस्तुतो वैवाहिककाल इव जातः, यथा वरस्य विवाहकाले यद्वद् रक्त वस्त्रं कण्ठे रक्ता माला पटहध्वनिर्भवति तथा वध्यस्य ममापि वस्त्रं करवीरमाल्यं पटहध्वनिरपि वर्त्तते । अतः वस्तुतोऽद्यावयोर्विवाहकार्यं संपन्नम् । त्वत्कर्तृकप्राणरक्षणाद्द्विगुणितो वैवाहिकानन्दादिदानीन्तन आनन्दः ॥ ४४ ॥

वसन्त इति—अतिदक्षिणस्य=सरलस्य भावः, अतिदक्षिणता तया । आर्येण भवता किन्नु = कथन्नु इदम्=आत्मवधनिमित्तं कार्यं व्यवसितम् ? आरोपिताऽपि हत्या सारल्यादेव त्वया न प्रतिवादविषयीकृता, अन्यथा तवैवं दशा (वध्यावस्था) कथं स्यादित्याशयः ।

अन्वयः—पूर्वानुबद्धवैरेण, प्रभविष्णुना, नरके पतता तेन शत्रुणा मनाक् निपातितः अस्मि ।

पूर्वेति-पूर्वम् अनुबद्धम् ('त्वं मय्येवानुरक्ता, न तु शकारे' इति हेतोर्दृढीकृतम्)

सजावट होती है उसी प्रकार यह लाल वर वस्त्र है और यह माला है । और यह वध के समय की नगाड़ों की ध्वनियाँ विवाह के समय की बाजों की ध्वनियों के तुल्य हो गई हैं ॥ ४४ ॥

वसन्तसेना—अत्यन्त उदारता के कारण आपने यह क्या कर डाला था ।

चारुदत्त—प्रिये ! यह कि तुम मुझसे मारी गई' ।

पूर्व वैर के अनुसार, शत्रु, प्रभावशाली एवं नरक में गिरते हुए (अपना दोष

नरके पतता तेन मनागस्मि निपातितः ॥ ४५ ॥

वसन्त—(कर्णौ पिधाय) संतं पावं; तेण म्हि राअसालेण वावादिदा ।

(शान्तं पापम्; तेनास्मि राजश्यालेन व्यापादिता)

चारु—((भिक्षुं दृष्ट्वा) अयमपि कः ?

वसन्त—तेण अणज्जेण वावादिदा, एदिणा अज्जेण जीवाविदम्हि ।
(तेनानार्येण व्यापादिता; एतेननार्येण जीवं प्रापितास्मि)

चारु—कस्त्वमकारणबन्धुः ?

भिक्षुः—ण पच्चभिजाणादि मं अज्जो ? । अहं शे अज्जश्श चलणशंवाहचित्तए शंवाहके णाम । जूदिअलेहि गहिदे एदाए उवाशिकाए अज्जश्श केलके त्ति अलंकालपणणिक्कीदेम्हि । तेण अ जूदणिव्वेदेण शक्कशमणके शंवुत्ते म्हि । एशा वि अज्जा पवहणविपज्जाशेण पुप्फकलंडकजिण्णुज्जाणं

वैरम् येन तेन प्रभविष्णुना=राज्ञः श्यालकत्वात्प्रभावशालिना । 'भुवश्च' इतोष्णुच् यद्यप्ययं छन्दस्येव विधीयते तथापि 'जगत्प्रभोरप्रभविष्णु वैष्णवमि'तिवत्प्रयोगः । कवीनां निरङ्कुशत्वात् । नरके पतता (अकारणं ब्राह्मणविनाशोपस्थापकत्वादिति भावः) । तेन=प्रसिद्धेन शत्रुणा=शकारेण, 'त्वं किल मया हता' इत्यभियोगं कृत्वेति शेषः । मनाक्=अल्पम्, निपातितोऽस्मि । वधोद्योगेन योजितोऽस्मि॥४५॥

सरलार्थः—प्राक्तनजन्मप्रसक्तशत्रुभावशालिना राजोपत्नीसहोदरत्वेन समर्थेन शकारेण स्वकालुष्यातिशयेन स्वयं नरके निपतताऽपि 'मया त्वं मारिता' इति दोषं मय्यारोपयता संप्रति किंचित्कालपर्यन्तं नरके अहमपि निपातितः आसम् । परन्तु त्वया स्थाने परिरक्षितोऽस्मि ॥ ४५ ॥

वसन्त इति—शान्तं पापम्=नैवं वाच्यम् (नाहं त्वया मारितेत्याशयः) ।

चारुदत्त पर आरोपित करने से) शकार ने थोड़ा मुझे भी कलंकित कर दिया ॥

वसन्तसेना—(दोनों कान मूँदकर) ऐसा हो नहीं सकता । उसी राजश्यालक शकार से मैं मारी गई थी ।

चारुदत्त—(भिक्षुक को देखकर) यह कौन है ?

वसन्तसेना—उस दुष्ट शकार से मैं मारी गई और इन साधु पुरुष से रक्षित हुई हूँ ।

चारुदत्त—अकारण बन्धु ! तुम कौन हो ?

भिक्षुक—आर्य ! मुझे आप पहचानते नहीं हैं ? आपके चरण दबाने की

गदा। तेण अ अणज्जेण ण मं बहु मण्णेशि त्ति वाहुपाशबलक्कालेण मालिदा मए दिट्ठा। (न प्रत्यभिजानाति मामार्यः ? । अहं स आर्यस्य चरण-संवाहचिन्तकः संवाहको नाम द्यूतकरैर्गृहीत एतयोपासिकयाऽऽर्यस्यात्मीय इत्य-लङ्कारपणनिष्क्रीतोऽस्मि। तेन च द्यूतनिर्वेदेन शाक्यश्रमणकः संवृत्तोऽस्मि। एषाऽप्यार्या प्रवहणविपर्यासेन पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं गता। तेन चानार्येण न मां बहु मन्यसे इति बाहुपाशबलात्कारेण मारिता मया दृष्टा)

(नेपथ्ये कलकलः)

जयति वृषभकेतुदक्षयज्ञस्य हन्ता
तदनु जयति भेत्ता षण्मुखः क्रौञ्चशत्रुः।
तदनु जयति कृत्स्नां शुभ्रकैलासकेतुं
विनिहतवरवैरी चार्यको गां विशालाम् ॥ ४६ ॥

पूर्वपरिचितमपि अपूर्वसंन्यासिवेशाश्रयणात् नाधुना परिचिनोति। चरणयोः संवाहम्=मर्दनम् चिन्तयति=केन रूपेण सुखदं भवेदिति विचारयतीति तथोक्तः। उपासिकया=बुद्धोपासिकया (वसन्तसेनया)। अलंकार एव पणः=निष्क्रयीभूतं द्रव्यम् तेन=तदर्पणेन। क्रीतोऽस्मि=उपार्जितोऽस्मि। शाक्यश्रमणकः=बौद्ध-संन्यासी। अनार्येण=दुष्टेन (शकारेण)। न बहु मन्यसे=बहुमानम् (अङ्गीका-ररूपम्) न कुरुषे।

'पूर्वानुबद्धवैरेण' इत्यारभ्य एतदन्तसन्दर्भे निर्णयो नाम उपसंहारसन्धेरङ्गम् 'निर्णयः पुनः, अनुभूतार्थकथनम्, इति दर्पणोक्तेः।

जयतीति—दक्षयज्ञस्य हन्ता वृषभकेतुः (शिवः) जयति (सर्वोत्कर्षेण वर्तते) तदनु (ततः) भेत्ता (वैरिविदारणः) क्रौञ्चशत्रुः (क्रौञ्चाख्यपर्वतभेदी) षण्मुखः (कार्तिकेयः) जयति। तदनु, विनिहतः (विघातितः) वरः (प्रधानः) वैरी

चिन्ता करने वाला मैं संवाहक हूँ, जुआड़ियों से पकड़ाने पर इस उपासिका वसन्तसेना ने 'मुझे आपका आत्मीय जानकर' आभूषण के मूल्य से मुझे खरीद लिया। उसी जुआ के दुःख से मैं बौद्धसंन्यासी हो गया हूँ। यह आर्या भी गाड़ी के परिवर्तन से पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान में पहुँच गई और वहाँ उस दुष्ट शकार ने 'मुझे नहीं चाहती हो' ऐसा कह भुजपाश में जबर्दस्ती जकड़ कर इसे मारा, यह मैंने स्वयं देखा।

नेपथ्य में—कोलाहल—

दक्षयज्ञ के विनाशक वृषध्वज महादेव की जय हो। इसके बाद शत्रु-

(प्रविश्य, सहसा)

शर्विलकः—

हत्वा तं कुनृपमहं हि पालकं भो-
स्तद्राज्ये द्रुतमभिषिच्य चार्यकं तम्।
तस्याज्ञां शिरसि निधाय शेषभूतां
मोक्ष्येऽहं व्यसनगतं च चारुदत्तम् ॥ ४७ ॥

। शत्रुः उज्जयिनीपतिः पालकः) येन सः आर्यकः (तदाख्यः गोपालदारकः) । शुभ्रः (श्वेतवर्णः) कैलासः (एव) केतुः (ध्वजः) (यस्यास्ताम्) विशालाम् गाम् (पृथ्वीम्) जयति । अत्र 'तदनु जयति'—पदयोः द्विः पाठादपि न कथितपदता दोषः 'कथितञ्च पदं पुनः' इत्युपक्रम्य........हर्षेऽत्रधारणे' इति दर्पणोक्तपरिहार-दिशा अनयोर्वक्तुर्हर्षवचःप्रयोगविषयत्वात् । मालिनीवृत्तम् ॥ ४६ ॥

सरलार्थः—आदौ वृषध्वजो दक्षप्रजापतिमखविघातको भगवान् शङ्करो जयति ततः परं शरवर्षणेन क्रौञ्चगिरिभेदकः षडाननो जयति ततः परं तयोरनुग्रहेण पताकारूपश्वेतकैलासधारिणो समस्तां विस्तृतां पृथिवीं विनाशितसमर्थशत्रुः आर्यको नाम नृपतिर्जयति ॥ ४६ ॥

हत्वेति—भोः (जनाः !) अहम् (शर्विलकः) तम् (प्रसिद्धम्) कुनृपम् (अविमृश्यकारित्वात्कुत्सितनृपतिम्) पालकम् (तन्नामकम्) हत्वा हि (विनाश्यैव) तद्राज्ये (तस्य राज्ये) तम् आर्यकम् द्रुतम् अभिषिच्य च तस्य (आर्यकस्य) शेषभूताम् (प्रसाददत्तनिजनिर्माल्यस्वरूपाम्) 'प्रसादान्निजनिर्माल्यदाने-शेषेति कीर्त्तिता' इति विश्वः । आज्ञाम् ('चारुदत्तमक्षतं द्रुतमिहानये'त्येवंरूपाम्) शिरसि निधाय, व्यसनगतम् (वधाभियोगरूपविपद्ग्रस्तम्) चारुदत्तम् च मोक्ष्ये = विपज्जालादुद्धरिष्ये । अत्र अहं पदस्य द्विःपाठेपि नाधिकपदतादोषः—तस्यावधारण विषयकत्वेनादोषात् । तथाहि—'गुणःक्वाप्यधिकं पदम्' इति दर्पणोक्तपरिहारवाक्य-

---

विनाशक, क्रौञ्चपर्वत–विदारणकारी कार्त्तिकेय की जय हो । उसके बाद प्रधान वैरी पालक को मारने वाले आर्यक, 'शुभ्र कैलास जिसकी पताका है' ऐसी सम्पूर्ण एवं विशाल पृथ्वी को जीतकर जयशील हों ॥ ४६ ॥

(शर्विलक सहसा आकर)

शर्विलक—मैं, दुष्ट राजा पालक को मारकर, उसके राज्य पर शीघ्र आर्यक को अभिषिक्त करके, उसकी अवशिष्ट–आज्ञा मस्तक पर रख कर, दुःख में पड़े चारुदत्त का उद्धार करूँगा ॥ ४७ ॥

हत्वा रिपुं तं बलमन्त्रिहीनं पौरान्समाश्वास्य पुनः प्रकर्षात् ।
प्राप्तं समग्रं वसुधाधिराज्यं राज्यं बलारेरिव शत्रुराज्यम् ॥ ४८ ॥

(अग्रतो निरूप्य) भवतु, अत्र तेन भवितव्यम्, यत्रायं जनपदसम-

घटकस्य 'क्वापो'ति पदस्य 'अवधारणबोधनस्थले' इति भट्टाचार्यैः स्वरचितकुसुमप्रतिमासमाख्यायां दर्पणटीकायां स्फुटमभिहितत्वात् ॥ ४७ ॥

सरलार्थः—अहं कुशासकं पालकाह्वं वर्तमानं राजानं हत्वा तदीये राज्ये शीघ्रमेव आर्यकाभिधमन्यं नृपतिं सिंहासनारूढं 'वधाय तदीयाज्ञानुसारेणैवावधिष्टं प्राणदण्डाच्चारुदत्तरक्षणं कार्यं करिष्यामि ॥ ४७ ॥

अन्वयः—प्रकर्षात् बलमन्त्रिहीनम् तम् रिपुम् हत्वा, पुनः पौरान् समाश्वास्य बलारेः राज्यम् इव वसुधाधिराज्यम् समग्रम् शत्रुराज्यम् प्राप्तम् ।

हत्वेति—प्रकर्षात् = प्रारब्धोदयात्, बलैः = सेनाभिः, मन्त्रिभिश्च हीनम्, सैन्यशक्तिमन्त्रिमन्त्रणाशक्तिशून्यत्वाद्दुर्बलमिति भावः । रिपुम् = 'आर्यको राजा भविष्यती'ति सिद्धादेशश्रवणमात्रेणैव कारायामावद्धीकरणाद्वैरिणम् । तम् = प्रसिद्धम् (पालकमिति शेषः) हत्वा = मद्द्वारा विनाश्य, 'हत्वा तं कुनृपमहम्' इत्यनुपदमेवोक्तत्वादित्याशयः । पुनः । पौरान् = तद्वधेन व्याकुलपुरवासिनः, समाश्वास्य = अभयदानेन सान्त्वयित्वा, बलस्य = दैत्यविशेषस्य, अरेः = शत्रोः (इन्द्रस्येत्यर्थः) राज्यमिव । वसुधायाम् अधिराज्यम् = अधिकराज्यम् यस्मिंस्तत् तादृशम् समग्रम् = समस्तम्, शत्रोः = पालकस्य, राज्यं प्राप्तम् (आर्यकेणेति शेषः) ।

अत्र श्रौती उपमा । 'आर्यकेणे'त्यनुक्तत्वेऽपि वक्तुरानन्दमग्नत्वान्न दोषः । राज्यमित्यस्य द्विः पाठेऽपि उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यविषयत्वान्न कथितपदतादोषः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ४८ ॥

सरलार्थः—सैन्यशक्ति-मन्त्रशक्तिविरहितं शत्रुं पालकं विनाश्य स्वप्रकर्षतः पुरवासिनः समाश्वस्तान् विधाय समस्तभूमण्डलराज्यं प्राप्तवानस्मि यथा इन्द्रः शत्रुहस्तगतं राज्यं पुनरासादितवान् ॥ ४८ ॥

अग्रत इति—तेन चारुदत्तेन । जनपदानाम् = तद्वासिनाम् । समवायः = गणः 'समवायश्चयो गणः' इत्यमरः । आरम्भः = राज्यारम्भः । सफलः = सद्य एवेष्टजनप्राण

सिद्धों के आदेशानुसार, भाग्य के उत्कर्ष से, सेना एवं मन्त्रियों से रहित उस शत्रु पालक को मार कर तथा पुरवासियों को धैर्य धारण करा कर, इन्द्र के राज्य के समान, संसार का श्रेष्ठ राज्य शत्रु पालक का सम्पूर्ण राज्य आर्य्यक ने प्राप्त कर लिया ॥ ४८ ॥

(आगे की ओर देखकर) अच्छा, आर्य चारुदत्त को यहीं होना चाहिए,

वायः। अपि नामायमारम्भः क्षितिपतेरार्यकस्यार्यचारुदत्तस्य जीवितेन सफलः स्यात्?। (त्वरिततरमुपसृत्य) अपयात जाल्माः!। (दृष्ट्वा, सहर्षम्) अपि ध्रियते चारुदत्तः सह वसन्तसेनया?। संपूर्णाः खल्वस्मत्स्वामिनो मनोरथाः।

दिष्ट्या भो व्यसनमहार्णवादपारा-
दुत्तीर्णं गुणधृतया सुशीलवत्या।
नावेव प्रियतमया चिरान्निरीक्षे
ज्योत्स्नाढ्यं शशिनमिवोपरागमुक्तम्॥ ४९॥

रक्षणेन सायकः स्यादित्यन्वयः। जाल्माः = असमीक्ष्यकारिणः, अपयात = अपसरत। ध्रियते = प्राणैरिति शेषः (जीवतीति भावः) अस्मत्स्वामिनः = आर्यकस्य मनोरथाः = चारुदत्तस्य प्राणरक्षणसत्कारकरणादयोऽभिलाषाः, सम्पूर्णाः = सफलाः (तस्य जीवितत्वादिति शेषः)।

अन्वयः—भोः! गुणधृतया सुशीलवत्या, नावा इव प्रियतमया दिष्ट्या अपारात् व्यसनमहार्णवात् उत्तीर्णम् उपरागमुक्तम् ज्योत्स्नाढ्यम् शशिनम् इव निरीक्षे।

दिष्ट्येति—भोः अनुयायिनः!, गुणाः=रूपलावण्यौदार्यादयः, धृताः यया सा। वाहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वात् 'वाहिताऽग्न्यादिषु' इति निष्ठान्तस्य परनिपातः। अन्यत्र गुणेन=रश्मिना धृता, तया। सुशीलवत्या=सुन्दरस्वभावया (अन्यत्र मनोहरया) नावा=नौकया, इव, प्रियतमया=वसन्तसेनया (द्वारा) दिष्ट्या=प्रारब्धेन अपारात् = अनुलङ्घनीयात्, व्यसनम् = विपत्तिः महार्णव इव तस्मात् उत्तीर्णम्, अत एव उपरागात्=ग्रहणात् मुक्तम्, ज्योत्स्नाढ्यम्=चन्द्रिकोज्ज्वलम्, शशिनम्= चन्द्रम् इव (चारुदत्तम्) चिरात् = बहोः कालात्परम्, निरीक्षे = पश्यामि। अत्र नावेवेति पूर्णोपमा, व्यसनमहार्णवादिति लुप्तोपमा, शशिनमिवेति श्रौती

क्योंकि यहाँ जनसमूह एकत्रित है। भूपति आर्य्यक का यह राज्य-प्रारम्भ आर्य चारुदत्त की जीवन-रक्षा से सफल हो जाय। (शीघ्र पहुँचकर) घातको! हटो। (देखकर हर्षपूर्वक) क्या वसन्तसेना के सहित आर्य चारुदत्त जीवित हैं? हमारे स्वामी आर्य्यक के मनोरथ अच्छी तरह से पूर्ण हो गये।

भाग्यवश, गुण से आबद्ध, नौका के समान सुशीला प्रियतमा वसन्तसेना ने, विपत्तिरूप अपार महासागर से चारुदत्त को पार कर दिया। अतएव राहु के ग्रहण से मुक्त चन्द्रिकायुक्त चन्द्रमा के समान प्रियायुक्त चारुदत्त को बहुत दिनों के बाद देख रहा हूँ॥ ४९॥

तत्कृतमहापातकः कथमिवैनमुपसर्पामि ? । (अथवा) सर्वत्रार्जवं शोभते । (प्रकाशमुपसृत्य बद्धाञ्जलिः) आर्यचारुदत्त !

चारु—ननु को भवान् ?

शर्विलकः—

येन ते भवनं भित्वा न्यासापहरणं कृतम् ।
सोऽहं कृतमहापापस्त्वामेव शरणं गतः ॥ ५० ॥

उपमा, संसृष्टिश्चासाम् । चारुदत्तजीवनरूपवाञ्छितलाभात् आनन्दो नाम उपहार-सन्धेरङ्गम् = 'आनन्दो वाञ्छितागमः' इति लक्षणात् । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ ४९ ॥

सरलार्थः—हर्षस्थानमिदं यत्—अद्य नारीजनसुलभगुणशालिन्या सुशीलिन्या प्रियतमया वसन्तसेनया अपारविपत्पारावारे निमग्नमना उदारमना आर्यचारुदत्त-स्तस्माद् बहिर्निष्कासितस्तथा विभाति यथा कश्चन समुद्राद् गुण (रज्जु) युक्तया नौकया उद्ध्रियमाणः, अपि च यथा राहूपरागान्मुक्तश्चन्द्रिकायुक्तश्चन्द्र इति बहु-कालानन्तरं मानसं फलितम् ॥ ४९ ॥

तत्कृतेति—कृतं महापातकम्=स्तेयरूपं येन सः (चारुदत्तगृहे न्यासीभूतवस-न्तसेनालंकारहरणादिति भावः) । तदुक्तम् मनुना 'ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्व-ङ्गनागमः । महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैःसहे'ति । तस्यैव गृहे चौर्यं कृत्वा तस्यैव समीपे गमने लज्जा भवत्येवेति मनस्याधायाह—'कथमिवैनमुपसर्पामी'ति । ऋजोर्भावः, आर्जवम् = सारल्यम् ।

येनेति—येन (मया) ते=तव, भवनम्=गृहम् भित्वा भवनभित्तिं विदार्य (सन्धये इति शेषः) न्यासापहरणम् (निक्षेपीभूतवसन्तसेनाभूषणापहरणम्) कृतम्, कृतमहापापः (स्वर्णहरणादिति शेषः, स्वर्णहरणेऽपि महापातकं स्मृतौ द्रष्टव्यम्,) सः अहम् (शर्विलकनामा) त्वाम् (साधुशीलम्) एव (न त्वन्यम्) शरणम् (रक्षितारम्) गतः (अपराधक्षमार्थं प्राप्तः) ॥ ५० ॥

सरलार्थः—येन पुरा तव गृहभित्तिं विदार्य न्यासीकृतवसन्तसेनाभरणमपहृतं स एवाहं महापापी शर्विलकस्त्वामेव रक्षितारं प्राप्तः । मदपराधं तं क्षमस्व ॥५०॥

अतः महापाप करने वाला (चारुदत्त के घर से वसन्तसेना की धरोहर चुराने के कारण) मैं कैसे इनके पास चलूँ ? अथवा, सरलता ही सर्वत्र सुशो-भित होती है । (सामने आकर हाथ जोडकर) आर्य चारुदत्त !

चारुदत्त—आप कौन हैं ?

शर्विलक—जिसने तुम्हारे घर में सेंध फोडकर धरोहर का अपहरण किया था, वही महापाप करनेवाला मैं आपकी ही शरण में आ गया हूँ ॥ ५० ॥

चारु—सखे ! मैवम् । त्वया असौ प्रणयः कृतः । (इति कण्ठे गृह्णाति)
शर्वि—अन्यच्च ।

आर्यकेणार्यवृत्तेन कुलं मानञ्च रक्षता ।
पशुवद्यज्ञवाटस्थो दुरात्मा पालको हतः ॥ ५१ ॥

चारु—किम् ? ।
शर्वि—

त्वद्यानं यः समारुह्य गतस्त्वां शरणं पुरा ।

चारु इति—एवम्=स्तेयेन हेतुनाऽऽत्मनोऽवमानना मा=नहि, कर्तव्येति शेषः तत्र हेतुमाह—असौ=चौरी, प्रणयः=स्नेहः, कृतः । स्वयं कृत्वाऽप्यपकारं स्वयं तन्निवेदनेन तत्पापमपाकृतंजायते इति त्वमपि तथानुतिष्ठन्ननपराद्धो भवसीतिनिष्कर्षः ।

अन्वयः—आर्यवृत्तेन आर्यकेण कुलम्, मानम् च रक्षता, यज्ञवाटस्थः दुरात्मा, पालकः पशुवत् हतः ।

आर्यकेणेति—आर्यम्=पवित्रम्, वृत्तम्=चरित्रम् यस्य सः तेन, अत एव आर्यकेण=अन्वर्थतन्नाम्ना प्रसिद्धेन, कुलम्=स्ववंशम्, मानम्=आत्मगौरवम् च रक्षता (पालकस्यैतदुभयमपि नष्टप्रायमासीदिति प्रतीयते) यज्ञस्य वाटः मार्गः, तत्रस्थः (यज्ञशालायां स्थित इति यावत्) दुरात्मा=दुर्बुद्धिः पालकः पशुवत् हतः (मयेति शेषः) तदुक्तम् 'हत्वा तं कुनृपमहं' मित्यनुपद्रमेव । अत्र 'पशुवत्' इति 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' रित्यनेन साधुः, अतः आर्थी उपमा 'तुल्यार्थौ यत्र या वतिः' इति दर्पणोक्तेः ॥ ५१ ॥

सरलार्थः—आर्योचितकर्मकारिणा कुलं मानं च रक्षता आर्यकेण गोपालदारकेण यज्ञस्थलस्थितः दुराचारी पालको नाम भूपः पशुवद् मारितः ॥ ५१ ॥

त्वदिति—यः (आर्यकः) त्वद्यानम् (तव यानम्—वसन्तसेनार्थं योजितं प्रवहणम्) आरुह्य (प्रवहणवाहकादपि गुप्तमारुह्य) पुरा (इतः कालात्पूर्वम्) त्वाम्

चारुदत्त—सखे ! ऐसा मत कहो । तुमने तो यह प्रणय किया था । (गले लगाता है)

शर्विलक—और भी—

साधु चरित्रवाले आर्य्यक ने, कुल और मान की रक्षा करते हुए यज्ञशाला में स्थित दुष्ट पालक को पशु के समान मार डाला ॥५१ ॥

चारुदत्त—क्या ?

शर्विलक—कुछ दिन पहले, आपकी गाड़ी पर चढ़कर जो आपकी शरण में

पशुवद्विततै यज्ञे हतस्तेनाद्य पालकः ॥५२॥

चारु—शर्विलक ! योऽसौ पालकेन घोषादानीय निष्कारणं कूटागारे बद्ध आर्यकनामा त्वया मोचितः ?

शर्वि—यथाह तत्रभवान् ।

चारु—प्रियं नः प्रियम् ।

शर्वि—प्रतिष्ठितमात्रेण तव सुहृदा आर्यकेण उज्जयिन्यां वेणातटे कुशावत्यां राज्यमतिसृष्टम् । तत् प्रतिमान्यतां प्रथमः सुहृत्प्रणयः (परिवृत्य) अरे रे ! आनीयतामयं पापी राष्ट्रियशठः ।

(वसन्तसेनाबुद्ध्या प्रवहणे दत्तदृष्टिं भवन्तम्) शरणम् (राजवन्दी आर्यकोऽहं गोपालदारकः शृङ्खलां भित्त्वा 'शून्य'मित्येतत्प्रवहणमारुह्य प्रच्छन्नभावेन गन्तुकामः शरणत्वेन भवन्तमाश्रये' इत्युक्त्वा रक्षकम्) गतः (प्राप्तः)। अद्य तेन (आर्यकेण) यज्ञे कर्मणि वितते (पूर्यमाणे) (सति) पालकः पशुवत् (यज्ञीयपशुतुल्यः) हतः (मद्द्वारा विनाशितः) ॥५२॥

सरलार्थः—पुरा काले यस्ते गोयानमधिरुह्य वा रक्षितारं समुपागतः, तेनैवाद्य यज्ञे पशुतुल्यो नृपः पालकाह्वो विनाशितः ॥५२॥

चारु इति—घोषात् = आभीरपल्लीतः, कूटागारे = कारागारे ।

शर्वि इति—तत्रभवान् = पूज्यः । यथाह = यथोक्तवान् तत्सत्यमेवेत्यर्थः । भूतसामीप्ये वर्तमाना क्रिया ।

शर्वि इति—प्रतिष्ठितमात्रेण = उज्जयिन्यो राज्यसिंहासने स्थितमात्रेण वेणायाः = तन्नाम्न्या नद्याः, तटे (वर्तमानायाम्) कुशावत्याम् = तन्नाम्ना प्रसिद्धायाम् नगर्याम् । राज्यम् । कुशावतीप्रान्तीयराज्यम् इति मिलितोऽर्थः । अतिसृष्टम् = दानीयविप्रत्वेन भवते दत्तम् । 'विलम्भस्त्वतिसर्जनमि'त्यमरः । तत् = तस्मात्, सुहृदः = आर्यकस्य, प्रणयः = दानस्वीकारप्रार्थना, प्रतिमान्यताम् = स्वीक्रियताम् । राष्ट्रिय-

---

गया था उस आर्यक के द्वारा विस्तृत यज्ञ में पशु के समान आज पालक मारा गया ॥५२॥

चारुदत्त—शर्विलक ! जिसको पालक ने घर से निकाल कर बिना कारण कारागार में बांधा था और जिसको आपने रक्षा की थी, वही आर्यक ?

शर्विलक—हां, जैसा आप कह रहे हैं ।

चारुदत्त—बड़ा शुभ समाचार है ।

शर्विलक—उज्जयिनी में राज्य पाते ही मित्र आर्यक ने वेणा नदी के तट

नेपथ्ये—यथाज्ञापयति शर्विलकः !

शर्वि—आर्य ! नन्वयमार्यको राजा विज्ञापयति; इदं मया युष्मद्गुणोपार्जितं राज्यम्, तदुपयुज्यताम् ।

चारु—अस्मद्गुणोपार्जितं राज्यम् ।

नेपथ्ये—अरे रे राष्ट्रियश्यालक ! एह्येहि स्वस्याविनयस्य फलमनुभव ।

(ततः प्रविशति पुरुषैरधिष्ठितः पश्चाद्बाहुबद्धः शकारः)

शठः = राजश्यालो धूर्त्तः । इति तत्रस्थान् अनुचरान् आज्ञापयतीति बोध्यम् । चारुदत्ताय राज्यदानात् भाषणं नाम उपसंहारसन्धेरङ्गम् 'सामदानादि भाषणम्' इति दर्पणोक्तेः ।

शर्वि इति—युष्माकम्–तव चारुदत्तस्येत्यर्थः, पूज्यत्वाद्बहुवचनम् । गुणेन= कृपया, उपार्जितम् । तथाहि—त्वत्प्रवहणमारुह्य गुप्तभावेन त्वद्गृहमुपस्थितस्य मम चेत्त्वया प्राणरक्षा कृता न स्यात्तदा कथमिदानीं राज्यावाप्तिर्भवेदिति मयि त्वदयैव मद्राज्यावाप्तौ कारणमित्याशयः । तत्=तस्मात्कारणात्, उपयुज्यताम्= तस्योपभोगः क्रियताम् । (वेणातटे दीयमानं कुशावतीराज्यमिति शेषः) ।

चारु इति—काक्वा कथयति अस्मदि····त्यादि । अर्थात् नास्मद्गुणोपार्जितम् । आर्यकेणैवोपार्जितमेतदार्यकेणैवापयुज्यतामपीति निष्कर्षः ।

नेपथ्ये इति—अविनयस्य=चारुदत्तस्योपरि असत्यहत्यारोपरूपस्य धाष्टर्यस्य ।

तत इति—पुरुषैः = शर्विलकानुचरैः, अधिष्ठितः = धृतः ।

पर स्थित कुशावती नगरी का राज्य आपको दिया है। इसलिए मित्र प्रथम प्रणय को स्वीकार कीजिए । (घूमकर) अरे राजा के साले धूर्त्त शकार को इधर लाओ ।

नेपथ्य में—जैसी शर्विलक की आज्ञा ।

शर्विलक—आर्य ! यह आर्यक राजा सूचित करता है—'यह राज्य मैंने आपके गुण से प्राप्त किया है (आपकी गाड़ी से मैं बचाया गया था) अतः आप इसका उपभोग कीजिए ।

चारुदत्त—मेरे गुणों से उपार्जित राज्य ।

नेपथ्य में—अरे ! राजा के साले शकार ! आओ, आओ अपनी दुष्टता का फल भोगो ।

(जिसकी भुजायें पीछे बँधी हुई है वह शकार शर्विलक के अनुचरों के साथ आता है)

शकारः—हीमादिके (हन्त !)

एव्वं दूलमदिक्कन्ते उद्दामे विअ गद्दहे ।
आणीदे क्खु हगे बद्धे हुड़े अण्णे व्व दुक्कले ॥ ५३ ॥
(एवं दूरमतिक्रान्तः उद्दाम इव गर्दभः ।
आनीतः खल्वहं बद्धः कुक्कुरोऽन्य इव दुष्करः ॥ ५३ ॥)

(दिशोऽवलोक्य) शमन्तदो उवट्ठिदे एशे लट्ठिअबन्धे । ता कं दाणिं अशलणे शलणं वजामि ? (विचिन्त्य) भोदु, तं ज्जेव अब्भुववण्ण-शलणं-वच्छलं गच्छामि । (इत्युपसृत्य) अज्जचालुदत्त ! पलित्ताआहि । (इति पादयोः पतति) (समन्तत उपस्थित एष राष्ट्रियबन्धः तत् कमिदानी-मशरणः शरणं व्रजामि ? । भवतु, तमेव अभ्युपपन्नशरणवत्सलं गच्छामि । आर्यचारुदत्त ! परित्रायस्व परित्रायस्व)

अन्वयः—उद्दामः गर्दभः, इव एवम् दूरम् अतिक्रान्तः दुष्करः अन्यः कुक्कुरः इव, बद्धः अहम् खलु आनीतः ।

एवमिति—उन्मुक्तं दाम बन्धनं यस्य सः । तादृशः गर्दभ इव, एवम् = अनेन प्रकारेण, दूरम्=निवासदेशाद् दूरम्, अतिक्रान्तः = अतीतः । तथा दुष्करः = क्रूरः, अन्यः कुक्कुर इव बद्धः अहम् खलु, आनीतः—वध्यस्थानम् इति शेषः ॥ ५३ ॥

सरलार्थं—बन्धनान्युच्छिद्य यद्यपि दूरं पलायितस्तथापि निरर्गलो गर्दभ इव अहमत्रानीतोऽस्मि, अपिच दुष्टकार्यकर्त्ता कुक्कुर इव बद्धोऽस्मि किं करोमि ? क्व गच्छामि सर्वथा निःसहायो जातः ॥ ५३ ॥

दिश इति—राष्ट्रियस्य=राजश्यालस्य 'राजश्यालस्तु राष्ट्रियः' इत्यमरः । बन्ध = बन्धादेशः । समन्ततः=सर्वतः, उपस्थितः । अशरणः=रक्षकशून्यः 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । अभ्युपपन्नानाम्=शरणागतानाम्, शरणम्=रक्षकः, वत्सलः= अनुरागवान् । तम् तादृशम् (चारुदत्तम्) गच्छामि ।

शकार—हाय !

भय से अति दूर गए हुए उच्छृङ्खल गधे के समान एवं दुष्कर्मकारी अन्य कुत्ते के समान मैं बाँध कर यहाँ लाया गया हूँ ॥ ५३ ॥

(दिशाओं की ओर देखकर) चारों तरफ से यही आवाज आ रही है कि राजा के साले को बाँधो । तो असहाय मैं किसकी शरण में जाऊँ ? (सोचकर) अच्छा, विपत्तिशीलों के रक्षक, उन्हीं (चारुदत्त) की ही शरण में जाता हूँ (जाकर) आर्य चारुदत्त ! रक्षा करो, रक्षा करो । (चरणों पर गिर जाता है)

नेपथ्ये—अज्जचालुदत्त ! मुञ्च मुञ्च, वावादेम्ह एदं। (आर्यचारुदत्त ! मुञ्च, मुञ्च, व्यापादयाम एतम्)

शकार—(चारुदत्तं प्रति) भो अशलणशलणे ! पलित्ताआहि ! (भो अशरणशरण ! परित्रायस्व)

चारु—(सानुकम्पम्) अहह ! अभयमभयं शरणागतस्य।

शर्वि—(सावेगम्) आ:, अपनीयतामयं चारुदत्तपाश्र्वात्। (चारुदत्तं प्रति) अनु ! उच्यतां किमस्य पापस्यानुष्ठीयतामिति ।

आकर्षन्तु सुबध्यैनं ? श्वभिः संखाद्यतामथ ? ।
शूले वा तिष्ठतामेषः पाटयतां क्रकचेन वा ? ॥ ५४ ॥

चारु इति—अहह !=अद्भुते खेदे च 'अहहेत्यद्भुत खेदे' इत्यमरः। भगवतोलीलामवलोक्याद्भुतं शरणागतत्यागे खेदश्चात्र बोध्यः भयस्याभावोऽभयम्। 'अव्ययमि'त्यादिनाऽभावार्थेऽव्ययीभावः।

शर्वि इति—अपनीयताम्=दूरीक्रियताम्, (अन्यथा चारुदत्त इममनुकम्पया मोक्षमिष्यतीत्याशयः ।

अन्वयः-एनम् सुबध्य आकर्षन्तु, अथ श्वभिः संखाद्यताम्, वा एषः शूले तिष्ठताम्, वा क्रकचेन पाटयताम् ।

आकर्षन्त्विति—(चाण्डाला इति शेषः) एनम्=शकारम् सुबद्ध्य=रज्ज्वा बद्ध्वा, आकर्षन्तु (येन प्रखरपाषाणपट्टपरिघर्षणेन शरीराण्यस्य छिन्नभिन्नानि भवन्तु। अथ=अनन्तरम् श्वभिः—कुक्कुरैः संखाद्यताम्। कर्मणि लकारः। वा=अथवा एषः=शकारः शूले तिष्ठताम्' । वा=अथवा, क्रकचेन=करपत्रेण (आरा) पाट्यताम्=विदार्यताम्। 'अस्य किं क्रियताम्' इति भवता निर्णीयताम्' इति भावः। अत्र कर्तव्यविषयाणामुपन्यासाद् ग्रथनं नाम उपसंहारसन्धेरङ्गम् 'उपन्यासस्तु कार्याणां ग्रथनम् इति लक्षणात् ॥ ५४ ॥

नेपथ्य में—आर्य चारुदत्त ! छोड़ो छोड़ो। इसे हम लोग मारते हैं।

शकार—(चारुदत्त के प्रति) हे असहायों के रक्षक ! मेरी रक्षा करो।

चारुदत्त—(दयापूर्ण होकर) आह ! शरण में आए हुए का भय दूर हो।

शर्विलक—(वेग से) अरे ! इसे चारुदत्त के पास से दूर हटाओ। (चारुदत्त के प्रति) कहिए, इस पापी को क्या सजा दें ?

इसे अच्छी तरह बांध कर खींचा जाय ? या कुत्ते से इसको देह कटवावें या शूली पर चढ़वा दें ? अथवा आरा से इसे चिरवा दें ! ॥ ५४ ॥

चारु—किमहं यद् ब्रवीमि तत् क्रियते ? ।

शर्वि—कोऽत्र सन्देहः ? ।

शकारः—भट्टालआ ! चालुदत्त ! शलणागदेम्हि, ता पलित्ताआहि पलित्ताआहि । ज तुए शलिशं, तं कलेहि । पुणो ण ईदिशं कलिश्शं ।
(भट्टारक ! चारुदत्त ! शरणागतोऽस्मि, तत् परित्रायस्व परित्रायस्व । यत्तव सदृशम्, तत् कुरु, पुनर्न ईदृशं करिष्यामि)

नेपथ्ये पौराः—वावादेध, किं णिमित्तं पादकी जीवावीअदि ? ।
(व्यापादयत, किं निमित्तं पातकी जीव्यते ?)

वसन्त—(वध्यमालां चारुदत्तस्य कण्ठादपनीय शकारस्योपरि क्षिपति)

शकारः—गब्भदाशीधीए ! पशीद पशीद, ण उण मालइश्शं, ता

सरलार्थः—हे आर्य चारुदत्त ! अस्य समधिकपापनः शकारस्य विषये दण्डदाने किं वक्तव्यम् दृढरज्जुभिर्बद्ध्वा सैनिकाः कर्षन्त्वेनम्, श्वानो भक्षयन्तु वा शूलारोपणं, क्रकचेन पाटनं वाऽस्य समुचितं कथमपि भविष्यति नान्यो दण्डः ।।५४।।

चारु इति—युष्माभिः तत् क्रियते ? इति पृच्छति । यदि क्रियतां तर्हि कथयिष्ये नान्यथा ।

हे भट्टारक ! = हे देव ! अयमेव शकारः 'अले चालुदत्ता !' इति सम्बोध्य पुनस्तमेव कतिक्षणानन्तरम् 'भट्टालआ !' इति सम्बोधयतीत्यहो 'चक्रारपङ्क्तिरिव गच्छति भाग्यपङ्क्ति'रिति सत्यमाह कश्चित् ।

नेपथ्ये इति—जीव्यते = जीवितः अस्तीत्यर्थः । अत्र परिभाषणं नाम उपसंहारसन्धेरङ्गम् 'वदन्ति परिभाषणम् । परिवादकृतं वाक्यम्' इति लक्षणात् ।

शकार इति—गर्भदासीपुत्रि ! आजन्मसेवावृत्तिकायाः पुत्रि ! । अधुनापि गालिदानं न त्यजतीत्यहो शकारस्याज्ञानविजृम्भितम् ।

चारुदत्त—क्या जो मैं कहूँगा वही किया जायगा ?

शर्विलक—इसमें क्या सन्देह ?

शकार—स्वामी ! चारुदत्त !! शरण में आ गया हूँ, मेरी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो । अपने योग्य कार्य कीजिए । मैं पुनः ऐसा दुष्कार्य न करूंगा ?

नेपथ्य में—इसे मार डालो । यह पापी किसलिए जीवित रहेगा ?

वसन्तसेना—(चारुदत्त के कण्ठ से वध समय की माला निकाल कर शकार के ऊपर फेंक देती है)

शकार—अरे जन्म से ही दासी की पुत्री ! प्रसन्न हो, प्रसन्न हो । पुनः कभी नहीं मारूंगा । अब रक्षा करो ।

पलित्ताआहि। (गर्भदासीपुत्रि ! प्रसीद प्रसीद, न पुनर्मारयिष्यामि, तव परित्रायस्व)

शर्वि—अरे रे ! अपनयत। आर्यचारुदत्त ! आज्ञाप्यताम्—किमस्य पापस्यानुष्ठीयताम्।

चारु—किमहं यद् ब्रवीमि तत् क्रियते ?

शर्वि—कोऽत्र सन्देहः।

चारु—सत्यम् ?।

शर्वि—सत्यम्।

चारु—यद्येवम् ; शीघ्रमयम्—

शर्वि—किं हन्यताम् ?।

चारु—नहि नहि। मुच्यताम्।

शर्वि—किमर्थम् ?।

चारु—शत्रुः कृतापराधः शरणमुपेत्य पादयोः पतितः शस्त्रेण न हन्तव्यः।

शरणागतः न हन्तव्यः तथाहि योगी याज्ञवल्क्यः—'शरणागतबालस्त्रीहिंसकान्न संवसेन्न तु। चीर्णव्रतानपि सदा कृतघ्नसहितानिमान्' इति।

शर्विलक—अरे ! हटाओ। आर्य चारुदत्त ! आज्ञा कीजिए—इस पापी के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए।

चारुदत्त—क्या जो मैं कहूँगा, वही किया जायगा ?

शर्विलक—इसमें क्या सन्देह।

चारुदत्त—सच ?

शर्विलक—सच।

चारुदत्त—जब ऐसी बात है, तो इसे शीघ्र—

शर्विलक—मार डालना चाहिए !

चारुदत्त—नहीं-नहीं, छोड़ दीजिए।

शर्विलक—किसलिए ?

चारुदत्त—अपराधी शत्रु, यदि शरण में आकर चरणों पर गिरता है तो उसे शस्त्र से नहीं मारना चाहिए।

शर्वि—एवम्। तर्हि श्वभिः खाद्यताम्।

चारु—नहि उपकारहतस्तु कर्त्तव्यः।

शर्वि—अहो! आश्चर्यम्। किं करोमि, वदत्वार्यः।

चारु—तन्मुच्यताम्।

शर्वि—मुक्तो भवतु।

शकारः—हीमादिके! पच्चुज्जीविदम्हि। (इति पुरुषैः सह निष्क्रान्तः) (हन्त! प्रत्युज्जीवितोऽस्मि)

(नेपथ्ये कलकलः)

पुनर्नेपथ्ये—एसा अज्जाचारुदत्तस्स बहुआ अज्जा धूदा एदे वसणा-ञ्चले विलग्गन्तं दारअं आक्खिवन्ती वाप्फभरिद-णअणेहिं जणेहिं णिवा-रिज्जमाणा पज्जलिदे पावए पविसदि। (एषा आर्यं चारुदत्तस्य बधूरार्या धूता एते वसनाञ्चले विलगन्तं दारकामाक्षिपन्ती वाष्पभरित-नयनैर्जनैर्निवार्यमाणा प्रज्वलिते पावके प्रविशति)

शर्वि इति—एवम्-यदि=अर्थात् शस्त्रेण हननमनुचितं यदि तर्हि श्वभिः खाद्यताम्=खादित्वा व्यापाद्यताम्।

चारु इति—उपकारेण हतः कार्यः। कृतापकारोऽयमुपकृतश्चेन्मया स्यात्तर्हि स्वयमेव ग्लानिमापद्य मृतप्रायो भविष्यतीति भावः।

पुनरपि—विलगन्तम्=संसक्तीभवन्तम्। दारकम्=रोहसेननामानमात्म-जम्, आक्षिपन्ती=संगान्निवारयन्ती। वाष्पैः=अश्रुसलिलैः भरितानि=पूर्णी-कृतानि नयनानि येषां तैः।

शर्विलक—ऐसी बात है। तब क्या इसे कुत्ते से खिलवा द ?

चारुदत्त—नहीं। उपकार के द्वारा इसे क्षीण बना दो।

शर्विलक—अरे आश्चर्य है। आर्य! कहिए क्या करू ?

चारुदत्त—उसे छोड़ दीजिए।

शर्विलक—छोड़ दिया जाय।

शकार—हाय! पुनर्जीवित हो गया। (अनुचरों के साथ निकल गया)

नेपथ्य में—कोलाहल।

पुनः नेपथ्य में—यह आर्य चारुदत्त की वधू आर्या धूता, पकड़ कर

शर्वि—(आकर्ण्य नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) कथं चन्दनकः ?। चन्दनक ! किमेतत् ?।

चन्दनकः—(प्रविश्य) किं ण पेक्खदि अज्जो ? महाराअप्पासादं दक्खिणेण महन्तो कणसंमद्दो वट्टदि। (एसा इत्यादि पुनः पठति) कधिदं अ मए तीए, जधा—अज्जे ! मा साहसं करेहि, जीवदि अज्जचारुदत्तो त्ति। परन्तु दुक्ख-वावुड़दाए को सुणेदि ? को पत्तिआअदि। (किं न प्रेक्षते आर्यः ? महाराजप्रासादं दक्षिणेन महान् जनसम्मर्दो वर्त्तते। कथितच्च मया तस्यै यथा—'आर्ये ! मा साहसं कुरु, जीवति आर्यचारुदत्त' इति परन्तु दुःखव्यापृततया कः शृणोति ? कः प्रत्ययते ?)

चारु—(सोद्वेगम्) हा प्रिये ! जीवत्यपि मयि किमेतत् व्यवसितम्। (ऊर्ध्वमवलोक्य दीर्घं निश्वस्य च)

महाराजप्रासादात् अदूरे दक्षिणे इत्यर्थः। 'दक्षिणस्यामदूरे' इत्यर्थे दक्षिणशब्दात् 'एनबन्यतरस्यामदूरे' इत्येनप् प्रत्ययः। तदन्तदक्षिणेनेति पदेन योगे 'एनपा द्वितीया' इत्यनेन महाराजप्रासादमिति द्वितीया। तस्यै=धूतायै। दुःखे व्यापृता=व्याकुला तस्या भावस्तत्ता तया। चारुदत्तो जीवतीति, कः प्रत्ययते ?=कः विश्वसिति ? नैव कोपीत्यर्थः। अत्र पूर्ववाक्यं नाम उपसंहारसन्धेरङ्गम् 'पूर्ववाक्यं तु विज्ञेयम् यथोक्तार्थोपदर्शनम्' इति लक्षणात्।

अंचल पकड़ने वाले बालक रोहसेन को दूर हटाती हुई, आँसू से पूर्ण आँख वाले मनुष्यों से रोकी जाती हुई जलती आग में प्रवेश करती है।

शर्विलक—(सुनकर, नेपथ्य की ओर देखकर) क्या चन्दनक ! चन्दनक ! यह क्या है ?

चन्दनक—(आकर) क्या आर्य नहीं देखते हैं ? महाराज के महल के दक्षिण में महाजनसमुदाय उमड़ा है। (यह ···इत्यादि पुनः पढ़ता है) उससे मैंने कहा कि—'आर्ये ! अग्नि में प्रवेशरूप दुःसाहस मत करो, आर्य चारुदत्त जीवित है'। किन्तु दुःख से आकुल होने के कारण कौन सुनता है ! और कौन विश्वास करता है।

चारुदत्त—(उद्विग्न होकर) हा प्रिये ! मेरे जीवित रहने पर भी तुमने यह क्या कर लिया। (ऊपर देखकर और दीर्घ निश्वास लेकर)

न महीतलस्थितिसहानि भवच्चरितानि चारुचरिते ! यदपि ।
उचितं तथापि परलोकसुखं न पतिव्रते ! तव विहाय पतिम् ॥ ५५ ॥

(इति मोहमुपगतः)

शर्वि—अहो ! प्रमादः ।

त्वरया सर्पणं तत्र मोहमार्योऽत्र चागतः ।

अन्वयः—चारुचरिते ! यदपि भवच्चरितानि महीतलस्थितिसहानि न तथापि पतिव्रते ! पतिम् विहाय तव परलोकसुखम् न उचितम् ।

नेति—चारु = सदाचारपूतत्वात् विशुद्धम् चरितम् = शीलम्, यस्यास्तत्सम्बुद्धौ हे साधुस्वभावे !, यदपि = यद्यपि, भवत्याश्चरितानि = पतिव्रताचरणानि महीतले = भूतले, स्थितिसहानि = निवासयोग्यानि, न सन्ति, स्वर्गयोग्यान्येव भवन्ति तथापि पतिः = तत्सेवा, एव, व्रतम् = उपवाससाध्यं कर्म, यस्यास्तत्सम्बोधने, पतिं विहाय (विद्यमानायाः) तव परलोके = स्वर्गे सुखम् न उचितम् । स्वर्गीयसुखमपि पतिव्रताया एकाकिन्या न शोभते इत्याशयः । अत्र परलोकसुखभोगस्य अनौचित्यं प्रति 'पतिव्रते' इति पदस्यार्थो हेतुरिति काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तथा च यद्यप्यर्थे यदपि प्रयोगादवाचकत्वदोषः स च 'चरितानि यद्यपि महाच्चरिते' इति पाठेन सम्पाधेयः । प्रमिताक्षरावृत्तम्—'प्रमिताक्षरा सजससैः कथिता' इति लक्षणात् ॥५५॥

सरलार्थः—हे सुन्दरचरित्रशालिनि पतिव्रते ! यद्यपि त्वच्चरितानि पृथ्वीतले निवासयोग्यानि नहि सन्ति, त्वादृशी नारी स्वर्गयोग्या तथापि पतिं मां चारुदत्तं विहाय एकाकिनी स्वर्गसुखं भोक्तुं नोचितम् पतिव्रतायाः कृते ॥ ५५ ॥

शर्वि इति—प्रमादः = महाविपत्तिजन्या अनवधानता इत्यर्थः । 'प्रमादोऽनवधानता' इत्यमरः ।

अन्वयः—तत्र त्वरयासर्पणम्, अत्र च आर्यः मोहम् आगतः, हा धिक्, सर्वतोमुखम् प्रयत्नवैफल्यम् दृश्यते ।

त्वरयेति—तत्र-धूताया जीविताग्निप्रवेशस्थाने, त्वरया, शीघ्रगामितया सर्पणम् =

हे विशुद्धचरिते प्रिये ! धूते ! यद्यपि तुम्हारा सती-व्यवहार इस पृथ्वी पर रहने योग्य नहीं है, स्वर्ग ही में जाने योग्य है । फिर भी हे पतिव्रते ! पति को यहीं छोड़कर तुम्हें स्वर्ग में सुख अनुभव करना उचित नहीं है ॥ ५५ ॥

(मूर्च्छित हो जाता है)

शर्विलक—हाय ! महाविपत्ति आ गई ।

धूता के पास शीघ्र चलना चाहिए (वहाँ तो धूता वहीं अग्नि में प्रविष्ट

हा धिक् प्रयत्नवैफल्यं दृश्यते सर्वतोमुखम् ॥ ५६ ॥

वसन्त—समस्ससिदु अज्जो । तत्थ गदुअ जीवावेदु अज्जां । अण्णधा अधीरत्तणेण अणत्थो सम्भावीअदि । (समाश्वसितु आर्यः । तत्र गत्वा जीवयतु आर्याम् । अन्यथा अधीरत्वेन अनर्थः सम्भाव्यते)

चारु–(समाश्वस्य सहसोत्थाय) हा प्रिये ! क्वासि ? देहि मे प्रतिवचनम् ।

चन्द—इदो इदो अज्जो । (इत इत आर्यः)

(इति सर्वे परिक्रामन्ति)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा धूता चेलाञ्चलमाकर्षन् विदूषकेणानुगम्यमानो रोहसेनो रदनिका च)

गमनम्, (आवश्यकम् इति शेषः) अन्यथा धूता क्षिप्रं भस्मसाद्भविष्यतीत्याशयः । अत्र च आर्यः=चारुदत्तः, मोहम्=मूर्च्छाम्, आगतः=प्राप्तः । अत्राप्यवश्यं स्थातव्यमेव, अन्यथा चारुदत्तोऽपि मृतो भविष्यतीति भावः । हा धिक् सर्वतोमुखम् प्रयत्नवैफल्यं दृश्यते युगपदेव धूताचारुदत्तयोर्मरणप्रसङ्गसम्भवादिति भावः ॥५६॥

सरलार्थः–आर्या धूता चारुदत्तपत्नी यत्र चितारोहणं कर्त्तुमिच्छति तत्र तन्निषेधार्थं शीघ्रतया तन्निकटे गमनं कार्यं किन्तु अत्र आर्यश्चारुदत्तोऽपि मोहं प्राप्तः । अतः हा धिक् अनयोः प्राप्तसंकटे अद्यावधि कृतस्य प्रयत्नस्य सर्वतो भावेन वैफल्यं दृश्यते विधिवशात् अतो यथाशक्ति रक्षणे पुनरपि यत्नः कर्त्तव्यः ॥ ५६ ॥

अधीरत्वेन=महाशोकाकुलतया धैर्यनाशेन । अनर्थः=मृत्युरूपः ।

इतीति––परिक्रामन्ति=धूतायाः समीपे गन्तुं पादन्यासं कुर्वन्ति ।

होकर मर जायगी ।) और यहाँ चारुदत्त मूर्च्छित हो गये हैं (यदि धूता की मृत्यु हुई तो चारुदत्त भी मर जायेंगे) हाय रे ! सब प्रकार का प्रयत्न निष्फल होते दीखता है ॥

वसन्तसेना—धैर्य धारण करें। वहाँ चलकर धूता को जीवित कीजिए । नहीं तो अधीर होकर मर जायगी ।

चारुदत्त—(धैर्य धारण कर, सहसा उठकर) हा प्रिये ! कहाँ हो ? मेरे वचनों का उत्तर दो ।

चन्दनक—इधर-इधर आइये आर्य ।

(सभी चलते हैं)

(इसके बाद यथानिर्दिष्ट धूता, वस्त्र खींचता हुआ रोहसेन, विदूषक तथा रदनिका का प्रवेश)